

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

कर्म सख्या

कान नं०

गण०

REPRINT FROM THE PANDIT

(श्रीः)

खण्डनखण्डखाद्यम्

नाम

अनिर्वचनीयतासर्वस्वम्,

विचक्षणचक्रचूडामणिसमर्चितचरणाम्बुजकवितार्किकसावेनीम-

श्रीयुतश्रीहर्षप्रणीतम् ।

तार्किकशिरोमणिश्रीमच्छङ्करमिश्रप्रणीतव्याख्यासनाद्यम्,

साधुप्रवरश्रीमन्मोहनलालवेदान्ताचार्योपनिबद्धया

उपवृत्त्या संवलितं च ।

काशीस्थराजकीयसंस्कृतप्रधानपाठशालास्थव्याकरणाचार्यपरीक्षायां

कतिपयखण्डोत्तीर्णेन निगलिते-इत्युपाह्वविट्टलशास्त्रिणा संशोधिता

द्वितीयावृत्तः

तच्च-कारयाम्

बी० ए० श्रृष्टिवरेण बाबू भगवती प्रसादेन स्वकीये

मंडिकल-हाल नामकमुद्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

सं० १९७३-१९१७ ई० ।

ANIRVACHANĪYATĀSARVASVAM

STYLED

KHANDANKHANDAKHĀDYAM

OF

SRI HARSHA

FIRST EDITION (1888) EDITED BY

PANDIT MANMOHAN LAL VEDANTACHARYA.

THIS SECOND EDITION EDITED BY

PANDIT VITTHAL SHASTRI SCHOLAR, SANSKRIT COLLEGE, BENARES.

PRINTED AND PUBLISHED BY

BHAGAVATI PRASAD, B. A. AT THE MEDICAL HALL

PRESS, BENARES, FOR PROPRIETORS

E. J. LAZARUS & Co., BENARES.

All Rights Reserved] 1917. [2nd Edition, 1000 Copies.

Price Rs. 7-8.]

[मूल्यम् ७॥)

खण्डन शुद्धिपत्रम् ।

| पृ० पं० अशुद्धम् । | शुद्धम् । | पृ० पं० अशुद्धम् । | शुद्धम् । |
|---------------------|----------------|---------------------|---------------|
| १ २८ कटनम् | प्रकटनम् | २१ १६ निवृ | निवृ |
| २ १६ विद्य | विद्य- | २३ २५ तद्वग- | तद्वगमस्यापि |
| २ १८ उमानु | उमानु- | | स्यापि |
| १५ १८ व्यवस्था | व्यवस्था- | २५ १७ स्युः | स्युः |
| ३ ५ ह्यथा | उभया | २७ २ व्यत्र | व्यैव |
| ३ १४ शक्ति | शक्तिं | २७ २२ वाचस्वस्य | वाचस्वस्य |
| ४ १३ भङ्गनिं | भङ्गिनं | २८ १२ वाङ्मि | वन्मि |
| ४ १८ अतिशयोप | अतिशयोप | २८ २२ तुल्ययोः | तुल्ययोः |
| ४ २१ स्वर | स्वर- | ३२ १० तदवस्थे | तदवस्थे |
| ७ ८ त्वदर्शने | त्वद्दर्शने | ३३ ३ वस्व | वस्व |
| ७ १३ बाधन | बाधन | ३३ १० सत्ताय | सत्तायां |
| ७ २३ पगन्तु | पगन्तु | ३३ १२ भव | भेव |
| ८ ८ त्वापाधिक | त्वापाधिक | ३७ ६ कारकत | कारकता |
| ८ २४ मन्वदिति | मन्वदिति | ३७ ११ सत्तान्तभाव | सत्तान्तभाव |
| ८ २७ पाठ | पाठ | ३८ ३ वर्ल | वर्ल |
| ८ १० नैयायिक | नैयायिक | ३८ १८ प्रतिबन्दि | प्रतिबन्दि |
| ८ १८ वन्ति | वन्ति | ३८ ८ प्रतिबन्दिः | प्रतिबन्दिः |
| १० ४ व्यवहियन्ते | व्यवहियन्ते | ३८ १० प्रतिबन्दिश्च | प्रतिबन्दिश्च |
| १० २५ प्रमाद्य | प्रमाद्यं | ४१ २६ वद्विंशति | वद्विंशति |
| १३ ५ ह्याथा | ह्याथा | ४२ ८ बुद्धि | बुद्धि |
| १३ २० श्युपगन्तव्यं | श्युपगन्तव्यां | ४२ २१ तादृशो | तादृशो |
| १३ २१ पृष्टः | पृष्टः | ४३ ४ कालीन | कालीन |
| १५ ३ पर्यवस्य | पर्यवस्य | ४३ १७ पर्यवसा- | पर्यवस्यति |
| १६ ८ पारस्पर्या | पारस्पर्या | | स्यति |
| १६ १८ निव्यवस्य | निव्यवस्य | ४४ १४ तिष्यापि | तिष्यापि |
| १८ ६ प्रवृत्त्यैव | प्रवृत्त्यैव | ४४ १२ तस्या- | तस्या |
| २० २४ बाधयत्व | बाधय | ६ २५ इष्टावादि- | इष्टावादि- |
| | | | त्वर्थः |
| | | | त्वर्थः |

५० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् ।

१७ २८ पर्यवसति- पर्यवसति
इति

४८ १७ लक्ष्मण्य लक्ष्मण्य

४८ ६ जिज्ञ सुत्त्र जिज्ञासुत्त्रे

५१ १५ योगाचार- योगाचार

५४ २८ तद्वारेण तद्वारेण

५४ :८ तद्विनिश्चय तद्विनिश्चय

५५ २ अनुभूयेते अनुभूयेत

५५ १२ वित्तियत वित्तियत

५६ ५३ अस्यां अस्यां

५६ १४ प्रकाशत्वेन प्रकाशत्वेन

५६ १७ तद्वदासाय तद्वदासाय

५६ २४ विज्ञै विज्ञैः

५६ :८ विषयकत्व- विषयकत्व-
इतिपि इतिपि

५६ ४० प्रत्यामन्त्या प्रत्यामन्त्या

५७ १८ भवन्ति भवन्ति

५७ २२ प्रसास्यते प्रसास्यते

५७ २३ इत्य इत्य

५७ २४ इति इति

५८ १५ तद्वीकारे तद्वीकारे

५८ २१ तद्वीकारे तद्वीकारे

५८ :६ समवायः समवायः

५८ २६ सुकत्वात् सुकत्वात्

५७ ७ तद्वर्माण तद्वर्माण

५८ २४ पुनरये पुनरये

६० २१ ब्रह्मैव ब्रह्मैव

६१ २४ भेदनिश्ची भेदनिश्ची

६२ २० कारणस्यैव कारणस्यैव

६२ २६ चेन्निति चेन्निति

५० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् ।

६३ ३ काव्य इति काव्यगत

६७ ११ किञ्चित् किञ्चित्

६७ १४ अपादान- अपादानस्येति
इति

६४ १६ बलात् बलात्

६४ २६ कच्छ कच्छं

६४ २८ सत्योग सत्याग

६५ १५ कर्मत्व कर्मत्व

६५ २६ यथाश्रुतपाठ यथाश्रुतपाठ

६७ २५ अन्वारी अन्वारी

६७ २६ तमसुर्य तमसुर्य

६८ ७ बहुव्रीहिः बहुव्रीहिः

६८ ११ पर्यवसति पर्यवसति

इति

७० ३ भूयेव भूयेव

७१ ६ सत्तासम- सत्तासमवायः
वायः

७२ ८ लक्ष्यकारण लक्ष्यकारण

७० १ स्वाविषययेपि स्वाविषययेपि

७३ ६ पर्यवसति पर्यवसति

७५ १३ प्रमाणात् प्रमाणात्
पेक्ष पेक्ष

७५ १६ स्ववधाय स्ववधाय

७७ १८ दूषण दूषण

७८ ७ ब्रह्मत्व ब्रह्मत्व

८० ७ शक्यत्व शक्यत्व

८१ २७ निर्वाहात् निर्वाहात्

८१ २४ बीजाङ्गत्वेद् बीजाङ्गत्वेद्

८२ ७ ज्ञेयामि- ज्ञेयामित्वतः

त्यतः

| | | |
|------------------------------------|----------------------|---------------|
| पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् । | ७८ ३ पद्यपि | पद्यपि |
| ८२ २० निर्वह्यर्थिः निर्वह्यर्थिः | ८८ ३ उवाचउवा- | उवाचउवापकौ |
| ८७ ७ तवापीष्टा- तवापीष्टत्वत् | पकौ | |
| त्वत् | ८८ ६ बुद्ध्या | बुद्ध्या |
| ८७ २४ तत्पर्येषा तत्पर्येषा | ८८ १५ स्वविषया- | स्वविषयज्ञेदो |
| ८८ १४ कल्पयभः कल्पयामः | ज्ञेदो | |
| ८८ १८ शश्लो शश्लो | १०० १३ अनुमा | अनुमानम् |
| ८८ २१ कार्यपरागः कार्यपरागः | १०० १७ प्रवाचश्चेव | प्रवाचश्चेव |
| ८८ २३ चाङ्गमा चेङ्गिवा | १०१ ५ ननु | ननु |
| ८० २४ नह्यति नह्यति | १०१ २८ घटपटादे | घटपटादेः |
| ८९ ३ स्वभिन्न- स्वभिन्नस्यापि | १०२ ६ विषयभ्यो | विषयभ्यो |
| स्यापि | १०२ १८ ऋद्धकम् | ऋद्धकम् |
| ८९ २२ आरोप्या आरोप्या | १०२ २२ श्रुतिम् | श्रुतिम् |
| ८९ २३ पूर्वकत्वान् पूर्वकत्वान् | १०३ १ उद्यतिरेक | उद्यतिरेक |
| ८९ २३ आरोप्यारोप आरोप्यारोप | १०३ ८ वीकृते | वीकृते |
| ८३ २५ अग्नीषोमवि अग्नीषोमीव | १०३ १० सर्वाङ्गितं | सर्वाङ्गितं |
| ८३ २५ परधा परधा | १०३ १८ निरस्य ये- | निरस्यो- |
| ८३ २५ विधिना विधिना | १०३ २६ पर्यवस्य- | पर्यवस्यतीति |
| ८४ १ महिस्य महिस्य | ताति | |
| ८४ २८ वाक्यस्य वाक्यस्य | १०४ २२ यदि | यदि |
| ८५ २० विशेषान विशेषान् | १०४ २४ पर्यवसास्यति | पर्यवस्यति |
| ८५ २१ शालीन शालीन् | १०५ ४ विषयस्य धर्म्य | विषयस्यधर्म्य |
| ८५ २२ धर्नीष धर्नीष | १०५ १८ प्रकृतेनापि | प्रकृतेनापि |
| ८५ २२ प्रकृतेऽप्यभे प्रकृतेऽप्यभेद | १०५ २० नैचित्यस्य | नैचित्यस्य |
| ८६ २ तनप्रमास्य तनप्रमास्य | १०५ २० तद्धैपरीत्य | तद्धैपरीत्य |
| ८६ २२ परिलिष्टन्ती परिलिष्टन्ती | १०५ २४ प्रमाणा | प्रमाणा |
| ८६ २५ सुत्पद्य सुत्पद्य | १०५ २५ ग्रन्थज्ञ | ग्रन्थज्ञ |
| ८७ ५ पर्यवस्यन्ती पर्यवस्यन्ती | १०६ ३ प्रकृतनापीति | प्रकृतनापीति |
| ८७ २२ परिर्णयाह परिर्णयाह | १०६ ८ तत्परत्वं | तत्परत्वं |
| ८७ २५ परिर्णयाहै परिर्णयाहै | १०६ ८ संवृध्यं | संवृध्यं |
| ८७ २७ परिर्णयाह परिर्णयाह | १०६ १० स्वीक्तावरोध | स्वीक्तावरोध |

| पृ० पं० अशुद्धम् । | शुद्धम् | पृ० पं० अशुद्धम् । | शुद्धम् |
|-----------------------|----------------|------------------------|-----------------|
| १०६ १५ द्वियमाश- | द्वियमाश- | १४५ १७ आक्षेपात् | आक्षेपात् |
| ताया | तायां | १४५ २६ साध्यश्चेत्- | साध्यश्चेत्- |
| १०६ १७ बहुवाहिः | बहुव्रीहिः | रभेभादेः | भेदादेः |
| १०६ १८ प्रतिबन्धादे | प्रतिबन्धादे | १४८ २० क्रियाकारित्व | क्रियाकारित्व |
| १०६ ३० पर्यवसानस्य | पर्यवसानस्य | १४८ २८ खेन | दुःखेन |
| १०७ १२ अन्निस | अन्निस | १५० २४ अङ्कुरादिक | अङ्कुरादिक |
| १०८ १६ वाच्य | वाच्यं | १५१ ८ रजनस्य | रजनस्यं |
| १०८ ८ त्वङ्गेष्वि | त्वङ्गेष्वि | १५१ ८ युक्तावतस्य | युक्तावतस्य |
| १०८ १० भूत | भूत् | १५१ १२ तदशे | तदशे |
| १०८ १४ यज्ञी | यज्ञी | १५२ २० खण्डयते | खण्डयते |
| १११ ८ महति | महति | १५ २४ तत्स्त्रायिनः | तत्स्त्रायिनः |
| ११२ १७ चतुर्विधो | चतुर्विधो | १५२ २४ त्रिवेणीस्त्रा- | त्रिवेणीस्त्रा- |
| ११२ १७ प्रत्यक्षण | प्रत्यक्षेण | यिनः | यिनः |
| ११८ १४ स्पर्शमाश | स्पर्शमाश | १५८ ३ इदन्तवि- | इदन्तवि- |
| १२१ २७ त्रिशकारिका | त्रिशकारिका | शिश्टी | शिश्टी |
| १२८ २८ दोषापत्तिरेव | दोषापत्तिरेव | १५८ ४ अभिन्नरथा- | अभिन्नरथा- |
| १२८ २८ पदान्तिस्त्वेन | पदान्तिस्त्वेन | यम् | यम् |
| १३२ २२ श्रीदर्पणे | श्रीदर्पणे | १५८ ६ प्रत्येक | प्रत्येकं |
| १३५ ४ निवृत्तो | निवृत्तौ | १६० ७ संयोगप्रति- | संयोगप्रति- |
| १३६ ६ विद्धि | विद्धिः | बन्दी | बन्दी |
| १३६ १४ नैतरः | नैतरः | १६८ १९ सशयस्यहनं | सशयस्यहनं |
| १३७ १४ पुंसा | पुंसां | १७१ २८ अन्तरेष्व | अन्तरेष्व |
| १३७ २३ व्युत्पत्ति | व्युत्पत्ति | १७४ २२ महकारित्व- | महकारित्व- |
| १३७ २५ हत्यनेन | हत्यनेन | पक्षे | पक्षे |
| १४८ २८ वपक्षस्य-दे | वपक्षस्य-देः | १७८ ६ संस्कारज- | संस्कारज- |
| १४८ ३० अनुमानादि- | अनुमानादि- | त्वपि | त्वपि |
| रूपाः | रूपाः | १८२ १० प्रतिबन्दि | प्रतिबन्दि |
| १४० ६ विषय | विषयं | १८४ २५ संस्कारोद्भो- | संस्कारोद्भो- |
| १४० २१ कषालस्य | कषालस्य | धकं | धकं |
| १४१ २७ चिद्धतायः | चिद्धतायाः | १८६ १६ तथाकथीति | तथाकथीति |
| | | १८७ ७ मानाग्नार | मानाग्नार |

| पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् । | पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् । |
|---|---|
| १८७ ८ प्रतिबन्दि- साह | २२० १४ तस्माद् २२० २० वाचः |
| १८७ १६ तप्तांशमापः तप्तांशनीचः | २२० २० वारवाणः |
| १८७ १८ प्रतिबन्दिः प्रतिबन्दिः | २२० २१ वारवाणो- इत्थी |
| १८९ २८ षटे षटे | इत्थी |
| १८९ ८ वार्यह्वयमिद वार्यह्वयमिदं | २२२ १५ प्रतिज्ञेयात्म- कतैव |
| १८९ १५ स्मृतित्व स्मृतित्वं | प्रतिज्ञेयात्म- कतैव |
| १८९ १८ भूमादनु- मिति | २२३ २८ स्मृतित्व २२५ १६ कारणादौह |
| १८९ २२ अश्वयः अश्वयः | कारणादौह इति |
| १८८ २३ परिहरति परिहरति | २२८ १८ कारणत्व कारणत्व |
| २०० २ शर्वाः शर्वाः | २३० २१ कार्यतावच्छे- दक |
| २०१ ८ स्मृतात्वपि स्मृतात्वपि | दक |
| २०२ १५ विरहो भावविरहो | २३१ ७ पत्येक प्रत्येकं |
| २०५ २८ नाशुपगभ्यते नाशुपगभ्यते | २३२ १० कृषीबला कृषीबला |
| २०८ १२ प्रमाकारणा- भावात् | २३३ ३ व्यभिचारि- करण |
| २०८ २० विरोः स्यात्त्व-विरोधः स्यात् | कारण २३४ १७ तस्य तस्य |
| २०८ २८ प्रतियोगित्व- प्रतियोगित्वा- नुर्योगित्व नुर्योगित्व | २४२ १२ अशब्दाधमा- शेष |
| २१२ १८ अन्योन्याभावो अन्योन्या- भावो | २४२ १५ विषयस्यात् २४४ ८ तदिह २४५ २५ घटोयं २४६ २७ वारवाणाय- |
| २१२ २६ आशङ्कायसाह आशङ्काया- साह | वारवाणाय- माना |
| २१५ ११ अनवस्थाना- तिदि | माना २४७ १४ प्रासादया- प्रतीतो |
| २१६ १५ घटाभावो घटाभावो | प्रतीतो २५१ २८ उत्कृष्टानि उत्कृष्टानि |
| २१७ २० जगद्रूपभास्मा जगद्रूपभास्मा | २५६ २७ भोजनीक्षर भोजनीक्षरं |
| २१८ १५ तत्थासन्ता- भावे | २५८ २७ अप्रमाया अप्रमायां |
| २२० ८ वाचायमाना वाचायमाना | २६१ २८ तयाच तयाच |
| | २६२ ११ सत्यात्ता- शयः |

शुद्धिपत्रम् ।

| पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् । | पृ० पं० अशुद्धम् । शुद्धम् । | | |
|------------------------------|------------------------------|------------------------|-----------------|
| २६४ ८ डोमिति | डोमिति | ३४८ २१ लंपन | लम्पन |
| २६४ २८ डोमित्या- भिधाने | डोमित्याभिधाने | ३५० २७ भूमादिकाश्च | भूमादिनाथे |
| २६४ २८ भावः | भावः | ३५२ २५ बह्वचिन | बह्वचिर्निः |
| २६५ ५ डोमिति | डोमिति | ३७७ २४ तत्रैत्यर्थः | तत्रैत्यर्थः |
| २६५ ८ लिङ्गितस्य | लिङ्गितस्य | ३८५ १८ सिद्ध्या- | सिद्धयभावः |
| २७१ ५ डोम् | डोम् | | भावः |
| २७२ १८ आत्माश- | आत्माशया- | ३८५ २८ दुग्धधानु- | दुर्गन्धानु- |
| यादिति | दिति | मित्वा | मित्वा |
| २७२ १८ शुद्धस्य | शुद्धस्य | ३८६ २४ वादूय | वादूय |
| २७२ २८ अश्यादी- | अश्यामिः | ३७६ -७ पृच्छति | पृच्छति |
| २७२ २८ द्रष्टाद्य | द्रष्टव्या | ४०१ २ यत्त्वलो- | यत्त्वलोपादेः |
| २७५ ८ अश्या | श्यामि | पादेः | |
| २७५ १० भूमादि | भूमादि | ४०१ २६ यत्त्वलो- | यत्त्वलोपादे |
| २७७ २८ अश्यादि | अश्यादि | पादेः | |
| २७८ २१ प्रतिबन्दि | प्रतिबन्दि | ४०४ २३ विषयप्रति- | विषयप्रति- |
| २८१ २५ सत्ययि | सत्ययि | निमतः | नियतः |
| २८२ ११ डोम् | डोम् | ४०५ २७ प्रकापक्षम- | प्रकापक्षम- |
| २८२ १६ भूम् | भूम् | सन्त्य | सन्त्य |
| २८८ २७ तद्बहुप्रोहिः | तद्बहुप्रोहिः | ४१८ २५ सापिं | सापि |
| ३२१ २१ करणत्वां- | करणत्वाङ्गी- | ४३० २८ प्रत्यक्ष | प्रत्यक्ष |
| ङ्गोकार | कार | ४७७ २७ अधिकपदा- | अधिकपदा- |
| ३३५ २३ दुकस्तर | दुकस्तरः | र्थावगाहित्व | र्थावगाहित्व |
| ३३५ २३ अत्रश्या- | अत्रश्याभिन्वयी | ४७८ २४ विद्यातम् | विद्यातम् |
| भिन्वी | | ४८० २६ सत्प्रतिपक्षस्य | सत्प्रतिपक्षस्य |
| ३३४ २७ भ्रान्तिविद्ध | भ्रान्तिविद्ध | ४८८ ७ प्रतिबन्दी- | प्रतिबन्दी- |
| ३४८ २४ सूचयेत् | सूचयेत् | करोति | करोति |
| ३४८ २५ साङ् | साङ् | ४२८ १४ प्रतिबन्ध्या | प्रतिबन्ध्या |
| ३४८ २८ अनुमित्या- | अनुमित्या- | ४२८ १६ प्रतिबन्ध्या | प्रतिबन्ध्या |
| दिशये | दिशये | ४२८ २६ प्रतिबन्दी- | प्रतिबन्दी- |
| ३४८ २२ विर्येषणत्वं | विर्येषणत्वं | करोति | करोति |
| ३४८ २० अनुमान- | अनुमानमभि- | ४६० २६ व्युत्पत्तौ | व्युत्पत्तौ |
| भीधायते | धीयते | ४८१ २६ प्रहेलिका | प्रहेलिका |

(श्रीशः)

(“इदं प्रथमसंभवत्कुमतिजालकूलङ्कषा
मृषामतविषानलज्वलितजीवजीवातवः ।
क्षरन्त्यमृतमक्षरं यतिपुरन्दरस्योक्तय-
श्चिरन्तनसरस्वतीचिकुरबन्धुरैरन्ध्रिकाः ॥
कर्पादमतकटंसं कपिलकल्पनावागुरां
दुरत्यमतीत्य तद्दुहिणतन्त्रयन्त्रोदरम् ।
कुट्टुष्टिकुहनामुखे निपततः परब्रह्मणः
करग्रहविचक्षणो जयति लक्ष्मणोऽयं मुनिः” ॥)

॥ भूमिका ॥

—:—

इह खलु निसर्गैरेव प्राणिनात्रमिष्टमभिलाषुकक्षाऽनिष्टं
ठयुदसिनिपु च भवतीतीष्टाऽनिष्टप्राप्तिरिहारोपायप्रकाशनैर्-
स्पष्ट्येण भगवानाम्नायश्चातुर्त्रयं वातुराश्रयप्रभृतिविभाग-
प्रविभागभक्तान्यभ्युदयसाधनानि समष्टिव्यष्टिकलानि नामावि-
धानि विदधदसिद्धौ निःश्रयसाधनमपुनर्बाधं प्रत्यगात्म-
परमात्मयाथात्म्यावबोध प्रविरलेभ्योऽपि धीरधैरेयेभ्यः ।
'क्रिया हि नाम विकल्पनाऽऽस्वपदं भवति, नतु वस्त्वित्येकरू-
पमप्याऽऽत्मनयाथात्म्यमति लौकिकतया च परमतमगहनमूलतया
च, पुरुषबुद्धिर्विध्याच्च भगवन्जीवावैभवसिवेयसया चेदृक्त्वा च
दुष्परिच्छेदमापेदे परःशरूपताम् । तथाहि, आत्मनः कर्तृ-
त्वभौकृत्वादिकमानिष्ठते तार्किका ; भौकृत्वमेव तस्य, न
परं कर्तृत्वमपीति सङ्गिरन्ते कपिलकमलासनाद्यनुगामिनः ।
आसतां वा तावत्परैवा कथाः ; औपनीषदाएव परत्परवि-
लक्षणानाविधमिद्वान्तेषु समासते समर्पितसमादराः । न चेत्ते-
ऽर्थास्तुएव राट्टान्ताच्चभेदाः, महर्षाणांमेव तेषु तेषु विशेषेषु
वेशेष्यात्(१) ।

(१) कथा चायमर्बस्तथेदीव्यमीमांसायां शास्त्रकारेण वाक्याम्ब-

तदेवमतिरामगाथं त्रिश्वपारद्वैतवानपि नतिविकल्प-
 कल्पनजनमैःपनिषद्वादं श्रीर्मानामाव निबन्धनं च ब्रह्ममीमां-
 सासमाख्यया "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासे"त्यादि वतुलंशब्दया भग-
 वतो वासुदेवस्य ज्ञानावतारः खल्वऽज्ञानसत्तमसापसारणविभा-
 वसुर्नहर्षिऽपुहृदिश्याशेखरसमासकस्वर्गक्रीदविन्दुसन्दोहप्रोन्सु-
 प्पुषरखनखरशिखरस्तप्रमवान् भगवान् वादारापणद्वैवायनऽर-
 रयीयः कृष्णः पाराशर्यः । भगवान् बोधायनस्तु ब्रह्ममी-
 मांसायाश्चोपनिषदां च भगवद्गीतोपनिषदां च परमगङ्गाद-
 र्पर्यन्ताविशिष्यतीर्बन् प्रणिनाय वृत्तिपदठपदेशभाङ्गि भाऽरा-
 णि । तस्य च महर्षिर्नतं तत्र शाङ्करभाष्ये पूर्वास्तत्वेनोपन्यस्त-
 त्वाद्भ्रानानुजभाष्ये च राट्टान्तविषया भूयःप्रतिष्ठापितत्वात्
 समस्ति स्म विशिष्टाद्वैतमिति नेर खलु परीक्षनिव परीक्ष-
 काणाम् ।

तदेतदाकल्पाऽऽरम्भे द्भुवानवधत्प्रततानवच्छिन्नऽऽर्षं
 संप्रदायपारम्पीपरिप्र.सैर्गनिषद्वादं गवस्वभूतं वृत्तिकारसत्
 भगवद्भ्रष्टद्विहृद्गुहदेवादिमुनिभिः प्रागिन रचयैरारक्षितं श्री-
 माऽरुना च प्रोज्जोविनमद्यापि विद्योतमानमवगाहते यद्यपि
 प्रतीपतां निर्विशेषद्वैतवादस्य, (१) ततोऽपि श्रीमन्तः शङ्क-
 राचार्यो युक्तिवाचोयुक्तिप्रथस्य सुदीर्घं गन्थास्तत्पाकूल्य द

वाद्यधिकरणेषु गनिषदो, न वा परेऽहव नानौपनिषद्दर्शनं करपरि,
 श्रीलनशीलघाऽलन भूति नेद दधिमुनलीयतय। प्रवाचते ।

(१) "तत्परमवी"ति वद्विद्यायासुप.स्यं ब्रह्मगामिप फलमिति
 पूवाचार्यैर्याऽऽतम् । यथे'क' व क्यकारेण—'युक्तं तद्गुणकोपावना'
 दिति । शाख्यं तं च द्रमिडाचार्यैश्च विद्युविकल्पं वदता—'यद्यपि
 वद्विद्यानिष्ठः वद्विद्यतो न निर्भुवनगुणगणं मनव.नुभावे,तथोऽन्तर्गुणग-
 क मेव देवता भजते, तत्राऽपि वगुणैर देवता प्राप्यत' इति । वद्वि-
 त्तः—वद्विद्यानिष्ठः, न निर्भुवनगुणगणं देवतां मनसाऽनुध.वेत्—अपहत-
 पाऽमन्वादनगुणगणं देवताद्विभक्तं यद्यपि दहरविद्य निष्ठ इव वद्विद्यो न
 समरेत तथाऽऽवन्तर्गुणगणं देवतां भजते—देवतास्वरूप.सु रनिष्ठतात् वर-
 लकल्यासुगुणगणं केनचित् परदेवतावाध रणेन निखिनजगतकारण-
 रवादिना सुषोपोपारवमानापि देवता वस्तुस्वरूपानुवद्विधवर्षकस्य वगु-

विभ्रयतो विभ्रमश्च परमतात्पर्यमपि (कितकहाकथायां) (१)
निर्विशेषवस्तुपरतयैकाऽलीलपम् (२) निर्व्यन्तोविद्युद्गुणवचपु-
रश्चाश्चतवारस्वतमगवदादेकतन्मीमांसादिकं (३) यथायथम् ।
अथाऽप्यस्याद्वैतवादस्य युक्तिप्रायणहृदयहीनविग्रहतया शाङ्कर-
नाऽप्यादेश्च श्रुतिस्मृतिसूत्रानुनारितयैवावश्यमुपनिबन्धनस्या-

कविशिष्टैवोपास्यते । अतः वस्तुमेव ब्रह्म तच्चापि साध्यमिति वद्विद्या-
दहरविद्ययोर्विकल्पद्वयार्थः—इति हि भगवन्तो भाष्यकाराचार्यचरणाः ।
वुशक्तिनिदमेवमादिना निपीतस्फीतीवनिषदहार्दमुधारकानां कथा
कस्वन्नवविद्वजः पूर्वोपनिषदाचार्याणां विद्वान्तः कविशेखत्र्यावादी
निर्विशेषब्रह्मवादास्तु तदीयस्वप्नसंभाषनायांस्वप्नभ्याद्यमित्यः (दूरतः
परिहार्यः) इत्यर्थं राजपथस्य वीथिकोपलक्षयति ।

(१) "अथ नाऽविद्या कश्येति । यस्य दृश्यते तस्यैव । कश्च दृश्य-
तद्व्ययचोचस्ते अविद्या कस्य दृश्यतइति प्रश्नो निरर्थकः । कश्च—दृश्यते
चेदविद्या तद्गुणतमपि पश्यति । न च तद्गुण्युपलभ्यमाने वा कश्येति प्रश्नो
युक्तः (भगवद्गीता १३ अ० क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्मीत्यस्य शाङ्करभाष्यम्)
इत्यादौ व्यक्तोऽयमर्थो दूरदर्शनाम् ।

(२) यच्च खलु "ब्रह्माभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् ।
व्याख्यार्तं वैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तस्मिन्त्व" इति स्वस्वमद्वैतवादिनाः
बन्तोऽपि श्रीभास्कराचार्याः (वेदान्ताचार्यायते न तु ज्योतिषिकाः) व्यक्त-
मुक्तवन्तः क्वचित् स्वीयमीमांसाभाष्ये । आनन्दमयाद्यधिकरणेषु च 'ब्रह्म-
वि त्वेषं व्याख्येयानी' त्यादिना विलक्षणलक्षणादिशरणोकारसरणी-
कारेण व्याख्यःणानां श्रीमच्छंकराचार्याणां ब्रह्माभिप्रायसंवृत्या स्वाभि-
प्रायप्रकाशनं यथास्ते, न खलु तत्परोक्षं दीर्घदर्शनाम् ।

(३) "न द्वैतं नाऽद्वैतं" मित्येवश्रुतीया श्रुतिरेव निर्विशेषाद्वैतं
प्रतिषेधति, । तथा

"ब्रह्मिणी पुरुषो लोके उररवाकरस्य च,, ।

"वस्मात्कारमतीतोऽहमकारादपि चोत्तमः,, ॥

"मम वाधर्म्यमगता,, ।

नोपजायन्ते प्रकयेन व्यथित च" ।

अवश्यमप्रतिष्ठन्ते जगदादुरनीश्वरम्" ॥

इत्यादिना भगवानपि; तथा "नाऽभावउपलक्ष्ये" "होर्दामु-
हीतः यथाधिकया" "जगद्ब्रह्मापारवर्षं प्रकरवाद्ब्रह्मिहितवाच्यं"

(१)ऽऽतितत्त्वाच्च नैतावनाऽऽप्यनीयतराजगताऽद्वैतवाद्: अयं हि वादः संभावनातिक्रांतिनिर्विशेषाऽद्वयतत्त्व प्रतिपादयज्जानानां मनस्सु महता स्खलन् विहस्तोऽऽपनिर्वचनीयतावादेनैव दत्तहस्तावलम्बः प्रतितिष्ठति । नचाऽधिवितसहं निर्भरवतोऽस्यानिर्वचनीयतावाद्स्याऽऽगमप्रधानकथासु सुस्फुटमात्मलाभेः भवति संसर्गः । न चाऽनाद्याविद्योच्चैवप्रपञ्चादेः सर्वथाऽनिव-
क्यन्ताः मन्तरेण केवलाद्वैतस्वाराज्यसमासादनं संघटनइति केव-
लाद्वै-वादावदावदो वितसहकथां शरत्कनया साक्षादेव(२) पुर-
स्कुवांजो निखिलसंख्यवहारमूलभूतप्रमाणप्रभृतिपदार्थान्
स्वीपयोगिनस्तिनशस्तिनशः कदलीकाखडखडनसुखं खडयन्
सार्धथाऽनिर्वचनीयतां मनसिष्ठयष्टिजगतः प्रतिपादयाम्बभूव
खडनखडखाद्याः रुयेऽस्मिन् निखन्धे श्रीमान् श्रीहर्षः कविता-
किंकाशरोमणिः ।

अयं खडननिर्वचनीयतावादी सिध्यावादिर्न वीह्वानां
निह्वान्तखडंस्खभूतस्तदीयग्रन्थेषु पुरा भूशमभ्युज्जम्भते स्म ।
सुमनस्तरं सुद्विमद्विद्वन्नेन्द्रश्रीशबरस्वामिकुमारिलभट्टाद्यर्षी-
चीनमीमांसकपुरोहिः शत वा विज्ञानवादिमते युक्तिकलापैर्नि-

“स्वभ्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः” इत्यादिना शास्त्र-
काररथ ॥

(१) “नाऽभावउपलब्धे” रित्याद्यधिकरणेषु शास्त्रेऽयमर्थो ग्रथा,
तथा दार्शनिकधितोमणीनां पुरवस्तएव ।

(२) “नच वीचादिलक्षणप्रमाणखडनेऽपि विज्ञानापत्तिः, तादृ-
याः सूत्रादिव्याख्यायाः खडयमानत्वात् । न च वाच्यं लक्षणविशेष-
वस्तुत्ववस्थापकप्रमाणविशेषखडनपरत्वेन लक्षणान्तरं प्रमाणात्तरं
व्याख्यान्तरस्य प्रनश्यते भवतोऽपीति; वितसहकथामालम्ब्य खडना-
नां प्रकल्पत्वात्” इति स्वयमयं शब्दकारः । “उपपादनस्य स्वपक्षवाधन-
परपक्षनिराकथाभ्यां भवतीति तदभयं वादजल्पवितसहानामव्यतमां क-
थाः सार्धित्य संपादनीयम्” इत्यद्वैतसिद्धिकृदपि वैतथितकतां स्वस्य रोष-
यते । एतेनादृष्टाऽभूततदीयरहस्यानामृजुकाणां केषाञ्चित् “वेदान्ति-
मते कथं स्युर्वैतथिडकाः । नास्ति काः सखु वैतथिडका भवन्ति नाऽऽ-
स्ति का” इत्यभिधानं लक्ष्मीत्तरम् ।

रस्ते, संघातायां च तदीयविरलतायां तदीयेष्वेव पुस्तकेषु यत्र कुत्रचिदुपलभ्यते स्म । अथ समनिक्रानति चिरकालेऽप्य खलु महामनीषी स्वोपयोगिनं तं विज्ञाय तदीयपुस्तकेभ्यः प्रायः सकलयां चकार । यथाऽत्र भारते बौद्धानां मनोज्ञरूपसुनासी-तरां, तथा विदुरेवैतिहासिकाः, पुराणेऽपि च पठ्यते, यद्युद्बोधवतीर्य विज्ञानवादेन जगति जननस्सु मोहं कली कल-यिष्यतीति ।

आसीच्चायं खण्डनकृत कान्यकुब्जाधीश्वरस्य विद्वद्बोधघां समधिकप्रतिष्ठी वरिष्ठस्तदस्य समयस्तावदुपरिष्ठादष्टशत्या अन्तश्च नवमशताठ्या इतः पुरस्ताद् भवितुमर्हति । तथाहि-
“ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरः”दिति त्वयं स्वयमेव विलिखति; तदीदं च्छस्य विलेखन स्पष्टमाचष्टे कान्य-कुब्जाधीश्वरस्ताम्बूलद्वयाद्युपलम्भस्य परमतमवैदुष्यप्रतिष्ठा-हेतुताम्; सेयञ्च तस्य कान्यकुब्जाधीश्वरीयसास्राज्यमन्तरा न संघटते; यदि हि कान्यकुब्जाधीश्वरो राजान्तरसाधा-रण्णवाऽभविष्य, ततो हि यथैव राजान्तराणि, तथैवैकः कान्य-कुब्जाधीश्वरोऽपीति ततस्तदुपलम्भः किमिव नाम चमत्कार-करोऽभविष्यत्; कथं नाम पारोक्ष्यदीदृक्षस्य लोकोत्तरकवेः प्रत्यभिज्ञाऽहुनानवाधोयुक्तिपदवीम्; तथात्वेऽपि चैवविलेख-नस्य विद्वन्मणेश्यंक्तं स्थले जलजबीजारोपणं स्यात् । तत्सिद्धं स कान्यकुब्जाधीश्वरस्मन्नाडास्त । नच कान्यकुब्जाधीश्वराणां सास्राज्यमितोऽष्टशत्याः, पर, पुरस्तादेवाऽस्तांत्यस्याऽपि सिद्धा तत्कालीनता ॥ किञ्च, नैषधीयचरितेऽस्ति लिखितं खलु-

“काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा ।

काठये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गाङ्गमत षोडशः” ॥

इति; कश्मीरे महीयांसो विद्वांसो ऽष्टशत्याः पूर्वपूर्वा-मेवाभूवन्मितोऽपि तत् तथा ।

अपिच, काश्मीरदेशीयलक्ष्य(१) वर्णेष्वेतदीयप्रबन्धानां

निबन्धनसममयं प्रचारश्च सम्मानश्चतन्त्रीवाङ्मन्त्री(१)वि-
रहिणि नादृशेनेहसि गमयति स्फुटम् । यथा, कान्यकुब्जा-
धीश्वरस्य काश्मीरेश्वरो भवति स्म करदो वा, मित्र वा,
सम्बन्धी वेति । तत्रश्चात्रत्यग्रजानां तत्र निर्माणयोगपट्टेन
प्रसिद्धिरुपपद्यतेतराम् । जयचन्द्रस्य चान्तिमकान्यकुब्जेश्वर-
स्याष्टौ शतानि समतियन्ति समानाम् । न च ततः परमिह
तथाप्रमविष्णवोऽभूवस्तद्व्ययः, येषां स्यात्काश्मीरादिषु मन्त्र-
न्धादिरित्यपि द्रुह्यत्येवाऽस्य कवेस्तत्कालताम् ॥ किञ्चाऽस्य
कवेःकवितानिषत्पेषु वर्णनीयराजानां सन्ति नामानि “साह-
साङ्गः, कुन्दः, शिव”-इत्येषमादीनि; तदंतेषां तावदधुमात-
नक्षत्रनाम्नामिव सिंहीपपदत्वेनाऽनासादनादविगम्यते यत्-
दानांकास्ति स्मेह भारतभुवि यवनजनदुश्चरत्सञ्चारः, प्रचा-
रश्च सिंहांतनाम्नाभयंजननायाम् ।

यदा हि भारते विनयवाचाटाःप्रविष्टवन्तो यवनास्तदा
तदीयवेश्यापुत्राशासनपि, ‘खां’ शेर, बहादुर, अली’त्येषमादी-
नुपाकार्यं प्रतिक्षत्तं नामाङ्कान् “वयमेव किमित्यनुपपदना-
मानो भवेमे”त्याकलय्य क्षत्रियार्या भवि स्थानि नामानि
सिंहीपपदानि धर्तुमारभन्तनि ।

ततःप्रभृति क्षत्राणामत्र देशे सिंहपदोपहृतानि प्रव-
र्तन्ते नामानि । यवनजनचरणचारिकायाश्चेद्भवन्त्यष्टौ
शतकानि शरदां । ततश्च तद्वर्णनीयतद्राजसङ्घानां कैवल्यं च
गुणानुसूपस्वच्छन्दविशिष्टसंस्कृतिमत्त्वं च स्फोरयतस्तदीयमम
यस्य । यवनानुपस्पृष्टताम् । सा चाष्टशतयुर्वर्षनामित्यतोऽपि
ततथा ।

किञ्चान्यत्, तत्र भवता न्यायाचार्येण श्रीमदुदयनाचार्येण
सहास्य कदाचित्सनागमो विचारश्च संवृतः । उभयोःप्येत-
योर्लोकोत्तरे दानोदात्तविद्वत्ताशालितया नासीत्तदानीमेव किं
चिद्विचारपर्यवसानम् । पश्चात् खण्डनकृता ‘त्वद्गाथैशान्यथा

(२) तार रेख इति प्रविध्यतः ।

का(१)रमक्षराणि कियन्त्यपीत्यादावाचार्यमतखण्डने उपमि-
बद्धे, श्रीमानाचार्योऽप्यात्मतत्त्वविवेके (बौद्धधिकृतं) एतन्मतं
निराख्यनराम्(२) ॥ काव्याप्रकाशकारेणापि साद्धं नस्य समाग-
ममाचक्षते बहुविदः(३) ।

व्यायाचार्यप्रकाशकारयोश्च नवशतकनैकटिकत्वमित्या-
यातममुष्याऽपि तदातनत्वम् । तदेवमादिहेतुभिः(४) रैतिहाभि-
कार्यविद्वज्जनावबोधदत्तकरावलम्बैः सिद्धं यथाऽष्टशत्या श्रीप-
रिष्टिभो नवमशतकोपान्तत्रय्येऽय महासुधीः ।

(१) कियन्त्यप्यक्षराण्यन्यथाकारं कतिचिदक्षराणि परिवर्त्या-
त्यर्थः । यथेदमस्ति, तथाऽऽकारस्य द्रष्टव्यम् । अथ खलु खण्डवित्राऽन्व-
या कृत्वेत्येव वक्तुं न्याय्यमासीत्. "अन्यथैवैकथमित्यसु विद्धाऽप्रयोग-
इवे' दित्यनर्थकादेव कृजो णमुक्त्वित्येवमपि प्रमादादित्यं मायो-
जीति विविञ्चन्तु सन्तः । कृत्वेत्याद्यध्याहृत्य वाऽभूति प्रसूयन्ताम् ।

(२) तत्रालोक विचाराऽवहमनिर्वचनीयं वा यमाश्रित्य जगद्भि-
न्यते, स एव विचारश्चिन्त्यतां कोऽपी, कीदृशश्चेति । इतकं प्रमाणा-
मेव वाक्यारूढमिति चे सचेद्विचाराऽग्रहं, किन्तेन भौतविचारकल्पेने-
त्यादिना ग्रन्थजातेन ।

(३) किं गवि गोत्वमुनागवि गोत्वं; यदि गवि गोत्वं गहि मयि
तत्त्वम् ।

अगवि च गोत्व यदि भवदिष्टं, भवति भवत्स्वपि संप्रति तत्त्वम् ॥

इति श्लोकमपि तद्विवादविषयकं परिपठन्ति ।

काव्यप्रकाशकारः खलु खण्डनकृता स्वीयं नैवधं कदाचित्प्रदर्श्य-
मानोऽप्येषत् 'हन्त हन्त भवनेष्ट वक्' चेद्वर्णित रगात्तर्हि काव्यप्रका-
शस्य अग्रमोक्षोऽस्य उदाहरणमेवमेव मम न सवृत्तः स्यात्प्रयास' इत्यपि च
कथयन्ती भवन्ति वर्षीयांसः । समस्तदोषैकभाजनमिदं भावत्वं काव्य-
मिति तु तव वस्तुताकृतम् ।

(४) अग्रतिसखसंखसंखगावत्सार्धभीमस्वास्य संभवस्थितिसमय-
समन्वेद्यसमुद्युक्तैःनेकैर्गुरोपियमहाशयैः The Indian Antipuary ग्रन्थे
तत्र तत्रानेकच बंहीयो बंहीयः खलु लिखितमासते ।

तत्र तावदश्लेषाः प्रायो विविधसंभावनासमाकुलाः क्वचिदुत्प्रेक्षा-
मूलकपत्स्वरखण्डनमयाः क्वचि तत्त्वमहीदयमतीपन्वासीसराश्च

अयं च काव्यकुञ्जब्राह्मणस्य श्रीहीरविपश्चित्तमन्त्रो-
ऽस्यत् । यच्च केचन मैथिलाः श्रीहर्षमिश्रइति व्याहरन्तो मिश्र-
पदव्यामिश्रनामव्यवहारमात्रात्तदीयां मैथिलतां साधयितुं समी-
हन्ते ; न तन्मिश्रोपपदत्वं समस्तप्रामाणिकजनसुविश्रुतकाव्य-
कुञ्जतां(१) प्रत्यावर्त्तयितुर्माहटेतन्नाम् । मिश्रोपपदत्वं च मिश्रा-
ऽऽस्पदकाव्यकुञ्जत्वेन प्रथते जगत्प्रकृत्यते चैतदर्थं नैव कृणात्मनो
मुधा मुधा शङ्कन्तइति न पुनर्विशिष्य तद्देतूपन्यासादिना
वस्तरयामः ।

भवति चारुण्यिकाऽस्य विद्वन्मणोरुचरिते यथा—“अय-
नसौ देववशाद्बाल्यएव भवन् गित्त्वियोगसाग्ननन्यैव केवलं
चिराञ्जठघण्टोऽमपत्यं मे सन्तानतन्तुरित्या कलयन्त्या पत्या-
ऽपि चरमसमयेऽपत्यसंरक्षणएव मंत्रणाऽऽदित्या भर्तृवियोगेन
दग्धारण्यप्रायं जगत् प्रतियत्याऽपि पालितश्च लालि-
तश्चाऽऽस्त कुलक्रमाऽऽगतविद्वत्तामाहात्म्यात् स्वपितृव्यादि-
कोटिकजनान्तिके किञ्चित्किञ्चिद(२)धीयन् । एव पञ्चवर्षदे-
शीयएव च जातु प्रसक्तःनुप्रसक्ततया क्वचन लोकैरुपकथ्यमानं
केनचित्पश्चित्तेन मुधाकृतं स्वपितुः शाश्वतविषयं उचमानमा-
करयं विदीर्घदृढपस्तक्षणमेव सुजैत्रसुखाऽववैदुःकास्यया
देवतामुपासितुमध्यवससौ ।

तमोऽनतिचिरस्य सरस्वतीं देवीमुपासितुमुद्युक्तोऽयं
बालस्याल्पसप्तवतया यथावद्विचैरनिर्वह्य सन्भावयन्त्या-

क्वचित्तपुस्तकनिरुक्तरूपतत्तद्देशदर्शननिर्देशप्रधानाश्च क्वचित्पन्तीति
तेष्विदं मदीयमरूपकं चेतो न खलु समश्नुतेऽध्यवसायमिति तानत्र
नोपन्यास्यं प्रमाद्यतया । एवं वाचसदत्ताभूमिकायां तत्तदीयस्वतन्त्र-
पुस्तकेऽप्येतद्विषयकेषु च बहु गवेषितं दृश्यते परं नेदं ज्ञानलादुर्वि-
दार्थं सामकंचेतः प्रापञ्चि मानमित्यनापरा यत्किञ्चित्स्वतन्त्रमि-
वात्र विषये चेष्टितमनेन, तत्त्वा स्यन्तु दयविद्वत्सोदन्वन्तस्ते सन्तः ।

(१) काव्यकुञ्जजनगरे भूरयो गृहाः संस्रया,ऽऽश्नते च ते सत-
त्संतानप्रतानरूपतामात्मनः । एतेन काश्मीरत्वमस्योत्पश्यन्तएकहा
जना जातीसराः संजाताः ।

(२) विशेषे यथा ।

जनन्या प्रथमं निवार्यमाणोऽपि च न विकृताशयोदृष्ट, स्तदै-
तन्महासखतया प्रसीदन्त्याऽनुमोदितश्चारिणे तच्चिन्तामणि-
मन्त्रतद्वयन्प्रजपाचनः।दिना प्रसादयितुं वागधिदेवताम् ।
तदेवं यथाशास्त्रमनुतिष्ठतोऽल्पवयसोऽप्यस्य कथा च न काल-
कलया प्रतिबभूवऽव्याहृता प्रतिभा । निश्चकाय चायं,
यथा सुप्रसन्ना देवता, जातञ्च नः समीहितामिति ।
ततोचं मरुदीपन्ताम्रगुरुपदेशेन सुबहुप्रतिभातशास्त्रार्थी नाति-
चिरेणैव कालेनाऽवकलनमां चतुर्दश विद्याऽचेपविद्याऽश्चापि
नास्तिकतन्त्राणि । अथाऽयं कान्यकुठनाधीश्वरस्य परिवदि-
ठ्यजेष्ट तं, यो ऽस्ति समास्य पितुरमन्तृवरः ।

राजेश्वरेण च सबहुमानं कान्यकुठजनगरनेत्र स्वराज-
धानीमधिवासितोऽवृत्तसमां तसेवाऽऽश्रितः । यदा यदा च
महीमहेन्द्रसंसदभगा, तदाऽधिकार्होऽऽसनमविन्दत तास्बुले च,
विद्वदन्तराणि 'कैकैकमेवऽविदन्त'—इत्यादिर्विहीयसी विद्वज्जन-
प्रसिद्धा । भवेदपि यथार्थैव । अथाऽपि नास्ति यन्मोपनिषद्वेति
सर्वसमष्ट्या तस्यास्तथास्त्वे प्रानाणिकबहुस्रविद्वज्जनाएव प्रमा-
णम् । नचाऽत्रासंभूतइवाऽस्ति कश्चिदर्थे इति वयमपीत्य-
मिदमिति मन्यामहे ।

देवताऽऽराधनजन्यपरमतमवेदुष्यादिषु तु तेषु तेऽवर्षेषु
नास्त्येधतरां कथमपि कस्य चिदपि बुद्धिमतो विशयो नाम ।
भवति चात्र प्रमाणां नैवधीयचरितम् । तथाहि, तस्य प्रथमस-
र्गान्तिमश्लोके 'श्रीहर्षमि'त्यादिश्च चतुर्दशे च सर्गे 'अवामा-
वामे' त्यादिः संदर्भे(१) "तव च तव वृत्ते कवयितुः" "भवद्-
वृत्तस्तोतुर्मदुःहितकण्ठस्य कावतुरि" त्येवमादिना स्पष्टमाचष्टे
देवताप्रसादलक्ष्यामस्य कवयितुर्विद्वताम् ॥

(१) (८५-८८) च वन्दर्भः प्रतीक्यतएव, मन्वोचतयोपन्वस्यते
विस्तरभवात् । अवामावामेत्यादेः पद्यस्य यथा मन्वातःप्रजासकत्वं,
तथा कस्यां चिदप्येकस्यामेतद्व्याख्यायामवलीकनीयम् । तव वृत्ते कव-
यितुरित्येवं जातीयकेन वाक्येनात्मानमभिसंदधाति ग्रन्थितेत्यवदधतु
बुधियः ।

नैषधीयचरिता, अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसा-
ङ्कवम्पू, छन्दप्रशस्ति, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्तीः
काव्यनिकम्बान् ; ईश्वराभिसन्धि, रुखनखण्डलाद्य, स्थैर्यवि-
चारणप्रकरणानि च शास्त्रीयमन्दर्भान् नोऽयं धीरधीरेयोनेक-
धाऽतिथिषण्णस्तदानीमप्रतिसंख्येयमङ्कवावान् वाराशिमिव भग-
वान् कुम्भमम्भमश्चुलकयन् तनारस्वत सर्वस्वं न्यभास्तीत्
पीयूषवर्षिणो दीर्घदर्शिर्हर्षिणो लोकोत्तरानितराऽतिदुष्करान् ;
येषां सुधाम्भोनिधीनामगाथहार्दानामप्रतिमयुक्तिरत्रैकमुवां
महाप्रमाणमत्वानां परमरमणीयानामप्यतिविभीषणविवर्त्त-
नाकां संपर्केण ऋद्धोऽपि जनाः कृपानशुभात्रानप्यासाद्य सप-
द्यन्ते गीर्वासायनानाः ।

तत्र नैषधीयचरितं जगति को वा पण्डितजनो न वेद ।
अन्येषाञ्च ग्रन्थानां पुस्तकानि प्रायो नास्मादुशां भवन्ति
दृग्गोचरा, स्तथापि तस्मान् अन्येव सन्तु साक्षिणो वर्येषु ; ।

यथा—अर्णववर्णनं नाम ममुद्रमन्थनवर्णनं स्यात् । शिव-
शक्तिसिद्धिरिति शिवनाम्नो नृपस्य शक्तिप्रकाशकतच्चरितवर्णन-
मयं स्यात् ; गौरीगिरिश(१)माहात्म्यवर्णनस्वरूपत्वं न स्यादि-
त्यपि कोवेद । साहसाङ्कनम्नो महाराजस्य चरितमथी खलु
साहसाङ्कनम्पूर्वम्(२) छन्दप्रशस्तिरस्तिच्छन्दनाम्नो राष्ट्रः
कीर्त्तिसंकीर्तनम् । विजयप्रशस्तिः कस्यचन महाराजस्य मन्त्रुम-
ङ्ग्यामाङ्गणे विजयप्राप्तिवर्णनम् । गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिश्च
गौडदेशाधीश्वराजवर्णनं रघुवंशादिकलामिति ।

ईश्वराभिसन्धिस्तु मायिः तत्रेऽपि जगती यथेष्टाऽजन्म-
स्थेममङ्गभाक्ता, तथाभावनिरूपणं श्रीदुमनिराकरण प्रतिभायो

(१) परं, स्वीयसमर्पकपदानां पुंसमर्पकपदेभ्यः प्राक्प्रयोगस्य
दक्षपतिद्वन्द्वस्थलेऽप्यावश्यकतया प्रकृते च तदवत्वान् पुनर्नेदं बुद्धु ।
यद्यपि नेदं पाणिनीय नुशासनानुशङ्कमथापि बालानां प्रथमिकदिश-
र्णनं तदिति ध्येयम् । गिरिशमावर्णनमयस्ये वा पूर्ववत्पद्योतत्पुरुषेण
स्यादपि ।

(२) 'केऽङ्गवृत्ताऽऽङ्ग्यराजस्य राज्ञे प्राकृतभाषिणः ।

काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः' इति ॥

सकति । अभिसन्धयन्तरञ्च श्रेष्ठं यत्क वन अयते, तदीश्वरा-
रिक्त्येः प्रकरणमिति भूना विन वयाम । स्वोत्परयच्छेद-
कीभूतलगा [ठयवःनोलेगणा] वल्लिकश्चमप्रतियोगित्वरूप-
माध्यमिकयोगाचारैसाधिकमौत्रान्तिजातमरुतुविंथबीदु इत-
सिद्धक्षणिक्तवनिराकरसपरं स्थैर्यविचारणप्रकरमिति विदा-
कुर्वन्तु कोविदाः ।

तेषु खण्डनखण्डखाद्यमीश्वराभिसन्धेः पुरस्तात्पुस्तका-
न्ताणां च परस्तान्निरमायीति श्रीगुणचरणा । नैवथचरिते
'खण्डनखण्ड गोपि सङ्गे' इति, खण्डनखण्डवद्ये च 'तथाहम-
कथय नैवथचरितस्य परमगुरुषस्तु तौ सर्वे इत्यन्योन्यस्मिन्म-
न्योन्यलेखानुनयोः समममयमन्दूकतात्पर्यमिति तु पुनर्मदीयं मनो

श्रीबालगृह्य ११ परमपण्डित जन जगज्जगत्कर्णपूर्वाभक्तकीर्त्तिपूर्वः
श्रीमन्नहाराराजपरिचितो भोजाराजः सत्स्वरीकण्ठ भक्त्यस्य द्वितीयप-
रिच्छेदे । तद्वीकायाञ्च रत्नेइपरमिभ्यः—“शाङ्क्यराजः शालिवाहनः ।
साहसङ्को विक्रम दितः । श्यञ्चकृत्पूर्व त्तया ओपदम्" इति । श्रीम-
न्नहाराराजोधिवाजराजिकरीटकोटिकोटिकोटिकुट्टिकुत्तमणिमरीचमञ्जुनाम-
ज्ञीजरीजम्भ्यमाणरणनख द्युतिसम्पत्तुर्वभोमपरमेश्वरस्य त्रवत्तस्य
परःस्वहस्तमतिपादि कसाहसचरितवधोत्रिवर । अथनुवते जगन्निः, यथा,
वाकरणाऽऽतैतवैदुष्याविवक्षणवक्रभूङ्गमणि योगपरिशीननगोनशालिनं
निज नुजं मत्तु इति नाम नियुष्य पृथिमीप्रजापरिपालनाधिकरे, परि-
वत्य वैषमेकाकी विचचार जगतीतलम सपत्नभेषपत्नस्यौ विपत्तपत्त-
मन्व दीन् शुभाथ, निगीथ अवररेषारोतिध्वजिनीर्निर्गतातुनवजगद्दे,
करकलिनशच्चनाचनहायो निजनमाऽऽततागिनीः परस्वस्वच्छेद,
परान् स्वपरेभ्यो विभेद, तामिस्त्रातरुष्येषु इमय नोद्देशेषु नि गङ्गातङ्क
परिचक्र मेति । तदेव कस्य साहसप्रधानलक्षणव तथ हसाङ्कइति नाम
जगति परम्ये । श्रीमद्विद्वम्बुकुट्टमणिवराहमिद्विराचयै कानिद सकवि-
सर्वभै मप्रभृतिनवरत्नशालित्वादि रूपागमकविशेषै । सुपुपपद्यने खण्ड-
तदीयसमयस्य संस्कृतमयत्तमिति वयमपि निम्नवासागामित्वाविति
शिरसा विभृपदे परं नैवथे "न साहसाङ्कवरिते चम्पूकृत" इति प्रथ-
कृत्लेख त्", नवो यः साहसाङ्कोपनामाराज "तादिनारायणविषयकः
नववविशेषणस्यः रागान्यथ नुपपन्न क न्यकुत्तैरवरसाहसाङ्कस्य सर्व-
धिषीयं चम्पूवर्तु श्रीमद्विक्रमार्कपरमेश्वरस्येति भूजा विभावरिति वै ख १ः॥

मन्यते । वैदुष्यस्य परमपरिपाकाऽवस्थाः यामस्य ग्रन्थनमानीदि-
त्येतावत्वाह स्मास्माकं प्रियमुहुरक्षस्व नरः कारुण्डरः श्रीमा-
न्मोहनलालविपरिवसूहामखिः ।

ग्रन्थस्य चास्य खखनखरडखाद्यन्, खखनखरडन्,
खखनखाद्यन्, खाद्यखखनम्, खखनखेति नामानि प्रथन्ते ।
तत्र खखनखरडखाद्यमिति पूर्णं नाम । भामा, मत्येत्यादिव
“कानैकदशग्रहे पर्णग्रह” इतिन्यायेन सुखभाषकाम्यया लघू-
क्तानि तु नामधेयान्तराणि । खखनस्य=लक्षणप्रमाणादिशा-
स्त्रीयपदार्थनिर्वचनप्रतिद्वन्द्विभूतखखनस्यैव खखस्यैतवद्रवसो-
दस्य खाद्यनाद्य स्वाद्यमिति यावत्, य तत्खखनखरडखाद्य-
मित्येकोऽर्थः । खखनेनोक्तलक्षणेन खखहाः खखिहनाः खमाद्य-
येषां ते खाद्या गगनादथ (१)पदार्था येन यस्मिन्वा तत्खख-
खनखरडखाद्यमिति तु द्वितीयः । वैद्यकमतानुसारेण पुनरय-
मर्थः यथाऽऽमयखखन खखखाद्याख्यः पाकस्तथाऽशेषमत-
खखनेऽप्यपि प्रगल्भते प्रबन्धः । खखखाद्यं चोक्तं द्वारीते—

“शतावरी खिन्नरुहा वृषो मुखिडतिक (२) बला ।
तालमूली च गायत्री त्रिफलायास्त्रयस्तथा ॥
आङ्गी (३) पुष्करमूल च पृषक् पंच पलानि च ।
खलद्रोणे विपक्वमष्टभागवशेषितम् ॥
द्विषीषचिह्नतस्यापि माक्षिकेष इतस्य वा ।
पलद्वादशक देयं रुक्मलोहस्य (४) चूर्णिनम् ॥
खखतुस्य घृतं देयं पलबोहशक बुधैः ।
पचेत्तान्नये पात्रे गुहपाके मतो यथा ॥

(१) यद्यपि गगनादिपदार्था नात्र खखयन्तेऽपि तु प्रमाप्रमा-
खाद्या, स्तथापि गगनादीनामात्मप्रतिलम्बका ये प्रमाप्रमाखाद्यस्तेषां
खखने कृते इति सुखाण्डतापचैतद्वान् ध्ये-म् ।

(२) गुण्डतिकेति पुस्तकान्तरपाठः ।

(३) भार्गीति पु० ।

(४) रुक्मलौहस्येति पु० ।

प्रस्थाद्वं नधुनो देयं शुभाश्रमं जतुकत्वचम्(१) ।
 मङ्गी विडङ्गं कण्ठा च शुष्ठी जागी पलं(२)पलम् ।
 त्रिकला चाभ्यकं पत्रं ठयक्षं नरिच केसरम् ।
 पूर्णं दत्त्वा सुमणितं(३)स्निग्धत्वावहे निधापयेत् ॥
 यथाकालं प्रयुञ्जीत विडालपदमात्रकम् ।
 गठपक्षीरानुपानं च सेव्यं मांसरसः पयः(४) ॥
 गुरुवृद्ध्यान्नपानानि(५)स्निग्धमांसादिवृद्धयम् ।
 रक्तापत्तं क्षयं कासं पक्षिशूलं विशेषतः ॥
 धातरक्तं प्रमेहं च शीतपित्तं वमिं कृमिम्(६) ।
 इवयथुं पावहुरीनं च कुष्ठं स्त्रीहोदरं तथा ॥
 आनाहं सूत्रसंस्त्रावमम्लपित्तं निहन्ति च ।
 चक्षुष्यं वृहणं वृह्यं माङ्गल्यं प्रीतिवर्द्धनम्(७) ॥
 ओकरं लाघवकरं खण्डकाद्यं प्रकीर्तितम्'(८)-इति ॥
 तत्र प्रथमोऽर्थो ग्राम्यो, द्वितीयतृतीयावेष तु साधूइति
 श्रीगुरुचरणाः ॥

तदेतत् खण्डनखण्डकाद्यं व्याख्यच्छङ्करमिश्रः । अयं हि
 मैथिलब्राह्मणो भवनाथविदुषः पुत्रः प्रज्ञस्यपाण्डित्यो विभूष्णा
 तार्किकोऽभूत् । दीधितिकारस्य शिष्यो मथुरानाथस्तर्कवागीशो,

(१) जतुकं त्वमिति पु०

(२) जातोफलं पलमिति पुस्तकान्तरपाठस्तु न साधीयान् प्रति-
 भाति ।

(३) सुमणितमित्यस्य स्थाने समुष्णायैति पाठान्तरम् ।

(४) सेव्यं मांसरसं पयइति पु० ।

(५) गुरुवृद्ध्यानुपानानीति पाठान्तरस्तु 'गठपक्षीरानुपानं चेत्य-
 नुपानस्योक्तत्वात् साधीय इति विभावयामि ।

(६) शीतपित्तवमिं कृमिमिति पुस्तकान्तरं तु न बहुमन्ये ।

(७) धारोग्यं पुत्रदं श्रेष्ठं कायाग्निबलवर्द्धनमित्यङ्गमधि-
 कं पुस्तकान्तरे ।

(८) (खण्डकाद्यं प्रकीर्तितम् इति पु०) । पूर्वोक्तलौहान्तर-
 वत्पद्यापत्यं प्रयोजयेदिति च शेषः ॥

यदीया मायुगीति व्यायनएवचिन्तामणेश्चतुर्ध्वेपि खरहेषु ठया-
रुथा विख्यानाऽस्ति; यामन्तरेखेदानीन्तना जना जागदीशीगा-
दाघाट्यावधीयानाअपि नतरां भवन्ति परिपक्षेष्टिमपाविष्टया-
स्तर्कतएवममट्ट्याम् । एवं हि विद्वज्जनकिंभदन्ती—“कदाऽपि
मयुरानाथमहाशयमेकस्थाः कस्याश्चनातिठयाप्तेः परिहारं वि-
भावयन्तं स्वयमाससाद् कश्चनाऽपरिपक्षिणो योगी, लम्बित-
प्रचातिषेगीन्तममोचत ।

“तर्ककर्मत्रिचारचातुरी का तुरीयवयसा विभाठयते ।

आतुरीभवति यत्र मानस”मिति त्रिपादीम् । तदीयमभी
पपाठ“आतुरीष्टिमतमपाकरोति क”इति । ततः मोऽपि लोका-
तिगं शास्त्रा इमाभिलक्ष्य तुष्टः सन् यथानतं ययौ । तस्य च
विध्यां रघुदेभ्यःचार्यः, य हि तदीयशिठयाः कणादइति
ठयवक्रायेति त्रिनित्रागादइति प्रथते स्म । तस्य च शिठयः
शङ्कानिभ्र । यथैतदीयत्रैजदिकमूत्रोपकारे—

“याम्भं टैशैदिके लरत्रे मन्दगद्युत्पादिनीऽन्स्यहम् ।

कणाद्भवनाथःस्यां तास्यां मम नमःसदे”ति ॥

यद्यपि खखनखखसाद्येऽस्मिन् मन्त्यन्याअपि विद्यासा
गरीया(१)दयऽन्ना ठयाठया, स्तथाऽप्यतिगहनाथानां पराची-
नतया गगदतिगविषयतया च खखनाक्षराणान्तनोऽप्यल्पैरेवा
नरैठयंक भग्दार्थेप्रकाशनेन, स्याने स्याने खखनमुद्दृत्य चर-
गानुभवद्याभिधानेन चाऽस्यां शाङ्कर्यामतितरां रजयन्ति सन्तः ।
यथाऽद्वैतमध्यादिः शिष्याजानद्वैताववाधस्य परमभीष्टे, तथेदं
खखनखखसाद्य प्रविदाद्विजयस्य सर्वथा । यथात्रैव—

“शठ्दार्थेनिर्वचनखखनया नयन्तः

सर्वत्र निर्दोषकभावमखखगर्वान् ।

(१) नामधेयत्वेन वृद्धत्वाप्यः । चार्वजनीनाः सागरीत्यादयस्तु
अवहाराः ‘केकयी’ त्यादयद्वय पुंयोगलक्षणाङ्गीया अन्यजनकभावरूपपुंयो-
नचङ्गावाशिर्वाहाः ।

धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्ता
लोकेषु दिग्बजयकौतुभनातनुष्ठवम्" ॥

चित्तसुखीयादिषु न्यायमतखण्डनादिकमस्यैव विस्तीर्ण-
विषयसंभृतमास्ते ।

तदेतद्ग्रन्थखण्डं विद्वज्जनानामऽकारणमित्येन विद्यापरमेण
संस्कृतमभृतसमादरेण श्रीमता A. Venis, M. A. महाशयेन
प्रोत्साहितः खलु प्रथङ्कु । टीकोट्टङ्कितेष्वपि दुरवगाहेष्वन्त-
राऽऽन्तरास्यलविशेषेषु स्वयमुपनिबध्यमानया गतेप्रदर्शिन्या ना-
मोपवृत्त्या (टिपवत्या) संप्रकाशयन् सुसंस्कृतं तपस्त्रयैश्च चिह्न-
विशेषैः प्रकाशयितुमारब्ध श्रीमान्मोहनलालवेदान्ताचार्यः ।
अथ दुर्दोषोपनिपातप्रभाषादन्तरेण स्मृतिमात्रेण सत्प्रकारे चात्र
भवति मोहनलालेऽत्यावश्यत्वं दुर्दसंस्कृतमिन्द्रियस्यास्य ग्रन्थखण्ड-
स्य संस्करणमुद्रणयोः परिसमाप्तिरिति विनायद्भिः श्रीशास्त्रि-
वर्यैः पूर्वसंस्कृतसुसमानपाठित्यशाली सांख्ययोगवेदान्तोपा-
ध्यायः श्रीमान् कुलयशस्विशास्त्री खल्वत्र संस्करणकार्यं स्म प्रव-
र्तितः । मुद्रायात्रा च भारतेश्वरःश्रेयसानुष्ठायिना दीनदयार्द्रह-
दयेन सौजन्यधन्येन दुष्प्रापशास्त्रीयग्रन्थाङ्कनोष्णीधनगृहीतदी-
क्षाकङ्कणेन श्रीयुत Dr. E. J. Lazarus, भसाशयेन 'शुभस्य शीघ्र'
मिति मन्वानेन तथाऽऽवेदितोऽयं शीघ्रतया प्रायो निष्पत्तौ-
कमेव संस्कृतं प्रावृत्तत् परिसमापि यच्च तत् अशङ्कल्लक्षैर्द्विविध-
विशेषान्पूर्वोमुद्रयाऽसूचञ्चाऽऽपाततः सञ्जाताः किलाऽशुद्धीः । त-
देतत्तममाप्तमखण्डस्य खण्डनखण्डखाद्यस्य मुद्रणम् ॥

प्राक्किल कालिकापरनेऽ (कलकत्ता)स्य द्विसप्तमवृत्तन्मुद्र-
णं, यथा ठ्याख्यासंस्कृतिविरहन्तशाऽऽलोच्य दोषज्ञानार्थं चेत्एव
नोदखण्डाऽऽद्येतुमध्यापयितुं वा । तच्चिरात्राय सममित्खण्डना-
त्वं सांप्रतं ठ्याख्यासनाद्यमर्द्धमश्रीपवृत्तिसमलङ्कृतं सुसंस्कृतं सु-
ठयञ्जितमुद्रितं समुचीयत्रमखण्डं तदेतत्खण्डनखण्डखाद्यं समा-
स्वादयन्तु सपादयन्तु च तदध्ययनाध्यापनादिपाररूपीं पठि-
ताऽऽखण्डला, नखण्डयन्तु च तत्र भवती वशीकृतसारस्वतसमुद्रि-

विभूषणः खण्डनकृतश्च, तत्सनाभवेदुक्त्यप्रमाणारभुनस्तदुक्त्याख्या-
 कृतश्च, तदनुटिप्पयस्त्रीकृतश्च समयोदयप्रत्ययजायतकीर्तिविम-
 रैर्जगन्ति । अथ शास्त्रमताप्रदाननिर्वर्णोपपन्नस्त्वमहीरुहा
 भारतभूविभूषणभूनाऽऽत्मदीयवि परिश्वसूडामणयश्चेत्प्रमत्स्यन्ति,
 हन्त तर्हि प्रथमपर्यायमुद्रितेष्वस्यैतेषु पुस्तकेषु युक्तेषु न चिरा-
 देवैतदुपन्यस्तमाद्यन्ततः सुपर्यायोपवृत्तिसमलङ्कृतमतीवतरां
 संस्कृतं च भूयोऽपि मुद्रणां लक्षणयिष्यतइति संभावयामि-

१८४४ तमवैक्रमाब्दे
 माधुशुक्रपक्षी

कश्चिदाऽऽवसत्पद्यास्पदकान्यकुञ्जो,
 ब्रह्मासुतवर्षिणीनभस्तारः, साहित्य-
 धर्मेशः स्त्रमांरुययोगवेदान्ताचार्यो,
 रा० भागवताचार्यः ।

(श्रीशः)

(ॐ नमः प्रातःस्मरणीयेभ्यो भगवद्गामानुजाचार्यवरणेभ्यः)
श्रीमदुदासीनसाधुप्रवरमोहनलालवेदान्तादिवि-
विधशास्त्राचार्यस्य ।

जीवनवृत्तान्तः ।

श्रीमान् मोहनलालवेदान्ताचार्यः खलु दुर्लभगुणमयमूर्तिं
रित्यत्र किमिदं बहु ब्रू नो, नन्वेतावदेव पर्याप्तं भान, यदिह प्रायः
मङ्गीतादिगुणगणभाजो जना नो खलु आयन्ते विपरिचितां वि-
त्तातेष्वनकवैदुष्यशालिनः । अथ शतेषु सहस्रेषु वा कश्चित्कदा-
चिद्भवन्त्येवविधो, दुर्विधो दरीदृश्यते विनयस्वप्दाम् । अ-
थास्तु क्वचित् कदाचित्कश्चिद्वक्ष्ये लक्ष्यस्तथाच, तथाच, तथा-
च; तथाऽपि दुष्प्रापः खलु जगति जन, स्तथाविधो यो भगव-
द्भक्तिसुधानिष्णातो नाम । वर्णसौरभयोगः खल्वयं, यो जगति
जनस्य दुर्लभगुणगणोपबृंहितस्य पुरुषार्थवतुष्टयप्रतिभूभूतभगव-
द्भक्तियोगो नाम । अयन्तु पुनर्वैशुषीणावोणाट्टं (=वितार)
सुदङ्गलतरङ्ग प्रभृतिवाद्यप्रयोगेष्वनवद्यविद्योतमानयशा, गा-
नेष्वविगानकौशला, विचक्षणः परस्वहृत्कारां भगवद्भक्तिसु-
धाममुद्गममुद्गिकप्रेमकल्लोलपरीवाहवेलायितमानसवृत्तिश्रीमत्सू-
रदासप्रमुखमहामहानुभावप्रणीतगातिकादीनां, स्वयं च तद्य(१)
मकानां तेषां संप्रयोगेना, सुदुमञ्जुलकाठयान्तरनिर्माणनिपुणश्चे-
ति साङ्गोपाङ्गमङ्गीतरूपत्सङ्गीतकीर्तिं, रथ तथाविधानाम्
ग्रन्थानां निबद्धा बाह्यखेतरः (खत्री) सन्नि, त्येतावतैव न-
न्वनुमेवविद्यानसृष्टिश्च, तथा शत्रुतया गृह्यमाणेष्वपि मित्रा-
यमाणस्य यस्य पुरस्ताच्छत्रवोऽपि मित्रायन्ते स्मे'त तु मे ता-

(१) मन्दराद्रिका यथा सरवमात्रात्क्षीरोदम्बती निरगादसृ-
त्, तच्च प्राश्याऽस्वप्नाः (देवाः) कृत्स्नकृत्वाः समवृत्तग्यवा, तथा चयं वद्-
याः दृष्ट्या विबुधाः स्मः, कः-इति ।

वत्तद्विषये वक्तुमस्माकमवसरः; युधिष्ठिरस्येव यस्यअज्ञानशत्रो'
शत्रुरिति धीरेव नानीदित्यकम्पविनयनंपत्तनाचसौजन्यसम्प-
न्नश्च संस्तुननादुःखमगवद्भक्तिसुधाचषकायितचेताश्चेति अस्माक-
रकरमिदं किमाप। इदञ्चास्य प्रातःस्नानीयवस्तुजातमाप्नीत् ॥

“मुकुन्दभक्त्यम्बुधिभन्दरःश्रीमुकुन्ददामो दयता सदा नः ।
यः श्रीहरिर्भक्तिःसामृतेनाऽस्माकं निरास्थजनु मोहनिद्राम(१)॥३॥
श्रिमेतगीर्वाणगुरुः श्रिमेव पुंभाषवाग्दैवनिमित्यजस्त्रम ।
दोलायितःसम्प्रति सम्प्रतिष्ठो हृद्य”तु मे श्रीगुरुरामनिश्र.(२)॥२॥
श्रीरामसदने नाम ज्यायान्मे जयति श्रुत्वा ।
यदत्तकरण शश्वच्छ्रीरामसदनायते ॥ ३ ॥

गोपाङ्गनःऽराङ्गनकोरचन्द्र कसादिविध्वसनधूमकेतुः ।
सनारपातीत्तःश्रीकसेतुः कृष्णः सदा स्यात्प्रमदस्य हेतुः ॥ ४ ॥
स च्चक्षुस्त्रैभूमृतिः प्रमात्सुखकल्पनाश्रयश्चैकम् ।
अविक्तःभित्तिगम्यं कूटस्थं ब्रह्म यत्तदहमस्मि ॥ ५ ॥
अय खलु मेऽनलाभमहानुभावः पञ्चनदजनपदेषु गुरदा-
सपुरानामकमवहले (आत्मा नामक का) हेहरा-इत्याख्यावि-
ख्याताधिष्ठानं प्रादुरासोस्मानकवशप्रदीपः । अत्र वंशानुपूर्वी-
श्लोकाः—

“श्रीमन्महात्मानकनामधेयो शोभूसुगाणां खलु सद्विधेयः ।
बभूव नित्यं श्रिमक्तिशा. सै।जन्य जन्योऽज्जन्मकीर्तिपूरः ॥
तस्मादासीन्नदधजन्मासु तन्मा। लक्ष्मीभन्दश्चन्द्रवर्षा गुणाढ्याः ।
संप्रकोऽभूद्यो हि सत्य जगत्यां हारे(३)भावे, न त्वहो लोकचारे ॥
धरचन्द्रः(४)धरचन्द्रःकान्त्या कीर्त्या कलाभिश्च ।

(१) बृहस्पतिवनेन पुत्रपुत्रवतीर्षहरस्वतीवनेन च भूमीभूयो वि-
भाव्यमाणः श्रीमद्रामनिश्राशिववर्षे विद्यागुरुर्मम हृदये संनिधत्तामि-
ति स्थूलार्थः ।

(२) हागे हरिमन्वन्धी, भावःप्रेमा, “ तदेव हारं वद मन्यसे
चेदि” ति श्रीमद्भागवतानुसरीति हार्द्दम् ।

(३) पञ्चाद्यजन्मश्चन्द्रगर्भोऽपि चन्द्रपत्नः । धरायाश्चन्दो धर-
चन्द्रइति ज्यायोः सञ्ज्ञाश्चन्दोर्वहुलमिति हृदिमाऽनुसन्धेयः ।

नाणकचन्द्रस्तस्मादभवन्मःणिक्यनस्य वशस्य ।
 लोकद्वयवाप्तमानो मानविहीनश्च यः स्वयकम् ॥
 दातारचन्द्रनामा तस्मादजनिष्ट शिष्टलोकानाम् ।
 मन्मृतगुणश्च निपुणो हरिचरणस्मरणनिष्ठायाम् ॥
 उद(१)यादिचन्द्रनामा तस्मादभवत्समुल्लसद्दामा ।

रामाराधनपरमो यः कामाराधनोपरमः ॥
 तस्मात्सुमानराये, तिप्रथितः पृथुलसत्कीर्तिः ।
 कमनीयगुणगणाढ्यस्सज्जनसंरक्षणोऽभिज्ञः ॥
 तस्माद् बभूव च मदानदाऽऽशयाच्छ्रीमदाज्योतिः ।
 यः सर्वदाठद(२)रुचिरं चिरन्तनं ध्यातवाञ्छ्योतिः ॥
 तस्मात्सकलकलानां केननमभवत्कलामिहः ।
 कीर्त्या कलानिधेयः प्रतिनिधिरिव लक्ष्यते स्म संसारे ॥
 तस्माच्चन्द्रसिंहाख्यो बभूव लोके मपुननस्थितिकः ।
 अन्वर्षीकृतनामो निहृत्कृषीऽसदृसगुणः ॥
 लक्ष्मीचन्द्रादभवत्समोपतिपादपद्मरोलम्बः ॥
 नानकवशेत्यसियो नानकवशोचितस्ततो जातः ।
 दददपि नाणकराशिं दिनं दिन यः कपर्दिनं(३)भेजे ॥
 तस्म दम्भूव नाम्नाऽपौ पूरसिंहइति श्रुतः ।
 दीपे ४ दन्ताबलं नित्यं पूर्णसिंह इति श्रुतः ॥
 तदात्मजोऽयं शुचिमागं गामिनां सुमंसतः पात्रगुणोपकल्पितान् ।
 गभीरसुखच्छद्गुशीतलाशयो रसोत्तरो मोहनलालनामकः”(५) ॥
 तदित्यनयं श्रीमन्नामकात्रयोदशउत्तरपुरुषः । जन्मतः-

(१) उदयचन्द्र इत्यर्थः ।

(२) घनाचनच्छटाभेचकच्छवि चारवतिकं तेजो, वैष्णवं धामो-
 ऽऽदिपुरुषं पुरुषोत्तममिति यावत् ।

(३) कपर्दः शैत्रोत्तटाञ्जट, सतद्वाञ्छिकवणव ।

(४) दोषरूपे गजे इति उपरुपरूपकं द्वैपद्ये, यद्य च दोषाणामि-
 दन्ताबलं सर्वजनसंवेदनमिहऽऽकर्षाकताबलं, तद्येत्यैकपद्यकोटिः । को-
 टिद्वये वषयोर्भिदा तु तयोरेकस्य कविसंप्रदायसिद्धत्वादेतादृशोऽवसर-
 कश्चित्करी ।

प्रभृत्येवास्व चेतेः लौकिकविषयाणामस्ति स्म वैदेशिकम्(१) ।
 स्तनन्ययोऽपि(२) यो हरिभक्तेः स्तनन्यय(३) इवासीत् । यथा
 यथा च बद्धं ते स्तन, तथा तथा हरिभक्तिरसोस्वादादहृद्यदपुष्य-
 दतुष्यच्च । तदेवमयं समानशीलेन ज्यायसा भोदर्येण श्रीराम-
 सदानभिधेन सह कौभारादेवारभ्य वर्तमान आस्वादयन्भक्ति-
 रस, मधीयन्परिशीलयँश्च ब्रह्मवादानासीत् पञ्चनदविषयेऽप्ये-
 व । अथ स्वैरं स्वैरं पवित्रक्षेत्राणि समीक्षमाख्ये, नानाजनपदा-
 ङ्गाहमानः, पुष्यसत्स्ववगगहनानो, भगवदर्षाश्वाचर्य, न्भूदे-
 वांश्च प्रकामन्, गाश्च प्रदक्षिणीकुर्वन् वेदान्तादिविचारैर्विदुष-
 श्चसन्तोषय, न्दयानन्दरस्वनीप्रमुखैश्च प्रच्छन्नाकास्तिकान्
 जयमायातोऽयमायातइति जनतातः स्वीयतद्विगागमनभ्रुतिमा-
 ज्ञेय कान्दिशीकंश्च विदध, द्धच्च सनातनवैदिकधर्मकर्मप्रतिष्ठां
 जनजनस्वा,ऽऽसादयामान(४) धाराणसीम् । तत्र च तदीयान-
 णीयकापहृतहृदयोऽधिकं वासनरोचयत । निवसँश्च 'वारा-
 णसीं सारुप्रतं परमं विद्याक्षेत्रमिति के केऽत्र कीदृशाश्च विप-
 शिचतइति तांस्तानाकर्णयन्निर्वर्णयँश्च कदाचन श्रीयुतसाहि-
 त्याचार्याम्बिकादत्तठयामेन समगच्छन्ताऽपृच्छच्च तम नी कथानु-
 कथनपाररूपरीसम्प्रकृतौ—'अप्यस्ति तादृशोऽत्र कश्चिदवश्यद-
 र्शनीयो, योऽसौ विपश्चितामपश्चिमः स्यादृशंनेषु, निपुणानां

(१) विशिष्टशिष्टाचारऽसंक्रमीणजनानां बहुमतो ज्ञानविज्ञान-
 शौजस्यकलाकलापादिबहुणसंपन्नो गम्भीर, मायाभास्वर्यादिदांशकाला-
 नुपहतप्रशान्तचित्तवृत्तः श्रीकृष्णलोकाविलासदर्शनाऽऽदरइति प्रकृत-
 कोटिः । भीष्मश्रीष्मपयिकामभीष्टो भवति किल कलचिकाटे, रिकाःसु-
 पहितो गम्भीरतया सर्वज्ञा अनाविलसुखशीतलसुरचजलपरिपूर्णः कूप-
 हत्यप्रस्तुतकोटिः । एवं च निरुक्तकूपकूपहृवासावित्युपमा पर्यवश्यति ।
 तेन च परोपकाररंभारसंपादनमात्रप्रयोजनसंभृतशरीरत्वादिलक्षणे
 वर्षयंतीति विशेषः परिष्कुरणीति विदां कुर्वन्तु हृदयालक्षणा ।

(२) तेभ्यो विरक्तम् ।

(३) शिशुस्तनदेकवृत्तिश्च ।

(४) "आङ्कः षट् गणयँ" ।

मूर्द्धाभिविकस्स्याच्चातुंगेषु, आचार्याजानपणीः स्यात् पवित्रा-
 चारेषु, महास्ताराणां(१)प्राग्रहरः स्याद्दृढयवहारेषु, भानवता-
 नां च परमःस्वाङ्गनवङ्गास्त्रप्रपत्तिप्रमुखमोक्षोपाये, उवनुक्तेष्वप्ये-
 वंजातीयकेषु लोकदुर्लभगुणेषु गरीया, न्वरीयांश्च स्याद् ब्रह्मवि-
 द्यात्मकविद्ययोः" । आकर्ष्यं चेदं विस्मेरहृदयः स ठयासवरः
 सुस्मेरवदनमेवमुत्तरं तद्गुणयति स्म "अपि कौतुकिनां शिरोम-
 णे, कुतेऽद्य श्वेत् जगति जायन्ते भवदुपगच्छितगुणानां सवष्टये
 नामैधविधा विशिष्टाःशिष्टाः । प्रायो दृष्टाप्य च भवेपुरत्र भव-
 त् तत्तद्गुणशान्तिमस्ते ते लठषवर्षाश्च, भवद्गुणश्च, संव-
 स्ताश्च, विदग्धाश्चा, न्ये च गुणिनः । परं विलक्षणगुणसमष्टि-
 र्भवान्ऽन्विष्यति खलु तादृशीं भमष्टिमेव । जूनं साधूक्तमभि-
 युक्तेः "यो यादृशः, स तादृशेऽभिरमत" इति । भवत्प्रज्ञवाचो-
 युक्तिरेव च ध्यनक्ति, यथाऽद्यावधि नो खलु लोचनगोचरीक-
 रीति स्म भवानत्र भवन्तं श्रीरामनिम्नशास्त्रिवर्यम् । तदुत्तिष्ठाप-
 नय चेदं कौतुहलं, ना विलम्बस्व, सकलयद्यैव चक्षुषी, पश्याद्य
 वारावस्थाः समस्तभारतस्यैव वा सारवत्ताम्-इत्यभिदधदेवा-
 दस्यात् । अथैतौ श्रीरामर्तुसायाह्नेऽस्ताचलब्रूडामणीभवति भग-
 वति प्रास्वति दशाश्वमेधगङ्गाचहमगाताम् । तत्र च सान्ध्यं
 विधिमनुष्ठाय द्वित्रैः प्रियच्छात्रैः समं समासीनं शास्त्रिवर्यं भ-
 गवत्या भागीरथ्यास्तटबृहके दूरादा दर्शताम् । अथ ठयासवरो
 'ऽयमेवासावत्र भवानास्ते, तदहं भवन्तमावेदयामि तावत्तत्र
 भवते शास्त्रिवर्याये'त्युक्त्वा, गत्वा, नस्वाचा, वेद्य, तेनाभ्यनुष्ठा-
 तश्च प्रापद्य मोहनलालनदीदृशत् । मोहनलालस्तु सहजवि-
 नयठपानत्रस्तदुदारमूर्तिदर्शनाच्च सुदूरमारोपितश्चमत्कारेणा,
 र्वयच्छास्त्रिवर्यम् । शास्त्रिवर्यस्तु 'आगम्यतामास्यतामिहे'त्यु
 भावप्युभावप्युखेष्टुमादिदेश । अथ शास्त्रिवर्यो ठयासवरम-
 ष्वयुक्त-क इमे, कुतः सामायासि, किं वोद्दिश्येत्यशेषमाख्या
 यताम् इति । ठयासवरस्तु-'जन्म जगतीतः परिचमाम्प्येते ता

वदपश्चिन्मा महात्मानो वाराणस्यानायाता निवसन्तश्चात्र
 कियतोऽपि कालः, दद्युमवद्दर्शनार्थितयैवेह मया सह बनाया-
 ताः—इत्येवकथयत् । शास्त्रिवर्यस्तु परमतुष्यन्मोहनलालस्य शा-
 न्त्या च, शास्त्रीर्येष च, विनयेन चा, बोधश्च 'भद्रं, यथाव-
 काशं भूयोऽपि कदा चिदागन्तव्यमिति' उक्त्वा चोदतिष्ठत् ।
 एतावपि च नमस्कृत्य शास्त्रिवर्यं यथागतं गतौ । अथ गच्छ-
 तोरेनयोः प्राकृतदालापः—'अहो धन्या वाराणसी, यत्रैतद्दृशो
 विद्वद्बृन्दारको द्रष्टुं प्राप्यते, अहो सांक्षमद्य गीर्वाणगुरोर्दर्शनम् ।
 यदि शास्त्रिवर्योऽनुगृह्णीयादस्मादधीर्षीयेति स्पृहयते मे चेतः' ।
 एवं भविष्यतीति चाह स्म ठयासवरः । अथापरैद्युरयं ठयासव-
 रेण सहैवोपमसाद् सदनं शास्त्रिवर्यस्या, वेदपानास च ठयास-
 वरमुखेन स्वं मनोरथम् । शास्त्रिवर्योऽप्येतस्य तादृशीं सुशील-
 तां शुभंघुहार्दतां(१) चालस्यान्वमोदत तम् । अथ प्रारब्धः मो-
 हनलालोऽध्येतुम् । षड्भिर्वत्सरैरनञ्छिन्नमधीयस्करकोडीकृ-
 तवान् स्थावश्याध्येतठयं वेदान्तसांख्ययोगादिग्रन्थजातम् । अ-
 थायं स्वयमनिच्छन्नपि पुरस्कृत्य गौरीमातां संस्कृतसाधना-
 विद्यामन्दिरे वेदान्ते मांङ्गयोरथोश्च वितीर्षोचार्यपरीक्षां ते-
 ष्वर्जिजदाचार्यतामात्रोहताम् । तदनु च पुनः संस्कृताङ्गलप्रबन्धे
 प्रतिष्ठाप्यमाने परीक्षावदेव प्रावर्तिष्ट शिक्षितुं समासाद्याऽऽङ्ग-
 लीविज्ञानं तदुपनिषद्दान्भौतिककलाग्रन्थन्यद्यवात्तारविष्यना-
 याया, (हिन्दी) मुपाकरिष्यन्तर्हि स्वदेशवन्धुजनतायाइत्येव स-
 मोहमानः । अथास्य धिषणाञ्च मेधाञ्च प्रतिभाञ्च तस्याऽऽङ्गल-
 नाञ्च प्रेक्ष्य पमद्य च प्राह स्म शास्त्रिवर्यः 'अयि भवन् ! भवा-
 न्नाभतेऽद्याऽऽपूर्वमुपनिषद्बन्धुम् । तद्ग्रथतु कांश्चिन्नित्यन् ।
 क्षममाणे ह्यकिञ्चिन्कुर्वाणो गीर्वाणोऽपि न खलु बहु मन्यते ज-
 नैः । कुर्वाणश्चैवमु कुर्वाणो भविता भवाञ्जनतायाश्च बुद्धिम-
 तायाश्च । तदेवमभिहितोहितोपदेष्टा गुरुणा करुणाकरुणालयेन
 मोहनलालोऽपि गुरुणा विनयेनाब्रवीत्, 'गुरुवरणानां करुणास-

रजिमध्वमध्यासीनस्याजानानस्यापि जनस्य किमिदं दुष्टप्रा-
पन्नामेति(१) । अथासी प्रासौपीलिवन्थान् । ते यथा, दोषदूष-
कतामूलनिर्णयः, मरानोहनोहविद्रावणम्, वेदान्तसिद्धान्ताद-
र्शः, खण्डनगर्तप्रदर्शनीत्याद्याः संस्कृतस्य; शिल्पचमत्कारचि-
न्तामणिः, प्रतिबिम्बचित्रचिन्तामणिश्चाऽऽर्यायाः (हिन्दी) ।
आर्यामयं निश्चलदासकृतवृत्तिप्रकाशकं च संस्कृतभाषाया प-
द्यैरवातीतरत् । अथैरुदा दयानन्दः काश्यामागत्यावृत्तत् । तां-
स्तांश्च तदीयान्प्रच्छन्नञ्जेच्छवादाञ्जनमुख्यैः श्रावं श्रावणमयं ब-
ह्विर्विह्वारार्थं विनिर्गतः कस्मिंश्चिद्दुष्ट्याने दयानन्देन दूष्टो 'ज्य-
नेश्वामानिस्यमानना च 'प्रतारपिष्यापीत्यभिप्रेयता च दा-
पितासमः समुप्राविशत्, अन्येऽपि चैतत्सहस्रराः । ततोऽन्यत्रु-
द्ध्या प्रतारश्चितुं प्रलालप्यमाने कुहनाकाषायेज्य शास्त्रीयं श-
स्त्राशास्त्रि किंऽपि तथा प्रावीच्य, - द्यथा स कुहकः सखमात्रं
'कोऽयमापतितः खलु नत्पा(२)खण्डनमः खण्डनप्रचण्डमार्तखण्ड'
इति मन्त्रिलक्षं चिन्तित्वा यदैतदीयसारस्वतप्रवाहस्य प्रतिरोधे
न किञ्चिद्पि शास्त्रीयमध्यगच्छ, तदाऽपीचदार्ययाऽऽर्यांस्तट-
स्यान् "भवन्तस्तु वदन्तु किमेतैरिदमुक्तम्, सवन्तः संस्कृतं न
जानन्तीति कृत्वा युष्मार्कं पुस्तदेतावदेतै व्यर्थमुद्घोषितम्'
इति । तां तु तस्य मायां दूष्टा विहस्यार्ययैव तेषां सर्वेषां प्रबो-
धनार्थं नोहनलालएकैक मायाभिधोर्मतप्रखण्डयत; यद्यच्च कि-
ञ्चिद्दुष्टीत्यं ब्रह्मोभिः प्रकटीकुरुते सन्न स मायिक, सन्त्सर्वं सर्वेषां

(१) जनस्येत्यत्र "न लोकाऽव्ययनिष्ठे" त्यादिना नष्टोपतिवेधे-
ऽपि 'कोशदण्डसमशाणां किमेषां खलु दुष्कर' मित्यादाविव कविकुल-
सुवणत्वेन गुणत्वाच्छेषत्री पट्टी । अतएव "इदं हि शास्त्रमाहात्म्यदर्शना-
ऽलसचेतवास् । अपभाषणवद्भाति न च सौभाग्यमुत्भ्रमती" त्याहुर्हृदयजु-
षः । एवमेव 'भवन् ।' इत्यादावपि तत्र तत्र समीक्षितव्यं कुरिभिः ।

(२) पाखण्डशब्दं धर्मिमात्रवचनं केचिद्दाहुः । एवं पुनर्मत्तरा-
दिपदवदस्य धर्मिधर्मोभयामिधायितां मश्यामहे ।

पुरो निरास्यत् । तदेवं सूर्यास्तमयनमयात्संप्रवृत्ते ऽस्मिन्प्रच्छन्न-
नास्तिकमतस्य हने निशीथसमये च संपरिग्रामे प्रस्त्रिजगात्रो सू-
कप्रायः कपटभिक्षुः प्राणपरिष्ठाणस्य प्रकारान्तरमपश्यन्नचकथत्,
'अद् दिवसान्तरे पुनर्विचारं करिष्ये, अद्य समाप्यतामि'ति ।
तत्रस्थारते सर्वे लोका भृशं कपटकाषायमुपाहसन्नावर्द्धेषु "कि-
मद्य भवद्दृक्कथयमखिद्यतं श्रीमता होहनलालमहानुभावेनाऽव-
शिष्टं, यस्य कृते पुनरायसिष्यति मयान्'इति । मोहनलालस्तु तं
तथाभूतं दृष्ट्वा स्वयमेव तस्यापमानेन खिन्नहृत्वाचोचत्—“अहो
मयन्, भवतः सनातनवैदिकधर्मविलोपघाताकरयं यत्किंचिद्
भसाद्धिनिर्गतं मग्मुखात्, तत्तत्वेतेषां धर्मसंस्थापनोदनायैव
नत्पज्योद्देशेन । तन्माभूद्भूयोऽपि त्रे मुखाद्दुर्मावधीरजेत्युक्त्वा
सर्वैः सभ्यैः सह तन उदचलत् । मध्येमार्गं चाथ तै रङ्गप्रेक्षकै-
र्धर्मसंशयविनिर्भुक्तचित्तैः सुपक्वैः सबहुमानं प्रार्थितः—“अपि
श्रीमन्, इदं पाखण्डनसखण्डनसर्वस्वं भवान्प्रदपया संकलप्य
संप्रकाशयेत्तु पुस्तकमेकं, सर्वथा सनातनधर्मः पुनरुज्जीवित-
स्यादि"ति । एवमेव भविष्यतीति चोक्त्वाऽयं उपभर्जयत्तान् ।
भूयोऽपि च यदाऽप्रीषीदयं कपटभिक्षोरनभिज्ञजनतताप्रतारका-
वादांस्तदाऽयमकरोत्चेतसि—“अद्य श्वो भारतभुवि भूरयो
ठयक्ताश्चाठयक्ताश्च पित्रसहभारसहस्ररणाथिनः सनातनधर्ममु-
ल्लयितुं सन्ति प्रवृत्ताः तदेते कुक्षिभरयो निर्लज्जानिर्भया-
दाश्च यद्यपि शतकत्वोपि पराजीयेरंस्तथापि न निवर्तस्यन्ति,
कथंकारं वा निवर्त्तरंस्तेवराकाः, नो खल्ववकल्पते नाम ह्य-
न्यथाकारननायासरमणीय पित्रसहकुण्डिकाऽऽवपनं पूर्वार्जित-
भस्मकचस्मरतया विस्मरतां स्कीकर्ताठयतामकिञ्चित्कराशाम-
किञ्चिन्नानानीदृग्जनानाम् ; तथाप्यनभिज्ञानामार्थजनानामर्थ-
जनानां ना भून्महामोहेनानार्थतेत्यावश्यकं पुनः पाखण्डनत-
खण्डनपन्थप्रचनम्” इति । आकलय चैवं निरमिमीत निव.

न्यवनमिच्छन्नमहामोहविद्रावणकम(१) । अथायमेकदा आनयावी संवृतः पत्न्याप्रतिवा, निमात्रं विाक्तचेतारव लौकिक-कृत्येषु नशोकं तत्तच्चिन्तयन् अनुज्ञाघएव स्वानुभवोद्रेकं नाम जघन्य ग्रन्थम् । अहो महात्मानां क्लेशोऽप्यत्रकल्पतउपकृतयएव लोकानाम् । मनु शोकोऽपि परमर्वेभंगवतो बलनीकजन्मनः सुरगणस्येव(२)प्रतिपेदे श्लोकतां, सकलजगद्रसोक्तासैरुहेतोर्महे-श्वरशिरःसत्कृतस्य विशङ्कःविकटमीर्मानक्रचक्राक्रान्ताऽप-रात्रायपयः पारावारसार/यमाणरामायणसुधादीधितेश्च निदा-नताञ्चेति तस्यैव निदर्शनभूतमिवास्याप्येतदालोकयामः ।

अथैकदा संस्कृतविद्यारमिकशिरोमणिभूयस्तदुज्जीवन-जीवातुसमीहितो वारणमेयसास्त्राजसंस्कृतविद्यामन्दिराध्यक्षः श्रीमान् G. Thibaut, Ph. D. महोदयः शास्त्रिवर्यं ब्रवीति स्म प्रसक्तानुप्रसत्त्या—“अद्यत्वे खलु प्रायोऽन्यादृशमेव किञ्चित्पङ्क-पायिष्ठत्यमालोक्यते । भूम्ना हि भारततरकाकरः पुरस्तात्तैस्तेस्ता-दृग्निर्दशनविरत्नमहारत्नैः प्रतिभाप्रभाभास्वरस्वरूपैरसमानन-दभिमानोन्नतचित्तितानां सुमसृद्बुद्धिविभवानामभिरूपमूर्द्धा-भिषिक्तार्थोणां शिरोधार्यैरहार्थैर्वाभाति स्म यथा, न तथा

(१) यद्वेत्तावदायभाषया रूपकरूपेणावतायाऽऽभाषकादिनोपवृ-हितं निरूपितमास्ते श्रीमता विजयानन्दपण्डितेन महामोहविद्रावणमेय नामतो, वस्तुतश्च यत्र खलु वा वैदिकधर्मशर्मोदगरूपाऽऽर्यमहोत्स-वसाकलय्याऽऽर्यभाषाकमनीयसुप्रसन्नभास्वररूपा स्मितोन्मुखी नरोनक्ति च मङ्गुलमङ्गुलीः पदन्यासै, गृहार्थभावाविष्कारैः सहृदयहृदयेषु वर्धति च समत्कारसारं, परोज्ञमपि वस्तु समन्तमिव कुर्वती साधारणजनान-रवावर्जयति च, जयति च सर्वथा प्रीहिसोद्गारिभनोहारिभिः सर्वैरेवाङ्गैः ॥

(२) ऋदाऽपि त्रैलोक्यं दैर्वांसशोपोपहतं निःशोकमसागञ्च संवृ-त्तमिति तदा महेश्वरादयो देवास्तापोपहता भूयो जगत्सत्त्वाऽऽधायनं संपिपादविषयो भगवता विश्वम्भरेण ते स्म समुद्रं मण्डितुं प्रवर्त्तिताः । निवृत्तं च तस्मिन्कारम्भे चन्द्रः समुद्रपादीत्यादिस्तत्कीर्तिकथेतिहासे-ऽनुसन्धीयताम् ।

खल्विदमरेः । तेषां भावदेतेषां भारतवैदुष्यसर्वस्वभूतानां दार्शनिक-
 कप्रबन्धचित्रात्मानां खण्डनादीनामध्ययनाध्यापनादि त्वत्ति-
 खिरलाघितमास्ते । अमुष्य च वैरत्यस्यापेसरं हेतुं त्रिभावया
 मस्तदहंपुस्तकवैरत्यम् । तदेवंजातीयानां ग्रन्थानां सुसंस्कृति-
 माङ्कितसटीकधेरपवृत्तिक(१)पुस्तकैर्वैपुल्यं सति सपाद्यमाने,
 संभाव्यते भूयस्तत्समुज्जीवनम् । पुस्तकैर्वैपुल्यं च मुद्रणामन्तरा
 न खलु सौकर्येण सम्भवतीति सर्वथैषां मुद्रणां युक्तरूपामुत्प-
 श्यामो, वाण्डामश्व । कश्चेनरे वा भारमेवरूपमुद्गीढुमहँदी-
 शीत वा, यो न भवति खलु भवद्रुशः" । शास्त्रिवर्या ऽपि
 तदाकर्णय, लघयक्षप्रभेः स्तं ताद्रुश शास्त्रममुज्जीवनममुत्स। हमाक-
 लध्य हृदैव इवाधंश्नचं सुप्मेरमेवनाह स्म—“सत्यमिदमेवम्;
 तदात्वे नावने विचक्षणमार्धभौमाः प्रायां नातृभिर्लांलनपाल-
 नावमरेषु ‘अयं चन्द्रमाः, अयं सूर्यः, इमे ग्रहाः, एते ममधयः’ एता-
 स्तारका इतीत्थं श्रौशतेत्रेव ऽयोर्तीपि परिचायिताः पुनः पितृभिः
 परमसौकर्येण नाद्दिद्यामलम्भवनः व्याकरणं च बाल्येऽवैव संस्कृ-
 तभाषाशिक्षणेपु तां मञ्जिन्कीषुंभिस्तैत्तावदध्यापयिपतैषत्क-
 र्यं चर्यथा । अथ ते प्रज्ञाप्रोद्दिमसु यथाधयं दर्शनान्यध्यगीषताऽ-
 ध्यत्रोगपंश्च विद्वद्वन्दारकाः । यदाह च भवान्, भवितुमहँति
 तत्तथा । तत्र यावदस्मास्वायतते न खलु नावद्वक्तव्यमपक्षते ।
 नन्वस्माकं मोहनलानवेदान्ताचार्यः खण्डनं पाठयत्येवाऽविरतं
 प्रायो, द्विप्रान्मुमेधमश्छान्नाम् । तन्मदुक्तः स खण्डनं तु शीघ्र-
 मेव तावन्मुद्रणां लम्भयिष्यति । नात्र दुर्घटमिवास्ति किञ्चित् ।
 परं परस्ताद्द्रष्टव्यं परम्” इति ॥

अथ कदाचिन्मोहनलालं खण्डनखण्डखाद्यमध्यापयन्त-
 माकर्यं कश्चिद् द्वेषदूषितचिषणं चिषणस्मन्यनना मनागपज-
 ष्टदाद्यगादीत्—“अहो जन्मतः पठतः पठतीऽपि मम खण्डनं
 नायातम्, कथमसावध्यापयेत्, हन् प्रथमतो बुद्धानां तु खण्डनं,
 चरमतोऽध्याप्यताम्” इति । तदेतत्कर्णाकणि चाकर्यं शास्त्रि-

वर्षे। मोहनलालमाकार्याऽब्रवीत्-‘भवान् सुपरिष्कृत्य सटीकं
 सौपयत्तिकं खण्डनं प्रकाशयति’ति । तदाऽसावपि च सशाङ्क-
 रठयाख्यं तत् स्वकृतया गर्तप्रदर्शिन्या प्रदर्शितपट्टति सुपरि-
 ष्कृत्याङ्कनां प्रापयितुमारभतशाम् । तदेवं प्रत्यक्षखण्डनं यावद्ग-
 र्तप्रदर्शनीं निर्माय परिष्कृत्याङ्कनां गमयित्वा च खण्डनखाद्यं,
 विप्रचकुलतया शुभकार्यस्याऽभारतया च संभारस्याऽनित्यनया
 च शरीरस्य, साधुपुरुषचिरस्थास्तुत्याऽपहिष्णुनया च कलेः,
 सतां चेतस्सु च शोकशङ्कं कीलयन्निव, अक्षुब्धु च प्रणालकब-
 न्धुनां बध्नन्निव, मुखेषु च हाकष्टानर्थधिकशब्दपारम्परीं पञ्च
 धयन्निव, गीर्वाणगुरुणा सह सम्भाषितुमिव, विशिष्टाद्वैत, शुद्धा-
 द्वैत, केवलाद्वैत, शुद्धद्वैताद्यौपनिषदोपनिष्करेणैवत्र भवन्तः
 कतमं परिशीलयन्तीति मनकादीन् परिप्रष्टुमिव, प्रजापतिं
 द्रष्टुमिव, मन्दाकिन्यामुपप्रष्टुमिवोद्धंसष्टेः सखविशालता
 क्रियतीति परिच्छेतुमिव च भूलोकमजहात् । कीर्तिसूरयो तु
 पुनरद्यापि विद्यतएव । सुश्लोका हि लोका दुर्गन्धमलीमसपरि-
 ष्किलक्षणभङ्गुरबीभत्सगरीरकं जहतेऽपि सुरभिर्विभ्राजिच्छुवि-
 शालशाश्वतिकस्पृहणोयकीर्तिकलेवरप्रकाशदैर्वरीवृत्त्यन्तएव ख-
 ल्वजस्रं जगत्याम् ॥

तदेनावत्तावत् न्यरूपयमिदमादर्शयितुमस्मद्भारतीयभा-
 तन्, यथाऽद्यापि यशस्विनी सनाथा धन्या च भवति यशस्क-
 रैर्भोग्यशानिनिर्मेहानुसाधरत्नैरेवंविधैः ; परं कलिकालकरालक-
 टाक्षक्षत्रेऽविक्षेपैर्न चिररात्राय तु पुनः प्रतिनिष्ठति पुत्रवतीयं
 तैरिति हन्त प्रसादविषादयोः समं समुपनिपातइत्यहो विधि-
 संविधानमिति ॥

१९४४ नववैक्रभाब्दे
 माधुशुक्लपक्षे

भारतधुरन्धराणां कनीयान् धाता
 यः कश्चित्

रा० भागवताचार्यः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

(श्रीशः)

(ॐ नमो भगवद्भ्यः श्रीभाष्यकारचरणेभ्यः)
अनिर्वचनीयतावाद-विज्ञानस्वप्रकाशता-
वाद-स्वरूपदिक्प्रदर्शनम् ॥

इहास्ति खलु विज्ञानविज्ञेयात्मकतया प्रथमाने जगति विज्ञान सत्, तदितरस्वरूपत् । अनिर्वचनीयं हि भोजनभस्वदा-
दिरूपमैतद्विज्ञेयं न तावत्सदस्तीति शक्यते वक्तुम्, तथाहि-
“लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धि”रिति हि प्रमेयमत्तावादिनां
वादाहवदुद्बुद्धिष्वानः । न च लक्षणानि दूषणाचक्रनक्रमुखेभ्यः
शक्नुवन्ति निस्तरीतुम् । लक्षणानां चैवंगती ‘लक्षणाधीना लक्ष्य-
व्यवस्थिनिरिति सुदूरनिरस्ता तपस्विनी लक्ष्यव्यवस्थितेरा-
त्मलाभप्रत्याशा । प्रमाणेषु च विपुलं वादिनां विविधविप्रति-
पत्तिमद्वादादवतरति लक्षणापेक्षेति परीक्षायां तेषां स्वयमपि
लक्ष्यतया न नाम लक्ष्यपदत्वम् । प्रमाणाधीनश्च प्रमेयाङ्गीका-
रइति कुमस्तरां प्रमेयाणां सिद्धिः ।

नन्वेतेषां पदार्थानां लोकसिद्धत्वादेवाङ्गीक्रियतां सर्वं,
किमनया विदुश्चनयेति चेत्, लोकसिद्धत्वादेवाङ्गीकारे युष्मा-
कमपि परस्परं विप्रतिपत्तेरनवकाशः । किञ्च, ‘लोकसिद्धत्वा-
दि’ति तावन्निरूपणमर्हति । किञ्च लोकसिद्धत्व, सर्वेन
प्रतीयमानत्व, साहेत्स्वित्स्वत्वेन प्रमाणसिद्धत्वम् । तत्राद्ये, मरु-
मरीचिकोदकादीनां सर्वस्य को वा वारयिता स्यात् । ननु
सर्वैस्तथाप्रतीयमानत्वमुच्यते, न च मरुमरीचिकोदकादीनां
सर्वः प्रत्येति तथात्व, नापि तु कश्चिदेवेति चे, न हि भो घटा-
दिकमपि सर्वः प्रत्येति । अथाच्येता, स्त तत्र सर्वेषां तथाप्र-
त्ययस्य स्वरूपयोग्यता, न तु मरीचिकादाविति चेत् । निरुच्यतां
सा योग्यता, कथंकारं चाधिगता तमेत्यादिपर्यनुयोगपरम्परां न
खलु विन्नमयितुं पारयिष्यसि । किञ्चैवं सति शरीरात्मता-
दात्स्वाङ्गीकारिभिर्लौकायतिकैरेवार्जितं जितं, ह्येवास्तिष्यं

साधं संरक्षितं धीधनैः । अपि भोः, पश्चाद्वाप्यतया तत्तथा
नोद्गीक्रियत इति चे, तर्हि एतेषाम् खलु पश्चात्तनवाधवाध-ते-
त्यत्रार्थं कस्ते देशिकः ।

अथास्तु द्वितीयइति चेत् (सर्वेन प्रमाणभिदुत्वं), तद्धि
परीक्षामधिकरोति । न हि परीक्षामन्तरा सर्वेन वाऽनसर्वेन
वा प्रमाणातः सिद्धादनि संभवति परिच्छित्तिः । न चैने प्रमेयाः
सन्ति विज्ञानमित्र स्वपकाशाः, येन न स्यात्साधकापेक्षा ।

(विज्ञानस्वप्रकाशतावादः)

विज्ञानं हि स्वप्रकाशं स्वतःसिद्धस्वरूपम् । तद्धि नो
परतः सिद्धुनहन्ति । तथाहि—यत्र यत्र हि जिज्ञामितस्य(१)संश-
यविपर्यययोः व्यतिरेकप्रमायाश्च यावदभावकूटं वर्तते, तत्र तत्र
जिज्ञामितस्य प्रमितश्चमित्ययं नियमस्तावद्द्विसत्तायादिनैव
निर्धारितः ! जायति च विज्ञाने न तावत्प्रत्यक्षिदपि कदा-
चिदपि 'जानामि, न वेत्याकारकः संशयो, न वा विपर्ययो
'न जानामी'त्याकारकः न जानामीत्याकारा विज्ञानव्यतिरे-
कावगात्रिणी प्रमा तु वराकी दूरापास्ता । तत्सद्भावे तद्भावा-
वगाद्विग्रहस्य भ्रमत्वनियतेः । विज्ञानमस्वप्रकाशं चेदभविष्य-
तर्हि विज्ञाने नत्यपि जिज्ञासायां सत्यां ज्ञानाभावविषयकं
ज्ञानं संशयो वा विपर्ययो वा व्यतिरेकप्रमैव वा निरर्गलमज्ञ-
विषयत् 'यत्र हि प्रमितत्वाभाव, —स्तत्र तत्र सत्यां जिज्ञासायां
प्रमितत्वाभावावगात्रि ज्ञानं जायत' इति प्रतिनियानात् । तदि-
त्थं विज्ञानस्य परानपेक्षप्रमितत्वमेव स्वतःसिद्धत्वस्वप्रकाशत्वा-
दिपदव्यपदेशभाक् ।

(१) यद्यपीच्छाया अस्मिन्नुच्यते विषयकत्वस्वाभावप्रतिनियमेन जा-
नीयमित्येवं स्वप्रकाशस्वरूपे भाने न तावत्प्रभवस्यवतरीतुञ्जिज्ञासेति
जिज्ञासास्वप्रकाशतयोः परस्परप्रत्यर्थिस्वरूपता न संघटते जिज्ञासाया
सिद्धभेदानं, तथापि न खलु स्वप्रकाशताय लैङ्गिकमानगोचरत्वमज्ञा-
भिप्रेयने, तथा सति हि परिपुञ्जितं परप्रकाशतैव भवति कङ्कपदेति
व्याप्त्युपदर्शनस्य तात्पर्यं विभावनीयम् ।

ठयवसायानन्तरमनुठयवसायो भवतीति न ठयवसाये
 संशयादिरिति चे, अत्रैव गत्वा ज्ञानस्य ज्ञानं नाभ्युपगंस्यते,
 तत्र तदज्ञानठयक्तेः संशयादिदुर्वारइति प्राथमिकविज्ञानविषय-
 पर्यन्तविशयादिः प्रसरिष्यतीति व्यवहारोच्छेदएव पर्यवस्यति ।
 विषयिसंशयादे विषयसंशयादिजनकताप्रौढयात् । अथ ठयवसा-
 यानुठयवसायनदनुठयवसायपुनस्तदनुठयवसायपारस्पर्यविश्रा-
 न्तेष संस्यत इति चे, तर्हि यत्किञ्चिदेकमात्रविषयविषयकविज्ञा-
 नधारायाभविच्छिन्नप्रवाहतया जन्मगतकेनाऽपि विषयान्तरस-
 ज्जारी दुर्लभभाष्येता, ऽऽपद्यैश्च मूर्च्छासुषुप्तिमरणमोक्षाः शश-
 विषयाः पित्ताः । मूर्च्छादौ हि तदद्विषयावधादियावच्छानासा-
 वः सर्ववः दिसंप्रतिपन्नः । न चैनञ्जानधारायाः संत-त्वे संघ-
 टते । ननु ज्ञानप्रामाण्यसंशयाधीनः संशयस्तत्राऽपि (वैज्ञानिक-
 स्य) विषयपर्यन्तो निर्गमएत्रेति चेन्नैतत् ; ज्ञानस्वकाशतानये
 हि मानमेवभावठयवस्थायाअभावादेव तदाश्रया दोषाः सन्ति
 निरवकाशाः । यदि तु भेदेन विषयविषयिभावो भवे, तर्हि
 ज्ञानस्वरूपमेव न सिद्धयेत् । विज्ञानस्य परमुखनिरीक्षकत्वे स्या-
 पतति पूर्वादिशितविषया मूलज्ञयकरी स्वत्वनवस्था दुरवस्था ।
 अथोच्छेपन, अवश्यज्ञेयतां ज्ञानस्य नाभ्युपेयः, स्वार्थसंठयवहा-
 रस्तु ज्ञानस्य स्वरूपसत्तयैव निर्वक्ष्यतीति ब्रूमइति, न तदपि
 विचारचारु, यतः स्वरूपसत्तायां प्रमाणाप्रवृत्तौ स्वरूपसत्तयेव
 कुतः समायातम्, येन ठयवहारः समासादयेदात्मानम् । कुतो-
 थपवसितमिदं सती मा वित्तिरिति, अन्त्येव कुतो न स्यात् ।
 तदिदमुच्यते “अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यती”ति ।

घटपदादेः सत्तां ठयवहरन् हि प्रमाणिकस्तत्र प्रमाणसद्भाव
 वक्तुमर्हति, न हि प्रमाणमनुपन्यस्य परीक्षकेण तत्सत्ता शक्यते
 ऽङ्गीकर्तुम् । प्रमाणसठयापारयतो वाङ्मात्रेण चेद्वस्तुनद्भावः
 सिध्ये, -तर्हि नास्तितावःङ्मयमात्रेणाऽतद्भावएव किंसिति न
 स्यात् तदवश्यं तेन घटसत्तायां ठयवस्थाप्यायां ठयवस्थापक-
 प्रमाणासत्तापन्यास्या । साऽपि च प्रमेयसत्तान्यायेन स्वावगाहि-
 प्रमाणासत्तामपेक्षते । यदि हि प्रमाणासत्तान्तरमन्तरेणैव तत्प्रमा-

ज्ञानज्ञानं परोऽङ्गीकुर्याद्भुक्त तर्हि प्रथमतएव विनैव प्रमाणसत्तया
 घटसत्तामेव किमिति नाङ्गीकरोति 'अन्तेखडाविवाहश्चेदादावेव
 कुतो नही'ति न्यायात् । तत्रास्ति चेतप्रमाणसत्तान्तरं, तर्हि तत्रा-
 ऽप्येवं, ततस्तत्रत्राद्येवमेवेत्यनवस्थाडाकिनी न मुञ्चति पृष्ठम् ।
 अथ नास्ति तत्र यत्किञ्चित्प्रमाणसद्भाव, स्तर्हि प्राथमिकी प्रमा-
 णसत्तैव नात्मानमानादयति, कुतस्तरां तु वराकी प्रमेयसत्ता ।
 अन्यथा कस्वकः शशविषाणादिर्न निध्येत । तदित्थं तत्र यस्य
 कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽप्रवृत्तौ प्रथमप्रमाणसत्तायाभिसद्भावः
 समायाति, यावत्प्रमाणसत्ताविनिवृत्तिर्हि स्वप्रमेयविनिवृत्तिप्र-
 तिनियता खलु भवति । प्रमाणस्य चाभिसद्भावे तदुच्छिष्टपृष्ठस्य
 तस्य तस्य खलु विषयसम्बन्धस्य स दूरपराहृतो नामात्मलाभः ।
 अथोच्येत, न तावदुच्येयवहितपूर्वपरवित्तितद्वित्तिपारम्पर्यीभ्यु
 पगच्छामः, (येन उच्येयवहारानिष्पत्त्यापत्तिरियं स्यात्) किन्तु
 यदा कदाचित् कयाचिद्वित्तिव्यक्त्या कादानित्की काचिद्वित्ति-
 व्यक्तिः प्रतीयते इति । इत्थं च सर्वाऽपि वित्तिः प्रमाणसिद्धैव
 भवतीति चेत्स्यात् खल्विदं तदा, यदि नाम 'अयं घटः' 'घट-
 नहं जानामी'त्यतोऽधिका काचित्कदाचिद्वित्तिरस्मदादेरुपपद्य
 नानानुभूयेत, या स्याद्वृत्तवित्तितद्वित्तिवित्तिप्रवाहं गोचरयन्ती
 तादृग्विषयशतभारोद्बह्वनमन्यरा । अथ मन्येता ऽस्मदादेरेतज्ज-
 न्मावच्छेदे वैवविधा वित्तिरभवन्त्यपि योगिप्रभृतिनिष्ठस्यज-
 न्मावच्छेदेन स्यादिति, संभवतीति, तर्हि यस्या वित्तेस्तावद्वि-
 षयगर्भिता धीर्विषयः, साऽप्यन्यया कयाचिद्वित्तिव्यक्त्या क्रोही
 करणीयेत्यमुचिनकर्त्तुं प्रमाणाभावो नाम, न नाम च तथा सति
 संभवति मोक्षः । उपदर्शिनमुद्रया हि वित्तिनद्वित्तिधाराप्रवाह
 प्रवृत्तौ कथंकारं यावद्विशेषगुणोच्छेदलक्षणो मोक्षः स्यात्तदुच्यतेः
 नापि च स्वात्मना सह तं तादृग्वित्तिप्रवाहं काचिद्वित्तिव्यक्ति-
 रवगाहुमीष्टे, तथा भावे तत्रैव स्वप्रकाशता पदं निदधाति ।
 निदधात्विति चेदुक्तं भोः, एतावद्वि भवतः प्रयासजातं ज्ञानमर-
 यपरुदितं नाम, प्रथमतएवास्माभिरुपदिष्टं तत्कुतो नाङ्गीकृतम् ।
 एतेन 'अन्योन्यवित्तिगोचराऽन्योन्यवित्तिरि'त्यपि निरस्तम् ।

चरमा हि वित्तिठयक्तिः स्वावगाहिनीमुपान्त्यां वित्तिव्यक्ति
 गोचरयन्ती स्वात्मानं विषयीकुर्यादेव । एवमेवोपान्त्या वित्ति
 ठयक्तिरन्तिमां स्वावगाहिनीं विषयीकुर्वती स्वात्मानमपि
 गोचरयेदेवेति भविष्यकाभ्योन्यग्रहे स्वप्रकाशतापत्तिः । ननु
 चरमा वित्तिठयक्तिः पुरुषान्तरेण प्रमास्यते इत्यस्त्येव वा
 प्रमितेति न तावत्तदभावः सेद्भुमर्हतीति चेद, त्रापि प्रमाणवि-
 शेषस्य त्वया दातुमशक्यतया कुस्तदस्तितासिद्धिः । तद्वृत्ते वा
 भूयो भूयः प्रमास्यपरम्पराप्रधावनमित्यावेदितैवानवस्था । ननु
 ज्ञानसिद्धान्यथानुपपत्तिरेव पर्यवस्यन्ती ज्ञानपरम्पराभासिपेत,
 अन्यथा तु घटकादाचित्कत्वान्यथानुपपत्तिर्यदसामग्रीपरम्परा-
 मपि नासिपेत इति चेतन्न, यदि हि घटसामग्रीविच्छेदः स्यात्,
 तर्हि घटस्य कादाचित्कत्वं न स्यात् । ततश्च स्यादेव वा घटो,
 न स्यादेव वे,त्यनयोरन्यतरत् प्रसजेत् । अकारणकानां हि पदा-
 र्थानामुभयैव विधा, ऐकान्तिकं सत्त्वमसत्त्वं वा यथा आत्म-
 नः कदाचिदपि नाऽसत्त्वम्, शशशङ्करस्य तु कदाचिदपि न
 सत्त्वम् । तच्चेदमुभयं घटस्य प्रत्यक्षक्षपितमिति घटस्य कादा-
 चित्कत्वान्यथानुपपत्त्या घटसामग्रीतत्त्वानग्रीतत्त्वसामग्रीसान-
 ग्रीधारा निराकारा समापततीत्येवं घटसामग्रीपरम्पराङ्गीका-
 रेऽनवस्थामाप्तम् । तच्च तत्कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्तिरूप-
 प्रमाणपरिकल्पितत्वात् खलु दोषइतीयं घटकोटिः । ज्ञानकाटौ
 तु ज्ञानसिद्धिस्वस्मादपि भवन्ती न प्रभवति ज्ञानपरम्पराना-
 क्षेप्तुम् इत्यन्यथोपपत्तिरेव, तत्कुतोऽन्यथानुपपत्तिः । ज्ञानस्यले
 तु यदि ज्ञानसिद्धान्यथानुपपत्तिर्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वाक्षे-
 पिका भवे, तर्हि एवं ज्ञानपरम्पराङ्गीकारे सुदूरं ज्ञानधारां
 धावयित्वा ऽन्तिमज्ञानस्वरूपस्यापि तद्विषयकुक्षीं निक्षेपश्चेदु-
 च्येत, तर्हि शरणीकृतैव स्वप्रकाशतेत्येतावद्भावनस्याऽप्रेक्षाव-
 द्घृष्टतत्त्वमेव तत्त्वं पर्यवस्यति । तत्कुक्ष्यऽनिक्षेपे चाऽनवस्था-
 पिशाची न मुञ्चति पृष्ठम् । अथ तत्कुक्षावनिक्षिप्त्यैव स्वरूपं,
 चेद्विश्रम्यते, तर्ह्यन्तिमस्य तस्याऽलक्ष्यपदत्वे तदायतानां पूर्व-
 पूर्वेषां ज्ञानानामसिद्धानुपपत्त्या सिकताकूपविशरत्नभ्यायो दत्त-

पदो भवतीत्येवं ज्ञानपरम्परा नाम दुरुत्तरठयसनपरम्परैव
इत्तं कृता ज्ञानपरप्रकाशनांवादिभिः । न चैतैर्दीर्घिनोस्त्येव
ज्ञानमिति साधु, स्वतएव सर्वसिद्धस्य तस्य दुरपह्वत्वात् ।

तदेवं सति भेदो ऽयं बौद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ।

यदाहुरेके ऽनिर्वाच्यं कृत्स्नं ब्रह्मेतरत् परे ॥

तदुक्तं बुद्धेन लङ्कावतारे (ग्रन्थविशेषे)

“बुद्ध्या विविचयमानानां स्वभाषो नावधार्यते ।

अतो निरभिलष्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिताः” ॥

(अथाऽनिर्वचनीयता)

इति । विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां
विलक्षणमिति यथा ऽस्ति, दिशं दर्शयानस्तथा । तथाहि—

नेदं सद्भवितुमर्हति वक्ष्यमाणदूषणगणघ्नतत्वात् । नाप्यऽस-
देव, तथासति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारठयाहृत्यापनोः ।

अथेयमनिर्वचनीयता वस्तुतोऽस्ति, नास्ति वेति चे, तदि-

दमशुद्धीतवाद्यमिदमन्धेः प्रतिष्ठादिनः प्रत्यवस्थानम्; यो हि

नाम वस्तुनामं सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयमातिष्ठते, स ता-

वत्प्रपञ्चाऽनिर्वचनीयतां तु पुनः सतीं ब्रूयादित्यहो दुराशापा-

शो मुरधमनसाम् । इयमपि खलु जगदन्तःपातिभ्येवेति, ‘मर्ष-

मनिर्वचनीय’मिति वदता जगन्मात्राभिधायिसर्वपदेनाऽनिर्वच-

नीयताप्यऽभिहितैव । न चाऽनिर्वचनीयतास्थापनेन भवतो

द्वैतमापतितमिति वाच्यम्, यतो नो खलु वयं तां व्यवस्थापया-

यामो, ऽपि प्रतिष्ठादिमतानुसारेणैवेदं व्यवतिष्ठते, तेन जगत्त्रि-

र्वक्तुं नो पार्यतइति अस्य अनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यतीति । वि-

धिनिषेधयोरेकतरनिरासस्तदन्यार्थवसायीनि हि तैरभ्युपग-

म्यते । नन्वनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यतीत्यभ्युपगच्छामोऽपि भवतो

भवत्येव द्वैतापत्तिरिति चेत् । न, तथा वयमभ्युपगच्छामो, ऽपि तु

युष्मन्मतानुसारेणैवेदमायातीति केवलं युष्मान्प्रबोधयामः, व-

स्तुगत्या तु वयं सर्वप्रपञ्चमत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतः

सिद्धस्वरूपे विज्ञानात्मके ब्रह्मतत्त्वे केवले निर्भोजुषः कृ-कृत्याः

सुखमात्महे । तु स्वपरिकल्पितां साधनबाधनव्यवस्थां पुरस्कृत्य
 विचारमवतारयन्ति तत्त्वं विनिश्चिकीर्षन्तः, तान् प्रति ब्रूनो वय-
 म्, न खलु माधवीय भवतां विचारव्यवस्था भवत्कल्पितव्यवस्थयैव
 व्याहृतत्वात् । अतएवास्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिष्विषयाः पर्य-
 नुयोगा निरवकाशाः ॥ युक्तदूषणव्यवस्थयैव युक्तदूषणव्यवस्थाया व्याहृत्यु-
 पन्यानात् । न च विचारे एव व्यापातीपभ्यासो भवता कर्तव्य-
 इव च तयोः मत्वाङ्गोक्त्येवेति तयोः सत्त्वमभ्युपगममिति द्वैता-
 पत्तिरिति वाच्यम्, तदीयमन्त्रासक्तोपगमोदासो नैरेवास्माभि-
 विचार्यमित्येतावन्नाश्रमुद्दिष्टाय विचारप्रवर्तनायाः सुकरत्वात् ।
 यदि तु विचारस्य सत्त्वमभ्युपेत्य नैवं विचारयितुं शक्यमि-
 त्युच्यते, इत्त तर्हि प्रमाणादव्यापार्यं न तदीयसत्त्वाभ्युपगमो-
 ऽपि कर्तुं शक्योऽन्यथा सममरनादेरपि सत्त्वमभ्युपगमः प्रयोज्यते ।
 ततश्च प्रथमतएव विचारस्यापि विचार्यताङ्गीकारे विचार-
 विषयकविचारसाधनानामपि पुनरुक्तमुद्रया विचार्यत्वात्पत्तिरि-
 त्यऽनवस्थादौष्ट्येन चिन्तीर्षितविचारएव न नावदात्मानमा-
 नादयेत् । न च पूर्वपूर्वाद्दुत्वाद्द्विचारस्य तत्र विचारान्तरं
 नावश्यकमिति व उच्यते, यतः, यदि विचारः पूर्वसिद्धि-
 स्तर्हि विचारस्य विचार्योऽविनाभूत्त्वाद्द्विचार्यनपि पूर्वसिद्धि-
 मिति विचारस्य पुनरनारम्भएव मां प्रतम् । अथ विचार्यविशे-
 षस्य पूर्वमनिदुत्वाद्दस्त्यावश्यकः साम्प्रतं विचारारम्भइति चे-
 त्तर्हि तद्विषयकविचारविशेषस्याऽपि पूर्वमसिद्धिरेवेति सिद्ध-
 तस्य विचार्यत्वमित्यनवस्थादौष्ट्येन विचारारम्भएवाशक्य-
 स्यादिति विरामएव रमणीयो लौहचरणाकषर्षणस्य ।

तत्र 'ठयावृत्तिर्धर्मवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' इत्या-
 ऽऽचक्षते ताम्नासाक्षिकाः । ठयावृत्तिर्नामितरभेदानुमितिः व्य-
 हारस्तु शब्दप्रयोगे हानादानादिरूपो वा । तत्र लक्षणाधीना,
 'पृथिवी तदितरेभ्यो भिद्यते गन्धः अस्वादि, त्यादिर्धावृत्तेः प्रकृ-
 षा, 'यद्यद्गन्धव, -तत्पृथिवीत्वेन व्यवहर्त्तव्यं हासव्यमादातव्य-
 उचे'ति व्यवहारस्य । न चैतत्संभवि । तथाहि, लक्षणेन गन्ध-
 वत्त्वादिना ज्ञातायामेव पृथिव्या षोऽभिबलेन ठयावृत्तिरूप

उपवहाररूपं वा साध्यं साधनीयं स्यात् । लक्षणज्ञानं च लक्ष्या-
न्तरसाधारण्येन भवदप्यकिञ्चित्करमित्यवश्यं लक्ष्यान्तरव्यावृत्त-
तयैव लक्षणस्य ज्ञानसङ्गीकार्यम् । तदेवं स्थिते, लक्षणस्य गन्ध-
रवादेठयोवृत्तिः पृथिव्यादिलक्ष्याधीनैव चे, तर्हि अन्योन्याश्रयः ।
गन्धवपत्वेन हि पृथिवी जलादिभ्यो व्यावर्तनीया । गन्धवपत्वं
च जलादिसाधारण्यतया गृहीतं जलादिभ्यो व्यावर्तयितुं न खलु
प्रभवतीति जलादिव्यावृत्ततया गृहीतं गन्धवत्त्वं पृथिव्याजला-
दिभ्यो व्यावृत्तिः पृथिवीस्वरूपेण क्रियतइति पृथिवीरूपलक्ष्य-
व्यावृत्तिर्गन्धवत्त्वरूपलक्षणव्यावृत्त्यधीना, अथ गन्धवपत्त्वरूपलक्ष-
णव्यावृत्तिः पृथिवीरूपलक्ष्यव्यावृत्त्यधीनेत्यनयोरेकतरस्य व्यावृ-
त्तिरन्यतरव्यावृत्तिमपेक्षते परम्परमित्यन्योन्यव्यावृत्तिमुखनि-
रीक्षकत्वादन्योन्यव्यावृत्तेर्भवत्यन्योन्याश्रयः । अथ लक्षणान्तर-
नस्य लक्षणस्य व्यावर्तकं, तच्च लक्षणं लक्ष्येण व्यावृत्तम् इति
चे, सूक्ष्मम् । अथ लक्षणे लक्षणान्तरं तत्रापि लक्षणान्तमेव
व्यावर्तकमिति चे, देवमुपरिष्ठादारोहणेऽपरावृत्तानवनवस्था । एवं
जलादिसाधारण्येन ज्ञातायां पृथिव्यामितरभेदसाधनमकिञ्चि-
त्करमिति व्यावृत्तायां तस्यां तत्साधनं वाच्यम् । अद्वैतवृत्तिर्यदि
प्रकृतलक्षणाधीना, तदान्योन्याश्रयः । लक्षणान्तरेण चे, तत्प्रकृत-
लक्षणानुपयोगः । तदपि लक्षणं व्यावृत्तायामेव पृथिव्यां, सापि
व्यावृत्तिर्लक्षणान्तरेणैव मनवस्था ।

एवम, त्रैदं प्रमाणमित्युपन्यस्ते वादिना, प्रष्टव्यम् 'कि-
न्निदं प्रमाणं नाम' ? प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र केयं प्रमा-
नाम । तत्त्वानुभूतिः प्रमेति चे, तस्य भावस्तरवम् । प्रकृतश्च
तच्छब्दार्थः । न चात्र प्रकृतं किञ्चिन्, यत्तच्छब्देन परामर्श-
नीयं स्यात् । अथानुभूतिः स्वसम्बन्धिविषयमाक्षेपेण बुद्धिस्थी-
करोति, सएव तच्छब्देन परामृश्यते, तदादिमर्चनारूपां प्रकृ-
तपरामर्शकत्वा, द्वैकश्रोतबुद्धिस्थतायां च प्रकरणपदार्थस्य विप्रा-
मात् । एवं यस्यार्थस्य यो भावः, स तस्य तत्त्वमुच्यते इतिचेन्न,
अन्ततादेरपि रजताद्यात्मनाऽनुभवविषयातासद्भावादसत्या-
नुभूत्यवयवच्छेदात् । उक्तविषया तत्त्वशब्दस्य धर्मवासकत्वा-

दुर्भवाचकतया धर्मिप्रमाया विशिष्टवस्तुविषयकप्रमायाश्चाऽप्र-
 मात्वापाताच्च । अथोच्यते चेत्, अवयवार्थपुरस्कारेण यदिदं
 दूषणाभिधानं तदकिञ्चित्करं, यतोऽयं तत्त्वशब्दो वस्तुस्वरूप-
 मात्रवाचक इति, तदप्यावातरमणीयम् । यतः स्वरूपत्वस्य जा-
 तिरूपस्यो, पाधिरूपस्य वा यदि स्वस्मिन् वर्तमानत्वमङ्गीक्रि-
 यते, तर्ह्योत्माश्रयः । नो चे, तर्हि स्वरूपत्वप्रमायास्तत्त्वानुभू-
 तित्वविरहात् स्यात्प्रमात्वम् । न च स्वरूपशब्दार्थः कश्चि-
 दनुगत इति तत्र तत्र तस्य तस्य स्वरूपशब्ददेन धर्तव्यतया
 लक्षणस्यास्याऽऽठयापकत्वम् । किञ्च, अत्र तत्त्वत्वेन त्रिपर्यया-
 देनिरासो भवतामभिप्रेतः, स च कथं स्यात् । तथा हि,
 शुक्लो योऽयं रजतत्वप्रत्ययः, सोऽपि स्वरूपबहुभिर्भवत्यत्र । न हि
 शुक्तिर्वा रजतत्वं वा न स्वरूपम् । न च तथाः प्रतिभासमानो-
 यः सम्बन्ध, एव न स्वरूपमिति वाच्यम् । यतः समवायो हि
 तयोर्भासमानः सम्बन्धः, स च स्वरूपमेव । सत्यम् । समवाय-
 स्वरूपम् । शुक्तिव्यक्तौ तु स रजतत्वस्य नास्तीति चेन्माभू-
 तत्र, नहि तावता स्वरूपता व्यपैति । न हि गेहे चैत्रो ना-
 स्तीत्येतावता स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपमात्रं च लक्षणघटकमुक्त-
 मस्ति भवताम् । अथ न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किन्तु
 यद्देशकालसम्बन्धि यस्य यत्स्वरूपं प्रतीतं, तस्य तद्देशकाल-
 सम्बन्धि तत्स्वरूपं तत्त्वमित्युच्यत इति चेन्मैवम्, देशका-
 लयोर्देशकालसम्बन्धोऽस्ति । तयोः केवलस्वरूपमेव तत्त्वशब्दा-
 र्थ इति चेत्, एवं सति तत्त्वशब्दस्यानेकार्थत्वेन तत्त्वेत्यादि,
 प्रमासङ्गस्याऽऽठयापकतापत्तिः । अथोच्यते चेत्, ज्ञानोच्छि-
 तप्रकारवत्त्वं क्लृप्तविषयस्य तत्त्वम् । एवं च देशस्वरूप, कालरूप
 देशकालसम्बद्धस्वरूपवाशानुगमोऽस्ति चेत्, तदपि क्लृप्तु, साधि-
 रक्तिरूपेण घटस्य प्राग्यत्र रक्तपित्तादिदोषवशात् रक्तिरपुरस्कारेण
 ज्ञानं जातम् । तज्ज्ञानमप्येवं सति प्रमा स्यात् । ज्ञानकाले
 ज्ञानोच्छिन्नप्रकारवत्त्वमित्येवं यदातनरक्ततादात्म्यविशेष-
 ष्टप्रसङ्गे कालावगाहिप्रमायाऽप्रमात्वापातः । न हि क्लृ-
 काले कालवैशिष्ट्यम् । अथ दिवसस्य प्रहर, इत्युच्यते

दिवसो, पानवती यामिनीत्यादिसर्वजनीनप्रतीत्या कालेऽ-
प्यन्तु कालमवस्थिति चे, तर्हि दृश्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं
स्वमध्यपारोऽतु । उपाधिदेऽप्युपधेयस्यैकत्वाऽनिवृत्तेर्नाका-
पत्तिरिति चेद्गुण निपुणोऽसि स्वयमेव दत्तोत्तरः न हि का-
लोपाध्यन्तस्याऽपरकालोपाधिवृत्तावपि कालस्य कालवृत्तित्वं
विद्धं भवति ।

किंचेदमनुभूतित्वं नाम? ज्ञानत्वाद्यान्तरजातिविशेषेष्वानु-
भूतित्वमिति चेत् कस्मादनुभूतित्वं जातिरभ्युपयते । अनुभ-
वत्यनुभवतीत्याकारानुगतप्रतीत्यभ्यथानुपात्तमाहात्म्या, अ, हि
विषयवगमनन्तरा प्रतीतिरनुगमः संभवी । कथमन्यथा नीलपी
तादिघटव्यक्त्यवगाहिप्रतीतिरिव पटावगाहिप्रतीतिरपि 'घटो
घटइत्याकारता नेति चे, न तच्चारु, साधनासंयनिशा-
वसाने सितामिनसरित्संभेदस्त्रायिनः सत्यपि शब्दबलाद्वावि-
स्वकीयस्वर्गसुखमंप्रत्यये सुखमनुभवामीतिप्रतीत्यनुदयात्,
प्रत्युत शीतसंभेदमभूतवेदनासंवेदनादेश । यदि तु शब्दो-
पदर्शितव्याप्तिनाऽनुमिनिरनुभवएव स्यात्तर्हि सुखमनुभवीति
वा प्रत्ययः स्यात्स्य । अथ मन्यसे, साक्षात्काररूपं खल्वत्र
नुभवशब्दार्थं सत्त्वानुभवोमीति तस्य प्रत्ययव्यवहारौ न भव-
तः, शब्दजानुनानापेत्तौ तु तौ परीक्षकस्य भवेतामेव । सत्य-
प्यनुभवत्वे व्यवहारार्थं साक्षात्त्वमवश्यापेक्षणीयं चेतिकमनुभ-
वत्वेन, परीक्षकस्य तु साक्षात्त्वमन्तरेणाप्यनुमादौ तद्व्यवहा-
राभ्युपगमेऽननुगमएव । अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्य-
क्षादिष्वनुभवइत्यनुगतावगमः, स साक्षात्कारित्वादानुपपन्नः ।
ततश्च साक्षात्कार्यऽसाक्षात्कारिविशेषेषु साधारणमनुभूतित्व-
मन्यदेवैष्टव्यम् इति चे, तदपि न, पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण
यस्तदितरेष्वनुगतः प्रत्ययस्तत्र तदेवरूपं निमित्तं, न तु
जातिः काचित्तदनुरोधात्कल्पनीया, तथासत्यऽनक्षपदार्थेभ्यो
घटादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिभ्यो व्यावृत्तेन
रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वजातिकल्पनापि
प्रसजेत् ॥

तदेवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरत्वं प्रमाणाभित्यप्यनिरुक्तम् ।
 अनया खलु प्रमाणात्वनिरुक्तिखण्डनदिशाऽपरेषामपि
 पदार्थानां निरुक्तेः खण्डनं सम्प्रत्येतथ्यम् ।
 “समस्तलोकशास्त्रैरुक्त्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
 का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीठयवहारयोः ॥
 उपपादयितुं तैस्तैर्नतैरशकनीययोः ।
 अनिर्वक्तव्यतावाद्पादसेवागतिस्तयोः” ॥
 इति सर्वं चतुरस्रम् ॥

“यदि च त्वदृशं नरीत्याभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाध,
 से, तदा स्वाभ्युपगमरीतिबाधविधायितैव ते स्यात् । अस्मा-
 निनिर्वाच्यामास्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जैत्रता,
 खण्डनयुक्तयो बाधिका, निर्वाच्यापक्षश्च बाध्यइत्यस्मदुक्तपक्षस्य
 त्वयैव निर्वाहात् । तस्मात्त्वयानिर्वाच्यामप्यस्माभिस्तु खण्ड-
 नीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाच्यानिर्वाहे तव जयो,
 नान्यथेती”दं प्रतिवादिनं प्रति तत्कर्तव्यताप्रबोधनं खण्ड-
 नकृतः ।

अयं चास्य ग्रन्थकर्तुरुपदेशः—“एवं प्रकारास्तु खलु खण्ड-
 नयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनाऽपि प्रकारेणानीय,
 तत्तदृशीमन्यां वा स्वयमूहित्वा परैर्विचिन्त्यमानान्यपि पदा-
 र्थान्तराणि बुद्धिमता बाधनीयानि । अत्र चास्माभिर्दूषयितुं
 शक्नोतेभ्यः पक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं केनापि स्वयमूहेतो-
 कानां बाधकानां मध्ये क्वचित्स्वप्रकृत्या समादध्या, तत्र च
 खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरे, तदा परेषु प्रयु-
 ज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डयितुं
 खण्डनान्तरमवतारणीयम् । एवं तत्राऽपि परेण प्रज्ञाशोषणे
 पुनस्तथैव शाखान्तरेषु संक्रमणीयम् इति खण्डनमये चक्रे सन्य-
 गवधेयम्” इति ।

“लसुहयोह,स्तदोयं च योजन विषयान्तरे,
शङ्कता तस्य शोभे च, त्रिधा भ्रमति मस्तिष्कया” ॥
इति च स्वकीयकर्तव्यतोत्कीर्तनम् ।

इति ।

एवं तावदिदं संवित्स्वप्रकाशतावादाऽनिर्वचनीयतावाद्-
स्वरूपं दिङ्मुद्रया प्रादीदृश संकलय्य ग्रन्थयुक्तीरितस्ततस्तया
स्तेषां कृते, ये खलु खरह्वनपद्मतावपरिशोभितसंनिवेशाः सहसा
संचारे भवन्त्यातङ्कभाजः । तदत्र ज्ञाम्यन्तु ये ते खण्डनरत्नाकरे
मन्दरसोदराः करकलिनसमस्तयुक्तिकलापा हृदयालवो दयाल-
वो, दयलवोऽपि तु तैः कर्तव्योऽस्मिन्नङ्गने । अरण्यानीकान्तार-
तारणोपायो हि साधारणस्य कृते कृतो भवति, न तु हुताशनस्य
पवनस्य वा ; पारावारपागवाप्तौ हि तरीरितस्य जनस्योपयुज्यते,
न तु पावमानेर्वैदेहीजानेर्वा ; शिखरिशिखरसमारोहे एकपद्याऽऽ-
वश्यकी संजायते नवपान्थस्य, न तु पञ्चास्यस्य वैजतेयस्य
वेति साङ्गलिबन्धमस्यर्चयते-

१८४४ वैक्रमाब्दे }
नाथशुक्लपक्षतौ } १० भागवताचार्यः ।

श्रीमत्यङ्गसं जयति प्रकामं राजाधिराज्ञी जयिनी जगत्याम् ।
यद्वाज्यसास्त्राज्यगती नितान्तं नास्तं गती स्तस्तपनप्रतापी ॥
तत्संप्रनिष्ठापितकाशिकैतद्विद्यामहामन्दिरकल्पवृक्षः ।
आमोदमुज्जासयतादञ्जनाचन्द्रमावारिधि चैवमेव ॥
दुर्दान्ततादृग्यवनेशदूप्यन्मतङ्गजे दुर्गतिमागतोऽत्र ।
अविप्रमास्ते यदुपप्रनिप्रः प्रागार्यविद्याप्रततिप्रतानः ॥
विजृम्भिनः पङ्कवितः प्रकामं सुपुच्छिनश्चाप कलेयद्विषय ।
यत्संभयाज्ञाऽप्रतिभोपकारसंभारलाभोऽस्य जनस्य जातः ॥

अथ खण्डखण्डखाद्योक्तमुख्यविषयाणां

सूचीपत्रम् ।

| विषयाः । | पृष्ठम् | पं० | विषयाः । | पृष्ठम् | पं० |
|-----------------------------|---------|-----|---------------------------|---------|-----|
| मूलकृष्णकृष्णाचरणम् । | १ | १ | स्मृतिलक्षणखण्डनम् । | १५६ | २० |
| टीकाकारस्य मङ्गलाच- | | | पुनः प्रकाशानुभूतिख- | | |
| रणम् । | १ | २ | ण्डनम् । | १७८ | ५ |
| विजिगीषुर्वा शून्यमवृ- | | | प्रमुत्पत्ताकरमखण्ड- | | |
| त्तौ प्रयोजनकथनम् । | ४ | १५ | ण्डनम् । | १८० | १६ |
| कलायाः प्रमाणादिस- | | | दोषखण्डनम् । | १८८ | १० |
| स्वाभ्युपगमनैवत्य- | | | खण्डोन्वाभ. वसुधार्था- | | |
| निराकरणम् । | ५ | ३ | वयोर्भेदखण्डनम् । | २०२ | २१ |
| खण्डतः कारणावरोपपा- | | | यथायैत्यादिप्रमाणाख- | | |
| दनम् । | २४ | ८ | ण्डनम् । | २३८ | १ |
| खण्डतः कारणावरोपखण्डनम् । | ३० | २ | खण्डकपरिच्छिन्नीत्या- | | |
| खानस्थ खण्डप्रकाशवो- | | | दिप्रमाणाखण्डनम् । | २४४ | ४ |
| पपादनम् । | ४७ | १८ | करणावरोपखण्डनम् । | | |
| विषयविषयिभावविरो- | | | माकरणाप्रमाणाखण्डनम् । | २५८ | १० |
| धखण्डनम् । | ६८ | १ | खण्डापाखण्डनम् । | २७५ | ३ |
| खण्डिते किं मानमिति | | | प्रत्यक्षप्रमाणाखण्डनम् । | २८३ | १ |
| प्रश्नस्य खण्डनोत्तरे । | ८२ | १५ | खण्डिकरानुमानखण्ड- | | |
| प्रत्यक्षादेरखण्डनमुक्तिधा- | | | नम् । | ३४७ | ३ |
| धखण्डनम् । | ८८ | १३ | उपमानखण्डनम् । | ३८६ | ८ |
| खण्डपभेदादिखण्डनम् । | १११ | ११ | गण्डप्रमाणाखण्डनम् । | ३८६ | ८ |
| नुक्तीनां कथाखण्डव- | | | पदाखण्डनम् । | ३८८ | ६ |
| त्ताः । | १३८ | १५ | अर्थपरिप्रमाणाखण्ड- | | |
| प्रमाणाखण्डनम् । | १४५ | १३ | नम् । | ४०२ | ६ |
| अनुभूतिखण्डनम् । | १५२ | १६ | अनुपलब्धिप्रमाणाखण्ड- | | |
| प्रत्यभिज्ञाखण्डनम् । | १५६ | ४ | नम् । | ४०८ | ४ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पं० | विषयाः । | पृष्ठम् | पं० |
|--|---------|-----|--------------------------------------|---------|-----|
| अविज्ञानखण्डनम् । | ४१५ | १५ | भावत्वखण्डनम् । | ५६२ | ३ |
| विज्ञानखण्डनम् । | ४१६ | १६ | अभावत्वखण्डनम् । | ५६८ | २१ |
| अनैकान्तिकखण्डनम् । | ४४४ | १४ | विशिष्टत्वखण्डनम् । | ५७१ | ५ |
| साधारणादिखण्डनम् । | ४५१ | ८ | द्रव्यत्वखण्डनम् । | ५७८ | २ |
| व्यभिचयखण्डनम् । | ४६६ | २२ | सुखत्वखण्डनम् । | ५८८ | ७ |
| कालान्यथापदिष्टखण्ड- नम् । | ४८४ | १ | सामान्यखण्डनम् । | ५८३ | १० |
| इति प्रथमः परिच्छेदः । | | | १ नित्यत्वखण्डनम् । | ५८५ | १५ |
| --- | | | विशेषखण्डनम् । | ५८७ | २६ |
| | | | सम्बन्धखण्डनम् । | ५८८ | १३ |
| | | | साधारणत्वखण्डनम् । | ५८९ | ७ |
| | | | ऊर्ध्वार्धः पदार्थखण्ड- नम् । | ५८७ | ८ |
| प्रतिज्ञाहानिखण्डनम् । | ५११ | ३ | १८ विषयविषयिभावसम्ब- न्धखण्डनम् । | ६०२ | ११ |
| प्रतिज्ञागतखण्डनम् । | ५१४ | १८ | २५ पुनर्भेदखण्डनम् । | ६१६ | ८ |
| प्रतिज्ञाविरोधखण्डनम् । | ५१८ | १८ | १ कारणात्वखण्डनम् । | ६५० | १३ |
| प्रतिषन्दिखण्डनम् । | ५२४ | १ | कालखण्डनम् । | ६७० | २१ |
| अपविज्ञानखण्डनम् । | ५३२ | | मागभावप्रध्वंसाभावयोः खण्डनम् । | ६७३ | ८ |
| इति द्वितीयः परिच्छेदः । | ५३२ | | संग्रहलक्षणखण्डनम् । | ६७८ | १३ |
| --- | | | भावभावयोर्विरोध- खण्डनम् । | ६८७ | ७ |
| ईश्वरसद्भावे किं प्रमाण- मित्यतो किमादिसर्व- नामखण्डनेन प्रथम- रथैव खण्डनम् । | ५५३ | ३ | तर्कखण्डनम् । | ६८४ | २१ |
| इति तृतीयः परिच्छेदः । | | | इति चतुर्थः परिच्छेदः । | | |
| --- | | | --- | | |

अकारादिवर्णानुक्रमेण

सूचीपत्रम् ।

| विषयाः | पृष्ठम् | पं० | विषयाः | पृष्ठम् | पं० |
|---|---------|-----|---|---------|-----|
| अ । | | | ऊर्ध्वार्धःपदार्थखण्ड- नम् । | ५८७ | ८ |
| असतः कारणात्प्रोपपाद- नम् । | २४ | ८ | क । | | |
| अद्वैते किं मानमिति प्रश्नस्य खण्डनोत्तरे । | ८२ | ११ | कारणात्प्रोपपादप्रमा- नम् । | २५८ | १० |
| अनुभूतिखण्डनम् । | १५२ | ९ | कालात्प्रोपपादप्रमा- नम् । | ४८४ | ९ |
| अप्योन्वाभावखण्डनम् । | २०२ | २ | कारणात्प्रोपपादप्रमा- नम् । | ६५० | ११ |
| अर्थोपनिखण्डनम् । | ४०३ | ६ | कालखण्डनम् । | ६०० | २१ |
| अनुपलब्धिखण्डनम् । | ४०८ | ४ | ज । | | |
| असिद्धखण्डनम् । | ४१५ | १४ | ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वोप- पादनम् । | ५७ | १८ |
| अनैकान्तिकखण्डनम् । | ४४३ | १४ | त । | | |
| अपविद्धागतखण्डनम् । | ४३२ | १ | तर्कखण्डनम् । | ६८४ | २१ |
| अभावत्वखण्डनम् । | ५६८ | २१ | द । | | |
| अध्यातवखण्डनम् । | ५८४ | ७ | देवत्वखण्डनम् । | १८८ | १० |
| अनुमानस्य स्वपरिकरस्य खण्डनम् । | ६४७ | ३ | द्रव्यत्वखण्डनम् । | ५७६ | २ |
| ई । | | | प । | | |
| ईश्वरसदृभावे किं प्रमा- णमित्यादौ किमादिश्व- नामखण्डनेन प्रश्नस्यैव- खण्डनम् । | ५५३ | ३ | प्रमाणादिश्वनाभ्युपग- मखण्डनम् । | ५ | ३ |
| उ । | | | प्रत्यक्षादेरद्वैतश्रुतिबाध- कत्वखण्डनम् । | ८८ | १३ |
| उपमानखण्डनम् । | ६८६ | ८ | प्रमाणादिश्वनाभ्युपग- मखण्डनम् । | १४५ | १३ |

| विषयाः । | पृष्ठम् | पं० | विषयाः । | पृष्ठम् | पं० |
|---------------------------------------|---------|-----|---|---------|-----|
| प्रत्यभिज्ञाखण्डनम् । | १५६ | ४ | विशेषखण्डनम् । | ५८० | २६ |
| प्रमुह्यताकस्मरखण्ड- नम् । | १८० | १६ | विषयविषयिभावसम्ब- न्धखण्डनम् । | ६०२ | १९ |
| प्रतिज्ञाहानोखण्डनम् । | ५१९ | ३ | विषयविषयिभावविरो- | | |
| प्रतिज्ञागतखण्डनम् । | ५१४ | १८ | धखण्डनम् । | ६८ | ९ |
| प्रतिबन्दीखण्डनम् । | ५२४ | १८ | श । | | |
| प्रत्यभावप्रवृत्ताभावयोः खण्डनम् । | ६७३ | ८ | शब्दप्रमाणाखण्डनम् । | ३८६ | ८ |
| अ । | | | स । | | |
| भावत्वखण्डनम् । | ५६२ | ३ | गतःकारकत्वोपपाद- नम् । | ३० | २ |
| भावाभावयोर्विरोधख- ण्डनम् । | ६८७ | ७ | स्वरूपभेदादिखण्डनम् । | ११९ | १९ |
| य । | | | स्मृतिलक्षणखण्डनम् । | १४६ | २० |
| कुस्तीनां कथाव्येव- तारः । | १३८ | १३ | सम्यक्परिचिह्नस्तीत्या- दिप्रमाणाखण्डनम् । | २४४ | ४ |
| वर्णावर्तवादिप्रमाणाखण्ड- नम् । | २३८ | ५ | साधारणादिखण्डनम् । | ४५९ | १८ |
| ख । | | | सत्प्रतिपक्षखण्डनम् । | ४६६ | २२ |
| विरुद्धखण्डनम् । | ४३६ | १४ | सामान्यखण्डनम् । | ५८३ | १० |
| विशिष्टत्वखण्डनम् । | ४७९ | ५ | सम्बन्धखण्डनम् । | ५८८ | १३ |
| | | | संशयखण्डनम् । | ६७८ | १३ |



॥ संस्कर्तूः स्वसङ्केतसूचनम् ॥

आद्यन्तयोः * अस्य चिह्नस्य (सीमापुष्पस्य) दर्शनेन शङ्काया आद्यन्तयोरवधिरुन्नेयः, न चेत्यस्य वाक्यमित्याद्यपि-
मेणाऽन्वयसूचनार्थेनपि आद्यन्तयोस्तदेव चिह्नमुपन्यस्तम्, यत्र
च नचेत्यस्यान्ते वाक्यमित्यादिपदं न दृश्यते तत्राप्यन्ते निरु-
क्तचिह्नदर्शनेनैव वाक्यमित्यादिपदमप्याहृत्यार्थं उपवर्जनीयः,
शङ्कान्ते च प्रायः सर्वत्र? एतत् प्रश्नचिह्नमुपन्यस्तं, परत्र चौट्या-
निकशङ्काद्यन्तयोरयासुषाहुत्यं सन्भाव्य प्रायः शङ्काद्यन्तसूच-
कम् * एतच्चिह्नं (सीमापुष्पम्) उपैक्षिषि, अन्ते शङ्काद्योतकम्?
एतत्प्रश्नचिह्नमपि चौटिषिषि । पीर्विकाग्रिमयोः शङ्कयोः
(क्वचिदर्शयोरपि) चाङ्गुलीनिर्देशपुरस्सरं प्रदर्शनाच्चं सर्वत्र-एतत्
(निर्देशचिह्नं) प्रयुक्तम् । अपि च मूलप्रतीकस्य सद्योलाभार्थं
मूलव्याख्यानयोः ५, ६, इत्यादिक्रम उपन्यस्तः, यत्र चार्था-
न्तरठ्याचिख्यासया ठ्याख्यायां पुनः प्रतीकचारणं तत्र ५, ६, ७,
इत्यादिक्रम उपक्षितः, गर्तप्रदर्शिन्यां च मूलव्याख्यानयोः सद्यः,
प्रतीकलाभार्थं ५, ६, इत्यादिचिह्नस्थाने (१) (२) (३) इत्याद्य-
ङ्कक्रम उपन्यस्तः, यत्र वैक एव त्रिषयोऽनेकत्र सुसूचयितितस्तत्र
(१) (२) (३) इत्याद्यङ्कस्थाने † ‡ इति त्रिशूलषट्शूलादिचिह्नमु-
पन्यस्तम्, यथा ११२ पृष्ठे, क्वचिच्च गर्तप्रदर्शिन्यां सनासिद्योन्तक-
पद्योऽपि, यथा पृष्ठे । परोक्तेरुपक्रमे “एतद्, अन्ते च” एतद्
(अन्योक्तिचिह्नं) प्रतिष्ठापितम् । गर्तप्रदर्शिन्यां च प्रायः प्रतीका-
द्यन्तयोरस्य विशेषोपयोगमनालक्ष्य तथक्मेतद्, क्वाप्यङ्गुल्या
निर्दिष्टयोः पूर्वाग्रिमयोः शङ्कयोरर्थयोर्वाऽऽद्यन्तसीमाबन्धना-
र्थमादी 'एतद्, अन्ते च' एतत् (सीमाबन्धं) प्रायुक्षि । अपि च
यत्र, एतद् (लघुविरामचिह्नं) भवेत्तत्र किमुदेव स्थातव्यं, यत्र
च ; ए- ह् (अधिविरामचिह्नं) तत्र ततो द्विगुणो विरामः कर्तव्यः;
पूर्वो विरामश्च । एतत्पूर्वं विरामचिह्नस्यले । परञ्च ठ्याख्याया

प्रतीकाद्यन्तयोः पूर्वविराममन्तरापि निरुक्तचिह्नमुपपद्यतम्,
 त्यक्तं च तद्वर्तप्रदर्शिन्यां विशेषोपयोगमनालोच्य । यत्र तु
 प्रतीके किञ्चित्पुनर्वक्तव्यं नावशिष्यते तत्र शाङ्करठ्यायां एतद्
 (विश्लेषचिह्नम्) उपन्यास्यम् । पूर्वापरशब्दयोरेकार्थताद्योतकं
 ठ्याख्यानठ्याख्येयभाष्योतकं वा = एतद् (एकार्थताचिह्नम्) ।
 यत्र च किञ्चिद् वाग्याराप्रवाहे मध्यतो वक्तव्यं भवति तत्र
 मध्योक्तिसीमाद्योतनार्थमाद्यन्तयोरनुलोमाद्वचनद्वाराकारम् ()
 एतत् (मध्योक्तिचिह्नम्) ठ्यवालिष्टिपम् । अपिच, यत्र गतप्र-
 दर्शनावसरेऽन्वयोपयोगीन्यधिकानि कानि कानिचिदक्षराणि
 प्रयुक्तानि तत्सीमाद्योतनार्थमध्याद्यन्तयोर्निरुक्तचिह्नमनुसन्धे-
 यम् । क्वचिद्बहूनि नामान्यालक्ष्य विभागशो नाम्नां प्रदर्शनार्थ-
 मपि मध्येमध्ये नाम्नाम्-एतद् (योजकचिह्नम्) प्रातिष्टिपं,
 यथा पञ्चमपृष्ठे गतप्रदर्शिन्यां "प्रमाण-प्रसेप-संशय-प्रयोजन-
 दृष्टान्तेत्यादि । पङ्क्त्यन्तेऽपरिसमाप्तपदे चैतद्योजकचिह्नमुप-
 पद्यतम् । मूलठ्याख्यामयोश्च मुख्यप्रकरणावान्तरप्रकरणयोः
 समाप्तिसूचनार्थं—एतत् (समाप्तिनिर्देशचिह्नम्), तस्यैव
 प्रतिसूचनार्थं च गतप्रदर्शिन्यां { } एतन्मध्योक्तिचिह्नद्वया-
 न्तराले पद्यान्यद्युपनिबद्धायुजमिति ।

॥ सर्वाणि चिह्नानि ॥

। सम्बोधनचिह्नम् ।
 * सीमापुष्पम् ।
 " " अन्वयोक्तिचिह्नम् ।
 () सीमाबन्धः ।
 — निर्देशः ।
 † प्रश्नचिह्नम् ।
 , लघुविगानः ।
 ; अधिविरामः ।

। पूर्वविरामः ।
 ॥ विश्लेषः ।
 — योजकम् ।
 () मध्योक्तिचिह्नम् ।
 — समाप्तिनिर्देशः ।
 † त्रिशूलम् ।
 ‡ षट्शूलम् ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ खण्डनखण्डखाद्यम् ॥

अथ प्रथमः परिच्छेदः ।

मू० अविकल्पविषय एकः, स्याणुः-

हरिशङ्करयोः (१) सितासितं, भुजगारातिभुजङ्गलाञ्जनम् ।

वपुरस्तु मुद्गे विरुद्रयोरपि संसर्गं न भिन्नतां गतम् ॥ १ ॥

विरुद्रधर्मद्वयसन्निपातेऽप्यभेद एवेति विभाषयन्तम् ।

पुनातु भेदप्रतिभासशून्यं स्त्रीपुंसरूपं शिवयोः (२) शरीरम् ॥ २ ॥

भवनाथ (३) सूक्तिगुम्फनमिह खण्डनखाद्यटीकायाम् ।

श्रीशङ्करेण विदुषा, विदुषामानन्दवर्द्धनं क्रियते ॥ ३ ॥

पारिप्लवतप्रतिबन्धकदुरितनिवारणकारणेषु देवतानामस्काररूपं म-
दुलं कुर्वन्नेव प्रेक्षा (४) वत्प्रवृत्त्यङ्गप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनपरः पर-
मतनिराकरणविधीयते स्वमतं ब्रह्माद्वैतमास्थायुको (५) वैतण्डिकोपि
स्वप्रौढप्रकटनाय (६) सूचयन्नाह-। “अविकल्प”-इति ॥ “एकः पुरुष”इति ।
‘अद्वितीयं ब्रह्मे.’ (७) इत्यर्थः, श्रुतिषु तथा श्रुतत्वात्, यत्राथा श्रुतिषु श्रुतं, तत्तथा,

(१) विरुद्रयोरपि हरिशङ्करयोः संसर्गं वपुर्मुद्गेऽस्त्वित्यन्वयः । संसर्गोत्यस्यैव
विषयो-न भिन्नतां गतमिति, तदुक्तं “स ब्रह्मा स शिवः स हरिः” “शिवस्य वृद्धये
विष्णुर्ब्रह्मोऽथ वृद्धये शिवः” इति । उक्तं विरोधमेव स्फुटयति सितेत्यादिनाः
सितः=श्वेतः शङ्करः, अशितः=कृष्णवर्णो हरिः ; भुजगारातिगण्डमस्तलाञ्जनः=तट्टा-
क्ष्णो हरिः, भुजङ्गलाञ्जनः=भुजङ्गभूषितस्तु शङ्कर इति विवेकः ।

(२) शिवा, शिवश्च शिवी ; तथाः शिवयोः गौरीशङ्करयोरित्यर्थः ।

(३) भवनाथस्य मत्पितृर्थाः सूक्तयः=मुख्याख्यानां तासां गुम्फनमित्यर्थः ।

(४) प्रेयोपादेयगोचराबुद्धिः प्रेक्षा, तद्वन्तः प्रेक्षायन्तः ।

(५) अत्र “नवपतपठस्याभूवृषहनकमगमशुभ्य उक्त्वा” (अ० ३ पा० २ सू०

१५४) इति पाणिनीयसूत्रेण “आक्तेस्तच्छीलतत्तत्त्वाधुकारिणु” (अ० ३ पा० २

सू० १३४) इति तत्साधुकारित्वेऽर्थे उक्त्वापत्यप्रत्यया च “ब्रह्माद्वैतमास्थायुको”

इत्यस्य ब्रह्माद्वैतव्यवस्थापनसाधुकारित्वर्थः । अत्रैतस्मिन्कवच्छीविरहस्तु “न लोकाव्य-

थनिष्ठाः कलथं तुनाम्” (अ० २ । पा० ३ । सू० ६६) इति पाणिनीय सूत्रेण ।

ब्रह्माद्वैतमाख्यायकः” इतिपुस्तकान्तरे प्रायिकः पाठस्तु प्रासादिकः, प्रकतानुपयुक्तार्था-

भिधायित्वात्, प्राचीनपुस्तकविच्छेदत्वात्, द्वितीयाया अक्षरमवाच्छ ।

(६) वैतण्डिकस्यापि प्रकृतावरणं स्वमतस्य च व्यवस्थापनं स्वप्रौढप्रकटनम् ।

स्वमतं सूचयन्त्यन्वयः ।

(७) ‘प्रसिद्धोद्देशेनाप्रसिद्धं विधीयते’ इति न्यायेन ब्रह्माद्वैतमित्यन्वयः

यथा ब्रह्मण्य आनन्दमयत्वं, तथा चाऽद्वितीयं ब्रह्म' इति स्थापनसूचना । तमीश्वरं वन्दे यः अविक्त्यविषयः, विक्त्यः=संशयस्तदऽविषय इत्यर्थः । विरुद्धानानाप्रकारकं हि ज्ञानं संशयः स चाद्वैते न सभवति न वा सर्व-सिद्धे संशयावकाश इति भावः । यद्वा विक्त्यः=विशिष्टज्ञानं, तदविषय इत्यर्थः, अद्वैते प्रकाराभावात् सप्रकारकज्ञानानुत्पत्तेरिति भावः । यद्वा अविक्त्यः=निर्विकल्पकं, तद्विषयः तन्मात्रविषय इत्यर्थः । अद्वैते प्रकाराभावेन सविकल्पत्वाऽभावादिति भावः । यद्वा विक्त्यस्य=कल्प(१)नायाः अविषयः पारमार्थिकत्वात् । यद्वा अविक्त्यः=निर्विकल्पकज्ञानं(२), तद्विषयो यस्येति बहुव्रीहिः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशविद्वृत्त्वात् । एकः, अद्वितीय इत्यर्थः ॥ "स्याणुरिति । स्यिर इत्यर्थः, कूटस्थानित्यत्वात् । यद्वा स्याणुरिव स्याणुः सुखदुःखाद्युपाधिमम्भेदरहित इत्यर्थः ॥

मू० पुरुषः श्रुनोस्ति यः श्रुतिषु । ईश्वरमुमया न परं वन्दे नु मयापि तमधिगतम् ॥ १ ॥

टी० पुरुषः=चेत्तज्ज्ञः, तेन तेजज्ञाऽभेदो ध्वनितः ॥ सर्वत्र प्रमाण-माह— "श्रुत" इति । 'श्रुतिषु'-इति(३)मर्वा' श्रुतीरात्र, तथा च कर्म-काण्डस्यापि ब्रह्मपरत्वं मति ध्वनितम् । 'अस्ति'-इति स्वसात्त्विकविद्यमानैकरूपतामाह ॥ उमाया इव स्वस्यापि भगवदेकताननामाह—उमया परमाधिगतमेव न, किञ्चाम श्रवणादनु-पश्चान्मयापि=श्रीहर्षणाव्यधिगतमेवेति । नु-शब्दः सम्बन्धने(४) वा । अधिगतमस्त्वत्र मननमेव । उमाऽनुमे=विद्याविद्ये वा । ताभ्यां स्वर्गिससारदशाविशेषणाधिगतत्वा(५)द्विषयी-

(१) कल्पनायाः=मिथ्याज्ञानस्येत्यर्थः ।

(२) ब्रह्मात्मकं ज्ञानं ब्रह्माकारं वा ।

(३) 'बहुवचनम्' इति शेषः पुराणीयः ।

(४) न कश्चनमुमयैत्राधिगतं परं मयाव्यधिगतमिति मयापि अधिगतमस्त्वन्मननमेव नु शब्द इत्यर्थः । 'सम्बन्धने' इति स्वपणः. सम्बन्धस्य देवदत्तादेरनुपलभ्यमानत्वात् ।

(५) विद्यायाः उपासनया स्वर्गिससारदशाविशेषणाधिगतत्वात्विद्यया च संसारिदशाविशेषणाधिगतत्वादिति विभागः । यद्वा ब्रह्मात्मिकत्वप्रतिपत्तिरेव मुख्यो विद्यायदर्थः, यतस्तदे स्वर्गिन्देन सुखरूप आत्मैव याह्य । अत्र यद्यापि स्वर्गिससारदशावि-

कृतत्वात् । यद्वा उभया=गौर्या, मया=च लक्ष्या, अधिगतम्=आश्लिष्टं ।
तेन विष्णुगौरीश्वराभेद उक्तः “मा मातरि च माने च, मा च लक्ष्मीः प्रकी-
र्तिता” इति कोशात् । विरोधाभासश्चालङ्कारोऽयं, तथाहि—‘एकः,
स्याणुः पुरुषश्च’इति विरुद्धं; स्याणुः पुरुषः, संशयाविषयश्च’इति
विरुद्धं; ‘श्रुतिषु श्रुतश्च, विशिष्टज्ञानाऽविषयश्च’इति विरुद्धम्; इमयाऽ-
धिगतस्याऽनुमाधिगतस्य च विरुद्धम्; यथाच न विरोधस्तथा व्याख्या-
तमेव । अत्र पुरुषसमभिव्याहृतस्यैकपदस्य कैवल्यार्थकतया पुरुषकैवल्य
परमप्रयोजनमुक्तं, सङ्घार्थतया, १, पुरुषस्य ब्रह्मण एकत्वमद्वैतमभिधेयमु-
क्तम्, अथान्तरप्रयोजनं चाऽनुमया=मननेनाधिगतत्वमुक्तं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

मू० माना(२)ऽपनोदनविनोदनने गिरीशे
भासेत्र सङ्कुचितयोश्चितं तदिन्दोः ।
भेत्तुं भवाऽनिशचितं दुरितं भवानि
नम्री भवानि धनमङ्घिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥

टी० शिवं नत्वा शक्तिं नमस्यति—। “मानापनोदन”=इति । हे भवानि! =
भवस्य पत्नि, घनं=निरन्तरं यथा स्यादेवं, नवाङ्घिसरोजयोश्चरणक्रमलयोर्न
ग्रीभत्रानि=अवनतः स्यात् । किंविशिष्टयोरङ्घिसरोजयोः? गिरीशे=महेशे,
मानापनोदनविनोदनने=मनस्वितानिराकरणक्रीडानमे, तदिन्दोः=तन्मौ-
लिचन्द्रस्य, भासेत्र=ज्योत्स्वयेव, उचितं यथा स्यादेवं सङ्कुचितयोः=उप-
जातसङ्कुचयोः । भर्तारि प्राणियातायोऽद्यते लज्जया चरणसङ्कुचस्तावदुचितः

शेषेष्वेव बहुषु पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते तथापि पाठसाहचर्यानुरोधेन स्वर्गिसंसारि-
दशावशेषेषु इति, स्वर्गसंसारदशावशेषेष्वेत्येव वा पाठ उचितः ।

(१) यत्रापि “आदयतः सङ्ख्याः सङ्ख्ये” इत्यनुगासनैर्न कश्चिदस्य सङ्ख्येयार्थ
कतया सङ्ख्यार्थकताऽऽख्या नमप्राप्तं तथापि द्वौ कथोर्द्वैतचनेकश्चने” इत्यादाविव भाव-
प्रधाननिर्द्धे गन्धेन सङ्ख्यार्थकतयत्युक्तम् । ‘सङ्ख्येयार्थकतया’ इति क्वाचित्कः पाठस्तु
कैवलं भवतिवृत्तमतः, अन्यथा ‘ब्रह्मण एकत्वमुक्तम्’ इत्ययिमग्रन्थस्य स्थाने ‘एकं
ब्रह्मात्मम्’ इत्यथ परिपठितं स्यात् ।

(२) भवानोभनादृश्य भवेन सपत्न्या गङ्गायाः कपर्दं धारयं भवान्या मान-
जनकं साङ्ख्यम् ॥

तत्र तद्विन्दोर्भासेवेत्युक्तं वा । द्वितीय^(१) स्यपि चन्द्रमसि सरोजसङ्कोचो
 नेदीय^(२)सि सुतरामित्युत्प्रेतोद्रीपनम् । किं कर्तुं ? भवानिशचितं दुरितं
 भेतुं ; संसा^(३) राविशान्तसञ्चितकल्पनिरामायेत्यर्थः । यद्वा हे भवा-
 नि ! अहं स्वप्नराज्योर्नक्षीभवानि, त्वं पुनरनिशचितं दुरितं भेतुं भव=
 प्रभवेत्यर्थः । एतेन जगद्वन्दनीयस्यापि गिरीशस्य चन्द्रनीययोर्भवानीचर-
 णकप्रलयोरन्यन्तवन्द्यत्वमुक्तम् । अथवा^(४) “हे ब्रह्माद्वैतोपदेशक ! त्वं
 प्रमानिशचितं दुरितं भेतुं भव=प्रभव, अहं तवाहं घ्नसरोजयोर्नक्षीभवानि”
 इति गिरीशे=वादिनि^(५) मानापनोदनविनोदनते,=वादित्वाभिमानख-
 ण्डनक्रीडानसे सति, अहं भवानि, अर्थादनुगतवादिदुरितभेता भवानि=
 भविष्यामि ; तथा तत्त्वमुपदिशानि यथाऽनुगतवादिनो दुरितं भङ्ग्यती-
 ति^(६) यन्त्यकृतः स्वंप्रत्याशंसा । तद्विन्दोर्भासा सङ्कुचतयोः, स चासा-
 विन्दुश्चेति तद्विन्दुर्वादी पराजयकनङ्कशानित्यर्थः ; तस्य भासा=जितस्वर्न
 मन्दया प्रभयेत्यर्थः, भवति हि स्वव्यवसायेन भङ्गनिं वादिनं दृष्ट्वा
 साधोः सङ्कोचः “विप्रं निर्जित्य वादत” इत्यादिनिन्दाश्रवणात् ॥ २ ॥

मू० शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः

सर्वत्र निर्वचनभावमस्वर्वागर्वात् ।

(१) द्वितीयसि=प्रतिदृश्यं ।

(२) नेदीयसि=व्रतिसमीपे ।

(३) संसारविशान्त=निरन्तरं सञ्चितानि=उपासितानि यानि कल्पशानि
 तत्रिरामायेत्यर्थः ।

(४) यद्युत्प्रेतोद्रीपनेन स्वप्नोद्विचिख्यापरिषया प्रदर्शिताः यमर्था जंतुजितवाद्यन्यत
 रोकरोत्याहं घ्नसरोजयोर्नक्षीभवानि तद्विन्दोर्भासा सङ्कुचितयोरित्येतदुपादाय स्वर
 सतो योजयितुमशक्यत्वेन ऽऽत्यारमिकोपि कथञ्चिदहं घ्नसरोजयोर्नक्षीभवानि तद्विन्दोर्भासात्परं प्रकल्प्य
 जंतुक्तरोत्येवेत्यमुपादनीय - ताद्विन्दोर्भासात्तानं सङ्कुचितयोर्मदहं घ्नसरोजयोः “ते-
 ष्विन्दोर्भासात्तानं सङ्कुचितयोर्मदहं घ्नसरोजयोः” इति गिरीशे मानापनोदनविनोदनते सति तदाहं दुरितं
 भेतुमहं भवानिति ।

(५) गिरि- ईशः गिरीश, इति व्युत्पत्त्या गिरीशो वादी ।

(६) “भवन्तो वागमन्ते” इति स्मरणात् मन्दिनें विनाशितं भविष्यतीत्यर्थः ।

धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुवक्त्वा
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥
अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते—‘प्रमा-
णादयः^(१) सर्वतश्चसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः स-
न्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम्’ तद्^(२)अपरे न च्छमन्ते,
तथाहि—प्रमाणादीनां सत्त्वं यदभ्युपेयं कथकेन, तत्क-
स्य हेतोः ?

टी० वीतरागाणामेतद्व्युत्पत्त्योर्पर्यायकं मननलक्षणं प्रयोजनं दर्श-
यित्वा रागिणामपि विजिगीषूणां विजयलक्षणं प्रयोजनमाह—‘शब्दार्थ’—
इति । हेधीराः ! कीरवदेतद्=अस्मदुक्तं खण्डनमुक्त्वा, लोकेषु=भुवनेषु,
दिग्विजयकौतुकमातनुध्व=विस्तारयत ; किं कुर्वीणाः ? सर्वत्र विवाद-
पट्टेषु शब्दार्थयोः=शब्दतदर्थयोर्निर्वचनं=निरुक्तिस्तत्खण्डनया=तदनुप-
पत्त्वव्यवस्थापनेन, निर्वचनभावं=मूकत्वम्, अखर्वगर्वान्=प्राडाहङ्कारान्,
नयन्तः=प्रापयन्तः सन्त इत्यर्थः । मद्रुकस्य खण्डनस्य सर्वत्रादिविजयः
फलमिति ध्वनितम् ॥ नन्वद्वैतव्यवस्थापनं विजयो वा यत्कनट्टयमुक्तं
तत् कथासाध्यं, कथायां च न वैतण्डिकस्य प्रवेशः, तस्याः ^(१)प्रमाणादिस-
त्वाभ्युपगमाधीनत्वात्, तस्य ^(२)च प्रमाणाद्यनभ्युपगन्तृत्वात्, प्रमाणा-
द्यभ्युपगमे च नाद्वैतव्यवस्थापनं, न चाऽद्वैतलक्षणस्वपत्तरतणाधीनो
विजयः ? इति प्रमाणाद्यभ्युपगमाधीनत्वं कथायाः खण्डयितुमुपक्रमते—
‘अथे’ति । अथेति मङ्गलम्, “ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः
पुरा, कण्ठं भित्वा विनियंते। तेन माङ्गलिकावुभौ” इति स्मरणात् ।
कथायां कर्तव्यायां तत्पूर्वं ‘प्रमाणादीनि सन्ति’—इति द्वाभ्यामपि वादि-

(१) आदिपट्टेन “प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-वृत्तान्त-सिद्धान्त-अवयव-
तर्क-निर्णय-वाद-जन्य-वितण्डा-हेत्याभास-कल-जाति-निग्रहस्यानाना तत्त्वज्ञा
नार्थिःशयनाधिगमः” इति न्यायदर्शनेनैतत्प्रमेयादयो याद्याः ।

(२) ‘तद् अपरे न च्छमन्ते’ इति मूलग्रन्थस्य ‘अपरे, च्छमन्ते’ इति पदयोरर्थ-
वह्न्यपूर्वकं प्रतीकमुपपद्येदानीं तच्छब्दार्थं व्यर्थमिति=तदिति ।

(३) तस्याः=कथायाः ।

(४) तस्य=आयद्विनिकस्य ।

भ्यामवश्यमभ्युपगन्तव्यामिति भेदवादिनो मन्यन्ते, तद् अपरे=ऽभेदवादिनो न सहन्ते इति, तत् इत्यवश्याभ्युपगन्तृत्वमर्थलभ्यं परामृशति । कथकेनेत्येकवचनं खाण्डनिकाभिप्रायेण, तदितरस्य प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वसिद्धेः (१) ।

मू० किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वागव्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् ? १, उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवागव्यवहारं प्रति हेतुत्वात् ? २, उत लोकसिद्धत्वात् ? ३, अथ वा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसङ्गकत्वात् ? ४ । न तावदाद्यः, तदनभ्युपगच्छतोपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात् ; तस्यैव (२) वा ऽनिष्पत्तौ भवतस्तन्निरासप्रयासा नुपपत्तेः । सोऽयमपूर्वः प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगमात्मवाकस्तम्भनमश्रौ भवताऽभ्यूहितो-

टी० यो यः कथकः स प्रमाणाद्यभ्युपगन्ता ? या या कथा सा प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृकर्तृका ? यत्र वा कथकत्वं तत्र प्रमाणाद्यभ्युपगम ? इति प्रथमविकल्पार्थः । प्रमाणादीनामभ्युपगमः कथाकारणम् ? इति द्वितीयविकल्पार्थः । “प्रमाणादीनामेव कथाकारणत्वं विकल्पितं न तु तदभ्युपगमस्यापि” इति केषाञ्चिद्वात्तेपोऽसङ्गतः द्वितीयविकल्पदूषणावसरे प्रमाणाद्यभ्युपगमस्यैव कथाकारणत्वखण्डनात् । लोकाः प्रमाणाद्यभ्युपगच्छन्तीति कथकाभ्यामभ्युपगन्तव्यम् ? इति तृतीयविकल्पार्थः । अनतिप्रसक्ततत्त्वनिर्णयविजयफलाकाङ्क्षया कथकाभ्यां प्रमाणादिसत्त्वमवश्याभ्युपगन्तव्यामिति चतुर्थविकल्पार्थः ॥ “चार्वाक”-इति । यद्यपि

(१) प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वसिद्धौ=प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वस्य प्रथमत एव सिद्धत्वात् ।

(२) चार्वाकादिवागव्यवहारस्यैवेत्यर्थः ।

(३) यदि प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगन्तृत्वमपि तत्त्वनिर्णयविजययान्तस्तदा यामराणामपि तौ स्यातामित्यतिप्रसङ्गनभीत्या अनतिप्रसक्ततत्त्वनिर्णयविजयफलाकाङ्क्षया प्रमाणादिसत्त्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यामित्यर्थः ।

चार्वाकस्य प्रत्यक्षाभ्युपगमोऽस्ति तथाप्यनुमानैकगम्यतत्प्रामाण्यस्यानुमानानभ्युपगमेऽनभ्युपगम इत्यभिप्रेत्य तद्ग्राह्यवहारे व्यभिचारो दर्शितः । अथवा यत्किञ्चित्प्रमाणाभ्युपगमः सकलप्रमाणाभ्युपगमो वा कथाव्यापकः ? आद्ये माध्यमिककथायां व्यभिचारोऽन्त्ये चार्वाककथायाम् । यद्वा प्रमाणादीत्यादिपदेन तर्कादेः परियहः, तथाच—चार्वाकस्य प्रमाणाभ्युपगमेपि तर्काभ्युपगमो नास्तीति व्यभिचारः । चार्वाकैकदेशी वा चार्वाकः ॥ ननु चार्वाकादेशीव्यवहार एव नास्ति कुत्र व्यभिचारः ? इत्यत आह—“तस्यैवे”ति । त्वदृशने तदुक्तयुक्तिनिराकरणान्यथानुपपत्तिरेव तद्ग्राह्यवहारे प्रमाणमित्यर्थः ॥ सोपहासमाह—“सोयमि”ति ।

मू० नूनं, यस्य प्रभावाद्भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि ; तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः ; भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि । *प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचोभङ्गीः, (१) तास्तु साधनबाधनक्षमा न भवन्ति तावता (२) इति ब्रूमः* ? इति चेन्न, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्त्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकं, किन्तु सद्बचनाभासलक्षणयोगित्वमित्यवश्याभ्युपेयं भवता,

टी० तथागतेन=बुद्धेन, मध्यमलक्षणा आगमा=मध्यमागमा यदध्ययनान्माध्यमिक इत्युच्यते, भगवत्पादेन=शङ्कराचार्यपादेन, (१) बादरायणो=व्यासः, अत्र सर्वत्र त्वदुक्तव्याप्तेर्व्यभिचार इति भावः ॥ ननु चार्वा-

(१) वाचोभङ्गीः = वाक्प्रकारानित्यर्थः । ताः = वाचोभङ्गीः ।

(२) वाच्यवहारेत्वमात्रेणेत्यर्थः ।

(३) अद्वितीयब्रह्मवादिस्वाच्छङ्कराचार्यस्यापि न तात्त्विकप्रमाणाद्यभ्युपगन्तुत्वम् । यच्च प्रत्यक्षादि प्रमाणानां तद्वन्धे स्थाने स्थाने प्रतिपादनं, तद्ग्राह्यवहारेणैव ।

कादिव्यवहारो रथ्यापुहवत्राव्यवहारवदनुपादेय एव, प्रमाणाद्व्युपगमस्तु साधनबाधनतमवाव्यवहारव्यापकत्वेन मयोपन्यस्तस्तत्र च न व्यभिचारः ? इत्याह—“प्रमाणादी”ति । साधनबाधनयोः फलत ऐक्येपि^(१)लोकप्रसिद्धिमनुबद्ध भेदेनोपन्यासः । एवमपि माध्यमिकादिवाव्यवहारे एव व्यभिचारस्तस्यापि साधनबाधनतमत्वात् । * न च “माध्यमिकादिवाव्यवहारः साधनबाधनात्तमः, प्रमाणाद्व्यनभ्युपगम्य कृतत्वात्, रथ्यापुहवत्राव्यवहारवदि”त्यनुमानान्माध्यमिकादिवाव्यवहारस्य साधनबाधनात्तमत्वसिद्धिः * । तस्य सदृचनाभामलक्षणयोगित्वापाधिकवर्जितत्वादित्याह—“प्रमाणादी”ति । सदृचनाभासः=स्फुटावभासो व्यभिचारादित्स्लक्षणं साध्याऽत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादि, तद्व्योगित्वमित्यर्थः, तथाच—त्राव्यवहारमाधनबाधनात्तमत्वे साधनाभासत्वं दूषणाभासत्वं तन्नं, न तु प्रमाणाद्व्यनभ्युपगन्तृप्रणीतत्वमिति भावः । सदृचनाभासे नियहस्यानं, तल्लक्षण कथाङ्ग^(२)तत्त्वज्ञानाभावलङ्गं, तद्व्योगित्वमित्यन्ये ॥

मू० येना^(३)भ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैरतथाभूता^(४)इति कथयन्ते । यदि त्वसद्वचसि सदृचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे, तदा ‘ऽनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तिताऽयं व्यवहार’ इति शतकृत्वस्त्वयोच्यमानेषु पि नास्माकमादरः । अन्यथा^(५)भ्युपगम्य प्रमाणा-

(१) यदेव यिज्यादिनक्षणं फलं स्याद्भावितहेतो सद्येतत्त्वव्यवस्थापनेन भवति तदेव तत्र परेणोद्भावितदोषस्य बाधनेनापि भवत्यतः साधनबाधनयोः फलत ऐक्यम् ।

(२) कथाङ्गं समथवस्थादित्स्लक्षणं तत्त्वज्ञानाभावं प्रति लिङ्गमित्यर्थः, तद्यथा—चेचः कथाकारणसमथवस्थादिज्ञानाभावत्रान् प्रतिज्ञाहान्यादिमत्त्व इति, तद्व्योगित्वं, ताटात्म्येन ।

(३) ननु प्रमाणाद्व्यनभ्युपगम्यप्रवर्तितसत्त्वसदृचनाभामलक्षणयोगित्वयोः रविशेषात् कथमाद्यस्याप्रयोजकत्वमित्यत आह—येनेति, इति विद्यासागरः ।

(४) साधनबाधनात्तमा इत्यर्थः । क्वचित्तु ‘तथाभूता’ इति पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः ।

(५) अन्यथा—सदृचनाभासलक्षणयोगित्वमप्रदृश्यं प्रमाणाद्व्यनभ्युपगम्यप्रवर्तितव्याव्यवहारस्याऽऽभामत्वकथने इत्यर्थः ।

दीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भव-
दीयो व्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं । शक्यते
एव । * ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यव-
हार एव धर्मी^(१) कथं सिद्धोत्, दूषणादिव्यवस्था
वा कथं स्यात्, सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीन-
त्वात् * ? । मैवम्,

टी० ॥ प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य साधनाद्यन्तमत्वे ऽप्योजकत्वमेव
दर्शयितुमनभ्युपगम^(२)पूर्वकत्वसाधनासत्त्वेऽपि साधनाद्यन्तमत्वसाध्यसत्त्व-
माह-। “येन”ति । अन्यथा व्यापकव्यभिचारोपदर्शनमसङ्गतं^(३) स्यात् ;
नयाधिकमीमांसकयोः कथायां प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितायामपि साध-
नबाधनात्मत्वं तद्रेकतरेण व्यवस्थाप्यते तत्राभासत्वमेव तन्नं ननु प्रमा-
णाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वमिति न तुल्ययोगत्वेमत्वमपीत्यर्थः ॥ वैत-
ण्डिकवाग्यवहारे^(४) पक्षे एव प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं साधन-
मस्ति, सदृचनाभासलक्षणयोगित्वमुपाधिर्नास्तीत्युपाधेः साधनाव्यापक-
त्वमाह-। “यदित्वि”ति ॥ यथा प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्वमतन्नं साधन-
बाधनत्वमत्वे^(५) तथा प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्वमप्यतन्त्रमेवे^(६)त्यप्रयो-
जकत्वमेवानिष्टावपदर्शनमुखेन द्रव्ययति-। “अन्ये”ति ॥ ननु प्रमाणादीनि
न सतीत्यभिमानिनस्तत्र प्रमाणानभ्युपगम एव चेत्तदा प्रमाणमन्तरेण
न कथासिद्धिर्न वा साधनदूषणनिष्ठा स्यादित्याह-। “ननु यदी”ति ॥

(१) धर्मी=पक्षः ।

(२) प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यकृतत्वलक्षणस्य पूर्वोक्तसाधनस्यासत्त्वेऽपीत्यर्थः ।

(३) साधने साध्याभाववद्भूतित्वलक्षणव्याप्यव्यभिचारे दर्शयितव्ये साध्ये सा-
धनाभाववद्भूतित्वलक्षणव्यापकव्यभिचारोपदर्शनमसङ्गतं स्यादित्यर्थः ।

(४) यद्यपि माध्यामिकादिव्याग्यवहारे एव पक्षतया प्रागुपन्यन्ते न तु वैत-
ण्डिकवाग्यवहारेऽपि तथापि चाद्विपदेन तस्यैऽपि तत्र यद्वातुं शक्यत्वाच्च पौर्वापर्यवि-
रोधः शङ्कनीयः । इतमेव व्याख्याकारस्य शैलीं परिहारायाऽपि यत्र तत्र प्रतीयमानो
विरोधः परिहरणीयः ।

(५) “साधनबाधनात्मत्वे”, इति क्वाचित्कः पाठस्तु प्रामादिकः “येनाभ्युपगम्या-
पि” इत्यादिमूलाकारेण, “प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य” इत्यादि-दोत्यानिकारेण च विरोधात् ।

(६) साधनबाधनात्मत्वलक्षणसाध्ये इति शेषः ।

मू० न ब्रूमे वयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथा-
रभ्यति, किंनाम^(१) सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादी-
नोत्थस्यां चिन्तायामुदासीनैः (यथा स्वीकृत्य तानि
भवता व्यवह्रियते तथा व्यवहारिभिः^(२)) एव कथा
प्रवर्त्यतामिति । अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति
मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तं तदपि
न वक्तुं शक्यम्, कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां
कथायामिदं दूषणमुक्तं ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वम-
भ्युपगम्योभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम् ?
१, उतासत्त्वमभ्युपेत्य ? २, अथैकेन सत्त्वमपरेणचा-
सत्त्वमङ्गीकृत्य ? ३, । नाद्यः, अभ्युपगतप्रमाणादिस-
त्त्वंप्रत्येतादृशपर्यनुयोगानवकाशात् । द्वितीये च स्व-
तो^(३) प्यापत्तेः । न तृतीयः, तथैव कथान्तरस्यापि
प्रसक्तेः, उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य ।

टी० ॥ कथापूर्वकाने प्रमाणाभ्युपगमस्याऽप्रयोजकत्वमावत्सहे नतु
प्रमाणादीनि न सन्तीति तदानीमेव वदामो येनेदं^(४) देश्यं स्यादि-
त्याह- । “न ब्रूम” इति ॥ “अन्यथे” इति यदि प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेण
कथाप्रवृत्तिर्न स्यात्तदत्यर्थः ॥ “आरोप्ये” इति । प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाप्रवृ-
त्तावतन्त्रमित्यस्माकं मतं, प्रमाणादिकं विनापि कथाप्रवृत्तिरिति तत्र
तथारोप इत्यर्थः ॥ “दूषणाभि” इति ॥ प्रमाणाद्यमत्त्वेऽपि तदधीनदूषणादि-
व्यवहारसत्त्वमित्यभ्युपगमे व्याघातलक्षणं दूषणमित्यर्थः ॥ दूषणाभिधान-

(१) किंनाम=किन्तु ।

(२) व्यवहारिभिः=उभयसिद्धव्यवहारनियमेन व्यवहारिद्विरित्यर्थः । विद्याभाग-
रास्तु अत्र यथाशब्दानुरोधेनैकं तथाशब्दान्तरं प्रकल्प्य “तथा, तथाव्यवहारिभिः=उप-
दिष्टसदसत्यप्रमाणायात्रसुलव्यवहारिभिरित्यर्थमाहुः ।

(३) ‘सार्धविभक्तिकस्तसिन्’ इति स्वतः=स्वस्य तत्र दोषापत्तेरित्यर्थः ।

(४) इदं=दूषणं, देश्यं=प्रतिपादनीयं, स्यादित्यर्थः ।

स्याशक्यत्वं व्युत्पादयति— । “कीदृशीमि”ति । कथायामेव दूषणरभिधानधौव्यादयं विकल्पावसरः ॥ “शतादृशे”ति । यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्मी न सिद्धेदित्येतादृशपर्यनुयोगानवकाशादत्यर्थः ॥ “स्वतोपी”ति । त्वमपि प्रमाणादिसत्त्वमनङ्गीकृत्य प्रवृत्त इति तन्मूलको व्याघातस्तथापि तुल्य इत्यर्थः ॥ “तथैवे”ति । प्रकृतनिष्ठाधिकरणकथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपि न दुर्लभेत्यर्थः ॥ नन्वेतावता कथाप्रवृत्तिः समाहिता, व्याघातस्तु न समाहितः ? इत्यत आह— । ‘उभये’ति । प्रमाणादिकमन्तरेण व्यवहारासिद्धिलक्षणो यो व्याघातस्त्वया दत्तः स मया नेष्यते इत्यर्थः ॥

मू० अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किञ्चिद्वागात्मनि दूषणे ऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठतां ? प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभरणमहती स्यात् । तस्मात्प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समर्थं बद्धा प्रवर्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथा सति स्यात् । योयं भवान्स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नोति दूरतस्तस्मिन्पराभिसन्धानावधारणप्रत्याशा ।

टी० ॥ ननु त्वदनिष्टोप्ययं दोष एव, नहीष्टत्वमपि दोषस्त्वे तन्मिथ्यत आह— । “अन्यथे”ति । वागात्मनि=वाङ्मात्ररूपे)त्वयापादितेनापि व्याघाते वाङ्मात्रमेवेति भावः ॥ किञ्च यद्युभयाननुमतेषां दोषस्तदा प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुस्तव प्रामाणिकदोषानुपरणव्ययता स्यादुद्भावितदोषस्य प्रामाणिकत्वव्यवस्थापनप्रयासश्च भवेदस्माकं तु नेयं व्यापृतिरित्याह— । “प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेवे”ति ॥ कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यभ्युपगमनियमोभयवाङ्मननुमतदोषोद्भावनयोरकर्त्तव्यता(१) मुपसंहरति— । “तस्माद्”ति ।

(१) हुंफट्टशब्दादौ सङ्केतितदूषणभावे इत्यर्थः ।

(२) अकर्त्तव्यतामित्यपि क्वचित्पाठः ।

उचितमेव तथा सति स्यादित्यत्र 'यद्युभयाभ्युपगतं स्यादिति शेषः ॥ उपसंहृत्य परस्याहृदयज्ञत्वमुपपादयति-। "योयमि"ति । प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितयां कथायां व्याघातोऽयं दत्तः, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य कथायामप्रवृत्तिरिति चाभिधत्से, इति स्वा^(१)भिप्रायानवधारणम्, कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यनभ्युपगमो न तन्त्रमिति मयोक्तं, प्रमाणादीनि न सन्तीति-मदुक्तत्वेन त्वया दृहीतमिति पराभिसन्धानानवधारणम्, इयमस्माकं पैतृकी व्याख्या ॥ व्याख्यानतरं^(२) तु-ननु मदीयस्तत्रापि प्रमाणाद्यनभ्युपगमे स्थेति प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्वं कथायां न व्यभिचरतीत्यत आह- । "उभये"ति । तथा च नान्यतराभ्युपगमोपि तन्त्रं, न चान्यतर-सिद्धदोषाभिधानमुचितमित्यर्थः ॥ कथातः पूर्वमवश्यं समयबन्धः स्यात्, अन्यथा तत्रेदमनिष्टं स्यादित्याह-। "अन्यथे"ति उभयानभ्युपगतदूषण-भावस्यापि यदि दूषणत्वं तदा जयपराजयादिव्यवस्था न स्यादित्यर्थः ॥ प्रमाणादिसन्धानभ्युपगन्ताहि प्रमाणाभासेनाप्यभिंध्यात्तदभ्युपगन्ता हि प्रमाणात्वेन निश्चितेनैवेति तस्य महती यन्त्रोक्त्याह- । "प्रमाणे"ति । एव-यावद्विहित निपातद्वयमवधारणे, उचितमेवेति सापहासम् । तद्विदं व्याख्यानमसत्सन्दर्भमिव^(३) ॥

मू० *अथ वादीकृत्य दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ^(४)बाधोऽभियते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य^(५)कथान-

(१) विद्यासागरोक्तस्तु कीदृशीं मर्यादामानस्य प्रवृत्तयां कथायां भवता दूषणमुक्तमिति पृष्टे 'इदृश्यां कथायां दोषमहमवार्दयम्' इति स्वाभिप्रायानवधारणमाहुः ।

(२) 'उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य' इत्यत आरभ्य निरुक्तगन्धस्य व्याख्यानतरमाह-त्येति ।

(३) उपाधा = वादिवाग्यवहारमूले इत्यर्थ इति विद्यासागराः केवुचित्सुक्तंषु तु नास्त्यंशपाधाविति पाठः ।

(४) तस्य = धर्मविडकस्य कथानधिकारप्रत्यक्षमभिः स्वशिष्यादथ एव ज्ञाप्यन्त इत्यन्वयपूर्वकार्यः ।

(५) असत्सन्दर्भमदृशत्वं चास्य व्याख्यानस्य कथाप्रवृत्तेः सनाहितत्वेपि व्याघातस्यासमाहितत्वादुक्तम् । पूर्वोक्तस्वोयव्याख्यानस्य तु व्याघातसमाधानपक्षे योजितत्वात्सासत्सन्दर्भत्वम् ।

धिकारं ज्ञाप्यन्ते, अत एव भाष्यकारः “स (१) प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते” इत्याहस्म ननु प्रतिपद्यसे इति * । मैवम्, शिष्यादीन्प्रत्यपि ‘चार्वाकादेर्दोषो-
यमि’त्येवाभिधातव्यम्, कथं च तथा स्यात्, तस्य
कथाप्रवेशनाऽप्रवेशनयोस्तद्वाधाक्षमत्वात्,

टी० ननु मया त्वयि व्याघातो नोक्त्वा येन तदनुरोधा त्वथाऽभ्यु-
पगमः, सा च कथा प्रमाणाद्भ्युपगममन्तरैर्नैव प्रवृत्ता स्यादपितु शिष्या
एवं ज्ञाप्यन्ते यद्वैतण्डिकः कथानधिकारीत्याशङ्कते— । “अथे”ति । यदि
वैतण्डिकस्य जयाद्गुद्वैश्य, तदा तदनुरोधान् प्रमाणाद्भ्युपगन्तुत्वमपि,
अथ किञ्चिदमुद्दिश्यैव कथायां प्रवर्तते तदोन्मत्त इवोपेक्षणीय, इति
शिष्यशिष्या ‘ननु प्रतिपद्यसे’ इत्युपलक्षणं ननु स्व प्रयोजनमनुयुक्त इत्यपि
द्रष्टव्यम् । वादिनि सम्बाधे मध्यमपुरुषप्रयोग उचित इति भावः ॥
शिष्योपि हि वैतण्डिकस्यायं दोष इति बोधनीयो, दोषश्च कथायामे-
वेति सा कथा प्रमाणाद्भ्युपगममन्तरैरेवेति स्वीकार्यमित्याह— ।
“शिष्यादीनि”ति । प्रयोजनसत्ता न प्रवर्तिका किन्तु तज्ज्ञानं, तत्र
वैतण्डिककथ्यापीति न तस्य कथानधिकारोपीति हृदयम् ॥

मू० कथायामेव हि निग्रहः । नापि द्वितीयः, तथाहि-
स्या(२) दप्तेवं यदि कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारंप्रति
प्रमाणादीनां हेतुता तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तते,
नत्वेवं सम्भवति तथा सति तत्सत्त्वानभ्युपगन्तव्यां

(१) स = दुर्वैतण्डिकः, अनुयुक्तः = एष्टः सन् यदि प्रयोजनं प्रतिपद्यति यद्
एतादृशं विजयादिकं फलमुद्दिश्यैव कथायां प्रवृत्तस्तदा प्रतिपद्यतेव प्रमाणादपि तद-
धीनत्वात्प्रतिपत्तेः, अथ न, तदोन्मत्तवदुपेक्षणीय इति न्यायवास्त्यायनभाष्यार्थः ।

(२) कारणत्वं ह्यन्यव्यतिरेकाभ्यामेव गृह्यते तथा च— प्रकृते व्यतिरेकाभा-
वाच्च प्रमाणाद्भ्युपगमस्य वाग्व्यवहारंप्रति कारणत्वमित्याह— स्यादपीति, स्यादप्येवं
कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रतिप्रमाणादीनां (अभ्युपगतप्रमाणादीनां, वा प्रमाणादी-
नामभ्युपगमस्य) हेतुता, यदि तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तते वाग्व्यवहार इत्यन्वयः ।

वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येन हेत्वनुपपत्तेः, उक्तश्रायमर्था यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापत्तापो न शक्यते इति । अथ मन्यसे * कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो, यत्सत्तदभ्युपगम्यते इति स्थितेः * इति । मैवम्, कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो भवता प्रसाध्यः,

टी० । “कथायामेवे”ति । अर्थात् इतिहकारेण पराहङ्कारखण्डनस्य कथाकारणसम्यक्ज्ञानाऽभावस्य वा नियहत्वादिति भावः ॥ ‘प्रमाणाद्यभ्युपगमो वाग्व्यवहारहेतुः’ इति द्वितीयं पत्र निरावष्ट-। “नापी”ति । वाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुत्वं सम्भाव्येतापि नत्वभ्युपगमस्यापि, माध्यमिकादिवाग्व्यवहारं व्यभिचारादित्यर्थः ॥ * ननु प्रमाणादीनां हेतुत्वं यदि मनुष्ये तदा तदभ्युपगमस्यापि हेतुत्वं मन्यसे, यतो नियतपूर्वसत्त्वं त्वयाऽऽश्याभ्युपेयमित्यवर्जनीयासिद्ध एव प्रमाणाद्यभ्युपगम-इति शङ्कते (१)- । “अथे”ति । यद्यदा सत्तया जायते तनदाऽभ्युपगम्यते इति व्याप्तसंभयसिद्धत्वादिति भावः ॥ ‘प्रमाणादीनि सन्ति हेतुत्वात् ब्रह्मवत्, प्रमाणादीन्यभ्युपगमविषयः सत्त्वात् ब्रह्मवत्, इति यस्यां कथायां त्वया साधनीयं तद्वदेव कथान्तरमपि स्यात्, अथ सापि प्रमाणाद्यभ्युपगमादेव प्रवृत्ता तदा तस्यां प्रमाणाद्यभ्युपगमहेतुत्वमाधनानर्थक्यम्, अथ तस्यामेव कथायां प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य हेतुत्वं प्रसाध्य तत्कथाप्रवृत्तिस्तदाऽन्यान्याश्रय (२) इत्याह= । “कथापी”ति । अथे वक्ष्यमाणयेत्यर्थः । नियमस्थितिः=समयबन्धः ॥

(१) शङ्कते - पूर्वंपक्षेणसुखिप्रत्ययं शङ्का समर्पयतीत्यर्थः । शङ्का तु ‘कथक-इत्याग्भ्येव ।

(२) तत्कथाप्रवृत्तौ प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य हेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कथाप्रवृत्तिरिति ।

मू० कथातः पूर्वं तत्त्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विना तदभिलषितं न पश्यवस्यति तावदनुरोद्धव्यं, तच्च व्यवहारनियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमसमयमेव बधनीतः (१) । स च 'प्रमाणेन तर्केण च व्यग्रहर्तव्यं वादिना, प्रतिवादिनापि कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयं, तद्व्यत्पादने प्रथमस्य भङ्गो व्यवहर्त्तव्यः, अन्यथा तु द्वितीयस्यैव, तादृशेतरौ च जेतुतया व्यवहर्त्तव्यौ, प्रामाणिकः पक्षस्ताच्चिकतया व्यवहर्त्तव्यः' इत्यादिरूपः । अत (२) एव 'व्यवहारनियमसमयबन्धेपि हेतुर्वक्तव्यः तथाच सोपि हेतुः कथायां प्रवृत्तायामभिधातुं युक्त' इति प्रमाणसत्त्वाभ्युपगमहेत्वाभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम्,

टी० ननु प्रमाणाद्यभ्युपगमसमयबन्धोऽपि कथायामतन्त्रमेवेत्यत आह—“कथातः पूर्वं” इति ॥ ननु प्रमाणादिसत्तापि तथैवानुद्घुतामित्यत आह— । “तच्चे”ति । समयबन्धस्यावश्यकत्वात् तन्मात्रमनुरोध्यं ननु प्रमाणाद्यभ्युपगमोपीत्यर्थः ॥ अनुरोध्यं समयबन्धं दर्शयति— । “सचे”ति । कथाङ्गतत्त्वज्ञानविपर्ययोऽज्ञानमसम्यग्ज्ञानं वा ॥ कथाव्यवस्था मुक्त्वा फलव्यवस्थामाह—“तद्व्यत्पादने” इति । उद्भावितनियमव्यवस्थापने प्रथमस्य भङ्गः, तद्व्यवस्थापनेनिरनुयोज्यानुयोगात् द्वितीयस्यैव भङ्ग इत्यर्थः ॥ “तादृशेतरावि”ति । समर्थितनिग्रहा(३)शक्यसमर्थननियमभङ्गप्रयोजकरूपरहितावित्यर्थः ॥ जल्पे वितण्डायां च फलव्यवस्थामभिधाय

(१) सादिप्रतिवादिना, इति शेषः ।

(२) अत एव=वक्ष्यमाणादेव हेतोरित्यर्थः ।

(३) समर्थिता यो निग्रहाऽद्यकसमर्थनञ्च यो निग्रह एतदुभयं भङ्गप्रयोजकं रूपं, तद्विहितावित्यर्थः ।

वादे तामाह— । “प्रामाणिक” इति । व्यवहारश्च वस्तुसत्त्वं विनापीति भावः ॥ ननु समयबन्धस्यापि कथाहेतुत्वे विप्रतिपन्नः कथायामेव प्रबोध इति तत्कथावत् कथान्तरमपि स्यादित्यत आह— । “अत एवे” इति । सू० द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्याभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थायामूलत्वेन व्यवहारनियमस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात् । * नचैवं प्रमाणानुपज्ञ (१) स्वेच्छामात्रपरिगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्यफलविभवापत्तिः स्यात् * । अविद्याविद्यमानाऽनादिपारम्पर्यायातस्य (२) लोकव्युत्पत्तिर्गृहीतसंवादस्य (३) च तस्यान्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतःमिद्धिपरिशुद्धत्वात् । * नच प्रमाणादीनां सत्तापीत्थमेवोभाभ्यामङ्गीकर्तुमुचिता * । तादृशव्यवहारनियममात्रेणैव कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः । प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेपि तथाविधव्यवहारनियमव्यतिरेके तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वाऽभिलषितस्य कथकथोरपर्यवसानात् ।

टी० अत एवेत्यस्यातिदेश्यमाह— । “द्वाभ्यामपी” इति । यद्यपि समयबन्धस्येच्छापरिगृहीतत्वे विप्रतिपन्नः कथायामेव प्रबोध्यते इत्यत्रापि दोषस्तदवस्य एव, तथापि समयबन्धमात्रेण कथाप्रवृत्तौ प्रमाणादभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वरूपना गौरवपराहतेति भावः ॥ समयबन्धस्यावश्य

(१) प्रमाणानुपपन्नस्य स्वेच्छामात्रपरिगृहीता निषेधबन्धो मूलं यस्य विचारस्येति विवक्षितः “उपज्ञा ज्ञानमात्रं स्याज्ज्ञान्वात्म उपक्रमः” इत्यभिधानात् । प्रमाणोपज्ञा=आद्यज्ञानं यस्य नास्तीति, प्रमाणाज्ञानयुक्त्येनेति वार्धः ।

(२) अविद्यया विद्यमानश्चासाधनादिपारम्पर्यायातश्चेति तथा, तस्येत्यर्थः । विद्यामागरीक्तरीत्यात् “अविद्यमानादिपारम्पर्यायातस्येति पाठः तदर्थस्तु अविद्यमानकालिद्यस्य परम्यराभात्रस्य तेनायातस्येति ।

(३) लोकव्युत्पत्त्या=वृद्धव्यवहारेण यद्वेतोऽन्यथा न भवति’ इति संवादे यस्य समयबन्धस्य तस्येत्यर्थः ।

हेतुत्वेऽनित्यमाशङ्कते- । “नचैवमि”ति । विचारविग्रहः-साधनदूषण-
प्रयोगाव्यवस्था । विचार्यविग्रहः-पक्षविपक्षाव्यवस्था, चादिप्रतिपाद्य-
वस्था चा ; तयोरपि विचार्यत्वात् । फलविग्रहः-जयभङ्गाऽव्यवस्था,
तत्त्वनिर्घोषाऽव्यवस्था च । यद्वा विचारविग्रहः-प्रमित्यजनकत्वं, विचा-
र्यविग्रहः-प्रमित्यविषयत्वं, फलविग्रहः-जयाद्यभावः । अविद्याविद्य-
मानत्वाभिधानं समयबन्धस्याप्यपारमार्थिकत्वाय । अनादिपारम्पर्या-
यातस्येत्यवश्याभ्युपगन्तव्यत्वार्थम् । एहीतसंवादस्येत्यप्रामाण्यशङ्कानिरा-
साय । ननु समयबन्धस्याज्ञानरूपतया स्वतःसिद्धत्वमनुपपन्नम् ? अत
उक्तमन्वशाभाषासम्भाव्यतालक्षणेति । समयबन्धो न कर्तव्यः-इति सम्भा-
षनाच्चिरह एव तस्य स्वतःसिद्धत्वमिति भावः ॥ “इत्यमि”ति । समय-
बन्धाङ्गताङ्गीकारप्रकारेणैवेत्यर्थः ॥ अन्यथासिद्धिमाह-। “तादृशे”ति ॥
समयबन्धस्योपजीव्यत्वमाह-। “प्रमाणादीति ॥

मू० नापि तृतीयः, लोकव्यवहारो हि “प्रमाणव्यवहारो
वा स्यात्, पामरादिसाधारणव्यवहारो वा । नाद्यः,
विचारप्रवृत्तिमन्तरेण ‘तस्य दुर्निरूपत्वात् तदर्थमेव
च पूर्वं नियमस्य गवेषणात् । नापि द्वितीयः, ‘शरीरा-
स्मत्त्वादीनामपि तथासति भवता स्वीकर्त्तव्यतापा-
तात् । * ‘पश्चात् तद् विचारबाध्यतया नाभ्युपेय-
ते*’-इति चेत्, तर्हि प्रमाणादयोपि यदि विचार-
बाध्या भविष्यन्ति तदा नाभ्युपेया एव, अन्यथा
तूपगन्तव्याः; इति लोकव्यवहारसिद्धतया सत्त्वम-
भ्युपगम्यते’-इति तावन्न भवति । नापि चतुर्थः,
‘यादृशो भवता प्रमाणादीन्यभ्युपगम्य व्यवहारनि-
यमः कथायामालम्ब्यते तस्यैव प्रमाणादिसत्त्वा

ऽसत्त्वानुसरणोदासीनैरस्माभिरप्यवलम्बनात्, तस्य^(१)
यदि मां प्रति फलातिप्रसङ्गकत्वं, तदा त्वां प्रत्यपि
समानः प्रसङ्गः ।

टी० । “प्रमाणे”ति । लोच्यते^(२)इति लोकः प्रमाणाप्रत्यर्थः ।
प्रामाणिकलोकव्यवहारइति वाऽर्थः ॥ ^b“तस्य”ति प्रमाणाव्यवहारस्येत्यर्थः ॥
तन्निं विचारप्रवृत्त्यव तविकल्पतामत् आह-। “तदर्थमेवे”ति । विचा-
रार्थमेवेत्यर्थः । तथाच-विचारप्रवृत्त्या प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य प्रमाणासि-
द्धत्वं, तत्प्रमाणासिद्धत्वेन च तदधीनविचारप्रवृत्तिरित्यन्यान्याशय इति
भावः ॥ “शरीरे”ति । ‘अहं स्थूलः’ इति प्रत्ययात् शरीरे षष्ठात्मव्यव-
हारादित्यर्थः ॥ विचाराऽबाध्यलोकव्यवहारसिद्धत्वमभ्युपगम्यतायां तन्व-
मित्याह-। “पर्यादि”ति ॥ विचाराऽबाध्यलोकव्यवहारसिद्धत्वं प्रमा-
णादीनामप्यसिद्धमित्याह-। “तर्ही”ति ॥ “यादृश”इति । तत्त्वनिर्ण-
यविजयातिप्रसङ्गभिः प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथातः पूत्रं त्वया क्रियते, यदि
नियतममयबन्धेनैव तद्वयं निवर्तेत तदा वृथा प्रमाणाद्यभ्युपगम इत्यर्थः ॥

मू० *स्यादेतत्, नियत^(३)वाग्यवहारक्रियासमयबन्धेन
कथां प्रवर्तयतापि व्यवहारसत्ताभ्युपगन्नव्या, ‘न
हि सत्तामनभ्युपगम्य व्यवहारक्रियाऽभिधातुं श-
क्या, क्रिया हि निष्पादना, अस्ततः सद्रूपताप्रापण-
मिति यावत् । ‘प्रमाणा^(४) व्यवहर्त्तव्यमि’ति निव-

(१) तस्य=व्यवहारनियमस्य ।

(२) यथा व्युत्पत्त्या मूले लोकव्यवहारपदस्य ‘प्रम वाग्यवहारः’-इत्यर्थो निष्क-
रन्ना टर्त्तयति-। तत्र कर्मधारयम-चित्याह लोक्यते इति षष्ठात्मव्यवहारादावाह-प्रामा-
णिकेति मन्त्राख्याभूराधेन मूले ‘प्रामाणिकव्यवहारः’-इति प्रायेण दुष्प्रमाणः वाट
अर्थः योप, अन्यथाय तस्यति प्रमाणाव्यवहारस्येत्यर्थः-इति व्याख्यानाऽसाङ्गत्वप्रसङ्गात् ।

(३) नियतस्य समयबन्धस्य विशेषणं, तथा च वा व्यवहारक्रियया क्रियमाणा
वा, वाग्यवहाराक्रियाऽपि वा, वाग्यवहारक्रियायाः सम्बन्धो वा, यो नियतसमय-
बन्धेन कथा प्रवर्तयतापोत्यर्थः ।

(४) न केवलं व्यवहारसत्त्वं योऽस्मिन्नेष्टं प्रमाणादिरस्यपि त्वदुक्तवलादेवा-
वद्यते-इत्याह-प्रमाणादिरिति । प्रमाणाः-इति मूलोपया करणत्-प्रमिधानात् तस्य च कार-

मबन्धनं (प्रमाणकारणभावस्य नियमान्तर्भावात् नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानामनादाय) न पर्यवस्यति । दूषणानां^(१) चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियमबन्धने, साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च, “कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते—‘प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यते’—इति^१ ।। मैवम्, ‘एभिरपि बाधकैः कथायामारब्धायामेवाभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधाया अनिस्तारात् ।

टी० ननु द्वैतार्थभयेन प्रमाणादिसत्तां नाभ्युपैषि, तच्च व्यवहारसत्त्वाभ्युपगमेष्विच्छिष्टं, किञ्च व्यवहारादिसत्ताभ्युपगमनान्तरीयक एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोपीति कथायां तद्वस्तुत्वमवर्जनीयमिति शङ्कते—
 “स्यादेतदिति ॥ व्यवहारसत्ताभ्युपगममुपपादयति—।^२ “न ही”ति ॥ प्रमाणासत्ताभ्युपगममुपपादयति—।^३ “प्रमाणीरिति ॥^४ “कण्ठोक्तमिति । ‘दूषणानि सन्ति’ व्याप्तिरस्ति’—इत्यादिवचनं तत्त्वसत्ताभ्युपगमपरमेष्ठेत्यर्थः ॥ प्रवृत्तायामेव कथायामयं बाधस्त्वया वाच्यः, तत्कथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपीति न किञ्चिदेतदिति परिहरति—।^५ “एभिरपि”ति । यद्यपि सा कथा प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमपूर्विकैव, त्वं पुनरिदानीं तत्र विप्रतिपक्षः समयबन्धमङ्गीकुर्वन् प्रमाणादिसत्ताभ्युपगममङ्गीकार्यमे, इति नानुपपत्तिः, तद्यपि प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोप न प्रमाणादिसत्तासिद्धिः, अथैवमणयुक्तेरिति हृदयम् ॥

गतिश्रेयत्वात् कारणत्वस्य च कार्थाव्यवहितप्राक्त्वव्यवहारात्प्रमाणानां सत्त्वमङ्गीकृत्य नियमबन्धनमेव न पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥

(१) यस्य मते दूषणानि सन्ति तस्य भङ्गावधारणीयः यस्य तु हेतौ साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वं तस्य पक्षस्तत्त्वकपो व्यवहर्तव्यः—इति नियमबन्धने कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य व्याप्त्यादेः सत्त्वमित्याह—। दूषणानामिति ।

मू० * नच व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणा-
दिसत्तास्वीकारपर्यवसायितया नार्यं दोषः स्यात्* ।
यतः सत्ताज्ञानस्य तत्रा(१)ङ्गत्वं, नतु सत्तायाः ।
तत्र(२) किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताभ्युपगम्येति
मध्यसे ? अबाधितात्तदवगमाद्वा ? । न तावदाद्यः,
मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात् ।
द्वितीयेपि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य (तस्या-
पि कथाकालमात्रे एव) बाधितावगमाभावात् ?,
अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेपि च बाधितबोधवि-
रहात् ? । नाद्योऽतिप्रसङ्गात्, 'पुरुषत्रयावगतस्यापि
(३) एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण, तेनापि क्षणान्तरे,
बहुलं बाध्यत्वदर्शनात् । नचासावर्थोऽस्त्येपि द्वि-
त्रादिपुरुषमात्रपूर्वजाततत्प्रतीत्यनुरोधा(४)द्, बाध-
दर्शने सज्जातेपि, तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते । तस्मा-
द्, "द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते—यत्र सर्वप्रकारेण
बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

टी० ननु कथायां कस्याञ्चित्प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमो न मया त्वां
प्रति साध्यते, किं तर्हि, स्वेच्छया यः समयबन्धः परिग्रहीतः स प्रमाणादिस-
त्ताभ्युपगमपर्यवसन्नः—इति त्वं बोध्यसे ? इत्यत आह—“नचे”ति । सम-
यबन्धः प्रमाणादिसत्ताज्ञानमात्रमात्रिपति, नतु प्रमाणादिसत्तामपि, येन
द्वैतापत्तिरिति भावः ॥ ननु प्रमाणादिसत्ताज्ञानं चेदायात् तदा तदभ्युग-

(१) तत्र=कथायाम् ।

(२) तत्र=प्रमाणादिसत्ताज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे षति ।

(३) पुरुषत्रयावगतस्यापि पुरुषान्तरेण बहुलं बाध्यत्वदर्शनात्, एकक्षणावगतस्य
च क्षणान्तरे तेनापि बहुलं बाध्यत्वदर्शनादित्यन्वयः ।

(४) अबाधितपुरुषानुरोधादित्यर्थः ।

मेमि^(१)सिद्धः, तत्रैव च त्वं विप्रतिपन्नः ? इत्यत आह—।^२“तत्र क्रि-
मि”ति । यद्वा ‘नाश्रवणमात्रं कथाहेतुरपितु प्रमाणादिसत्तावगमः’-इति
विशिष्टकारणताग्राहकं मानं^(३) विशेषणमपि विप्रयीकरोतीति प्रमाणा-
दिसत्ताभ्युपगमो^(४)पि कथाहेतुः, -एवं तदवगमोप्रीत्यत आह—। “तत्र
क्रिमि”ति ॥ कतिप्रसङ्गमेव द्रष्टव्यमिति—। “पुरुषत्रये”ति ॥^५“द्वितीय”इति
द्वितीयपक्षस्य द्वितीयपक्ष इत्यर्थः ॥ तमेवाह—। “यत्र सर्वप्रकारणे”ति ॥

मृ० “तदित्थं^(६)”, यदि नाम वादिप्रतिवादिमध्यस्थमा-
त्रस्य दृषणादिसत्तावगमः कथाकालमात्रे तै^(७)रथा-
ध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते तदा ‘किमायात् सर्व-
प्रकाराबाधिततत्सत्त्वावगमायत्ततत्सत्ताभ्युपगमक-
थाङ्गतानङ्गीकारस्य^(८) । ‘कतिपयप्रतिपत्तु-कतिपय-
काल-तथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः
प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वावगमः कथाङ्गम् ।^९‘एत-
त्तदुच्यते^(१०)’-व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय

(१) प्रमाणादिसत्तास्वीकारोपोत्यर्थः ।

(२) प्रमाणादिसत्ताविशिष्टाऽवगमनिष्कारणताग्राहकं मानं विशेषणीभूत
सत्तामपि कारणत्वेन विप्रयीकरोतीत्यर्थः ।

(३) ‘अभ्युपगमः’-इत्यापाततः कीर्तनं, प्रमाणादिसत्तापि कथाहेतुरिति तु
परमार्थः । यद्वा पूर्वं प्रमाणादिसत्ताविशिष्टावगमोत्पत्त्या प्रमाणादिसत्ताभ्युपगममपि
विशिष्टत्वमेवलक्षणयोक्तं भवतीति ।

(४) ‘तद् इत्थं वादिनोच्यते एव, परं न घटते, सर्वप्रकाराबाध्यत्वस्याऽसंज्ञे
नाऽविज्ञेयत्वात्’-इति विद्यासागरोक्तः। अर्थः । तत्र तदित्थमित्यस्य तत्त्वार्थकस्य पूर्वत्रै-
वाऽन्वयः, प्रकान्तशङ्करव्याख्यापुरोधेन त्वये इति विज्ञेयम् । क्वचित्तु मूलव्याख्यानयोः
‘तद्विदम्’ इति पाठः ।

(५) तैः-त्राद्यादिभिरित्यर्थः ।

(६) मद्रभ्युपगमस्य, -इति शेषः ।

(७) ‘तदेतद्विद्विभारपि “स्वप्नवद्व्यवहारे” इत्यादानुच्यते, न तु मयैव’-इति
विद्यासागराः । अर्थं तु, तत्-तत्कालेऽस्मिन्पुरुषोऽस्ति, एतत्-व्यवहारेण, उच्यते-उक्तं
भवतीति अत्रार्थः ।

विचारारम्भः-इति । तस्माद् 'यादृग्यवहारनियमः
कृतस्तन्मर्यादाऽनेन नोपलब्धिता'-इति यद्वादिवा-
ग्यवहारे मध्यस्थावगमः, स विजयते; यस्य तु इव-
सि नैवं तस्यावगमस्तस्य पराजयः ; यत्र^(१)वाद्युक्त-
निग्रहसत्त्वावगमः, स निगृहीतः ; तदितरस्तु न
तथा-इत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः ।

टी० कथाव्यवहारं^(२) सर्वप्रकारवाधितत्वं^(३) नास्ती^(४)त्यत्र आ-
ह-। "तदित्यमि"ति ॥ ननु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमे त्वं विप्रतिपक्षे, स
च त्वयैवाङ्गीकृतः ? इत्यत आह-। "किमायातमि"ति । सर्वप्रकारेणा-
ऽवाधिता यः प्रमाणादिसत्तावगमस्तदायत्तः^(५) प्रमाणादिसत्ता भ्युपगमः
कथाङ्गं न भवतीति मदीयः पक्षः, तत्र त्वया न किञ्चिदुक्तमिति भावः ।
*ननु प्रतिज्ञान्तरमिदं यत्प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति प्रति-
ज्ञाय सर्वप्रकाराऽवाधितप्रमाणादिसत्ताऽधिगमायत्तप्रमाणाद्यभ्युपगमः
कथाङ्गं न भवतीति प्रतिज्ञायते * ?-इति चेत्, पूर्वमपि विशिष्टस्यैव
प्रतिज्ञानात्, प्रतिज्ञान्तरस्यापि खण्डनीयत्वात्, ज्ञेयि भावः ॥ नन्वा-
धित एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथाङ्गमस्त्वित्यत्र आह-। "कतिप-
ये"ति । त्रैकालिकसाधनैकिकवाधवैधुष्यकलनमशक्यमिति कतिपय-
प्रतिपत्तमात्रवाधिरह एव प्रवृत्त्यङ्गम्, -इत्यवश्यं वाच्यं, नैतावता वस्तु-
स्थितिरिति भावः । "एतत्तदुच्यते"इति । तदेतदुच्यते इत्यर्थः ॥ "आव-
हारिकीमि"ति । पारमार्थिकत्वस्य दुष्परिच्छेदत्वात्^(६)इति भावः ॥

(१) यत्र=प्रतिवादिनीत्यर्थः ।

(२) मूलांशुरोधात् 'कथाव्यवहारं'-इत्यस्य, कथाव्यवहारकाले-इत्यर्थः ।

(३) 'सर्वप्रकाराऽवाधितत्वं नास्ति, -इति तु प्रायेण दुश्चयमानः पाठः प्रासादिकः ।

(४) प्रमाणादिसत्तावगमस्य, -इति शेषः ।

(५) तदायत्तः=तदधीनः ।

(६) सर्वनिग्रहस्थानखण्डनश्रेयासां द्वितीयपरिच्छेदे, -इति शेषः । इति भाव-
इति । पूर्वमेकदा भावस्याक्तत्वात्तत्र 'भावः' इति नोचितं, यद्वा प्राच्यमिच्छत्य "भावः"-
इत्यस्य स्थाने 'शब्दः' -इति पाठेन भाव्यम् ।

(७) परिच्छेदः=अवधारणं, तथा च 'दुष्परिच्छेदत्वात्'-इत्यस्य, अवधारण-
त्वादित्यर्थः । अत्र खलु भावव्यक्तत्वेन दुष्परिच्छेदत्वादिति पाठं तु युक्तमनुमन्ते ।

सू० "अनेन नियमेन वक्तव्यम्"-इत्यस्यायमर्थः,-'अनेन(१) नियमेनोक्तमनेने'ति मध्यस्थावगमस्य विषयीभक्षित-
व्यमिति । * 'नचवाच्यमन्ततस्तद्वगमस्यापि(२)सत्ता-
भ्युपेयेति* । तस्यापि(३)सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावग-
मान्तरस्यैव शरणत्वात् । * 'नचैवमनवस्था' । तदनुसर-
णाऽवश्यम्भावानङ्गकारात्, "एवं त्रिचतुरज्ञानजन्म-
नो नाधिका मतिः"-इति न्यायात् । * 'नचान्तिमासत्त्वे
पूर्वप्रवाहाऽसत्त्वापत्तिः, तथाचाऽवगममादायापि
व्यवहरतो न निस्तारः-इतिवाच्यम् * । 'अस्तु, एवं हि,
'तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन वि-
चारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समर्थं
बद्ध्वा कथार्या मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्त्तनात् ।

टी० ननु प्रमाणादिसत्ता माभ्युपगम्यतां, नियमबन्धस्त्वेदङ्गीकृत एता-
वतैव द्वैतापत्तिरित्यत आह- "अनेने"ति ॥ अवगमसत्तया द्वैतापत्तिं निर-
स्यति- "नच वाच्यमि"ति । आपाततः सर्वशून्यतानयनगरप्रवेशे तात्प-
र्यम् ॥ ननु ज्ञानमपि चेच परमार्थसत् किन्तु तज्ज्ञानात्तद्व्यवहारसिद्धिरिव
तत्र तत्रापि मन्तव्यं तदाऽनवस्था कोपि व्यवहारो न सिद्धोदित्यत आह-
"नचे"ति । भवेदेवं यदिज्ञानमवश्यं स्वव्यवहारार्थं स्यात्, किन्तार्हि विषय-
व्यवहारार्थमनुसृतस्य व्यवह्रिणीर्षायां ज्ञानान्तरमनुश्रीयतां(४)नतु तत्र-
ज्ञानव्यवहारपरम्पराधौष्यं, येनाऽनवस्था स्यादित्यर्थः ॥ अचार्थं भट्टाचार्या-
नुमतिमाह- "एवमि"ति । प्राकट्यानुमेयज्ञानपक्षे तत्तज्ज्ञानपरम्पराऽनुमा-
नानवस्थापरिहारायं भट्टाचार्य्यं चरखैरिदमुक्तमिति भावः ॥ ननु ज्ञानस्यार्थि

(१) अनेन वादिना अनेन नियमेनोक्तम् -इति मध्यस्थावगमस्य विषयत्वेन
अखितव्यमित्यर्थः, तथाचाऽवगमनस्यैव सिद्धा, न नियमबन्धस्येति भावः ।

(२) तदवगमस्यापि = नियमबन्धावगमस्यापीत्यर्थः ।

(३) नियमबन्धविषयकाऽवगमस्यार्थि प्रार्त्तातिक्रमेव सत्त्वमित्याह-तस्यापीति ।

(४) एवं तु अनुधीयतामित्यस्य स्थाने अनुस्रियतामिति पाठः साधुरिति वदामः ।

व्यावहारिकी-सत्ता, तथा वान्निमज्जानमव्यवृत्तप्रमासम्पत्तस्तु तन्माज्ञा-
धोनसत्ताकं तत्पूर्वज्ञानमप्यसदापक्रोत-इत्याशङ्क्य सर्वानुन्यताभिप्रायेणोष्ठा-
पत्या परिहरति-। “अस्त्विति” । अस्त्वितिष्ठापादनं, सर्वोसत्त्वमस्त्वित्य-
र्थः॥ “एवं ही”ति। एवमेव यतो द्विवारद्वलात् सेत्स्यतीत्यर्थः। (१) द्वि-शब्दः
किलाऽर्थे वा ॥ ननु प्रमाणादिसत्त्वमनभ्युपगम्यापि कक्षाप्रवृत्तिरितीदानौ
तत्रोद्देश्यं, तच्च सर्वोसत्त्वस्वीकारविह्वलं, प्रमाणादासत्त्वे द्विवारस्यत्य-
नशक्तशब्दत आह-। “तथापी”ति ॥

मू० “अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाऽभ्युपगमेपि ज्ञानाऽनवस्था-
याः दुष्परिहरत्वात्।” न च वाच्यं-मत्पक्षे स्वरूपसत्ता
ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् तज्ज्ञा-
नपरम्पराऽननुसरणमुचितं, नत्वेवं त्वत्पक्षे स्वरूपस-
ता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थता, ज्ञानस्वरूपसत्त्वा-
ङ्गीकारप्रसङ्गादिति* । स्वरूपसत्त्वमादायापि परिहरतो
ऽनवस्थाप्रसङ्गस्य स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्तव्यत्वात्। ‘यथा
च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाऽविशेषेपि विज्ञानस्वरूपसत्त्वैव
परं व्यवहारोपपादिका, न घटादिसत्ता, एवमेव (१) अ-
सत्त्वाविशेषेपि ज्ञानमेवासद् व्यवहारोपपादकं नान्य-
त्।* “असन्नोपपादकं च-इति व्याहृतम्*!-इति चेन्न,
‘सदुपपादकम्-इति कुतो न व्याहृतम्?। नहि सदुप-
पादकम्, असन्न,-इति क्वचिदावयोः सिद्धम्।*’ ननु
तदसत्त्वाविशेषात्कार्यस्याऽन्यदापि जन्मप्रसङ्गः*?।

(१) ‘यत’-इत्येतदर्थे द्वि-शब्दमभिधायेदानीं किलाऽर्थे आह-इति ।

(२) मत्पक्षे,-इति शेषः ।

दो० ननु प्रमाणाद्विस्तरेण कुतो नानुभवम्यते इत्यत आह- । “अ-
 नुभवो”ति । अत्रानुभवकालान्तरैश्च तथापि अत्रानुभवस्याभवादित्यर्थः ॥
 ननु अत्यन्ते ज्ञानं स्वरूपसद्वैव विषयव्यवहारसमर्थं, स्वत्यक्ते स्वरूपाऽसतो-
 ज्ञानस्य ज्ञानान्तरमेव सत्त्वमिति तज्ज्ञानसत्त्वाद्येभ्योपरजानाऽनुसरण-
 मवश्यमित्यनवस्येति वैषम्यमाशङ्क्य परिहरति- । “न च वाच्यम्” इति ।
 अज्ञायमानतायां ज्ञानस्य स्वरूपसत्तापि न स्यात् “कोऽ) ज्ञूते सती सा वि-
 त्तिः ? असत्येव किं न स्यात्”-इत्यादेः स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात्
 न वैषम्यमित्यर्थः ॥ ननु ज्ञानस्याऽसत्ये कथं तदधीनो व्यवहारः ? अथा-
 ऽसदपि व्यवहारहेतुस्तदा सदैवासतो व्यवहारः स्यादविशेषादित्याश-
 ङ्काह- । “यथाचे”ति ॥ “असत्त्वे”ति । उपपत्तिकारणमुपपादकं, कारणं
 च नियतप्राक्कालमदिति व्याघातः ॥ कारणं (१) नियतप्राक्सदित्येव
 नास्ति, कुतो व्याघात इत्याह- । “सदि”ति ॥ ननु यद्यसत्कारणं तदै-
 तत्कालीनोत्पत्तिको घटः पूर्वमेव कथं नोत्पन्नः ? इत्याह- । “नन्वि”ति ।
 एतद् (२) घटोत्पत्तिक्षणभिन्नाः तथा यद्येतद्घटयावत्कारणाऽधिकरणत्वा-
 याऽव्यवहितोत्तरत्वाविशिष्टाः स्युः, एतद् घटोत्पत्त्यधिकरणानि स्युरि-
 त्यापादनार्थः । यद्वा (३) एतद्घटोत्पत्तिक्षणपूर्वत्वेण यद्येतद्घटसामर्थ्य-
 व्यवहितोत्तरत्वात् स्याद् एतद्घटोत्पत्तिक्षणः स्यादित्यापादकम् ॥

(१) कोऽनुभवः ज्ञूते=अनुभावयति यत सत्येव मा वित्तिरिति ? न कोऽपि,
 ततश्चाऽनुभावकाभावादसत्येव मा वित्तिः किं न स्यादिति वक्ष्यमाणमर्थः ।

(२) कारणं यतश्चियतप्राक्प्रदेव, नऽसदित्येव नाद्यापि निर्घृण्डमिति तदाटाप
 कथं व्याघातः स्यादित्यर्थः । यद्वा कारणं=नियतप्राक्कालं, तथा च यथा ऽसत्सदिति
 नास्ति तथा नियतप्राक्कालचियतप्राक्कालित्येव नास्ति कुतोऽस्मान्वापि व्याघातः ।

(३) यथायुतमालिकार्थश्राव्याने कार्यस्याऽन्यथा जन्ममितिद्वयभावात्प्रसिद्धापा-
 दनं देव इति तद्व्यापादनाय विशिष्टमापादनार्थमाह-अतदिति । अस्तुगन्तव्य एतद्घटो-
 त्पत्त्यधिकरणत्वात् यद्येतद्घटकारणाऽव्यवहितोत्तरत्वाविशिष्टः, यदि तु एतद्घटोत्प-
 त्तिक्षणभिन्ना अपि तथा एतद्घटकारणत्वात्प्राक्कालव्यवहितोत्तरत्वाविशिष्टाः स्युस्तदैतद्-
 घटोत्पत्त्यधिकरणानि स्युरित्यर्थः ।

(४) पूर्व घटोत्पत्तिक्षणभिन्नेषु पादेषु केषु एतत्प्राक्कारणत्वात्प्राक्कारणत्वानि
 घटाऽव्यवहितप्राक्कारणत्वेण तदापादयति-यद्वेति ।

सू० "न, कार्यस्या(१)द्यसप्ताक्षणे इवान्यदापि सामग्र्यस-
त्वाऽविशेषात् तथापि किं नान्यदा कार्यजन्म । • अथ
न मम तदान्नोत्तनं सामग्र्यसत्त्वं तदान्नोत्तनस्य कार्यज-
न्मनो नियामकं, किंतु ततः प्राक् सामग्र्योत्सत्त्वं, त-
थादर्शनात् •, ? । 'तर्हि ममापि कालान्तरस्थ(२)मपि
तदसत्त्वं तदात्तनकार्यजन्मनो नियामकं, तथादर्शना-
देव । • 'मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्यजन्म-
नो नियामकम् • ?-इति चेन्न,

टी० कार्योत्पत्तिक्षणे सामग्री त्वयापि नेष्यते प्रागभावस्य तद्दृ-
कस्याऽभावात्, तथाच यथा सामग्र्योत्पत्तिरिहिति तस्मिन्क्षणे कार्यं, तथा
क्षणान्तरेपि कथं न स्यादविशेषादित्याह- । "न, कार्यस्ये"ति ॥ क्षणा-
न्तराणां सामग्र्योत्पत्तिरुक्तत्वात् त्वया घटोत्पत्त्यधिकरणत्वप्रोपाद्यते तच्च
तदा स्याद् यदि सामग्र्यसत्त्वं कार्योत्पत्तिनियामकमस्माभिरुक्तं भवेत्,
नचैवं, किंतु कार्याव्यवहितपूर्वक्षणसामग्रीसत्त्वमिति शङ्कते- । • "अथे"-
ति ॥ तस्मिन्(३)क्षणे नियमतः कार्योत्पत्तिदर्शनात् यथा पूर्वक्षणसामग्री-
सत्त्वं तत्र नियामकं, तथा ममापि नियतकालकार्यदर्शनात् पूर्वक्षणसाम-
ग्र्यसत्त्वमेव किं न नियामकं स्यादिति परिहरति- । "तर्हि"ति । साम-
ग्रीसत्त्व पूर्वक्षणमात्रे, तदसत्त्वं च सार्वत्रिकमिति महद्द्वेष्यम्, तथापि
कार्यग्र्यसद्वेषेति(४) हृदयम् । पूर्वापादनं तु तदा स्याद् यदि घटोत्पत्ति-

(१) तथापिस त्कारणवादिनां मते किं कारणसामग्रीघटकस्य प्रागभावस्याऽभा-
वात्कार्यजन्म ? वा पूर्वमात्रिसामग्रीसत्त्वात् ? वाद्योत्पत्तिं सकलसामग्र्यव्यवहितोत्तर-
त्वात् ? ; तत्राद्यं वाह-कार्यस्येति ।

(२) कालान्तरस्य तदसत्त्वमित्यस्यैव पूर्वक्षणसामग्र्यसत्त्वमिति विवरणमुत्पत्ति-
कारिमेषेण शङ्करेण अर्णति अचरति । अथग्र्यवापि प्रायोऽस्मिन् व्याख्याने उत्यानिक-
दोक्त्यां अथप्रागभावाः ।

(३) तस्मिन् क्षणे = कार्योत्पत्तिक्षणे ।

(४) अथमाशयः-भवेदितं वैश्वस्य यद्येतादृशं कार्यस्याप्यसत्त्वं मया नोच्येत, किंतु
कारणार्थिकत्वधर्मपुरस्कारेण कार्यं कारणोत्पत्त्यसत्त्वमेव, व्यावहारिकत्वेन तु

खातिरिक्तानामपि क्षणानां यावत्^(१) घटप्रयोजकोत्तरत्वं मयाऽभ्युपगम्येत, नत्वेवं, किन्तु घटजन्यक्षणस्यैव, तत्पत्रक्षणवर्तिसामर्थ्यसत्त्वस्यैव घटप्र-
योजकत्वेन मयाऽभ्युपगमात् ॥ न वयं भिन्नकालीनं सामर्थ्यसत्त्वं कार्य-
जन्यनियामकं ब्रूमेऽपि तु कार्योत्पत्तिसमानकालीनमेव सामर्थ्यसत्त्वाद्य-
वहितोत्तरत्वं, तथा च न साम्यमित्याह-। “ममत्त्व”ति ॥

मू० “समसमयत्वादा^१ऽऽगन्तुकत्वा^(२)च्चाऽविशेषेण निय-
म्यनियामकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः ।

टी० “समसमयत्वादि”ति । यदेष कार्योत्पत्तिक्षणस्य तदेष
सामर्थ्यतरक्षणत्वमिति कथमभेदेनैव नियम्यनियामकभावः, समयस्य=
क्षणस्य, समत्वादेकत्वादित्यर्थः । * नचोपाधिभेदाद्भेदः * । तथा सति
दृष्टित्वरुण्डलित्वाभ्यां देवदत्तो भिक्षेत, “देशकालौ^(३)कामं भिक्षोयातां
नतु तदुपरक्तत्वभावः पट्टरागो मणिः”—इति च तत्रैव घावस्यतेरभिधा-
नादिति भावः । यद्वा तुल्यकालयोः सामर्थ्यतरक्षणत्वकार्यतरक्षणत्वयोः
सञ्चेतरविषयाद्यवियम्यनियामकभावाऽभावादित्यर्थः । यद्वा समयः=व्य-
वस्था, तेन समसमयत्वावियम्यनियामकयोः समञ्चस्यत्वात्, तथाच-
कार्यनियामकत्वेनाभिमतस्य सामर्थ्यतरत्वन्य नियामकान्तरं वाच्यमि-
त्यर्थः । एतदेवापि “अन्यथा यद्विशेषान्तरं तदपि”—इत्यादिना स्फुटयि-
ष्यति । यद्वा, समयः=सङ्केतः^(४), तथाच कार्यतरणसामर्थ्यतरक्षणयोरेका-
र्थवाचकत्वेन तदुपस्थाप्ययोर्घटकलशपट्टोपस्थाप्ययोरेव न नियम्यनियाम-

कटाघित्वाद्यस्य सत्त्वोपनम्भानदव्यवहितवाक्क्षणमात्रे परमार्थतो ऽसतो ऽपि कारण
स्य व्यावहारिकं सत्त्वं मयाऽप्यङ्गीकरणोपमेयेत्यतो न वैचर्यमिति ।

(१) यावत्त्वस्य प्रयोजको ऽन्वयो न तु घटे ।

(२) उत्तरत्वमपि नियामकान्तरपूर्वकं चेदनवस्था, न चेत्स्य समञ्चस्यत्वेन कथम-
न्यदुपस्थाप्योदित्याह-“आगन्तुकत्वादिति”—इति प्रगल्भमिथाः चोदयेत् ।

(३) देशकालौ कामं = यद्येष्टं भिक्षोयातां नतु देशकालभेदेन पट्टरागो मणि-
भिक्षते इत्यर्थः ।

(४) सङ्केतः=वाच्यवाचकभावः सम्यन्धः, शक्तिरिति यावत् ।

प्रकभावा इत्यर्थः ॥ ६ "आयन्तुकत्वादि"ति । अव्यवस्थितोपनिपातित्वात्, चाकस्मिन्कोपनिपातित्यतिष्यादावागन्तुकपदप्रयोगात्, तथाचाऽऽगन्तुकाऽऽकस्मिकी सामयी स्वोत्तरत्वेन कार्यजन्म कथं नियमयेदित्यर्थः । यद्वा प्रागभावेतर^(१)यावत्कादाचित्ककारणप्रागभावाऽनाधारः कार्यप्रागभावाधारः सः सामयीत्युच्यते, कार्यप्रागभावः कार्यानुत्पादप्रव, तथाच- 'कार्यानुत्पादः कार्यात्पादं नियमयति'-इति पर्यवसितं, तच्चाऽनुपपन्नं, कार्यानुत्पादस्य कार्यात्पादं प्रति आगन्तुकत्वात्=उदासीनत्वात्, उदासीनो आगन्तुक इत्युच्यते इत्यर्थः । तथाच समसमयत्वाऽऽगन्तुकत्वाभ्यामभिशिष्टयो^(२)ः इत्यदभिमतनियम्यनियामकयोर्न नियम्यनियामकभाव इति समुदायार्थः । अन्ये तु "आयन्तुकत्वादन्यदासिद्धत्वादिति वा, आयन्तुकत्वाद्भूतनियामकत्वादिति चाऽर्थः"-इत्याहुः । यद्यपि समसमययोरेषागन्तुकयोरेपि रूपरसयोर्बन्धिभूमयोरेव नियम्यनियामकभावो दृष्ट एव, तथापि कार्यस्याऽसत्त्वमेवेति हृदयम् ॥

मू० "तस्मात् अन्यदास्थाया^(३)एव सामय्यास्तदा कार्यजन्मनियमोऽभ्युपेयः, तथा दर्शनात्"-इत्येव वाच्यम्, तथाच समः^(४)समाधिः । * तथापि कार्य^(३)जन्मकालस्य को विशेषः* । कार्यजन्मैव । अन्यथा यद्विशेषान्तरं^(५)

(१) कार्यप्रागभावाधारः सः सामयीत्येतावन्मात्रोक्तो यथादिकारणप्रागभावस्यस्यापि घटादिसामयीत्वं स्यादतउक्तं यावत्कारणप्रागभावाऽनाधारइति, एवमपि यावदन्तर्गतानां देशकालादीनां प्रागभावस्येवाऽभावानुदनाधारः सः संबन्धेवास्तीति पुनरपि न एव दोषस्तदवस्य इत्यन उक्तं कादाचित्कं, कादाचित्कं कारणमन्तादिसामयोपीति पुनरुक्तदोषानुद्धार इति प्रागभावेतरत्युक्तम् ।

(२) अशिष्टयोः=तुभ्योः । (३) अन्यदास्थायाः=पूर्वकालवर्तिन्याः ।

(४) यथा तत्र भिन्नकालोना सामयी नियामिका तथा समयि भिन्नकालीनता मयासत्य किं न-नियामकं स्यादिति समः समाधिरित्यर्थः ।

(५) "अपि कारणमित्य कार्यामप्यकटेवेति तत्र समयविशेषप्रश्नो न युक्तः, तथापि अतिवन्दिस्थानेनेव साधनस्योपक्रमद्विशेषमाह-कार्यजन्मिति"-इति प्रगल्भमिथाः श्रोतव्यं ।

(६) विशेषान्तरं=सामय्युक्तत्वादि ।

तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्यवसानं-
मेव पर्यवस्येत् । * तथापि^(१) तत्कालस्यानुगतं किं
रूपम् * ?,—इति चेन्न, 'रूपान्तर^(२)वतोपि किं तद् ?'—
इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्यापत्तेः^(३) ।

टी० “तस्माद्”ति । साम्युत्तरत्वात्त्वस्य नियामकत्वे खण्ड-
ते भिन्नकालापि त्वया साम्येन नियामिका वाच्या, तथाच भिन्नकाल-
साम्यमत्वमेव किं न नियामकमिति ममः समाधिरित्यर्थः ॥ ननु त्वा-
न्तरेभ्यः कार्यजन्मत्वात् वैलक्षण्यमवश्यमभ्युपेयं, तच्च वैलक्षण्यं न ताव-
त्साम्यसत्त्वं, तस्य त्वान्तरसाधारण्यात्, तथाच साम्युत्तरत्वात्त्वमेव
तथा वाच्यम् त्वान्तरव्यावृत्तत्वादिति तदेव नियामकमित्यनुशयानः
एच्छति । ^b“तथापी”ति ॥ उत्तरम्—। “कार्ये”ति ॥ विनिगमकमाह—
^d“अन्यथे”ति । साम्युत्तरत्वेपि विशेषान्तरमनुसरणीयम्, एवं तत्रतत्रा-
धीत्यनवस्येत्यर्थः । यद्यपि कार्यजन्मकाले साम्युत्तरत्वं, तत्र च साम्यी,
तस्यापि तत्साम्यीत्यपर्यवसानमेवेष्टं प्रामाणिकत्वात्, * नच कार्य-
जन्मकालगता एव नर्त्तव्ये विशेषा अभिमताः नच साम्यीपरम्परायास्त-
थात्व^(४)मिति वाच्यम् *, साम्यीपरम्पराया अपि परम्पराया कार्यजन्मका-
लस्यैव विशेषत्वात् ; अन्यथा “कार्यजन्मकालस्य कार्यजन्मैव विशेषः”—
इति त्वदुक्तमपि न निर्वहेत्, तत्रापि विशेषान्तराऽनुसरणीचित्यात्,
तथापि कार्यमप्यसदित्यत्रैव हृदयम् ॥

(१) कार्यजन्मकालाभासुपसङ्ग्राहकं रूपं एच्छति—तथापीति ।

(२) परिहरति—रूपान्तरंति । अथमाशयः—यद्यप्यामकं रूपान्तरं वक्तव्यं
तस्यापि रूपान्तरसापेक्षत्वं नवस्था, अन्तर्गतत्वा कस्यापि रूपान्तरानपेक्षत्वं चाढावत्
तस्वीकार्यं, तच्च कनिष्ठमन्वित्यमेवेति ।

(३) { अद्यतः कारणभावे भवतीति समर्थितं तावत् ।
न च सत एव तु सिद्ध्यति कारणेति प्रदर्शयते तदनु ॥ }

(४) तथात्वम् = निकृतांतरांतरसाम्य्यात्मकविशेषत्वम् ।

सू० "किञ्च ।

अन्तर्भावित^(१)सत्त्वं चेत्कारणं तदसत्^६ ततः ।

नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्^६ ततः ॥ ४ ॥

^६तथा हि अन्तर्भूतसत्त्वं यदिकारणत्वं तदा स्वविशि-
ष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयत्वमापादयति ।

टी० असतः कारणत्वमुपपाद्य सतः कारणत्वं खण्डयति-
"किञ्च" इति । कारणे सत्ता विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ? । यदि वि-
शेषणं, तदा सत्तायामपि कारणत्वमित्यायातं, सत्तायां च न सत्तेत्यस-
द्वेष कारणं प्राप्तम् ॥ ^६"तत" इति । सत्ताविशिष्टे कारणत्वाऽभ्युपग-
मादित्यर्थः । उपलक्षणत्वे त्वमदपि कारणं प्राप्तं, सत्तायाः कारणको-
टिविहर्भावात् ॥ "तत" इति । सत्ताया उपलक्षणत्वाऽभ्युपगमादित्यर्थः ।
यद्वा कारणमित्युभयत्र भावप्रधानो निर्देशः, तथाच सत्तायां कारणत्वं
धर्तते, न वा ? इति विकल्पार्थः । आद्ये मदपि कारणं, सत्तायाः सत्ता-
विरहेणाऽसत्त्वात् । द्वितीये सत्तया सदाकाराऽनुगतप्रत्ययोपि न जन-
नीय इति तन्मात्रप्रमाणाकायाः सत्ताया विलोपे सर्वकारणमसद्वेषेति
प्राप्तम् । यद्वा कारणं=कारणत्वम्, अन्तर्भावितसत्त्वं=व्यापकीभूतसत्त्वं :
न वा ? तथाच कारणत्वं सत्ताव्याप्यं ? न वा ? इति विकल्पार्थः । आद्ये
सत्तायां सत्तानिवृत्त्या कारणत्वमपि निवर्तते, इति अनुगतप्रत्ययजनक-
त्वाभावात् प्रमाणाऽभावेन सत्ताविलोपे सर्वकारणमसद्वेष प्राप्तम् ।
अन्त्ये सत्तामप्यहायापि कारणत्वं धर्तते इति त्वयैवासत्कारणमभ्युपे-
मित्यर्थः ॥ धार्तिकार्थं प्रपञ्चयति- । "तथाही"ति ॥

(१) अन्तर्भावितता = अन्तः प्रवेशिता (विशेषणीभूता इतियायत्) सत्ता यस्मिन्-
सत्तन्तर्भावितसत्त्वं तच्छेत्कारणं, तदा सत्ताविशिष्टे सत्तासम्भवात्कारणमसद्वेष स्यात्,
सत्तासमवायात्सद्वृत्तारोपणमर्थादित्यर्थः । अन्तर्भावितसत्त्वः कारणं न, किन्तुपलक्षित-
मितं चेत् (केचित्प्राऽनुगतप्रमाणाकानि) ततोऽपि कारणकोटौ नसाऽप्रवेशात्का-
रणमसद्वेषेति श्लोकार्थः ।

सू० "विशिष्टस्यार्थान्तरत्वे(")पि च स्वस्मिन्स्ववृत्तिव्यतिरे-
कवत्स्वविशिष्टे स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनात् न सैव
सत्ता तस्मिन्निति 'अन्यस्या विशिष्टवृत्त्यभ्युपगमे ता-
मनिवेश्य कारणत्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं प-
र्यवस्यति, 'अपराऽपरसत्तानिवेशने चाऽपर्यवसानमेव ।

टी० ननु सत्ताविशिष्टे दृग्दादौ कारणे सत्ता वर्तते चेत्कथमात्मा-
श्रयः(१) इत्यत आह— "विशिष्टस्ये"ति । स्वस्मिन्स्वं वर्तते इति यथा
विशदं, तथा स्वविशिष्टे स्वं वर्तते इत्यपि विशदमेव, विरोधप्रयोजक-
स्याऽदर्शनस्योभयत्राऽविशेषादित्यर्थः ॥ ननु स्वविशिष्टे स्वं भावतिष्ठ,
स्वभिनया द्वितीयया सत्तया प्रथमसत्ताविशिष्टानां सत्त्वं, मत्वाच्च
कारणत्वमुपपत्स्यते? इत्यत आह— "अन्यस्या" इति । प्रथमसत्तायाः
अकिञ्चित्कारत्वेपि तत्तुल्यतया द्वितीयसत्तामप्यनिवेश्यैव त्वया कारणत्वं
वाच्यम्(२) तथाच न प्रथमया न वा द्वितीयया सत्तया सतां कारणत्व-
मिति सर्वथैवासत्कारणमिति भावः ॥ ननु स्वविशिष्टे स्ववृत्तावात्मा-
श्रयः, अन्योन्यविशिष्टेऽन्योन्यवृत्तावन्योन्याश्रयः, इति पूर्वपूर्वसत्ताविशिष्टा-
परापरसत्तया सत्स्यात्कारणं च स्यादिति कथमसत्कारणमित्यत आह—
"अपरापरं"ति । उतरोत्तरसत्तास्वप्न-तर्भाषितसत्त्वं वेदित्यादिविकल्प-
कदर्थनया क्वापि पर्यवसानं न स्यादित्यर्थः ॥

सू० * 'नच सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका
निस्ताराय"। सत्ताभेदे हि सद्बुद्धिव्यवहाराऽनुगमसम-
र्थनलङ्घिनः प्रथमापि सत्ता नस्याद् इति वृद्धिमिच्छतो
मूलमपि ते नष्टमिति हा ! कष्टतरम् । * 'नच स्वरूपस-

(१) विशेषणविशेष्यतःस्वस्मिन्स्ववृत्तयोःतिरिक्तत्वपक्षेपीत्यर्थः ।

(२) अत्र 'विशिष्टस्य विशिष्टवृत्ताभूतसत्तादिते'तिरिक्तत्वस्य मयाऽभ्युपगमनव्य-
त्थानं--इति हेतुः पूरणीयः ।

(३) अत्रनप्रकारस्य--'स्वभिनया द्वितीयसत्तया द्वितीयसत्ताविशिष्टानां सत्त्वं
मत्वाच्च कारणत्वमुपपत्स्यते'--इति ।

सीपगन्धाय स्वस्ति * । भिन्नानप्यनुगत^(१)बुद्ध्याद्याधान-
पदेऽभिषिञ्चना त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलि-
र्वितीर्येत । “माभूदनुगतिः स्वरूपसत्त्वस्य”-इति च
वदन् तद्गर्भिणीं कारणतां कथमनुगमयितासीति ।

टी० ननु बीजाङ्कुरपरम्परात्सत्तापरम्पराऽस्तु को दोषः ? इत्यत
आह-। “नचे”ति । यथा तावत्यः सताः सत्तामन्तरेणैव सत्यस्तथा
दण्डादयोपि सत्तामन्तरेणैव सन्तः सन्तु किमाद्यापि ससया । * न च
तावतीषु सत्तास्वेका काचित्सत्ता वर्तते यथा तासामनुगमः, तस्याः पुनरे-
कस्याः^(२) किमनुगमकेन सत्तान्तरेणैतिषाच्यम् * । तर्हि सती^(३)न स्यात्,
तदसत्त्वं च तासामसत्त्वात् तदाऽऽश्रयपर्यन्तमसत्त्वमित्यसद्वैत्र कारणं
पर्यक्सन्नमिति भावः । यद्यपि स्वविशिष्टे स्वं वर्तते एव विरोधाभावात्
नचादर्शनं सर्वत्र तथैव वृष्टत्वात् । नहि स्वाऽविशिष्टे क्वचित्स्ववृत्तिर्दृष्टा ।
यदि च स्वविशिष्टे स्वं न वर्तते, तदा स्वविशिष्टमेव न स्यात्स्ववृत्त्येव हि
तत्स्वविशिष्टम्, अन्यथा दण्डानि दण्डवत्कुण्डलानि कुण्डलवत् कुण्डलानि
दण्डोपि स्यात् । *एवं तर्हि दण्डोपि दण्डः स्यात्*^(४) । न, आपादकाभावात् ।
विशिष्टवृत्तित्वमेवापादकम्^(५), इति चेन्न, यद्विशिष्टवृत्ति तद्विशेषणवृत्तीति
नियमाभावात्, व्यभिचारस्य^(६)दर्शितत्वात् । *तत्र^(७)दण्डकुण्डलयोर्न

(१) अनुगतबुद्ध्यादिराधीयते अनेनेत्यनुगतबुद्ध्याद्याधानं, तत्पदे - तत्स्थाने
इत्यर्थः ।

(२) ‘एकस्याः’-इति सावधारणं हेतुगर्भे विशेषणम्, एकत्वादेवेत्यर्थः ।

(३) यदि सर्वसत्तास्वनुगतेकसत्तायां सत्तान्तरं न स्यात्तर्हि सा सत्येव न स्यादिति
तदसत्त्वं तदाधारभूतानां प्रथमसत्तानामप्यसत्त्वं तदसत्त्वं च तदाश्रयाणां दण्डादीनां
कारणानामप्यसत्त्वमित्यर्थः । न च सर्वसत्तास्वनुगतेकसत्ता स्वात्मकसत्तयेव सती ।
तथा सति प्रथमास्येव तत्स्वीकरणीयतया तस्यायं मानःभावात् ।

(४) सर्वत्र स्वविशिष्टे एव विशेषणं वर्तते, न चैतावता स्ववृत्तित्वं तस्येति
(यद्यपीत्यत आरभ्य स्वादित्यन्तं) व्यभिचारस्य दर्शितत्वादित्यर्थः ।

(५) ननु विशेषणं सर्वत्र स्वाऽविशिष्टे एव वर्तते, नचेत्वं मति कुण्डलानि
दण्डोपि स्यादिति वाच्यम्, दण्डादीनामुपलक्षणत्वेन विशेषणस्थानकीकारादित्यत
आह-तत्रेति ।

विशेषकत्व, किन्तुपलक्षणत्वम्*? -इति चेत्तद्विषयताप्युपलक्षणत्वमस्तु, यथा चो-
पलक्षणेनापि दण्डेन पुरुषो दण्डो, तथा सत्तयापि नादृश्या कारणं सत्तस्तु ।
वस्तुतो विशेषणत्वमपि न दोषः, नहि विशेष्यगतधर्मत्व विशेषणत्वम् किन्तु
स्वकालनियत^(१)व्यावृत्तिबोधजनकत्वं, प्रत्याप्य^(२)व्यावृत्त्यधिकरणताप्रच्छे-
दकत्वं सति व्ययच्छेदकत्वं वा, तत्र^(३)विशेष्यवृत्तिधर्मविरहेपि मयानम् ।
यत्र^(४)संयोगलक्षणावृत्तिर्दण्डादौ तत्र कथञ्चिद्विरोधोपसंहारेपि समवा-
यलक्षणवृत्तौ स्वविशिष्टे एव स्ववृत्तिरभ्युपगन्तव्या, तत्र स्वाऽविशिष्टदश-
या अभावात्, गोत्वाऽविशिष्टे महिषादौ गोत्ववृत्तिप्रसङ्गात् । तथाच तत्र-
वश्यं स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरङ्गीकर्तव्या । *तत्र केवले वृत्तिः*? -इति चेत्^(५), के-
वलस्यापि स्वविशिष्टत्वात् । नहि तत्र स्वं न विशेषणम् । *ननु^(६)सत्तय
सत्ताविरहात् कथं साऽनुगतप्रतीतिकारणम्*? -इति चेत्, सत्तत्र केवलम-
सती कारणमिति न, किन्तुसंभावाद्दिरप्यसन्नव कारणम् । *तर्हि सत्का-
रणं, नत्वसदिति कोयं तव सिद्धान्तः*? -इति चेत्, सोपाख्य कारणं, नतु
निष्पाद्यमलीकमन्यवेहि । *तर्हि सत्तास्थाने उपलब्ध्यामादेश्य उपलब्ध्या-

(१) आदामोन्वेन व्यावृत्तिबोधजनकत्वमुपलक्षणस्याप्यन्वयतः स्वकालनियत-
त्वेन बोधो विशेषितः ।

(२) पूर्वोक्तविशेष्यगतलक्षणस्योपाधावतिव्याप्तिमभिप्रेत्य लक्षणान्तरमाह प्रत्या-
प्येति । प्रत्याप्या = ज्ञाप्या या व्यावृत्तिस्तदधिकरणात्ता दण्डादेस्तदवच्छेदकत्वं दण्डा-
देरेव विशेषणत्वस्य, नतुपाधेऽपलक्षणस्य चेति नातिव्याप्तिः ।

(३) तदेतल्लक्षणं विशेषण्ये विशेष्यगतधर्मस्याभावेपि सति समनुगतमित्याह-
तच्छेति ।

(४) ननु 'नहिस्वाऽविशिष्टे क्वचित्स्ववृत्तिर्दृष्टा' -इत्यस्य त्वदुक्तवचनोऽव्या-
प्यवृत्तित्वेनाऽभिमतसंयोगादेः व्यभिचाराद्विरोधस्तदवश्य इत्यत आह-यत्रात । संयोगे-
ति । संयोगेन लक्षणं = ज्ञायते या सा संयोगलक्षणा, संयोगाऽवच्छेदा वृत्तिरिति यावत् ।
यद्वा वृत्तवृत्तिताऽवच्छेदकयोः समनियतत्वेनाऽभेदोपकारात् संयोगलक्षणा वृत्तिरित्युक्तम् ।
यद्यं 'समवायनक्षयवृत्ते' -इत्यत्रापि ज्ञेयम् ।

(५) 'केवले वृत्तिः' -इत्यत्र केवलशब्देन किं सर्वथा गोत्वादिविशेषणाऽसंस्पृष्टं
शब्दं ?, वा तत्संस्पृष्टम् ? । आद्ये महिषादावाप गोत्ववृत्तिः स्यादित्येतद्गौर्दानधायाह-
नेति, द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव स्मारयति -केवलस्यापीति ।

(६) नन्वयं स्वविशिष्टे स्ववृत्तित्वमुपपाद्य त्वका दण्डादौनां कारणत्वं व्या-
ख्यासि, सत्तयां तु सत्ताविशेष्यत्वस्याप्यभावात् कथं कारणत्वं स्पष्टयति कायदन्विका
मावदन्विकं शङ्कते -नन्विति ।

विशिष्टं निरुपाख्यमेवेति पूर्ववत्^(१)दावर्तनीयम्?—इति चेत्, आवर्तने क्रियमाणे एव व्याघातात् । ननु उपाख्याविशिष्टं निरुपाख्यं वक्तुमपि शक्यते, उपाख्याविशिष्टत्वेनैवोपाख्यातत्वात्, तत्रोपाख्या हि नाम, तथाचाऽभिधाना^(२) नभिधानयोजितं नैयायिकैरिति, तथापि^(३)दण्डादौ सत्तापि कारणकोटौ न प्रविशतीति हृदयम् ॥ ननु च सत्ताविरहि^(४)ण्यपि सत्ता स्वरूपसत्त्वैव, दण्डादिरपि सत्ताबहिर्भावेण कारणमस्तु स्वरूपसत्तायाः स्वरूपमात्रनिबन्धनत्वात्, प्राभाकरादिभिस्तथैवाङ्गीकाराच्चेत्यत आह—^(५)“नचे”ति । स्वरूपसत्त्वस्य प्रतिस्वं विश्रान्तत्वेनाऽननुगतत्वात् अनुगतसद्रूपवहारविलोपप्रसङ्गात्, अननुगतेनैव चाऽनुगतधीजनने गोत्वादिकमपि नस्यादित्यर्थः ॥ नन्वनुगमाभावेपि स्वरूपसत्तया सत्कारणमिति तावदायातं, तदेव च मया साधयितुमुपक्रान्तांमन्यत आह—^(६)“माभूदिति । कारणताया अनुगमः त्वदभ्युपगतो न स्यात् स्वरूपमत्तायास्तदनुगमकत्वेनाभ्युपेताया अननुगतत्वात्, सत्ताजातेश्च खण्डितत्वादित्यर्थः ॥

सू० “किञ्च, स्वरूपसत्त्वं स्वरूपात् घटाद्यात्मनो नाधिकमसतोपि स्वरूपं स्वरूपमेव, नह्यसन् घटादिर्न घटादिः, तथा सति^(१) घटादिर्न’—इत्यपि न स्यात्, असतोऽघटा-

(१) पृष्ठवत् “अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः—इति कारिकात्प्रकारेणैव—‘अन्तर्भावितोपाख्यं चेत्कारणं तदसत्ततः, नान्तर्भावितोपाख्यं चेत्कारणं तदसत्ततः’ इत्यावर्तनीयमित्यर्थः ।

(२) अभिधाने निरुपाख्यत्वव्याघातः, अनभिधाने नैयायिकाभिमतोपाख्यकारणत्वसिद्धिरिति विवेकः ।

(३) ‘तथापि’—इत्यस्य ‘यद्यपि स्वयिगिष्टं स्वं वर्तते एव’ इति दूरव्यवहितेन यद्यपि शब्देनाऽन्वयः ।

(४) ज्ञात्यात्मकसत्ताविरहिणीत्यर्थः ।

(५) तथा मतीति । यथा ‘घटः सन्’—इत्यत्र घटसत्त्वयोः सामानाधिकरण्यापलम्भाद्धटः सत्त्वान्भावते, तथा ‘घटोऽसन्’—इति सामानाधिकरण्यापलम्भात्सन् घटोऽपि स्वीकार्यं, अन्यथा ‘घटोऽसन्’—इति सामानाधिकरण्यामेव न स्यादिति प्रगल्भादिसंमतांशः । सिद्धासागरास्तु “अप्रसिद्धप्रतियोगिकनिबन्धापेक्षाऽसतः प्रतियोगप्रतियोगित्वेनाऽसन् घटादिरेष्टव्यः”—इत्याहुः । तत्र मन्वे प्रगल्भोक्तोर्थे सूत्रव्यापि-शब्दस्यैवकारार्थं कत्वकल्पनाप्युक्तगौरवात्सिद्धासागरोक्तमेव व्यवर्तिता ।

दित्वात् । ^bअथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्यं कारणं, तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणको-
व्यप्रवेशाऽविशेषात् । 'अथ न सत्ता कारणकोटिनि-
विष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वं, नियतपूर्वसत्तां हि का-
रणतां मन्ये*?—इति मन्यसे, "तर्हि मत्पक्षेऽपि सैव
कारणतस्तु।*तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवानसीति
घटकुट्यां^(१)प्रभातम्*?—इति चेन्न, भावाऽनवबोधत्वात्,

टी) घटस्य च निरूप्यमाणं घटस्वरूपसत्त्वं घट एव पर्यवस्यति,
तथाच घटः=कारणमित्याऽऽयातम्, असन्नपि घटो घट एव,—इति मत्पक्षात्
त्वत्पक्षे न कश्चिद्विशेष इत्याह—। "किञ्च" इति । यद्यपि च स्वरूपं
सदिति पारमार्थिक^(२)मभिमतम्, अयमेव च त्वत्वत्ताद्विशेषः, त्वया
दण्डादीनामपारमार्थिकत्वाङ्गीकारात्, तथापि पारमार्थिकत्वबलद्वेने हृद-
यप्र ॥ श्लोकाद्वितीयाहुं व्याचष्टे—। ^b"अथे"ति । सत्ताया इवाऽसत्ताया
अपि कारणभोक्त्यप्रवेशादसत्कारणत्वादित्वाद्द्वयमपि नोपालभ्याः, यतो
दण्डादिः कारणमित्यावयोः समानोऽभ्युपगमः, सच सचसत्त्वेति क्रमेण
विचारणीयमित्यर्थः ॥ ननु सत्ताघटितं कारणत्वं न भूमः, किन्तर्हि? सत्तैव
कारणत्वमिति, तथाच कारणत्वमभ्युपगच्छता त्वया सत्ताप्यङ्गीकर्तव्येति
शङ्कते—। "अथ ने"ति ॥ ममापि नियतपूर्वसत्त्वमेव कारणत्वमिति परिह-
रति—। "तर्हि"ति ॥ ननु कारणत्वं कारणानां धर्मः, स चेत्सत्ता, तदा सन्त
एव दण्डादयः कारणानि, नाऽसन्तः, इति पर्यवसितं विवादेनेत्यत^(३)
आह—। "तर्हि"ति ॥

(१) शैलिकभयार्थशाखां मासान्तरेण गच्छतः क्षिपितनिशस्य घटकुट्यां=सु-
लक्षणासायां, यथा प्रभातं कस्यचिद्विश्वकस्य तथा तत्र सत्त्वापत्तिभयाद्वावान्तरेण वज्रव-
तोऽपि सद्वाद आपन्न इत्यर्थः । घट्या० ।

(२) पारमार्थिकमित्यत्र 'स्वरूपम्'—इति शेषः ।

(३) इति पूर्वपक्षिणाः शङ्कासमृद्धा 'भावानवबोधत्वात्' इत्यन्तं सिद्धान्वाह्येत्यर्थः
वस्तुतस्तु अत्र 'इत्याह'—इत्येव पाठ उचितः, पूर्वपक्षस्यैव प्रथममुपस्थितत्वात्, अतो न
किञ्चित्कल्पनं दोषः, पाठान्तरं तु लेखकप्रमादात् ।

मू० "सत्तामसतीमभ्युपगच्छतापि सत्ता मयाऽभ्युपगतैव,
अन्यथा कासात्रसतीति(१)। 'त्वमपि किं सत्तां तत्स-
त्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि नत्वेवं(२), पूर्वव-
त्कापिसत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं
स्यात् । " असत्त्वाविशेषात् कारणनियमः कथं
स्यात्* ?-इति चेन्न, 'सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात् ।
' सत्त्वेऽस्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं, तस्य, तज्जाती-
यस्य वा, त्वत्पक्षे त्वसत्त्वाऽविशेषाद्वातिरेकः, परं
सोप्यनियतः, यदा कारणाऽभावस्तदा कार्यभा-
वावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्याऽसतः कारण-
स्याऽसत्त्वे एव कदाचित्कार्यो(३)त्पादात्, अन्व-
यस्तु न क्वचिदपि* ?-इति चेत् 'न, तुल्यत्वात् ।

टी० भावमाविष्करोति-। "सत्तामि"ति । न वयमसतीमपि सत्तां
नाभ्युपेमः, किन्तुर्हिः सती(१)म्, अन्यथा किमुद्दिश्याऽसत्त्वमपि मया विधे-
यमित्यर्थः ॥ त्वयापि या सत्ता कारणत्वेनाभ्युपेयते सा स्वान्तर्भविष्येव
कारणत्वं वाच्यम्, स्वविशिष्टा च सा त्वन्मतेऽप्यसत्त्वेव, यदि च(२)-वा-
त्मानं तटस्थीकृत्य सा सत्ता कारणत्वं तदा तया सतया तटस्थया कार-

(१) केषुचित्पुस्तकेषु 'इति'-शब्दो न दृश्यते ।

(२) विद्यासागरोक्त्याख्यानाः नुरोधेन नत्वेवमित्येतत्त्वाने 'नत्वेवम्'-इति
पाठः, यत्सर्वं व्याचष्टुः "अङ्गीकरोति सद्वादी नन्विति"-इति । प्रकृतशब्दाख्या-
नुरोधेन तु नत्वेवमित्यन्तेऽपि मयन्येयजनासौकर्यार्थं 'तथा सति'-इति शेषः पुरखीयः

(३) यद्यपि कार्योत्पादकालेपि कार्यस्य परमार्थतोऽसत्त्वमेवेति व्यतिरेकोऽ-
बाधितस्तथाप्यभिप्रायमविदुः शङ्का ज्ञातव्या ।

(४) 'किं तर्हि ? सताम्'-इत्यत्रापि 'नाभ्युपेमः'-इति सम्बन्धनीयम् ।

(५) तटस्थीभूतसत्ताया अपि सद्भावहारप्रयोजकत्वमङ्गीकृत्याह-यदिदमेति ॥
"सत्तैव तु नसती"ति, कारणत्वात्मिका सत्तैव तु न तटस्थीभूतसत्तान्तरव्रतीत्यर्थः ।
कारणता सतो निर्वहेदित्यत्र केचित् 'कारणता समती निर्वहेति'ति पदं किन्दन्ति ।
तच्च "नवा स्वस्य तटस्थीकारणे कारणत्वं सत्त्वं निर्वहेत्"-इत्यव्यभिहितोत्तरण्येन
यान्त्वन्वापातादिति ।

यता सती निर्वहेत्, सतैव तु न सती, तस्याः सत्तान्तराभावात्, भावे वा पुनरपर्यवसानं स्यात्, नवा स्वस्य तटस्थीकरणे कारणत्वं सत्त्वमिति निर्वहेदित्याह-।^b “स्वमयी”ति ॥ ननु यद्व्यसत्कारणं तदेवं कारणमिदमकारणमिति किञ्चिन्नो नियमः? इत्याह-।^c “असत्त्वि”ति ॥ स्वन्मतेऽपि कारणाऽकारणविभागेऽनुपपन्नः, सत्त्वाऽविशेषादित्याह-।^d “सत्त्वे”ति ॥ ननु सतः कारणत्वे दण्डजातीये सति घटः, व्यतिरेके च तस्य घटजाः तीयस्य व्यतिरेकः,-इत्यन्वयव्यतिरेकौ कारणतायाहकौ सम्भवतः, नामतः कारणत्वे ताविति शङ्कते-। “सत्त्वे” इति ॥ यथा सतोऽन्वयव्यतिरेकौ तथैवासतोऽपि, परन्तु निरुप्यमाली ता(१)व्यसन्नौ पर्यवस्यतः,-इत्यन्वयदेतदित्याह-।^f “न तुल्यत्वादि”ति ॥

सू०^a अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताप्यन्वयोपगमात् ।
^bअन्वयस्यापि(२)सत्तान्तभावने कथितदोषापत्तेः ।
 एतेन “आशामोदकतृप्ता ये, ये चोपार्जितमोदकाः ।
 रसवीर्यविपाकादि, तुल्यं तेषां प्रसज्यते”-इत्यस्या-
 पि बाधकत्वमाशामोदकायते, ^cसत्तान्तर्भावाऽनन्त-
 र्भावाभ्यां प्रत्यादेशात्, आशामोदकादिनापि च
 रसवीर्यविपाकादिजननात् । * तदसत्कथं कार्य्य
 स्यात् *?-इति चेन्न,^fसत्तामन्तर्भाव्य कार्य्यत्वोपगमे
 कारणवत्कार्य्येऽपि उक्तदोषस्य, अनन्तर्भावे वाऽविशे-
 षस्य, पूर्ववदावृत्तेः ।

टी० किञ्च । ‘असतोऽन्वयो नास्ति’-इति वदता त्वयोऽन्वयो निषे-
 धत्वेनाप्यभ्युपगम्यते एवेत्याह-।^a “अन्वय”इति ॥ ननु तथापि सत्त्व-
 यो नास्ति, स च प्रयोजकः? इत्यत आह-।^b “अन्वयस्यापी”ति । अन्त-
 र्भावितसतश्चेदन्वयो न स संस्ततः । नान्तर्भावितसतश्चेदन्वयो न स
 संस्ततः”-इति दोषापत्तेरित्यर्थः ॥ ननु यद्व्यसत्कारणं तदा भोजनेऽभोजने

(१) तावदि = सतोऽप्यन्वयव्यतिरेकावित्यर्थः ।

(२) अन्वयस्यापि कुत्रो वताववेक्षणे इत्यर्थः ।

च रसवीर्यादितौल्यं स्यादित्यत आह—। “एतेने”ति । आशा=प्रत्याशा, मनोरथ इति यावत् । उपार्जनं=भक्षणम् । रसः=आद्यो धातुः । वीर्यं=बलं, चरमधातुः । विपाकः=परिणामः लौहित्यामिति यावत् । ‘रसो(१) मधुरादि, रित्यादि व्याख्यानमयुक्तं, तस्य भोजनाऽजन्यत्वात् । आदिपदादिन्द्रियपाटवादियहणम् ॥ एतेनेत्यस्याऽतिदेश्यमाह । “सत्ते”-ति । सतः कारणात्मभिन्नेत्य बाधेयं भवताभिधीयते, तच्चा(२)न्तर्भावित-मत्त्वं चेदित्यादिना पूर्वमेव निरस्तमित्यर्थः ॥ भोजनाऽभोजनयोस्तुल्यत्वा-पादनमिष्टापत्या निरस्यति—। “आशामोदके”ति । भोजनेष्वसन् रसा-द्विभोजनेपि तथेति तौल्यमेवेत्यर्थः ॥ “सत्तामि”ति । अन्तर्भावित-मत्त्वं चेत्कार्यं स्यात्तदसत्ततः । नान्तर्भावितमत्त्वं चेत्कार्यं स्यात्तदसत्त-तः”—इति दोषापत्तेरित्यर्थः । दृष्टं च गुञ्जापुञ्जस्थले अमता हुताशनेना-ऽसतः शीतापनोदस्योत्पत्तिर्वानराणाम्, अमत्यैव च मत्तकाशिन्या(३)सम्भो-गमुखमसदेषु स्वप्ने सुप्तानामिति भावः । यद्वा, ननु प्रागसतः सत्त्वंकार्य-त्वम्, इति कार्यसत्तावश्यमङ्गीकार्येत्यत आह—। “सत्तामि”ति । यथा नियतपूर्वमत्त्वं कारणात्मिन्यत्राऽसती सत्ताऽभ्युपगता, तथा कार्यसत्ता-मप्यसतीमङ्गीकृत्यैतन्नया समाधेयमित्यर्थः ॥

सू० “तस्मात्

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्यएव नौ (४) ।

हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वाऽसत्त्वकथा वृथा ॥ ५ ॥

* ६ आस्तां प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहः (५), कथं पुनरसतः

(१) विद्यासागराद्युक्तं व्याख्यानमादिपति-रसोमधुरादिरिति ।

(२) तच्च = सतः कारणात् च ।

(३) मत्तकाशिनो = उत्तमस्त्रो, “वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्षिणी”—इति कोशात् ।

(४) नौ = आधेयः सदसद्वादिनोः, हेतुत्वे कार्याऽध्वचदितपूर्वक्षणसम्बन्धनियमे तुल्ये मति ‘सतः कारणात्, नासतः’-इति हेतुत्वाऽनुपयोगिना सत्त्वाऽसत्त्वाध्वना वृथात्वार्थः ।

(५) प्रतिबन्दिग्रहे = प्रतिबन्दिग्रहणे, प्रकर्ता य आग्रहः स आस्तामित्यर्थः । क्वचित्तु ‘प्रतिबन्दिग्रहणः’ इति पःठस्तत्राप्यध्वमेवार्थः ।

कारणत्वमवसेयम् प्राक्सत्त्वनियमस्य विशेषस्यानभ्युप-
गमात्, असत्त्वस्य चाऽविशेषात् *?—इति चेन्न “इदम-
स्मान्नियतप्राक्सद्भि”ति बुद्ध्या विशेषात् । * भ्रान्तै(?)
बुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्गः * ?—इति चेन्न,

टी० न सत्कारणं, नाप्यसत्कारणं, किन्तु नियतपूर्ववर्ति कारणं, तत्र
यथा सत्, तथा असदपि, इति सदेव कारणमिति त्वत्कथावत् असदेव कार-
णमिति मत्कथाव्याऽऽपाततो वृथा, विचारस्तु करिष्यते इत्युपसंहरति—
“तस्मादि”ति ॥ ननु, असत्त्वाविशेषात्कारणनियमः कथं स्यात्?,—इति
प्रदुक्ते ‘सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात्’—इति तु त्वया प्रतिबन्धिः कृत्वा, प्रति-
बन्धित्वं न दूषणम्, इत्यसतः कारणत्व प्रमापकाभावादनुपपन्नमेवेति
शङ्कते—। “आस्तामि”ति । यद्वा “पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्यएव
नै”—इति साम्यमात्रं त्वयोक्तम्, तत्रानुपपन्नं, सत्त्वासत्त्वपक्षे याहक(?)स-
त्त्वाऽसत्त्वाभ्यां विशेषादिति शङ्कते—। “आस्तामि”ति । प्राचि काले सत्त्वं
कारणत्वं याह्यं, तदस्मन्मतेस्मि, त्वन्मते तु सर्वदैवासत्त्वम्, इति प्राचि
काले सत्त्वं याह्यं नास्त्येव किं एह्येतेत्यर्थः ॥ याह्यानुपपत्त्या याहकाऽ-
नुपपत्तिर्न भवत्यसत्यपि दण्डादौ घटप्राक्सत्त्वबुद्धिसम्भवात्, शुक्लो रज-
तत्वबुद्धिवत्, सा बुद्धिर्देण्डवक्रादावेव न तु रासभादावपि, येन तत्रापि
घटकारणत्वं व्यवह्रियेतेति परिहरति—। “ने”ति ॥ रासभादावपि कदा-
चिदेवंबुद्धिपम्भवाच्चि भ्रान्तिहेतवोपि केनचिच्चियम्यन्ते इति तस्यापि घट-
कारणत्वतद्गुणहारयोः प्रसङ्ग इत्याह—। “भ्रान्तैवमि”ति ॥

सू० “यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवबोधविभ्रा-
न्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य

(१) भ्रान्तस्य ‘रासभः’ घटनियतपूर्ववृत्तिः—इत्येवंभूतबुद्धिगोचरे रासभादौ
कारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

(२) याहकौ=कारणतायाहकावशयव्यतिरेकौ, तत्सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामित्यर्थः,
सत्त्वपक्षे याहकयोरवशयव्यतिरेकयोः सत्त्व, नाऽसत्त्वपक्षे इति विभागः ।

अत्रापि कारणतानिश्चयः (१), ^२ केवलं ततः परास्वपि कक्षासु बाधापूर्वभ्रान्तिस्सम्भवेन न तावता सस्वाधधारणं वयं मन्थामहे-इति विशेषः, 'परदर्शनसिद्धान्तस्य भूरिकक्षाधाविनेऽपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेनाऽतथाभावोपगमात् ।' अन्यथैकदर्शनपरिशेषः स्यात् ।

टी० कारणाकारणयोरैवंबुद्धिसम्भवेऽपि कारणे कर्तव्ये बाधानस्य तारोऽकारणे तु कर्तव्येऽत्र बाधस्यतारः, इत्यवतीर्णबाधाऽनवतीर्णबाधबुद्धिक्रमो विशेष इत्याह-। ^३ "यादृश्ये"ति ॥ ननु यद्यनवतीर्णबाधया धिया प्राक्सत्त्वं विषयीकृतं, तदा तत्पारमार्थिकमभ्युपगन्तव्यं त्वयैवेत्यत आह-। ^४ 'केवलमि'ति । आपाततोऽबाधविशेषमात्रमात्रमहे, पर्यन्ततः (५) तत्रापि बाधाऽवतार एवेति न वस्तुतत्त्वस्थितिरिति भावः । यद्यपि क्रमेणापि बाधितया धियाऽबाधितया वा बाधः ? । आद्ये न (६) कतिः, अन्त्ये तदबाधो वस्तुतत्त्वाधीन एव त्वया वाच्य इति मिदु वस्तुतत्त्वम् । * न च तत्रा(७)प्यबाधितबुद्धिविषयत्वमेव शरणं *, तत्राप्येतद्विकल्पाऽवतारात् । किञ्चाऽन्यथात्वबोधन बाधः ? अन्यथात्वप्रमापणं वा ? आद्ये बाध्यापि (८) बुद्धिर्बाधिका स्यात्, अन्त्ये तत्र एव वस्तुव्यवस्थितिः, तथापि सर्वोऽयं विशेषो बुद्धिक्रमो न वस्तुकृत इति भावः ॥ नन्वापाततश्चेदबाधस्तदा तावतात्र क्रमिकबाधाऽभावेऽप्युच्यते (९) इत्यत आह-। "परदर्शने"ति ।

(१) 'असति दृष्टादौ' इति शेषः ।

(२) पर्यन्ततः=अन्ततो गत्या, तत्त्वज्ञाने मनोति यावत् । तत्रापि=आपाततोऽबाधितबुद्धिविषयेऽपि । बाधावतार इत्यत्र क्रमेण इति शेषः ।

(३) न कतिः, बाधिकाया धियो बाधे प्रपञ्चेऽबाध्यत्वस्यैव विषयमात् ।

(४) तत्रापि=अबाधितबुद्ध्यावधि, द्वित्रिचतुरकक्षास्यबाधितबुद्धिगोचरत्वान्न-यमेवाऽबाधितत्वं, पर्यन्ततस्तत्रापि बाध एवेत्यर्थः ।

(५) बाध्यापि 'इदं रजतम्'-इत्याकारिका बुद्धिः शुक्तिज्ञानस्य बाधिका स्यात् अन्यथात्वबोधनस्य तत्र सत्त्वादित्यर्थः ।

(६) उच्यते=अनुमास्यते, तत्राह-उत्पत्तोरुद्धिविषया घटादयोऽबाध्याः, विषयत्वात्, द्वित्रिचतुरकक्षाऽबाधितबुद्धिविषयघटादिवदिति ।

शब्दनित्यत्वे मीमांसकाभिमतं नैयायिकस्य त्रिचतुरकताबाधाऽनुवृत्तारूपि
 क्तवाध्यत्वस्वीकार इत्यर्थः, तथाच-यथा कतिपयकतायां बाधविरहाऽ-
 धीनेभ्युपगमेऽभ्युपगम्यमानो वाच्यः सिद्धान्त^(१)स्तथा कारकत्वाऽकारक-
 त्वव्यवस्थितिरपि तावतैव ^(२), नतु सर्वप्रकाराऽबाध्यतयेति भावः ॥ ननु
 तथैव ^(३) किं न स्यादित्यत आह-। ^d “अन्ये”ति । सर्वप्रकाराऽबाध्यत्व
 निबन्धनशक्तिस्सिद्धान्तस्तदैक एव सिद्धान्तो भवेत् सर्वेषां दर्शनानामिति
 सिद्धान्तभेदकृता दर्शनभेदापि न स्यादित्यर्थः । यदा त्रिचतुरकताबाधवै-
 धुर्यमात्राद्यदि पारमार्थिकत्वं मनुषे, तदा सर्वदर्शनसिद्धान्तः पारमार्थिक
 एवेति पारमार्थिकत्वाऽपारमार्थिकत्ववैमत्यनिबन्धनो दर्शनभेदो न भवे-
 दित्यर्थः । *ननु सर्वबाध्यत्वेऽपि दर्शनभेदोऽनुपपद्यते*? मैवम्, मद्दर्श-
 नस्याऽबाध्यत्वात्. तथाच-वक्ष्यामः ^(४) “तत्त्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भू-
 त्वे”तीति भावः ॥

मू० “एतेन ‘असत्त्वाविशेषेऽपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिच-
 तुरकत्वाभावित्वाऽभावित्वमास्ताम्’-इत्यपि निर-
 स्तम् । ^b *अनेवंबुद्धिविषयतादशायां को विशेषः*?-
 इति चेत्, ‘यदाकदापि तादृशबुद्धिविषयतैव ।

टी० ननु रासभे घटपाकसत्त्वज्ञानबुद्धेऽपि चेत्सद्वाध्यमेष तदा
 त्रिचतुरकताबाधितत्वाऽबाधितत्वलक्षणयोपि विशेषो न भवत्येवेत्यत
 आह-। “एतेने”ति । शुक्तौ रजनत्वज्ञानस्य, शब्दे नित्यत्वज्ञानस्य
 च, बाध्यत्वाऽविशेषेऽपि त्वयाप्येतादृशस्यार्थनियमस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः ।
 यदा परकीयसर्वसिद्धान्तानां बाध्यत्वे बहुकताभावित्वाऽभावित्वविशेषः
 किं निबन्धनः? इत्यत आह-। “एतेने”ति । परसिद्धान्तम्यले रजनज्ञाने
 च त्वयाप्येतादृशस्य विशेषस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः ॥ ननु कारणाऽकारणयोः

- (१) सिद्धान्त इत्यत्र मीमांसकस्येति शेषः ।
- (२) तावतैव = त्रिचतुरकतास्वबाध्यतयेव ।
- (३) तथैव = सर्वप्रकाराऽबाध्यतयेव सिद्धान्त किं न स्यादित्यर्थः ।
- (४) बहिर्दृशतितमकारिकायां वक्ष्याम इत्यर्थः ।

कार्यवाककालनस्वाप्तत्वे यदि न वस्तुनी, किंतु बुद्धिमात्रकृते, तदा तादृशबुद्ध्यभावकाले कारणस्याऽकारणाद्विशेषो न भवेदित्याशङ्कने-। “अनेत्रमि”ति ॥ इदमस्माच्चियतप्राक्सदिति बहुकलाधाविनियतबुद्धिविषयत्वाऽन्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमेवाऽकारणात्कारणस्य विशेष इति परिहरति-। “यत्राकदापी”ति । यद्यपि यन्वकस्यचिद्रासभेपि तादृशबुद्धिविषयत्वमिति सोप्येवं कारणं स्यात्, कारणेपि च कस्यचित्त्वयमबुद्ध्यैव कारणत्वव्यवहारो, नाऽनेककलाधाविधिया, अन्यस्याऽनेककलाधाविबुद्धिविषयत्वसत्त्वेप्यन्यस्य तदज्ञानात्कारणत्वव्यवहारो न स्यादितिकारणत्वं वस्तु स्वीकर्तुं पठति, तथापि तादृशी^(१) बुद्धिः तद्व्यवस्थापिकेति तत्रापि दुर्घटमिति हृदयम् ॥

सू० “अन्यथा कथय कथम् अन्यदातननादृशबुद्धि विषयतयाऽन्यदा सत्त्वं स्यात् । ‘तदा सत्त्वमन्यदास्थे न गृह्यते’-इति चेत्, अन्यकालिकमेव तर्हि तत्तदातनकारणत्वापयोगीति समानम् । ‘तदेतत्संवृत्तिसत्त्वः’मिति गीयते । असनी सा न विशेषिका, सती सा नेष्टा, -इत्यभिसन्धानेन संवृत्तिरपि सती नैवेति पृच्छन्^(२) प्रतिवक्तव्यः, ‘विज्ञानं तावद्व्यवहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतं, तस्यापि जिज्ञासायां त्रिचतुरकलाविश्रान्तगवेषणस्य यदि सत्तोपपन्ना भविष्यति तदा सता ‘तेनेदमुपपादितं भविष्यति,

(१) तादृशी बुद्धिः = इदमस्माच्चियतप्राक्सदित्वेवंभूता बुद्धिः, तद्व्यवस्थापिका = सति दशदादा कारणत्वव्यवस्थापिका, - इति तत्रापि दुर्घटमित्यर्थः ।

(२) संवृत्तिसत्त्वमिति संवृत्तिरित्या, असत्यकाशनशक्तिरिति यावत्; तथा च संवृत्तिसत्त्वमित्यस्याः सत्त्वमिति पर्यवसित्यर्थः ।

(३) ‘पृच्छन् - इत्यस्य यथाकथञ्चित् प्रतिचिपचित्यर्थः, कतिपयपुस्तके तु ‘सती-नेव’-इत्यस्य स्थाने ‘सती न वा’-इति पाठः, तत्र तु पृच्छचित्तस्य यथापुत यत्रार्थः ।

टी० “अन्यथे”ति । यद्वाकदाचित्तादृशबुद्धेरतन्मध्ये तदापि ता-
दृशबुद्धिविरहदशायां प्राक्सत्त्वस्य वस्तुनः कथं सिद्धिरित्यर्थः ॥ तादृश-
बुद्ध्याभावदशायामपि कारणत्वमन्यदास्येन तादृशबुद्धिविशेषेण गृह्यते इति
शङ्कते--। “तदा सत्त्वमि”ति ॥ यथाऽन्यकालीन तादृशज्ञानमन्यकाली-
नमपि कारणत्वं व्यवस्थापयति तथाऽन्यकालीनमपि तादृशबुद्धिविषयत्व-
मन्यकालोनस्यापि कारणत्वं भविष्यतीति परिहरति-। “अन्यकालिकमे-
वे”ति ॥ ननु तत्रैवेयं कल्पनेत्यत आह-। “तदेतद्वि”ति । संवृतिस्ताव-
त्सती, तथा स्वकीयेन सत्त्वेन स्वविषयस्याऽमत्त्वं संद्वियते इति संवृति-
सत्त्वं परेपि मेतिरे, यद्वाहुः-“पररूपं स्वरूपेण यथा संद्वियते धिये”ति
भावः ॥ “इदमस्माद्वियतप्राक्मदिति बुद्ध्या विशेषात्”-इत्युक्तं, तत्राऽ-
सती बुद्धिर्न विशेषिका, सती च नेष्टा, द्वेतापत्तेरिति वस्तुतत्त्वमेवाङ्गी-
क्रियतां किं संवृतिरुत्त्वेनेत्यत आह-। “असती”ति ॥ प्रतिवचनमाह-।
“विज्ञानमि”ति । यद्यपि विज्ञानमपि विषयाङ्कितमतस्तदभ्युपगमे एव-
विषयाऽभ्युपगमः, निर्विषयव्य विज्ञानस्याऽभावाद्यवहारानुपपादकत्वाच्च;
तथाच-अवधारणाऽनुरोधश्चेत्तदा ज्ञानविषययोस्तुल्ययोगक्षेपत्वमेव तथापि
व्यवहारानुरोधोपि मया त्यक्तते एवेति हृदयम् ॥ “तेने”ति । विज्ञाने-
नेत्यर्थः ॥

मू० अथाऽसत्ता तस्य पर्यवसास्यति तदाऽसतैव तेनेद-
मुपपाद्यते-इति स्वीकर्त्तव्यम्, “अमविषयेणेव अमे
विशिष्टताव्यवहारः । अविचार्यैव तावत् तस्य स-
दसत्त्वं विचार आरब्धव्यः । अन्यथा प्रथममेव म-
तिकर्द्दमे (१) कथाऽऽरम्भणमशक्यमापद्येन, “स्वीकृतं
च भवतापि भविष्यदादिविषये विज्ञाने विशिष्टव्य-

(१) मतिकर्द्दमे=विचारोपि विचारस्तत्रापि विचार इत्यनवस्थानात् मतिकार-
ण्ये इति, पङ्कमन्महत्स्यादिवत्तते। द्रुतं निर्गमनाद्यभवात्कारण्ये इति न स्वादित्यर्थः।

वहारनिदानत्वमसतो विषयस्य, 'कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्यम् ।

टी० १-“भ्रमे”ति । यथाऽमदेव रजतं स्वविषयं ज्ञानं विशेषयति-
रजतीयं ज्ञानम्” इति, तथा बुद्धिरप्यमती विषयं विशेषयति-“इदमस्मा-
द्वियनप्राकृतम्” इति बुद्धिविषयत्वमेव कारणत्वमित्यर्थः । यद्यपि भ्रम
विषयोपि सत्त्वे(१) तथा च न दृष्टान्तः, तथाप्यसत्त्वात्प्रायेणैतत्
द्रष्टव्यम् ॥ १-“तस्य”ति । ज्ञानस्येत्यर्थः । यद्यपि विषयाऽसत्त्वं चेत्तदा
ज्ञानमत्तासन्देहस्थितः(२) अपि न विचारप्रयोजनं, तथापि ज्ञानसत्तास-
न्देहाऽऽवर्जितो विषयनत्तासन्देहोऽस्त्येवेति न विचारवैयर्थ्यामिति भावः ॥
“अन्यथे”ति । यदि प्रथममेव ज्ञानसदसत्त्वं विचारणीयमित्यर्थः । यद्यपि
तथाऽयं मतिकर्तव्यः, न तु ममापि, ज्ञानविषययोर्द्वयोरपि सत्त्वेनैवाभ्युप-
गमात्, न वा त्वया सह कथारम्भलमुद्देश्यमपि, तथापीयमेव कथा तद्य-
मिति न स्यादिति हृदयम् ॥ भवतु वेदानामेव संवृत्तेरसत्त्वपरिच्छेदः-
निर्धार्य तस्या वि.यविशेषकत्वं स्यादेव, भवति हीदानीमसत्त्वेनैव परि-
च्छेदेन भाविना पुत्रेण ‘मम पुत्रो भविष्यति’ इति ज्ञानस्वेदानोत्तनस्य
वशिष्टत्वव्यवहार इत्याह- “स्वीकृतं चे”ति ॥ असदन्तरस्य विशिष्ट-
ताव्यवहारहेतुत्वमुदाहरति- । “कारणशक्तेर”ति । कारणशक्तिः=कार-
णत्व(३) तच्च सदेव कार्यं विशेषयति, भवति हि ‘घटकारणं दण्डः’-इति
विशिष्टव्यवहार इत्यर्थः ॥

(१) सत्त्वात्प्रायेणैतदिति ।

(२) ज्ञानमत्तासन्देहस्थो=ज्ञानमत्तासन्देहनिवृत्त्यर्थं विचारेऽक्रियमाणे, विषय-
स्यासत्त्वे विषयमिच्छितकाले विचारप्रयोजनं न, तथापि परमार्थेनाऽसत्त्वेऽपि विषयस्य
ज्ञानमत्तासन्देहावर्जितं=ज्ञानमत्तासन्देहाधीना विषयमत्तासन्देहोऽस्त्येवेति तत्रान्वय-
र्थत्वाद्बुद्धारस्य न वैयर्थ्यामित्यर्थः ।

(३) न्यायनयेऽतिरिक्तव्यवहारात् “कारणशक्तिः=कारणत्वम्”-इत्युक्तम् । “त-
स्ये”ति । तदिति द्वितीयेकवचनम् ।

मू० * 'नश्च कालान्तरसम्बन्धिनी सप्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र
नाऽन्यदापि,—इति वैधर्म्यमेतयो(१)रपीति वक्तव्यम् ।
'विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये 'द्वयोरप्यसत्त्वाऽविशेष-
षात् । प्रयोजनाऽनुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं
पाटञ्चर(२)लुण्ठितं वेद्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनु
हरति । * "तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरू-
पतो (३) विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद्विज्ञानेन 'स्वभाव-
बलात् स्वविशेषणत्वेनोपादीयते, नत्वेवमत्यन्ताऽस-
ङ्गवितुमर्हति, तस्य 'स्वरूपतो विशेषणतश्च व्यवच्छि-
न्नतयाऽनङ्गीकारात्; 'कुत्र(४)स्वभावतो विज्ञानं सम्ब-
न्धि निरूप्येत* । न, 'उक्तमत्राऽसतोपि हि तदेव स्वरू-
पं, तस्य नियतस्वरूपस्यैव नियतविशेषणस्यैवासत्त्वात्,
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

टी० ननु भविष्यदादेः कार्यस्य स्वकाले सत्त्वमस्त्येव अतस्तयोर्वि-
शेषणत्वमुचितं, ज्ञानविषययोस्तु मार्वादिकममत्त्वमिति नाऽन्योन्यं विशेष-
णविशेष्यभाव इत्याशङ्काह—। "नचे"ति ॥ अपत्ताविशिष्टताव्यवहारस्त्य-
याऽभ्युपगम्यते एव, तावतैव सिद्धं नः समीहितमित्याह—। "विशिष्ट"ति ॥
"द्वयोरि"ति । भविष्यदादिकार्ययो (५)रित्यर्थः ॥ ननु यस्याऽऽत्यन्तिकम-
सत्त्वं तस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा न स्वीकुर्मः, भविष्यत्पुत्रादेः कार्यस्य
च नात्यन्तिकमसत्त्वं, स्वकाले तयोः सत्त्वादित्याह— । "तथापी"ति ॥

(१) एतयोः=दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

(२) पाटञ्चरं=चौराणां, वेधमन्यग्रहृतसर्वस्ये सति पूर्वापरकालयोर्धामिकस्य=
यामरसकस्य, जागरणमिन्द्रियकृत्यायेव यद्वृत्तद्वृत्कार्यकालात्पूर्वापरकालयोः स्वरूपतो
ऽवस्थानमनुपयुक्तमित्यर्थः ।

(३) स्वरूपतः=पृथुसुधीदरत्वादेः, विशेषणतः=घटत्वादेरित्यर्थः ।

(४) 'कुत्र' इति पाठे तु केन स्वभावेनेत्यर्थः ० त्वयः ।

(५) भविष्यत्पुत्रादर्थघटादिकार्ययोरित्यर्थः ।

‘स्वभावज्ञतादि’ति । भविष्यदाद्याऽऽलम्बनमपि ज्ञानं शब्दलिङ्गमहिम्ना
जायते इति तादृशो विशेषस्तद्विशिष्टत्वेत्यर्थः ॥ ^१ “स्वरूपत” इति ।
विषयस्वरूपमपि स्वन्मतेऽत्यन्ताऽसद्विशेषणं, संवृतिरप्यत्यन्ताऽसतीत्यर्थः ॥
उपसंहरति—^२ “कुत्रे”ति । स्वभावतोपि ज्ञानमत्यन्तासद्विषयमस्त्वन्धि कथं
भवेत्, तथाच स्वन्मतेऽत्यन्ताऽमतोर्ज्ञानविषययोर्न सर्वथा विशेषणविशे-
ष्यभावा इति भावः ॥ ^३ “उक्तमत्रे”ति । “नत्वसन् घटो न घटः” इत्या-
दिनेत्यर्थः । यथा कम्बुपीवादित्रिशिष्टो घटस्तथा सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते
तथैव मयाप्यसत्त्वेन, तादृशानङ्गीकारे तु स्यादतिप्रसङ्ग (१) इत्यर्थः ॥
मू० “भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन (२) ।

टी ० नूनकम्—‘अत्यन्तासतो न विशेषणत्व’मत आह—^३ “भ्रान्ती”-
ति । यद्यपि घटज्ञानादीनामसत्त्वं न तावदभावप्रतियोगित्वम्, इष्टत्वात् (१);
नापि केशना (२) न्वप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, स्वममवार्थिनि स्वज्ञाने च
सत्त्वात्; नापि सत्तामामान्यरहितत्वं, सत्तावत्तैव प्रतीयमानत्वात्;
नापि विधिनिषेधव्यवहागाऽभःजनत्वं, तदुभयभाजनत्वेन त्वयाऽभ्युपग-
मात्; अन्यथा व्याघातात्; नापि ब्रह्मभित्तत्वं, इष्टत्वात्; नाप्यभावत्वं,
विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वात्; नापि मिथ्यात्वं, तदाश्रयामाणिकत्वं, तदा
प्रमाणविषयत्वव्यवस्थापनयैव निरस्य; नापि (३) मिथ्यापदाभिधेयत्वम्,

(१) अतिप्रसङ्गः—घटसत्त्वस्याप्यभावप्रसङ्गः, यद्वा, ‘असन्, घटो न’ इत्यस्य, अ-
भावप्रसङ्गः, अनीकप्रतियोगिकनिषेधाऽयोगात् ।

{ (२) तदेवं शून्यतावादिमतमाश्रित्य दर्शितम् ।
मानमेव दिभावानामसत्त्वं व्यक्तमुक्तिभिः ॥ २ ॥
इदानीं ज्ञानभिरानामसत्त्वं सम्यगुच्यते ।
योगाचारोक्तरीत्यह चित्तव्यवहारसंविदः ॥ ३ ॥ }

(३) ध्वंसप्रागभावादिप्रतियोगित्वस्य नैयायिकानां प्रसङ्गे इष्टं वादित्यर्थः ।

(४) केशनाख्यत्यन्ताभावः—सार्धत्रिकः सार्धदिकोत्यन्ताभावः, तत्प्रतियो-
गित्वमित्यर्थः ।

(५) कृषित्युक्तके ‘नापि’—इति न वृत्तयते तदनुरोधेन ‘यदि स्वतो मिथ्यापदा-
भिधेयत्वम्’—इत्यन्वयः; यथादृष्टपाठे तु यदित्यतः प्राक् तच्छब्दमध्याहृत्य तदादि
स्वतः—इति अन्ययोः कर्तव्या ।

यदि स्वतः^(१), तदा स्वसङ्केतेन ब्रह्मण्यपि गतत्वात्; यदीश्वरसङ्केतेन, तदा न घटादावपीति; * बाध्यत्वमपत्वम् * ?-इति चेन्न, बाध्यत्वस्य बाध्यत्वाऽबाध्यत्वाभ्यामनुपपत्तेः^(२); बाध्यस्य च विपरीतप्रमात्वेन घटादिनिरूपितविपरीत्यस्य सिद्धौ, घटादिसिद्धेः^(३); तदसिद्धौ, बाधाऽसिद्धेः^(४); * विचारसहत्वम् * ?-इति चेन्न, विचारस्य निर्विषयत्वेन दुर्विचारत्वात्; सविषयत्वेऽपि, विषयसिद्धेः; * विचारविषयः सिद्ध एव किंत्वसन् * ?-इति चेन्न, असत्त्वस्यैव विचार्यमाणत्वात्; * व्यावहारिकत्वमेवासत्त्वम् * ?-इति चेत्, तद्वदि ज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वं, तद्रेषापत्तिः, ब्रह्मणोऽप्येतादृशस्यासत्त्वस्यत्वयैष्यमाणत्वात्; अथ व्यवहारोऽभिज्ञानरूपस्तद्विषयत्वं, तदा सुतरामिष्टं, ब्रह्मसाधारणं च; * अनिर्वचनीयत्वम् * ?-इति चेत्, अनिर्वचनीयतयैव निर्वचनीयत्वात्; घटत्वादिना निर्वचनात्, निर्वचनीयत्वस्य केवलान्वयित्वेन तदभावासिद्धेः; * सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्व्यवस्थापनम् * ?-इति चेत्, घटादिसत्त्वाभ्यां^(५) मपि व्यवस्थितत्वात्, घटादेस्सत्त्वापत्त्येव तद्विषयगमात्; किञ्च, असत्तया चेद्व्यवहारार्थक्रिययोर्यथाऽस्मद्भ्युपगतयोरुपपत्तस्तदा सत्तेषु त्वयाऽसत्तेष्वभिधीयते, तथाच नान्वि परं विवादः; तथापि^(६) सत्त्वेनापाततो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वमसत्त्वमिति भावः ॥

मू० 'अपरे^(७)पुनश्चेतसोऽपि शून्यताङ्गीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः 'सर्वमिदमसदेव विश्वम्, -इत्यभिधानुं सहसैवानुत्सहमानाः मन्यन्ते-विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं, 'स्वत एव सिद्धस्वरूपं, 'न खलु विज्ञाने सति

(१) स्वतः स्वसङ्केतेनैत्यर्थः ।

(२) बाध्यत्वस्य बाध्यत्वे ऽबाध्यत्वमेव जगता व्यवतिष्ठेत्, अबाध्यत्वे तु तत् एव द्वैतापन्यासितिरित्युभयथाप्यनुपपत्तेरित्यर्थः ।

(३) प्रतिबोधविधया घटादिसिद्धेरित्यर्थः ।

(४) 'तदसिद्धेः', इत्यपि क्वचित्पाठस्तत्रापि बाधासिद्धे रित्येवार्थः ।

(५) उभाभ्यां = सत्त्वाऽसत्त्वाभ्याम् ।

(६) तथापीत्यस्य विप्रकृष्टेन "भान्तो" तिप्रतीकापिमेण यद्विषयच्छेनाऽन्वयः ।

(७) यथापि स्वमतमेवैतत्प्रवृत्तात् पर्यवसास्यति तथापि योगाकारमतसाधारण्येनाऽभिधानात् 'अपरे तु'-इत्युक्तम् ।

जिज्ञासो^(१)रपि कस्यचित् 'जानामि न वा'-इति संशयः, 'न जानामि'-इति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा^(२) वा, तेन जिज्ञासितस्याऽतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाणाम्भावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमानयति । अन्यथा^(३) हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरेकव्यापकं जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविघ्नतजिज्ञासस्य स्यात् । अतः सर्वजनस्वात्मसंवेदनसिद्धमेवास्य बोधस्य स्वरूपम् ।

टी० तदेवं माध्यमिकमतमाश्रित्य विश्वासत्त्वमुपपाद्य योगाचारमतमार्गान्त्व ज्ञानभित्तव्याऽसत्त्वमुपपादयितुमाह-। "अपरे पुनरि"ति ॥ "चेत्स" इति । ज्ञानस्य-अर्थः ॥ मनःप्रत्ययः=विश्वासः । अविश्वासे तु युक्तिः,-यदि शून्यत्वं जगतो वास्तवं, तदा क्व शून्यत्वं, शून्यत्वस्यैव धर्मस्य सत्त्वात्, अथ शून्यत्वमवास्तवं, तदा पूर्णत्व^(४)मेव । शून्यतायाश्च स्वत एव सिद्धिः?, परतो वा ? आद्ये स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपैव शून्यतेति; अन्ये शून्यतासाधकस्यैव सत्त्वाच्च शून्यता । किञ्च, किं तच्छून्यस्य धर्मः शून्यता ? प्रिया वा ? अनीकं वा ? अमट्टा ? अनिवचनीयं वा ? विचारासहं वा ? प्रपञ्चो वा ? बाधं वा ? तच्च सर्वमनुभवार्यैः क्रियाविरो-

(१) पथि गच्छतस्तृणादेः संध्या ज्ञानाभावेऽशयाभिज्ञानिते तृणदो सशया-
अभावे हेतुर्दृष्टः प्रमितत्वमसंख्यं साध्यं च नास्ति तद्वारण्याय 'जिज्ञासो' रित्युक्तम् ।

(२) योग्यानुपलब्धिजन्यमभावाद्यगाहिज्ञानं व्यतिरेकप्रमा, -न जानाम्येवेति । ननु विज्ञाने सत्यभावेऽप्रमावस्तु एव नास्ति किमिदमुच्यते "व्यतिरेकप्रमा ज्ञान काय-
ने"-इति, इति चेत्सत्यं, तथापि सतोऽप्रमितस्य जिज्ञासितस्य संशयवियोगान्यतरमाच-
रत्वं, जिज्ञासितस्याऽप्रमितस्य त्रयायामन्यतमविषयत्वमिति विप्रययैः ज्ञानोपलब्धि-
दोषः ।

(३) अन्यथा ज्ञानस्याऽप्रमितत्वे कदाचित्ज्ञानविषयक व्यतिरेकप्रमादिकर्मण्य-
स्यादित्याह-अन्यथेति, अन्यथा = ज्ञानस्याऽप्रमितत्व, अविघ्नतजिज्ञासस्य = जिज्ञासोः पु-
नरस्य, जिज्ञासितज्ञाननिष्ठप्रमितत्वस्य यो व्यतिरेकोऽभावस्तद्वापकं जिज्ञासितस्य व्य-
तिरेकोल्लेखि ज्ञानमपि कदाचित्स्यादित्यन्वयपूर्वकोशः । व्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमित्युप-
लक्षणं संशयवियोगैरपि ।

(४) पूर्णत्वं = सत्त्वम् ।

धादनुपपन्नमेव ॥ “स्वप्रकाशमि”ति । स्वस्य प्रकाशः=विषयीभावो यत्र तत्स्वप्रकाशं, स्वं वा प्रकाशो यस्य तत्स्वप्रकाशं, स्वस्मात् प्रकाशो यस्येति वा ॥ तदेव विवृणोति—“स्वतः एवे”ति ॥ स्वप्रकाशत्वं प्रमाणमाह—
“न खल्वि”ति । देवदत्तस्य घटज्ञानोत्पत्तिवर्णो घटज्ञानज्ञान^(१)वान्, जिज्ञासितघटज्ञानगोचरसंशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाऽनाधारत्वात् घटानुव्यवसायवर्णवत् चैत्रवृद्धेति मानार्थः । अयं ज्ञातघटज्ञानः, जिज्ञासुन्व सति तद्विषयसंशयादिरहितत्वात्—इति व्यतिरेकी वा हेतुर्विबद्धितः । ज्ञानाभावदशयां व्यभिचारकारणात् जिज्ञामोक्षणी”ति । अतस्त्वज्ञाने^(२) च व्यतिरेकप्रमा च अतस्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाः; तामामित्यर्थः । यद्यपि स्वप्रकाशे जिज्ञासैव नावतरति, जिज्ञामा हि ज्ञानुमिच्छा, नहि सा ज्ञाते एव ज्ञाने मम्भवति, तथाच ज्ञानस्य स्वप्रकाशतां जिज्ञासा न सहते—इति न तथा लिङ्गं विशेष्यमहति, तथापि व्याप्ति^(३)स्तावदीदृशीति हृदयम् ॥

मू० * “व्यवसायस्यानुव्यवसायनियमाश्च तत्र संशयादिः*—इति चेन्न, ‘यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया तत्र जिज्ञासायाम् आत्मधर्मिकं तत्संशयमारभ्य व्यवसायविषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात्; ‘विषयिसद्भावसंशये तद्विषयेपि संशयस्य सम्भवात् ।

टी० ॥ संशयाद्यभावसमूहे ज्ञेयान्वयधामिद्विमाशङ्कते—। “व्यवसायस्ये”ति । अनुव्यवसायेन व्यवसायस्य प्रतीतत्वात् तत्र संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमा इत्यर्थः ॥ परिहरति—। “यत्रे”ति । यद्यनुव्यवसायाः प्रोच्यन्ते तदाऽनवस्था, विषयान्तरसञ्चाराभावः, अननुभवश्च; तद्विरामे^(४) तु

(१) घटज्ञः न विपर्ययकं ज्ञानं च स्यात्प्रकमेव पाठ्यं, न तु ज्ञानान्तरं, स्वप्रकाशत्वस्य साध्यत्वात्; एवमर्थोपि ।

(२) अतस्त्वज्ञाने=संशयविपर्यये ।

(३) यत्र यत्र जिज्ञासुत्वे सति संशयाद्यभाववत्यं तत्र तत्र प्रमितत्वं इति व्याप्तिरथ जिज्ञासाघटितेत्यत्रैव, तात्पर्यं, न तु लिङ्गकुतो तद्विशेषोपेत्यर्थः ।

(४) अनुव्यवसायिधाराविरामेणेत्यर्थः ।

विषयपर्यन्त संशयः, इत्ययत्या ज्ञानं स्वप्रकाशमेषितव्यमित्यर्थः ॥ ननु ज्ञानं ज्ञातं यदि, तदा न तत्र संशयो ज्ञातत्वात्; अथाऽज्ञातं, तदापि न तत्र संशयोऽज्ञातत्वात्, नहि धर्म्यदर्शनेपि संशयः, तथा मति तत्र (१) धर्मिनियमो न स्यादित्यत आह—। “आत्मधर्मिकमि”ति । अनुव्यवसाया- नन्तरम् ‘अहं तृतीयज्ञानवाच वा’ ‘अहं ज्ञानविषयतृतीयज्ञानवाच वा’ ‘अहं ज्ञातघटज्ञानो (२) वा’ इत्यात्मधर्मिकमशय (३) पुपक्रम्यविषयपर्यन्तसंशयः स्यात्, नचैतादृशां संशयधारानुभूयते, तन्नून स्वप्रकाशमेव ज्ञानमित्यर्थः । यद्वा, ‘घटज्ञानजिज्ञासावानय चैत्रा यदि ज्ञातघटज्ञानो न स्यात् (४) प्रमिततद्विरहस्यात्’—एव द्वितीयतृतीयादिज्ञानपरम्परापूरणेन तत्तद्विरहप्र- मामात्तद्व्यादर्शयस्या स्वप्रकाशता साधनीयव्यर्थः । यद्यप्यनुव्यवसाये मति न तत्र जिज्ञासा, ज्ञानधारया (५) वच्छेदात् नोत्तरकालीना, (६) विषया- भावात्, तथाप्यनुपसर्जात (७) विरोधितया पूर्वजिज्ञासाया एव तथासाम- यंमभिप्रेतम् ॥ ननु ‘ज्ञानगोचरमशयेन तद्विषयसंशयोपि - इति कथमेतदत आह—। “विषयो”ति । यद्यपि नाय नियमस्तथापि सम्भवमात्राभिप्रा- येणैतदुक्तम्, अत्र गत्र सम्भवा दित्युक्तम् ॥

(१) तत्र=संशये ‘इतिस्मिन्धर्मिणि विद्वान् न स्यादिति ज्ञानं संशय - इति धर्मिनियमः कृत्विति न स्यादिति पहत्वर्थः ।

(२) संशयवितप्रदर्शनं क्रमशः तदाह-तृतीय-नाय-तृतीय-द्वि-त-प्रथम-ज्ञान-विषयक बोध्यम् ।

(३) आत्मधर्मिकमशय इति अनुव्यवसाय धर्मिकमशय इत्यर्थः ।

(४) अत्र ‘न-’-इत्यमध्य हृत्य तदा धर्मिनस्त्विरहः । धर्मिनस्त्विरहः ज्ञानस्य विरहो धर्मो पुनः स तथा स्यात् - इति बोधनीयम् ।

(५) अनुव्यवसाय आत्मिकज्ञानधारकाले उच्छाया अमम्भवा दित्यर्थः ।

(६) ज्ञान गगानरकालेऽप्युच्छाया न सम्भवात् इच्छा विषयस्य ज्ञानस्यैव तदानीं मभावे दित्यर्थः ।

(७) अत्रमज्जात विरोधिता प्रत्या जिज्ञासाया ज्ञानेन सहेतादृशा या ज्ञानात्प्रा- सीना जिज्ञासा तस्या गत्र संशयादिसंशयतत्त्वेनाप्रमात्त्वसाधकत्वे व्यथसाया विषयपर्यन्त संशयसकमपि हृत्वे चेत्यर्थः । सामान्यता विषयज्ञानस्यैव जिज्ञासाया कारणत्वेन विष- यस्य तत्र कागत्वात् इत्युपनादिति भावः ।

सू० १ एवं^(१)त्रिचतुरसंवेदनकक्षाज्ञानध्रौव्यनियमाभ्युपग-
मेपीति । 'स्वप्रकाशे तु मानमेयभावव्यवस्थाया अ-
भावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः । 'अन्यथा
तु बोधस्वरूपमेव न सिद्धोत् । 'यदि हि विज्ञानं परतः
सिद्धोत् तदाऽनवस्था स्यात् । * 'नच वाच्यमवश्य-
व्यता विज्ञेर्नाभ्युपेयते, स्वार्थे व्यवहारस्तु स्वरूप-
सत्तया प्रसूयते इति क्वाऽनवस्था-इति* ।

टी० ननु व्यवसायवदनुव्यवसायोपि एस्यते ऋव, तथाच कथ
विषयपर्यन्तः सशय इत्यत आह-। " ऋवमि"ति । क्वचिद्विरामस्यावश्या-
भ्युपगमनीयत्वेन विषयपर्यन्तसशयधाराध्रौव्यादित्यर्थः ॥ ननु स्वप्रकाशने
तदेव ज्ञान कर्म स्यात्, क्रिया च, नचैव सम्भवति, क्रियाकर्मणोर्भेदगर्भ-
त्वात्, कथं वाऽत्यन्तमभिचतया विषयविषयिभावः १ इत्यत आह-।
"स्वप्रकाशे त्वि"ति । यदि भिचयोः क्रियाकर्मभावो वा विषयविषयि-
भावो वा क्वचिन्मयाङ्गीक्रियेतापपत्त्वा वा स्यात् तदा विरोधो भवेत्,
नत्वैवं, स्वप्रकाशज्ञानातिरिक्तवस्तुने मया योगान्तरनयनगप्रवेशादेवा-
नभ्युपगमादित्यर्थः । यद्वा, ननु ज्ञानगामाण्यमशयार्थानः सशयस्तवापि
विषयपर्यन्त इत्यत आह-। "स्वप्रकाशे त्वि"ति । यदि भेदेन विषयविषयि-
भावो भवेत्तदा बोधस्वरूपमेव न सिद्धादित्याह-। "अन्यथे"ति ॥ अस्तु
वा भेदेन विषयविषयिभावस्तथापि ज्ञानं तथा नाङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-।
"यदि ही"ति ॥ ननु ज्ञानस्यापि व्यवहारं न तदैव ज्ञानाधानं ब्रह्मो
येनानवस्था । इत्ये, क्रि, प्रट्दिमन् विनदगा ज्ञानसत्तेव स्व २) विषय-
व्यवहाराये दाशङ्क ' १"ति ॥

(१) नियम ११११ वय (विषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तिः)-इति सम्बन्ध ।

(२) क्वचित् इति नास्ति ।

मू० "यतः तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्तापि कुतः,
यया व्यवहारोपपत्तिः; को(१)व्रते-‘सती सा
वित्तिः?'; असत्येव न कुतः । * 'सामान्यतो वित्ते-
स्तथात्वविधावपेक्षितसिद्ध्या यत्र विशेषरूपायां प्रमा-
णाऽप्रवृत्तिस्तदा तत्र सत्त्वसाधनाऽसत्त्वेऽपि जिज्ञा-
सायां सत्यां पश्चाद्वावहारसत्तैव वाऽन्यद्वा प्रमाण-
मस्त्येव?*, -इति चेन्न, 'तस्यापि कथं सत्त्वमित्यन
वस्था वा स्यात्, 'शेषासिद्ध्या सर्वाऽसिद्धिर्वा प्रस-
ज्येनेत्यर्थाऽसिद्धिपर्यन्तस्य व्यसनस्य दृक्तरत्वात् ।
'मेयमप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धीति ।

टी० तद्गोचरं ज्ञानमनुशील्य ज्ञानसत्तत्र न्वया दुःखपादे-त्याह- ।

“यत” इति ॥ व्यवहारमात्रात्तावद्विषयज्ञानमात्रं सिद्धमेव, घटादिव-
तिनियतविषयकज्ञानजिज्ञामा तु यदि स्यात्तदा प्रतिनियतविषयकव्यव-
हारेण वा, प्रतिनियतावप्यस्मरणादिना वा, नदृश्यनुमास्यते २) इत्याश-
ङ्कते- । “सामान्यत” इति । 'ज्ञानार्थम’-इति सामान्याकारेणाऽपेक्षित-
वित्तविशेषसिद्धावपि घटज्ञानत्वादिना जिज्ञामाया विंतावशेषसिद्धि-
रिति वा(३)ऽर्थः ॥ व्यवहारसामान्यमत्त्वस्य व्यवहारविशेषमत्त्वस्य च
ज्ञानजापकस्य सिद्धिज्ञानान्तराधीना, एवं तस्मिद्धिरपीयनवस्येत्याह- ।
“तस्यापी”ति ॥ माभूद्विज्ञानपरम्परायास्तजानीमेव सिद्धिः, क्रिमेतावना,
त्रिचतुरज्ञानसिद्ध्या तद्विषयसिद्धिरित्यत आह- । “शेष”ति । यद्यपि
सर्वाऽसिद्धिप्रसञ्जनमनुपपन्नं, यत्पदोक्त्याऽसिद्धिरापाद्यः तत्सिद्धौ बाधः ।

(१) कोऽनुभयां व्रते अनुभावयति यत सत्येव वित्तिरिति, न कोऽपि, तथा
चाऽनुभावशाभावात्सा वित्तिरित्येव किं न स्यादित्यर्थः ।

(२) चेत् घटाविवषयकज्ञानवान् घटाविवषयकव्यवहारयत्वात् घटाविवषयकस्म-
रणावच्छादना-इत्यनुमानप्रकारः ।

(३) उत्पानिकोक्तापेक्षयाऽस्यार्थस्य द्वितीयत्वमभिप्रेत्य वा’-शब्दः प्रयुक्त
इति ध्येयम् ।

तदसिद्धावाश्रयासिद्धिः, शेषामिद्वेष्वापादकत्वनाभिप्रताया असिद्धिः,
 'शेषस्य चरमज्ञानस्यासिद्धौ तत्पूर्वज्ञानस्यासिद्धिः'-इति विशिष्टापादने
 त्वदृशनादेव तयोः^(१) तद्वैव सिद्धौ मतरामापादापादकयोरसिद्धिः, तथा-
 प्यनवस्थायामेव हृदयम् ॥ "सियमि'ति । यस्य मते उपलम्भो न प्रत्य-
 त्तः=न स्वसंबन्धः, तन्मते^(२) नाऽर्थदृष्टिः=ज्ञानमात्रमेव न सिद्धति,-इति
 धर्मकीर्तिनाप्युक्तमित्यर्थः । यद्यपि प्राकट्यानुमेयज्ञानं भट्टं प्रति नैयायि-
 कानामप्ययमुपालम्भः, तथापि स्पष्टप्रकाशानभ्युपगमेप्युक्तदोषबलेनोपालम्भः
 सम एवेति भावः ॥

मू० "घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणस-
 ज्ञावो वाच्यः । यदि प्रमाणमनुपन्यस्य सास्तोत्येव-
 मङ्गीक्रियते तदा वैपरीत्यमेव^(३) किं न स्यात् । ततश्च
 घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया, तथा च प्रमाण-
 सत्तापि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य ना-
 ङ्गीकारार्हा, ^४ सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेर्बस्तुसत्तानिवृ-
 त्तिनियतत्वात्^(४); अन्यथा सप्तमरसादेरप्यापत्तेः-
 इति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्या-
 त् । "यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां प्रमाणसत्तां परो-
 ऽङ्गीकारयेत्तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति
 घटेपि कृथा प्रमाणोपन्यासायासः ।

टी० अनवस्थां सर्वामिद्वेष्वाऽऽपादितां प्रपञ्चयति-। "घटसत्ता-
 मि'ति । यद्यपिप्रमाणोपन्यासो न सत्ताङ्गीकारबीजं, किंतु प्रमाणं, तथापि

(१) तयोः = पूर्वज्ञानचरमज्ञानयोः, तद्वैव=त्वदृशनावसरे इव, सिद्धौ मतराम्
 आपादापादकयोः=तवभावयोरसिद्धिरित्यर्थः ।

(२) 'तन्मतेन अर्थदृष्टिः=ज्ञानमात्रमेव'-इति वा षटविभागः कर्तव्यः ।

(३) वैपरीत्यमेव=घटाऽसत्त्वमेव ।

(४) नियतत्वात्=व्याप्यत्वात् ।

तत्र विप्रतिपक्षं प्रतीदानो^(१)मेव तत्प्रमाणीयमिति भावः ॥ ^b“सर्वप्रमा-
णे”ति । यद्यपि कदाचित्सर्वप्रमाणनिवृत्त्या न प्रमेयनिवृत्तिः, तथापि
सार्वाधिकमवप्रमाणनिवृत्त्यभिप्रायमेतत् । यद्यपि सर्वप्रमाणनिवृत्तिर्दुर्बहा,
तथापि प्रमाणान्तरं^(२)त्वयैवोपपादनीयमिति भावः ॥ ^c“अन्यथे”ति ।
यदि प्रमाणनिवृत्तौ न प्रमेयनिवृत्तिरित्यर्थः । यद्यपि स्वप्रकाशत्वेऽपि प्रमा-
णापेक्षायामनवस्यैव, स्वप्रकाशत्वस्याऽस्वप्रकाशत्वात्^(३), स्वप्रकाशत्वस्य
प्रमाणान्तरेण त्वयैवेदानीमुपपादनीयत्वात्; एवं तदुपपादकस्यापि प्रमा-
णस्य घाच्यम्, अनुपपादने च कथं तत्स्वप्रकाशं वैपरीत्यमेव कथं न
स्यात्-इत्याद्यवकाशः, तथापि वैतण्डिकोहमिति हृदयम् ॥ ननु घटस्ता-
वत्प्रमाणानिदृस्त्यप्रमाणेषु प्रमाणाभिधानमर्किञ्चत्करमित्यत आह- ।
“यदी”ति ॥

मू० “अथ * नाव्यवधामलग्नवित्ति^४, तद्वित्तिधाराऽभ्यु-
पमस्यते, किं नाम कदाचित्कुतश्चित्काचिद्वित्तिः प्र-
मीयते, इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयते* ?
-इति चेन्न, ‘स्यादप्येवं यदि ‘घटः’^५ -इति, ‘घटं
जानामि, -इत्यतोऽधिका (घटवित्तिरित्तिधाराया

(१) इदानीं=विप्रतिपत्तिसमकालं तत्=प्रमाणं, प्रमाणीयं=प्रतिपक्ष्यर्थमुप-
न्यसनीयम्, इत्युपन्यासोप्यावश्यक इत्यर्थः ।

(२) प्रमाणे प्रमाणान्तरसत्त्वं किं तत् इति त्वयोपपादनीयं नतु तदुपपादयितुं
शक्यमनवस्थानादिति तदाभिप्रायेणैव सर्वप्रमाणनिवृत्तिप्रतिपादनमिति तात्पर्यार्थः ।

(३) स्वप्रकाशत्वस्य स्वाऽप्रकाशत्वतः-इत्यपि कदाचित् पाठः । स्वप्रकाशत्व-
स्याऽस्वप्रकाशत्वे खाण्डनिकस्य पुनःपुनः प्रमाणस्तत्प्रकाशनमेव हेतुमाह-स्वप्रकाश-
त्वस्य प्रमाणान्तरेणेत्यादिना ।

(४) वित्तिरित्तिधारा चाऽमाव्यवधानेन लग्ना चेति विग्रहः । प्रमीयते
इत्यस्यानन्तरं ‘त्रिज्ञासाया सत्यामिति शेषः ।

(५) ‘घटं’-इति, ‘घटं जानामि, -इत्यतः (घटतज्ज्ञानविषयाज्ज्ञानद्वयाद्)
अधिका वित्तिरस्मदादेकत्वममाना यदनुभूयते (तर्हि) एवमपि स्यात्-इति सम्बन्धः ।
वित्तिमेव विशिष्ट-तादृशविषयेति, तादृशां=विच्छिद्यज्ञायमानविषयाणां यत्कतं
तत्कारणं=गौरवण, मन्वरा=मन्दमामिनी । तत्र हेतुमाह-घट इति, घटश्च तद्वित्तिश्च
तयोधारा=माला, तथा । किं विशिष्टया ? इत्यत आह-विषयभाषेन=अभवावनाऽनु-
प्रविष्टयेति ।

विषयभावेनप्रविष्टया तादृग्विषयशतभारमन्धरा)
वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानाऽनुभूयेते । 'यद्यस्मदादि-
विलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यने तदापि यस्या वि-
त्तेस्तावद्विषयगर्भिता धीर्विषयः साप्यन्यथा कया-
चिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च,—

टी० ननु वित्तीनां धारावहनवत् प्रवाहं नाभ्युपैमि येन विषया
न्तरमञ्चारी न स्यात्, अपि तु सर्ववित्तीनां वेदनमात्रमङ्गीकुर्मः ? इत्या-
ह— "अथे"ति । कालान्तरेष्वनुसन्धीयमाना या वित्तिपरम्परा सा स्वस्व-
विषयमन्तर्भावैवानुसन्धीयेन न चैतादृशं ज्ञानमुत्पद्यमानमनुभूयते इत्या-
ह— "स्यादि"ति ॥ "'विषयशते"ति । यद्यपि शतमपि वित्तयो वित्ति-
त्वेन, घटश्च विषयो घटत्वेन, भासते इति 'घटं जानामि' 'घटज्ञानवा-
नस्मि'—इत्यनेनैवाकारेण क्रमेणापि वित्तिशपषेदनं सम्भाव्यते इति न विष-
यशतभारमन्यरत्वम्, नहि नावतीषु वित्तिषु प्रकारवैचित्र्यमस्ति येन
तदुल्लेखधौर्व्यगानुभवविरोधः स्यात्, तथापि 'कालान्तरीयस्य घटज्ञान-
वानहमितिज्ञानस्य कालान्तरीयवरमवित्तिरपि विषयः'—इत्यत्र न प्रमा-
णमिति हृदयम् ॥ ननु योगदशाया पूर्वपूर्वत्यक्ताः सर्वा वित्तीरेककारेण
प्रतिसन्धास्यतीति सर्वसां प्रामाणिकत्वमित्यत आह— "यद्यस्मदा-
दी"ति । योगिधनां स्वातिरिक्तमकलग्रहणमर्थ्यपि स्वग्रहे सामर्थ्याभा-
वाच्चेतदपीत्यर्थः ॥

मू० "अनिर्मोक्षापत्तिश्च । 'नहि स्वमन्तर्भाव्य कयाचि-
द्विया स प्रवाहो ग्राह्यः । तथा सति स्वप्रकाशता-
सिद्धेः । अत एव चाऽन्योन्यविषयता निरस्ता,
सविषयकाऽन्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः ।

टी० "अनिर्मोक्षे"ति । योगिनामुक्तक्रमेण ज्ञानपरम्पराऽनुच्छेदे
सकलविशेषगुणोच्छेदे मोक्षो न स्यादित्यर्थः ॥ ननु योगिनश्चरमा वित्तिः

स्वात्मानमपि विषयीकृत्य निवर्त्तते इति नानिर्मैत्र इत्यत आह-
 'नही'ति । यद्यपि योगज(१)धर्माऽजन्य-जन्य-स्वविषयकमविकल्पका-
 ऽजन्य-मामान्यलक्षणप्रत्यासत्यजन्य ज्ञानस्यैव स्वप्रकाशत्वं नाभ्युपैर्माति
 न स्वप्रकाशत्वापत्तिः, तथापि परिभाषामात्रमेतदिति हृदयम् ॥ ननु
 योगिज्ञानपरम्परायामन्योपान्यज्ञानयोरन्योन्यविषयतायां न स्वप्रकाशता,
 न वाऽनवस्था, न वा कस्या अपि वित्तरसंवेदनमित्यत आह-। "अत
 एवे"ति । अन्यज्ञानं स्वविषय(२)मुपान्यज्ञानं विषयीकुर्वन्स्वात्मानमपि विष-
 यीकुर्यादेवमुपान्यमन्य(३)विषयीकुर्वन् स्वात्मानमपि विषयीकुर्यादिति
 स्वप्रकाशतापत्तिरित्यर्थः । यद्यपि(४)ज्ञानग्रहे विषयग्रहधौष्यं, न तु याव-
 द्द्विषयग्रहनिषमः, तथाच स्वैतरविषयकज्ञानग्रहे कथं स्वप्रकाशत्वं भवेत्
 तथापि सयुक्तममवेतत्रिजगत्प्रणतया प्रत्यासत्या स्वैतरग्रहवत् स्वग्रहोपि
 स्यादेवेति भावः । यद्वा(५)ऽन्योन्यमात्रविषयकज्ञानम्यले दोषोऽयम् । यद्वा,

(१) धर्माः फक्किकायां योगजधर्माऽजन्यत्वादिविशेषणवत्तुष्टयेन क्रमशः योगि-
 ज्ञानेश्वरज्ञानानुमितिज्ञानामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिज्ञानानि स्वप्रकाशत्वेनाभिमतानि
 व्यावर्त्तयानि । तथाहि, - ज्ञानमात्रस्यैव स्वप्रकाशत्वाभावात्कंता योगिज्ञानस्यापि स्वप्र-
 काशत्वं न स्यादिति तद्भाष्यत्वं योगजधर्माजन्यत्वं । एवमपि योगजधर्माजन्यस्य
 भगवतो नित्यज्ञानस्यापि स्वप्रकाशत्वं न भवेदिति तद्भाष्यमाय जन्येति, तावतापि
 योगजधर्माजन्यत्वे मति जन्याया (यत्रयत्र द्रव्यकर्मभिवन्ते सति सामान्यवत्त्वं तत्रतत्र ग-
 णत्वम् - इत्यादिरूपस्यांशपक्षसविकल्पकस्याप्यादिकन्याया) ज्ञानं गुणः द्रव्यकर्मभिवन्ते
 सति सामान्यवत्त्वात् - इत्यादिरूपानुमितेरपि स्वप्रकाशत्वं न सिद्ध्यदिति स्वविषयकम-
 विकल्पकाऽन्यत्वं । तथापि निरुक्तविशेषणत्रयांशिशिष्टस्य विानत्वनलक्षणसामान्य
 लक्षणप्रत्यासत्तिजन्यज्ञानम्याशेषवित्तिगोचरत्वेन स्वगोचरतामपि गतस्य परप्रकाशत्ववार-
 ष्ठाया ज्ञानं मामान्यलक्षणप्रत्यासत्यजन्यविशेषणं विशेपितम् । क्वचित्सुक्तं एकं
 जन्यप्रदमत्राधि क्रमस्य अभ्यते, तदसुखिपूर्वकत्याद्ये विज्ञे ।

- (२) स्वविषय, स्वात्मव विषयविशिष्टमित्यर्थः ।
- (३) अन्यं, 'स्य त्मकविश्वविशिष्टमि' ति शेषः ।

(४) उपान्यज्ञानादेः स्वैतरपदार्थविषयकज्ञानयाहकत्वेन स्वप्रकाशतापत्तिः
 इति श्रुते-पदधीति । समाधनं-तथाधीति । अन्योन्यविषयकत्वस्य पि ज्ञानान्तरगत्याह-
 त्येनवस्थानात्तस्मिन्प्रमद्वेनाऽन्योन्यास्यत्वेन वाच्या इत्यन्योन्यविषयकत्वकुर्वन्नि
 विटस्य स्वस्यापि स्वैतरार्थवन् मनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयतालक्षणप्रत्यासत्य
 स्वैरेव ग्रहेण स्वप्रकाशतापत्तिरित्यर्थः ।

(५) पूर्वं स्वैतरार्थयार्थयोपान्यज्ञानादेः स्वैतरार्थयाहकत्ववदगत्या स्वप्राह-
 कतामुपादाय स्वप्रकाशत्वमुक्तमि ज्ञानी त्वन्योन्यापाहकत्वस्थले एवापं दोषो न स्वैतरा-
 र्थयाहकत्वस्थले इत्यतः-वद्वेति ।

अन्योपान्त्यज्ञानयोरन्योन्यविषयत्वमित्यपि ज्ञानान्तरयाह्यमेवेति तदादाय पुनरनवस्यादौऽप्यमेवेति भावः ॥

मू० "नच पुरुषान्तरेण सा^(१) प्रमास्यते नतु तदभावः—इति प्रमा तेस्ति, तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः । * "नचैवं घटसामग्रीतत्सामग्रीगवेषणेऽप्यनवस्था स्यात् * । वैषम्यात् । 'यदि हि घटसामग्री तत्सामग्रीधारा कुत्रचिद्विच्छिद्येत तदा घटः सदातनः स्यात् इत्यर्थापत्त्यैव घटः सामग्रीपरम्पराविच्छेदरहित एव प्रमोयते । " यदि तु ज्ञानेऽप्येवं स्यात्,—

टी० नन्वेकस्य पुरुषस्य विज्ञानापि विक्तिपरम्परा पुरुषान्तरेण प्रमास्यते इति न शेषामिदृशा नानामिदृशिन्यत आह— "नचे"ति । 'पुरुषान्तरेण प्रमास्यते'—इति स्वयात्पादनीयमतस्तदुपपादनपरम्परापुनरप्यापत्ता । किञ्च, पुरुषान्तरेण सा विक्तिर्भवति, नतु तदभावः, इत्यपि विशेषोपपादनप्रयामस्तवाधिक इत्यर्थः ॥ ननु ज्ञानमिदृश्यानुपपत्तिरेवापर्यवमत्रा ज्ञानधाराप्रातिपेद्, अन्यथा घटकादाचित्कत्वाऽन्यथानुपपत्तिर्घटसामग्रीपरम्परामपि नातिपेदेत्यत्राह— "नचैवमि"ति ॥ वैषम्यमेव स्फुटयति— "यदा"ति । घटसामग्रीविच्छेदे हि घटकादाचित्कत्वमनुपपत्तं स्यात्, तथाच स्यादेव^(२) न स्यादेव वा, नतु कदाचित्कत्वादित्यापद्यतः ज्ञानमिदृशस्तु स्वस्मादपि भवन्ति न तत्परम्परामाक्षेप्रमनमित्यन्यथामिदृशनन्यथामिदृशतवैषम्यमित्यर्थः । यद्वा, घटसामग्रीपरम्पराङ्गीकारेऽनवस्थैव परं, सा चान्यथानुपपत्तिप्रमाणिकेति न मापि दोषाय, ज्ञान-

(१) सा=चरमस्तुतिः, पुरुषान्तरेण प्रमास्यते, तस्याश्रभावा न प्रमास्यते,—इत्यत्र तत्र प्रमाणं नास्ति, तदभावादभाव एव परिशिष्यते,—इति विश्वासागरीक्तरीत्याऽन्यत्र पूर्वोक्तोऽर्थः ।

(२) कारणसामग्रीविरहितेषां हि द्वयि गतिर्दृष्टा,—नित्यसत्त्वमेव वाऽऽकाशादिवत्, नित्याऽसत्त्वमेव वा खपुष्पादिवत्, घटस्यापि सामग्रीविरहित्ये तद्वन्यतरत्वं स्यादिति तदाह—स्यादेवेति ।

परम्पराङ्गीकारे त्वनिर्मातापत्तिरिति महद्वैषम्यमिति भावः ॥ वैषम्यमेव ज्ञान-
पक्षे विशदयति - । “यदि त्व”ति ॥ “एवं स्यादिति”ति । ज्ञानसिद्ध्या-
न्यग्रानुपपत्तिरेव यदि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वाऽऽत्तेपिका स्यादित्यर्थः ॥
मू० तदा स्वस्य प्रवेशात्स्वप्रकाशापत्तिः, अप्रवेशाद् नव-
स्था, “अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिः,-इति व्य-
सनं दुरुत्तरमेव । ये च मानमेयभावाश्रया दोषाः
कीर्तनीयास्तेपि प्रसज्येरन् । • नच तैर्दोषैर्नास्त्वेव
ज्ञानमित्याख्येयम् • । ‘स्वनः सर्वसिद्धस्य दुरपन्हव-
त्वात्, ‘स्वप्रकाशाङ्गीकारादेव चाऽनुभवस्य सर्व-
दोषहाने र्वक्ष्यमाणत्वात् । ‘प्रकाशात्मतामात्रस्यैव
स्वतःसिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्माणां केषामपि
तदन्तर्भावानुपपत्तिः ।

टी० “अनवस्थ”ति । तथावाऽनिर्मातापत्तिरिति भावः ॥ “अवे-
दने”इति । चरमवित्तेवेदने इत्यर्थः ॥ ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे दोषान्त-
रमाह - । “येच”ति । “नाऽत्यापत्त्या प्रमामात्रात्तेर्योः स्वीक्रियो-
चिताः तद्विद्यस्तदुरीकारे स्वाश्रय कश्चिक्त्सु”),-इत्यादिदोषा मान-
मेयभावाश्रिता अये कीर्तनीया इत्यर्थः । यद्वा. प्रमाणखण्डनप्रकरणे
दोषा(१) ये कीर्तनीयास्तेपि स्युरित्यर्थः ॥ इदानीं स्वाभिमतं स्वप्रकाश
ब्रह्मसिद्धि कटाक्षयानुमाह - । “नचे”ति । मानमेयखण्डनप्रकरणोक्तदो-
षैर्नाऽत्यापत्त्येत्याद्युक्तदोषैः । अ विज्ञानस्वरूपमापि न सिद्धेत्, तथाच सर्व-

(१) इयं च पञ्चाङ्गकारिका, तस्या अयमर्थः,-प्रमामात्राच्छटादिसिद्धिङ्गी-
कारेऽन्यदियत्प्रमयाऽन्यस्यापि सिद्धिस्य्यात् तस्मात् अत्यापत्त्या=अतिप्रसङ्गं, तंते
घटादयोः प्रमामात्रात् स्वीक्रियोचनाः=स्वीकर्तव्या, न, तद्विद्यस्तदुरीकारे=घटजा-
नाच्छटस्य घटज्ञानात्स्य, सिद्ध्यङ्गीकारे तु घटादपि घटस्य, घटादपि घटस्य, सिद्धिः
स्याज्ज्ञानकृत्तनिषिद्धत्वाच्छटादः,-इत्यान्वयाय इति ।

(२) ज्ञानान्तरवेद्यत्वे ज्ञानस्य ज्ञानान्तरणक सम्बन्धः / न संयोगोऽदृष्यत्वात्,
न समवायः द्रव्यगुणत्वात्, नापि ताडान्यस, एकान्तभिन्नयोःभिन्नयोर्वा तदयोगात्, न
विषयविधेयभावः, तस्य मजघटाद्यान्तर्भावात्तन्तर्भावाभ्यामनुपपत्तेः नचाऽसम्बद्धमेव
ज्ञान ज्ञानान्तराद्यस्य, अतिप्रसङ्गात्,-इत्यादयो दोषा ।

शून्यतावाद एव पर्यवस्येत्, ननु “ज्ञानं तावत्स्वप्रकाशं, स्वत एव सिद्ध-
स्वरूपम्”—इति प्रतिज्ञातोऽद्यैपि निर्वाहितः स्यादिति भावः^(१) ॥ “स्व-
त” इति । परतः सिद्धिमपेत्य मानमेवभावखण्डनरुक्तो ननु स्वतः सि-
द्धिमपेत्येत्यर्थः ॥ तदेवाह—। “स्वप्रकाशे”ति ॥ “वक्ष्यमाणत्वादि”ति ।
“तत्स्वप्रकाशपरमार्थोच्येव भूत्वा”^(२)—इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ननु^(३) सर्वशून्यता-
वादादपरेषां^(४) पक्षे ज्ञानमात्राभ्युपगम एव विशेषः, सच न स्यात्, यतो^(५)—
ज्ञानाङ्गीकारे तद्वर्माण सत्तागुणत्वादीनां तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धी-
नामभ्युपगमादित्यत आह—। “प्रकाशात्मने”ति । मानमेवभावाश्रया
दोषाः स्वतःसिद्धत्वमात्रमपनेनुमशक्ताः, पराधीनसिद्धीनां तु ज्ञानधर्माणां
निरासे शक्ता एवेति भावः । पराधीनसिद्धिकत्वमवामीषां कथमित्यत
उक्तं—‘जडात्मनामि’ति ॥

सू० अत एव धर्मो^(६)पग्रहप्रवर्तिष्णुवागव्यवहाराऽविष-
यत्वं; ^७कालानवच्छेदमादाय च नित्यतोपचारः;
‘देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः’; ‘प्रकारावच्छे-
दविरहनिबन्धनश्च सर्वात्मत्वाद्धैतादिव्यवहारः’; ‘सौ-
गतप्रभाकरादिवद्भावे^८, नैयायिकवच्चाभावेऽभा-
वाऽनतिरेकस्वीकारादेव चाऽद्धैताव्याघातः ।

(१) पूर्वपक्षिणो भाव इत्यर्थः ।

(२) अयं च “आगतनो यदिदमद्वययादिनोनाम्” इत्याद्याः षड्विंशकारिकाया
स्तृतीयः पादस्तदर्थस्तु तत्रैव वक्ष्यते ।

(३) योगाचारादिमतमाश्रित्य ज्ञानभिवस्यासत्त्वमाधनप्रकान्तं तत्कार्यं सिद्धयेतु
यावता ज्ञानसिद्धौ तद्वृत्तधर्माणां सत्तागुणत्वादीनामपि सिद्धिरान्तरानिर्णीत्याह-
नन्विति । (४) योगाचारादिनास्तिकानां पक्षे इत्यर्थः ।

(५) ‘यत’—इति पूर्वं हेतुपदमुपादाय पुनरपि ‘अभ्युपगमात्’—इति हेतुपदोपा-
दानं तु न साधु मन्ये ।

(६) धर्मस्य उपग्रहः=स्वीकारः, नेन प्रवर्तितुं शीलं यस्य व्याख्येयव्यवहारस्य
तस्येत्यर्थः ।

(७) केषुचित्पुस्तकेषु “अभावं अभावं प्रति नैयायिकवच्चाऽभावानतिरेकस्वीका-
रात्”—इति पाठोपि दृश्यते, परञ्चाऽर्थदृष्ट्या मूले यथादृष्टमेव रम्यम् ।

टी० ननु स्वप्रकाशज्ञानस्य धर्मा अपि यदि न स्वीक्रियन्ते तदा
 "स्वप्रकाशं ज्ञानम्"—इति वाग्यवहारोपि तत्र कथं स्यात्, धर्मोपपत्तेर्येव
 तत्प्रवृत्तेरित्यत आह । "अत एव"ति । प्रकृत^(१)वाग्यवहारस्तु लक्षणया
 कथञ्चित्समर्थनीय इत्यर्थः ॥ ननु यदि निर्दुर्मकमेव तत्स्वप्रकाशं ज्ञानं, तदा
 "नित्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म" इत्यादिबोधितं तत्र नित्यत्वमपि न स्यादि-
 त्यत आह— । "कालानवच्छेदे"ति । कालतदवच्छेदयोः परमार्थसत्तार
 भावात् कालविशेषोपरागनिबन्धनमनित्यत्वं ब्रह्मणो नास्ति इति तद्विरुद्धं
 नित्यत्वं तत्रोपवर्तितं, यथा तत्रैव 'नीलं तमः'—इत्यत्र नीलविरोधिरक-
 त्वाद्यभावनिबन्धने नीलत्वोपचार इत्यर्थः ॥ ननु व्याप्नोतीति ब्रह्मैव-
 स्यते, तथाच निरुक्तिबलाद्, उपनिषदि विभुत्वेन श्रवणाच्च, ब्रह्मणो वैभ-
 वमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति न तच्चिर्धर्मकम्, अत एव च नाऽद्वैतम्^२ इत्यत
 आह— । "देशे"ति । देशतदवच्छेदयोः परमार्थसत्तारभावाद्देशविशेषोप-
 रागनिबन्धनमूर्तेत्वावरहनिबन्धने वैभवेोपचारः पर्यवदेवेत्यर्थः ॥ तत्र
 निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं सर्वोत्पत्त्यव्यवहारः ? कथं चाऽद्वैतव्यवहारः ?
 तयोर्धर्मनिबन्धनत्वादत आह— । "प्रकारे"ति । घटादौ प्रतिनियतघट-
 त्वादिप्रकारसंमर्गाधीनोऽसर्वात्मकत्वव्यवहार इति तद्विरुद्धाद्ब्रह्मणि सर्वा-
 त्मकत्वव्यवहार इत्यर्थः ॥ ननु द्वैताभावोऽद्वैत, तस्य च ब्रह्माधिकरणं,
 ननु तदेव ब्रह्म, अभावस्याधिकरणभित्तत्वात्तथाच तमादाय द्वैतमेवेत्यत
 आह— । "सौगते"ति । सौगतैः प्राभाकरैश्चाधिकरणस्वरूपमत्राऽभावो-
 भ्युपगम्यते नैवा यैरपि 'घटाभावे पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरधिकरण-
 स्वरूपमात्रालम्बत्वाभ्युपगमाच्च प्रकृते^(२) ब्रह्मेव द्वैताभावोऽङ्गीक्रियते ॥

मू० "अमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्ध्यापि

(१) ननु यदि ज्ञानं वाग्यवहारोऽविशेषः, कथं तर्हि भयना वाचा व्यवह्रियते
 इत्यत आह—प्रकृतेति । लक्षणया, ज्ञानविषयतत्सम्बन्धिज्ञेये जहल्लक्षणयेत्यर्थः ।

(२) केषुचित्सुक्तकेषु "प्रकृते ब्रह्मेव"—इति पाठः, तदपेक्षया 'प्रकृते'—इति
 माधुः, 'प्रकृते'—इति पदान्तरस्य तत्राऽकल्पनात् ।

न काचित् क्षतिः । तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्ष-
णन्यायात् तात्पर्यतः प्रकारयते ; तेन परमार्थतोऽ-
भिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्यतः, श्रुतिस्तस्मि-
न्नाऽविद्यादशायां पराभ्युपगमरोत्या प्रमाणमित्युच्यते ।

टी० ननु द्वैताभावश्चेदद्वैतं तदा प्रतियोगितया द्वेनमभ्युपगन्त-
व्यम्, तथाच कथमद्वैतं, द्वैतेनैव द्वैतादित्यत आह—। “धर्म”ति । नहि
निषेधे प्रमितप्रतियोगिकत्वं तन्त्रम्, किं तर्हि, प्रतीतप्रतियोगिकत्वं, ला-
घवादिति भावः । प्रमितप्रतियोगिकत्वमेव तन्त्रं निषेधे, धर्मविषयोपि
ज्ञानान्तरेण प्रमित एव-इत्यादिर्वस्तरः यद्यपि भेदप्रकाशे^(१), तथापि
ज्ञानान्तरमयप्रमेति कृदयम् ॥ ननु यदि ब्रह्मणो वाग्यवहाराऽविषयत्वं-
तत्रातत्र श्रुतिरपि न प्रमाणं भवेदित्यत आह—। “तदेतदि”ति । उपनि,
यदां ब्रह्मणि तात्पर्याधीनमेव प्रामाण्यं, नतु ब्रह्म पदार्थः, वाक्यार्थो
वा, धर्मावयवहं विना शक्तेर्यथायतादेश्चाऽनिरूपणात् । “नित्यं विज्ञानमा-
नन्द ब्रह्म”—इति नित्यविज्ञानानन्दपदैराविश्रुते एवार्थं प्रत्येकं एहीत
शक्तिभिः संभूयो ज्वारणबलात् तात्पर्यबलाच्चाऽविद्यादशायां ब्रह्म बोध्य-
ते इति तत्र श्रुतीनां प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ “उपलक्षणन्यायादि”ति । यथो-
क्त्यात्वादिकं काकादिपदैराव्यमपि बोध्यते तात्पर्यबलात्, यथा च “गच्छ
गच्छमि चेत्कान्त । पन्यानः मन्तु ते शिवाः । ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्
यत्र गतो भवान्”—इत्यादावपदार्थाऽपि गमनाभावः प्रतीयते^(२) इति भावः ॥
ननु सर्वथैवाऽवाच्ये तात्पर्यमपि दुर्घटमित्यत आह । “तेन परमार्थत”
इति । पारमार्थिकं वाच्यवाचकभावं न मन्यामहे, नतु काल्पनिकमपि
(^(३)) इति भावः ॥ ननु तात्पर्यमपि तत्प्रतीतिप्रयोजकत्वं^(४) वा मीमां-

(१) भेदप्रकाशे=भेदासिद्धा अत्र ‘वक्तुं शक्यते’- इति शेषः ।

(२) अत्र ‘तथा’-इति शब्दाऽध्याहर्तव्यः पृथं यथाशब्दस्य साविध्यात् ।

(३) अत्रापि “न मन्यामहे”-इत्यनुवर्तनीयम् ।

(४) क्वचित्पुस्तके ‘तत्प्रतीतिप्रयोजनकम्’-इति पाठः, क्वचित्तु ‘तत्प्रतीति
प्रयोजनकत्वम्’ इति ।

सकानामिव, तत्प्रतिपिपादायिषा वा नैयायिकानामिव, स्यात्, तथाच तदादाय पुनर्द्वेनापत्तिरित्यत आह—। “पराभ्युपगमे”ति ॥

मू० ‘वस्तुतस्तु त्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम् । (?)’

* ‘ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदं, क्रिया-
कर्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः । कार्यं क्रिया
हि कर्मणा भवति, कर्म च कारणं^२ क्रियायाः, नच
स्वेनैव स्वनिष्पादनं शक्यं, ‘पूर्वापरभावविशेषस्य
हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्, नच तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं
च संभवति ‘तद’^३ नवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वश-
ब्दार्थत्वात्, तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव
कालस्तदवच्छिन्नस्तदनवच्छिन्नश्चेति निरोधान् * ।
मैवम्,

टी० ननु त्वन्मते परमायतः क्रिया प्रमाणात् आह । वस्तुत-
स्त्विति । यद्यपि विद्रूपस्यात्मनः सिद्धेयस्य वा दुरुपपाद, नाह प्रमा-
णमन्तरेण तदुपपादयितुं शक्यं त्रैपरीत्यमेव तद्यथापि न न स्यात् पारमे-
ष्याद्विप्रमाणाभिधानं तत्र द्वैतापादक प्रमाणाभिधानं तः पर्यवसानं समानं
तथापि तदितरखण्डनयुक्त्यच्छब्दात्प्रतिदमकम् ॥

(१) { प्रमाथ्य स्वप्रकाशत्व विज्ञानकरतात्मनः ।
कर्तृकर्मविरोधाद्य खण्डन कर्मनत्व च ॥ }

(२) क्वचित्तपुस्तके कारणम्—इति पाठो मीमांसकानामुक्तः क्रिया प्रति कारण-
स्य कारणत्वात् ।

(३) कथं नवच्छिन्नकालविशेषस्य कार्य-संज्ञकत्वात् कार्य-ज्ञाने च
कार्यस्य सद्भावस्याकारणक मत् काल कार्यस्य नवच्छिन्नकालवच्छिन्नवति निरोधान्—
इति निष्पत्तीक कर्मणः प्रत्यक्षरख्याख्यानम्

(४) ब्रह्म सिद्धम्—इत्येवम् ब्रह्मभित्तस्य जगत्तः यदखण्डनयुक्तिरसिद्धत्व
प्रतिपादनेन स्वयमेव सिद्ध्यति, निरोधस्तदनिरोधाद्योगात् न तु प्रमाणेन तत्र
साधनापेक्षितमाधारः

ननु "स्वैन प्रकाश्यते" इति स्वप्रकाशपदं कर्मव्युत्पन्नं^(१), तद्वानु-
पपन्नं, क्रियाकर्मभावस्य भेदघटितत्वादित्याशङ्कते-। 'ननु चे'ति ॥ ननु
क्रियाकर्मभावस्याऽभेदे को विरोधः ? इत्यत आह-। "काव्य"ति । अभेदे
जन्यजनकभावो विरुद्ध इत्यर्थः ॥ एतदेव कथमत आह-। "पूर्वापरे"ति ।
विशेषः=नियमगर्भत्वं, तथाच नियमपूर्ववर्तित्वं हेतुत्वं, तन्निरूपितनियता-
ऽऽनन्तर्यं हेतुमत्त्वं, तन्नाभेदे विरुद्धमित्यर्थः ॥ एतदेव कथमत आह ।
'तदनवच्छिन्न'ति । कार्यान्वच्छिन्नोक्तिकालः कार्यपूर्वकालः, कार्यमेव
च कारणं, तथाच स्वा^(२)नवच्छिन्ने काले स्वमित्येको विरोधः, स्वकाल एव
स्वाऽकाल इत्यपरः, तदवच्छिन्न^(३) एव कालस्तत्रागभावावच्छिन्न इत्यर्थः ॥

मृ० 'क्रियायाः कर्मजन्यतानियमानङ्गीकारात्, सर्वथैवा
नागतविषयविज्ञाने तदसम्भवात्; क्वचिज्जनकता
मःदाय च कर्मणि कारकत्वव्यपदेशात् । 'करण'^(४),
व्यापारविषयत्वाद्वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा
कर्मलक्षणाद् (विनापि क्रियाजनकत्वेन) कर्मव्यव-
हारोपपत्तेः । किंच^(५) तत् कर्मत्वं यत्स्वं प्रति विरु-
द्धाने ? । * परसमवेतक्रियाफलभागित्वम् * ?-इति
चेन्न, अपादानस्यापि व्याप्तेः^(६) । * अपादानं कर्मा-
पि * ?-इति चेन्न, 'वृक्षात्पतति पर्णम्'-इति वत्
'वृक्षं पर्णं पतति'-इत्यपि स्यात् ।

(१) कर्मव्युत्पन्नं= कर्मव्युत्पत्तिसिद्धम् ।

(२) स्वशब्देन सर्वत्र प्रकृतं कार्यं पश्यम् ।

(३) 'स्वकाल एव स्वाकाल - अस्यैव विवरणं-नदवच्छिन्न इत्यादि ।

(४) क्रियाजनकत्वेन विनापि, करणव्यापारविषयत्वाद्वा परसमवेतक्रियाफल
भागित्वं द्वा कर्मलक्षणात् कर्मव्यवहारोपपत्तेः - इत्यन्वयः । कर्मलक्षणात्=कर्मपदप्रवृ-
त्तिनिमित्तत्वात् नक्षम तु कर्मणेऽङ्गीकारो न भवत्येवम् ।

(५) पूर्वं क्रियायाः कर्मजन्यतां क्वचित्दङ्गीकृत्य पर्यहारोपपत्तिद्वारा कर्मत्वमेव
न निरूपणयोग्यं इत्याह- किञ्चित् ।

(६) कर्मलक्षणस्याऽपादानव्यापकत्वादित्यर्थः (कर्मलक्षणस्याऽपादानेतिव्या-
प्तिरिति तु कलितम्) । 'अपादानस्यातिव्याप्तिरिति क्वचित्कः पाठस्तु कथञ्चिच्छ-
क्ययोगेनापि दुरुहयाजनतयोपेक्षितः ।

टी० स्यादयं विरोधो यदि कर्म कारकं^(१) भवेत्तदेव तु नास्तीत्याह—
 “क्रियाया” इति ॥ ननु नियतपूर्ववर्तित्वे सत्यपि कथमस्याऽकारणत्व-
 मतञ्चाह—। “सर्वेषु” इति । भाविव्यक्तिविषयकज्ञानेच्छादो व्यभिचारावि-
 यनपूर्ववर्तित्वेनाप्य नास्तीत्यर्थः ॥ ननु यद्येवं, तदा पाणिनेः कारकमध्य
 कर्मपरिगणनं किं निबन्धनमित्यत आह—। “क्वचिदि” इति । “आत्मानं
 ज्ञानामि” इत्यादौ कर्मणः क्रियाजनकत्वमपि सम्भवतीति तथा परिगणन-
 मित्यर्थः ॥ ननु तथाप्यतीतार्थादसाधारणकर्मपदप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्कथं
 मनुगतः कर्मव्यवहारः ? इत्यत आह—। “करणे” इति । अनागतादिकर्मणि
 करणस्य चतुरादे^(२) लिङ्गादेर्नामस्यामत्त्यादि-लिङ्गपरामर्शादिनक्षणाव्यापार-
 विषयत्वान्मन्त्रव्यवहार इत्यर्थः ॥ अपिच, त्वया निम्न्यमान कर्मलक्षणं
 कथञ्चिदपि विचार न सहिष्यते इत्याह—। “क्रिञ्च” इति । परपदं कर्म-
 भिन्नपरं, तथाच परममवेनायाः क्रिय या यत्कन तद्भागित्व^(३)मित्यर्थः ॥
 ‘वृत्तात्पर्यं पतति’ इत्यत्र वृत्तस्याऽपादानस्य (परिगतपतनक्रियाया यत्कनं
 विभागस्तच्छालिन) कर्मत्व म्यादित्याह—। “अपादानस्य” इति ॥ नन्व-
 पादानस्य कर्मत्वमपि स्यात् को दोष इत्याह—। “अपादानमि” इति ॥
 अपादानस्य कर्मत्वं “कर्मणि द्वितीया” इत्यनुशासनशलात् ‘वृत्तं परं पतति’
 इत्यपि प्रयुज्येत्याह—। “वृत्तादि” इति ॥

भू० “ * विवक्षातःकारकाणि भवन्तीति तद्विवक्षया
 नैवम् *—इति चेन्न, वस्तुतः सतस्नाद्रूप्यस्य यदि
 विवक्षा स्यात्तदा तदपि^(४) स्यात् । * अपादानस्य कर्म-
 त्वं न विवक्ष्यते इति शाब्दिकसंप्रदायोऽयम् *—इति

(१) कारकं, क्रियाकारणमित्यर्थः ।

(२) चतुरादेर्नामिकप्रत्यासन्त्यादिनक्षणाव्यापारविषयत्वान् लिङ्गादेर्नामिङ्ग
 रामर्शादिनक्षणाव्यापारविषयत्वात्तदनागतकर्मणि कर्मत्वव्यवहार इति विभागः, एकदेशा
 न्वयम् शरीः शान्तिपत्राणीत्यादिवच विवक्ष्यते ।

(३) ‘काष्ठं क्वचित्’—इत्यत्र काष्ठतरकुटारादिममवेतक्रियाया यत्कनं द्वे-
 धोभावस्तत्रागित्वं भवति काष्ठस्य कर्मण इति लक्षणसम्बन्धः ।

(४) तदित्यव्यय, प्रयोगार्थं प्रयुक्तम् स त्येग इत्यर्थः ।

चेत्, 'तर्हि तत्र निवृत्त(१)सर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मलक्षणानुरोधेन कर्मत्वमभ्युपगच्छता वस्तुमात्रं कर्मत्याद्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात् । कथं च लोकोत्तर(२)प्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मत्वमस्तीत्यधिगतम् ? । *अपादानेतर'दीदृशं कर्म *!-इति चेन्न, 'तत्रापि 'नदी वर्द्धते'-इत्यादौ तद्वृद्धेरप्राप्तरीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्मकत्वापत्तेः ।

टी० ननु वृत्तस्य सत्यापि कर्मत्वेऽपादानत्वमेव विवक्षितमिति पञ्चम्येव भवति न द्वितीयापीत्याह-। "विवक्षता"इति ॥ वास्तवं यदि कर्मत्वं तदा विवक्षतायाः=इच्छायाः प्रयोक्तृमात्रतन्त्रत्वेन कदाचित्कर्मत्व-विवक्षया प्रयोगोपि स्यादित्याह-। "वस्तुत"इति ॥ ननु भवेदेवं यदि प्रयोक्तृमात्राधीना विवक्षा स्यात्त्वयं, किंतु शाब्दिकमपदायानुद्भवा, तथाच यामगमनादिवत्(३) 'वृत्तं पथे पतती'त्यपि न प्रयुज्यते इत्याशङ्कते-"अपादानस्यति ॥ अपादानात् सकनकर्मव्यवहारविरहाद्यव-हर्त्तव्यस्य कर्मत्वस्यापि निवृत्तिः, त्वया परं स्वनतणानुरोधेन कर्मत्व-तत्रेथ्यते तदा प्रमेयत्वमेव लक्षणं क्रियतां किं परममेतेत्यादिविशेषलक्ष-णभारणेत्याह-। "तर्ही"ति । यद्यपि नेदं(४) कर्मलक्षणं, किंतु कर्मपद-

(१) निवृत्तः सर्वेषां कर्मव्यवहारो यस्मिन् अपादाने तस्मिन्वित्यर्थः ।

(२) लोकं उत्तरा=उद्गता प्रज्ञा यस्य स लोकोत्तरपञ्चस्तन ।

(३) अत्र 'यामाद्गमनमित्यादिवत्' -इ'त प ठ उचितस्तथैव दृष्टान्तसङ्गति-सम्भवात्, तथाच गतिपत्त्याः संगमगानुकूलव्यापाराद्यं क्त्वाऽविशेषेपि यथा यामं गच्छ-तीत्येतदर्थं यामाद्गच्छतीति प्रयोगो न सांप्रदायिकस्तथा वृत्तात्यर्थं पततीत्यस्यार्थं वृत्तं पथे पततीत्यपि न प्रयुज्यते इत्यर्थः-इत्यस्मद्गुरुवर्याः श्री०मद्गाममिश्रशास्त्रीयाः । श्रीमन्तो भागवताचार्यास्तु-स्यान्तं पुनाकन्यायादिपाठवत् 'यामगमनादिवत्' इत्यपि पाठो नायुक्तः, दृष्टान्तत्रयव्यतिरेकी, तथाच यथा यामं गच्छतीति प्रयुज्यते, न तथा वृत्तपथे पततीतीति प्राहुः । अहं तु 'इत्यपि न' इत्यपिशब्दस्वारस्यानुरोधेन यथाशुतपाठ-स्वारस्यानुरोधेन च-यथा 'यामगमन' इति निविभक्तिरूपदप्रयोगः सांप्रदायिकेनैव युज्यते तथा 'वृत्तं पथे पतति' इत्यपि नेत्यनुभव्ये। कृषित्युल्लेके 'यामगामादिवत्'-इति पाठः ।

(४) इदं =परसमवेतक्रियाफलभागित्वम् ।

प्रवृत्तिनिमित्तमात्रं, (लक्षणं तु कारकाणामन्योन्यव्याप्तं नास्त्येव, उपर्य-
यसाङ्कुर्यात्,) तथापि पदार्थान्तरलक्षणप्रत्ययनप्रयासोऽपि तत्रानर्थक एव
स्यादिति हृदयम् ॥ “ईदृशमि”ति । परममवेतक्रियाफलभागीत्यर्थः ॥
“तत्रापि”ति । “नदी वर्द्धते” इत्यत्र, तीरस्य जलममवेतक्रियाफलतीरस्ये-
गभागिनः कर्मत्वात्^(१), तथाच “नदी तैरं वर्द्धते”—इति प्रयोगः स्याद-
त्यर्थः ॥

मू० “अपादानेतरदितिस्थाने क्रियानाशकेतिकरणे^६ प्यस्य
दोषस्य तादवस्थात्, विनाशलक्षणार्थां वृद्धौ तद-
सम्भवाच्च, “वृक्षं त्यजति” इत्यादावकर्मत्वप्रसङ्गाच्च,
“आत्मानं जानामि” इत्यत्र परत्वाभावादव्याप्तेः ।
” * तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वं, कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहि-
तस्यैवात्मना ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् * ?—इति चेन्न, यतो-
ऽस्तु तावच्चथाकथञ्चिदेवं, “तथाप्यध्यात्मविदा निरु-
पाधिमात्मानं जानना ज्ञानं नात्मकर्मकं स्यात्,
‘पच्यते फलं स्वयमेवेत्यादौ च कर्मकर्त्तरि का गतिः
स्यात् ? ।

टी० ननु क्रियानाशकपरममवेतक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं, नच
वृक्षस्याऽपादानस्य यद्विभागलक्षणं पतनक्रियाफलं तत क्रियानाशकं,
किंत्वधः संयोगस्तत्र क्रियानाशकं फलं, तद्वागिभूम्यादेस्तत्र कर्मत्वमिष्यते
एवेत्याशङ्क्य परिहरति—। “अपादाने”ति ॥ “शस्ये”ति । “नदी
वर्द्धते”—इत्यत्रातिव्याप्तिलक्षणस्यत्यर्थः ॥ “तादवस्थादि”ति । तत्रापि
तीरतीरसंयोगस्य क्रियानाशकत्वादित्यर्थः ॥ दोषान्तरमाह—। “वृक्ष-
मि”ति । तत्रापि वृक्षपक्षविभागस्य क्रियानाशकत्वाभावा^(१)दित्यर्थः ॥
मूललक्षणेऽपादानातिव्याप्तिं समर्थ्याव्याप्तिमाह—। “आत्मानमि”ति ॥
“परत्वाभावादि”ति । आत्मनः कर्मभिवत्त्वाभावादित्यर्थः ॥ योग्यविशे-

(१) 'कर्मत्वम्'—इत्यादि पुस्तकान्तरे पाठः साधुरेव ।

(२) अपोदेशसंयोगस्यैव क्रियानाशकत्वेन विभागस्य तदभावादित्यर्थः ।

ब्रह्मणोपहितस्यात्मनः कर्मत्वं, केवलस्य च तद्विचत्वात्परत्वमिति विशिष्टा-
ऽविशिष्टभेदेन प्रकृतेः लक्षणसत्त्वावाध्याप्तिरित्याह— “तत्रापी”ति ।
यथाकथञ्चिदित्यस्वरसात् । कर्मभिचत्वमुपाधीनां, नतूर्पाहृतस्यात्मनोपि
इति तदवस्थैवाध्याप्तिः—इत्यस्वरसबीजम् ॥ अथुष्येत्य दोषमाह—
“तथापी”ति । युञ्जानस्य^(१)केवल एवात्मा ज्ञाता, ज्ञेयश्च, निरञ्जना-
दिश्रुतिबलादित्यर्थः ॥ कर्मकर्तारि परसमवेतक्रिया नास्तीति तत्राध्याप्ति-
रित्याह— “पथ्यते” इति ॥

मू० ॥ “सर्वज्ञमोरवरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने” तस्मिन्
भगवति फलनाशकत्वस्यानभ्युपगमात्तं प्रत्येतुल्लङ्घ-
णाऽसिद्धेः । तस्माद्वाकरणकारैः शब्दसिद्धार्थं नदी^(३)
वृद्धादिवत्कर्मापि परिभाषितमित्यलं तदनुगतलक्ष-
णगवेषणया । *करण^(४) व्यापारविषयः कर्म*?—इति
चेन्न, हस्तेन रामेण शरेण—इत्यादावतिप्रसङ्गात् ।
लक्षणं विनापि, क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्य
त्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः । शेषं चेश्वराभिसन्धौ^(५)
स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः ^(६) ।

(१) युञ्जानस्य योतनः ।

(२) अत्र नित्यज्ञानाधारे तस्मिन्भगवति—इत्यर्थकरणायेतया ‘भगवति सर्व
माने नित्यज्ञाने’—इत्यर्थः श्रेयान् ।

(३) यथा वस्तुतो नदीत्ववृद्धित्वयोरसंतरपि पाणिनिना “युस्यार्थो नदी”
“सृष्टिरादेव”—इत्यादिभ्यश्चा शब्दमित्थया कृता न सार्थत्रिकी तथा कर्ममञ्जापोत्पथः ।

(४) बहुषु पुस्तकेषु करणेत्यादिकर्मव्यवहारोपपत्तेरित्यन्तो शब्दो नास्ति; मन्ये
तद्युक्तमेव, “इत्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया” इत्युपसंहारानन्तरं पुनः “करणव्या-
पार”—इत्यादिना लक्षणान्तरोत्थापनस्याऽयुक्तत्वात् ।

(५) अगहनकारेशुश्वराभिसन्धिकेवलन्याभिसन्ध्यादिनाम्ना अस्वारीऽभिसन्धयः
प्राणाधिपत, तममुर्धमुपकम्य भूमिकायां भूयंपन्यास्यमिति तत्रैवाऽनुसन्धेयम् ।

(६) { क्रियाया. कर्मजन्यत्वावश्यभावे न भाविकः । किञ्च किञ्चन नो कर्मल-
क्ष्य वक्तुं च शक्यते ॥ ५ ॥ तस्मात् क्रियाकर्मभावानुपपत्तिवृत्ताहृता । चि-
द्वृत्तेः स्वप्रकाशत्वे नास्तीत्यंत.वतोदितम् ॥ ६ ॥ विषयो विषयादिभ्यो
भवत्यवेति दुर्ग्रहः । परप्रकारैरेवाथ अगद्यतोऽत्र प्रचटके ॥ ७ ॥

* 'ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासङ्गतत्वं, विषयित्वं हि विषयसंबन्धिता, 'संबन्धश्च भेदमन्तरेणा-सम्भवदवस्थितिः, 'संबन्धमितेः संबन्धस्वरूप.' भेदमि-तिव्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात् * ? । मैवम् ।

टी० ईश्वरज्ञानस्य हि विश्वमेव कर्म, न च सा ज्ञानक्रिया फल-नाश्या, नित्यत्वादिति तत्राव्याप्तिरित्याह-। "सर्वज्ञमि"ति । 'फलना-शक्यस्य' इति बहुव्रीहिः ॥ ननु कर्मादिसिद्धिः किंनिबन्धनेत्यत आह-। "तस्मादि"ति ॥ ननु धात्वर्थतावच्छेदक^(१) परसमवेतक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वं, तेन गमनस्योत्तरसंयोगो धात्वर्थतावच्छेदक^(२) स्तद्वागी यामादिः कर्म ; पतनस्याधः संयोगः फलं, ननु विभागः, तेन तद्वागिनेऽपादानस्य न कर्मत्वं ; त्यजेश्च पूर्वदेशविभाग एव धात्वर्थतावच्छेदक इति तद्वागिनेो वृत्तस्य कर्मत्वाद् 'वृत्तं पणं त्यजती'ति भवत्येव ; वृद्धेवयत्रोपचयस्य नाव-च्छेदकं तादृशं फलं, येन तद्वागितया तीरादेः कर्मत्वं स्यादित्यत आह-। "शेषं चे"ति । ज्ञानादिक्रियाया अपि न तादृशं फलं, ज्ञाततादेर्नि-राकरिष्यमाणत्वात्, संस्कारस्य चाऽनावश्यकत्वादकर्मकत्वापत्ते^(३) रिति भावः ॥

ननु माभूत् स्वप्रकाशे कर्मक्रियाविरोधः विषयविषयिभावविरो-धस्तु स्यादित्याह-। "नान्व"ति ॥ विरोधमूलमाह-। "संबन्धश्चे"-ति ॥ तत्र हेतुमाह-। "संबन्धमितेरि"ति । यत्र संबन्धिनोः स्वरूपभे-दप्रमा तत्रैव संबन्धप्रमा, प्रकृते च संबन्धिभेदप्रमानिवृत्त्या संबन्धप्रमा-

(१) संबन्धिनोः स्वरूपं = संबन्धिस्य रूपं, तस्य भेदमिति :- भेदप्रमा, तस्या व्याप्तिरेके = भावे, संबन्धमितेवैपरीत्यावधारणात् = अभावनिश्चयादित्यर्थः ।

(२) धात्वर्थतावच्छेदकस्य फलान्वयः ।

(३) गमनं हि पूर्वदेशपरित्यागपुरःसरमुत्तरदेशसंयोगानुक्रमेण व्यापारस्तत्र भवत्येवोत्तरसंयोगो धात्वर्थतावच्छेदक इत्यर्थः ।

(४) ज्ञानादिक्रियाया अकर्मकत्वापत्तिरित्यर्थः ।

निवर्तते (१) तच्चिदृशौ च प्रमेयस्य (२) निवृत्तिरिति नाभेदे त्रिवर्याविषयिभाव-
सम्बन्ध इत्यर्थः । यद्वा, भिन्नसम्बन्धिप्रमा सम्बन्धिप्रमाकारणमतः कारण-
निवृत्त्या कार्यनिवृत्तिरित्यर्थः ॥

मू० "विषयविषयिभावो हि सम्बन्धो न सम्बन्धस्वरूपा-
द्भिन्नः, तथाभूतत्वेपि (३) चान्ततस्तत्सम्बन्धस्यापि
स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यमनवस्थाभयात्, 'तथा
सति च सैष (४) यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपा-
त्सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्त-
व्यम् 'स्वभावसम्बन्धस्येतरसम्बन्धमर्यादातिशायि-
त्वात् 'तथा विनापि सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभा-
वात्माऽयं सम्बन्धः पर्यवसास्यति, तद्वगमोपि
तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः? । *
'नचैवं घटतज्ज्ञानयोर्ध्याहृग्विषयविषयिभावस्ततो
मात्रया (५) पि स्वप्रकाशे विषयविषयिभावाऽन्यत्वे
बाध्यतैकत्र स्यात् * । अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घट-
तज्ज्ञाने बाध्यत्वं, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमा-
र्थिकत्वमिति द्वयो रनुगमेपि न दोषः ।

(१) व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तेरावप्रयकत्वादिति भावः । यद्यपीदं वाच्यं
साक्षाद् व्याप्यनिवृत्त्या व्यापकनिवृत्तिमभिधत्ते तथापि प्रकृते साध्यसाधनयोः समव्या-
प्तिकत्वाद्वाप्यकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्त्यभिप्रायकमेवेत्येके प्राहुः; परे तु कारणनिवृत्त्या
कार्यनिवृत्त्यभिप्रायकोऽर्थे एव इत्येव व्याचक्षते ।

(२) प्रमेयस्य = सम्बन्धस्य ।

(३) तथाभूतत्वेपि = सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नत्वेपि ।

(४) साऽन्तिमसम्बन्धमितिः सम्बन्धिस्वरूपाद्भेदमनादायैष पर्यवस्यतीत्यभ्यु-
पगन्तव्यं प्रथा, तथा प्रथमसम्बन्धमितिरेपि स्यादिति भावः ।

(५) मात्रया = लेखतोऽपि, वैलक्षण्ये विच्छेदयोः कर्मयोः पारमार्थिकत्वायोगादेकत्र
बाध्यता स्यादित्यर्थः ।

टी० “विषयविषयिभाव” इति । त्वयापि विषयविषयिभावः सम्बन्धः सम्बन्धिभिर्नो नाऽभ्युपगम्यते, अन्यथा, तस्यापि सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरमभ्युपेयमेवं पर्यवसानं न स्यादित्यर्थः ॥ भिन्नसम्बन्धिप्रतिः सम्बन्धिप्रतिं प्रति न कारकत्वं, न वा व्यापकत्वं, व्यभिचारादित्याह—^b“तथासती” इति ॥ ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया कथमिदं वैषम्यमतं ब्रूह—^c“स्वभावे” इति ॥ परमते स्वरूपसम्बन्धस्य सम्बन्धिद्वयात्मकत्वमुपपादात् तद्दृष्टान्तेन स्वमते एकसम्बन्धिमानात्मकत्वं स्वरूपसम्बन्धस्योपपादयति—^d“तथा विनापी” इति ॥ ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया स्वरूपसम्बन्धस्य वैषम्यमस्तु, त्वया तु स्वरूपसम्बन्धापेक्षयापि वैषम्यमुच्यते, इत्येकस्याऽवास्तवत्वमतं ब्रूह—^e“नचे” इति । भेदे सति योयं विषयविषयिभावः स एव लोकसिद्धोपि बाध्यते, बाधस्याभिधास्यमानत्वात्; यथा सर्वलोकसिद्धः शरीरादावात्मव्यवहारो, यथा वा तमसि नीलव्यवहार इत्यर्थः ॥^f“अननुगमेपी” इति । लोकसिद्धविषयविषयिभावस्य भेदघटितत्वं, स्वप्रकाशविषयविषयिभावस्य चाऽभेदघटितत्वम्,—इत्यननुगमे न दोषः, भेदघटितस्य बाध्यत्वेनैकरूपतामानन्वयशेवादननुगमस्यैवापास्तत्वात् । यद्वा, स्वरूपसम्बन्धः क्वचित्पारमार्थिकः क्वचिदपारमार्थिक इत्यननुगमेपि न दोष इष्टत्वादित्यर्थः ॥

मू० “अथवा, स्वात्मना सह क्रियाकर्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थ इति नाभ्युपेयमेव, ‘यथा तु भवतां सत्तासंबन्धादितरत्र सद्यवहारव्यवस्था (सत्ता तु स्वयमेव सद्रूपा, नचैतावता स्वात्माश्रयता तस्याः) तथा ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धरवरूपम् ।

टी० ननु, सिद्धत्वेन कर्मत्वमसिद्धत्वेन च क्रियात्वं, तदुभयं चैकदा सिद्धम्; एवं ‘विषयविषयिभावः संबन्धः संबन्धिद्वयादभिन्नः’—इति

कथं चिदनवस्थादिभयेनाङ्गीकृतं (१); 'य एव संबन्धः स एव संबन्धी' (२)
 स एव चापरः (३) संबन्धी—इति तु सर्वथा दुर्घटं, केनानुरोधेनाभ्युपेयं ?
 कथं वा स्वपरिभाषामात्रेण व्यवहारसमर्थनम् ? (४) । यदि लोकसिद्धये विष-
 यविषयिभावो नाद्वैतं सहते तदा तदपि त्यज्यतामित्याशयेनाह (५)—।
 "अथत्र"ति ॥ ६ 'यथा तु भवतामि'ति । * न च सत्ता न सद्भावहा-
 रहेतुः किंतु सत्तासमवायः, स च यथा घटादौ तथा सत्तायामपि, तस्य
 संबन्धत्वं न दृष्टत्वात्, सामान्यान्यविशेषेषु सत्तैकार्थसमवायात्; तदेका-
 र्थं (६) समवायापि हि तत्समवाय एवेति वाच्यम् * । तर्हि सत्तासमवायः
 स्वरूपत एव संचिति वक्तव्यम्, तथा च यथा सत्तायां वा तत्समवाये वा
 स्वरूपतः सद्भावस्य स्यं तथा परांसद्भावानात् ज्ञानसिद्धिस्तु स्वत एव-
 त्यर्थः ।

सू० 'अथवा, यथा बहुव्रीहिसमाप्ते तद्गुणसंविज्ञाने गुण (७)
 मदायैव प्रधानस्यान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्र-
 तिपाद्यता तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मानमा-
 दायैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्तनं समर्थ्यताम् । सोऽयं
 गुरुणां सविषयकविज्ञानस्य प्रकाशता चो न ब्रह्म-
 स्वप्रकाशापक्षः, तत्र विषयाभागात् । एतावन्मा-

(१) अत्र 'विरुद्धम्'—इत्यनुपपन्नोपम ।

(२) संबन्धी=सम्बन्धप्रतियोगी ।

(३) अपरः सम्बन्धी—सम्बन्धाऽनुयोगी ।

(४) 'समर्थनम्' इत्यन्तं पूर्वपदव्यत्ययं तत्र 'इति चेत्'—इत्याद्याह 'यदि
 लोकसिद्धः'—इत्यदिः मित्रान्तरात् पात्रनोप ।

(५) केतुर्भित्तुस्तकेषु 'इत्याशयेनाह' इत्यस्य स्थाने इत्यागङ्गाह' इति वाटा दृश्यते
 सोऽयं 'समर्थनम्' इत्यन्तपूर्वपदव्यत्ययानुसारेण केचित्वाधुनिकैः प्रकृत इत्यालस्यत ।

(६) ननु, एकार्थसमवायस्य विशेषेषु सद्भावहारोपपादकत्वमपि शुद्धसमवायस्य
 कथं सद्भावपादकत्वमित्यत आह—तदेकार्थेति ।

(७) गुणं—मेां समस्यमानरुखाद्विषयार्थम् ।

त्रेण तु स्यात्,—यथा स्वाऽविषयेपि कुटादौ बहुव्रीहि
वाक्यं व्यवहारं प्रवर्तयति—इति, तथा ज्ञानमविषये-
प्यात्म'न्यविद्यादशाया(')मिति ।

टी० ननु, “ज्ञानं स्वत एव मिदुमि” त्यनुपपन्नम् । “स्वत”—इति
पञ्चम्या सिद्धिं प्रति स्वस्य हेतुत्वमभिधीयते, सिद्धिश्च द्वयी-ज्ञप्रिहृत्यतिर्वा
न स्वस्माद्भवितुमर्हति, हेतुहेतुमद्भावस्य ज्ञाप्यत्वापकभावस्य वा संबन्धस्य
भेदघटितत्वात् । सत्ता तु सत्तया नात्याक्यते ज्ञाप्यते वा; किन्तु विधिमुखप्र-
त्ययवेद्यस्वादिना सदनन्तरगुणेन (२) ‘सत्ता सती’—इति गौता व्यपदेश
इति महद्वैषम्यमित्याशये (३) नाह—। “अथवे”ति । यथा लक्ष्मणकारादि-
पदं स्वविषये शक्त्या (४), लक्षणया वाऽन्यपदार्थं व्यवहारं प्रवर्तयदेव
स्वाविषयेपि समस्यमानपदार्थं व्यवहारं प्रवर्तयति तथा ज्ञानं स्वविषये
घटादौ व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वाविषयेपि स्वस्मिन् व्यवहारं प्रवर्तयतीति । व्यव-
हारस्य ज्ञानमाध्यत्वान्; स्वभिन्नज्ञानमाध्यत्वस्य गौरवेणापास्तत्वादित्यर्थः ॥
ननु, ‘स्वविषये ज्ञानं व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वस्मिन्वापि व्यवहारं प्रवर्तयति’— इति
वेदान्तिनामनभिमतं, विषयाऽनभ्युपगमादित्यत आह—। “सोयमि” ति ।
गुरूणां=प्राभाकरगुरूणां, मान्यानां वा ॥ अविषये व्यवहारप्रवर्तनं गुरूणा-
मिव वेदान्तिनामपि तुल्यमिति तन्मात्रतद्गुणमविज्ञानबहुव्रीहिपदं दृष्टान्त
इत्याह—। “एतावन्मात्रेण”ति । कुटः=घटः, “घटः कुटनिपावस्त्री”—

(१) ‘अविद्यादशायां’ = इत्यनेनान्तरं ‘व्यवहारं प्रवर्तयति’ इत्यनुपपन्नोपमः

(२) सदनन्तरगुणेन = द्रव्यगुणकर्माऽन्यतमगुणेन ।

(३) इत्याशयेनाह इति = पूर्वपरिज्ञाया आशयं कृटिनिधायाऽम्बरसेन पदान्तरमा-
हेत्यर्थः । अस्यैवार्थस्याऽनवबोधात् कश्चिदत्र ‘इत्याशङ्क्याह’ इत्येव पाठः कृतः, स वा
ऽसङ्गतः, अद्वैतानुपपत्तस्य न्याय्यत्वाद्गतिसम्भवाच्च । उक्तमप्येपि ।

(४) स्वविषयेऽन्यपदार्थं शक्त्या, लक्षणया वा, व्यवहारं प्रवर्तयति इति सम्बन्धः,
वैयाकरणानां मते शक्त्या व्यवहारं प्रवर्तयवैयायिकानां च लक्षणयेति व्येयम् ।

इति कोशा^(१)त् । “गाङ्कुटादिभ्यः” इत्यादिसूत्रस्य कुटपदं वा दृष्टान्तः । कुटादौ=कुटादिस्यले, यद्बहुव्रीहिवाक्यं तत्स्वाविषयेषु व्यवहारं प्रयोजयतीति योजना; न तु^(२)सप्तम्योः सामानाधिकरण्यम् ॥ ननु, स्वाविषये स्वस्मिन् ज्ञानं व्यवहारप्रवर्तकमित्यत्रापि तत्राऽद्वैतवादिना न दृष्टान्तोस्ति, दृष्टान्तस्य व्यवहारस्य च ब्रह्मगोचरस्याऽनभ्युपगमादित्यत आह—
d. “अविद्ये”ति ॥

सू० “तदेवं यद्यदन्यत्र^(३)दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्यवसास्यति तत्सर्वमन्यथानुपपत्तिरेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति । “तद्यथा-अन्यो ज्ञाताऽन्यश्च ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यं; तथाऽन्यज्ज्ञानमन्यज्ज्ञेयमिति जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यं; ‘सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिस्तथादृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते ।

टी० ननु, कुटादावपि तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहेरनुशासनबलान्नतयाया, शक्त्या वा, कुटोपि विषय एव; तथाच व्यवहारानुरोधात्स्वप्रकाशोपि कर्मक्रियाभावो विषयविषयिभावो वाऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः, स चाऽभेदे सर्वथानुपपत्त इति कथं स्वप्रकाशत्वम् ? । न च दृष्टान्तमात्रादिष्टसिद्धिः, इति प्रमाणं किञ्चिदावश्यकमत आह— “तदेवमि”ति । ज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रकाशत्वेऽनवस्था, शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरनिर्मात्तापत्तिश्चेत्यन्यथानुपपत्त्या स्वप्रकाशताऽवश्यमङ्गीकर्तव्या, सा च यावता विना न सिद्ध्यति तावदवश्यमङ्गीकर्तव्यम्; अतो विषयविषयिभावं क्रियाकर्मभावं वा कथमद्वैतेष्यथा-

(१) का. २ । विषय व. । उला. ३२ ।

(२) अस्मिन्द्वितीयवर्णके “स्वाविषये” “कुटादावि”ति सप्तम्योः पूर्ववर्णके षष्ठश्रुतसामानाधिकरण्यवत्सामानाधिकरण्यं नेत्याह-नस्त्विति ।

(३) अन्यत्र = लोके कर्मक्रियाभावो विषयविषयिभावो वा भेदे दृष्टस्ततो वैधर्म्यं ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेऽभेदे कर्मक्रियाभावादिः ।

पत्तिर्न साधविष्यतीत्यर्थः ॥ ननु, यदन्यत्रादृष्टं तदप्यन्यथानुपपत्तिः साध-
यतीत्यप्यदृष्टमेवेत्यत आह—। “तद्वये”ति । ज्ञातुञ्जयत्वं, ज्ञानस्य च ज्ञेय-
त्वमन्यत्रादृष्टचरमप्यहमिति अवहागान्यथानुपपत्त्या, ज्ञानामीति ध्वजहा-
रान्यथानुपपत्त्या च, त्वयाभ्युपेयते, तथा प्रकृतधीत्यर्थः ॥ नन्वन्यथानुपपत्तेः
कथमयं महिमा? कथं वाऽन्यथानुपपत्तिरेव दृष्टेन न बाध्यते? इत्यत आह—।
“सर्वत”इति । यदि तज्ज्ञानं क्रिया स्यात्तदा कर्म न स्यात्, यदि विषयः
स्यात्तदा विषयं न स्यात्, यदि स्वं न विषयीकुर्यात्तदा स्वस्मिन् व्यव-
हारं न प्रवर्तयेत्—इत्यादितकंसतमप्यन्यथानुपपत्तिबाध्यमेव, नतु तद्बाध-
कमित्यर्थः ॥

सू० “तदिदमाहुः,—“प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुब-
हून्यपि”(१)इति । ‘तस्मात्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका ।

पिनष्टि दृष्टवैमत्यं(२)सैव संबन्धलाधिका ॥ ६ ॥

वाच्यान्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताऽऽग्रहः ।

नष्टोक्तप्र समावेशश्रद्धायाऽऽतपवदेतयोः ॥ ७ ॥ इति ।

‘तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपत्तिरेवंविधैर्वि-
चारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपदा; “अस्माभिस्तु
संवेदनबलादेव स्वतःसिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयते इति।

टी० ननु, तत्रैवं प्रौढमात्रं नतु प्रमाणिकानामिदमनुमतमत
आह—। “तदिदमि”ति । यत्रादृष्टं प्रमाणं प्रवर्तते तददृष्टमपि (नित्यं
ज्ञानम्, अशरीरी कर्ता, सुखदुःखात्यन्ताभाववानात्मा; निःस्पृशं मूर्तं, यथा
मनः, ज्ञातमप्यविनाशि, यथाध्वमः, अनृत्यत्रमपि विनाशि, यथा प्रागभावः,
स्वयमेव स्ववृत्ति, यथा प्रमेयत्व) प्रामाणिकैरभ्युपगम्यते इत्यर्थः । अर्था-

(१) “दृष्टशतभागपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः”—इत्युत्तरार्द्धम् ।

(२) दृष्टवैमत्यं = प्रत्यक्षविरोधं, पिनष्टि = परिहरतीत्यर्थः ।

पक्षैरन्यथोपपत्तिमात्रं बाधकं, प्रकृते तु सा नास्त्येवो-युक्तिरित्यर्थः ॥ उक्तं
 मर्षे श्लोकद्वयेन संयुक्ताति-। "तस्मादि"ति ॥ नन्वयापत्या स्वप्रकाश-
 तासिद्धावपि द्वैतं तदवस्थमेव, स्वप्रकाशज्ञानभिन्नाया अर्थापत्तेर्विचारस्य
 चैतादृशस्य त्वयाप्यभ्युपगमादित्यत आह-। "तदित्यमि"ति । नेयमर्था-
 पत्तिर्न चायं विचारो मयाभ्युपेयते किंतु त्वदभ्युपगमेन त्वं बोध्यसे इति
 न द्वैतापत्तिरित्यर्थः ॥ तां हं स्वप्रकाशज्ञानासिद्धिरपि कथं तवेत्यत आह-।
 "अस्माभिरि"ति । यद्यपि तदेव ज्ञानं^(१) प्रकाशकं, प्रकाश्यम्, अभ्युपग-
 न्तव्यम्, अभ्युपगमः, अभ्युपगन्तृ^(२), स्वप्रकाशत्वेन परबोधनं, बोध्यश्च
 परः, बोधकं वचनं चेति संकलयता महामाहसिकत्वमसंकलयतश्च द्वैता-
 पत्तिस्तथापि प्रपञ्चबाधाया वक्तव्यतया तथैव पर्यावसास्यतीति हृदयम् ।
 यद्यपि यत्स्वप्रकाशं ज्ञानं त्वयाभ्युपगतं तस्य सर्वोऽयं प्रपञ्चः, स्वं च
 विषय इत्यस्तु, तथाच तद्विषयतया न प्रपञ्चमिच्छात्वं, नाप्यद्वैतं, प्रपञ्च
 स्यैव सत्त्वात्; नापि तादृशे^(३) तत्र प्रमाणांतरापेक्ष, स्वतः सिद्धत्वात्;
 नाप्यस्माकमसिद्धान्तः, ईश्वरज्ञानस्य तादृशस्यास्माभिरभ्युपगमात्;
 नापि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यतापत्तीकटोषः, तेनैव सर्वविषयकेषु सर्वदोषनि-
 रासात्; तथाच स्वबोधाय कृत्योत्थापनमेतत्-स्वप्रकाशज्ञानसाधनम् ।
 तस्य प्रपञ्चो विषय इत्यत्र किं प्रमाणम्?-इति चेन्न, प्रपञ्चविषयता-
 यामपि तस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्; त्वन्मते स्वप्रकाशतायामिव । अस्माकं
 तु तद्विषयमपि धर्मिणाहकं^(४) प्रमाणमस्ति, न च तज्ज्ञानविषयीकृतं^(५) प्रपञ्चं
 खण्डनयुक्तयोपपत्तेरुपपत्तेः, सुवृद्धप्रमाणसिद्धत्वात् । तस्मात्, -"त्वया नि-
 र्मयाय दत्तेस्मिन् स्वप्रकाशैकमन्दरे । न्यासीकृतः प्रपञ्चोऽयं नापह्नोतुं तवा-
 र्हति । प्रकाशपाशबद्धानां प्रपञ्चानां विमोचने । प्रभवन्तु स्वयं बाध्याः

(१) तदेव ज्ञानं प्रकाशकप्रकाशयाद्यद्वैतविषयकपक्षेण व्यवस्यते विचारयता महा-
 साहसिकत्वमित्यन्वयः ।

(२) 'अभ्युपगन्ता चे'त्वपि क्वचित्पाठः । (३) तादृशे = स्वप्रकाशज्ञाने ।

(४) ईश्वरप्रवृत्तिज्ञानप्रयोग्या प्रवृत्तिन्त्वादस्मदादिप्रवृत्तिवदित्याकारकमीश्वर-
 ज्ञानसङ्घाधर्मिणाधकमनुमानमेवैश्वरज्ञानं प्रपञ्चविषयकत्वमपि प्रसाधयित्वातीत्यर्थः-

(५) ईश्वरज्ञानविषयीकृतमित्यर्थः ।

कथं खखहनयुक्तयः" तथापि प्रपञ्चखखहनयुक्तयस्त्वया बाधितुमशक्या इति हृदयम् ॥

मू० "एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदा दिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति (तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे (१)-"बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते । अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः(२)" इति) विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते । तथाहि-नेदं सद्भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषण(३)ग्रस्तत्वात् । नाप्यसदेव, तथा सति लौकिकविचारकाणां(४) सर्वव्यवहारव्याहृत्यापत्तेः । यदपि 'निर्वक्तुमसामर्थ्यं गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते'-इत्युपालम्भवचनं तत्तदा शोभेन यदि मेयस्वभावाऽनुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः । 'यस्तु वादी निरुक्तयभिमानं धत्ते स निर्वक्तु-नतु शक्षयति, वक्तव्यदोषात्(५) ।

टी० ननु, यदि विचारोपि त्वया नाभ्युपेयते तदा माध्यमिकमतप्रवेशात्तवापि दर्शनमदर्शनमेवेत्यत आह-। "एवं चे"ति । चादिमः=सौगतः, भगवता=बौद्धेन (६), समन्तभद्रो भगवान्मार्जिल्लोकजिज्जि-

(१) विद्यासागरास्तु "ब्रह्महृत्वावतारे"-इति पाठं व्याचक्षते ।

(२) देशिताः=उपादिष्टाः सन्तः । [यासादित्यर्थः ।

(३) लज्जाधीना हि लक्ष्यव्यवस्थितिलक्षणाणि चाऽनुपपन्नाभित्यादितृषयण-

(४) लौकिकविचारकाणां, लौकिकानां परीक्षकाणां अर्थः ।

(५) भेदप्रपञ्चस्य स्वतः परतो वा सिद्ध्यसम्भवरूपानुक्तव्यदोषात्, अद्वैतागमेन सतिप्रश्नोपाधी बाधरूपाद्वा ।

(६) अत्र 'बुद्धेन'-इति पाठस्यसुचितः । 'बौद्धेन'-इति पाठे तु बुद्ध एव बोद्ध इति कथञ्चिद्भाकरणीयम् ।

न"—इति कोशात्; लङ्कावतारस्तदागमयन्तः ॥ ^१“बुद्धे”ति । यथा बुद्ध-
तिरिक्तः पदार्था बुद्ध्या विविच्यमानो विचारं न सहते तथा बुद्धिरपि वि-
विच्यमाना विचाराऽसहत्वाच्चिरभिलष्या=अनिर्वचनीया, निःस्वभावा=अ-
सतीत्यर्थः (१) ॥ सौगतदर्शनात् स्वदर्शनं भिनत्ति—। “विज्ञानव्यतिरिक्त-
मि”ति । ‘भविष्यत्(२)मर्हति’—इत्यधिकमपि लौकिकमनुबुद्धोक्तम् । मेयस्यायं
स्वभावो यदस्य निर्वचनमशक्यं न तु निर्वक्तुः(३); स च तदा स्याद्यदि
कोपि शङ्कयाचिर्वक्तुं, येषि गुरुषु उपासनीयास्तेषु निर्वक्तुमशक्यता एवे-
त्यर्थः ॥ स्वमपि गुरुभूत्वा मां शिष्य यदि पारयन्तीत्याह—। ^४“यस्त्वि”ति ॥

मू० * नच ते दोषाः स्वकमपि घनन्तो जातयः कथं न
स्युरिति वाच्यम्*, ‘यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तै
र्दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयैरेव, अनिर्वचनीयैरेव च
तैर्व्यवह्रियते एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात्
‘तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात् । *
‘ननु “सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनादनिर्वचनीयता”’—इति
ब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः ? किं वा सदसत्त्वप-
क्षबहिर्भावाभ्युपगमः ? ‘आद्ये भवितव्यं तावत्सद-
सत्त्वयोरन्यतरेणेत्येकपक्षदोषस्याभासत्वं, तच्च सत्त्व;
पक्षदोषस्यैवाऽभ्युपेयमावश्यकत्वात् ।

टी० ननु(५) “वक्ष्यमाणदूषणवन्तत्वात्”—इत्ययमपि हेतुर्वक्ष्यमाण-
दूषणयस्त एव, तथाच स्वव्याघातकतया जात्युत्तरमेतत्; यथा(६) ‘नेदं

(१) बुद्धेर्निःस्वभावत्वोपघर्शनं भावायां नत्वन्तरार्थं ।

(२) ननु मूलं “नेदं सत्प्रवितुमर्हति”—इत्यत्र “नेदं सत्”—इत्येष पर्याप्तं किं भवि-
ष्यत्तुमर्हतीत्यधिकोक्त्या, अर्थाऽव्यतिरेकात्पुनरुक्तं भवेति तत्राह—भविष्यत्प्रविति ॥ “लौकिक-
मि”ति, लोके धार्यं धारितं, यत्सं गृहीतम्, इत्यादि यथा पुनरुक्तिर्न दोषस्तद्विदहा-
योति भावः ।

(३) ‘न तु निर्वक्तुः’—इत्यत्र ‘स्वभावः’—इत्यनुवृत्त्ये, निर्वक्ता चात्र सदोषपुरुष-
स्तेन न “यदि कोपि शङ्कयात्”—इत्ययिमयाऽशासङ्गतिः ।

(४) व्यायाः लङ्कारयन्तः निर्वचनीयतादूषणं यदभाषि तदनुवदति—नन्विति ।

(५) जात्युत्तरमेवोदाहरति—‘यथा नेदम्’ इत्यादिना । इदं = धूमलक्षणं साधनं, न

साधकं, सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कायस्तत्वात्'-इत्यादि ; तत्रादि
 दोषाद्यामपि बाध्यत्वं, तत्रा प्रपञ्चः कथं बाध्यतां तैरित्याशङ्कने-। "नचे"
 ति ॥ बाध्यैरेव दोषैर्जमद्वाध्यमित्यङ्गीकृत्य प्रवृत्तं मां प्रति न स्वव्याघा-
 तदोषावकाश इत्याह-। "यत"इति ॥ ननु, स्वव्याघातकं दोषं प्रयुञ्जा-
 नस्त्वं जातिघाती निरनुयोज्यानुयोगेन निग्रहस्थानेन निग्रहोत इति चित-
 मस्माभिरित्यत आह-। "तज्जातित्वस्य"ति । अत्यमाणदोषैर्जातिलक्ष-
 णामपि निर्वक्तुमशक्यमेवेति जातित्वमव्यवस्थाय्याहं निग्रहीतुमशक्य
 इत्यर्थः ॥ यथा, शब्दे नित्यत्वानित्यत्वयोर्द्वयोरपि दोषदर्शनादुभयको-
 टिकः संशयस्तथा प्रपञ्चे सत्त्वासत्त्वयोर्दोषदर्शनात्संशयो वा ? कोट्यन्त-
 राभ्युपगमो वा ?-इति विकल्प्य मत्त्वपक्षधोत्रं (१) शङ्कते-। "नन्वि"ति ॥
 "आद्ये"इति । परस्परविरहस्वभावात्कोटिकद्वयधर्मिण एककोट्यात्-
 कत्वावश्यकत्वात् तस्यां वास्तव्या कोटौ दोषा नूनमाभासा इत्यर्थः ॥
 'तत्त्वे'ति । आभासत्वमित्यर्थः ॥

मू० "यदि तावत्सत्त्वपक्षस्तदा सत्त्वपक्षे दोषः कथं संगच्छेत,
 'अथाऽसत्त्वपक्षस्तदा सर्वासत्त्वं तद्दोषः कथं मद्भाषवान्
 भवितुं प्रभवेत् । "द्वितीयस्तु व्याघातादेवाऽमंभर्व',
 "परस्पर(२)विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" इति । *
 तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम् । यो हि सर्व-
 मनिर्वचनीयसदसत्त्वं, ३ ब्रूते स कथमनिर्वचनीयतासत्त्व
 व्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, सापि हि कृत्स्नप्रपञ्चपरसर्वश

वन्निर्लक्षणसाध्यसाधकं, सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कायस्तत्वादित्युक्ते भवति म्येक
 स्थापि "सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कायस्तत्वात्"-इत्यस्य हेतव्याघातः, तस्यापि धूम-
 लक्षणासाधनवत्सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कायस्तत्वात्; अत एव च जात्युत्तरत्वं,
 घातकमसदुत्तरं जातिरि"ति वचनात् ।

(१) 'सत्त्वपक्षधोत्रम्'-इत्यापि क्वचित्पाठः ।

(२) कुसमाज्जलावुदयनेकं व्याघातमेवापपादयति-परस्परंति । "निकतापि
 विद्वद्भानामुक्तिमात्रविरोधतः"-इत्युत्तराद्यम् ।

(३) अनिर्वचनीये=निर्वचनानर्हं, सत्त्वासत्त्वे यस्य तदनिर्वचनीयसदसत्त्वम् ।

ब्दाभिधेयमव्यनिविष्टैव । परस्यैव व्यवस्थयैव पर्यव-
स्यति-निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वं, विधिनिषेध-
योरेकतरनिरासस्येतरपर्यवसायिताया 'स्तेनाभ्युपग-
मात् ।' ततः परकोयरीत्येदमुच्यते.- 'अनिर्वचनीयत्वं
विश्वस्य पर्यवस्यति' इति । 'वस्तुतस्तु, वयं सर्वप्रपञ्च
सत्त्वाऽसत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताःस्वनः सिद्धे चिदा-
त्मनि ब्रह्मतत्त्व केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुख-
माप्सहे ।

टी० आवश्यकत्वमेवाह-। "यदि तावदिति" "कथमिति
पारमार्थिकत्वदृष्टत्वयोरेकत्रामभवादित्यर्थः ॥ असत्त्वपक्षेप सत्त्वपक्षदो-
षस्याभासत्वमुपपादयति-। "अथेति । तद्विषयः-मत्त्वपक्षदोषः ॥ "द्वि-
तीय" इति । मत्त्वपक्षपक्षविभाज इत्यर्थः ॥ मत्त्वमितायामनिर्वचनी-
यताया विकल्प्य दोषाभिधान प्रकारान्तरेण (१)निर्वचनीयतायाः सत्त्वव्य-
वस्थित्यै त्वया कृतं, साय दोषाभिधानलक्षणः पर्यनुयोगो न मयि
घटते, यतो ऽनिर्वचनीयतास्यस्यापि धर्मस्याऽनिर्वचनीयत्वैव मत्त्वमिते-
त्याह-। "यो ही" इति ॥ ननु, यद्यनिर्वचनीयता न त्वया व्यवस्थापनीया
तदा कथं व्यवतिष्ठेतेत्यत आह-। "परस्येति ॥ "तेने" इति । परेणे-
त्यर्थः ॥ "तत" इति । अनिर्वचनीयत्व मया न साध्यते किंतु "निर्वच-
नखण्डनेन परिशेष्यादनिर्वचनीयत्व मिद्वानि"-इति ब्रूमः ॥ नन्वनिर्वच-
नीयत्वं मा साध्यतां, परिशेषसिद्धानिर्वचनीयताभ्युपगमनापि द्वैतापत्ति-
स्तदवस्येत्यत आह-। "वस्तुतस्त्व" इति । परिशेषसिद्धेऽप्यनिर्वचनीयत्वे
मम नाभ्युपगमः, अपि तु त्वं तथा बोध्यसे इत्यर्थः । भरम्-प्रथममायम् ॥

मू० "ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमव-
तार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रति ब्रूमः-न सा-

(१) प्रकारान्तरेण = सत्त्वप्रकारेण, निर्वाच्यत्वस्य सत्त्वव्यवस्थित्यर्थमित्यर्थः
कवचित्तु "अनिर्वचनीयतायाः सत्त्वव्यवस्थित्यै"-इति पाठस्तत्र प्रकारान्तरेण = अनिर्व-
चनीयत्वप्रकारेणैवानिर्वचनीयतायाः सत्त्वव्यवस्थित्यर्थमित्यर्थः ।

ध्वीयं भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहृतत्वात् । अत एवाऽस्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थिति-विषयाः पर्यनुयोगा निरवकाशाः, त्वद्भवस्थयैव त्वद्भवस्थाया व्याहृत्युपन्यासात् । * "नचोपन्यास एव निर्बन्धकारणम्, विचारोपन्यासस्य^(१) सदसत्त्वोपगमाद्युदासीनैर्विचार्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्तनायाः शक्यत्वामित्यावेदितत्वात् । यदि तु "विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्या न विचारयितुं शक्यम्"—इत्युच्यते, तदा प्रमाणमव्यापार्य^(२) न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोऽपि शक्यतेऽतिप्रसङ्गात्; इति विचारस्यापि विचार्यग्रहणेऽनवस्थया विचारारम्भ एवाऽशक्यः स्यात् । * "नच पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम्^(३) * । "विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे विचार्यरूपस्वविषयव्यवस्थितत्वात् तस्य, विचार्यमपि पूर्वमेव विचारितमित्यनारम्भ एव विचारस्य ।

टी० ननु, तर्हि सदसत्त्वविचारोऽपि किमर्थं ते प्रवृत्तिरित्यत आह—
 "येत्वि"ति । ब्रह्मभिव्रतत्त्वद्वेषमानेण विचारेत्त्वदभ्युपगमविचारमयादया प्रवर्तनामहे इत्यर्थः ॥ ^b "अत एव"ति । धतः परपरिकल्पितमाधनदूषणव्यवस्थयैव प्रवर्तनामहे नतु स्वयं साधनदूषणादिव्यवस्थामभ्युपगच्छामो येन

(१) विचारोपन्यासनिष्ठं च सत्त्वाऽसत्त्वं तदुपगमाद्युदासीनैरित्यर्थः, एकदेशान्त्वग्रहणं "शरीः शतितपत्त्राणि" इति वचनं द्वावावहः । "विरोधोपन्यासस्य—इति क्वाचित्कः पाठस्तु प्रामादिकः ।

(२) प्रमाणमव्यापार्याः प्रवृत्त्याऽनुगम्यस्यति यावत् । तदीयसत्त्वाभ्युपगमः = विचारसत्त्वाभ्युपगमोऽपि न, अज्ञानद्वारादिभिः सत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्, तथाच प्रमाणं व्यापार्य विचारसत्त्वाङ्गीकारे प्रमाणाव्यापारोऽपि कथात्मकविचारान्तरे, तस्यापि च सत्त्वाभ्युपगमो विचारान्तरे, वक्तव्य इत्यनवस्थानात्प्रथममेव मतिकर्तव्ये विचारारम्भमेवाशक्यमापद्येतेत्यर्थः ।

(३) "इदानीं न गवेषणीयम्"—इत्यपि पुस्तकान्तरे दृश्यमानः पाठः साधुरेव ।

तदाश्रिता ऋद्धेतव्याघातादयो दोषाः स्युरित्यर्थः ॥ “अत” इत्यस्यातिदे-
श्यमाह—। “स्वप्नवस्थे”ति ॥ ननु, विचारे व्याघातोपन्यासस्त्वया
कर्तव्य इति विचारस्य, व्याघातोपन्यासस्य च, सत्त्वमभ्युपगतमिति द्वैता-
पत्तिरेवेत्यत आह—। “नचे”ति । ‘प्रमाणादेरिव विचारव्याघातोपन्या-
सयोरपि सत्त्वमनभ्युपगम्यैव विचारे प्रवृत्तिः शक्या’—इत्युक्तत्वादित्यर्थः ॥
प्रथमं मतिकर्तृमेव विचारप्रवृत्तिरेव न स्यात्—इत्युक्तं स्मारयति—। “यदि-
त्विति”ति ॥ ननु, विचारस्यापि विचार्य ग्रहणे विचारप्रवृत्तिः स्यात्, नत्वेवं,
किं तर्हि पूर्वमेव विचारः सिद्धः? (१) इत्यत आह—। “नचे”ति ॥ विचा-
रसिद्धिर्विचार्यसिद्धिर्नान्तरीयकी, ज्ञानस्यैव विचारस्यापि सविषयकत्वात्;
तथाच किं विचारेण, विचार्यसिद्धेस्तत्फलस्य संपन्नत्वादित्याह—। “विचा-
रस्ये”ति ॥

नू० “अथ*विचार्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात् तदर्थं वि-
चारारम्भः! *,^० तर्हि विचारविशेषस्यापि तद्विषय-
कस्य पूर्वमसिद्धिरेवेति वृथा शुष्क(२)चर्चणम् । “यदि
च त्वद्दर्शनरीत्याभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे
तदा स्वाभ्युपगतरीतिबाधाभिधायितैव ते स्यात् ।
“ अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधे-
ऽस्माकमेव जेतृता, “ ‘खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, नि-
र्वाह्यपक्षश्च बाध्यः’”—इत्यस्याऽस्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव
निर्वाहात् ।

टी० ननु, विचारलक्षणस्य विचार्यस्य पूर्वसिद्धत्वेपि प्रपञ्चसत्त्वा-
सत्त्वलक्षणस्य विचार्यविशेषस्य न पूर्वसिद्धत्वमिति तदर्थमथे विचारः
स्यादेवेत्याह—। “अथे”ति ॥ तर्हि स विचार्यविशेषो यस्य विचारस्य

(१) पूर्वमेव विचारः सिद्धः । अनादिसिद्ध इत्यर्थः तथा च बीजाङ्गुरवेदनादि-
त्वाज्ञानवत्येति भाषः ।

(२) नूनः शुष्कत्वचर्चणं यथा वृथा तथेदमित्यर्थः ।

विषयः सोऽप्यसिद्ध एव, तत्सिद्धौ विचार्यत्रिशेषस्यापि सिद्धत्वप्रसङ्गात्^१ एवं 'ततः पूर्वपूर्वसिद्धत्वादिचारे विचारान्तरमिदानीमगत्रेषणी १)यम्'— इति यदुक्तं तच्छुष्कचर्चणमित्याह—। ^१“तर्ही”ति ॥ ननु, प्रवर्त्यतां विचारः, तत्र विचारे त्वदुक्ता दोषा मया युक्त्यन्तरेण बाधनीया इत्यप्यर्थं वसानं स्यादित्यत आह—। ^२“यदि चे”ति ॥ ननु, दोषा अपि हेत्वाभासादयस्त्वया खण्डिता एव, तदेव खण्डनमादाय स्वयोद्भाव्यमाना दोषा मयापि खण्डनीया, इत्यहमेव ज्ञेयमित्यत आह—। ^३“अस्माभिरि”ति । यद्यपि तस्यां कथायां त्वदुपन्यस्तदोषाणां परेण खण्डनयुक्त्या बाधने परस्य जेतृता, न तत्र, उपन्यस्तदोषस्य स्वयाऽनिर्वाहात्; तथापि परेण खण्डनयुक्तीनां बलवत्त्वं तावदङ्गीकृतमित्येतावतैव मम जेतृतेति ^(२) हृदयम् ॥ कथं जेतृतेत्यत आह—। ^४“खण्डने”ति ॥

मू० “तस्मात्त्रया निर्वाह्यमस्माभिस्तु खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति । ^१“तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसद्वितीयमिति स्थितम् ^(३) ।

*‘नन्वद्वैते किं प्रमाणम् ?’ । ^१“प्रश्न एव तावद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते । ^२“प्रमाणं यत्राद्वैते ^(३)पृच्छयते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवंभूतः प्रश्नः संगच्छते । नहि

(१) ' न गत्रेषणीयमि 'त्यपि क्वाचित्कः पाठः साधुरेव ।

(२) यथा निर्घं ह्यर्थः खण्डनयुक्तिभिर्बाध्यस्तथा खण्डनयुक्तयोपि ताभिरैव बाध्या इत्येतावतैव मम जेतृतेति भावः ।

(३) { किमस्ति मानमद्वैते इतीदृष्टे प्रष्टुमेव न । }
{ मतत्वे वाऽमतत्वे जेतृतेत्यस्तु यतोऽधुना ॥ }

(४) “यचाम द्वैते” इत्यपि पाठः ।

प्रमाणमात्रं भवता वृच्छयते, किंनाम विषयविशेषनिय-
तम्, तच्च^(१) तदोपपद्यते यदि तादृशं ते प्रतीतिमारो
हेत्, प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात्, व्यवहारस्य च
स्वजन^(२)कज्ञानविषयनियतत्वात् । अन्यथा व्यवहा-
राणां विषयनियमप्रयोजकस्यान्यस्यासंभवेन व्यवहा-
रविषयपारिप्लवापत्तेः ।

टी० ननु, ब्रह्माद्वैतं त्वया निर्वाह्यं, तन्मया खण्डनीयं, प्रपञ्चख-
ण्डनमप्यन्ततस्त्वया निर्वाह्यं, तत्र प्रतिखण्डनं मया कर्तव्यमित्यप्यर्थ-
सानं तदवश्यमेवेत्याशङ्क्य कथासन्दर्भमुपसंहरति— “तस्मादि”ति ।
यद्यपि “त्वया ब्रह्माद्वैतं स्थापनीयं, मया खण्डनीयम्, इतीदृश्यामेव
कथायां मया वक्तव्यं, नान्यत्रे”ति परेषांपि वक्तुं शक्यते, * नचैवं कथैव
न^(३)स्यादिति वाच्यम्*, इष्टापत्तेः; अनिष्टत्वे चास्योभयसमाधेयत्वात्^(४) ।
*ब्रह्म स्वतःसिद्धमेव न तत्र साधनापेक्षा *;—इति चेत्, प्रपञ्चोपि
सर्वजनसिद्ध एव न तत्र साधनापेक्षेति तुल्यम् । * सर्वजनसिद्धत्वमपि
त्वयोपपादनी^(५)यम् *?—इति यदि, तदा स्वतःसिद्धत्वमपि त्वयोपपा-
दनीयमिति तुल्यम् । *तर्हि वितण्डा कथैव न स्याद्भयोरपि स्थापनाप्रस-

(१) तदिति सामान्ये न्युत्कं, स विषयविशेषनियतप्रमाणमन इत्यर्थः । तदोप-
पद्यते यदि तादृशं = विषयविशेषनियतं प्रमाणं, ते प्रतीतिमारोहेत् विषयवृत्तौ तमे-
वेति भावः ।

(२) स्वजन = व्यवहारस्य जनकं ज्ञानं स्वजनकज्ञानम्, तस्य यो विषयस्तेन नि-
यतत्वात्नियमेन तद्विषयत्वादित्यर्थः ।

(३) कथा हि समयबन्धपूर्विका, समयबन्धश्च माण्डनिकेन सद्द्वैतं ब्रह्म स्था-
पनीयमित्येव, इदानीं खण्डने प्रवृत्तेन तेन स उपेक्षित इत्येव कथैव न स्यादित्यर्थः ।
यद्वा, वैतण्डिकेनाप्यद्वैतस्य प्रस्थापने वितण्डा कथैव न स्यादित्यर्थः ।

(४) यथा माण्डनिकेन सद्द्वैतं ब्रह्म स्थापनीयमित्यस्ति समयबन्धस्तथा जाण्ड-
निकेन तत्खण्डनीयम् (अर्थाद्वैतं व्यवस्थापनीयम्) इत्यपीति तदनिर्वाहे कथा
ऽभावप्रसङ्गस्तस्यापि तुल्य इत्यर्थं तेनापि समाधेयत्वाद्धिति भावः ।

(५) त्वयोपपादनीयम् = त्वयोपपादनं, (स्वकपोषकत्वित्यमिति यावत्) ।

ज्ञात् *?—इति चेत्, शक्ति^(१)जिज्ञासया प्रपञ्चवादिनामप्यन्योन्यं तत्सं-
भवात्, तथापि खण्डनयुक्तयो बलवत्य इत्यत्रैव हृदयम् ॥ स्वपक्षमुपसं-
हरति—^६ “तदेवमि”ति ॥

ननु “ब्रह्मैव परमार्थमत्”—इति त्वयोच्यते, तथाच प्रतिज्ञैवेयं
तत्र प्रमाणमुपन्यस्तुमर्हतीत्याह—^७ “नन्वि”ति ॥ उत्तरमाह—^८ “प्रश्न
एवे”ति । प्रश्न एव तावत् प्रमाणमिति विच्छिन्नापि^(९) योजयन्ति । प्रश्ना-
न्यथानुपपत्तिरेवाद्द्वैतसाधिकेत्यर्थः ॥ तामेवाह—^९ “प्रमाणमि”ति । अद्वै-
तज्ञानमन्तरेण तद्वियत^(१०) विषयप्रमाणप्रश्न एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ नन्वद्वै-
तमज्ञानानस्यापि तत्प्रमाणप्रश्नः स्यादित्यत आह—^१ “प्रश्नस्ये”ति ।
‘अद्वैते किं प्रमाणम्’ ?—इत्ययं वाग्यवृत्तारस्तावज्ज्ञानजन्यः, तथाच
तज्ज्ञानविषयविषयत्वधौष्यमेवास्य; अन्यथा स्वजनकज्ञानविषयाऽतिक्रमे
व्यवहाराणां व्यवहस्तंश्रानियमेऽन स्यादित्यर्थः ॥

सू० “यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते तदा तत्प्रती-
तिस्तेप्रमा वा स्यात्? अप्रमा वा?; आद्यं यदेव तस्याः
प्रमायाः करणं तदेवाद्द्वैते प्रमाणं तत्रापि संप्रतिपन्नमि-
ति वृथा तस्य प्रश्नः।* नच वाच्यं सामान्यतोऽद्वैतप्रमा-
णसिद्धौ^(११) भूतायामपि विशेषतः प्रमाणप्रश्नः*, यतः
सामान्यसिद्धावेवाऽद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः काकद-
न्तविचारवत्स्यात्; सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्या-

(१) शक्तिजिज्ञासया = परप्रतिपादनसामर्थ्यज्ञानेच्छया, प्रपञ्चवादिनां = स्वा-
पनावादिनां, तत्संभवात् = विततगडाकथासम्भवादित्यर्थः । अश्वेतगिडका अपि विततगडां
कुर्वते इति भावः ।

(२) अपिशब्देन ‘प्रश्न एव नोपपद्यते’—इत्यन्ययस्तु पसिद्ध एवेति समुच्चयते ।

(३) तद्=अद्वैतं, नियतो विषयो यस्य प्रमाणस्य तद्विषयकः प्रश्न इत्यर्थः ।

(४) अद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायाम् = अद्वैतप्रमाणासिद्धौ सत्याम् ।

क्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन,
'परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न
प्रमिणोषि तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः ।' यदि
च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमि-
णोषि तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्र-
मणोयमेव (१) ।

टी० नन्वेतावताऽद्वैतप्रतिपत्तिरायाता, प्रमाणानुयोगस्तदवस्य
ष्वेत्यत आह—। "यदि चे"ति । अद्वैतमनुमाय, श्रुत्या, दृष्ट्या वा त-
द्याय प्रश्नः; तथाचानुमानं, शब्दः, इन्द्रियं वा, तत्र प्रमाणमिति त्वयैव
ज्ञायते किं प्रश्नेनेत्यर्थः ॥ ननु, प्रश्नान्यथानुपपत्तिः प्रमाणसामान्यसाक्षि-
णी भवतु प्रमाणविशेषजिज्ञासा तद्विशेषाभिधानमन्तरेण कथं निघर्तता-
मित्याशङ्क्याह—। ^b "नचे"ति ॥ अद्वैतसिद्धिरस्मदपेक्षिता, त्वया चाऽनु-
मता, किमत्र विशेषजिज्ञासयेत्याह—। ^c "यत"इति ॥ ननु, तथापि वि-
शेष पृच्छतः किमुत्तरमत आह—। ^d "सामान्ये"ति । नहि निर्विशेषं सामा-
न्यमिति भावः ॥ नन्वेतावता विशेषस्त्वेनैव विशेषः सिद्धो नन्वनुमाना-
दिभावेन, तादृशी च सिद्धिरपेक्षितेत्यत आह—। "परिगणितेष्वि"ति ॥
ननु परिगणितेषु सर्वत्र दोषं पश्यत एव ममाय प्रश्नः ? इत्यत आह—।
'यदिचे"ति ॥

सू० "यदि च 'का प्रमाणव्यक्तिरसौ' ?—इति प्रश्नार्थः परि-
शिष्यते, तदा न सर्वा व्यक्तिर्विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते-
इति तदनिर्देशोपि न नः किंचिदपचीयते । 'यदि च द्वि-
तीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव 'अप्र-
माविषये किं प्रमाणम्?'—इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते ।
'अथ "अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमेवेति तत्करणं

प्रमाणं पृच्छयते?"-इति ब्रूषे, नैतदप्युपपद्यते, तवा
द्वैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्य-
मित्यत्र ममाऽनियमात् । यदि नाम मया सदाऽद्वैतम-
भ्युपेयते तावता किं तावकीनस्य तज्ज्ञानस्य कारणमव-
श्यं प्रमाणं स्यात्? "वस्तुतो बन्दिमत्यपि पर्वते यदि क-
श्चिद्वाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो बह्निमनुमिनोत्येतावता
किं वाष्पविषयं धूमज्ञानं कारणं प्रमाणमेवमुच्यते?"-इति ।

टी० नन्वनुमानत्वादयोपि प्रमाणत्वविशेषाः सामान्यमेव, तेन
तत्रापि विशेषजिज्ञासया प्रश्नः? इत्यत आह-। "यदि चे"ति ॥ "अद्वैत-
प्रतीतिरप्रमा"-इति पक्षं दूषयति-। "यदि चे"ति । यद्यपि 'अप्रमाविषये
किं प्रमाणम्?' इत्याकारो न मम प्रश्नो येन व्याघातः स्यात्, नच^(१) तत्प्र-
कारप्रश्नेपि व्याघातः, नहि यदप्रमाविषयस्तत्कदापि न प्रमाणाविषयः,
तथाप्यापातस्फूर्तिको व्याघात इत्यर्थः ॥ त्वदभिमानमनुरुद्ध्याऽयं प्रश्नो
मम तु बाधितविषयतया सर्वत्राद्वैतज्ञानमप्रमैवेति न व्याघात इत्यत
आह-। "अथे"ति ॥ विषयःऽत्रापि क्वचि^(२)त्करणं द्रुष्टं दृष्टं, तथाच
'अद्वैतविषयं तत्रापि ज्ञानं प्रमैव^(३)द्रुष्टकरणजन्या'-इति संभावनायां कथं
तत्र मया प्रमाणं वक्तव्यमित्याह-। "वस्तुतः"इति । अत्र, यद्यपि 'कति
ते पुत्राः'?-इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रान् संभावयतो दार^(४)परिग्रहेषु-
दासीनस्य, सर्वजनप्रसिद्धमप्यस्वविद्वेषिणः शशशङ्कूर्मरोमगगनारविन्दादि-

(१) अप्रमाविषये किं प्रमाणमित्याकारप्रश्नेपि न व्याघातो न हि यदप्रमावि-
षयस्तत्र कदाचित्प्रमाणाविषयः, पूर्वज्ञानाद्यवच्छेदेन रजतत्वेनाऽप्रमाज्ञानविषयस्यापि
शुल्कादेः कालान्तरे शुक्तित्वेन प्रमाणाज्ञानविषयत्वादित्याह-न चेति ।

(२) क्वचित् = बन्दिमत्यर्थतधर्मिकयाप्यनिर्द्धारकवचनानुमित्यादौ संवादिभ्रमे ।

(३) प्रमाऽत्राबाधिताद्येगोचरं ज्ञानं, न तु प्रमाणकरणकं वाच्यम् ।

(४) दारपरिग्रहेषुदासीनस्य कति ते पुत्राः?-इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रा-
न्संभावयतस्ते कः प्रतिभल्लः (प्रतिभटः, चारिषतेति तु फलितम्) इत्यन्वयः ।

प्रमाणप्रश्नबलायातमनन्तं प्रपञ्चं साधयतः, कस्ते इतिमल्लः, कथं वा ब्रह्म
नास्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ?-इत्यनेन प्रश्नेन ब्रह्मनास्तित्रैव न सिद्धेत् ।
कथायां यस्य यस्य पदार्थस्याभावस्त्वया साध्यस्तस्य तस्य प्रमाणप्रश्नब-
लात् तत्तत्सता तदानीमेव वाअन्तरेण साधनीया इति द्रुहत्तरं व्यसनम्
वस्तुतो^(१) 'ब्रह्माद्वैतं घटादिवृत्ति न वा'-इति मध्यस्थविप्रतिपत्तौ 'ब्रह्मा-
द्वैतं घट^(२)वृत्ती'ति विधिकोटिपरिग्रहे त्वया कृते तत्र प्रमाणप्रश्ने प्रमाण-
वचनमेवाचितं, कथासंप्रदायस्य तवापोष्टान्वत्; तद्विपूर्वे पुनर्दुहत्तराव्य-
सनमेव, तथापि वक्ष्यमाण^(३) प्रमाणावष्टम्भाद्वैतदुक्तमिति हृदयम् ॥

सू० "अस्तु वा प्रश्नोऽयं यथातथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति
ब्रूमः । श्रूयते खलु "एकमेवाद्वितीयं नंह नानास्ति किं
चन" इत्यादि । "श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्व-
राभिसन्धौ साधयिष्यते । सिद्धार्थानां^(४) श्रुतीनामन्य-
परत्वमपि यदि स्यात्तथापि पद^(५) समन्वयबलेन तासु
प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभव-
नात्^(६), "धियां स्वतः प्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् ।

टी० एतेनैवानुशयेनाह-। "अस्तु वै"ति ॥ नन्वनृत^(७) व्याघातपुन-

(१) 'वस्तुतः'-इत्यस्य प्रमाणवचनमेवाचितमित्यनेनान्वयः ।

(२) अत्र घटादिवृत्तीति पाठः समुचितः, प्रतिज्ञाया विप्रतिपत्त्यनुगुणत्वादि
त्यादित्यनुमन्ये ।

(३) "श्रुतिरेव प्रमाणम्"-इति वक्ष्यमाणं प्रमाणप्रतिवचनमवष्टम्भेव वचन-
व्यवहानाभिधानमित्याशयः ।

(४) सिद्धार्थानाम् = अक्षयानुपादेयार्थप्रतिपादिकानाम् ।

(५) पदार्थानामेकमेवाद्वितीयमितिपत्त्यादीनां य उपक्रमादिभिर्निर्दिष्टैर्वापि समन्वय-
स्तत्पर्येषाभिधापित्वं तदुल्लेखार्थः ।

(६) अन्यस्य द्वैतावगाहप्रत्यक्षादेः परिभवनात् तिरस्करणादित्यर्थः । अन्य
परीभवनादित्यपि वक्ष्यित्याठः, तत्राद्वैतैकमात्रपरत्यादित्यर्थः ।

(७) अनृतदोषो यथा पुत्रकामेष्टा 'पुत्रकामः पुत्रेष्टा यजेते'ति, नेष्टी संस्थितायां
पुत्रजन्य इष्यते । द्रुष्टार्थस्य वाक्यस्याऽनृतत्वादद्रुष्टार्थमपि वाक्यम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्

इत्यादिदोषेभ्यः श्रुतीनामेव न प्रामाण्यं, प्रामाण्ये वा सिद्धार्थश्रुतीनां न प्रामाण्यं, विधिप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यस्यैव ज्ञानद्वारा व्यवहारजनकत्वेन प्रवर्तकज्ञानं प्रति सामर्थ्यावधारणात्; नच “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म”, इत्यादिश्रुतीनां कार्योपराग^(१)स्तथाच न प्रामाण्यमित्यत आह—^२“श्रुती”ति ॥ ननु, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, न त्वासां श्रुतीनां ब्रह्माद्वैतपरत्वं, किं तर्हि, मुमुक्षुणा ब्रह्मेवैकमुपासनीयमित्यत्र तात्पर्यं, तथाचोपासनायामेषासां प्रामाण्यत्वं, नतु ब्रह्माद्वैतेपीत्यत आह—^३“सिद्धार्थानामि”ति । विशेषणं^(४)चैतत् प्रकृतश्रुत्युपेतया । “एकं ब्रह्म”इतिपदसमन्वयबलेन प्रतीयमानोर्थः स चोपासनापरत्वे व्यञ्जित एव वाच्य इत्यर्थः ॥ ननु “आदित्यो यूयो यज्ञमानः प्रभूरः”—इत्यादौ पदसमन्वयबलमभ्यमानाधिकरणश्रुतेरप्रामाण्यं यथा, तथाऽप्याः किं नैन्यत आह—^५“धियामि”ति । तत्र तत्र बाधकात् प्रतीयमानोर्थस्यैव्यतेऽत्र न बाधकमित्यर्थः ॥

—*—

मू०* ननु,^(१)नाऽद्वैतश्रुतीनामृजावर्थे^(२)प्रामाण्यं संभवति, प्रत्यक्षादिबाधात्; नतश्चा न्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यमः? । मैवम् । यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदात्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवात्पद्यते, नतु

स्वर्गकाम इत्याद्यन्तर्मिति ज्ञायते । त्रिकतयाघातटोपप्रच उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति विधाय ‘यथावोऽस्याहु’तमभ्ययहरति य उदिते जुहोति, शयनोऽस्याहुतमभ्ययहरति योऽनुदिते जुहोतीति । पुनरुक्तदोषा यथा अभ्यासे देश्यमाने ‘त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुतमाम्’ इति ।

(१) कार्योपरागः=क्रियोपरागः, हेयोपादेवार्थप्रतिपादकत्वमिति यावत् ।

(२) ननु, ‘सिद्धार्थानामित्येतद्विग्रहणं व्यर्थं, बाधता क्रियाभिधायिनीनामपि श्रुतीनां तात्पर्यतो ब्रह्मण्येव समनुगतत्वेनाऽबाधितार्थमादायैतान्यपरिभाषकत्वं भवता पसाधनीयमित्यत आह—विशेषणं चैतत्प्रकृतश्रुत्युपेतयेति । प्रकृतश्रुतिस्तु—“एकमेवाद्वितीयमि”त्यादिरूपा ।

(३) { अद्वैतश्रुतिबाधाय नाध्यक्षादि प्रकल्प्यते । }
{ अन्याल्यविषयत्वं नैतत्प्रस्तावयत्यथ ॥ }

(४) अजावर्थं = सिद्धार्थं ।

प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्त्तमानसकलव्यक्तिभेदप्राहि
जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, "तादृशेन ज्ञानेन
चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्धयां यदि जाना-
सि मम चेतसि किं वर्त्तते इति । 'यदि च प्रत्यक्षादि
किञ्चिन्माश्रविषयं तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्त्तमा-
नाऽद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं' शक्यते, स्वविषयमात्रे
प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्; अन्यथाऽतिप्रस-
ङ्गात् । 'मा हि भूद्^(१)अग्नीषोमीयपशुमालम्भनवि-
धिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम् ।

टी० ननु, प्रकृतेः वाधकमस्तीति शङ्कते— "नन्वि"ति ॥ "अ-
न्यत्रे"ति । ईश्वरैकत्वं वा ब्रह्मेकोपास्यत्वं वा प्रतिशरीरमेकैकात्मत्वं वा
यदुच्यते तत्रैव च सामर्थ्यमित्यर्थः ॥ ननु, घटपटमात्रभेदविषयकं प्रत्यक्षं
श्रुतिबाधकमिति नोच्यते, किंतु मामान्यनक्षणा प्रत्यासत्या सकलपदा-
र्थभेदविषयकमेकं प्रत्यक्षमिष्यते, तत्कुद्विस्थितानां^(२)भेदार्थं कृत्वा न
किञ्चिद्व्यं श्रुतिर्हाकन्या इत्यत आह— "नतु प्रत्यक्षादिकमि"ति । त्वये
प्यमाणात्त्वमतन्त्रमित्यर्थः ॥ तादृशज्ञाने प्रमाणाभावमाह— "तादृशेने"
ति ॥ ननु, घटपटादिनियतविषयमेव प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमस्तु किमत्या-
हित^(३)मित्यत आह— "यद्री"ति ॥ "मा हि भूदि"ति । "न हिंस्या-
त्सर्वं भूतानि"—इत्येका श्रुतिः, "अग्नीषोमीयं पशुमालम्भेन" इत्यपरा, तत्र
तानयाऽग्नीषोमीयपशावेवाऽहिंसाश्रुतिर्बाध्यते नत्वन्यत्रापि, विषयभेदा-
दित्यर्थः ॥

(१) श्रुतिपक्षमेव स्पुटयति—मा हि भूदिति । माभूदिति तु विद्यासागरा-
भिमतः पाठः । विद्वद्वार्ययाहितामात्रेण बाधकत्वमेकविषयत्वाभावेऽपि चेद्विं माविष-
यत्वेन तदभावाविषयत्वस्य विरोधात्पशुमालम्भनविधिना सर्वभूताऽहिंसाविधेर्वैयर्थ्यं =
निर्विषयत्वपरामार्थं स्यान्न्याभूदित्यर्थः ।

(२) तत्कुद्विस्थितानाम् = सामान्यनक्षणाप्रत्यासत्तिकुद्विनिविष्टानाम् ।

(३) अत्याहितम् = भयम् "अत्याहितं महाभीति"रिति कौशान्तु । अस्येवा-
र्थस्याः विज्ञानात्प्रायः पुस्तकेषु 'किमन्याहितमि'ति प्रकल्पितः पाठो दृश्यते ।

मू० 'यदा चैवं, तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्याया-
इचाऽद्वैतबोधने श्रुतिर्निराबाधा सती तयोरेक्यं बोध-
यतीति तत् प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मान^(१)मेव बाधेत ।
'घटेन^(२), पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव
धियः श्रुत्या सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं नाभेदे
प्रामाण्यमासादयितव्यम्, तत्राबाध्यमानत्वात् । 'नहि
(^१)तस्या धियः स्वात्मा वा, स्वात्मना सह घटपटा-
देर्भेदोपि वा, विषयः । "घटपटौ^(३)/भिन्नावि'त्येव-
माकारा हि सा जायते, नतु 'अहं घटात् पटाच्च भिन्ना,
मत्तो वा तौ भिन्नौ'-इति । 'स्वप्रकाशतापि स्वमात्रे
साक्षिणी, नतु यतो यतः प्रकाशा भिद्यते ततस्त-
स्तस्य भेदेपि । 'अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशशुद्धौ निक्षि-
पन्ती न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ।

टी० ननु, समाने एव विषये बाध्यबाधकभावोऽस्तु किमेतावन्ते-
त्यत आह-। "यदाचे"ति । बाध्यबाधकधियोरैक्यं बाध्यबाधकभावाऽ-
भाव एवेत्यर्थः ॥ बाधकाभिमतप्रत्यक्षस्य विषयेण सहा; भेदः श्रुतिविषय
इत्याह-। "घटेन"ति ॥ तदेवोपपादयति-। "नही"ति ॥ कथमेवमत
आह-। "घटपटावि"ति ॥ मीमांसकशुद्धौ^(४)मपनयति-। "स्वप्रकाश-

(१) बाध्यबाधकधियोरैक्यं बाध्यायाः श्रुतिधियो बाधने प्रत्यक्षेण स्वात्मन-
एव बाधः कृतः स्यादिति भावः ।

(२) घटेनेति, सर्वस्याऽद्वैतं गोचरयन्त्या श्रुत्या घटेन, पटेन, तद्भेदेन च स्वविष-
येण (घटपटौ भिन्नावित्येत्वं विधभेदयाहिप्रत्यक्षाविषयेण) सह तस्या धियः (भेदप्राप्ति-
प्रत्यक्षधियः) अभेदबोधने प्रामाण्यं कथं नासादयितव्यम्-इत्यन्वयः ।

(३) नहोति, स्वशिष्टभेदवच्छेषतः स्वश्रुत्यापातादित्यर्थः ।

(४) घटपटाविति यटाकारा शुद्धिर्जायते तटाकारवानेवार्थस्तद्विषय इति
निघमादशुद्धिर्धार्मिकशुद्धिप्रतियोगिकभेदाकारत्वाभावाज्ञानया तत्सर्वं भासत इत्यर्थः ।

(५) शुद्धेः स्वप्रकाशत्वात्स्वभेदयाइकत्वमुपपद्यते इति मीमांसकशुद्धौ ।

ते"ति ॥ ननु, यतो यतः प्रकाशो भिद्यने तत्सर्वं स्वप्रकाशज्ञानविषय एवेत्यत आह-। "अन्यथे"ति । स्वप्रकाशवलेन तत्सर्वं तदा भासेत यदि तदपि स्वं भवेत् तथा च स्वभिन्नत्यापि सर्वस्य स्वप्रकाशज्ञानात्मत्वे पुनरद्वैतमेव पर्यवस्येदित्यर्थः ॥

मू० *नश्च तथा धिया स्वस्य, स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम् *, "पुरोवर्त्ति रजनमि"ति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रजतात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः । ^१ धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशस्तस्मिन्सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राक्तदसंभवात् । *आत्मवदात्मधर्मेपि सन्निकर्षानपेक्षा सा*!-इति चेन्न, "ग्रहणत्वस्मृतित्वप्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति

टी० ननु, स्वप्रकाशज्ञानस्य स्वं विषय इति विषयाद्, घटपटादेः स्वस्य स्वरूपभेदः कथं न विषयो भवेदित्यत आह-। "नचे"ति । स्वरूपभेदग्रहणस्य भेदग्रहणपरिपन्थित्वे धमः क्वापि न स्यात्तस्य(१) ते चारोप्यारोपविषयग्रहणपूर्वकत्वात्, तस्य चारोपपरिपन्थित्वादित्यर्थः ॥ ननु, स्वरूपमानं न स्वरूपभेदः, किंतु परस्परवैधर्म्यविशिष्टं स्वरूपं तच्च शुक्तिरजतयोर्न यद्गीतमिति नारोपानुपपत्तिरित्यत आह- ^२ "धर्मे"ति । तर्हि धियोपि स्वरूपमानं न भेदः, किंतु वैधर्म्यालिङ्गितं स्वरूपं, वैधर्म्यं च स्वस्य(३) प्रकाशत्वेपि न स्वविषयः, किंतु संयुक्त(४) समवेतसमवायेन प्रत्या

(१) घटपटादेर्विषयादित्यन्वयः ।

(२) तस्य=धमस्य, चारोप्यारोपविषयग्रहणपूर्वकत्वात्, =चारोप्यं रजतादिरारोप-विषयोऽधिष्ठानं शुक्लादिस्तदुभयस्वरूपग्रहणपूर्वकत्वात्, तस्य च=चारोप्यं रोपविषयस्वरूपभेदग्रहणस्य च, चारोपपरिपन्थित्वात्=धमपरिपन्थित्वेन त्वयाङ्गीकारादित्यर्थः ।

(३) स्वस्य=ज्ञानस्य, प्रकाशरूपत्वेपि न ज्ञानविषय इत्यर्थः ।

(४) मनःसंयुक्तं चात्मा, तत्समवेतं ज्ञानं, तत्र समवायो ज्ञानत्वादेर्नैधर्म्यस्येत्यर्थः ।

सत्या मनसा तद्गृहे भवेत्, नच^(१)स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वघटितसंयुक्तसमवेत-
समवायः प्रत्यासत्तिः संभाव्यते इत्यर्थः ॥ ननु, यथा प्रत्यासत्तिप्रन्तरेण-
स्वग्रहस्तथा स्वधर्मग्रहः स्यात् को दोष इत्यत आह^(२)— “आत्मवदि”
ति ॥ ^d “ग्रहणत्वे”ति । तथाच ग्रहणत्वस्मरणत्वसंशयो न स्यात् स्याच्च
प्रामाण्यऽप्रामाण्यसंशय इति भावः ॥

सू० “तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमा-
ना कथमात्मनः स्वस्मादेव भेदे प्रमाणीभवितुं प्रभव-
तीति’ बाधिकायां बुद्धौ घटपटयोर्भेदे प्रमात्वाभावमा-
सादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र^(४) तत्राप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचि-
तस्वतः प्रामाण्यबललब्धतत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिस-
हायसम्पदऽज्जया तयोः पथभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं
शक्येति न^(५) क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्भूत-
प्रमापिकेति । भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्य-
मशक्यम् ।

टी० ननु, तथा धिया स्वस्य स्वरूपभेदापि मा एह्यतां किमनिष्ट-
मित्यत आह— “तदेवमि”ति । घटपटभेदयाहकं यत्प्रत्यक्षं तद्वदि

(१) नच ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं ज्ञानघटितनिष्कप्रत्यासत्तिरित्यर्थः । अर्थ भावः—म-
चिकर्षस्य बुद्धिजन्यार्थत्वादबुद्धेः प्रागेवमेव वक्तव्यं न च तत्संभवति बुद्ध्यभावे तत्स-
मवेतधर्मसन्निकर्षासंभवादन्वयाऽन्योन्याचयादित्यर्थः ।

(२) इत्यत आह, ‘इति चेन्न’—इत्यन्तं सिद्धान्त्याहेत्यर्थः, अत आत्मवदित्यादेः
पूर्वपक्षग्रन्थत्वेपि नाऽयुक्तिः । यत्रमयेष्येथंविधस्थले ज्ञेयम् ।

(३) आत्मनः = स्वाभिचघटस्य, स्वस्मात् = स्वाभिचघटादित्यर्थः ।

(४) बाध्यबाधकबुद्ध्योर्बाध्यबुद्धेः स्वविषयेरभेदबोधनेऽप्रतिद्वन्द्वित्वाच्च सङ्कु-
चितञ्च तत्स्वतः प्रामाण्यं चेति तथोक्तम्, तस्य बलं = सामर्थ्यं, तेन लब्धमप्रतिद्वन्द्वित-
याऽसङ्कुचितस्यतः प्रामाण्यबललब्धं, तच्च तत्तदर्थस्यैवां चेति तथोक्तं, तस्य याऽनुपपत्तिः तेषु
महापस्तस्य संपत् तयाः ज्ञया क्वचिदपि प्रतिद्वन्द्वितुं न शक्येति सर्वाद्भूतप्रमापिकेत्यर्थः ।

(५) श्रुतिः क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा न सती सर्वाद्भूतप्रमापिकेति सम्बन्धः ।

श्रुत्या घटपटाभिन्नं कृतं तदा घटपटभेदपाहकतैव तस्य न निर्वहेदित्यर्थः ॥
 ननु, घटपटयोर्भेदे सा धीः प्रमाणमतस्तद्वयेन श्रुतिस्तत्र कथं प्रवर्तते
 तथाच घटपटौ विहायाऽन्यत्राद्वैतं सिद्धयति नतु तयोरपीत्यत आह—
 °“बाधिकायामि”ति । घटपटभेदपाहिणीया बुद्धिस्तया सह घटपटयोरभेदं
 गृहीतवती श्रुतिः घटपटयोरभेदमन्तरेणानुपपद्यमाना तयोरेष्यभेदमान-
 यति । किंच, पटाभिन्नबुद्ध्याभिचत्वाद् घटोपि पटाऽभिन्नः साधयितुं
 पाय्यंते एवेति तदु(१)पटम्भोपि श्रुतेः । न चास्याः परयाह्यं प्रामाण्यं, येन
 तदाद्यापि द्वैतं निर्वहेदिति न किंचिदस्याः श्रुतेः परिपन्थीत्यर्थः ॥
 ननु, घटपटभेदप्रमेव तद्वेदमन्तरेणानुपपद्यमाना सर्वत्र श्रुतिमपसारयिष्य-
 तीत्यत आह— °“भेदप्रमे”ति ॥

मू० ‘तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः’
 °भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः ।

टी० श्रुतिप्रामाण्यमुभयसिद्धं, प्रत्यक्षप्रामाण्यं चान्यतः प्रामात्रसिद्ध-
 मिति परिपन्थिश्रुतिदर्शनात्तत्रापि तत्र(२)सन्देहः स्यादिति भेदप्रामान्यथा-
 नुपपत्तिर्दुर्बला न श्रुतिपरिपन्थिनोत्याह—। “तत्रे”ति ॥ ननु सन्दिह्यतां
 प्रामाण्यं, भेदज्ञानमगृहीतप्रामाण्यमेव श्रुतिबाधकं स्यादित्यत आह—।
 °“भेदे”ति । अन्यथासिद्धिशङ्काकलङ्कितस्य न विरोधिज्ञानप्रतिबन्धकत्व-
 मित्यर्थः । अत्र, यद्यपि (३) सर्वभूताहिंसाश्रुतिरानीषोमीयपञ्चालम्भनबो-
 धिकया श्रुत्या सङ्कोच्यते नतु बाध्यते, प्रत्यक्षेण तु प्रवृत्तमात्रेणाद्वैतश्रुति-
 र्बाध्यत एवातो न काव्यस्याः प्रसरः, नहि ‘घटपटौ भिन्नौ’ एकमेशाद्वितीयं
 ब्रह्म’—इति ज्ञाने संभवतो विरोधात् । * दैतः पशुहिंस्यः, सर्वभूतमहिंस्य-
 मित्यनुपपन्नम् * ?—इति चेत्तत्र सर्वपदभूतपदयोर्विषयसङ्कोचेन दैतपशु-

(१) घटपटाभेदाश्रयणमपि विवक्ष्यतया सुतेराश्रयणमित्यर्थः ।

(२) तत्र = प्रत्यक्षे, प्रामाण्यसन्देहः स्यादित्यर्थः ।

(३) मा हि भूदानीषोमीयपञ्चालम्भनबोधिका सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैषम्यमित्या-
 हिंसात्मकमहिंस्य समाधत्ते—यद्यपीत्यादिना ।

भिन्नं सर्वमहिंसयमिति सामञ्जस्यसंभवात्, इह 'घटपटभिन्नं सर्वमेकमिति सामञ्जसे' (१) क्रियमाणे महदसमञ्जसं, त्वदभ्युपगनाद्वैत (२) भङ्गात् । • क्रमेण (३), तयोरप्यभेदोर्थापत्त्या पर्यवस्येत् • ?—इति चेत्तर्हि न श्रुतिरद्वैते प्रमाणं, बाधविषये कुण्ठितत्वात् । किंच, तत्त (४) त्प्रत्यक्षशार्दूलमुखकुहर-संभविष्टं भेदमवलोक्य पलायमाना श्रुतिरियमबला प्रतीयमानं स्वार्थजातं संत्यजन्ती ब्रह्मानुचिन्तनमात्रपरैव स्यात् । किंच, "बाधव्याधयोद्विभक्त-माऽद्वैतश्रुतिमृगी, ब्रह्मारण्येपि विश्वासं कथमासादयिष्यन्ति" सर्वमभिन्न-मिति श्रुत्यर्थः स्वस्मात्सर्वमभिन्नमेवेत्येतावताप्युपपद्यते एव । 'नेह ना-नास्ति किंचन'—इत्यपि किंचन वस्तु न नानेत्येवमप्युपपद्यते । नहि किमपि वस्तु नाना, सर्वस्य वस्तुनः प्रत्येकमेकत्वात् । किंच, ब्रह्माद्वितीयमिति सकलानुमतमेव । किंच, यदि ब्रह्ममात्रावशेषं जगदिति बोध्यं, तदा "ब्रह्मै-षैकम्"—इति स्याच्च तु "एकमेव ब्रह्म" इति । किंच, यथा 'एक एव नरप-तिरत्र, नतु नाना' इति वाक्यं द्वितीयं नरपतिमेव निषेधति नतु पुरुषान्तर-मपि नास्तीति (५) ततः प्रतीयते । किंच, तात्पर्याधीनं श्रुतिप्रामाण्यमतः कुचार्यं तात्पर्यमित्यनिश्चयाद् दुर्बलायाः श्रुतेरेव सर्वत्र प्रत्यक्षेण बलवता बाधः । किंच, चैत्रस्य घटपटभेदज्ञानं, मैत्रस्य कटकट (६) भेदज्ञानं, देवद-त्तस्य नटविष्टभेदज्ञानम्, इति तत्तद्व्यसर्वाद्वैतार्थत्वे श्रुतेर्वाक्यभेदः (७) ।

(१) सामञ्जस्ये इति सूचितम् ।

(२) घटपटयोर्भेदव्यवस्थितावच्छेदकावच्छेदेनाभ्युपगनाद्वैतभङ्गादित्यर्थः ।

(३) घटपटभेदविषयकसुद्धेः स्वविषयादभेदव्यवस्थितौ तदव्ययानुपपत्त्या क्रमेण घटपटयोरप्यभेदो व्यवतिष्ठेतेत्यर्थः ।

(४) तत्तत्प्रत्यक्ष=घटपटादिभेदावगाहिप्रत्यक्षमेव शार्दूलसन्मुखकुहरे=तन्मुख-विषये, प्रविष्टं भेदं विलोक्येत्यर्थः ।

(५) इति = इत्यमेव, ततः = एकमेवाऽद्वितीयमिति वाक्यादुत्तरजातीयब्रह्मा-न्तरनिषेधः प्रतीयते—इति कथंचिद्वाक्येयम् । वस्तुतस्तस्यैव दृष्टान्तपरौ गन्धः, टास्टान्ति-कपरसु कषण्णिकतितो वा ऽध्याहृतं व्यो वेति प्रतिभाति ।

(६) कुटो घटः, "घटः कुटनिवाचस्वी"ति कोशात् ।

(७) वाक्यभेदस्तु एकस्यैव वाक्यस्य युगपद्विभिन्नाऽर्थद्वयाभिधायकत्वम् ।

किंच, अभेदज्ञानस्य 'तानेव^(१)तित्तिरीन्' 'तानेव शालीन्'-इतिप्रदेक धर्मापयहेणाप्युपपत्तिः, भेदग्रहस्तथा नान्ययोपपादयितुं शक्य इति प्रत्यक्षमेव बलीयः । किंच, सर्वमभिचं, घटपटौ भिन्नाविति बुद्धोः प्रामाण्ये संभवति क्व बाध्यबाधककल्पनापि, नहि^(२)प्रमेयत्वादिनापि सर्वमभिचं न मन्यामहे, तथापि^(३)"आपाततो यदिदमद्वयत्वादिनीनाम् इत्यादावेव तात्पर्यम् ॥

मू० "एकम्-इत्युपादाय यद् एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः "एकमेवेदम्"-इतिरूपा, तदैकान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं-घटपटादिभेदग्राहिप्रत्यक्षादिप्रामाण्यमिति ।

टी० ननु श्रुत्याऽभेदः, प्रत्यक्षेण च भेदो बोध्यते, द्वयं च प्रमाणम्. नुरोधं, ततो भेदाभेद एवास्त्वित्यत आह-। "एकमि"ति । यद्यपि ब्रह्मण एकत्वं प्रपञ्चाभावे प्रपञ्चाभेदे चोपपद्यते इति कथमियं श्रुतिरेकताऽवधारिका^(४) यद्यपि च प्रपञ्चमित्यात्वं शङ्कराचार्याद्यनुमतं ननु प्रपञ्चब्रह्मणोरभेद इत्यभेदबोधकतया श्रुतिव्याख्याने ऽपसिद्धान्तः, यद्यपि च घटाद्यभेदे ब्रह्मणोपि जडत्वमिति स्वप्रकाशानन्दरूपत्वविरोधस्तथाप्यापाततो यदिदमित्यादौ वक्ष्यमाणेऽर्थे एव तात्पर्यम् ॥

मू० * 'बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थम् * ?-इतिचेन्न श्रुतितो ब्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियो^(५)-

(१) पूर्वदृष्टसजातीयतिसिर्व्यादितर्जने यत्र तानेव तित्तिरीन् (विहर्गाविशेषान्) पश्य, तानेव शालीन् (तपहुलानि)पश्येत्यभेदावगाहिनी प्रत्याभिरा, सा तित्तिरित्यत्रा) तित्यलक्षणेकधर्मापयहेणाप्युपपत्तिरित्यर्थः ।

(२) सर्वमभिचमित्युक्तमुपपादयति-नह्येति । प्रमेयत्वादिनाऽभेदः, घटत्वपटत्वादिना तु भेद इति भावः ।

(३) तथापीत्येतद्व्यवहितेन यद्यपीत्यनेनाऽन्वेति । आपातत इति, अद्वैतप्रतिपादनमप्यापातत एवेति निर्गमितार्थः ।

(४) 'विधायिका'-इत्यपि क्वचित्पाठः ।

(५) अद्वैतधिय एवं विधिविचारसोपानपरम्पराम् (कमिकाःभेदविषयकप्रतिपत्तिः

सद्बुद्धय एवंविषविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्यो-
नानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनि-
तिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् । * 'ननु, यदि नामप्रत्यक्ष-
विषया तथा घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घट-
पटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते तावता कथं तस्याः स्ववि-
षयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितुमीष्टे' बुद्धान्-
न्तरेण तथा साहं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्रा-

ननु 'प्रत्यक्षविरोधादापाततः श्रुतिर्बुद्धिः स्वम्मादेशभेदं विष-
याणां विषयीकृत्य क्रमेणार्थोपस्थादिबनाद् विषयाणामन्यान्यभेदं विष-
यीकरिष्यती'त्यनुपपन्नं शब्द^(१)बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावादित्याह-।
“बुद्धे”रिति ॥ श्रुतित एकद्वैव जातायाः सर्वाभेदबुद्धेः सर्वविषये प्रामाण्यं
प्रत्यक्षबाधेन प्रतिबन्धात् भ्रष्टिति दुर्यहमिति तत्तद्विषयप्रत्यक्षबाधनिरा-
सकमनिबन्धनः प्रामाण्ययहक्रमो ननु बुद्धेर्विरम्य व्यापारतेत्याह-। “श्रुति-
त”इति । यद्यपि बाधो^(२)बुद्धिमेव प्रतिबध्नाति ननु तत्प्रामाण्ययहमिति
कथं न बुद्धेः श्रुतिलक्षणस्य शब्दस्य वा विरम्य व्यापारता तथापि “अत्यन्ता-
ऽसत्यपि^(३)ज्ञानमर्थं शब्दः करोती”त्यभिप्रेत्येतदुक्तम् ॥ घटपटभेदयाहि-
प्रत्यक्षेण स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न एहीत इति तत्र श्रुतिर्लब्धपटा
तयोरप्यभेदं विषयीकरिष्यतीति यदुक्तं तत्र शङ्कते-। “नन्वि”ति ।
घटपटभेदयाहिप्रत्यक्षं घटपटो न भवत इति ज्ञानान्तरेण तद्वेदोपि सुग्रह
एवेति तत्रापि श्रुतिर्न प्रभवतीति शङ्कार्थः ॥

सिपरम्पराम्) आरोहन्त्योऽस्मद्बुद्धये नानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः (अभेदबुद्धिप्रा-
माण्यविषयाः) क्रमेणपरितिष्ठन्तीत्यन्वयः ।

(१) शब्द यत् बोधं जनयित्वा विरतव्यापारो न शब्दबोधान्तरं जनयति,
तथा बुद्धिरप्येकस्मिन्नर्थे ज्ञाततां संस्कारं वा जनयित्वा न ज्ञाततान्तरं संस्कारान्तरं वा,
यत् क्रमोप्येकत्र विभागमुत्पद्य न विभागान्तरमित्यर्थः ।

(२) “घटपटो भिन्नो-”इत्याकारको बाधः, बुद्धि-श्रुतिज्ञाऽभेदबुद्धिमित्यर्थः ।

(३) अत्यन्तासत्यर्थः अशब्दादिसत्रापि चेच्छब्दो ज्ञानं जनयति किमुत शब्दो
बुद्धेते इति भावः ।

सू० "तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य यथै-
वापरया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धौर्घटाच्च पटाच्च भेदो
विषयीक्रियते तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः
प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिमिः सह
द्वितीयाया बुद्धेरभेदे यत्पर्यवस्यन्ती सर्वेषामेव तेषा
मभेदे विश्राम्यति । १ एवं च सति यत्रैव गत्वा बा-
धबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेदम-
यादनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयस्तस्यामेव बुद्धौ पदमारो-
प्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वं तद्विषयविषयिप्रवाहमद्वैते स्था-
पयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं
शक्या । तस्मात्--

१ सुदूरधावनश्रान्ता (?) बाधबुद्धिपरम्परा ।

निवृत्तावह्नयाग्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥ ८ ॥

टी० यावद्दूरं बाधबुद्धिपरम्परोदयस्तत्रापाततः कुण्ठापि श्रुति-
र्बाधबुद्धिपरम्परानिवृत्तौ चरमबुद्धौ पदमारोप्य तद्विषयविषयिप्रवाहाद्वैतं
बोधयिष्यतीति परिहरति-- १ "तर्हि तस्या अपि"ति । प्रमाण्यावल-
म्बनम्=अत्राध्यत्वेन व्यवस्थितत्वं, पदलाभः=सहकारिसाविध्यं ; पर्य-
वसानमभेदबोधनं ; विश्रामः=स्वजनितमकलाऽद्वैतधीप्रामाण्यासादनम् ॥
ननु भवेदेवं यदि भेदबुद्धिधाराविश्रामः स्यात् त्वेवमत आह-- १ "एव

(१) सुदूरधावनश्रान्ता, भूरिकवानुसरणाऽन्वेति यावत् । इदमत्राकृतम्-- "अ-
तिमित्रमरिर्मित्रं मित्रमित्रं ततः परम् । तथाऽरिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः ॥
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रान्तस्तदनन्तरम् । आसारावभयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ॥
करेश्च विजिगीषोश्च मध्यमे भूम्यनन्तरः । अनुगृहे मंहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः ।
मण्डनादक्षिणरेतेषामुदामीने अवस्थितः" इति विजिगीषोः राज्ञो द्वादश राजमण्डलम्,
तत्र अमु यथा लोकं कश्चिद्विजिगीषुर्दूरं प्रस्थितः परवाहिनीं विजित्य निवृत्तौ पार्ष्णि-
ग्राहैर्विजीयते तथा बाधबुद्धिपरम्पराऽद्वैतपरम्पराजगद्य दूरं प्रस्थिताः नवस्थाना क्वचि-
द्विद्वेषो पार्ष्णिग्राहैरद्वैतयागैर्विजीयते इति । क्वचिद् "विनिवृत्ताऽद्वयाकारैः"-- इति
षाठः ।

वे'ति । विषयान्तरसंस्कारदण्डनेनाऽनिर्मातृप्रमङ्गभयेन च विश्रामसिद्धि-
त्यर्थः ॥ "सुदूरे"ति अद्वयान्नायैः=अद्वैतश्रुतिभिः । पाष्णियाहैः=पृष्ठतो-
वसिभिर्विषयैरित्यर्थः । पर्यापि चरमबुद्धिज्ञाने चरमत्वव्याघातः, तद-
ज्ञाने च कुत्र श्रुतेः पादारापणं, श्रुतिपदार्थं त्वयैव तदुपस्थापने पुनश्च-
रमत्वव्याघातः, तद्वैव तथापि समं भेदपदश्च; अनुपस्थापने श्रुतिपदार्थ-
व्युत्पादनम्, तथाच "सुदूरभावनाऽशान्ता बाधबुद्धिपरम्पराऽविनिवृत्ताऽ-
द्वयान्नायैः पाष्णियाहैर्न जीयते"-- इति परेषापि पठितुमुचितं^(१), तथा-
पि स्वप्रकाशसिद्धमेव ब्रह्माद्वैतमिति भावः ॥

मू० * नच यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र
पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं स्यात् * । तथापि पुरुषा-
न्तरेण निवृत्ततया सा प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया
वाच्यम् । नहि तदपि पुरुषान्तरेणैव, 'न च संभा-
व्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्; तथाप्यन-
वस्थानादिति । 'अथ ब्रूषे-#यदा क्रियदूरं बुद्धिपर-
म्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुति^(१)स्तदा तद्वयायाद्
यापि बुद्धिःशेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते तत्रापि तद्वा-

(१) अत्र यत्प्रमाणमभूवामाणकतो रघुनाथस्य शङ्कर-श्रमनमनूय 'तत्र तस्युक्त-
यखाधबुद्धिमपेक्ष्य तस्याश्चरमत्यात् । मया तदुपस्थापनं त्वया तद्वैव भेदो वाह्य-इत्य-
पि न, मयाऽभेदं यहीत्येव तदुपस्थापनात् । यथा तत्र भेदपदस्तद्विद्वान्भी तथा मयाः
द्वैतव्यवस्थापि भेदपदविराधिस्थादित्यलं काव्यरचनाकृशनां तंनेव स्वाश्रयानामाठ-
वर्ना स्वगहनकथया'-इति खण्डनं, तत्र, खण्डनकोटः सर्वना बलशक्तं पुनया विद्या-
यामाणस्याप्यर्थस्याः प्रतिष्ठितत्वात्स्वप्रकाशसिद्धमेव ब्रह्म, न तु श्रुतियुक्तिभिस्तथासा-
धनापेक्षेत्येव तात्पर्यात् ।

(२) सा=श्रुतिमबुद्धिः, स्वविषयाद्विषयतया प्रतीयते- इत्यत्र प्रमाणं त्वया
वाच्यं, नच तत्र एकं श्रुत्यमनवस्थानादिति भावः । स्वचित्तु "सा प्रतीयते"-इति षाठः ।

(३) अद्वैतश्रुतिर्बुद्धिपरम्परया, क्रियदूरं बाधिता भवति यदा, तदा या बुद्धिः
शेषं गत्वा (शेषमवशिष्टां कक्षां गत्वा) नानुव्यवसीयते (ज्ञानान्तरवद्व्या न भवति)
समानन्यायानयाद्वैतश्रुतिसंबन्धो गम्यते इत्यर्थः । तस्यावादिस्थितद्व्याघाटे-यत्रेति,
यत्र=कान्तव्यबुद्धिपरम्परायां, साऽद्वैतश्रुतिर्बाधते तत्तुल्यन्यायत्वाद्=श्रुतिमबुद्धेरेपि
बुद्धित्वादिशेषादित्यर्थः ।

घोऽवगम्यते, यत्र सा बाध्यते तत्सुर्यन्यायत्वाद्-
न्तिमबुडेरपि—इति । मैवम् । किं कियतीषु
बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यबलस्य व्याप्तिग्रह-
रूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्यमद्वै-
तश्रुतेः ? किं वा बुद्धान्तरदृष्टव्याप्तिमनाथया पक्ष-
धर्म^(१) हेतुमुल्लिखन्त्या बुद्धान्तिमबुद्धिविषयया ? ।

टी० ननु विषयान्तासंभारदर्शनादनवस्थाभयाच्च बुद्धिधाराप्रवा-
हविच्छेदसिद्धावपि पुरुषान्तरबुद्ध्या तद्बुद्धिधाराविषयविषयिपर्यन्तभेदया-
द्वियया श्रुतेर्बाधोऽस्त्वित्यन आह—। “नचे”ति ॥ “तथापी”ति । पु-
षान्तरेण चरमबुद्धेर्भेदा एह्यते—इति यदि त्वया कथायामेव प्रमापणोयं
तदा तत्रैव प्रमाणे श्रुतिप्रवृत्तिः, एव^(२), तत्रतत्रेति पुनरनवस्था, प्रमाणा-
पदर्शने च तत्र पराजय गद्येत्यर्थः ॥ ननु न मया तत्र प्रमाणं वाच्य, किं
तर्हि, पुरुषान्तरेणैव वाच्यमते नानवस्थान्यन आह—। “नही”ति ।
पुंशेदोषतादवस्थ्यादिति^(३) भावः ॥ ननु यत्रापि मदायान्यबुद्धेः स्ववि-
षयाद्बुद्धौ मया न एह्यते, यत्रापि च ‘पुरुषान्तरेण एह्यते’—इति मया प्रमा-
णयितुं न शक्यते, तथापि सभाव्यते तावत्, सभावनापि च विरोधिन्येव
विपरीतनिश्चयस्येति कथं तत्राप्यद्वयश्रुतिप्रवृत्तिरित्यत आह—। “नचे”-
ति । संभावनाया प्रमाणाऽपवृत्तावनुमानादिकमपि न प्रवर्ततेत्यर्थः ॥
ननु तर्कोदिना विपरीतशङ्कानिवृत्तावनुमानादि प्रवर्तते, नतु तस्य
सत्यामेव, प्रकृते तु तथाविधतर्को नास्ति यः सभावना विहत्यादत-
आह—। “तथाप्यनवस्थानादि”ति । यत्रपीयसब्रह्मस्या तुल्यैव, संभाव-

(१) पक्षस्य यो धर्मः हेतुर्बुद्धित्वादिस्तमुल्लिखन्त्याऽनुमानरूपया धियेत्यर्थः ।

(२) एवं तत्रतत्र इमां प्रमाणात्तरदर्शने त्व्यनवस्थेत्यर्थः ।

(३) पुरुषान्तरेणापि प्रमाणापदर्शने तत्प्रदर्शितप्रमाणे प्रमाणात्तरं पुनस्तत्प्रमाणं
प्रमाणात्तरमस्येव प्रदर्शनीयमिति पुनरप्यनवस्थानाद् अप्रदर्शने च तत्रैव कथ्यपदायाः
श्रुतेस्त्वामेदे पर्यवहानादित्यर्थः ।

ना^(१)मनुपनयत्^(२)सर्वत्रापि श्रुतिविषयाऽनुपन्यासात्; तथा “व्यापाततो
यद्विद्”मित्यादावेव तात्पर्यम् ॥ या या बुद्धिः सा सा स्वविषयाद्बुद्ध्या,
घटपटौ भिन्नावितिबुद्धिवदिति चिचतुः कलायां बुद्धिधाराया व्याप्यव-
धारणादन्तिमबुद्ध्यावपि तद्वृत्तास्त्रविषयभेदसिद्धौ क्व श्रुतिरवकाश इत्याशा
ङ्कते—। “अथे”ति ॥

सू० “नाशः व्याप्तिबुद्धिर्द्यदि विषयविशेषेपि स्वातन्त्र्येण
बाधात्मिकोपेयत तदा मैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति
गतमनुमानकथया । अथानुमितिमभ्युपैषि, 'तदा सा
नात्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्त्तते इति तत्रैव दत्तपदा
(३) सर्वमद्वैतश्रुतिः परम्परामात्मत्वत-इत्युक्तमावर्त्त
ते । अथ * सर्वा विधादाध्यामिता बुद्धयः स्ववि-
षयेभ्यो भिन्ना, बुद्धित्वाद्, घटपटबुद्धिवदिति सा-
मान्याकारेणात्मानमपि धर्मीकृत्यात्मनोपि स्वविष-
याङ्केदं साधयिष्यत्यनुमा' -इति मन्यसे, मैवम्,
एवमपि विषयिणा विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुति-
रनुमानमप्यनवकाशयति ।

टो० व्याप्तिधारेव तत्र प्रमाणम् / तद्रूपनम्भाद्रनुमानं वा प्रमाणम् :-
-इति विकल्प्य दूषयति^(१)—। “नाश”इति । व्याप्तिघातकप्रमाणस्यैव
विशेषोपस्थितौ सामर्थ्यनुमानं प्रमाणमनवकाशमेव^(२) स्यादित्यर्थः ।

(१) सर्वत्रापि भेदस्याऽसमाख्यमानत्वे ऽभेदेऽपि श्रुत्याऽशक्यादभावनः स्यादिति
भेदसंभावनापूर्वकस्यैव तस्य वक्तव्यत्वेन यथायथा भेदसम्भावनायामनवस्था तथा तथा
सदभेदबोधनपि पर्यन्ततो यत्रैवाऽभेदे न बोधनीयस्तद्वारभ्याऽप्रलम्भेदलोप इत्यभिप्रे
त्याह-समाप्रनेति ।

(२) “अपनयत्”-इत्यपि क्वचित्प्राठः ।

(३) तत्रैव दत्तपदा द्वैतश्रुतिः सर्वमद्वैतपरम्परामात्मत्वत-इति सम्बन्धः ।

(४) अत्र पक्षं दूषयतीत्यर्थः ।

(५) पक्षधर्मताबलेनाऽनुमानेनेत्र हि वन्द्यादेः परंतीयत्वादितिसिद्धिर्बोधासिद्धिः;

व्याप्येव च तत्सिद्धाद्यनुमानं निरर्थकमेव स्यादित्यर्थः ।

शान्तिमशुद्धिः स्वविषयाद्विषया बुद्धिस्वादाद्यादिविषयवदित्यनुमानं तदुप-
स्थापकामिति द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति-।^b “तदे”ति । अनुमितान्वेत्त पद-
मारोप्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वाभेदबोधिका तर्हि स्यादित्यर्थः ॥ नन्वनुमितमपि
पक्षेन्तर्भाव्य विषयाद्बुद्धः साधनीय इति तत्र श्रुतिप्रवृत्तिरनुपपन्नत्वाशङ्क-
ते- “अथे”ति ॥ एतावता च विषयाद्बुद्धेर्भेदः सिद्धो नमु बुद्धेरपि वि-
षयस्य, अप्रतिज्ञानात्, तथा च बुद्धितो विषयस्याभेदबोधने निष्परिपरिचिनी
श्रुतिः सर्वाभेदबोधने पर्यवस्यतीति परिहरति-।^d “एवमपी”ति ॥

सू० “विषयिविषययोर्मिथो भेदेपि साध्ये अस्तु हेत्वनु-
योगः (१) ।^b परबुद्धिस्त्रिविषयांश्च प्रति निराबाधा
सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपरामपरस्याश्च विषया
त्परामभेदबोधाय धावन्ती सर्वाद्धैते एव पर्यवस्य-
तीति । * नच शक्यमनुमातुं-सर्वस्या बुद्धेर्विषया-
त्सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति *,^c मा भूदन्यबुद्धिविषयादा-
त्मनोपि (२) बुद्धिर्भिन्नेति । * नचात्मव्यतिरिक्तादि-
त्युक्ते निस्तारः स्यात्*, अद्वैतवादिनः सर्वाभेदमि-
च्छन्तः क्वचिदपि तदसिद्ध्या (३) विशेषणाऽप्रसिद्धेरिति ।
‘एतेन “सर्वं भिन्नम्”-इति वाक्येन, विना बाधं
स्वतः प्रमाणेन, सत्प्रतिशब्दा (४) सेयमद्वैतश्रुतिरित्य-
प्यनवकाशं प्रत्यवस्थानं मन्तव्यं, / यस्मात्कस्मादपि
भेदेमिथ्यातः (५) सत्यभेदोपगमेन १ सिद्धसाधनात् ;

(१) हेत्वनुयोगः हेत्वाभासत्वमित्यर्थः । यद्वा, हेतुविषयकः पर्यनुयोगः (वि-
चारः)-किं बुद्धिस्तं हेतुः ? विषयस्तं वा ?-इत्यादिदृश इत्यर्थः ।

(२) अन्यबुद्धिविषयादात्मनोपि (सकाशाद्) बुद्धिर्भिन्ना मा भूदिति (हेतोः)
सर्वस्या बुद्धेर्विषयात्सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति नच शक्यमनुमातुमिति सम्बन्धः ।

(३) आत्मव्यतिरिक्तत्वाऽमित्येत्यर्थः ।

(४) प्रतिद्वन्द्वहेतुना सत्प्रतिपरितत्त्वप्रवृत्ति-“सर्वं भिन्नम्” इति प्रतिद्वन्द्व-
शब्दो यस्याः श्रुतेः सा तथा ।

(५) ब्रह्म मिथ्या न-इति मिथ्याभूताऽदृष्टपटादे- इत्यस्य ब्रह्मणो भेदोपगमेन
सिद्धसाधनादित्यर्थः ।

टी० ननु 'बुद्धिविषयो मिथो भिन्नावि'त्येव प्रतिज्ञेयमिति न तत्रापि
 अनिबृत्तिरित्याशङ्क्य निराकरोति-। "विषयी"ति । अत्र बुद्धित्वं न हेतुः,
 विषयभागेऽसिद्धे, विषयत्वं न हेतुः, बुद्धिभागेऽसिद्धेः । उभयगतं प्रमेयत्वा
 दिकं व्यभिचारीत्यर्थः ॥ अभ्युपेत्य दूषयति-। ^६ "परे"ति । स्वस्वविषया-
 र्न्मयो भेदमिदृशपि परविषयेण सन्न भेदावहासत्रैव श्रुतिप्रवृत्तः सर्वो
 द्वैतपर्यवसायिनोऽन्यर्थः ॥ ननु सत्रं बुद्धयः सर्वंबुद्धिविषयभ्यां भिन्ना, बुद्धि-
 त्वात् ; सर्वं विषयाः सर्वंबुद्धिभ्यां भिन्ना, विषयत्वादिति परस्परं बुद्धि-
 विषययोर्भेदमिदृशं न श्रुतेरवकाश इत्यत आह- "नवे"ति ॥ तत्र किं
 स्वव्यतिरिक्ताद्विषयाद्विज्ञेति साध्यते? विषयमात्राद्वा -इति विकल्प्य द्वि-
 तीयं दूषयति-। "मा भूदिति ॥ बाधं व्युदस्य सत्प्रतिपक्षं व्युदस्यति-।
 "एतेने"ति यत्रापि लौकिकवाक्यात् श्रुतेरेव बलवत्त्वमिति न तेन प्रतिरोधः
 तथापि वाक्याद्यं श्रुतितात्पर्यवद्भेदो सति तथा, ननु तात्पर्यावहदशायामपि
 तद्वलवत्तति भावः ॥ ^७ "यस्मादि"ति । यत्रापि मिथ्यात्^१ इत्यलौकिकं,
 तच्च न भेदप्रतियोगि, तथापि मिथ्यासत्यभेदव्यवहारस्वभावात्पुनरुच्यते
 इति भावः ॥ ^९ "मिदुसाधनादि"ति । मिथ्याप्रतियोगिभेदबोधकलौकिक-
 वाक्येन सत्यमकलाऽभेदबोधकश्रुतेः सामञ्जस्यादित्यर्थः ॥

मू० "सर्वस्वादिति स्वतोप्यापत्तेः ; स्वव्यतिरिक्तादिति
 चाद्वैतवादिन्यव्यवच्छेदकम् । तदेवम्-

^६ हेत्वाद्यभावसर्वज्ञे सर्वं पक्षगताऽऽस्थिते ।

किञ्चत्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारऽद्वयश्रुतेः ॥ ६ ॥

अत एव च-

आद्यधीवेशभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।

स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधने नाद्वयश्रुतिम् ॥ १० ॥

(१ "मिथ्यात" इत्यत्र मिथ्यापदप्रतिपाद्यं वदन्त्यलौकिकमित्यर्थः । यत्रापि चेदा-
 न्निकसिद्धात्ते मिथ्यात्वं बोधोर्भेदः, तथापि पारमार्थिकत्वेन नित्यालौकिकत्वं भेदाऽप्रति-
 बोधित्वं चाऽभिप्रेत्यैतदुक्तम् ।

“न च संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेका-
न्वयप्रतिपक्ष्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्कः ।

टी० ननु ‘सर्वस्मान्सर्वं भिन्नमित्युक्ते क्व सामञ्जस्यमित्यत
आह-। “सर्वस्मादि”ति । तस्यापि^(१) सर्वपदार्थान्तरात्त्वादित्यर्थः ।
यद्यपि द्रव्यज्ञो यतः कुतश्चिदद्वैतमाधने स्वस्मादेव तन्सिद्धौ सिद्धमाधने,
सर्वस्मादद्वैतसाधने मिथ्यात्वाद्यद्वैतमिद्विप्रसङ्गः, तथापि स्वमात्तक^(२)मेव
ब्रह्मेत्येव हृदयम् ॥ “हेत्वादी”ति । आदिपदेन दृष्टान्तोपग्रहः । सर्व-
पत्तीकरणं मार्तण्डमन्तराणानुपपन्नमित्यर्थः । आस्यते=सोऽङ्गने । एतद्विषद्व-
यभयेन यदि पक्षात्किञ्चिद्बहिर्भाष्यं तदा श्रुतिप्रवेशे तदेव द्वारं स्यात्तत्रैव
सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैते बोधयिष्यतीत्यर्थः ॥ “आद्ये”ति । आद्या
धीः = घटपटौ भिन्नावि’ति भेदधीः, तद्वेद्यो यो भेदो=घटपटभेदः, तदी-
यान्यथानुपपत्ता=तदन्यथानुपपत्तिः, सापि शेषं गत्वा नादृश्यति बाधने,
कुनः ? स्वज्ञानापेक्षणात्^(३), तथाचानुपपत्तिज्ञाने^(४) सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वै-
तपर्यवसाया स्यादित्यर्थः । यद्यप्यन्यथानुपपत्तिज्ञाने त्वयोपानीय दत्ते तदै-
व^(५) तद्वदग्रह इति न श्रुतेरवकाशः, यदि सर्वं भिन्नं स्यात्तदा घटपटौ
भिन्नावि’ति प्रत्यक्षेण गृहीतो घटपटयोरपि भेदो न स्यादित्यनुपपत्तिज्ञा-
नेन सङ्गत्वादिना श्रुतिस्वभावापि न सावकाशा, तथापि “तत्स्वप्रकाशपर-
मार्थेतिदेव भूत्वे”त्यत्र सात्यर्थम् ॥ उत्पन्नश्रौताद्वैतधीबाधं निरस्याऽप्ये-
ग्यताज्ञानानुपपत्तिप्रतिबन्धं निरस्यति-। “नन्वे”ति । भ्रूयोदशनप्रथ-
मसंस्कारारूढान्वयः=सत्त्वं, यस्य व्यतिरेकस्य=भेदस्य, तस्य यावन्वयव्यति-
रेको, ताभ्या योन्वयः=संबन्धो व्याप्तिनक्षणा-यो घटादिः स पटादेर्भिन्नो

(१) स्वस्यापीत्यर्थः ।

(२) स्वमात्तकं = स्वतः सिद्धं, न तु तत्र साधनान्तरापेक्षेति भावः ।

(३) अयमर्थः-प्रतीयमानेताऽनुपपत्ताभेद साधयतीति वाच्यम्, अथानुपपत्ति-
द्वैतानुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः इति स्वीकारात्; तथा चानुपपत्तेः स्वभावज्ञानात्स्व-
भेदाप्रसाधकत्वेन तत्रैव वक्ष्यता श्रुतिः सर्वाऽद्वैते पर्यवस्यतीति ।

(४) अनुपपत्तिविषयकज्ञाने इत्यर्थः

(५) अनुपपत्तिविषयकज्ञानसमकालमेव तथैव ज्ञातयानुपपत्त्या स्वविषयकज्ञा-
नादपि स्वस्य भेदो गृहीतः, अत्रेति हि प्रत्यक्षसिद्धौ घटपटयोरपि भेदो न सिद्धोऽित्यर्थः ।

यः घटादिर्नासौ घटादिरित्येवमाकारः, तेन व्याप्तिप्रत्ययेन प्रतिपत्तेरद्वैत-
बुद्धेरुत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः । यद्वा, संस्कारावृत्तेऽत एव
दृढान्वयो=दृढपदो, यो व्यतिरेको=भेदस्तस्यान्वयो 'भिर्वाप्रदमि'ति
ज्ञानं, व्यतिरेकश्चाऽ'भिर्वाप्र'ति विश्वयस्ताभ्यामन्वयप्रतीतिः=श्रौतसंसर्ग-
प्रतीतिरुत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः। सर्वलोकाप्रसिद्धभेदपमा^(१)बला-
दद्वैतश्रुत्या समर्गबोध एव न समवत्ययोग्यतानिश्चयादिति भावः ।
यद्यपि यत्रक्वचिदुत्पन्नं भेदप्रत्ययमेव सर्वद्वैतप्रतिपादकश्रुतिबाधकमतोच
श्रौतप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्क एव, तथाप्युत्पत्तिप्रतिरोधेपि
स्वप्रकाशप्रामाण्यावष्टम्भाद्विदमुक्तम् ॥

मू० यतः-

“अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।

अबाधात् प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥११॥

असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता संसत्यबाधिते ।

अत्यन्ताऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥ १२ ॥

टी० “शङ्कन्त्ये करिणतं विहरति” “मम कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहः
कीडती” त्यादिशब्दादुत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यानुभवसिद्धतया शाब्दज्ञाने
योग्यताज्ञानस्यायोग्यताज्ञानविरहस्य वा न जनकत्वं, किंतु, ज्ञानमुत्पद्य-
मानं विश्वबाधादप्रमाणतया, तदबाधात् प्रमाणतया, व्यवहर्तुमुचितं;
प्रकृते च विश्वबाधो नास्त्येवेत्याशयवानाह-। “अत्यन्ते”ति । प्रमामत्र,
करोतीत्यनुषज्यते । प्रत्यक्षादिबाधस्त्वाशङ्क निरस्त एवेति भावः ॥ ननु
अयोग्यतास्थले संसर्गज्ञानं नोत्पद्यते, व्यवहारस्त्वसंसर्गाग्रहमात्राधीन

(१) भेदज्ञानं यदि एवम्वात्तदाऽबोधताज्ञानाच्छ्रुत्या संसर्गबोधो नोत्पाद्येत,
नन्वेतदस्ति भेदस्य खण्डनत्वादित्यर्थः । अत एव 'यद्यपि'त्यनेन भेदप्रत्ययमेव श्रुतिबा-
धकमित्युक्तमपि साधु संश्लेषितं । यस्तु तस्य, भेदप्रमेव यदि म्यातदा श्रुत्या संसर्गबोधो न
स्यात्, नन्वेतदस्ति, भेदाऽभेदप्रमयोऽभयोरेपि लोकमिदत्वात् तथाच यद्येताऽभेदप्रमा
तत्रैव तत्रैव श्रुतिः संसर्गभेदे पर्यवसास्यति, नास्त्यतया संसर्गाऽबोध-गत्यादशायेक-
रथो यद्यपीत्यनेन 'अनन्वचिदिति', 'सर्वोऽद्वैते'ति च प्रतिपादनं साधुपपादितं स्यात् ।

इत्यत आह—^१ “असंसर्गायहस्ये”ति । असंसर्गायहस्य मन्ता मीमांसकः,
स चात्यन्तमसखऽसंसर्गः सत्यस्थले, तस्याऽयहो यत्र तत्र तु संसर्गप्रमामेव
मन्यते, तथाच तन्मतेऽप्यद्वैतश्रुत्या संसर्गप्रमैव जननीया, त्रिषयाऽबाधादि-
त्यर्थः । सदसंसर्गायहस्तत्र नास्त्येव, त्रिषयबाधस्य निरस्तत्वादिति भावः ॥

मू० “अनौचित्या^(१)पि तर्केण दुर्बाधैवाह्यश्रुतिः ।

अनारोपितमूलत्वाद्बलवत्त्वाद्तादृशा ॥ १३ ॥

^२ प्रवृत्तेना^(२)प्यनौचित्यमूलं येन न लूयते ।

तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यास्तु नात्र तत् ॥ १४ ॥

टी० नत्वनौचित्यऽविनिगमककल्पनालाघवकल्पनागौरवात्तां
णा, तर्कप्रतिरूपकाणां^(३) वा, प्रमाखसहकारित्वमुभयवादिमित्दं, तथाचा-
ऽनौचित्यतर्कस्य सकललोकसिद्धभेदतिरस्काराऽनहंत्वलक्षणस्य प्रकृते
सत्त्वाद्देवदाहिप्रत्यक्षमेव बलीयो, नत्वभेदविषया श्रुतिरित्यत आह—
^४ “अनौचित्ये”ति । तर्कस्याहार्यारोपरूपतया तदपेतया श्रुतिरनारोपितमू-
लाया बलवत्त्वमिति तर्कापटव्यप्रमाणापेक्षयापि तथेत्यर्थः । अत्रादृशाया-
रोपितमूलेनेत्यर्थः । केचित्तद्वाधितनिवहस्यानेनेत्रोद्वाधितनिवहस्यानर्हा-
हारोऽनौचित्यतर्कः^(४) श्रुतेर्बाधकः स्यादित्याशङ्काभाग इत्याहुः । तच्चिन्य-

(१) सकललोकसिद्धो भेदस्तिरस्कर्तुंमनुवितः—इत्यनौचित्यतर्कः, त्रिषयस्य भाव
श्रीचित्ते, न श्रीचित्यनौचित्यत्वात्तार्यः । अनौचित्यमित्यदन्तापि तस्मात्प्रमाणा ज्ञेया ।

(२) प्रवृत्तेनापि येन प्रमाणेनानौचित्यस्य मूलं न लूयते=न खण्डयते, तत्रैवा-
नौचित्यस्य मासाज्यं=स्वार्थसाधनसामर्थ्यं भवति, यत्र तु तद्वैपर्ययात्=चद्वैतश्रुत्या नौ-
चित्यमूलस्य पारमार्थिकभेदनिष्ठसर्वजनसिद्धत्वस्य लक्षणात्, न तद्=अनौचित्यस्य
साम्राज्यमित्यर्थः ।

(३) तर्कप्रतिरूपकाणां =तर्कमदृशानां, न तु तर्काऽऽभासनामित्यर्थः, तेषां
प्राकारविरोधित्वेन प्रमाणासहकारित्वस्याऽसम्भवात् ।

(४) पृथग्परिच्छेदाद्वाधितं श्रुतिबाधनक्षयं निवहस्यानमपरिच्छेद्य बाधयत्वेन तद-
मित्येन श्रुत्या प्रत्यक्षबाधनक्षयेन निवहस्यानेन यत्नस्य परिहारः (श्रुतिबन्धी) वेदात्मि-
कस्य, साऽनुचित्यनौचित्यतर्क इत्यर्थः । यद्वा, वेनेव अटपटादिभेदावगाहितप्रत्यक्षबाध-
नक्षयेन निवहस्यानेन श्रुतिबाध्यते तेनेव प्रत्यक्षप्रतिषेधमिदविषयानुबोधानिकाभेदावा-
धनादभेदावच्छेदाभेदावगाहितश्रुतिबाधोपि बाध्यते इत्युद्वाधितनिवहस्यानेनेव

म्^(१) नन्वेवमनौचित्यनर्कानास्तेषु, तथाच "दोषं व्यक्तिविषेकेऽपि कवि-
लोकाविवेकने"^(२) इत्याद्ये,^(३) यदुक्तं सदनुपपन्नं व्यादित्यतः सदसदनुचित-
त्ययोर्विषयं विवेचयति-। ^४ प्रवृत्तनापी"ति । अनौचित्यमूलं हि-भेदस्य
सर्वत्रनमिदृशं, तच्छ^(५) श्रुत्या पारमार्थिकमद्वैतं बोधयन्त्या मूलं व्यापहारि-
कभेदपरं कृतं, तथाचापारमार्थिकभेदमादाय सर्वेनाकस्मिदुव्यवहारोपपत्तौ
नाऽनौचित्यमिति भावः । "अनौचित्यमूलं व्याप्यव्यापकभावः, तस्य खण्डन-
मद्वैतश्रुत्ये"त्वपव्याख्यानम्^(६), अनौचित्यस्य व्याप्यव्यापकभावमादायाऽ-
पवृत्तः, तत्प्रवृत्ता वा तत्परत्वे सर्वानौचित्यखण्डने खण्डनकारस्यायं-
"विषवृत्तापि संवद्व्य स्वयं ह्येतुमपान्त"मिन्यादेरनवकाशापत्तेः । "उद्वा-
चितनियद्वयानेन"त्यादिस्वात्कवरोधाच्च^(७) ॥

सू० * ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया-नेत^(१) इतो .स्य भेदो
गृहीत इति ततोऽस्याङ्गताम्नायैरभेदबोधने तद्वारा
सर्वाभेदे पर्यवसातव्यम्-इति. नतस्ततस्तस्य भेद-
स्तदैव गृह्णने मया, तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदा-
ह्रियमाणतयां च कस्यचिदेतत्तस्यवस्थानमस्थाने

अविनिर्गणस्थानपरिहारो वेदः न्निक्रयानुचिनः चटपट व्यभंशे प्रतिबोधस्यापि
सत्त्वात्-इत्यनौचित्यनर्कः अथवा, उन्मूलित निपक्षस्थान बाधार्थकं पत्रेति बहु-
वार्थः, तथा च स्वयं बाधितन तर्कादिना बाधपरिहारेऽनुचित-इत्यनौचित्यनर्क इत्यर्थः ॥

(१) चिन्ताबाजं तु स्वमतं दोषमनुद्धृत्यापि प्रतिबन्धादेर्देनस्य युक्तत्वम् ।

(२) "काव्यमार्गसिद्धे प्राप्तामद्वैतामर्तमऽद्वैत"-इत्युत्तराद्यम् । अत्रार्थः-म
हिमानामकः कश्चिद्वैतकारिकः काव्यमार्गमार्गसिद्धे प्राप्तामद्वैतः स्वोपव्यक्तिविवकना
मकः एवम् । ननु दोषमनौचित्याख्यम चाद्वैत-पुरस्कृतयान् । किंभूतं यद्ये / कविलोकावि-
त्तावने, कविलोकानां चतुर्भूते, अनया कारिकया खण्डनकारकाऽनौचित्यं सम्पत्तिः प्रह-
र्यते ।

(३) चतुर्थपरिच्छेदस्याऽवसाने ।

(४) तच्छ मूलमिति सम्बन्धः ।

(५) कौचित्यत्वेनैव पूर्वयुक्तस्यैवैवमवस्थाख्यानं द्रष्टव्यम् ।

(६) नति उन्मूलितनियद्वयानतत्परिहारोऽप्यव्यापकभावास्ति येन तमा-
दायानौचित्यप्रवृत्तिः स्यादिति भावः ।

(७) इतद्वैतः=अन्यबुध्यादितः. अस्य=उपान्त्यव्याप्येः । सर्वभेदे पदप्रसा-
तव्यमिति यद्येव त्वयोदाह्रियते-इति सम्बन्धः । ततस्ततः=अन्यबुध्यादितः, तस्य=
उपान्त्यबुध्यादेर्भेदस्तदेव = कथाकावे यत् मया पद्यते इत्यर्थः ।

इति * १ । मैवम् ।^१ अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्या-
दितो भेदो न त्वया प्रमित-इति मयाच्यमाने
यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः सन तावत् प्रत्य-
क्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धेरनुपस्थितेः । 'यदि च
केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात्
तदानीमद्वैतवादिनं प्रति हेतोः साध्याऽविशिष्टतया
(^१), अनुपपत्तेश्च येन विना सा तदविशिष्टतया,
ततःकथमाभासात् प्रमोदयः स्यात् ।

टी० सिंहावलोकितन्यायेन शङ्कते- "नन्वि"ति । कस्यचिद्व-
स्तुनोऽनुदाहृत्यमाणाया श्रुतिव्यवस्थापनानवकाशः, उदाहृत्यमानतायां
च भेदग्रहापत्तिरिति(^१)प्रत्यक्षस्थान खण्डनमस्थाने ऽपुक्तमित्यर्थः ॥ मयो-
दाहृत्यमाणाया श्रुतिमबुद्धेः पत्त्यत्तादिना केनापि प्रमाणेन कथायां भेदः
साधयितुमशक्य इति परिहरति-^२ "अन्तिमे"ति । यद्यप्यन्तिमबुद्धेः उदाह-
रणेऽन्तिमत्वव्याघातो, ऽनुदाहरणे श्रुत्यव्यवस्थापनं, मानसप्रत्यक्षेण ततो
भेदग्रहणं तदुदाहरणे, वाक्यज्ञानसहकृतस्य मनसो बहिरपि प्रस-
क्तव्याश्रयत्(^३), तथापि तस्य(^४)प्रमाणांतरत्यापत्तिः ; न वा तादृशप्रत्य-
क्षे(^५), प्रमाणं, तादृश(^६)मानसप्रत्यक्षेण सह भेदायहात्तत्रैव श्रुतिप्रवृत्तिरिति

(१) हेतोः साध्याऽविशिष्टतया (साध्याऽभिमतया) तत आभासात्कथं प्रमोदयः
स्यात्, अनुपपत्तेश्च येन (उपपादकेन) विना सा=(अनुपपत्तिर्भवति) तदविशिष्टतया
तत आभासात्कथं प्रमोदयः स्यादित्यन्वयः ।

(२) इतिशब्दो हेतोः, इति हेतोः कस्यचिदपि यस्तुन प्रत्यक्षस्थानं = खण्डन-
मपुक्तमित्यर्थः ।

(३) यथा कर्त्रीणां = क्रास्तरिश्नां, मानसज्ञानसहकृतं वचोऽतीताऽज्ञानतद्विषय-
व्यवहितसूक्ष्मप्रस्तुषु धृतिपात्रकत्वेन सर्वत्रैव प्रवर्तते तदुदाहरणं ।

(४) मानसप्रत्यक्षस्यत्वर्थः ।

(५) ब्रह्माद्येमांस्वरमानसप्रत्यक्ष इत्यर्थः ।

(६) किञ्च, मनसाऽन्यबुद्ध्यादित उपाख्यबुद्ध्यादेर्भेदग्रहेण स्वप्रतिबोधि-
भेदो न गृहीत इति तत्रैव सव्यवस्था श्रुतिः समोऽभेदे पर्यवस्थेदित्याह-तादृशति ।

भावः ॥ ननु प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा स्यादित्यत आह— “यदि चे”ति । हेतुना=बुद्धित्वादिना । अनुपपत्त्या=प्रथमसूहीतभेदान्यथानुपपत्त्या । अनुमानपक्षे—‘हेतोरिति’ ; अर्थापत्तिपक्षे—‘येन विने’ति । अनुमानस्यार्थापत्तेः भेदमादाय प्रसङ्गरहितत्वादिनं प्रति तदुपन्यासानवकाशादिति भावः ॥

सू० * नच वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोपि (१) मां प्रत्यसिद्ध्यादिरिति *, यतो ^१ ऽस्य त्वद्वचनस्य वैयर्थ्यापत्तिः, वचनस्य परार्थत्वात् । मौनमवलम्ब्यावतिष्ठमानश्च भवानऽप्रतिभातो न मुच्यते । * नच स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम् *, त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात् । विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तत्रार्थं तज्जिज्ञासोत्पादनद्वारेण तस्य स्वनस्तदथप्रमित्युत्पादनपर्यवसायितयापयुक्तम्, नचाद्वैतवादिनं प्रति तथा कर्तुं शक्यते, तं प्रत्यन्यनरासिद्धे (२) रुक्तत्वात् । * नच वाच्यमम वचनात्सन्देहेनापि श्रुत्या तत्र सन्दिग्धवाचितभाषया नाभेदप्रतिपादनं तं घटते इति *, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदासिद्ध्या सर्वत्र साध्याऽविशेषादिदोषप्रतिसन्धायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात् ।

टी० अनुमानमर्थापत्तिर्वा नाद्वैतवादिनं प्रत्युपन्यस्यते, किं तर्हि, स्वत एवान्तिप्रबुद्ध्या सहभेदोऽनुमीयते इति सूत्र इत्याशङ्क्य परिहरति—

(१) परार्थाऽनुमानपक्षे एवाऽसिद्ध्यादिर्दोषो न स्वार्थानुमानपक्षेऽपीति भावः ।

(२) अन्वयानुपपत्त्या भेदसाधने उपायोपपादकयोर्भेदस्यासिद्धेः अनुमित्या तत्साधने च साध्यसाधनयोर्भेदस्यासिद्धेरित्यर्थः ।

“नच वाच्यमि”ति ॥ “अस्ये”ति । स्वयं मया स भेदे ज्ञेय इत्यस्येत्यर्थः ॥
 वैयर्थ्यं हेतुमाह— “वचनस्ये”ति । परस्य चाद्वैतवादिनये ऽभावादिति
 भावः । यद्यपि यथाऽद्वैतवादिनं प्रत्यनुमानमनवकाशं तथा भेदवादिनं
 प्रति शतशः पठ्यमानाप्यद्वैतश्रुतिरनवकाशा, तेन सर्वत्र भेदयक्तात् ।
 क्वचित्प्रत्यक्षतः, क्वचिदनुमानात्, क्वचिदागमात्, अर्थापत्तौ तस्य यथा-
 यथं भेदग्रहणमभावात् । “मया तावदद्वैतश्रुतिभिरद्वैत प्रतिपाद्यते”—
 इत्यपि त्वद्रुचन भेदवादिनं प्रत्यनवकाशमेव । नहि यस्य तादृशशुन्यर्थ-
 ऽश्रुता, तस्य त्वद्वैतसि श्रुता । भेदप्रतिपादकप्रत्यक्षाद्याभासीकरणमपि तं
 प्रत्यतन्त्रं, तेन स्वनयेन सर्वसामञ्जस्यकरणात् ; तथापि स्वप्रकाशे ऽद्वैते
 तात्पर्यम् ॥ ननु मद्रुचनेन निर्णयस्तव मा भूत संशयोपि स्यादेव, तावतैव
 श्रुतिरनवकाशेत्यत आह— “नच वाच्यमि”ति । प्रत्यक्षादौ बाधकमाने^(१)
 अगिहते श्रुतिलक्षणसाधकप्रमाणे च सति बाधक^(२)साधकमानाभावलक्ष-
 णाया संशययोग्यताया निरस्ताया संशय एव नास्ति, भवन्वा न स प्रमा-
 णपरिपन्थीति भावः । यद्वै, श्रुतिपरिपन्थिना केनचित्प्रमाणाभासेनापि
 यदि द्वैतमुपस्थाप्येत तदा संशयः स्यात्, तन्त्र नास्त्येव, प्रत्यक्षस्य निर-
 स्तत्वात्, अनुमानादेः साध्याऽविशेषादिदोषयस्तत्वात् ; अन्ततो भेदाभा-
 वेन तद्व्यतिरिक्तविरोधाभावेन विरुद्धनानाकाटिकस्य संशयस्याप्यद्वैतवादिनं
 प्रत्यनवकाशादित्यर्थः ॥

मृ० “तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः कश्चित् । आस्ते न
 धीरधीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥ १५ ॥ अपि च^(३), प्रतीयते

(१) अत्र बाधकमानं श्रुतेर्बाधकं यावत्, न तु संशययोग्यताकुर्वन्निश्चयं, तथा
 चाऽबाधिताऽद्वैतश्रुतिसत्त्वात् बाधकमानाभावः कथमिति भावः ।

(२) बाधकेन जनितं मानं बाधकमानं (बाधः) बाधकेन जनितं मानं साध-
 कमानं (सिद्धिः) तदुभयाभावलक्षणायामित्यर्थः ।

(३) परकीयकुर्वन्निश्चयस्य विशेषरूपेण साक्षात्कारसम्भवे कुर्वन्निश्चययोग्यैः
 परैश्च यद्येत, भेदज्ञाने विशेषरूपेण धर्मादिज्ञानस्य हेतुत्वात्, नन्वेतदस्तीत्याह—अपि चेति ।

तावदिदं सामान्यतो, यन्नाम किञ्चित्परश्चेतसा चिन्त-
यन्नस्तीति, किञ्चिद्वा विवक्षुरित्यादि; तत्र परस्य
बुद्धिविषयो विवक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं
विना नैव प्रतीयते, ततोन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता
शक्यप्रमः, परेण^(१) तच्चिन्तनादेरपि संभवात् ।
स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात् । ततस्तत्र लब्धपदा कथ-
मद्वैतश्रुतिविश्वाभेदे पर्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा
स्यात् । तस्मात्-

‘कथं सामान्यतो^(२) ज्ञाते नैव ज्ञाने विशेषणः ।

पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्यादद्वयश्रुतेः ॥ १६ ॥

टी० सर्वप्रमाणापेक्षया श्रुतेर्बलशब्देन तद्विषयस्य बलवत्त्वात्तद्वृत्तेः
वादिनेपि बलवत्त्वमित्युपपन्नमिति-। “तस्मादि”ति ॥ यत्र त्रिषये प्रत्य-
क्षादिना भेदो दुर्यहस्तत्र श्रुतेः प्रवृत्तिमाह-। “अपि चे”ति । परेण चिन्त्य-
मानस्य वस्तुनः (यतो भेदो बाह्यः) ‘तत्रैव परेणैवार्थो चिन्त्यते’ इति त्रिंश
ध्यानवधारणाद्वदो दुर्यह इति तदेव^(३) श्रुतिविषय इत्यर्थः । यद्यप्यापातत-
स्ततो भेदायद्वेपि यत्र कमेण भेदं एहीत्या श्रुतिरप्यमारणीया, नहि यदे-
कदा न एह्यते तत्र कदापि एह्यते, प्रवृत्त वा प्रमाणं पश्चात्प्रवृत्तेन बल-
वता प्रमाणेन नाऽपमाय्यते, परिचिन्त्यमानस्यावच्छेदेन^(४) तत्रापि वा
भेदः सुयह एव, अस्तुतस्तस्यान्यबुद्धित्वादिन्यद्वैतत्, तथापि श्रुतेरापात
तस्तत्रावकाश इति हूदयम् ॥ उक्तमर्थं संकलयति-। “कथमि”ति ॥

(१) परेण भेदप्रधाना, तच्चिन्तनादेः = धर्मिप्रतियोगिचिन्तनादेरप्यावश्यक-
त्वात्तस्य च विशेषरूपेण प्रकृतं भाष्यार्थमिति भावः ।

(२) सामान्यतो ज्ञाते विशेषतश्च न ज्ञाने कथमद्वयश्रुतेः पदरोधः कर्तुं शक्यः-
इत्यन्वयः । कृत्स्नं “नैव सामान्यतो ज्ञाते”-इति वाटः ।

(३) अपि च’ इतिवत्यर्थः ।

(४) परिचिन्तनस्य परिचिन्त्यमानात्भेदे बाधे परिचिन्त्यमानस्यावच्छेदेन
तत्रार्थं = परकीयबुद्धिविषयेपि, बुद्धिभेदः सुयह एवेत्यर्थः ।

मू० * "ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदपदार्थ-
वैशिष्टीव्यवहारो न व्याहन्यते? * । ^१ कथं व्याहन्यते,
प्रतिवश्यते हि तत् । किंच, योयं स्वया व्याघात
आपादनीयः सोऽपि कस्माच्चिदापादकात्, नचापा-
द्यापादक-मभियमानमापस्यै प्रभवेदिति । तस्मात्-
"नानात्व^(१)भवत्स्वभ्यापि वदत्यद्वैतवादिभिः ।
असिद्धभेदाद्व्याघातः पतेदापादकात्कुतः ॥१७॥^(२)

‘इदमपि च विचारमहति, यदद्वैतश्रुतीनां वाचक-
मुपन्यस्यते प्रत्यक्षादि घटपटप्रभृतिभेदग्राहि तदपि
कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति ? । तथाहि-प्रत्यक्षेण योसौ भेदा
मृद्भवेत् स किं स्वरूपभेदः ?-१^(३) किमन्योन्याभावः ?-२
किं वैधर्म्यं ?-३ किमन्यदेव वा ?-४ ।’ यदितावत् स्व-
रूपं भेदः, स नाम^(४) घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्मा
^(५)द्वेदः नत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति, (भेदो हि

(१) नानात्वं व्यावहारिकं, कान्थनिकं वा; नतु पारमार्थिकम् अद्वैतवादिनां प्रति
तद्विच्छेदः ।

(२) { स्वरूपान्यान्यवैधर्म्यं पृथक्त्वेति चतुर्विधं । }
{ भेदो न घटतेऽद्वैते सदस्यं तत्तु सामान्यम् ॥ }

(३) 'स्वरूपमेव भेद' - इति प्रभाकरमतेऽपन्यासः, 'अन्योन्याभाव' - इति नैयायि-
कैकदेशिनाम्, अद्वैतदेशिनां मतं - 'वैधर्म्यमिति, वैशेषिकस्य - 'अन्यदेवे'ति, एतत्त्वं गुण
इत्यर्थः ।

(४) बहुषु एतकेषु 'स न घटपटयोर्हि स्वरूपम्' - इति पाठः । तत्र स न (स
पक्षो नोपपद्यते) इत्येतावत्पर्यन्तं विरामः कर्तव्यः ।

(५) यत् परस्परं च यत्परस्परं, यत्परस्परस्मात्प्रतस्परस्परमनन्तर्भाव्य तद्वि-
शिष्टो भेद इव न सम्भवति, विशेषणव्यातिरिक्तव्यतिरिक्तविशिष्टपदार्थानङ्गीकारादित्यर्थः ।

(६) किञ्चित्प्रतिपौगिक इव भवतीत्यर्थः ।

भवन् कस्मादपि^(१) भवति अन्यथा 'स्वरूपं भेद'-इति पारिभाषिकं^(२) नाम स्यात्) यदा च घटाद्भेदः पटस्येत्येतावानेवार्थः^(३) पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृह्यते तदा घटोपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति पटघटयोरैक्यात्म्यमेव भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणावगाहितमिति विपरीतमापद्यते ।

टी० ननु यथानुमानादः साध्यसाधनादिभेदाधीना प्रवृत्तिरित्यद्वैतवादिन प्रति तदनवकाशस्तथा श्रुतेरपि पटपदार्थवैचित्र्यमुपजीव्यामिति तं प्रति तदनवकाशोपि, प्रत्युत तथा व्यवहरतो व्याघात एव तत्र, भेदव्यवहारान्यथानुपपत्त्या भेदसिद्धिरेवान्त इत्याशङ्कते-। "नन्वि"ति ॥ परिहरति-^b "कथं व्याहन्यते" इति ॥ आपाद्यापादकयोरभेदाद् व्याघातापादनं मां प्रत्यनवकाशमित्याह-। "किंचे"ति ॥ पटपदार्थनानात्वमवलम्ब्यापि श्रुतिं प्रमाणयतो मम व्याघातो नास्तीत्याह-। "नानात्वमि"ति । असिद्धभेदादापादकाद्याघातः कुतः पतेदित्यन्वयः ॥

यं भेदं विषयीकुरुते प्रत्यक्षादि श्रुतिबाधकं स्यात् स एव नास्ति कुतो बाध इत्याह-। "इदमि"ति ॥ "यदि तार्वाद"ति । घटाद्भेदः स्वरूपं पटस्य, तत्र घटो विशेषणम् उपलक्षणं वा । आद्ये, घटभेदः पटस्वरूपं प्रत्यक्षेण गृहीतामिति घटाभेद एव प्रत्यक्षेण गृहीत इति विपरीत्यमित्यर्थः ॥

सू०* ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखिनया व्याख्यायते^(३) तथा भेदोल्लेखित्वेपि दीयतामस्यां दृष्टिः, अभेदे हि 'घट' इत्येव, 'पट' इत्येव वा, बुद्धिः स्यात्, ननु 'घटाद्भेदः

(१) पारिभाषिकं=स्वसङ्केतमात्रसङ्गम् ।

(२) पटाऽनुयोगिकस्येति घटप्रतियोगिकत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।

(३) व्याख्यायते=व्याख्यायते ।

+ अत्र प्रायः पुस्तकेषु घटपटयोरैक्यप्रतियोग्यनुयोगिभावक्रमवैपरीत्येन व्याख्यायामुपलब्धं प्रतिपाद्यनुयोगिभावमुपेक्षितं, उपन्यास्यं च यथोचितक्रमेण, उपन्यास्यं च + एतत् सर्वत्र व्यावर्तितं पश्य ।

पट' * ?-इति चेत्, ^bस्यादप्येष पर्थ्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभावं^(१) भेदं पारमार्थिकभेदमिच्छन्तोपि प्रत्यादिशामः । तस्मात्-

'अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा ।

तथाचाद्यं प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥१८॥

* 'अथ 'भेदः'-इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं, 'घटादि'ति च तद् घटेन प्रतियोगिनाऽन्ये^(२) नैव निरूप्यते * ?-तदपि नोपपद्यते ।

टी० ननु घटाङ्गेदः स्वरूपं पटस्येत्युक्ते घटपटयोर्नाभेदः प्रतीयते, तथा सति 'घटादि'ति न स्यात्, किंतु 'घटः पट'-इति सामानाधिकरस्य स्यादिति शङ्कते-। "नन्वि"ति ॥ अविद्याविद्यमानं भेदनादाय तथाप्रतीतिरिति परिहरति-। ^b"स्यादि"ति ॥ ननु भेदो न पारमार्थिकः, किंत्वभेदः,-इत्यत्र किं विनिगमकमत आह-। "अभेदमि"ति । घटपटस्वरूपमनुल्लिख्य तदुभयभेदोल्लेखो न संभवति, तदुभयभेदमनुल्लिख्यापि तदुभयस्वरूपोल्लेखः संभवतीत्यभेदग्रह उपजीठयो भेदग्रहस्येत्यभेद एव पारमार्थिक इत्यर्थः । आद्ये=अभेदे, सा धीः प्रमा, नान्त्ये=भेदे, स्वस्य=भेदग्रहस्यापेक्ष्य=उपजीठयो भेदग्रहस्तद्द्वैशसात् द्विरोधादित्यर्थः । यद्यपि भेदाभेदपदाभ्यामुभयोर्पास्थौ विपरीत^(३) एतेपजीठयोपजीठकभावः, स्वरूपस्यापि भेदत्वे सर्वधियां भेदोल्लेखित्वस्याऽऽवश्यकत्वे वैपरीत्यमेव, तथापि श्रुत्यवष्टम्भादिदनुक्तम् ॥ उपलक्षणपक्षं कक्षीकृत्याशङ्कते- "अथे"ति । यदि प्रतियोग्यपि भेदस्वरूपं स्यात्तदा तन्निरूपकमेव न स्यादिति भावः^(४) ॥

(१) अविद्याया विद्यमानो भावः एतत्तं यस्य च तद्योक्तस्तत् । अविद्याविद्यमानभावं भेदं यदि प्रत्यादिशामः-इति सम्बन्धः ।

(२) अन्येन=भेदस्वरूपाऽप्रविष्टेनापलक्षणीभूतेनेति यावत् ।

(३) भेदोपस्थितिपूर्वक एवाऽभेदग्रहः, अभेदस्य भेदाभावकपत्वादित्यर्थः ।

(४) पूर्वपक्षलोभाव इत्यर्थः ।

म० "निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात् । नित्यं प्रतियोगिघटिते एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात् । "का चेयं वाचोयुक्तिर्यदन्याऽसाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपमन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति ? । नहि यत्स्वरूपेणैव नीलं, तत् पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति । 'यदपि चोक्तं' प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेद-इति, तत्रापि पटं^(१) प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपं ? किं वा धर्मः कश्चित् ? । यदि प्रथमः, तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो^(२) घटस्य स्वरूपं भवदात्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्यवस्यति । 'तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्यात्मा 'पटं प्रती'ति च पटापेक्षित्वमन्यदेव, तदप्यनुपपन्नम् ।

टा० नियमता यावत् (३) यन्निरूपणं पर्याप्तं तावत्तत्स्वरूपान्तर्गतभेदेति प्रतियोग्यापि भेदस्वरूपं स्यादित्याह-। "निष्प्रतियोगिकस्य"ति ॥ तनु संयोगादिस्वरूपं प्रतियोगिनिरूपणीयमपि न तद्घटितं, सूर्ति कभिन्यनुशयेनाह^(४) -। "का चेयमि"ति । अन्याऽसाकाङ्क्षम्-अन्याऽनिरूपणमित्यर्थः । यद्यपि पटः + स्वरूपतः पटः, प्रतियोगिना निरूप्यमाणो भेद, इति न दोषः, नीलमपि स्वरूपतो नीलं, पीतेन निरूप्यमाणं भेद

(१) पटं प्रति=पटनिरूपितं, घटस्य=घटनिष्ठ, प्रतियोगित्वं प्रति-योगिना घटस्य स्वरूपं धर्मो इत्यर्थः ।

(२) पटनिरूपितत्वविशिष्टप्रतियोगित्वलक्षणः संपिहितोऽर्थ इत्यर्थः ।

(३) यावत्=प्रतियोग्यादौ, यस्य=भेदादेर्निरूपणमिति, यावत् भेदादौ यस्य=प्रतियोग्यादेर्निरूपणमिति वा, इत्यर्थः; उभयथाप्यग्रे "तावदि"त्यनेन प्रतियोग्येव ग्राह्यम् ।

(४) इति पूर्वपक्षिणं अनुशयं हृदि निधाय प्रकारान्तरेण विद्वानन्याहेत्यर्थः ।

एव, भेदत्वेन निरूप्यमाणेषु तत्र पटात्त्वमित्यन्यदेतत्, प्रका-
रयोस्तु भेद एव, तथापि स्वरूपभेदे निरूपकभेदः^(१) एवानुपपन्न
इति हृदयम् ॥ भेदस्वरूपे^(२) प्रतियोगिनमन्तर्निवेश्य प्रतियो-
गिस्वरूपे भेदमन्तर्निवेशयति-। “यदपी”ति । भेदवत् प्रतियो-
गित्वमप्यन्यसाकाङ्क्षमेवेति तदप्यन्यघटितमूर्ति स्यादित्यभेदे
पर्यवसानमित्यर्थः ॥ प्रतियोगिने^(३) भेदस्य विशेषणतायां
दोषमुक्तौपलक्षणनामाशङ्क्याह-। “तत्रापी”ति ॥

सू० “अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषय-
त्वात् । “पटं प्रतीत्यत्रापि च स्वरूपतदन्यवि-
कल्पे^(४) दोष एव । नापि द्वितीयः । “योसौ धर्मः
पटं प्रति प्रतियोगित्वं तस्यात्मनि पटोपि प्रविश-
तीति तेन^(५) सह पटस्याद्वैतं स्यात्, यदा च पटो घ-
टस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोपि पटस्य धर्मतामनेनैव

(१) “स्वरूपभेदं निरूपकभेद”-उत्थयि पटः ।

(२) घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य पटरूपत्वाद् भेदः=पटः,
तथा च पटस्वरूपे घटमन्तर्निवेश्य घटस्वरूपे पटमन्तर्निवेशयतीत्यर्थः ।

(३) पटनिरूपितत्वविशिष्टप्रतियोगित्वस्य प्रतियोगिरूपत्वात्
प्रतियोगी = प्रतियोगित्वं, तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितपटरूपभेदनिष्ठवि-
शेषणतायामित्यर्थः । यद्वा, प्रतियोगित्वं प्रकृते निरूपकत्वं, तथा च
निरूपकस्य पटरूपस्य भेदस्य, विशेषणतायास् = घटप्रतियोगित्वांशे वि-
शेषणतायामित्यर्थः ।

(४) घटनिष्ठप्रतियोगिताया घटस्वरूपत्वे पटनिरूपितत्वं, घटे-
वाहितं, तथा चात पटनिरूपितत्वं घटस्य स्वरूपं ? धर्मो वा ?; यद्ये
पटस्यापि घटस्वरूपत्वापत्तिः, द्वितीये तु पटस्यापि घटधर्मत्वमङ्गा-
दूर्ध्वधर्मिणोऽभावेदात्पुनरद्वैतमेवेति दोष एवेत्यर्थः ।

(५) तेन = प्रतियोगित्वेन, सह = अहितस्य, पटस्याऽद्वैतं स्यात्
“घटेन सह”ति शेषः ।

न्यायेन^(१) गच्छेत् । नहि पट^(२)प्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्या गतिरस्तीति "परस्परमाश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्; नच कस्यचित्प्रमाणस्य विषयो घटरूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति । "किंच, धर्मस्य तस्य धर्मिणा समसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः^(३), संबन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोऽन्ततो गत्वा वा स्वभावसंबन्धाभ्युपगमे संबन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशादभेदे एव पर्यवसानं स्यादिति ।

टी० ॥ "अकिञ्चिदि"ति । प्रतियोगित्वनिरूपणं नियमतो यावति परिसमाप्यते तावत्स्वरूपान्तर्गतमेवेत्यर्थः ॥ 'पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्येत्यनयोक्त्या घटाभेदं पटस्याभिधाय 'पटं प्रती'ति तदेकदेशे^(४)नापि तदभेदमिद्विरित्याह- । "पटं प्रती"ति ॥ "नापी"ति । प्रतियोगित्वं धर्मः कश्चिदिति द्वितीयपक्ष इत्यर्थः ॥ घटप्रतियोगित्वस्य^(५) घटधर्मत्वे पटं स्यापि घटधर्मत्वं, प्रतियोगित्वस्य पटं घटितमूर्तिकत्वादित्याह- । "योसावि"नि । यथा घटप्रतियोगित्वे पटो धर्मस्तद्घटपटप्रतियोगित्वेपि घटो धर्मो वाच्यः, युक्तेस्तुल्यत्वादित्याह- । "यदा

(१) "अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषयत्वादि"त्यादिनेोक्तेनेत्यर्थः ।

(२) यथा घटनिष्ठप्रतियोगित्वस्य पटघटितमूर्तिकत्वेन पटस्य घटधर्मत्वं तथा घटनिष्ठप्रतियोगित्वस्यापि घटघटितमूर्तिकत्वेन घटस्यापि पटधर्मत्वं स्यादिति भावः ।

(३) अत्यन्तासम्बद्धयोर्द्विसंबन्धविध्ययोरपि धर्मधर्मभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

(४) "पटं प्रति"-त्यनेन वाक्यैकदेशेनापि घटपटाऽभेदमिद्विरित्याहेत्यर्थः । (५) पटनिरूपितघटनिष्ठप्रतियोगित्वस्येत्यर्थः ।

चेति ॥ कुत एवमत्र आह-। "नही"ति ॥ ततः किमित्यत्र आह-। "परस्परमाश्रितत्वमिति ॥ अस्तुभयोरपि धर्मधर्मि-
त्तावः, एतावतापि भेद एवेत्यत्र आह-। "किचे"ति । घटप्र-
तियोगित्वस्य^(१) घटाधर्मत्वे येन संबन्धेन तद्गुणत्वं तस्यापि
तदीयत्वे संबन्धान्तराङ्गीकारेऽनवस्था, स्वरूपसंबन्धस्यैव तत्रा-
भ्युपगमे धर्मिस्वरूपसंबन्धो धर्मो, धर्मस्वरूपसंबन्धो धर्मोऽभ्यु-
पगमे केषु पर्यवस्येदित्यर्थः ॥

मू० "एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्पे इति । ^१तस्मात्स्वरूप-
पभेदे प्रमाणं भवत्प्रत्यक्षमद्वैते एव प्रमाणं भवति ।
* 'ननु, घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते तदा
घटादिकमित्येव प्रतीयते यदा पुनः पटादिना
निरूप्यते तदा ततो^(२)भेद इति प्रतीयते*? । सैवम् ।
"घटादिकमित्येवंभूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्ष-
णा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेणाऽन्यथाकारा
भवितुमर्हति, * 'नच पटादिकमधिकं तदा प्रकाशते
इति विशेषः स्यात्*, घटपटविषयप्रतीतितोपि
वैलक्षण्यात् । नहि 'घटः पटश्चे'ति 'घटात् पटोः
भिन्न' इतिप्रतीत्यैरेकार्थकत्वं कश्चित्प्रत्येति ।
तत्कस्य हेतोः ? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं
निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात् ।

टी० एवं घटत्वादिनापि धर्मेण सह घटाद्यभेदा वाच्य
इत्याह-। "एवमिति"ति । धर्मविकल्पे=धर्मभेदे ॥ स्वरूपभेदग्रा-
हिप्रत्यक्षमभेदविषयं पर्यवस्यतीत्युपसहरति-। "तस्मादि"ति ॥
यदन्याऽसाकाङ्क्ष तदन्यसाकाङ्क्षमपि भविष्यति निरूपकभेदा-

(१) पटनिरूपितघटनिरूपप्रतियोगित्वस्येत्यर्थः ।

(२) ततः=पटादितः, भेदरूपेण प्रतीयते घट इत्यर्थः; "तत"-
इत्यस्य पटादिनिरूपणादिति वा ऽर्थः ।

दिति शङ्कते-। “नन्वि”ति । एक एव घटोऽन्वयेन निरूप्यमाणो भेद इति गृह्यते, अन्यथा तु घट एवेत्यर्थः ॥ भेदप्रतीतिघट-प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपरतन्त्रमिति तदभावात् प्रतीतिवैलक्षण्यमेव न स्यादिति परिहारमाह-। “घटादिकमि”ति ॥ ननु प्रतियोगिप्रवेशाऽप्रवेशकृतमेव प्रतीतिवैलक्षण्यमित्यत आह-। “नचे”ति ॥ ‘घटाद्भिन्नः पटः’ इतिप्रतीति‘घटः पटश्चे’तिप्रतीतिर्वैलक्षणा प्रतियोग्यनुप्रवेशमात्रेणानुपपन्नेति ततोपि विषयान्तरमनुमरणीयमित्याह-। “नही”ति ॥

सू० “नहि घटः पटश्चेति प्रत्येतव्ये ऋषिच् घटात्पटोः[†] भिन्न इति प्रत्येति । तस्माद् घटस्य न स्वरूपनिरूपणे पटप्रतीत्यपेक्षा । * ‘नच यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात् तत्र तस्याः कारणभक्तायाः प्रतीतेर्योः तस्माद् “अयमि”ति कृत्वा कार्यभक्तायाः प्रतीतेर्यः प्रतीयते*, ‘मा भून्निर्विकल्पकार्यादेवं^(१) सविकल्पकार्यस्य प्रतीतिः, मा च साद्रूपादेरेवं^(२) स्मर्यमाणादेः स्यात् । ‘तस्मात् ‘पटो घटाद्भिन्नः’-इत्याद्याकारेण घटादेर्भेद एव भेदावधिभक्तपटादिसंघटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीते^(३) रन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति । ‘अत एवान्योन्याभावं भेद-

† यतश्चिन्हस्थले पटाद्घट इति वक्तव्येपि घटात्पट इति घटपटयोः प्रतियोग्यनुयोगिभाववैपरीत्येन वचनं प्रतीत्योर्वैलक्षण्यमात्राभिप्रायकत्वादौत्सर्गिकं पूर्वापरग्रन्थसारूप्याय तथैव कल्पनीयं वा ।

(१) एवं = ‘गोत्वाद्गौ’ रित्यादिप्रकारेण ।

(२) एवं = ‘साद्रूपात्स’ इत्यादिप्रकारेण ।

(३) एकप्रतीतेः (= स्वरूपप्रतीतेः) अन्यस्य प्रतियोगिनो या प्रतीतिस्तदपेक्षामात्रेणेत्यर्थः । अतिप्रसङ्गात् = ‘गोत्वाद्गौः’ ‘साद्रूपात्स्मरयमि’त्यादिप्रतीतिप्रसङ्गादित्यर्थः ।

मवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निर-
स्तम् । अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेद (१) एष्टव्यस्त-
मात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः ।

टी० नन्वेक एव विषयः प्रतीतिभ्यामालम्ब्यतां को दोषः?
इत्यत आह—। “नही”ति । भवेदेवं, यदि पञ्चमीप्रथमयोरर्था-
भेदो भवेत्, न त्वेवं, तत्रश्च प्रयोगवैलक्षण्ययात् प्रतीतिवैलक्षण्यं
तत्रश्च विषयवैलक्षण्यमित्यर्थः ॥ ननु घटस्वरूपमाने कदाचि-
त्प्रतियोगिनः पटस्य ज्ञानं हेतुरिति ज्ञानगतहेतुत्वं पटे आरोप्य
ठ्यर्पादृश्यते ‘पटाद्घट’-इति, यथा ‘धूमाद्गिरि’ति; तथाच न
पञ्चमीनिर्देशबलाद्विषयवैलक्षण्यमत आह—। “नचे”ति ॥ तर्हि
‘गोत्वाद्गौः’ इत्यपि प्रतीतिः, ‘अवयवाद्गौः’ इत्यपि च स्याज्जन-
कज्ञानविषयेपि पञ्चमीनिर्देशस्य त्वयेष्यमाणत्वादित्याह—। “ना
भूदि”ति । “माद्भूश्यादे”रित्यादिपदात्पदालङ्कारादियहः । “स्पर्-
शमाणादे”रित्यादिपदात्पदार्थलैङ्गिकादिसग्रहः ॥ तस्मात्स्वरू-
पभेदो नास्त्येव । यदि प्रतीतिबलादाऽऽस्थीयते तदाऽन्योन्या-
भावः स्यादपि, यदि तत्र बाधकं न भवेदित्युपसंहरन्नाह—।
“नस्मादि”ति ॥ “अत एवे”ति । प्रतियोग्यधिकरणयोरभेद-
पर्यवसानादित्यर्थः ॥ एतदेवाह—। “अन्योन्याभावोपि”ति ।
विश्वप्रतियोगिकान्योन्याभावस्य घटधर्मत्वे विश्वस्यापि घटधर्म-
त्वापत्तौ धर्मधर्मिणोरभेदपर्यवसानस्य (२) स्वरूपभेदप्रस्तावे यु-
क्तेरुक्तत्वादित्यर्थः ॥

सू० “किंच, घटपटयोस्तद्वदन्यथोश्च तादात्म्यमन्योन्या
भावस्य प्रतियोगि मन्तव्यं, तद्यदि सर्वथा नेष्यते,
तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोपि

(१) यस्माद्भेद एष्टव्यः—यत्प्रतियोगिको भेद एष्टव्यः, तं प्रतियो-
गिनमात्मन्येवान्तर्भावयेत् “निरप्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणाऽगोचर-
त्वादि”त्याद्युक्तयुक्तिभिरित्यर्थः ।

(२) अभेदपर्यवसानस्य युक्तेरुक्तत्वादित्यर्थः ।

न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः । नहि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित्प्रामाणिको भवितुमर्हति । तत्कस्य हेतोः ? । तस्मिँस्तद्विशिष्टरूपेण^(१) तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तस्मिँ^(२)श्चात्यन्तमसत्येवावलम्बने न तत्प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम् । * 'नच वाच्यं पटप्रतियोगिको घटमाश्रितोऽसावभावोभ्युपगम्यमानो नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकतादोषमावहतीति* । 'तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात् ? । 'नहि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि । तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्याऽन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्, तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा ।

टी० 'तादात्म्योभावः'—इतिठयपदेशानुरोधेन तादात्म्यस्यैव प्रतियोगितामभ्युपगम्य दोषमाह—। "किंचे"ति । घटपटयोस्तादात्म्यमत्यन्तासदिति तत्प्रतियोगिकाभावप्रतीतिर्विशेषणत्वमुपलक्षणत्वं वा तस्यानुपपन्नमित्यन्योन्याभावप्रतीतिरेव न भवेद्, नवन्ती वा न प्रमा स्यादसद्विषयत्वमित्यर्थः ॥ ननु न

(१) तद्विशिष्टरूपेण (=अत्यन्तासद्विशिष्टरूपेण) तस्मिन् प्रमाणं निविशमानं तदीयं विशेषणं नाऽनुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि (अत्यन्ताऽसतोपलक्षणेन व्यवच्छिद्यमानात्मा=स्वरूपं, यस्य तस्मिन्) प्रमाणं निविशमानं तदुपलक्षणमपि नाऽनुल्लिखद्भवितुं प्रभवतीति योजना ।

(२) तस्मिन्=विशेषणीभूते उपलक्षणीभूते वा तादात्म्ये ।

तादात्म्यप्रतियोगि, कितु पटात्परेषु, तथाच नात्यन्तासद्विष-
यान्योन्याभावप्रतीतेरन आह । “न च वाच्यमिति” ॥ “तथा
सती”ति । एष सति घटनिष्ठपटप्रतियोगिकाभावोऽत्यन्ताभाव
एव स्यात् तादात्म्याभाव इत्यर्थः ॥ ननु घटनिष्ठ, पटप्रतियोगि-
कोऽभावः संसर्गाभाव इव, अयं तु न घटनिष्ठः, कितु घटात्मक
एवेति महान्भेदात् आह- । “नही”ति । एवमभ्युपगमे तथाप-
निद्वान्त इति भावः । * ननु घटपटतादात्म्यनत्यन्तासदिति
न घटनादात्म्यमपि, तथाच तदेष तादात्म्याभावप्रतियोगि
स्वादिनि नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकता *? इति चेन्न, घटतादा-
त्म्यस्य पटे निषेधः संसर्गाभाव एवेत्यग्रं वक्ष्यमाणत्वात् (१) ।
नचेह तादात्म्यप्रतियोगितावच्छेदकमिति संसर्गाभावाद्भेदः,
घटनात्रतादात्म्यस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे संसर्गाभावाद्वि-
शेषात्; वसयतादात्म्यस्य तत्त्वेऽन्योन्याभावप्रतीतेरसद्विषयत्वा-
पातात् ॥

सू० * “न च वाच्यं घटे पटत्वं नास्ति पटे च घटत्वं
नास्तीत्येतावन्मात्रपर्यवसितैवान्योन्याभावस्य व्यव-
स्था मन्तव्येति *, यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च
न कश्चित्तादृशो धर्माभ्युपगम्यते योऽन्योन्यस्मिन्नि-
षेद्धुं योग्य इति तयोस्तादात्म्यापत्तौ सत्यां घटे
पटत्वं, पटे घटत्वं च, निषेधात् प्रमाणं घटत्वपट-
त्वशून्यत्वं द्रव्यमप्यावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभे-
दस्य चासंभवेन किं प्रतियोगिनं, किं बालम्बन(२),
विधाय पटघटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति ।
अत एव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रु-

(१) “यदि तु तादात्म्यं नासाऽभेदाक्यो धर्मः कश्चिदिध्यते, स
घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स्यात्”-इति
त्रिंशकारिकाश्रव्यानावनरे सूत्रे वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः ।

(२) बालम्बनम् = अनुयोगिनम् ।

तिवाधकमुपपद्यते । वैधर्म्येऽपि हि घटत्वपटत्वादी
वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्यविश्रान्त्य-
नवस्थयोरेकमनुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः ।

टी० “नच वाच्यमि”ति ॥ घटत्वपटत्वयोरन्योन्यस्मि-
न्नभावोऽन्योन्याभावो यदि घटपटयोर्भेदः स्यात्तदा घटत्वप-
टत्वे परस्परं भिन्ने न स्यातां, तयो(१)स्तादृशधर्माभावात्;
तदुभयाभेदे च घटपटयोरपि भेदो दुर्लभः, प्रतियोगितावच्छेद-
कार्थिकरक्षणवच्छेदकधर्मा(२)भावादित्यर्थः । किञ्चिदस्तु स्वत-
एव विनक्षणमिति तु परिभाषामात्रमिति भावः । ननु, घटति
ष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वं पटस्य, पटनिष्ठात्यन्ताभाव-
प्रतियोगिधर्मवत्त्वं घटस्य, यद्वैधर्म्यं, तदेव भेदस्तमालम्बमानं
प्रत्यक्षं हि अनिवाधकं स्यादित्यत आह— “अत एवे”ति ।
तादृशी पर्याय घटत्वपटत्वादिकमेव वाच्यं, तत्र च तादृशधर्मा-
न्तगतावादेर्भेदादौ घटपटयोरप्यभेद एव पर्यवसन्न इत्यर्थः ॥
“एतदिति”ति । वैधर्म्यविश्रान्तिरेकं दूषणम् अनवस्था वृत्त्यभ्यु-
पगमेऽनुपपत्तयेऽस्मित्यर्थः ॥ “अनुभवश्चे”ति । नहि घटत्वे
धर्मननुभूयते इत्यर्थः । यद्यपि जानिठयत्क्यां न्योन्यमेव
धर्मधर्मभावा(३)इति नानवस्था, न वाऽननुभव, नाप्यन्योन्या-
श्रयः, परस्परमपेक्ष्याऽज्ञानानुत्पत्त्यादानवस्थतेः परस्परभेदाज-
ज्ञानायां तु पारुपर्यावज्ञेयत्वविज्ञानात्तज्ज्ञान(४)मिति, नशापि
घटत्वपटत्वयोरेव वैधर्म्यं भेदकमिति तु दुर्वचमेदोत भावः ॥

(१) तयोः=घटत्वपटत्वयोः, तादृशधर्माभावात्=भेदकधर्माभावा-
दित्यर्थः । तथाहि—पटत्वापटत्वयोः स्वतो व्यावृत्तत्वे घटपटादय एव
स्वतो व्यावृत्ता अङ्गीकरणीयाः किं मुधा तद्वृत्तिवैधर्म्यस्य व्यावर्तकत्व-
कल्पनया, अथ घटत्वपटत्वे स्वगतघटत्वपटत्वत्वादिकरूपवैधर्म्यभेद-
भिन्ने, तर्हि ते अपि स्वगतवैधर्म्यान्तरभिन्ने, ते अध्येवमित्यनवस्थापात
इति भावः ।

(२) धर्माऽभावान्, धर्मभेदाऽभावादित्यर्थः ।

(३) व्यक्ती जातिः समवायेन, जातौ च व्यक्तिः स्निग्धाधारता-
निरूपितःऽऽपेयत्वसंबन्धेन, वर्तते इति परस्परं धर्मधर्मिभाव इत्यर्थः ।

(४) तज्ज्ञानम्=पारस्परिकभेदज्ञानम् ।

मू० "वैधर्म्यं च वैधर्म्याऽस्वीकारे वैधर्म्योरैक्यापत्त्या कथमाऽऽत्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात् । किंच, ये ते वैधर्म्यं भेदी, ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशते ? किमभिन्ने ? परस्परविरुद्धयो- रनयोः पृथग्भूतस्य^(१) प्रकारस्यासंभवात् । आद्ये, येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग^(२) इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात् । * सन्तवनन्ता एव भेदाः * ? इति चेद्, क्र.भेदो तेषा- माश्रयसंबन्धे, सावधिसन्ते^(३) वस्तुनि तदन्वयासङ्ग- तिरंशु । अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते, तदा किभेदविशेषिते किंभेदव्यवस्थि- तिनिति किं विनिगमकं ? विशेषाभावाद्धान्यक- लहं तेषां कः समाधातुमीदृते ? । चरमचरमस्वी- कार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदाय योगांसे- र्दु रग्रे धावन् पश्चात्पुण्यमानो, विस्मरणशीलशु- तर्त्, न भेदप्रवाहः किमालम्बेत । एवमेवंविधे विषयेऽप्यत्रापि—

(१) पृथग्भूतस्य प्रकारस्य=भेदाऽभेदादिकूपस्य प्रकारस्य, अन- संभवात्=परस्पर विरुद्धत्वेन सहसम्भवाद्यसम्भवादित्यर्थः ।

(२) येन भेदेन भिन्नत्वं सोपि भिन्ने धर्मिणि निविशते : किं वाऽ- भिन्ने ? इति पर्यनुयोगः=प्रश्न इत्यर्थः ।

(३) सावधिः=कालमर्यादा, तेन सह वर्तमानं सर्वं यस्य वस्तुन- स्तत्सावधिसर्वं वस्तु, तस्मिन्सावधिसर्वे वस्तुनि, कार्ये वस्तुनीति यावत्; तदन्वयाऽसङ्गतिः, तस्य=कामिकाऽनादिभेदप्रवादस्य, योऽन्वयः= सम्बन्ध, तस्याऽसङ्गतिरन्वयार्थः; साधनाद्योराधाराऽऽश्रयभावानभ्युपग- मादिति भावः ।

प्राग्ज्ञोपाविनिगम्यत्वप्रमाणाऽपगमै^(१)र्भवेत् ।

अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥१८॥

टी० नन्वस्तु वैधर्म्यं विश्रान्तिः किमेतावतेत्यत आह—
 “वैधर्म्ये”ति ॥ ^१“आत्माश्रयभेदत्वेने”ति । घटत्वपटत्वयो-
 रैक्ये कथं स्वाश्रयादेव स्वाश्रयस्य भेदा ते^(२)स्यातामित्यर्थः ॥
 “ये ते”इति । ये^(३)ते इति द्विवचन विकल्पानुपयुक्तमपि भेद-
 त्वस्फोरणाय ॥ ननु भेदाभेदाभ्यां प्रकारान्तरमपि स्यादित्यत
 आह— । ^४“परस्परं”ति ॥ ^५“क्रमेणे”ति । अतन्तानां यदि
 क्रान्तिकी वृत्तिस्तदा दिनद्वयस्यापिनि घटादी न वर्तन्तु; किंच,
 कार्यमात्रे एव न वर्तन्तमित्यर्थः ॥ ननु, जातः, सबहुश्चेत्येकः
 कालः, तथाच सर्वे भेदा युगपदेव वर्तन्तामित्याशङ्कते— । ^६“अ-
 ये”ति । यद्यपि युगपदेव वर्तमानानामप्यन्योन्यकलहः कथं
 स्यात्, नहि घटत्वपृथिवीत्वद्रव्यत्वस्त्वादीनां युगपद्वृत्तौ कलहः,
 तथापि भेदा भिन्ने वर्तन्तेऽभिन्नेवेति विकल्पे किमपि नोत्तरमे-
 तावतेति भावः ॥ ^७“चरमे”ति । यद्यपि युगपद्वृत्त्यभ्युपगमे
 “चरमचरमरखीकार्येणे”त्यनुपपन्नं, तथापि ‘भिन्ने वर्तते’
 इत्याश्रये प्रथमविशिष्टे द्वितीय^(८)वृत्तिर्वाच्या, तत्र यौगपद्येपि
 प्रथमचरमभावसम्भव एवेति भावः ॥ ^९“उपयोगे”ति । भिन्न-
 त्वप्रतीतिरेवोपयोगः । ^{१०}“एवमि”ति । गवि गोत्व वर्तते? अगवि
 वा?—इति विकल्प्य गेःत्वादिभ्यमपि निरमनीयमित्यर्थः ॥ ^{११}“प्रा-
 ग्लोपे”ति । अघिसाघिभेदाङ्गीकारे तेनैवान्यथामिद्वौ पूर्वपूर्व-

(१) समुदायिनः समुदायिभिन्नत्वपक्षे तृतीयाविभक्त्यर्थः प्रयोज्य-
 त्वं, तथाच प्राग्ज्ञोपादिप्रयोज्या त्रिदोषतेत्यर्थः, अभिन्नत्वपक्षे त्वऽभेदा-
 र्थस्तथा च प्राग्ज्ञोपाद्यभिन्ना त्रिदोषतेत्यर्थः ।

(२) एकस्यैव धर्मस्य स्वाश्रयात्स्वाश्रयभेदकत्वे घटत्वमपि घटाद-
 त्वस्य भेदकं स्यादिति भावः ।

(३) ननु मूले ‘यो वैधर्म्यभेदः न किं भिन्ने निविशतेऽभिन्ने वा’—
 इत्येव वक्तव्यं किं “ये ते वैधर्म्यं भेदा” इतिद्विवचनोपादानेनेत्यत
 आह—ये ते इति ।

(४) द्वितीयवृत्तिर्वाच्या, अपरेषां सर्वेषां युगपद्वृत्तिर्वाच्येत्यर्थः ।

भेदविलोपः, किंभेदभिक्षे को भेदो वर्तते? इत्यविनिगमः, बहुवो भेदा एकत्र घटे वर्तन्ते इत्यत्र प्रमाणापगमः, ते एते दोषा अनवस्थायां पतन्तीत्यर्थः । *ननु भेदविशिष्टे एव भेदो वर्तते इति पक्षाभ्युपगमे क्व प्रालोपः, भेदप्रतीतेरेव तावद्भेदाभ्युपगमनन्तरेणाऽनिर्वाहात् । अत एव नाऽविनिगम्यत्वमिति । अवश्यनिर्वाह्यभेदप्रतीत्युपपादककल्पनायां तत्प्रतीत्यैव^(१) भेदानां क्रमयोगपद्यपरस्यतरस्याऽऽहोपात् । “सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरिति त्वयोक्तत्वात् । अत एव न प्रमाणापगमो, भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात् । अन्यथा घटकादाचित्कत्वानुरोधेन तत्रापि सामग्रीपरम्पराभ्युपगमो न स्यात् । नचाऽनवस्थापि, तद्भेदभिक्षे एव तद्भेदवृत्तेः । तद्भूती तद्भेदस्योपलक्षणत्वविशेषण^(२)त्वाभ्यामुपपाद्यत्वात् । न वा भिन्ने भेदेन वर्तितव्यमिति नियमः । “कुत्र वर्तते?—इतिप्रश्ने, यत्र प्रतीयते इत्युत्तरं, कुत्र प्रतीयते?—इतिप्रश्ने, यत्र वर्तते”, इति वार्तिककारदिशात्प्युपपत्तेः । विप्रपञ्चिन्शचायमुद्गारो भेदप्रकाशः? । मैवम् । भेदप्रतीतेराविद्यक भेदमादायोपपाद्यत्वात् । परमार्थे तु भेदे एते विकल्पा इति भावः । यत्तु,^(३) “भेदप्रतीतिरनन्तभेदालम्बना,? एकभेदालम्बना वा?”—इत्यादिना प्राग्नापाऽविनिगम्यत्वादीनामुपपादन केनचित् कृतं तदनुपपन्नम्, “अनवस्थितिमास्यात्” इत्यभिधानादनवस्थापक्षे एव दोषत्रयस्याभिधानादिति ॥

मू० “यदि च क्वचिद् गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते तदा ययोः स्वरूपं तथैष्टव्यं तयोर्निःस्वरूपतापत्तिः; अथ *न स्वरूपमात्रं मियो

(१) अवश्यनिर्वाह्यभेदप्रतीत्यैवेत्यर्थः ।

(२) व्यावर्तनत्वमत्र गुणमुपादाय विशेषणत्वमिदोपाधिर्ब्रह्मा, तथाच न पूर्वं विशेषणपक्षोक्त आत्मान्मयाख्यो दोष इति भावः । यथा, विशिष्टवृत्तेर्धर्मस्य विशेषणवृत्तित्वानभ्युपगममतेनैतत् ।

(३) कारिकायां व्य. स्थानान्तरं ह्यवयवि-यत्त्वित्यादिना ।

व्यावर्तते किंनाम स्वरूपविशेषः *—इत्युच्यते, 'तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः (१) स्यादित्येकत्वापत्तिः ।

टी० ननु स्वरूपभेदः भिन्नयोरेव वैधर्म्ये भेदेऽवर्तनामिति नामवस्थेत्यत्र आह । "यदि चे"ति ॥ "तथैष्टयमि"ति । व्यावर्तमानभेदप्रयमित्यर्थः ॥ "तयोरिति"ति । यथाघटपटयोः स्वरूपं व्यावर्तमान तयोरिति स्वरूपत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ननु घटपटस्वरूपयोरन्योन्यव्यावृत्तावपि स्वरूपमात्रं न व्यावर्तते इति कुतो निःस्वरूपत्वापत्तिरित्याह—। "अथे"ति ॥ घटपटयोस्वरूपं न परस्परं व्यावृत्तं, किंतु स्वरूपविशेषः परस्परव्यावृत्त इति तयो रैक्यमेव पर्यवसन्नमित्याह—। "तर्ही"ति । * नच विशेषव्यावृत्त्यैव तयोर्भेद इति वाच्यम्*, स्वरूपाऽव्यावृत्तौ स्वरूपविशेषस्य (२) परस्परमव्यावृत्तेः, तद्व्यावृत्तौ वा स्वरूपव्यावृत्तेरावश्यकत्वात् पुनः सैव निःस्वरूपतेति भावः ॥

मू० "अथवा, वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः । अथ "न स्वरूपं नाम किञ्चिदनुगतमिष्यते मया, विशेषरूपासु व्यक्तित्वेव स्वरूपशब्दो नानार्थः सन्निविशते"—इत्यभिधत्से, "तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिभिर्द्विप्रत्याशया, 'नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः । यदि (३) च स्वरूपं भेदः स्यात् तदा धर्मिणि द्रष्टे स्वरूपं द्रष्टमिति क्वचिन्न सन्देहः

(१) तयोः = घटपटयोः स्वरूपमात्रमव्यावृत्तं स्यादित्यर्थः ।

(२) स्वरूपविशेषस्येत्यतोऽग्रे "ऽपि"शब्दो द्रष्टव्यः । तद्व्यावृत्तौ = स्वरूपविशेष व्यावृत्तौ ।

(३) यदि भेदः = घटपटादिलक्षणो विशेषः, स्वरूपं स्यात्तदा घटपटपटत्वादिधर्मराहित्येन केवले धर्मिणि द्रष्टे क्वचिदपि 'स्वरूपं द्रष्टमिति सन्देहः = सम्भावनापि कस्यचित्पुरुषस्य न स्यात्, किन्तु विशेषदर्शने एव 'स्वरूपं द्रष्टमिति मतिरस्यादित्यन्वयपूर्वकोऽर्थः ।

स्यादिति, "यदि चाऽभिन्ने भेदे निविशेत तदा
याप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः सापि तेनैव भेदे-
नाऽनेका स्यादित्येकाभावे नाऽनेकमपि व्यवतिष्ठते ।

टी० यद्वा^(१)ऽनेनैवाशयेनाह-। "अथवे"ति । घटस्वरूपं
घट एव, पटस्वरूपमप्यपट एव, नच ताभ्यां स्वरूपान्तरमस्ति तयो-
र्यद्विशेषपदवाच्यं स्यादित्यर्थः ॥ स्वरूपविशेषठयादृश्या स्वरूप-
मात्र^(२) तयोः स्यादित्याशङ्कते । "अथे"ति ॥ शङ्कतां स्वरूप-
पदशक्तिमुपपादयति-। "व्यक्तिष्वेवे"ति ॥ 'इदं स्वरूपमिदं
स्वरूपमि'त्यनुगतप्रतीत्यनुरोधाद्यद्यो कं स्वरूपं न स्वीकरणीय
तदा गोत्वाद्यप्येकमनुगतं न स्यादित्याह-। "तर्ही"ति ॥ स्वरू-
पसामान्याभावे दोषान्तरमाह-। "नचे"ति । शक्तिग्रहस्याप्य-
नुगतधर्मपुरस्कारेणैव संभवादित्यर्थः ॥ यदि घटपटादिलक्षणो
विशेष एव स्वरूपं स्यान्नत्वनुगन्मन्यत् तदा दूराद् घटपटावि-
शेषाऽनवगाहज्ज्ञानं स्वरूपमात्रावगाह्यपि न स्यादित्याह-।
"यदि चे"ति । भेदः=विशेषः । सशयविपर्ययौ न स्यातामि'ति
त्वपव्याख्यानम्^(३) ॥ नन्दभिनयोरेव घटपटयोर्भेदे वर्तते इति
द्वितीयः पक्षोऽस्त्वित्यत आह-। "यदि चे"ति । यदि घटपटा
वभिन्नावेव भिन्नी स्यातां तदा घटव्यक्तिरप्यभिन्ना भिन्ना
स्यादित्येकं किमपि न भवेत्, तदभावाच्च तत्पठ्युदाहरूपमने-
कमपि न स्यादित्यर्थः ॥

(१) तर्हीत्यादिपङ्क्तोर्निरुक्तभावपक्षेऽथवेत्यादिशःअस्याऽन्यार्था-
ऽभिधायितामनुसन्धायेदानो निरुक्तभावायप्रतिपादकत्वमेवाथवेत्या-
दिग्रन्थस्येत्याह-यद्वेति ।

(२) स्वरूपमात्रं=स्वरूपसामान्यं, तयोः स्यात् 'अथयावृत्तम्'-इति शेषः ।

(३) अपव्याख्यानत्वञ्चाथ "नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदनमप्यहो-
पपत्तिः"-इत्यस्याऽव्यवहितमौलिकप्रतिज्ञातार्थस्योपपादनपरत्वाभावाद्
द्रष्टव्यम् । यत्तन्नापाततः, वस्तुतस्त्वत्र प्रकृतशाङ्करव्याख्याने एव त्रि-
वृत्कल्पनं दोषः, व्याख्यानान्तरं तु स्वातन्त्र्येण दूषणान्तरपरतया सुव्या-
ख्यानमेवेति विभावयामः ।

म० "एतेन न भेदावच्छिन्ने नचाऽभेदावच्छिन्ने भेदा विनि-
विशते किंतूदासीने-इत्यापि निरस्तम्, "अत एव च
भेदा नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्याऽनात्मके ध-
र्मान्तरं पृथक्त्वाऽपरनामकमित्यपि परास्तम्। शेषि
हि स्वाश्रये भिन्ने विनिविशेताऽभिन्ने वेत्यादियथो-
क्तदोषलङ्घनाऽजङ्घाल^(१) एव स्यात्, "स्वाश्रयेण च
स्वस्मिन्नभेदभयाद्यदि च एव भेदा निविशते^(२)
तदात्माश्रयः, अन्यश्चेत्तस्मिन्नेवं तस्मिन्नप्यन्य इत्य-
नवस्था, क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययोर्भेदस्याऽ-
स्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्यन्तमेकता धावेत्।

टी० ननु भेदवृत्तावाश्रयावच्छेदकतय भेदाभेदौ न वाच्यौ,
किं तर्हि, कुत्र भेदो वर्तते ? इति प्रश्ने, धर्मिणि भेदो वर्तते,
भेदाभेदौ दाम्नीन्येन वर्तते इति वा वक्तव्यमिति न पूर्वदोष
इत्यन आह-। "एतेने"ति । स्वस्मादपि भेदप्रसङ्गेनेत्यर्थः ।
स्वस्याप्युदामीनत्वात् धर्मिस्त्वाकचेति भावः ॥ ननु स्वरूपवैध-
र्म्यान्योन्याभावरूपभेदश्रयत्ववच्छेदनेपि पृथक्त्वस्य मत्त्वान्नाहूतनि-
त्यन आह-। "अन एवे"ति ॥ अतिदेश्यमाह-। "नोपी"ति ।
किंच, पृथक्त्वस्य गुणकर्मादावभावात्तदभेदे द्रव्याणामप्यभेदात् ।
किंच, पृथक्त्वस्यावधिगिरूपत्ववाङ्मैदस्य प्रतियोगिरूपत्वत्वा-^(३)
दिति भावः ॥ अन्योन्याभावे वैधर्म्ये च दोषान्तरमाह-। "स्वा-
श्रयेणे"ति । यद्यपि क्वचिद्गत्वा स्वरूपभेदे पर्यवसानमदुष्टमेव, *
नचाऽन्योन्याभाववैधर्म्याभ्युपगमानर्थक्यम् *, अनुभवबलेन तयो-
रभ्युपगमात्; मूलपर्यन्तमेकताधावनं स्वरूपभेदप्रतिषेधमेव,
तथापि स्वरूपभेदस्यापि निरस्तत्वादिनि भावः ॥

(१) अजङ्घालः = मन्दगामी, तथा च यथोक्तदोषलङ्घनेऽज-
ङ्घालो मन्दगामी यथोक्तदोषाऽनतिक्रमोत्यर्थः ।

(२) "स्वस्मिन्" - इति शेषः ।

(३) अत्र- "इतीतरनिष्कल्पत्वसाभ्यात्पृथक्त्वेपि भेदप्रतीकत्वादा-
पिपत्तरेव" - इति शेषः कथञ्चित् प्रायः पुस्तकेषु लुप्तो द्रष्टव्यः ।

“तद^(१)द्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।

“नानुमानादि तं^(२) कतुं तवापि क्षमते मते ॥ २० ॥

अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् ।

सेवाभेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥ २१ ॥

म० * “नन्वद्वैतश्रुतयो वर्णपदविभक्तितदर्थ्यादिभेदानु-
पजीव्यार्थं प्रतिपादयन्त्यः स्वोपजीव्याभि^(३)भेदबु-
द्धिभिर्न कथं बाध्यन्ताम्, उपजीवकस्योपजीव्याद्
दुर्बलत्वात् * ? । मैवम् । ‘न वयं भेदस्य सर्वथैवास-
त्त्वमभ्युपगच्छामः; किंनाम, पारमार्थिकं सत्त्वम् ।
अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यते एव, तदेव च
कार्यकारणभावोपयोगि ।

टी० प्रत्यक्षविषयाभावात् प्रत्यक्षबाधो न संभवतीत्युप-
संहरति—“तदद्वैते”ति ॥ “नानुमानादी”ति । अनुमानापे-
क्षयाऽऽगमस्य बलवत्त्वात् । अन्यथा नरशिरः कपालं शुचि, प्रा-
ण्यङ्गत्वादित्याद्यप्यवकाशमासादयेदिति भावः ॥ अर्थापत्तेः
स्वपक्षानुकूलत्वमुक्तं स्मारयति—“अद्वैते”ति । अद्वैताग-
मस्य नासीरे = पुरतः, सा = अर्थापत्तिः, परान् = विरोधिनः
प्रमाणाभासान्, धुन्वती = निराकुर्वन्ती, सेवानानुकूल्यसर्ज-
यनि=भजते, अत एवार्थापत्तेः पत्तित्वेन^(४) निरूपणमपपन्न-
मित्यर्थः ॥ श्रुतिश्रुद्धेः श्रौतानि नानापदानि कारणमिति ना-
नात्वं विना कार्यकारणभावानुपपत्तिः, तमन्तरेण^(५)श्रौतश्रुद्धे-
रनुपपत्तौ कुत्र बाध्यबाधकभावमिच्छन्तेति शङ्कते—“नन्वि”ति ॥
नानात्वमात्रस्योपजीव्यत्व, नतु पारमार्थिकनानात्वस्य, येनोप-
जीव्यविरोधः स्यादिति परिहरति—“न वयं भेदस्ये”ति ।

(१) तत् = तस्मात् ।

(२) तं = बाधम् ।

(३) उपजीव्यते कार्येणाश्रीयते यत्तदुपजीव्य (= कारणम्) उप-
जीवति कारणान्नितं भवति यत्तदुपजीवकं (= कार्यम्) इत्यर्थः ।

(४) पत्तित्वेन, पदानित्वेनेत्यर्थः ।

(५) तमन्तरेण=कार्यकारणभावाऽनुपपत्तिसन्तरेण ।

यद्यप्यद्वै स्याद्विद्यकत्वमस्तु, श्रुतिविषयत्वेन तत्पारमार्थिकत्वे प्रत्यक्षविषयतया भेदस्यैव पारमार्थिकत्व किं न स्यात्, अबाधितमकललोकठयवहारे प्रतीयमानेऽप्याविद्यकत्वस्य परिभाषानान्त्रत्वात्, ठयवहारविषयत्वेनैव पारमार्थिकत्वमाधत्वात्, ठयवहाराऽवषयस्य ब्रह्माद्वैतस्यैवापारमार्थिकत्वसंभवात्; अद्वैतानुरोधाच्छ्रुतेस्त्वयैवोपपादनीयत्वात्^(१), अन्यथा तस्यैव द्वैतापत्तेः; एतन्न तज्जनितबुद्धेरपि^(२); यदि च स्वप्रकाशबलादद्वैतं, तदा तत एव द्वैतं किं न स्यात्?; न हि स्वप्रकाशस्य न द्वैतं विषय इति प्रतिपादयितुं शक्यमि, तथाप्यहं खाण्डनिको ननु व्यवस्थापक इति भावः ॥

मू० "एतेन "एकमेवे"त्येव^(३)कारव्यवच्छेद्येना"ऽद्वितीयमि"ति द्वितीयेन, "न नाने"ति नानात्वेन, "किञ्चने"त्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन, व्याघातः—इत्यपि प्रत्यादिष्टम् । श्रुतिभिरचाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते, नच पारमार्थिकमतिरपारमार्थिकधिया शक्यबाधा, 'माभूत्'^(४)शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः । "यत्र त्वग्निरनुष्ण इतिबुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवना"^(५)दुष्णबोधेनाऽदुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद्वाधो

(१) "उपासनीयत्वात्"—इत्यपि पाठः ।

(२) अत्रापि "त्वयैवोपपादनीयत्वात्"—इत्यनुषङ्गनीयम् ।

(३) "एकमेव"—इत्येवकारव्यवच्छेद्येन (विजातीयभेदेनाद्वैतस्य) व्याघातः, "अद्वितीयमि"ति (पदव्यवच्छेद्येन) द्वितीयेन व्याघातः, "न नाना—इति नानात्वेन व्याघातः, "किञ्चने"—इत्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन व्याघात—इत्यपि प्रत्यादिष्टमित्यन्वयः ॥

(४) अत्रेतेषामङ्गरयोजना—शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधो मा भूद् (इत्यतः) पारमार्थिकमतिरपारमार्थिकधिया शक्यबाधा नच (भवति) ।

(५) अनुष्णज्ञानस्य प्रतिशो गिविधयोष्णज्ञानमुपजीव्यम् ।

युक्तः । *ननु, तत्रापि तर्ह्यनुष्णतापि पारमार्थिक-
व्येव साध्यतासबाधनाय * ? । सैवम् ।

टी० श्रौतपदवर्णनानात्वज्ञानस्योपकीव्यत्वमाशङ्क्य श्रौत-
पदानामर्थभेदप्रत्ययमन्तरेणाऽप्रतिपादकत्वात् नदृष्णीयत्वमा-
शङ्क्याह-। “एतेने”ति, आविद्यकभेदाभ्युपगमेनेत्यर्थः ॥ पार-
मार्थिकविषयत्वेन श्रुतेरपारमार्थिकभेदविषयकप्रत्यक्षाद्यपेक्षया
बलवत्त्वमाह-। “श्रुतिमिश्रवे”ति ॥ अत्राऽनुरूपं दृष्टान्तमाह-।
“मा भूदि”ति ॥ ननु यदि पारमार्थिकबुद्धिरपारमार्थिकधियं
बाधते इति वस्तुगतिस्तदोष्णतायाहिप्रत्यक्षमनुष्णताऽनुमानं
तत्र मते न बाधेनाऽपारमार्थिकधर्मविषयकत्वादित्यत आह-।
“यत्र त्व”ति । वस्तुगतिरियं यत् पारमार्थिकविषययैव
धियाऽपारमार्थिकधीर्बाध्यते, त्वयवहारस्तु वस्तुगतिमननुर-
द्धापि, इति त्वयवहारदशायां प्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वाद्बाधक-
त्वमुच्यते इत्यर्थः ॥ ननु परमार्थसद्वैतगोचरा श्रुतिरित्यबा-
ध्येति यथा त्वयोच्यते तथाऽनुष्णतानुमानवादिनापि तस्याः
पारमार्थिकत्वमभ्युपगम्यैव तत्रापि प्रत्यक्षबाधेपि निरसनीय
इत्याशङ्कते-। “नन्वि”ति ॥

मू० “अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीता-
द्यव्यावृत्तस्वरूपाया प्रसाधनेनाविद्याविद्यमानत्वे
सव विश्रामात्; तत्रै^(१)वंविधरूपतानङ्गीकारे चाद्वैत-
स्यैव नामान्तरकरणापत्तेः; ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादि-
भेदावश्याभ्युपेयतया^(२)जगद्बाधयुक्तिकवलाऽप्रवेशा-

(१) तत्र=अनुष्णतायाम्, सर्वविधरूपताऽनङ्गीकारे=जलादिदृष्टा-
न्तसजात्यानङ्गीकारे ।

(२) ज्ञेयज्ञानादिभेदस्याऽवश्यमभ्युपेयता ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्या-
भ्युपेयता (“लुप्तेदवश्यमः कृत्ये तुम्काममनसेरपि”इति मलोपः)
तयेत्यर्थः, जगद्बाधयुक्तयो दृग्दृश्यसम्बन्धखरडनयुक्तयस्ताभिर्यत्सादृश्या
अनुष्णतायाः कवलनं=शसन (बाधनमिति यावत्) तस्य योऽप्रवेश-
स्तस्याऽसम्भवात्, जगद्बाधयुक्तिर्भर्जगदन्तर्गताऽनुष्णताया अपि बाध-
नान्न ब्रह्मवद्बाध इति भावः ।

संभवात् । ^६अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्या-
नवकाशादपारमार्थिकत्वसंभावनापि दूरत एवापस-
रतीति । * 'ननु^(१) किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन
समाहितं भवति, यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां
श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः * ? । मैवम् ^७अद्वैतं
हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत
(^२), नत्वविद्याविद्यमानेन, तस्मादविद्याव्यवस्थितं
भेदं तद्वोधं चापजीवन्त्या(^३) 'न परमार्थाद्वैतबुद्धे-
रुपजीव्यबाधः । यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैत-
बुद्धिरविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषयस्तावत्पर-
मार्थसदेवाद्वैतं, विरोधेन(^४) च तस्या बाध्यता, स
च नास्तीति ।

टी० जलादौ याऽनुष्णता सैव यदि वह्नी साध्यते तदा
तदितरप्रपञ्चबाध्यत्ववत्सद्बाध्यत्वमपि सुनमम्, अथ तद्विल-
क्षणमेवानुष्णत्व साध्यते यत्र प्रपञ्चबाधकयुक्तयो न प्रभवन्ति
तदा तदेवाऽद्वैतमिति सिद्धिं नः समीहितमिति परिहरति-
"अनुष्णताया" इति ॥ ननु कथमद्वैतस्यापि न जगदबाधक-
युक्तिकवलनमत आह- । "अद्वैते चे"ति । बाधकयुक्त्या हि
भेदगर्भाः, भेदः खण्डित इति वास्तवो बाधो नास्त्येवेति नाद्वै

(१) "यद्यपि 'नच दूहान्वये'त्यादिनेदमाशङ्क्य निराकृतं पूर्वं,
तथाप्युपजीव्यत्वपुरस्कारेणोदानो शङ्काऽवधेया"-इति प्रगल्भमिश्राः
श्रीदण्डे ।

(२) "विरुद्धयेन"-इत्यपि पाठः ।

(३) उपजीवन्त्याः परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधो नेत्यन्वयः ।
अत्राऽहं तद्वद्वैरुपजीव्यस्य बाध इत्येकदेशात्त्वयो द्रष्टव्य, उपजीव्येन
बाध इति वा ।

(४) विरोधेन=विषयापहारेण, तस्याः=अद्वैतधियो, बाध्यता,
सच=विषयापहारश्च, प्रकृते नास्तीत्यर्थः ।

तस्य किञ्चिद्बाधकमित्यर्थः ॥ ननु परमार्थनतिरपरमार्थधिया न शक्यबाधेति तदा स्यात् यदि पदार्थनानात्वस्योपजीव्यस्यावि-
रोधादुपजीविकया श्रुत्या ज्ञानं जन्येत, तदेव नास्तीत्याशङ्कते-
“नन्वि”ति ॥ भेदो, भेदबुद्धिर्वा, नाद्वैतं प्रतिबद्धुमर्हति, अपा-
रमार्थिकत्वात्परमार्थविषयत्वाच्चेति परिहरति- “तद्वैतमि”-
ति ॥ “न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाध”इति । (१)प्रतिबन्ध
इत्यर्थः ॥ ननु यद्यद्वैतबुद्धिः पारमार्थिकी, तदा तथैव द्वैतम्;
अथाऽपारमार्थिकी, तदा बाध्यत्वान्नाद्वैतमिद्विरित्याशङ्क्याह-
/“यदी”ति । इतरप्रपञ्चबुद्धेरपारमार्थिकत्वेपि विषयस्या(२)द्वैतस्य
न बाध इति बुद्धेरपि न बाध्यत्वमित्यर्थः । बाधस्य विषयाप-
हाररूपत्वाद्द्विषयस्य च प्रत्यक्षादिभिरप्यपहर्तुमशक्यत्वादिति
भावः ॥

म० तस्मात्-

पारमार्थिक(३)मद्वैतं “प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।

बाधनादुपजीव्येन विभेति न मनागपि ॥ २३ ॥

श्रुतिरपि तदाह-“द्वितीयाद्वै भयं भवती”ति । तच्चा-
द्वैतं “ब्रह्मैवेदं सर्वमि”ति श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं
ब्रह्मैव स्यात्, “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म”ति च श्रुत्या
ज्ञानानन्दात्मतया व्यवतिष्ठते । “तेन यदिदमद्वै-
तज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निवि-
शते । * ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते ? * ।

(१) अत्रार्थसौकर्याय “प्रतिबन्ध”इत्यतः प्राक्“उपजीव्यबा-
धः”-इति प्रतीकमनुषञ्जनीयम् ।

(२) विषयस्य=अद्वैतबुद्धिविषयस्य, बुद्धेः=अद्वैतबुद्धेः । अद्वैत-
बुद्धेश्च ब्रह्मरूपत्वेन द्वैतापत्तिशङ्कावारणं बोध्यम् ।

(३) श्रुतिः पारमार्थिकमद्वैतं शरणं प्रविश्य उपजीव्येन बाध-
नात् मनागपि (=इषदपि) न विभेतीत्यन्वयः ।

सत्यमेवं^(१) स्यात्, यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यतापि स्यादविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्धयते; अत एव श्रुत्ये-
दमेकं साध्यते । यत्तु, तत्र यद्यं कता भेदा भावो,
यदि चैकत्वसङ्ख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदि
वाऽन्य एवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्म-
स्तद्वत्त्वं बोध्यते, तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्दुं शक्नो-
ति, तदा तदपि निष्पीडन^(२)मसहमानं तज्ज्ञानं
श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्ततां, यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य
धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं पर-
मार्थतो व्यवतिष्ठताम् ।

टी० “प्रविश्ये”ति । विषयीकृत्येत्यर्थः ॥ “उपजीव्येने”ति ।
पदपदार्थनानात्वेन तद्गोचरज्ञानेन चेत्यर्थः ॥ ननु कयाचिद-
द्वैतं, कयाचिद्ब्रह्म, कयाचिद्विज्ञानं, कयाचिदानन्दः, श्रुत्या
प्रतिपाद्यते इति श्रुतीनां विरोधे किमपि न मिद्ध्येत; अवि-
रोधे वा सर्वं^(३)मिद्ध्येदित्यद्वैतमनुपपन्नमेवेत्यत आह—“तच्चे”
ति । यद्यपि “एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्मे”ति प्रस्तुतं तथैव श्रुत्या
ब्रह्मात्मकत्वसिद्धिः, तथापि श्रुत्यन्तरोपपन्नस्तत्राप्युक्त^(४)स्तस्यां
श्रुतावद्वैतमात्रे तात्पर्यं, ननु ब्रह्मण्यपीति भावः ॥ श्रुतीनां
सामञ्जस्यफलमाह—“तेने”ति ॥ जन्यजनकभावम्याद्वैतपरिप-
न्यित्वमाशङ्कते—“नन्वि”ति ॥ अपारमार्थिको जन्यजनकभावो

(१) अत्र यदिशब्दानुरोधात् तदेति शब्देऽध्याहर्तव्यः ।

(२) तदपि निष्पीडनं=तादृशमपि न्यायाघातम्, असहमानं तज्ज्ञान-
नम् = एकत्वादिधर्मविज्ञानम् ।

(३) सर्वम् = ब्रह्मविज्ञानानन्दैतत्प्रयमद्वैतस्यतिरिक्तम् ।

(४) उक्तः, मूलकारेण “ब्रह्मैवेदं सर्वम्”—इत्युक्त इत्यर्थः । तत्र
हेतुः—तस्यामिति, यतस्तस्याम् = “एकमेवाऽद्वितीयमि”त्याकारकश्रु-
तावद्वैतमात्रे तात्पर्यं, ननु ब्रह्मणि = ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वे,—इत्यर्थः ।

नाद्वैतविरोधीत्याह-“सत्यमि”ति ॥ अत्रिषयस्याप्येकत्वा-
देर्धर्मस्याद्वैतपरिपन्थितामाशङ्क्याह-। “अत एवे”ति । यथाऽ-
द्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वमपारमार्थिकत्वाच्चिर्वर्तते तथा श्रुति-
बोध्यस्य ब्रह्मण एकत्वादिधर्मस्यापारमार्थिकत्वाच्चिर्वृत्तो न
नः किञ्चिदनिष्टमित्यर्थः ।

मू० “नहि परमार्थशुक्ती रजततया प्रतीयते यदा, तदा
बाधात्तत्र रजतत्वे ध्यावर्त्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तद्
(१)पराधान्निवर्तते । ‘सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमव-
ताप्यं प्राञ्चैरपनेया, यद् आह श्रुतिः-“नैषा (०)
तर्केण मतिरापनेये”ति “तस्मात्-

धीधना ! (३)बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥२४॥
‘सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थापि, यदाहुः-“स्वल्पमप्यस्य
धर्मस्य त्रायते महतो भयात्” ।

टी० नन्वेकयैव धियाऽद्वैत(१)विशिष्टमुपस्थापितं, तत्र
विशेषणांशेऽप्यार्येपि(५)विशेष्यांशे का प्रत्याशा इत्याशङ्क्य
निदर्शनमाह-। “नही”ति । “धर्मिणि सर्वम(६)भ्रान्तं प्रकारे

(१) तदपराधात् = आरोपितधर्मबाधरूपापराधात् ।

(२) एषा=अद्वैतविषया मति, तर्केण=श्रुतिविरोधिकृतर्केणाऽऽ-
पनेया, आ=समन्ताद्, अपनेया=ऽपलपितध्या, न; यद्वाऽऽपनेया = प्राप-
णीया नेत्यर्थः ।

(३) धीरेव धनं एषां विदुषां तत्सम्बोधनं धीधना ! इति, अस्याः
=अद्वैतबुद्धेर्बाधनाय स्वमज्ञां तदाप्रयच्छथ यदि पाणिलब्धं=हस्तमाप्त
चिन्तामणिं विविचार्यमदं समुद्रे क्षेप्तुमिच्छथेत्यर्थः ।

(४) अद्वैतात्मकं ब्रह्म, विशिष्टं द्वैताभावविशिष्टमित्यर्थः “अद्वै-
तविशिष्टमि”ति पाठे तु ‘ब्रह्म’-इत्यध्याहार्यम् ।

(५) अपिगण्डे भिन्नक्रमः, विशेष्यांशेपीत्यर्थः ।

(६) सर्वं ज्ञानमित्यर्थः ।

तु विपर्यय" - इति भावः ॥ ननु श्रुतिठ्युत्पादनमेनावता षडहस्य^(१) मैथुनवदकिञ्चित्करमेव, तदुपस्थाप्यस्याद्वैतस्य त्वयैव निरसनात्; किञ्च, द्वैतमेव तदुपस्थाप्यं किं न ठ्युत्पादितं? धर्मत्वेन तन्निवृत्तेरप्यद्वैतवदेव संभवात्; कथं वा श्रुतेः प्रामाण्यं? तज्जनितज्ञानस्याप्रमात्त्वपर्यवसानात्^(२); तदप्रामाण्ये वा कथमद्वैतं? कथं वा द्वैतादिसकलधर्मविनाशनेस्य ब्राह्मणः सिद्धिः, स्वप्रकाशस्य^(३) ब्रह्मभान्नविषयत्वात्, धर्माभावे तस्याऽतन्त्रत्वात्, ब्रह्मणि चाऽविप्रतिपत्तेः; द्वैताऽद्वैतविचारस्य गर्दभीक्षीरमथनायमानत्वात्; ब्रह्म सर्वैः स्वीक्रियते, तदेकत्वं त्वयापि नाभ्युपगम्यते, तथाच सर्वनिदमाकुलमित्यत आह- "सैयमि"ति ॥ "नैवे"ति । यद्यपि श्रुतेस्तर्कासहस्रं दोष एव, अन्यथा मीमांसायुच्छिद्येन, मीमांसायास्तर्कत्वात्; यदाहुः "मीमांसा मङ्गलकस्तर्कः^(४) सर्ववेदममुद्भवः । साऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाण्टादिलवणात्मवत्", उक्तं च "यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नैतर"- इति, तथापि श्रुतिवाक्यानुरोधेन तर्काऽनुसरणीयो न तु तद्विरोधेनापीति भावः । श्रुत्या यदद्वैतज्ञानमुत्पन्नं तदपवर्गानुकूलमिति नापवदितव्यमित्युपसंहरति- "तस्मादि"ति ॥ ननु मुमुक्षुतादशायां मयाऽप्येकमेव ब्रह्म ध्येयमिति किमनेनापदेशेनेत्यत आह- "सैयमि"ति । मेाहान्यप्रयोजनकत्वं दृष्टार्थत्वम् ॥ "स्वल्पमपी"ति । अद्वैतोपासनलक्षणस्य धर्मस्य स्वल्पमपि महतो भयाद्वाजचौरठयाप्रादिभयात्तायते इत्यर्थः । उत्पन्नमात्रेणाप्यद्वैतज्ञानेन विषयेष्वलंप्रत्ययवतोऽविचिकित्तमस्य राजचौरादिभयं निवर्तते किं पुनर्गृहीतप्रामाण्येनेति भावः ॥

(१) षडहस्य=नपुंसकस्य ।

(२) अद्वैतस्याप्यन्ततो बाध्यत्वेन भवताङ्गीकारात्सिद्धिपयकं श्रौतज्ञानमप्रमेव पर्यवस्यति ।

(३) ननु स्वप्रकाशचैतन्येनैव तन्निवृत्तिरित्यत आह-स्वप्रकाशस्येति । धर्माऽभावे=द्वैतादिसकलधर्माभावे, तस्य=स्वप्रकाशचैतन्यस्य, अतन्त्रत्वादसाधकत्वादित्यर्थः ।

(४) यथा रुमायां लवणखनौ प्राप्तं काष्ठादिकं लक्षणात्मकमेव भवति तथा रुमास्थानीयवेदसमुद्भवस्तर्कपि वेदरूप स्येति श्लोकार्थः ।

मू० "तस्मात्-

ईश्वरा^(१)नुग्रहादेषा पं सामद्वैतवासना ।

महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ २५ ॥

तस्मात्-

'आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्^(२)

अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।

तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा ।

'निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात् ॥ २६ ॥

"तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्ना-

भि^(३)युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्याविलासला-

लभोपि अद्वधातु तावद्भवान्, तदनु^(४)चानयैवोप-

निषदर्थश्रद्धयाऽध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं

'क्रमाद्वृत्तिव्यावृत्तचेताः 'स्वप्रकाशसाक्षिकं' साक्षि-

(१) यस्माद् दृष्टाऽदृष्टफलऽतद्दृष्टिर्बहुविधना च तस्मादेवाऽऽत-
वासना पंसा यदि जायते तर्हीश्वरानुग्रहादेव, तथा च विद्योत्पत्ति-
परिपन्थिकसमवनाशांश्वराराधने सुमुद्गुभिः प्रवर्तितव्यमित्यशयः ।
हेतुगर्भं विशेषणं - महाभयकृतत्राणोति, महतः संसारस्य भयात्कृतं त्राणं
यथा सा तयोक्ता । विशिष्टाधिकारिदुर्लभतां दर्शयति-द्वित्राणामिति ।

(२) अद्वयवादिनीनां श्रुतीनां यदिदमद्वैतम् आपाततोऽर्थतया-
ऽऽकलितं (=विचारितम्) तत्स्वप्रकाशचिद्रूपमेव भूत्वा निष्पीडितात्
(= शोधितात्) विचारात्निर्वहते (= निर्वाहं प्राप्नोति)-इत्यन्वयः ।

(३) सत्यः = समीचीना युक्तयः सद्युक्तयस्तावत् ज्ञापकं लक्षणं
द्युत्सक्तिनक्षणं, तेनोपपन्नाभिर्युक्तिभिरित्यर्थः ।

(४) तदनु च स्वात्मनैव भवान् परमार्थत्वं साक्षात्करिष्यतीत्य-
न्वयः । "अध्यात्मं जिज्ञासमान"-इत्यनेन लक्षणया ज्ञानेच्छयेरन्तर्नीतं
वेदान्तविचारात्मकं श्रवणं, "क्रमादि"त्यनेन मननं, "वृत्तिव्यावृत्ति"त्य-
नेन विज्ञातोऽप्रत्ययानन्तरितमजातीयप्रत्ययमन्तानरूपं निदिध्यासनं
चोच्यते; तथा च मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सहकृ-
ताच्छ्रवणाद्भवान् साक्षात्करिष्यति-इति भावः ।

करसातिशायि^(१)स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति ।

टी० एतदेवोपसंहरति—। “तस्मादि”ति । (२) अद्वैतानु-
भवजनितः संस्कारः; यद्वाऽद्वैतं प्रति भावना, अद्वैतबुभुत्से
त्यर्थः । ‘यदी’ति लोकोक्तिः ॥ ननु यद्यद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्य-
त्वमपि निरस्तं, तदा तत्र किं प्रमाणं? कथं वा ‘श्रुतिस्तत्र
प्रमाणमित्यभिधीयते? इत्यन आह—। “आघातत”इति ।
अविद्यादशायां वाच्यवाचकभावोपग्रहेणेत्यर्थः । पारमार्थिकी
चित्=प्रमार्थचित् ॥ “निष्पीडितादि”ति । “ब्रह्मैवेदं सर्व-
मि”त्यादिश्रुत्यैकवाक्यतया परिशोधितादित्यर्थः । ‘अहहे’ति
स्वकीयतादृशानुभवव्यसक्तकाराविष्कारः ॥ नन्वेतास्त्वदुक्तयो
मस्यं न रोचन्ते, न वा ऽद्वैतवासनाभिर्भरमयिताभि^(३)रद्वै-
तज्ञानं जनयितुं शक्यं, न वा जनिते तस्मिन्नस्माकमा-
दरः शरीरात्मभेदसाक्षात्कारलक्षणतत्त्वज्ञानपरिपन्थित्वादित्यत
आह—। “तदिदमि”ति । उद्धृतकण्टकत्वादिना^(४)युक्तयः
सद्युक्तय एव, नचाऽद्वैतज्ञानस्य तत्त्वज्ञानविरोधित्व, भेदज्ञानस्य
तत्त्वज्ञानत्वाभावादिति भावः ॥ “क्रमादि”ति । तत्र बहिरि-
न्द्रियविषये स्पृहालोश्चेतसो या वृत्तिस्तद्यावृत्तचेता युञ्जान^(५)
इत्यर्थः । मनोवृत्तयः कामादयस्तद्यावृत्त इति वार्थः ॥ ननु
साक्षात्कारब्रह्मणोर्विषयविषयिभावे भेद एवेत्यन आह—। “स्व-
प्रकाशे”ति ॥ “यं लुब्धवा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः”—
इत्याद्युक्तमानन्दहेतुत्वं योगस्याह—। “मात्तिकरसातिशायी”ति ॥

(१) मात्तिकं रसमतिशयितुं शीलं यस्य तत्तथा ।

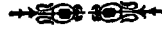
(२) अत्र “अद्वैतवासना”—इतिप्रतीकमध्याहृत्याद्वैतानुभवेत्या-
दिग्रन्थो ध्यातव्यः ।

(३) भरमयिताभिः = द्वैतवासनाभारेणाऽभिभूताभिरित्यर्थः । केव-
चित्पुरतकेषु “द्वैतवासनाऽभिभरमयिताभिः”—इति पाठ, सत्राऽद्वैत-
वासनाभिरित्युपरितोऽध्याहृत्य ग्रन्थोयोगनीयः ।

(४) उद्धृतकण्टकत्वं बाधसत्प्रतिपक्षादिशून्यत्वम्, आदिपदेन
पक्षपक्षसत्त्वादिपरिशुद्धः, तथा चोद्धृतकण्टकत्वादिना=बाधशून्यत्वा-
दिना रूपेणोपेता युक्तयोऽनुमानादिः रूपाः सद्युक्तय एवेत्यर्थः ।

(५) युञ्जानः, योगीत्यर्थः ।

मू० "यथा च परिहृतचापल^(१)मात्मतत्त्वामृतसरसि नि-
मज्ज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाहमकथयं नैष-
धचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे, -इत्येषा 'दिक्'^(२) ।



'^(३)अभीष्टसिद्धा^(४)वपि खण्डनाना-
मखण्ड राज्ञामिव नैवमाज्ञा ।

तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं

सैद्धान्तिकेऽप्यदूध्वनि योजयध्वम् ॥ २७ ॥

तदे^(१)तादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममा-
स्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, 'यासामीश्व-
रपरवशां विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमश्वयं
'तासामेवावतारणार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः ।

"तथाहि-यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोरश्रयणं,
तदा तावदमषां निरावाधैव सार्वपथीयता ।

टी० ॥ ननु चे^(२)नसौ वृत्तिरवावृत्तिरेवाशङ्का, भोगस्पृहाया
नित्यं जागरूकत्वादित्यत आह-। "यथा चे^(३)ति ॥ "दिग्"ति ।
अनेन पातञ्जलाद्युक्तयोगाद्युपायं सूचयति ॥



नन्वेवं सुमुक्तुमात्रोपासनीयता ग्रन्थस्य स्यात्, तथाच
"लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वमि"त्युपक्रमविरोध इत्याशङ्क
तदपि कलमन्वाचिनोति-। "अभीष्टे"ति । चित्यानित्यवि-

(१) यथा च परिहृतचापलं मानसं निरायासमेव रज्यतीति सम्बन्धः ।

(२) इत्येषा दिक्, "अद्वैतसाधने", -इति शेषः ।

(३) { वादजल्पवितर्कबाधु कथाषु त्रिविधास्वपि
प्रचारः खण्डनोक्तानां युक्तीनामत्र कथ्यते ॥ २३ ॥ }

(४) अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामाज्ञा राज्ञामाज्ञैव मया नाख-
ण्डि, तत् (= तस्मात्कारणम्) तानि (= खण्डनानि) सैद्धान्तिकेऽप्य-
दूध्वनि (= तत्तत्सिद्धान्तावलम्बिनैयायिकादिमतेषु) यथाभिलाषं
कस्मान्न योजयध्वमिति सम्बन्धः ।

चारेपि खण्डनयुक्तीरवतार्य विज्ञयादिक फलभासादनीयमित्यर्थः ॥ "एतादृशोऽवपी"ति । रक्षणीयमिद्वान्तास्वपीत्यर्थः ॥ प्राः लभ्यमेवाह-। "यामामि"ति । 'इदनिदयमेवे'ति यदीश्वरः कश्चिदाज्ञामात्रेण विश्व व्यवस्थापयति तदा परममूषा निरमन नान्यथेत्यर्थः । यद्वा, ईश्वरः=ब्रह्म, तत्परवशात् । यावद् "ब्रह्मैवेद सर्वमि"ति विश्व न व्यवस्थाप्यते तावन्नामूर्पा निराम इत्यर्थः ॥ "तामामि"ति । खण्डनयुक्तीनामवतारणार्थम्=अवतारस्थान(२)ज्ञापनार्थम्, अयम्=अग्नेन., प्रवाहुकाना=माध्यमिकादीनां, प्रवादस्य=दर्शनस्योपन्यास इत्यर्थः ॥ विशेषदर्शनापन्यासमेवाह-। "तथाही"ति । दर्शनानि=शून्यत्वाऽनिर्वचनीयत्वादीनि ॥

मू० "यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तुमतावलम्बनं, तदापि लक्षणखण्डनयुक्तीनां लक्षणविशेष(२)खण्डने, लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने, 'प्रत्येकं तात्पर्यम् । * 'नच सौत्रादिलक्षणखण्डनेऽपसिद्धान्तापत्तिः*, 'तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । * 'न च वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादिव्याख्याविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं, प्रमाणान्तरं, व्याख्यान्तरं च, वाच्यं प्रसज्येत भवतोपीति*, 'वितण्डाकथालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्, तत्र च व्यावृत्त्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्थ्यनुयोगानवकाशात् ।

टी० ॥ नन्वनिर्वचनीयत्वाद्दौ खण्डनयुक्त्यवतारेपि सिद्धान्तिकाऽवयोजनं न जातमत आह-। "यदि त्वि"ति । प्रमाणादिमत्ताभ्युपगन्तारः- सिद्धान्तिनस्तेषामपि परस्परं कथायां

(१) अवतारस्थलत्वं च खण्डनयुक्तिप्रतिपादकत्वेन न तु खण्डनयुक्तिभिः खण्डनीयत्वेनेति बोध्यम् ।

(२) लक्षणविशेषप्रमाणविशेषादिकं पराभिमतलक्षणप्रमाणादिकम् ।

लक्षणविशेषखण्डनार्थमवतारः संभवत्येवामूषानित्यर्थः ॥ नन्वत्र न लक्षणमात्रखण्डने युक्तयः सन्ति, किंतु लक्ष्याण्यपि प्रमाणादीनि खण्डनान्येव, तथाच तद्युक्तीनां सिद्धान्तिभिरवतारणेऽपि सिद्धान्तापत्तिरित्यत आह—^b“लक्ष्ये”ति । येन प्रमाणेनैकस्तल्लक्ष्यं व्यवस्थापयति तत्खण्डनमेव लक्ष्यखण्डनं, नतु लक्ष्यस्य प्रमाणान्तरेणा^(१)पि सिद्धिरनपेक्षिता येनापिसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः ॥ “प्रत्येकमि”ति । कथकयोः प्रत्येकमित्यर्थः ॥ ननु लक्षणविशेषोपि भीत्र एव, तथाच तन्मात्रमतानुसारिणा तत्खण्डने कथं नापिसिद्धान्त इत्यत आह—^d“नचेति ॥ ‘तादृश्या’ इति । यादृश्याः प्रकृते खण्डनीयं लक्षणं पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥^f“नचे”ति । लक्षणसामान्यस्य, लक्ष्यस्वरूपस्य, सूत्रव्याख्यायाश्च, तन्मतानुसारिभिरवश्यं रक्षणीयत्वादिति भावः^(२) ॥ “वितखण्डे”ति । वितखण्डायाः प्रतिपक्ष^(३) स्थापनाहीनत्वेन खण्डनानन्तरं तत्र लक्षणादीनां व्यवस्थापनीयत्वाभावादित्यर्थः ॥

मू० “एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत् प्रत्यवस्थान्तुं शक्यत्वात् । ‘वैयाक^(४)’रणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञानानिरूपणार्थं समानपक्षस्थित्यापि पर्यनुयोगसंव्यवहारिकतायाः संभवात्, ‘वस्तुस्थितिं कुर्वाणो न च विचारकेणाऽवश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः^(५)’

(१) प्रमाणान्तरेण=स्वाभिमतप्रमाणेन । (२) ‘लक्षणान्तरादिकं वाक्यं प्रसज्येत भवतोपी’तिवादिनः पूर्वपक्षिणो भावइत्यर्थः । (३) प्रतिपक्षः = वैतरिणस्य स्वपक्षः । (४) यथा गवादिशब्दानां सिद्धत्वसंप्रतिपक्षावपि परकीयज्ञानपरीक्षार्थं तत्साधनप्रकारनिराकरणार्थं च ‘कथमयं गोशब्दःसिद्धः?’-इतिप्रश्नो दृष्टस्तथा साध्यार्थसंप्रतिपक्षावपि तत्साधनविशेषनिराकरणार्थं परकीयतत्त्वज्ञानपरीक्षार्थं च वीथ्यसंव्यवहारसिद्धतायः सम्भवादिति समग्रपङ्क्त्यर्थः । (५) युक्तीनामुद्धारश्च खण्डनयुक्तिभिरवेति वादेपि खण्डनयुक्तीनां प्रवेश इति भावः ।

अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति "वादेपि प्रयोगः
संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम् । 'जल्पस्त्वैकाकथा न
संभवत्येवा'ऽसामयिकी^(१), वितण्डाद्वयशरीरत्वात् ।

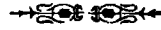
टी० ॥ दर्शनभेदेन समानलक्ष्यलक्षणयोर्वादिनोः खण्डना-
वसरमभिधाय दर्शनाभेदेनापि तदवतारमाह—। "एवं चे"ति ।
स्वपक्षनिर्वाह प्रति पर्यनुयोगानवकाशे सतीत्यर्थ ॥ अभिन्न-
दर्शनयोः कथायां दृष्टान्तमाह—। "वैयाकरणानामिवे"ति ॥ ननु
तत्रतत्रावतरन्तु नाम खण्डनयुक्तयः, स्थापनावादिना तु नामा-
मुपेक्षैवोचिता, तथाच किमनेनावनारेणेत्यत आह—। "वस्तु-
स्थितिमि"ति ॥ वादे संभवमाह—। "वादेपी"ति । वस्तुस्थिति-
मित्यत एकैवेय फक्किका^(२) ॥ ननु जल्पे स्वस्वपक्षस्थापनाया
आवश्यकत्वात् कथममृषां स्वपक्षतयाघातपराहतानामवतार
इत्यत आह—। "जल्पस्त्व"ति । एकेन स्थापनायां कृतायाम-
न्येन तद्दूषणाभिधानमित्येका वितण्डा, द्वितीयेन स्थापनायां
कृतायां प्रथमेन दूषणाभिधानमित्यपरा वितण्डा, ताभ्यां वितण्डा-
भ्यां चैको जल्पः संपद्यते, इति तत्रा^(३)भिधानमात्रमित्यर्थः ॥ ननु

(१) समयः = स्वसङ्केत, स्तत्सिद्धा सामयिकी, तद्विज्ञा असाम-
यिकी अपारिभाषिकीत्यर्थः । (२) "वस्तुस्थितिमि"त्यत आरभ्य
"खण्डनयुक्तीनामि"त्यन्तमेकैव फक्किकेत्यर्थः ; एवं च सति व्याख्या-
कारस्य "वादे संभवमाह"—इत्यवतरणग्रन्थानन्तरं "वस्तुस्थितिमि-
ति"—इति प्रतीकधारणं युक्तं न तु "वादेपीति", - इत्यनुमन्ये । अत
एव च प्रगल्भमिश्रेण श्रीदर्पणे "वादेपि खण्डनयुक्तिसंभवमाह - वस्तु-
स्थितिमिति" - इत्येवोक्तम् ।

(३) तत्र = जल्पे, अभिधानमात्रं = पृथक्कृतात्वमभिधानमात्रमेव, न
तु पृथक्कृतात्वमित्यर्थः । यन्ना वादवितण्डयोः खण्डनयुक्तीनामवतारे प्र-
तिपादिते तत्समुदायरूपजल्पे पुनः पृथक्प्रतिपादनमभिधानमात्रं, - वृथा
प्रलापमात्रमेवेत्यर्थः ।

स्वपक्षस्थापनाऽपरपक्षदूषणसामर्थ्यं यत्र^(१) दूयोरपि निरूप्यं तत्र
तथा जल्पः संभवत्येवेत्यत आह—। “असामयिकी”ति । सम-
याधीनतया कथाप्रसृत्तौ खण्डनानवतारैपि न क्षतिः, प्रमाण-
सिद्धकथाप्रभेदे खण्डनप्रागल्भ्यस्यापेक्षितत्वादिति भावः ॥

मू० “अन्यथा जल्पदूयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते,
अवोचाम^(२) च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैत-
दिति, ‘जल्पकथयापि चाभिधाने स्वपक्षे^(३) व्यावर्त्य
सदोषस्यापि प्रमाणातयाभिधानं कृत्वा तद्विषोद्भाव-
नकारीकमपि खण्डनयुक्तिमवतार्य बाधनीय इति
जल्पेपि नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः ।



+ कीदृश्यः पुनस्ताः ? । उच्यन्ते । तथाहि लक्षणा-
धीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थिति^१ लक्षणानि चाऽनुपपन्ना-
नि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणिरूपणद्वारेण^(४) चक्र-
काद्यापत्तेः ।

(१) यत्र=यस्मिन्काले, नतु यस्यां कथायामित्यर्थः; जल्पे जल्पाऽ-
सम्भवेन “तत्र तथा जल्पः सम्भवतीत्युक्तयनुपपत्तेः ।

(२) ननु वादस्यापि वितण्डाद्वयशरीरत्वेनाभावप्रसङ्ग इत्याश-
ङ्क्याह-अवोचामेति, “वादस्य फलभेदेन वितण्डातो भेदो न जल्प-
स्य; तदभावादि तयादिकमवोचामेत्यर्थः । (३) स्वपक्षे सदोषस्यापि
प्रमाणास्य सदोषाद्भावार्थं = पृथक्कृत्य निर्दुष्टप्रमाणातयाऽभिधानं कृत्वा
पुनस्तत्र दोषोद्भावनकारी पुरुषो यां काञ्चिद्युक्तिमवतार्य बाधनीय
इत्यर्थः; “स्वपक्षे स्थावृत्त्य”-इतिपाठे तु जल्पकः पुरुषः स्वयं स्वपक्षे
व्यावृत्त्येत्यर्थः । न तु तत्र पक्षव्यावृत्तिर्ग्राह्या ।

नियमाल्लक्षणाधीना भवेल्लक्ष्यव्यवस्थिति ।
१ { प्रादुर्व्यं ताञ्जिराचष्टे लक्षणस्यानिरुक्तिः ॥ ११ ॥
प्रमाया लक्षणस्यादौ निरुक्तिस्तत्र खण्डयते ।
अतिशयाप्त्यादिदोषोक्त्या प्रसामान्यानुवर्तिनी ॥ १२ ॥ }

(४) “ज्ञानाधिकरणादिलक्षणिरूपणद्वारेण”-इति तु खण्डनभू-

टी० ॥ ननु जल्पः कथं तृतीयकथा समयमन्तरेणैव न संभवतीत्यत आह-। “अन्यथे”ति । स्वपक्षद्वयस्थापनपरपक्ष-
द्वयखण्डनशक्तिनिरूपणार्थं जल्पद्वयेन कथान्तरसंभवादित्यर्थः ॥
“अधोचामे”ति । हेइवगाभिमन्याविति शेषः ॥ ननु दशरथद-
शाननननययुदुवत्काकोलूकयुदुवच्च कतवित्यकुमारद्वययुदुमनुभव-
निदुमेव, (२) तथैव स्वपक्षरक्षणपरपक्षखण्डनफलकं कथान्तर जल्पः
किं न स्यादत (३) आह । “जल्पकथयापी”ति । परपक्षदूषणा-
भिधानानन्तरं स्वपक्षे मद्भेतेरपरिस्फूर्तौ मदीषमपि प्रमाणमुप-
न्यस्य तद्दोषनिरासाय खण्डनावतारसंभवात्, पुनः स्वपक्षस्था-
पनाठयावृत्तेरभावादिति भावः ॥ तत्रादौ लक्षणसामान्यखण्ड-
नयुक्तिमवतारयति-। “लक्षणानि चे”ति । लक्षणेन हि रम्यव-
त्वादिना ज्ञाते लक्ष्ये पृथिवीस्वरूपेऽधिकरणे प्रतिबन्ध (४) बलं न
ठयवहाररूपमितरभेदरूप वा माध्यं माधनीयं तत्र लक्षणज्ञान
मन्यलक्ष्यमाधारण्येन भवदप्यकिञ्चित्करमिति ठयावृत्तनया त-
उत्तानमुपेयं, तद्यदि लक्षणठयावृत्तिलक्ष्याधीना, तदाऽन्योन्या-
श्रयः, लक्ष्य परतत्त्वलक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकं; लक्षणे लक्षणा-

षामणिकुद्रयुनायविद्यासागरादिसंमतः पाठः । तदर्थंस्तु किं ज्ञानम् ?-
इतिप्रश्ने ज्ञानत्वयोगीति निर्वाच्यम्, पुनः किं ज्ञानत्वम् ?-इत्यनुयोगे,
सुखाद्यवृत्तिरात्मविशेषगुणावृत्तिर्जातिरिति निर्वाच्यं, जातिरेव का इत्य-
नुयोगे च अनुवृत्तिज्ञानासाधारणं कारणमित्याभिधानीयमिति ज्ञान-
सिद्धौ जातिसिद्धिसतत्सिद्धौ च तद्विशेषभूतज्ञानत्वस्य सिद्धिसतत्सिद्धौ च
ज्ञानसिद्धिरिति चक्रकम्; आदिशब्दान्तथैव ज्ञानसिद्धौ ज्ञानत्वसिद्धि-
सतत्सिद्धौ च ज्ञानसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः; ज्ञानसिद्धौ ज्ञानसिद्धिरित्या-
त्माश्रयश्चेति; तथा लक्षणानि लक्ष्याधिकरणानि वाच्यानि ततश्च कि-
माधिकरणमितिप्रश्ने इहप्रत्ययविषय इति कथनीयं, कः प्रत्ययः ?-इत्य-
नुयोगे च प्रत्ययत्वयोगीति वाच्यम्, किं प्रत्ययत्वमित्यनुयोगे च सुखाद्य-
वृत्तिरात्मविशेषगुणावृत्तिर्जातिविशेष इत्युत्तरं, क आत्मा ?-इतिजिज्ञा-
सायामात्मत्वाधिकरणं, पुनरधिकरणमिहप्रत्ययविषय इति चक्रकं, पूर्व-
वदेवान्योन्याश्रयात्माश्रयो चेत्यादिः । (१) कृता = उपार्जिता पर्याप्ता
वा विद्या यस्य क्षत्रकुमारद्वयस्य तस्य च युद्धमनुभवसिद्धं यथा तथेत्यर्थः ।

(२) अतो जल्पस्य वितण्डातो भेदमङ्गीकृत्याहेत्यर्थः ।

(३) प्रतिबन्धः = व्याप्तिः ।

न्तरं तत्रापि लक्षणान्तरमित्यपरावृत्तावनवस्था; एवं भवदप्य-
किञ्चित्करमिति । एवं जलादिमाधारस्येन ज्ञातायां पृथिव्या-
मितरभेदमाधनमकिञ्चित्करमिति ठयावृत्तायां तस्यां तत्साधनं
वाच्यं, नदृश्यावृत्तिर्यदि प्रकृतलक्षणधीना, तदाऽन्यान्याश्रयः;
लक्षणान्तरेण चेत्तदा प्रकृतलक्षणानुपयोगः; तदपि लक्षणं ठयावृ-
त्तायामेव तस्यामित्यघोऽघो धावन्त्यनवस्था । एवं प्रतिबन्ध^(१)
ज्ञानमाध्यज्ञानादावपूह्यम् । * ननु सर्वलक्षणखण्डनकृतः किम-
भिप्रेतं ? किं लक्षणसाध्यस्यार्थस्य व्यवहार एव नास्ति, सन्नपि
वा निर्हेतुकः, महेतुको वा लक्षणान्तरिकहेतुकः, सर्वलोकभिर्दु-
लक्ष्यव्यवहारे लक्षणानुपयोगो वा, लक्ष्यलक्षणव्यवहाराणाम-
निर्वर्तनीयत्व वेति तत्सर्वमनुपपन्नमनुभवविरोधात् * ?-इति
वेत्त, वादिनोर्लक्ष्यलक्षणव्यवस्थाभिधाननिवर्तनस्याभिप्रेतत्वात्॥

सू० तेषु तावत् "तत्त्वानुभूतिः प्रमा"-इत्यप्ययुक्तं, तत्त्व-
शब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तस्य भावो हि
तत्त्वमुच्यते, 'प्रकृतं च तच्छब्दार्थः, नचात्र प्रकृतं
किञ्चिदस्ति यत्तच्छब्देन परामृश्यते । 'अथ* अनु-
भूत्या स्वसंबन्धविषय आक्षेयाद्बुद्धिस्यः कार्यते, स
तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव
प्रकरणपदार्थविश्रामात्ः तेन यस्यार्थस्य यो भाव-
स्तत्तस्य तत्त्वमुच्यते इति *, न, 'अरजतादेरपि
रजताद्यात्मनाऽनुभूतिविषयतासंभवादसत्यानुभूत्य-
व्यवच्छेदात् ।

(१) प्रतिबन्धः=श्यामिः । तत्तत्स्वप्नानुमित्युत्पादाद्दृश्यात्प्यनु-
मित्योरपि परस्परं श्यामिरेष्टव्या; एवं तस्या अप्यस्या, तस्या अप्यस्ये-
त्यनवस्था; तथा साध्यस्येतरभेदादेरप्यनुमितेः प्राक् ज्ञानं न तावत्पक्ष-
भिन्ने वक्तव्यं, केवलव्यतिरेकित्यभङ्गप्रसङ्गात्, किन्तु पक्षे पक्षैकदेशे एव
वा वक्तव्यम्, तदपि पक्षे पक्षैकदेशे वा साध्यान्तरज्ञानपूर्वकमेवं तत्तद-
पीत्यनवस्येत्यूह्यमित्यर्थः ।

टी० ॥ न्यायाचार्य^(१)कृतलक्षणमालाग्रन्थे प्राथमिकं प्रमा-
लक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते-। “तत्त्वानुभूतिरिति । प्रमाठयव-
स्थितौ सर्वपदार्थव्यवस्थितिरिति तल्लक्षणप्राथम्यं न्यायाचार्यस्य;
प्रमालक्षणाठयवस्थितौ सर्वपदार्थाऽठयवस्थितिरिति तत्खण्डन-
प्राथम्यं खण्डनकृतः ॥ “प्रकृतमिति । पूर्वोपक्रान्तामित्यर्थः ॥
“अत्रेति । आचार्यग्रन्थे प्रमालक्षणस्यैवादावभिधानमित्यर्थः ॥
अनुभवस्य सविषयत्वनियमादनुभवपदेन विषयाक्षेपे अनुभव-
विषयगतधर्मानुभूतिः प्रमेति सिद्धतीत्याशङ्कते-। “अथेति ॥
अमेऽतिठयापत्या प्रत्याचष्टे-। “अरजतादेरिति ॥

सू० “भवितु^(१)रतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे
च प्रमाया अप्रमात्वापातात् । ^२अथोच्यते-* अवय-
वार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं त्यज्यतां, यतोयं
तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचनः*, -इति, एतदप्ययुक्तम्,
'स्वरूपत्वस्य^(३)जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्ति-
भ्यामनुपपत्तेः । स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासंभवेन प्रति-
विषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याऽव्यापकत्वापातात् । कथं
च “तत्त्वे”तिविपर्ययादेर्निरासः ? । तथाहि-शुक्ता
यो रजतत्वप्रत्ययः सोपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव; नहि
धर्मी^(४)वा रजतत्वं वा न स्वरूपं, नापि तयोः
प्रतिभासमानः संबन्धो न स्वरूपमिति युक्तम् । सम-
वायो हि तयोः संबन्धः प्रतिभाति, स च स्वरूपमेव ।

(१) न्यायाचार्यः=श्रीवादित्त्वमिश्रः । (२) भवितुः=भावस्य घट-
त्त्वपटत्वादेराश्रयस्य धर्मिणः, उपलक्षणं चैतद्विशिष्टस्यापि, तथाच
धर्मिणो विशिष्टस्य चातत्त्वशब्दार्थत्वेन तत्प्रमायासत्याप्तिः ।

(३) स्वरूपत्वधर्माश्रयो हि स्वरूपं, तथा च स्वरूपत्वे स्वरूपत्व-
सत्त्वाऽवस्थाभ्यामात्माश्रयतत्प्रमाऽनुपग्रहयोः प्रसङ्गेन लक्षणानुपपत्ति-
देवेत्यर्थः । (४) धर्मी=शुक्तिः ।

टी० ॥ चर्मांशानुभूतेः प्रमात्वेपि चर्च्यंशविशिष्टांशप्रमानु-
पग्रहमाह-। “भक्तितुरि”ति । भविता=चर्मा ॥ ननु तत्त्वपदं
स्वरूपे कूटं, तथाच धर्मधर्मितद्वतां^(१) सर्वेषां स्वरूपतया तत्त्व-
पदवाच्यतया नाठयाग्निरित्याशङ्कते-। “अथे”ति ॥ स्वरूपत्वस्य
स्वात्मनि वृत्त्यभ्युपगमे आत्माश्रयः, अनभ्युपगमे च तत्प्रमानु-
पग्रह इति प्रत्याघटे-। “स्वरूपत्वस्ये”ति । यद्यपि स्वरूपत्वं=
प्रमेयत्वं, तच्च केवलान्वयित्वात् स्ववृत्त्यपि, नचात्माश्रयः, प्र-
माणतस्तथा प्रतीतेः ; तदुक्तं “प्रमाणं शरणं वृत्तौ न भिक्षाभिक्षते
यत^(२)”-इति ; तथापि “स्वरूपं प्रमेयनि”तिसहप्रयोगात् तत्-
प्रमेयत्वं^(३), तत्त्वे वा प्रमाविषयानुभूतिः प्रमेतिपर्यवसाने पुन-
रात्माश्रयः, आकाशा^(४)त्यन्ताभाववत्त्वं च न प्रमेयत्वं, तद्वि-
दुषोपि तत्प्रत्ययात् ; न वाऽभिधेयत्वं तत्त्वं, भ्रमेतिव्याप्तेः ; नच
वस्तुत्वमेव तथा, तस्याऽर्थक्रियाकारित्वादिक्षणस्यापि प्रत्या-
ख्ययत्वात् ; नच सत्तायोगित्वमेव स्वरूपत्वम्, अभावप्रमानुप-
ग्रहप्रसङ्गादिति भावः ॥

(१) प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्यतरनिरूपकत्ववन्वयेन धर्मधर्म्यु-
भयवत्ता तदुभयवन्वयस्य ज्ञेया, तथाच धर्मधर्मितत्ववन्वयानामित्यर्थो
निरूपणः । (२) यतो भिक्षाभिक्षते = भिक्षतवाऽभिक्षत्वे, वस्तुनो वृत्तौ =
वर्तने, शरणं = नियामके, न, तस्मात्प्रमाणमेव वृत्तौ शरणमित्यर्थः ।
प्रमाणवलात्स्वस्मिन्नपि स्वभिन्नेपि च स्ववृत्तित्वाङ्गीकर्तव्येति भावः ।
(३) तत् = तस्य स्वरूपस्य, (स्वरूपनिष्ठमिति यावत्) प्रमेयत्वं नेत्यर्थः ।
यत्रास्वरूपत्वं प्रमेयत्वं तदा स्याद्यदि स्वरूप प्रमेयं स्यात्सहप्रयोगदर्श-
नाच्च न स्वरूपं प्रमेयमतएव च न तत् = स्वरूपत्वं प्रमेयत्वमपीत्यर्थः ।
स्वरूपत्वस्य प्रमेयत्वे तु स्वरूपानुभूतिः प्रमेतिलक्षणस्य प्रमाविषयानुभूतिः
प्रमेत्यर्थपर्यवसाने आत्माश्रय एवेत्यर्थः । (४) ननु स्वरूपत्वं प्रमेयत्व-
मेव, तच्च न प्रमाविषयत्वरूपं, किन्तु समनियतत्वादाकाशात्त्यन्ताभावो
वा, ऽभिधेयत्वं वा, वस्तुत्वं वा, सत्तायोगित्वं वा, तत्त्वकीकरिष्यते; इति
नात्माश्रयो नापि च सहप्रयोगानुपपत्तिः, “प्राज्ञे वस्तुसमये काकः
काकः पिकः पिकः”-इतिवद्, घटादिशब्दार्थमज्ञानतः शब्दान्तरेण घटः
कलश इतिवद्वा तदुपपत्तेरिति विचिकित्सायामाह-आकाशेति । तद्वि-
दुषः=आकाशात्यन्ताभावमविदुषः, तत्प्रत्ययात्=स्वरूपत्वाभिन्नप्रमेयत्व-
प्रत्ययात् ।

सू० * सत्यं, समवायः स्वरूपं, स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्ति? *-इति चेन् 'मैवम् तत्र नास्ति-त्वेपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः । नहि गेहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात् । * 'न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किंतुयद्देशकालसंबन्धि यत् स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसंबन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यते? *, - इति मैवम्, 'देशकालसंबन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात् । * तयोः स्वरूपमेव(१) तत्रशब्दार्थः? *, - इति चेन्न, तत्त्वपदस्या नेकार्थत्वेन लक्षणाव्यापकतापत्तेः । 'अथैवं ब्रूषे- * 'यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते * ? । नैतदपि युक्तम्, यद्यथाभूतं प्रतीयते तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्तदाप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामतादशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः । 'यदानदे'तिविशेषणप्रक्षेपणे च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातः । नहि कालवैशिष्ट्येपि कालान्तरसंबन्धः संभवी ।

टी० ॥ ननु शुक्तौ रजतत्वममवायो न स्वरूपं, तदाऽपि द्यमानत्वादिति शङ्कते-। "सत्यमि"ति ॥ स्वरूपत्वे च तत्र विद्यमानत्वमन्वयित्याह-। "मैवमि"ति ॥ ज्ञानोऽस्मिन्निखितदेशकालमवद्दं स्वरूपमिह तत्त्वपदार्थ इति न अत्रेतिव्याप्तिरित्याह-। "न स्वरूपमात्रमि"ति ॥ देशकालयोर्देशकालसंबन्धाभावात् तदंशप्रमानुपग्रहमाह-। "देशे"ति ॥ "अनेकार्थत्वेने"ति । देशस्वरूपं, कालस्वरूपं, देशकालसंबद्धं च स्वरूपं, प्रत्येकं तत्त्वमिति लक्षणाऽननुगमे दोष इत्यर्थः ॥ ज्ञानोऽस्मिन्नि-

(१) एवकारेण देशकालसंबन्धव्यावृत्तिः, -शुद्धं स्वरूपमित्यर्थः ।

तत्प्रकारवत्त्वं विषयस्य तत्त्वमित्याशङ्कते-। “अथे”ति ॥ भावि-
रक्तरूपस्य घटस्य पूर्वं दोषवशाद् यत्र रक्ततया ज्ञानं तदपि
तथा सति प्रमा स्यादित्याह-। “यद्यथाभूतमिति ॥ ज्ञानकाले
ज्ञानेऽस्तिखिलप्रकारवत्त्वं तत्त्वमित्याशङ्काह-। “यदे”ति । काले
कालवैशिष्ट्याभावेन तदंशप्रमाऽनुपग्रहापत्तिरिति भावः । यद्यपि
पाकरागात् पूर्वं ‘घटो रक्त’ इति प्रतीतिः प्रमैव, विषयाऽबा-
धात्; * तत्काले नदूष एव*-इति चेन्न, ‘इदानीं रक्तः’ इत्य-
प्रतीतिः; तथापि प्रवृत्त्यनुरोधाऽनुमितौ वर्तमानकालभानाव-
श्यकत्वेनाऽन्यत्रापि तत्कालभानमावश्यकम् । किञ्च, ‘अयं
रक्तः’-इतिप्रतीतिः स्वविषयवर्तमानत्वविषया, अतीतानाग-
नाऽविषयत्वे निति प्रतीतित्वात्, ‘घटो स्ती’तिप्रतीतिवदित्य-
नुमानाच्च ‘रक्तो घटः’-इत्यादौ वर्तमानकालभानमावश्यक-
मित्यनित्वात्प्रतिरेवंति भवः ॥

सू० *अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन संभ-
न्त्स्यति ? *, -इति चेत्, ‘तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः
कुण्डलिनं स्वमारोहयत्येव । * उपाधिभेदेऽप्युपधेय-
स्यैकत्वाऽनिवृत्तेर्भवम् ? *, -इति चेत्तुल्यम् । ‘एतेन
कारणं^(१) तत्त्वमिति निरस्तम्, ‘सर्वं स्य तथात्वे प्रमि-
त्यभावेनात्माश्रयेण च प्रतिक्षण^(२) विशिष्टविश्वाव-
श्यकारणात्त्वोपगमे दुरपवादायं क्रियाकारित्वस्वरूप-

(१) अर्थक्रिया प्रति कारणमित्यर्थः; तथा चार्थक्रियाकारणानु-
भूतिः प्रमेति लक्षणस्य फलितोऽर्थः । अत्रविषयस्याऽर्थक्रियाकारणत्वा-
भावेन न तज्ज्ञानेऽतिप्रसङ्गः । अत एव “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
मृत्तिकेत्येव सत्यम्”-इति श्रुतिरपि कारणस्यैव मृदाहेतुत्वरूपतां
कार्यस्य च घटादेरतत्त्वरूपतामाह । यद्वा, कारणं,-विषयविधया
स्वविषयकज्ञाने कारणमित्यर्थः; अत्रज्ञाने विषयस्यैवावत्त्वेन ज्ञानकार-
णत्वाभावात्प्रतिप्रसङ्गः । (२) प्रतिक्षणविशिष्टं (=ज्ञापकम्) यद्विषयं
तत्प्रतियोगिककारणतायास्तदनुयोगिककारणताया वा वस्तुपुपगमे
खेनापवादे यस्या अर्थक्रियायास्तादृशार्थक्रियाकारित्वलक्षणं यज-
गतः सत्त्वं तदङ्गीकारिणो जैनस्य चरणशरणे प्रवेश एव विद्वम्भना=वि-

सन्वलसणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बना-
पादिदोषग्रासेन चेति ।

टी० ननु 'दिनस्य महरो' 'गत्रेर्यामो' 'यामवती यामिनी'-
त्यादिप्रतीतिदर्शनात् कालेपि कालवैशिष्ट्यमिति न तदंशप्रमा-
नुपग्रह इत्याशङ्कते-। "अन्ये"ति ॥ उपाध्यन्तरावच्छिन्नस्य
कालस्योपाध्यन्तरावच्छिन्ने काले यदि वृत्तिस्तदा दोषमाह-। "त-
ही"ति । कालोपाध्यन्तरस्य च कालोपाधिवृत्तौ किमायातं काल-
स्ये^(१)ति दोषः ॥ "एतेने"ति । कालप्रमाऽनुपग्रहप्रसङ्गेनेत्यर्थः ।
कारणत्वस्य नियतप्राक्कालवृत्तित्वरूपत्वात् काले च तदभावा-
दिति भावः ॥ कारणत्वे दोषान्तराशयप्याह-। "सर्वस्ये"ति ।
प्रमाणाभावाद्यदेव^(२)न कारणं नत्प्रमायामव्याप्तिः, पारिभाषि-
त्यादे^(३)श्चरमध्वंसादेश्च त्वयैवाऽकारणत्वाभ्युपगमात् तत्प्र-
मायामव्याप्तेः, कारणत्वे कारणत्वाभ्युपगमे त्वात्माश्रयत्वात्-
दंशप्रमायामव्याप्तिः, कार्यं च वस्तुनामन्यत् प्रतिक्षणभावि
नास्तीति पर्वशीजादेरेवोत्तरशीजादिकारणत्वं वाच्यं, तथाच
बौद्धमतप्रवेशोदपमिद्धान्तरूपविडम्बनापा.के. दोषः, तद्ग्राह-
श्चेति^(४)दोषा इत्यर्थः । यदि न कारणत्वं कारणत्वावच्छेदक-
रूपवत्त्वं, - च यदाकदा तिक। णे^(५)।

लाभरगमाएदमित्त गीसं तदा नोपमा पादु त्तरं नरस्य। ॥ पूर्व-
गान्वयः । "विडम्बनापातादिदे पद्मसेन न -इत्यपि बहुषु पुस्तकेषु
पाठः । (१) कालस्य कालाऽवृत्तित्वे किं तदुक्तं भवति ? न किञ्चिद्,
इति कालप्रमाऽनुपग्रहो दोषस्तदवस्थ सचेत्यर्थः । (२) यदेव=कुसु-
लस्थशीजादिकमङ्करादिकं प्रति न कारणमित्यर्थः । (३) पारिभा-
षिदस्यम्=अनुपरिमाणम् । आदिपदेन महत्परिमाणव्यापि लाभः । चर-
मध्वंसः=यदनन्तरं कार्यान्तरं नोत्पत्स्यते तादृशप्रलयकालीनकार्यद्रव्य-
ध्वंसः । आदिपदेनोत्पन्नविनष्टघटादेः सङ्ग्रहः । (४) तद्ग्राहो न
पृथग्दुषणं ग्राह्यम् । इति दोषाः, एते चत्वारो दोषाः स्मृतित्यर्थः ।
(५) कारणस्योपधानं=फलसम्बन्धः ।

त्वा^(१)त्, कारणांश^(२)प्रमानुपग्रहश्च, यदि च तदनुभवकारण-
त्वमेव तत्त्व, तदाऽनुमानाद्यसंग्रह^(३)इतिभावः । अत्र यद्यपि
तत्त्व-निष्पत्त्याज्ञान-विरूपपादि^(४)शब्दाः पामरादिप्रसिद्धानां न
ठ्याख्यानमपेक्षन्ते, विवेचयन्ति हि पामरा अपि-इदं तत्त्वमि-
दमतत्त्वमिदं स्वरूपमिदमस्वरूपमिति तदर्थप्रश्नः प्रचटुरेवं
जाह्नवमावेदयति, प्रसिद्धानुरोधाच्च धर्मिस्वरूपे विषयतास-
मानाधिकरणे च धर्मं तत्त्वपदप्रयोगः, विषयताठ्यधिकरणो
धर्मोऽनन्वयः तदेव हि रजतत्त्व शुक्लावतत्त्व, रजते तत्त्व, विषय-
तावैयधिकरण्यसमानाधिकरण्याभ्यां व्यपदिश्यते; “तत्त्वभा-
क्तयोर्नानात्वदर्शनाद्^(५) अठ्यभिचारः”-इत्यादौ तत्त्वपदस्या-
यन्तत्त्वमैत्र श्रुतानुमानं च समानाधिकरणे^(६) च धर्मं तत्त्व-
पदं प्रयोजयितुं शक्यं प्रामाण्यमिति नातिव्याप्तिर्न वा
धर्म्यं प्रमायाः प्रामाण्यं, एव स्वरूपपदस्यापि तत्रैव प्रयोगः,
इति न किञ्चिदनुसन्तं, तथापि विचारकाणां न प्रसिद्धिमात्रा-
नुरोध इति ॥

(१) ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यशौक्तकान्ताकरादिदेशस्वरजतज्ञाने
विषयविधयारजतस्यापि कारणत्वात् । (२) कारणे कारणोपधानाभावा-
त्कारणांशप्रमानुपग्रह इत्यर्थः । यद्वा कारणेति भावप्रधानो निर्देशः, तथा
च कारणत्वे कारणतावच्छेदकरूपवत्त्वाभावेन कारणत्वांशप्रमानुपग्रह
इति पूर्ववदेव बोद्धव्यम् । (३) अतीतानागताद्यर्थविषयकानुमितौ विषयता
ऽकारणत्वेन तदसङ्ग्रह इत्यर्थः । (४) विगत रूपं यस्मात्तद्विरूपम्
(अस्वरूपमिति यावत्) आदिपदेन स्वरूपस्यापि सङ्ग्रहः, एवं चाग्रे “इदं
स्वरूपमिदमस्वरूपमि”त्युक्तं बाधु सङ्गच्छते । (५) आचार्येण “तत्त्वा-
नुभूतिः प्रमे”तिलक्षणे प्रतिपादिते, पूर्वपक्षिणा च खाण्डनिकोक्तप्रकारेण
तत्त्वपदस्य वैगिकार्यत्वमवलम्ब्याऽयथार्थानुभूतौ व्यभिचारे दर्शिते,
आचार्य्य आह-“तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वदर्शनाद् (अनेकार्थं कदम्बदर्श-
नाद्) अव्यभिचारः” इति, तथा च व्युत्पत्तिविरुद्धमर्थमादाय व्यभिचारे-
क्तिरसङ्गतेवेति भावः । (६) विषयतासमानाधिकरणे इत्यर्थः ।

(७) तदग्रे, धर्म्यं च इत्यर्थः । समुच्चिन्त्योभयत्र कृत्यङ्गीकारस्य फल-
माह (तथापि प्रथमं विषयतासमानाधिकरणे धर्मं कृत्यङ्गीकारस्य भ्रम-
ज्ञानेऽतिव्याप्तिपरिहाररूपं फलमाह)-इति नातिव्याप्तिरिति, धर्मिभावे
कृत्यङ्गीकारस्य फलमाह-नवेति ।

म० "किं^(१)चेदमनुभूतित्वं नाम ?, ज्ञानत्वावान्तरजाति-
भेदे वा ?-१ स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वं वा ?-२ स्मृ-
तिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा ?-३ 'तदऽविदूरप्राक्का-
लोत्पत्तिनियताऽसाधारणकारणकबुद्धित्वं वा ?-४ ।
न तावदाद्यः । तथाहि-अनुभूतित्वं नाम जातिरेका-
ऽभ्युपगम्येति कुतः ? ।

टी० ॥ अनुभूतिपदस्य स्मृतिव्यावर्तकत्वं तदा स्याद्यद्यनु-
भूतित्वं स्मृतिव्यावृत्तं स्यात्तदेव तु नास्तीत्याह । " किंचे'ति ॥
'तदविदूरे'ति । तस्य = ज्ञानस्याऽविदूरो ऽव्यवहितो यः प्रा-
क्कालस्तन्नियता यदसाधारणकारणस्योत्पत्तिरित्यर्थः । अनुभ-
वस्य यद् इन्द्रियसन्निकर्ष-लिङ्गज्ञान-शब्दज्ञान-मादृश्यज्ञानादि
असाधारण कारणं तद् अव्यवहितप्राक्कालोत्पत्ति^(२), स्मृतेस्तु
चिरोत्पन्न एव संस्कारोऽसाधारणं कारणं, मनःसंयोगस्तु नासा-
धारणमिति भावः ॥

म० " *अनुभवामी'तिप्रत्ययानुगमवशाद् ?* इति चेन्न,
'माघमासीयनिशावसाने सिताऽसित रित्संभेदस्ना-
यिनः^(३)सत्यपि शब्दबलाद्भावस्वकीय^(४)स्वर्गसु-
खसंप्रत्यये 'सुखमनुभवामी'तिप्रतीत्यनुदयात्, प्र-
त्युत शीतसंभेदसंभूतवेदनासंवेदनादेव; परस्त्वयं

(१) { प्रमङ्गादनुभूतित्वं खण्डयतेऽत्र प्रघटके ।
{ जातितोपाधिनाऽनुक्तगाऽनेकखण्डनयुक्तिभिः ॥ १४ ॥ }

(२) अव्यवहितप्राक्काले उत्पत्तिरित्यस्य तत्तथा । (३) सिता श्वेत-
वर्णा सरिद् गङ्गा, असिता कृष्णवर्णा सरिद् यमुना, तयोर्थः सभेदः=
सङ्गमः, तत्स्नायिनः (त्रिवेणीस्नायिन इति यावत्) । (४) क्वचित्
'स्वकीये'ति पदं न दृश्यते, परञ्चाग्रे व्याख्यायां "स्वकीयस्वर्गसुखसंप्र-
त्यये इत्यसङ्गतमि"त्याक्षेपदर्शनादावश्यकं तम् । संप्रत्ययः=अनुमानं,
तस्मिन्-अहं भाविस्वर्गसुखवाग्भविष्यामि चेदविहितकारित्वादिन्द्रादिव-
द्भूतिरेके नारकादिवहेति ।

संभुजानस्यास्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भा-
विनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे^(१) 'दुःखमनुभ-
वामी'तिमतेरनुत्पत्तेः, प्रत्युता'ऽमन्दमानन्दं संवि-
दन्^(२)साम्प्रतमस्मी'तिप्रत्ययात् ।

टी० स्मृतिभिन्नेषु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दप्रभवेषु 'अनु-
भवामी'त्यनुगतमनिर्मात्रकमनुभवत्वमिति शङ्कते-। "अनुभ-
वामी"ति ॥ नाचे मिनाऽमितस्नानफलत्वेनानुभवमाने सुखे
तदनुमितावनुभवत्वजातिसत्त्वे 'सुखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरुद-
यप्रमङ्गलैवमित्याह-। "नाचमामीये"ति ॥ शीतदुःखस्यैव सा-
क्षात्कारात्तत्र 'दुःखमनुभवामी'तिवैपरीत्यस्यैव दर्शनादित्याह-।
"प्रत्युते"ति ॥ पराङ्गनामङ्गमस्य फलं दुःखमित्यनुमितिरूपानु-
भवे 'दुःखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरभावात् नैवमित्याह-। "पर-
स्त्रिय चे"ति । यद्यपि मिनामितस्त्रायिनः सुखानुभवो नास्त्येव,
न वा पराङ्गनां भुञ्जानस्य दुःखानुभवः, किंतु शब्दात् सुखसा-
धनताऽनुभवः, दुःखसाधनतानुभवश्च, तत्र^(३)'सुखमनुभवामि'
'दुःखमनुभवामी'ति वा कथमनुद्यवसायः स्यात्? व्यवसाये प्रा-
धान्येन विद्योक्त्रियमाणस्यैवानुद्यवसाये ज्ञानविशेषणतयोत्प्ले-
खात्; 'सुखसाधनमनुभवामी'ति तु स्यादेव, यदि विषयान्तर-
संचारी न स्यात्, तस्य^(४)च "प्रत्युते"त्यादिनात्त्वयैवोपपादनात्;
* नचानुभवभान^(५)मावश्यकं, * तद्भानेपि तद्गतजातिभान-
स्यानावश्यकत्वाद्, अन्यथा सन्देहः कापि न स्यात्; तवैव वा
कथं 'स्वर्गं जानामि' 'नरकं जानामी'ति वा नानुभवः, ज्ञानस्य
त्वयाप्यभ्युपगमात् । * भवत्येव तत्र 'स्वर्गं जानामि' ? *-इति

(१) अत्रापि पूर्ववदेवाधिगमेऽनुमानम्, तथाहि-अहं भाविनरकग-
मनानुभवनीययातनाकः, प्रतिविद्धकारित्वान्नहुषादिवद्वृत्तिरेके इन्द्रा-
दिवद्धेति । (२) अमन्दम्=अनश्पम् (प्रचुरमिति यावत्) आनन्दं=
सुखं, संविदन्=ज्ञानस्त्रमात्यर्थः ।

(३) तत्र=सुखसाधनत्वानुभवे सति । (४) तस्य=निवयान्तरे
बुद्धिसञ्चारस्य । (५) अनुभवत्वजातिपुरस्कारेणानुभवस्य भानमित्यर्थः ।

चेत्तर्हि 'स्वर्गमनुभवामी'ति भवत्येवेत्यवेहि । किंच, तन्नामव्य-
वसायनामग्यां 'सुखमनुमिनोमी'त्येवानुठयवमायो, विशेषोल्ले-
खतिरस्कृतत्वात् सामान्योल्लेखस्य, अन्यथा "गौरि"तिज्ञाने
मत्त्व-द्रुठयत्वपृथिवीत्वादीनामनुठयवमायोल्लेखः स्यात्, एव(१)
सैकोपकारके ग्राह्ये नेोपकारा, स्ततोऽपरे दृष्टे तस्मिन् दृष्टा ये
तद्गृहे सकलग्रह इत्यप्यापद्येत । * तथाप्यनुमित्यादाद्यनुभवत्वे
किं प्रमाणम् ? *-इति चेत्, बहुधाद्यनुमित्यादौ कदाचिद्दृष्टि-
नुभवामीत्याद्यनुगतमतिरेव । निर्विकल्पके(२) एवानुभवत्वेना-
भ्युपगम्यमाने कथमनुगतमतिभङ्गा न दर्शितः ? , किं "माघ-
मासीयनिशावसाने" इत्यादिकादम्बरीगद्येन ? , तथापि प्रप
घ्नान्तर्गतत्वे नैवानुभवत्वस्य खण्डितत्वादिति हृदयम् ॥

सू० "यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव
स्यात् तर्हि सुखं दुःखं चानुभवामीति तयोः प्रत्ययः
स्यात् । अथ मन्यसे- *साक्षात्कारमनुभवार्थमनुरुद्ध
तयोर्नैवमधिगमव्यवहारौ, शब्दजानुमानापेक्षौ तु
विमर्शकस्य(३) स्यातामेव तौ *-इति,

टी० पूर्वप्रघटकेनानुठयवसायाभावं ठयवस्थाप्य संप्रत्यनु-
ठयवसायमापादयति-। "यदि त्वि"ति । तथाच नेष्टापत्तिरिति
भावः । यद्वा, ननु "स्वर्गकामो माघे सितामिते स्नायादि"तिश
कृदेन सितासितस्नानं स्वर्गमाधनमितिमात्रं प्रतीतं, स्वसंबन्धिता
च तस्याऽऽनुमानिकी; तथाहि-मितासितस्नानं मन भाविस्व-
र्गजनकं, स्वर्गकारुयैतादृशस्नानत्वादित्यनुमितेस्तत्प्रमहेः; तथा
च "सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये"-इत्यस-

(१) गौरितिज्ञानेऽविषयाणां वत्त्वादीनामपि भावाङ्गीकारे गौरिति
ज्ञानमेवैकमुपकारकं यस्य गोत्वलक्षणग्राह्यस्य तदुपरि न गौरितिज्ञान-
नकृतेोपकारविद्धिः, तथा च तस्मिन्=गोत्वलक्षणे ग्राह्ये दृष्टेपि येऽपरेऽ
दृष्टा घटपटादयस्तेषामपि ग्रहणेन चार्थस्यप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः । सैको-
पकारके ग्राह्ये नेोपकारा इत्यस्य, एकं यदुपकारकं गौरिति ज्ञानं तत्र
न ग्राह्योपकारकत्वविद्धिरिति वाऽर्थः ।

(२) दोषान्तरमप्याह-निर्विकल्पके इति ।

(३) विमर्शकस्य

कृतमत जाह—। “यदि त्वि”ति । यत्र शब्दोपदर्शितपुनभिप्राये^(१) या ठयातिरिष्टसाधनत्वेन सह, सैव शब्दोपदर्शितव्याप्तिरित्यर्थः ॥
 “अनुभवार्थेति”ति । अनुभवशब्दस्यार्थमित्यर्थः । यत्र सुखदुःखे साक्षात्क्रियमाणे नत्रैव तयोरनुभवानीतिप्रत्ययः सर्वसाधारणः, परीक्षकस्य तु तदनुमानयो^(२)रपि तादृशः प्रत्यय इष्ट एवेति शङ्कार्थः ॥

म० “तर्हि साक्षात्कारिणि ज्ञानेऽनुभवप्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्स्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे, इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः । ‘अथ^(३) * स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः स साक्षात्कारित्वादानुपपन्नः, ततश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिविशेषेषु साधारणमनुभूतित्वमन्यदेवैष्टव्यम्* इत्युच्यते, तदपि न युक्तं, ‘पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा तत्र तदेव^(४)रूपं निमित्तं, नतु जातिः काचित्तदनुरोधात् कल्प्यते, तथा^(५) सत्यनक्षपदार्थेभ्यो घटा-

विचारकस्य, तौ=अधिगमव्यवहारौ, स्यातामेवेत्यर्थः । (१) अत्र घटकत्वं विषयत्वं वा सन्तभ्यर्थः तथाच पुरुषाभिप्रायघटकीभूता तद्विषयीभूता वा या व्याप्तिरिष्टसाधनत्वरूपेण साध्येन सह स्वर्गकास्यैतादृशज्ञानत्वलक्षणस्य लिङ्गस्य सैव शब्दोपदर्शितव्याप्तिरित्यर्थे निरूपणः ।

(२) तदनुमानयोः = सुखदुःखविषयकानुमानयोः । (३) “अनुभवोऽनुभव”-इत्यनुगतव्यवहारादिकार्यलिङ्गेन किञ्चित्कारणमनुमीयते, न तत्साक्षात्कारित्वमननुगमादतश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिसाधारणमनुगतव्यवहारकारणं कल्पनीयं, सानुभूतित्वजातिरेव परिच्छेदात्सिद्धयतीत्याशङ्कते-अथेति-इति तु विद्यासागराः । (४) तदेव, इतरव्यावृत्तत्वमेवेत्यर्थः । (५) तथा सति=तत्कल्पने, अनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेनाऽनक्षभिन्नत्वादिना रूपेण पाशविभीतकेन्द्र्यादिष्वनुगताऽक्षत्रजातिकल्पनापि प्रसज्येतेत्यर्थः ।

दिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावग-
मादक्षत्वादिजातिकल्पना प्रसज्येत ।

† इतोपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः ।
“तथाहि-‘घटः स एवायमि’ति तावत्प्रत्यभिज्ञा
जायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्?—१ एक-
मेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः ?—२ उत
स्मृतिरेव ?—३ आहोस्विदनुभव एव ?—४ ।

टी० । “तर्ही”ति । मत्प्यनुभवत्वे तयवहारार्थं साक्षा-
त्त्वमवश्यापेक्षणीयं चेत् किमनुभवत्वेन ? विमर्शकस्य तु साक्षा-
त्त्वमन्तरेणाप्यनुमानादी तद्व्यवहाराभ्युपगमेऽननुगम एवेति
परिहारार्थः ॥ ननु साक्षात्त्वनिबन्धनमेव ना^(१)नुभववामीनि-
ठयहारं ब्रूमः, किंतु स्मृतिभिन्नेषु ज्ञानेष्वनुभवतयवहारो न विना
जातिमित्याक्षमहे; सुखदुःखानुभवयोस्त्वनुभववामीतिठयवहारः
साक्षात्त्वैकार्थसमवायाधीन^(२)इत्युक्तमिति शङ्कते- । “अथे”ति ॥
तर्हि स्मृतिभिन्नज्ञानत्वमेव तत्रतत्र निमित्तमस्तु किमनुभवत्वे-
न ? अन्यथा पाशविभीतकेन्द्रियादावप्येकमक्षत्वमामान्यमभ्यु-
पगम्येतेत्याह- । “पदार्थान्तरे”ति ॥

सङ्करभयादप्यनुभवत्वं न जातिरितिदर्शयितुं प्रत्यभिज्ञा-
नखण्डनमवतारयति- । “तथाही”ति ॥

मू० “आद्ये, य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थावि-
शिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते स न स्मृता-
वन्तर्भावयितुं शक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानु-

प्रत्यभिज्ञात्मके ज्ञाने सङ्कीर्णत्वात् सम्भवेत् ।
† { स्मृतित्वं वाऽनुभूतित्वं जातिरेतदयोच्यते ॥ १५ ॥ }
{ नृसिंहाकारवक्त्रव्यवहारणानुभवात्मकम् ।
प्रत्यभिज्ञा नचास्त्येकं ज्ञानमित्यपि चेऽद्यते ॥ १६ ॥ }

(१) न ब्रूमः-इति मन्बन्धः । (२) अननुभवत्वेन सह साक्षात्त्वस्य
य एकस्मिन्ननुभवसङ्घेऽर्थे समवायस्तदधीन इत्युक्तं न्यायग्रन्थेष्वित्यर्थः ।

पनेयत्वात्^(१) । ^bअत एव न तृतीयः । नाप्यनुभवेऽन्तर्भावियतुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असंवेदनात्; 'संवेदने वा'ऽनुभव एवे'ति शेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूष्यते । ^dअत एव न द्वितीयः । प्रागवस्थाविशिष्टाऽभिन्नत्वांशेऽनुभवत्वस्वीकारश्चेत् प्रागवस्थावैशिष्ट्यमप्यनुभवविषये एव निविष्टमिति चरमपक्षे प्रवेशः । 'अथ * 'प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्नः' इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशः, तत्र 'प्रागवस्थाविशिष्टः'-इत्यत्रांशे स्मृतित्वम्, 'अभिन्नः'-इत्यंशे चानुभवत्वम् *, -इत्युच्यते ।

टी० । "आद्ये" इति । तत्तावैशिष्ट्यमात्रे संस्कारमात्मर्थेऽपि तद्विशिष्टाभेदग्रहे^(२) तदमात्मर्थ्यादिन्द्रियस्यापीदन्ताविशिष्टमात्रग्रहमात्मर्थेऽपि^(३)प्रतियोगिनस्तत्ताविशिष्टस्यानुपस्थितौ 'मेवमित्युभयाभेदावगाहनं न स्यादित्यर्थः ॥ अतिदेश्य^(४)तस्मिन्निधानमौक्येऽन्मध्ये एव स्मृतिरेवेनितृतीयं पक्षं निरस्यति-। ^b"अत एवे"ति । अभेदांशज्ञानस्य स्मृतावन्तर्भावियतुमशक्यत्वादेवेत्यर्थः ॥ "संवेदने वे"ति । यदि तत्तेदन्ताविशिष्टस्यानुभवविषयत्वं, तदा 'अनुभव एवे'ति चतुर्थपक्षप्रवेश एवेत्यर्थः ॥ नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञानमिति प्राभाकरस्त निरस्यति-। ^d"अत एवे"ति । स्मृत्यंगानुभवांशाभ्यामभेदस्याऽसंस्पर्शादेवेत्यर्थः ॥ अभिन्नत्वमिदन्ताविशिष्टत्वं च द्वयमेवानुभवविषयो नतु प्राग-

(१) संस्कारानुपनेयत्वात्, संस्काराविवक्ष्यत्वादित्यर्थः । (२) तद्विशिष्टाभेदग्रहे=तत्तावैशिष्ट्यविशिष्टेन सहेदन्ताविशिष्टस्यःभेदग्रहे ।

(३) अत्र "ततः"-इति पदमध्याहृत्य ततोऽनुपस्थिताविति स्वस्वन्धः । प्रतियोगिनः=तत्ताविशिष्टस्येदन्ताविशिष्टेन येऽभेदस्तत्प्रतियोगिन इत्यर्थः । (४) अभेदांशज्ञानस्य स्मृतावन्तर्भावियतुमशक्यत्वज्ञानं यद्-व्यवसतिदेश्यं, तत्सन्निधानस्य=तत्प्रतिपादनस्य, सुकरत्वादित्यर्थः ।

स्रव्याविशिष्टत्वमपीति नानुभवमात्रं प्रत्यभिज्ञेति शङ्कते-
“अथे”ति ॥

मू० “एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स^(१), इदन्त विशिष्टो,
ऽभिन्नश्चायम्, -इति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवति,
‘प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया त्वभेदः केनापि न प्र-
काशित इति ‘य एव प्रागवस्थाविशिष्टः, स एवा-
यम्’-इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात् । * ‘अ-
थानुभवेन योसावनुभूयमानधर्म्याश्रयतयाऽभेदो बो-
धितः स कोट्यन्तर^(२)मनालम्ब्य न पर्यवस्य-
तीति^(३) केनचित्खलु कस्यचिदभेदो भवति, ततः
स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात् कोट्यन्तरं प्रागव-
स्थाविशिष्टरूपमालम्बते, इत्यभेदस्य प्रागवस्थावि-
शिष्टाश्रयतया सिद्धिरिति * । तदेतत्तुच्छतरम् ।
‘कोट्यन्तरमालम्बते इति किंकोट्यन्तराश्रितो भवति?
(४), उतकोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायते इति ? । नाद्यः ।
अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्टधर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ
पूर्वं प्रागवस्थाविशिष्टं दन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात् ।
द्वितीये तु यदेव कोट्यन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्न-
धर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत् स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यं,
नाप्यनुभवांशे, इत्युक्त एव दोषः ।

टी० ॥ विशकलितमेव प्रत्यभिज्ञानं स्यादिति परिहरति-
“एवमि”ति ॥ तदेव विशदयति- । “प्रागवस्थे”ति ॥ इदन्ता-

(१) स इति प्रागवस्थाविशिष्टोऽयमितोदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चेति
स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवतीत्यर्थः । (२) कोट्यन्तरम् = तत्तावि-
शिष्टं प्रतिशोभितम् । (३) इतिशब्दो यस्मादित्यर्थे, यस्मात् केनचि-
त्कस्यचिदभेदः = किञ्चिदनुयोगिकः किञ्चित्प्रतिशोभितोऽभेद इत्यर्थः ।

(४) कोट्यन्तराश्रितो भवति = कोट्यन्तराश्रिततयोत्पद्यते ।

विशिष्टधर्मिह्यभेदानुभूयमानः स्मर्यमाद्यतत्ताविशिष्टधर्मिप्र-
तियोगिक एव पर्यवस्यतीति न प्रत्यभिज्ञाया विशकलितत्वं,
न चाऽनुभवमात्रत्वमिति शङ्कते-। “अथे”ति ॥ प्रत्यभिज्ञान-
काले तत्तदन्ताविशिष्टाऽभेदपर्यवसानाभिधानं पूर्वं तयोर्भेदमा-
क्षिपतीति तत्तु च्छमेव; अथ, प्रत्यभिज्ञाकाले तयोर्भेदो भासते
एवेत्युच्यते, तत्र स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यां प्रत्येक तज्ज्ञानमनुप-
पन्नमेवेत्युक्तमिति परिहरति-। “कोट्यन्तरे”ति ॥

सू० “किंच, यदा च प्रभिज्ञानं “स” इत्यंशे स्मृतिः, “अ-
यम्” इत्यंशे चानुभव, इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते तदा
धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः । तथा-
हि- संस्कारेण तत्तामात्रं चो^(१)पनीयते ? तत्ताविशि-
ष्टो वा धर्मो ? । आद्ये “स” इति प्रत्यभिज्ञायाः
शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोप-
नीतत्वात् । नापि द्वितीयः । तथा सति ‘अयमि’-
त्यनुभवांशेपि धर्मिप्रकाशे वक्तव्य एव, अन्यथा
इदन्तामात्रप्रकाशे “ऽय^(२)मि”ति तच्छरीरं न स्यात्,
एवं च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्मिप्रतीतिहेतो-
रुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञाना-
भ्यामुत्पत्तव्यम् ? तत कारणद्वयसम्भेदाद्भेदमात्र-
भाजा ज्ञानेन ? । प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्यैकज्ञानव्य-
क्तताभ्युपगमव्याघातः, ‘भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च ।
द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वमप्यनुभवत्व-
मपीत्यनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयापि
नियमो भग्नः ।

(१) चकारो वाकारार्थे । (२) अयमित्येवंरूपेणैदन्ताविशिष्टतया
धर्मिण उपस्थितिर्न स्यादित्यर्थः ।

टी० नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञाननित्यत्र दोषान्तरमाह-।
 “किंचे”ति । प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्विषयांशाव-
 च्छेद्भेदेन कृतिव्याख्या, तत्र तत्तदन्तयोर्विषययोरमाङ्ग्येण कपि-
 मयागं^(१)प्रति शाखाभूतयोर्गिवावच्छेदकत्वमस्तु, तदुपविशि-
 ष्तस्तु धर्मो द्वाभ्यां स्मृत्यशानुभवाशाभ्यां विषयीकर्त्तव्य, इति
 (२)द्वयमप्यवच्छिन्द्यादिति धर्मिविषयनया स्मृतित्वानुभूतित्व
 सङ्करो दुर्वारः स्यादित्यर्थः । सयोग^(३)प्रतिबन्दी तु न भवति,
 तस्यापि खण्डनानन्तवादिति भावः ॥ “भेदपक्षोक्तदूषणापा-
 त”इति । अभेदस्योभयारेकेना^(४)प्यविषयीकरणम्-इति दूषण-
 नित्यर्थः ॥

सू० “अथोच्यते* मा भृद्विषयोपाधिभेदाद्भवस्थानमुपाध्य-
 न्तगत्तु भविष्यति, तद्यथा :-संस्कारजत्वमादाय
 स्मृतित्वव्यवस्थितिरिन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चा-
 नुभवत्वव्यवस्थानम्, इति विरोधपरिहारोस्तु * ।
 न । प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपताया विष-
 य^(५)व्यवस्थित्यैवोपगमेनोपाध्यन्तरोपन्यासेपि स्मृ-
 तित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात्
 प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव^(६) । किंच, ज्ञानवि-
 कल्पानामध्यात्मं भावाभावसंश्लेषेनात् स्मृतित्वानु-

(१) कपिउयोगतदभव वै प्रतीति तु परमार्थः । (२) इतिहेतुः स
 धर्मो द्वयम् = स्मृतित्वमनुभूतित्वं च, अत्रचिद्व्यात् = स्मृतिव्यावच्छेद्य-
 तानिरूपितावच्छेदकत्वेन सपादयेदित्यर्थः (स्मृतित्वानुभूतित्वोभयव-
 च्छिन्नो भवेदिति यावत्) तथाचैकधर्म्यवच्छेदेन सङ्करोपशान् भावः ।

(३) नन्वेवं संयोगतदभावयोरप्येका वृत्तलक्षणो धर्मो संयोगतदभावाद्यु-
 भावरयमच्छिन्द्यात्तथा च संयोगतदभावयोरपि मिथः सङ्कृत्यै-संयोग-
 वति । प्रदेशे तदभावोऽभवति प्रदेशे च संयोग इति सगद् इत्यत
 आह-संयोगेति । तस्यापि = संयोगस्यापि । (४) उभयोः स्मृतानुभव-
 योर्मध्ये एकतरेणापि (स्मृत्या, अनुभवेन वा) इत्यर्थः । (५) विषयव्यव-
 स्थित्या=विषयतयःत्वात्तथात्वव्यवस्थया, उपाध्यन्तरोपन्यासे = इन्द्रिय-
 जत्वसंस्कारजत्वयोपाध्युपन्यासे । (६) “प्रसज्येत”-इति शेषः ।

भूतित्वयोर्द्वयोरपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतःप्रतिभासेन
विषय^(१)निरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरि-
दन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकज्ञानममादेशेऽपि संस्कार-
जतत्वेन्द्रियजत्वाभ्यामवच्छेदकाभ्यामविरोधो भविष्यतीत्याह-
“अथोच्यते” इति ॥ ^b“न । प्रमात्वे”ति । साक्षात्त्वादिना परा-
परभावाऽनुपपत्त्या^(२)प्रमात्वाप्रमात्वे न जाती, किं नहि ? विष-
यनशात्त्वानशात्त्वनिश्चयानुपाधी, तद्यदि स्मृतित्वानुभूतित्व-
योर्विषयावच्छेदभेदेन वृत्तिर्न स्यात्तदा तयोः प्रमात्वाप्रमात्व-
योरेरपि तथा^(३) न स्याद्, इत्येकस्मिन्नेव विषये तज्ज्ञानं प्रमा
चाऽप्रमा च स्यात्; नहि स्मृतिश्च नाऽप्रमा, यथार्थानुभवश्च न
प्रमेत्यर्थः ॥ “किंचे”ति । ज्ञानविकल्पानां=ज्ञानवैधित्याद्याम्,
अध्यात्मम्=आत्मन्यधिकरणे, भावाभावसंवेदनात्=सदरूपसं-
वेदनान्, मानमेव प्रत्यक्षेण समुत्पन्नमात्रे प्रत्यभिज्ञाने विषय-
व्यवस्थामनपेक्षयैव तत्तं दन्तासामानाधिकरण्येन स्मृतित्वानुभू-
तित्वयोर्द्वयप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥

सू० “यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वं, तदा तस्यैव
विरोधे^(४)ऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्यायो-
पाधिरुपन्यस्यते-इति नान्यस्य चेतसि निविशते^(५) ।
^bअथाऽन्यत्स्मृतित्वं नाम*, तदाप्यनुपपत्तिः ।

(१) विषयेण निरूप्यते यथा विषयनिरूपणी, (विषयाधीनेति
यावत्,) सा चासौ व्यवस्थितिश्चेति तथा, तदनङ्गीकारे इत्यर्थः । स्मृ-
तित्वादेरित्यस्य पूर्वज्ञेयान्वयः, स्मृतित्वादेर्विषयनिरूपणव्यवस्थित्यनङ्गी-
कारे-इति । इदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात्, इदन्तायां स्मृत्या,
तन्तायां चानुभवेन ज्ञानप्रसङ्गादित्यर्थः । (२) यदि साक्षात्त्वपेक्षया
प्रमात्वं परं, तदा साक्षात्कारिणि भ्रमेऽपि प्रमात्वप्रसङ्गः; अथ प्रमात्वा-
पेक्षया साक्षात्त्वं परं, तदा प्रमात्मकपरोक्षानुमित्यादावपि साक्षात्त्व-
प्रसङ्ग इति साक्षात्त्वेन प्रमात्वस्य परापरभावानुपपत्तिर्नृष्टया ।

(३) तथा=अवच्छेदकभेदेन वृत्तिः । (४) विरोधे=नाङ्गुल्ये । विरोधसा-
मञ्जस्याय = साङ्गुल्यरूपदोषपरिहाराय । (५) ‘आत्माश्रयादि’तिशेषः ।

‘तथाहि-संस्कारजत्वं = संस्कारादनन्तरं’ नियमेन भावः, नियतत्वं च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं ग्राहकमक्रोडीकृत्या^(१)संभवीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यं, तथाच संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः, स्मृतित्वव्यवस्थितौ संस्कारजत्वम्, इत्यन्योन्याश्रयः । “तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव । अपिच, स्मृत्यनुभवयोर्ये कारणसामग्र्यौ, ते प्रत्यभिज्ञायां सन्तत्ये ? न वा ? । न चेत्कथमंशतोपि स्मृतित्वमनुभवत्वं च प्रत्यभिज्ञानस्य ? । एवमेव^(२) तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् स्मृत्यनुभूत्याः ‘स एव सङ्करः । प्रथमे तु पृथगेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्यं समर्थत्वात् सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात् ।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वं न संस्कारजन्यत्वादप्यत्, तथाच संस्कारातीन्द्रियत्वे तदप्यतीन्द्रियमेवेति न तत्रेदन्तामाधारशयेन स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्यहणप्रसङ्ग इत्याशङ्काह- । “यदि चे”ति । प्रत्यभिज्ञायां केनावच्छेदेन संस्कारजत्व ? , केन चेन्द्रियजत्वम् ? , इत्येव विचार्यते, तत्र च संस्कारजत्वावच्छेदेन संस्कारजत्वं व्यवस्थापयितुमशक्यमित्यर्थः ॥ ननु स्मृतित्वं जातिवा, ततेऽन्तरे ज्ञानत्वमुपाधिवा, तदवच्छेदेन संस्कारजत्वं स्यादित्याह- । “अथे”ति ॥ स्मृतित्वावच्छेदेन संस्कारजत्व, तदवच्छेदेन प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वम्, इत्यन्योन्याश्रयसाह- । “तथाही”ति ॥ “तस्मादि”ति । तत्तांशेऽनुभवत्वमिदन्तांशेऽपि स्मृतित्वमिति कुतो नरसिंहाकारत्वमित्यर्थः ॥ सामग्रीभेदेन

(१) अक्रोडीकृत्य = अविषयीकृत्य । (२) एवमेव = संस्कारजत्वादिकमन्तरैव, तथात्वे = स्मृतित्वाद्यङ्गीकारे, अतिप्रसङ्गात् = स्मृतावनुभूतित्वस्याऽनुभूतौ च स्मृतित्वस्य साङ्ख्यप्रसङ्गादित्यर्थः ।

कार्यभेदनाह—। “अपिचे”ति ॥ “स एवे”ति । सामस्त्येनैव प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥

सू० “अथ* यत्र^(१)ते पृथग्जायेते तत्र पृथगेव कार्यं, प्रत्यभिज्ञायां तु तयोर्युगपज्जातत्वेन सम्भूय जननात् करम्बितकार्योत्पत्तिः । ^१यद्यपि घटपटादिसामर्थ्योर्नैवं दृश्यते तथापि तद्विलक्षणस्वभावत्वाद् अनयोरीदृशत्वमुपपद्यते; “नहि एकस्य^(२), यादृक्, पदार्थस्य स्वभावस्तादृगऽन्यस्यापि सर्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गाद् *—इति । नैतदस्ति । “यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं ? न वा ? । न चेत्, परस्परमेलनलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी कार्यजननं प्रति, मिथः सहकारिभावविरहेणाऽप्रयोजकत्वात्; ततश्चाविशेषात्पृथगेव कार्यं प्रसज्येत । अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते, तदाऽनुभवांशेपि संस्कारस्य व्यापारः, स्मरणांशेष्यस्य, इति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोर्भवांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेष्यनुभूतिरनुभूत्यंशेषि स्मरणमिति सुवज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञाया^(३)मनुभूतित्वस्मृतित्वसङ्करेणेति । “नाप्यनुभव एवेतिपक्षः । “तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो, नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः ।

(१) यत्र ते=कारणसामुच्चैः पृथग् = अन्योन्यनिरपेक्षतया जायेते = उत्पद्येते तत्र पृथगेव कार्यं जनयतः, प्रत्यभिज्ञायां पुनस्तयोश्च संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयान्योन्यसापेक्षतया जननात् = कार्योत्पादकत्वात् करम्बितस्य = मिलितस्यैव कार्यस्य स्मृत्यनुभवोभयरूपस्योत्पत्तिरित्यर्थः । (२) एकस्य पदार्थस्य यादृक्स्वभाव इत्यन्वयः ।

(३) प्रत्यभिज्ञायाम् = प्रत्यभिज्ञैकदेशयोः स्मृत्यनुभूतयोः ।

टी० ॥ सामग्रीद्वयमसाजादेकमेव कार्यमित्याह— “अ-
थे”ति ॥ अन्यत्रापि तथाप्रसङ्गं वारयति— “यद्यपी”ति ॥
“अनयोरिति । स्मृत्यनुभवसामग्रोरित्यर्थः । हेतुत्वम्—एक-
कार्यजनकत्वम् ॥ ननु कथमेवमित्यत आह— “नही”ति ॥
परस्परनिरपेक्षयोः सामग्र्योः समाजे कार्यभेदः, सापेक्षयोः समाजे
कार्योवैचित्र्यं, वैचित्र्ये वा सामग्र्य (१)प्रत्यभिज्ञानं स्मृत्या-
कारमनुभवाकारं च भवेदित्याह— “यत्र ही”ति ॥ नैयायि-
कमतमास्कन्दनि— “नापी”ति ॥ “तथा सनी”ति । संस्का-
रेन्द्रियाभ्यां मिलित्वा प्रत्यभिज्ञालक्षणोऽनुभवे प्रच्यते, तत्र
तत्तावैशिष्ट्यांशे संस्कार, इदन्तावैशिष्ट्यांशे चेन्द्रियमस्तु
कारणं, तत्तावैशिष्ट्योपरक्ताभेदांशे नैकस्यापि सामर्थ्यं, संस्कारस्य
तद्गोचरत्वादिन्द्रियस्य च तेन समसन्निकर्षादिन्यर्थः । अभेदा
हि नात्र स्वरूपमात्रं, किं नाम तत्तावैशिष्ट्यप्रतियोगिकान्योन्या-
भावात्प्रत्यभिज्ञाभाववत्त्वं, तच्च प्रतियोगिघटितमूर्तिवत्त्वं तदन्निक-
र्षा(२)दन्निकृष्टमेवेति भावः ॥

सू० * “नच संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या संबद्धविशेषणतया
तद्ग्रहः * । क्वचित् ‘सोऽयं नवे’ति ‘तर्हि संशयो न
स्यात् । * ‘दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो, न संबद्धविशेष-
णत्वाद् ? *—इति चेत्, “विनापि संस्कारं दोषवशा-
त्तदापत्तेः(३) । ‘वस्तुप्रकाशिनि च दोषवाचोयुक्तव-
निरुक्तेः । क्वापि तस्याऽवस्तुप्रकाशित्वाद्दोषत्वे
कथमज्ञादेरपि तन्न स्यात् । “विशिष्टत्वेन तथात्वस्य
प्रकृतेऽप्यपरिहारः ।

(१) सामर्थ्यं = सामग्र्योनिष्पाद्यं समस्तमपि प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः; “सम-
ग्रमिति पाठे तु राजमार्ग एव समस्तमित्यपदान्तरस्य तत्राऽकल्पनात् ।
यद्वा समग्रमेव सामर्थ्यमिति स्वार्थे व्यञ्ज । (२) तदन्निकर्षात् = तेन
प्रतियोगिना सममिन्द्रियस्याऽवन्निकर्षात् ।

(३) तदापत्तेः = संशयापत्तेः ।

टी० ॥ नन्विन्द्रियैव संयुक्तसंयुक्तसमवेतविशेषणविशेष-
णनया प्रत्यामत्तया तदुपरक्ताभेदश्च भासतां, तथाहि-इन्द्रिय-
संयुक्त मनः, तत्संयुक्त भात्मा, तत्समवेन. संस्कारस्त, द्विशे-
षणं च घटः, तद्विशेषणं च तत्ताविशिष्टाभेदः-इतिशङ्कां निर-
स्यति-। “नचे”ति ॥ अनया प्रत्यामत्तया सर्वत्र तत्तोपरक्ताभेदस्य
प्रसैव स्यान्न तु संशय इत्याह-। “तर्ही”ति । पूर्वानुभूते प्रत्या-
मत्ते. सत्त्वान्त्रिंशद्य एव स्यादननुभूते तत्तोल्लेखानुपपत्तेरि-
त्यर्थः ॥ ननु दोषमाहात्स्यात्संशय एवात्पद्यते, न निश्चयः,-
इत्याह-। “दोषे”ति ॥ संस्कारनिरपेक्षस्य दोषस्य तथासंशय-
कारणत्वेऽतिप्रसङ्ग-इत्याह-। “खिनापी”ति ॥ दोषान्तरमाह-।
“वस्त्व”ति । ‘भेय नवे’तितत्तेदन्ताविशिष्टाभेदस्य वस्तुने
भानात् कथं दोषस्तत्कारणं स्यादित्यर्थः ॥ ननु प्रकृतेन दोषेण
यदि वस्तु प्रकाशितमेतावतैव कथमस्याऽदोषत्व, यावता तेन
पित्तादिना दोषेण ‘पीतः शङ्कुः’-इत्यादाववस्तवपि प्रकाशितं
प्रकृतसंशयस्यैव वा कोऽप्यन्तरमवस्तवेवेत्याशङ्काह-। “क.पी.”
ति । क्वचित्काऽवस्तुप्रकाशाधीनं यदि दोषत्व तदेन्द्रियशब्द-
लिङ्गादीनामपि दोषत्वं भवेदित्यर्थः ॥ ननु पित्तादिविशिष्टस्ये-
न्द्रियादेर्दोषत्वं, ननु केवलस्य, तथाच नागृहीतविशेषणा(१)
न्यायेन पित्तादिकमेव दोषो, नत्विन्द्रियादिकमपीत्याशङ्काह-।
“विशिष्टत्वेने”ति । एवं सतीन्द्रियादिविशिष्टस्यैव पित्तादेरपि
अमजनकत्वेन दोषत्वमिति नागृहीतविशेषणान्यायादिन्द्रिया-
देरेव दोषत्वमायातं, ननु पित्तादेरित्यर्थः । तथात्वस्य=दोष-
त्वस्य, प्रकृतेपि-इन्द्रियादावपीत्यर्थः ॥

सू० “नहि विनैव कुतोपि विशेषादस्याऽवस्तुप्रकाशिता,
सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात्प्रेक्षा-

(१) “नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसङ्कामति”-इतिन्यायेनेत्यर्थः ।

वत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः । *वस्तुविषयत्वेपि दोषा-
दनिश्चयता ? * इति चेन्न । *वस्तुतस्तस्या^(१)सङ्की-
र्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशित-
मिति कुतस्तदनिश्चयता । *निश्चयार्थस्य च संश-
यकोटावखण्डने संशये तदभावाधिकग्राहित्वेपि नि-
श्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेव, अभावनिश्चयः कोट्यन्तरं
केवलमधिकं स्यात् ।

टी० ॥ ननु भवेदेव यदि पिप्तादिकनिन्द्रियादिसाहित्ये-
नैव अमं जनयेदित्यत आह—। “नही”ति । अस्य=पिप्तादेर्दो-
षस्य, कुतोपि विशेषादिन्द्रियादेर्विना नावस्तुप्रकाशकत्वमि-
त्यर्थः ॥ ननु संशये विपर्यये वा धर्मी वस्तुभूतोऽस्तु, तथापि
ताभ्यां^(२)न न प्रकाशयते, किंत्वनीकमेव किञ्चित्प्रकाशयते, तथा
चावस्तुभानात्तत्प्रकाशकयोस्तयो^(३)र्जनकः न कथं न दोषः
स्यादित्याशङ्काह—। “सत्यप्यर्थे” इति । वस्तुमात्रं संशयस्य वि-
षय-इतिजानतां प्रेक्षावतां क्वचिदपि संशयात् प्रवृत्तिनिवृत्ती न
स्यातामित्यर्थः । यद्वा, वस्तुनो=धर्मिणोऽप्यज्ञाने कुत्र संशयः
प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ ननु प्रवृत्त्यनुरोधात्संशयस्यास्तु वस्तुविष-
यता, यत्पुनरयमनिश्चयाकारस्तत्र दोष एव तन्त्र, तथाच
निश्चयप्रतिबन्धकत्वमेव दोषत्वमित्याह ।— “वस्तुविषयत्वे-
पी”ति ॥ धर्मी तावन्न सङ्कीर्णः=न स्थाणुपुरुषोऽज्ञयात्मा, किंत्वे-
करूप एव, तथाच वस्तुतो यद्रूपो धर्मी तत्र संशयो निश्चय-
रूप एवेति क्लायमनिश्चयो येन निश्चयप्रतिबन्धकतया तज्जनको
दोषः स्यादित्याह—। “वस्तुत” इति ॥ ननु भवेदेवं निश्चयो
यदि पुरुषे धर्मिणि पुरुषत्वमात्रमुल्लिखेदपितु स्थाणुत्वं पुरुष-
त्वाभावं वाऽज्ञास्तवमधिकमुल्लिखन्न निश्चय इत्यत आह—।

(१) नद्य = धर्मिणः । (२) ताभ्याम् = संशयविपर्ययाभ्याम् ।

(३) “अवस्तुमात्रप्रकाशकयोस्तयो” इत्यपि पाठः ।

“निश्चयार्थस्ये”ति । निश्चयस्य योऽर्थो विषयः—पुरुषत्वविशिष्टो धर्मो, स चेद्वाचकप्रत्ययेनाखण्डितस्तदा तत्र नायमनिश्चयो, ऽधिकं तु यद्भ्रामते तत्राप्ययं विपर्ययरूपो निश्चय एवेत्यर्थः ॥

सू० *जातिः संशयत्वं, तत्प्रयोजकश्च दोषः ? *—इति चेद्, “इदं तद्वा न वे”ति संशयकोट्यर्थनिर्द्देशसमन्वयेन वाशब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः । “प्रतीत्या सह वाकारार्थसंबन्धे, ‘प्रत्येमि न वे’तितदापत्तेः । “वाकारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेपि निश्चयत्ववत्^(१) ‘स्थाणुमानय पुरुषं वे’ति स्थाणुपुरुषगतपार्श्विकलोकव्यवहारानुपपत्तेः । ‘तस्माद् वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति ।

टी० ॥ नन्वेककोटिर्न निश्चयार्थिकद्वौ भयकोटिकनिश्चयोप्ययं विजातीय एवाभ्युपगन्तव्यः, तथाच संशयत्वमेव तत्र जातिरिति तदवच्छिन्नज्ञानाभाधारणकरणं दोष इत्याह—। “जातिरिति”ति ॥ संशयकोट्योरर्थो स्थाणुत्वपुरुषत्वे, तयोर्निर्द्देशः^(२) = स्थाणुशब्दः पुरुषशब्दश्च, तत्समन्वित^(३) एव वाशब्दः प्रतीयते व्यवहियते च, तेन स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरेवाऽऽयवस्थितत्वं वाशब्दार्थः, तथाच विषयवैलक्षण्यमेव निश्चयात् संशयस्य वैलक्षण्यं, नतु जानिकृतमित्याह—। ^b “इदं तद्दे”ति ॥ ननु प्रतीतिगतमेवाऽऽयवस्थितत्वं वाशब्दार्थो, नतु विषयावयवस्थितत्वं वाशब्दार्थ^(४) इत्यन आह—। “प्रतीत्ये”ति ॥ अत्रैव दोषान्तर-

(१) यथा निश्चयत्वस्य ज्ञानधर्मत्वेनार्थनिर्द्देशकशब्देन समन्वयो नास्ति तथा वाकारार्थस्याऽऽयवस्थितत्वस्य ज्ञानधर्मत्वे स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यर्थगतत्वेन प्रतीतिर्न स्यादिति भावः । “निश्चयवद्”ति त्वपपाठः ।

(२) निर्द्देश्यतेऽर्थेनेनेतिभ्युत्पत्त्या निर्द्देश्यपदस्य निर्द्देशकशब्दपरतामाह—निर्द्देश इति । (३) समन्वयः = सामानाधिकरस्यस्य, तथाच तत्समानाधिकृत इत्यर्थः ।

(४) “वाशब्दार्थः”—इत्ययं प्रायः पुस्तकान्तरेषु पाठो नोपलभ्यते ।

साह । “वाकारार्थस्ये”ति । संशयाद्विषये पाक्षिको व्यवहार इति वाकारार्थः । पाक्षिकत्वम् (= अव्यवस्थितत्व) विषयगतं, नतु ज्ञानगतमित्यर्थः ॥ “तस्मादि”ति । यद्यद्यवस्थितत्वं (वाकारार्थः) संशयगतं स्यात्तदा यथा विषये साक्षात्त्वं नानुभूयते तथा संशयविषयेऽप्यव्यवस्थितत्वं नानुभूयेतेत्यर्थः ॥

यद्यपि ज्ञानगतेनापि ज्ञानत्वानुभवत्वमाक्षात्वादिना ज्ञानोऽनुभूतः, साक्षात्कृत, इति विषयोऽप्युपरको गृह्यते, इति तद्वदेव संशयगतेनापि वाकारार्थेन विषयानुरञ्जनमस्तु, तथापि ‘साक्षात्कृत’ इति यथा तद्विषये सर्वत्र तदुपरागस्तथा धर्म्यशेषि वाशब्दार्थोपधानमिह स्यादिति भावः । अत्र प्रमङ्गलो दोषखण्डनं, संगयखण्डनं, वाकारार्थखण्डनं च कृतं; तत्र यद्यपि प्रमा-
ऽप्रमयोर्वैलक्षण्यदर्शनात्कार्यवैलक्षण्यस्य च कारणवैलक्षण्यप्रयो-
ज्यत्वात् प्रमाकारणविलक्षण कारणमवश्यमप्रमायामवगन्तव्यं, तच्च
नेन्द्रियादि, उभयमाधारणत्व’दित्यमाधारणं पित्तादिरेव तथा
वाच्यम्, तस्य चाऽननुगतस्यापि तत्तदप्रमाप्रयोजकत्वं गृहीत्वा
दोषवाचोयुक्तिः; प्रमाप्रतिबन्धकत्वेनाऽप्रमात्व’वच्छिन्नकार्यं ता-
प्रतियोगिक^(१) कारणतावच्छेदकरूपवत्त्वेन वा दोषपदशक्तिग्र-
हात्; स्व^(२) प्रमां प्रति कारणत्वेऽपि पित्तादेर्विषयत्वातिरिक्तं रू-
पेणाप्रमां प्रत्यमाधारणस्य विवक्षितत्वात्; एवं स्याणुत्वेन पुन-
रवत्त्वेन वा न निश्चिनोमि धर्मिणं किंतु सन्दिहानोस्मी’ति निश्च-
यविलक्षणस्य सर्वलोकरभिद्वस्य संगयस्य निश्चयत्वमापाद्यापटना-
वयितुमशक्यत्वं; कारणस्यापि समानधर्मदर्शना^(३) माधारणधर्म

(१) कार्यतानिरूपितकारणतेत्यर्थः । (२) ननु पित्तादेर्विषयस्य स्ववि-
षयकप्रमाजनकत्वमप्यस्ति तत्कथमप्रमाजनकतावच्छेदकरूपवत्त्वेनैव
तत्सिद्धिरित्यत आह-स्येति । (३) ममानो धर्मः स्यात्पुरुषयोः
सुस्तरत्वादिः, तद्दर्शनेन स्यात्पुर्वा पुरुषो वेति संशयः; अथाधारणो
धर्मः नित्येभ्योऽनित्येभ्यो व्यावृत्तं शब्दत्वं तज्ज्ञानतोऽपि भवति शब्दो
नित्यो नवेति संशयः; वादिनोर्विप्रतिपत्त्यनन्तरं मध्यस्थस्य जायमानः
संशयस्तु सिद्ध इवेति । समानधर्मदर्शनाद्यन्यतमस्य प्रतिस्वमनुभा-
दिति सम्बन्धः ।

दर्शनविप्रतिपत्तीनामन्यनस्य प्रतिस्वं निश्चयकारणविलक्षण-
स्याऽनुभवात्कार्यं च संशये विधिकोटिप्राधान्यं निषेधकोटिप्रा-
धान्यं वाऽनुभूयमानमवश्यं वाच्यम्, वाकारार्थश्च विरोध एव,
भवति हि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'तिशब्दश्रवणानन्तरं स्थाणुपुरु-
षविरोधज्ञानं, विरोधप्रतिमन्वायिन एवैनादृशः शब्दप्रयोग
इति; तथापि प्रपञ्चस्यहनयुक्तिः चापि गृहीतेति भावः ॥

सू० *नच प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्म-
नसा न ग्रहणं तत्र दोषवशा^(१)दित्यस्तु* । दोषे
सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्यात्मना, तस्य
मनसा, तस्य च बाह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षणे एव
तदर्थप्रकाशनियमोपपत्तेः कः प्रत्यासत्त्यपुरस्कार-
स्त्वन्मते स्यात् ? । 'यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमन-
पेक्ष्य तथा सन्दिह्यते तदाऽननुभूय 'प्रसृत्य वा तथा
सन्दिह्येत । 'वस्तुतस्तु, मनसा^(२)संस्काराग्राहिणा,
चक्षुरादिना चात्माऽग्राहिणा, तादृशप्रत्यासत्त्या
ग्रहणानुपपत्तेः^(३)नियमेन ।

टी० ॥ ननु प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तत्तानिश्चये न भवति,

(१) दोषवशात्प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणमित्यन्यः ।

(२) तादृशप्रत्यासत्त्या तत्तावैशिष्ट्यं मनसा गृह्यते ? चक्षुरादिना वा?,
न तावन्मनसा, तस्यात्मग्राहकत्वेपि संस्काराग्राहकतया तद्विशेषणत-
त्तावैशिष्ट्यग्राहकत्वायोगात्, नापि चक्षुरादिना, तस्यात्मग्राहकत्वा-
भावेन तत्त्वमवेतसंस्कारादिग्राहकत्वस्य सुतरामसम्भवादिस्पाह-मनसे-
त्यादिना । (३) यद्यपि "ग्रहणानुपपत्तेः नियमेन"त्येव प्रायः पुस्तकेषु
पाठ उपलभ्यते तथाप्यत्र प्रतिज्ञान्तरस्याप्रदर्शनात्सहेतुकप्रतिज्ञाप्रदर्श-
नपरौषैव "ग्रहणानुपपत्तिः नियमेन" इतिपाठेन भाव्यम्, "ईदृशप्रत्या-
सत्त्या ग्रहणानुपपत्तिनियमादि"ति तु "नियमेन"त्येतावन्मात्रस्यैव
व्याख्याकृतोऽभिप्रायप्रदर्शनं, नतु समग्रकङ्किकायाः, इति व्याख्याकृतो-
ऽभिप्रायाद्योऽविवृतिभित्त एव पाठप्रमादो लोकानामित्यालक्ष्यते । यथा-
श्रुतपाठदुराग्रहगृहीतान्तःकरणैस्तु प्रतिज्ञावाक्यमध्याहृत्य कथञ्चिद्योज-
नीयो ग्रन्थ इति श्रीमन्तो बुरुचरणाः श्री ६ राममिश्रशास्त्रिणः ।

दोषेण प्रत्यासत्तेस्तिरस्कृतत्वात्; आचारणधर्मदर्शनात्मन्देह एवेत्याह-। “नचे”ति । वास्तवी प्रत्यासत्तिः कथं दोषेण तिर-
स्करणीया ?, प्रत्युत तत्ताऽऽरोपार्थं पुरस्करणीयैव, स्मृत्याया
एव तत्तायाः ‘सोयं नवे’त्यत्रारोपादित्यर्थः । यद्यपि ‘इदं रज-
तनि’त्यारोपे शुक्तित्वेन मह मतोपि संयुक्तसमवायस्य दोषेण
तिरस्कारो दृष्टः, तथापि तस्यापि खण्ड्यत्वादिति भावः ॥
उक्तमेव द्रढयति-। “यदि त्वि”ति ॥ “प्रस्मृत्ये”ति । विस्मृत्ये-
त्यर्थः ॥ संस्कारद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासत्तया तत्ताभावे
‘सोयं नवे’तिसंशयानुपपत्तिमुक्त्वा प्रकृते संबद्धविशेषणताप्रत्यास-
त्तिरेव न भवतीत्याह-। “वस्तुतस्त्वि”ति । “नियमेन”-इत्य-
न्तेयं फक्किता । ईदृशप्रत्यासत्तया ग्रहणानुपपत्तिनियमादित्यर्थः ॥
सू० “तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे स्व-
ग्राह्यसंबद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात् ।

टी० ॥ अत्र हेतुमाह-। “तदिन्द्रिये”ति । ‘विशेषणता-
प्रत्यासत्तिः सर्वत्र स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति नत्व-
न्ये’तिनियमादित्यर्थः । प्रकृते च संस्कारो जेन्द्रियग्राह्य इति
तद्विशेषणतया तज्ज्ञानं न संभवतीत्यर्थः ॥ ननु नेयं व्याप्तिः
यद् विशेषणता स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति, प्राणरमना-
भ्यां गन्धरसविशेषाभावस्य प्राणरसनाऽग्राह्येऽपि द्रढ्ये विशेषण
तया ग्रहणाद्, अत एनां^(१) विशिनष्टि-। “तदिन्द्रियाग्राह्ये”ति ।
प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्य आश्रयो यस्य स तदिन्द्रियाग्राह्या-
श्रयको गन्धरसादिः, स प्रतियोगी यस्य गन्धाद्यभावस्य, तदितरत्
प्रमेयं यत्र विशेषणतया गृह्यते तत्रेयं व्याप्तिरिति न व्यभिचार
इत्यर्थः । यद्वा, “नियमेने”त्यत्रे योजनीयम् । तदिन्द्रियाग्राह्य-
ह्येत्यत्र नियतं तदिन्द्रियाग्राह्यत्व विवक्षितं, नतु काटाचित्कम् ।
अन्वयात् ऋषुषा कदाचिद्भूतलादि न गृह्यते इति तदाश्रयस्य^(२)
घटादेः भावो विशेषणतया गृह्यमाणोऽपि तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्र-
तियोगिकेतरौ न भवतीति सहचारदर्शनस्थलाभावाद् व्याप्ति-

(१) एनां=व्याप्तिम् । (२) तद् भूतलादि आश्रयो यस्येतिव्युत्पत्त्या
तदाश्रयस्येत्यर्थः ।

परिच्छेदः (१) कुत्र स्यात्?, तथाच तदिन्द्रियाग्राह्यत्वं तदिन्द्रियस्वरूपायोग्यत्वं विवक्षितं, तच्च नियमपदान्तभावेन निर्वहतीति भावः । प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्येधिकरणे यः प्रतियोगी समारोप्य निषिध्यते न एव तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकः प्रतियोगी, तस्य योऽभावस्तदितरत्रायं नियमः, तेन वायौ रूपाभावस्य चाक्षुषत्वमुपपद्यते । अन्यथा (२) घटादौ रूपाभावस्य रूपग्राहकेन्द्रियग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकत्वेन तद्ग्रहेऽपि वायुविशेषणतया न स्यात् । *वायौ रूपाभावप्रतीतिर्लक्षणा ? *,- इत्यनुपपन्नमेव, सर्वत्र तथाभावप्रमङ्गात् । यदि अन्यत्र योग्यानुपलब्धिपरिन्द्रियसहकारिणी, तदा प्रकृतपि समानं, वायावपि रूपानुपलम्भस्य प्रतियोगिमत्त्वविरोधित्वात् । नह्यतो रूपसमवाये ग्रहणावश्यमभावात् । केचित्तु 'नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्यो यस्याश्रयः (३) स्वेतरोलम्भकव्यतिरेकेऽपलम्भाविषयो, यथा परमाणौ पृथिवीत्वादि, नतु वायौ रूपादि, ततश्च तत्प्रतियोगीतरग्रहणे विशेषणतया व्याप्तिः'- इत्याहुः । यद्यपि घटादौ विशेषणतया तत्ताभानम-

(१) व्याप्तिपरिच्छेदः=व्याप्तेरवधारणम् । (२) अन्यथा, यत्किञ्चिदधिकरणकसमारोपितप्रतियोगीतरप्रतियोगिकाभावस्थले स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्तेर्नियमाङ्गीकारे-इत्यर्थः । (३) स्वग्रहदो दृष्टान्ते पृथिवीत्वादिपरो दाष्टान्तिके त्वभावाश्रयत्वाभिमतवस्तुपरः । यथा पार्थिवपरमाणौ पृथिवीत्वं स्वस्मात्पृथिवीत्वादितरस्य महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वलक्षणस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाविषयः नत्वेवं वायौ रूपादि स्वस्माद् रूपादितोऽतिरिक्तस्य महत्त्वलक्षणस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाऽविषयः, किन्तु रूपादिव्यतिरेकादेव, एवमेव यस्याऽभावस्याश्रयः स्वस्मादतिरिक्तस्योपलम्भकस्य व्यतिरेकेणोपलम्भाविषयः स्यात्तदीयप्रतियोगीतरप्रतियोगिकाभावग्रहणे एव स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतया व्याप्तिरित्यर्थः । रूपाभावपृथिवीत्वाभावयोरप्याश्रयौ, वायवाप्यपरमाणुलक्षणौ, भवतः स्वेतरोलम्भकस्य महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वस्य व्यतिरेकेण चाक्षुषोपलम्भाऽविषयत्वतस्तयोः स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्तामन्तरैकैव भानमित्यर्थः । यद्वा, यस्य=समारोपितप्रतियोगिनः, आश्रयः=आश्रयत्वेन संभतः,-इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थेऽग्रे "तत्प्रतियोगीतरग्रहणे"-इत्यस्य तस्मात्प्रतियोगिन इतरप्रतियोगिकस्याभावस्य ग्रहणे-इत्यर्थः ।

विरुद्धेषु, तथापि संस्कारविशेषणतया तावन्न भानमित्यर्थः ॥
 सू० “अन्यथाऽऽप्यपरमाण्वादी पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्य-
 तया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दूगादिभिर्गृ-
 ह्येत । “नहीन्द्रियविहारदेशेषु निष्परमाणुकत्वनि-
 यमो युक्ताभ्युपगमः । शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिनये
 श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षः, नतु तत्र
 संबद्धविशेषणतेत्यतोपि न व्यभिचारः ।

टी० ॥ उक्तव्याप्तौ विपक्षवाचकमाह -। “अन्यथे”ति ।
 यद्यप्यन्नाद्यग्रहे प्रतियोगिगोच्यतावदधिकरणयोग्यतापि नन्त्र
 भिति प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तद्विरहादेव न परमाप्तौ पृथिवीत्वा-
 भावग्रह इति, तथापि शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिनते नैतदिति
 भावः ॥ ननु पृथिवीत्वाभावेन संबद्धविशेषणतापि प्रकृते ना-
 स्तीत्यत आह-। “नही”ति ॥ “तदिन्द्रियाग्राह्यान्नयकं”त्या-
 दिविशेषणठ्युदस्तमपि व्यभिचारं प्रकारान्तरेणापि ठ्युदस्त्य-
 ति-। “शब्दाभावे”ति । व्यभिचारनिरासेऽयमपि प्रकार इत्य-
 पेरर्थः । ‘सप्तम’ इति संबद्धविशेषणतापेक्षया, विशेषणतया षष्ठ
 एव; शब्दसाक्षात्कारानुरोधेन यथा शुद्धमन्वाय, प्रत्यासत्तिरेवं
 शब्दाभावसाक्षात्कारानुरोधेन विशेषणताया अपि शुद्धायाः
 प्रत्यासत्तिवैपगमात् । संबद्धविशेषणताया एव यत्र ग्राहकत्वं
 तत्परं ठ्याप्त्युपदर्शनमिति भावः ॥

सू० * “नचात्मसंयुक्तमनः (१) प्रति “पूर्वानुभूतार्थात्म-

(१) वस्तुत एकैव ग्राह्यासत्तिर्विपक्षावगाद्ग्राह्यासत्तिग्राहकासत्ति-
 भेदेन द्विधा विभज्यते; तत्रात्मसंयुक्तमनः प्रति (=आत्मसंयुक्तमनवा
 वह निरुक्तमनसो वा) संस्कारः (=संस्कारलक्षणा, अर्थान् मनः संयुक्ता-
 त्मसमवेतसंस्कारलक्षणा) ग्राहकासत्तिः, (=अर्थग्राहकेण संस्कारेण समं,
 निरुक्तसंस्कारस्य वा सम्बन्धः,) तथा आत्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभू,
 तार्थात्मप्रत्यासत्तिरपि (=पूर्वमनुभूतो यावर्थात्मानो तयोः प्रत्यासत्ति-
 रपि) संस्कारः, (=संस्कारलक्षणा, अर्थान् मनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कार-
 विषयत्वलक्षणा) ग्राह्यासत्तिः, सोऽस्मिन्प्रत्यभिज्ञाया संस्कारः पूर्वानुभूता-
 त्मप्रत्यासत्तिः सोऽयं घट इत्यत्र तु पूर्वानुभूतार्थप्रत्यासत्तिरिति विभागः ।

प्रत्यासत्तिरेव संस्कारः इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्थो^(१)पगमादितिस्वीकृते निस्तारः*, 'तथा सति "स"-इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात्प्रत्यभिज्ञाया अचक्षुषत्वापातात् । "अयमि"त्यंशो दृगादिना, तदंश^(२)स्तु मनसा, गृह्यतां, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तते इति । 'एतेन 'संस्कारः सहकारिमात्रम् इन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः प्रत्यभिज्ञायां, तदयं^(३)इन्द्रियेणार्थसन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत्, सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्यवश्यम्भावमात्रं, तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, नतु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारिता' इत्यपि निरस्तम्, 'सोयं^(४)न वे'तिसंशयाभावापातेनैवेति ।

टी० ॥ ननु ना भूचक्षुषस्तत्तया सह संयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविशेषणताप्रत्यासत्तिरपितु यथा घटेन सह चक्षुषः संयोगस्तथा मनसस्संस्कार एव प्रत्यासत्तिरस्त्वित्यत आह—। "नचे"ति । संस्कारोऽसंबद्धः कथं मनःप्रत्यासत्तिः स्यादित्यत उक्तम्—"भात्मसंयुक्तमनः प्रती"ति । तथाच मनःसंयुक्तात्मसमवेतः संस्कारो मनःप्रत्यासत्तिरिति ॥ संस्कारग्राहकासत्ति^(५)निमित्ताय ग्राह्यासत्तिमाह—। "पूर्वानुभूते"ति ॥ एवं शङ्कायां परिहारमाह—। "तथा सती"ति । एतावतापि चक्षुषा मनःप्रत्यासत्तिर्नापपादितेति प्रत्यभिज्ञायाप्रचक्षुषत्वं न स्यात्, प्रत्युन मानसत्वं स्यात्, तथाच विरोध इत्यर्थः ॥ ननु तत्तांशे मानसत्वमिदन्तांशे च चक्षुषत्वमस्तु को विरोधः? इत्यत आह—।

(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया उपगमादित्यन्वयः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभिन्नप्रत्यासत्तेरतीन्द्रियत्वोपगमादित्यर्थः ।
 (२) तदंशः, तत्तांश इत्यर्थः । (३) तदर्थः, तच्छब्दार्थ इत्यर्थः ।
 (४) "एतेन" त्यस्यैवातिदेश्यमाह—सोयमिति । (५) संस्कारेणार्थग्राहकेण मनसः सम्बन्धमित्यर्थः ।

^d“अयमि”ति ॥ ननु यावत्प्रत्येतथयेन्द्रियमन्निकर्षान तन्त्रं, किंतु प्रत्येतथयेन्द्रियसन्निकर्षमात्रं, स चेदमशनैव, तदंशस्त्वऽमन्निकृष्ट एवभासते, तत्रानिप्रसङ्गः सहकारिणा संस्कारेण वारणीय इत्या-
शङ्काह-। “एतेने”ति ॥ ^e“सोयमि”ति । उक्तमामग्रीसत्त्वे निश्चय एव स्याद्, दोषस्य खड्गतत्वादिति भावः ॥

सू० “तदद्राक्षमि”त्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभवः स्यात्, मनस^(१) आत्मसंयोगमहकृतादथात्मसन्निकर्षात्संस्काराज्जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव; मनसात्मसंयोगादात्ममवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणै-
र्ज्ञानादिभिः स्मयंमाणस्याथस्याविशेषादिति ।
^bएतेन ‘तत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदा वाऽयं भाती’^(२)त्यपि निरस्तम् । अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्य-
वच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम् । एवं स्वरूपाभेदापि तयोरैक्यं तदनवगाहिना दुरव-
गममेव । “संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनु-
भवः स्यात् स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः ? । “अथ*
न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वं, किंत्वनुभवका-
रणासंपृक्तसंस्कारजत्वेन, ततश्चाधिकार्थात्सन्निक-
र्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, नतु स्मृतिः ?
*-इति चेन्न ।

टी० ॥ संस्कारस्य प्रत्यासत्तित्वपक्षे सहकारित्वपक्षे च दोषान्तरमाह-। “तदद्राक्षमि”ति । यथा ‘जानामी’त्यनुभवः संयुक्तमवायान्मानसस्तथा ‘अद्राक्षमि’तिस्मृतिरपि संस्कारल-
क्षात्तन्मिलितमेकेन सुग्रहम् । “अथ*
न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वं, किंत्वनुभवका-
रणासंपृक्तसंस्कारजत्वेन, ततश्चाधिकार्थात्सन्निक-
र्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, नतु स्मृतिः ?
*-इति चेन्न ।

(१) मनःप्रतियोगिकात्मसंयोगसहकृतात्पूर्वानुभूतायात्मसन्निकर्षाऽ-
भिज्ञानद्वैतकादा संस्कारालजायमानायाः स्मृतेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वा-
दनुभवत्वं स्यादित्यर्थः । (२) ‘इदन्त्वावच्छिन्ने’-इति शेषः ।

‘सोयं, नतु तद्विधर्मे’तितद्वैधर्म्याभावः संस्कारेन्द्रियान्यां प्रत्येकं मिलित्वा चोपनेतुमशक्यं (१) एवं ‘सोयं, न तदन्योन्याभाव-
वान्’एवं ‘न स्वरूपभिन्न’ इत्यत्राप्यन्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वं
तत्स्वरूपाभेदे वा न ताभ्यामुपनेतुं शक्यमित्यर्थः ॥ संस्कार-
जत्वेऽपि यथा प्रत्यभिज्ञाऽनुभव एवं स्मृतिरप्यनुभव एव स्यादि-
त्याह-। “संस्कारे”ति । एतच्चाचार्यभतेन; वार्तिककारमते तु
प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिजन्या, न संस्कार जन्येति ॥ ननु संस्कार-
जन्यत्वमात्रं न स्मृतित्वप्रयोजकं येन प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिः स्या-
दपित्विन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वे मति संस्कारजन्यत्वं, तच्च प्रत्य
भिज्ञायां नास्तीति न तस्याः स्मृतित्वमित्याह-। “अथे”ति ॥

मू० “संस्काराऽसम्पृक्तानुभवकारणजत्वेनानुभवत्वं भवति
प्रत्यभिज्ञानं तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरे-
वेति वैपरीत्यं किं न स्यात् ? । “अन्यत्र न स्मृतिः (२)
रनुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्या’-इति तु ‘नान्य-
त्रानुभवोऽपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंप्रयोगजन्य’-
इतिसाम्यादेवाबाधकम् । ‘तदेवं (३) विनिगमनायां
प्रमाणाभावात्, स्वयंकल्पितव्यवस्थावैपरीत्येनापि
कल्पनासंभवात्, प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसंभवात्
स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम् । तथाच स्मृतिव्या-
वृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति प्रत्याशा निरवकाशा ।

(१) संस्कारेण वैधर्म्याभाववतो धर्मिणः, इन्द्रियेण च तत्ताया, अवि-
धयीकरणादिति भावः । (२) स्मृतिरन्यत्राऽनुभवकारणसंपृक्तसंस्कार-
जन्या न, -इत्यबाधकम्, अन्यत्राऽनुभवोऽपि संस्कारसंपृक्तार्थेन्द्रियसंप्रयो-
गजन्यो न, -इतिसाम्यादेवेत्यन्वयः । (३) तदेवं (संस्कारजत्वात्प्रत्यभि-
ज्ञानं स्मृतिरसत् संप्रयोगजत्वादनुभव इत्यत्र) विनिगमनायां प्रमाणाभा-
वात्प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिश्चाऽनुभवश्चेति मन्तव्यमिति सम्बन्धः । ननु
केवलसंस्कारजत्वं स्मृतित्वस्य, अतिरिक्तकारणजत्वं चानुभवत्वस्य प्रयो-
जकमिति मत्कल्पनमेव नियामकमित्याशङ्क्य प्रतिकल्पनत्वान्मैवमित्या-
ह-स्वेति । प्रमाणाभावाद्दुभयात्मत्वमपि नैष्टव्यमित्यत आह-उभयेति ।

नच विषयांशे स्मृतित्वानुभवत्वयोर्व्यवस्था कर्तुं
शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात्^(१) । ततश्च
तदेव ज्ञानं तस्मिन्नंवांशे स्मृतिश्चानुभवश्चेत्यापत्ति-
तेति यदि न विरोधबुद्धिर्भवतस्तदा "तदधीने तत्रै-
वार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते"^(२)सा तेऽस्तु ।

टी० ॥ तर्हीन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञाऽनुभवेऽपि न स्यात्,
संस्कारजन्यत्वे मनीन्द्रियजन्यत्वस्यानुभवत्वप्रयोजकत्वात्, प्र-
त्यभिज्ञायां च तदभावाद्, -इत्यपि स्यादित्याह-। "संस्कारे-"
ति ॥ मन्वन्नुभवमासग्रीजन्यत्वेऽपि संस्कारमात्राधीनत्वेन कुत्र
स्मृतित्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तदापादनीयमित्यन आह-।
"अन्यत्रे"ति । तर्हि संस्कारजन्यत्वेऽपि कुत्रेन्द्रियजन्यत्वमात्रेणा-
नुभवत्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तत्कल्पनीयमित्यपि तुल्यमि-
त्यर्थः ॥ प्रकृतमुपसंहरति-। "नदेवमि"ति । संस्कारजन्यत्वेन
स्मृतित्वमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वं, नचात्रावच्छेदकभेदेन द्व-
योर्वृत्तिस्तस्या निरस्तत्वादिति स्मृतित्वमाह्वय्यादनुभवत्वं न
जातिरित्यर्थः । यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं माज्ञात्कार्यनु-
भवरूपतयाऽनुभववसायमिदं, तस्य च विषयस्तत्तदन्तावच्छि-
न्नान्योन्याभावात्यन्ताभावः, न च स्वरूपमेव तयोस्तद्गताऽसा-
धारणधर्मो वा कश्चिदित्यन्यदेव, तत्तदनुभवस्य दुरपह्वत्वात्,
तच्च संस्कारेन्द्रियाभ्यां जन्यते, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वयोरपि
कारणत्वावधारणात्, अन्यथा कार्यस्याकस्मिन्कत्वेनाहेतुक-
त्वेन परप्रतिपादनार्थं^(३)तथापि वाग्यवहारो न स्यात्, प्रति-
नियतविषययोरपि संस्कारेन्द्रिययोः संभूयकारित्वं प्रत्यभिज्ञा-
न्यथानुपपत्त्यैव, तत्र सोपपद्यतां प्रत्यभिज्ञानं, मा च तत्तेद-
न्ताविशिष्टाभेदस्तद्विषयोस्त्विति त्वयापि वक्तुमशक्यम्, अनु-
भवविरोधात्; अक्षयभङ्गापत्तेश्च । 'योहमद्राक्ष सोहं स्मरामी'-

(१) "तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवश्चकुरो दुर्वारः"-इत्यत्र
निवेदितत्वात् । (२) प्रमात्वाप्रमात्वापातेऽपि चा=अविरोधबुद्धिस्तेऽ-
स्त्वित्यर्थः । (३) परप्रतिपादनार्थम्=परप्रतिपत्तिजननार्थम् ।

त्यमेदप्रतिमन्थानस्य सर्वतैर्धिक^(१)निद्रुत्वात् । तत्ताऽभेदश्चे-
न्द्रियसंबद्धविशेषणतयैव भासते, घटादेश्च प्रत्यभिज्ञायमानस्य
प्राज्ञत्वेन स्वप्राज्ञसंबद्धविशेषणताया एव सत्त्वात् । * तत्तांश-
मात्रे संस्कारेषां तदवच्छिन्नाभेदांशो^(२)पि विशेषणतया कथं
भासेन ? *—इति चेन्न, संस्कारानुपनीतस्यापि विशेषणता-
भ्युपगमात् । * भूतले घटाभावस्येव^(३)विशेषणतयैव तत्ताभासे
किं संस्कारेण * ?—इति चेन्न, अननुभूते प्रत्यभिज्ञाया अदर्श-
नाद् अनुभवस्यापि तत्कारणत्वमिद्वै तस्य च चिरध्वस्तस्य
व्यापारापेक्षायां संस्कारकारणत्वकल्पनात् । अतीतापि तत्ता
विशेषणमेव, 'द्वे द्रव्ये'—इत्यत्र द्वित्व^(४)मिन्न, तत्ता च पूर्वानुभव-
द्वैगिष्ठ्यं, तदसत्त्वकाले तज्ज्ञानं न भ्रमः । * कथम् ? *—इति
चेन्न 'वैयमि'नि 'तदभिज्ञोयमि'ति प्रतीयते, नतु 'तदवच्छिन्न
(५) इदानीमि'ति प्रत्यभिज्ञाविषयो येन भ्रमः स्यात्, संस्का-
रजन्यत्वेन च न स्मृतिस्त्वमिन्द्रियजन्यत्वस्योपाधित्वात् । *
नचेन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वे मध्ये संस्कारजन्यत्वमुपाधिः * ।
अनुभवत्वस्य प्रत्यक्षमिद्रुत्वेनापाधिठयतिरेकेण^(६)तद्व्यतिरेकस्य
सार्थायतुमशक्यत्वेनापाधेर्भाधित्विपर्ययत्वेनाऽऽभासत्वात् । अ-
स्तु वा प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिजन्यं, तथाच संस्कारजन्यत्वेन स्मृति-
त्वापादनमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वसाधने संस्कारोऽजन्य-
त्वमुपाधिश्चानवकाशः । स्मृत्युपनीतैव तत्ता भासते अमे इव
रजनत्वमिति प्रत्यभिज्ञाखण्डनमनवकाश, तथापि हस्तममाव-
रणमात्रमेतत्सर्वमिति हृदयम् ॥ ^१तदधीने"इति । स्मृतिस्त्वेना-
प्रमात्व, यथार्थानुभवत्वेन प्रमात्वम्, अत्रच्छेदमेदं विनैव प्रत्य-
भिज्ञायां स्याद्विद् च तद्वानिष्टमित्यर्थः ॥

(१) तैर्धिकाः=गात्रकाराः ।

(२) "अभेदांशो"ति तत्रपठः । (३) भूतले घटाभावप्रत्यक्षस्यले
प्रागनधिगतस्यैव घटाभावस्य विशेषणतया भानाङ्गीकारेण संस्कारानुप-
नीतस्यैव तस्य विशेषणता । (४) द्वित्वं ह्यपेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन चतुर्थ-
क्षणादावतीतमपि द्रव्यविशेषणं यथा तद्वदित्यर्थः । (५) तदवच्छिन्नः,
तत्तावच्छिन्न इत्यर्थः । (६) उपाधिव्यतिरेकेण=संस्कारजन्यत्वेन, तद्व्य-

सू० “एतेन^(१) विरोधापत्त्याऽनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतिव्यतिरिक्तमनुभवत्वं नामानुगतं साक्षात्कारि-
ज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभवबलादेव व्यवस्थाप-
नीयमिति प्रतीतिकलहोपि^(२) निरस्तः । * ननु
चाऽनुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्व-
मेवानुभूयते ननु स्मृतित्वं, तेन संस्कारजत्वपीन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षयाऽनुभवत्वमेवेति विनिगम-
नायामपीदमेव प्रमाणम् । अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनु-
भवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्यवस्थेय-
मिति ? * । न, इदन्तात्तावभासयोरनुभवस्मर-
णभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षेऽसाधारणीकृत्य प्र-
माणयितुमिहाऽशक्यत्वात् ।

टी० ॥ अनुगतप्रतीत्यभावादनुभवत्वं न जातिरित्युक्त-
मिदानीं जातिमाहुर्यादपि न तदित्याह- । “एतेने”ति । यद्वा,
प्रघटकनिर्घण्टुमर्थं संक्षेपतोऽनुवदति- । “एतेने”ति ॥ नन्वनुग-
तानुभवत्वजाती प्रतीतिकलहः^(२) प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभ-
वत्वविरोधात्तदाहृतप्रमात्वविरोधाद्वा निरमनीयः, स एव ना-
स्ति, अनुभवत्वेनैव सर्वप्रतीतिसिद्धत्वादित्याह- । “ननुचे”ति ॥
यथेदन्तांशे ‘ऽनुभवामी’त्यनुभवः तथा तत्तांशे ‘स्मरामी’त्यनुभव
इति न सकलांशानुभवत्वानुभव इत्याह- । “इदन्ते”ति । यद्वा,
तत्तांशे स्मृतित्वप्रौढ्येणानुभवत्वेनानुभवेयं कूटसाक्षी^(३)त्यर्थः ॥

तिरेकश्च=अनुभवत्वव्यतिरेकस्येत्यर्थः । (१) एतेनेत्यस्यैव विवरणं,—बाध-
केनेत्यन्तम् । विरोधापत्त्या=प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वयोः प्रमा-
त्वाप्रमात्वयोश्च विरुद्धार्थयोः समावेद्येन, अनुभवत्वस्वीकारे=अनुभव-
त्वस्य जातित्वस्वीकारे, बाधकेनेत्यर्थः ।

(२) इतिहेतोः प्रत्यभिज्ञायामनुभवत्वास्वीकारे सोऽयं घट इत्या-
कारकतत्तेदन्तावगाहिज्ञानेऽनुभवत्वावगाहिप्रतीत्या कलहः=विरोधा
निरस्त इत्यर्थः । (३) कूटसाक्षी=मिथ्यार्थनोषरः ।

सू० "एतेन-स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेनानुभूतिपद^(१)व्यवच्छे-
द्यं परिप्लुतं मन्तव्यम् । ^(२) * 'नच वाच्यं प्रत्य-
भिज्ञानं व्यवच्छेद्यं मा भूत् स्मृत्यन्तरं तु भविष्य-
तीति * , तस्याप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीक-
र्तव्यत्वात् । 'तथाहि- 'घटस्तत्रासीदि'त्यादिस्मृतौ
पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति, नचासौ^(३) पूर्वमनु-
भूता भूतता या संस्कारेशोपनीयेत, प्रत्युत पूर्वं
वर्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणं, 'तस्मादिदानीं
पूर्वता^(४) ग्रहणसामग्रीसंभेदात् 'सोयमि'तिप्रत्यभि-
ज्ञानवद्विशिष्टावगमोप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवा-
भ्युपगन्तव्यः । एतेनानुभवसामग्रीसहितः संस्कारो-
नुभवकारणमितिपक्षे पूर्वमाशङ्किते 'इदमपि दूषणं
द्रष्टव्यम् । तथा सति स्मृत्युच्छेदापत्तेः । 'नच
तदस्ति स्मरणं यत्र सा^(५) न प्रकाशते, ततश्च व्य-
वच्छेद्यानुपपत्तिः ।

टी० ॥ ननु 'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'तिलक्षणखण्डनमुपक्रान्तं,
तत्र किमप्रस्तुतेन प्रत्यभिज्ञाखण्डनेनेत्यत आह- "एतेने"ति ।
अत एव खण्डनोद्गारे यदेतस्य प्रकरणाख्याऽप्रस्तुतत्वमुक्तं, तदपि

(१) 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'-इतिप्रमालक्षणकुञ्चिनिविष्टानुभूतिपदत्वर्थः ।

(२) { निराकार्यनुभूतीतिशब्दव्यावर्त्यता पुरा ।
{ प्रत्यभिज्ञात्मबोधस्य, स्मृतौ वा चात्र खण्डयते ॥ १७ ॥ }

(३) आसौ=पूर्वकालसम्बन्धरूपा, भूतता (=तत्ता) पूर्वं नानुभूता या
संस्कारेण विषयोक्रियेत्यर्थः । पूर्वं प्रत्यभिज्ञाखण्डनावसरे तत्तायां पूर्वदे-
शकालसम्बन्धरूपायां देशकालयोस्तत्कालीनवर्तमानत्वाभिप्रायेण सं-
स्कारविषयत्वोक्तिरिदानीं तु तयोरेव देशकालयोरेतत्कालीनसतीतत्व-
मभिप्रत्येय संस्काराऽविषयत्वमुक्तमिति ध्येयम् । (४) पूर्वता=भूतता,
तद्ग्रहणसामग्रीनिद्रयस्त्रिकर्षादिरूपा, तस्याः घटग्राहक संस्कारैः सह
संभेदात्=संमिश्रणादित्यर्थः (५) सा=भूतता, तस्येति यावत् ।

प्रत्युक्तम् ॥ ^६“नच वाक्यमि”ति । यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमनुभूति-
पदठयवच्छेद्यत्वेन नोपक्रान्तं, न वा तद्व्यवच्छेदः सिद्धान्त्यभि-
मतः, शङ्का वा, तथापि स्मृतीनामनुभवत्वापादनाय प्रस्तावना-
नात्रपरमेतत् ॥ “तथाही”ति । यद्यपि पूर्वानुभवकालीना
विद्यमानतैव तत्ता^(१), पूर्वकालवैशिष्ट्यं वा, पूर्वानुभववैशिष्ट्यं
वा, पूर्वदेशसंबन्धो वा, यत्किञ्चित्कालीनसंबन्धो^(२) वा, सर्वत्र पूर्वा-
नुभवविषयतायाः सत्वात्; पूर्वानुभवविषयत्वस्य तत्तात्वे य
एवानुभवेन पूर्वं गृहीतस्तद्विषये एव स्मरणाभ्युपगमात् न
तत्तांशेनुभवप्रमङ्गः, तथापि स्मरणस्य मानमानुभवत्वे किं वाच-
कमिति हृदयम् ॥ “तस्मादि”ति । स्मृतावतीततामाने संस्कार-
रस्यासामर्थ्यादिन्द्रियमेव कारणं वाक्यम्, धर्म्यंश्च संस्कारः,
इति सर्वस्मृतीनां स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः ॥ “हृदमपी”ति ।
सर्वस्मृतिषु स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः ॥ “स्मृत्युच्छेदापत्तेरि”ति ।
अनुभूतिपदठयवच्छेद्यस्मृत्युच्छेदापत्तेरित्यर्थः ॥ ननु प्रमुष्टतत्तांश-
मेव स्मरणमनुभूतिपदठयवच्छेद्यमस्त्वित्यस्य ग्राह-। ^७“नचे”ति ॥

सू० ^(३)यदपि “कैश्चिदुच्यते—“दोषवशात्प्रमुष्टतत्तांशं
स्मरणं भवती”ति, तदपि नोपपन्नं, तदीयस्मरणत्वे
प्रमाणाभावात् । * ^४नचानुभवसामग्र्यभावात् पारि-
श्लेष्येण स्मृतित्वम्*, ‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्या-
नुभवसामग्र्यभावात् पारिश्लेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृ-
तित्वापत्तेः । * ^५सर्वानुभवसामग्र्यभावात् *,—इति
चेत्, ‘कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञानहेतुसामग्री
नानुभवसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता ? । * ^६पञ्च-

(१) तत्ता=भूतता । (२) यत्किञ्चित्कालीनः, पूर्वकालीन इत्यर्थः ।
पूर्वकालवैशिष्ट्यमितिलक्षणे पूर्वकालसम्बन्धाधिकरणत्वमुक्तमिह तु
पूर्वकालसम्बन्धमात्रमित्यपीनरुक्तयम् ।

(३) { खरहयस्मरणं चाग्यन्मुष्टतत्ताकरूप्यथ ।
तस्यापि तत्पदेनात्राऽपाकरोति च वार्य्यताम् ॥ १८ ॥ }

प्रमाणी^(१)कारणसामग्र्यसंभवात् *, -इति चेन्न, चतु-
ष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसंभवात् पञ्चमी^(२)प्रमा किं
न पारिशेष्यात्स्मरणं त्वया व्यवस्थापि ? । "कुत्र च
प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं
ज्ञानं स्मतिर्भवतीति ?, 'घटस्तत्रासीदि'त्यादिज्ञा-
नानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात् । 'अथ मन्य-
से, * प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य
च पूर्वमनुभूतत्वेन तद्विषयसंस्कारसंभवात् संस्कार-
स्यैव हेतुताङ्गीक्रियते, न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते,
इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसंभवे जायमानस्य त्वनुमानादे-
रननुभूतविषयत्वेन तस्मात्^(३)ज्ञोत्पत्तिसंभव इति त-
त्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते, ततः प्रमाणान्तरा-
सहकृतसंस्कारजत्वं, तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव,
स्मतित्वम् *, -इति,

टी० ॥ "कैश्चिदि"ति । 'इदं रजनमि'तिश्रमस्थले ग्रहण-
स्मरणरूपज्ञानद्वयभेदाग्रहणादिसिरित्यर्थः ॥ ननु रजतेन सम-
निन्द्रियमन्निकर्षाभावादगत्यैव तद्ज्ञानं स्मरणमभ्युपेयमित्यत
आह- । "नचे"ति ॥ गूढाभिसन्धिराह- । "इन्द्रियार्थे"ति ।
अनुभवत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावात् तत्र स्मृतित्वम्, अनुमित्यादौ
तु न तदवच्छिन्नसामग्र्यभावेऽलिङ्गपरामर्शादेरनुभवसामग्र्या एव
सत्त्वादिति शङ्कते । "सर्वे"ति ॥ गूढाभिसन्धिः पुनराह- ।
"कथमि"ति ॥ नन्वर्थोपत्तिमादाय प्रत्यक्षादीनि मीमांसकमते
पञ्चैवानुभूतयः प्रमाणानि, प्रमुष्टतन्तांशे च स्मरणे तत्कारण-
व्यतिरेकादेव स्मृतित्वमिति शङ्कते- । "पञ्चे"ति । प्रमाणपदं

(१) पञ्चानां प्रमाणानां समाहारः पञ्चप्रमाणी, पञ्चपूर्वकीत्यादिवत् ।

(२) पञ्चमी प्रमा = अर्थापत्तिः । (३) तस्मात् = संस्कारमात्रात् ।

भावसाधन^(१), पञ्चपदं च यथादर्शनप्रमाणमङ्गो^(२)पलक्षणपरम्-
एवमग्रेपि ॥ स्वाभिप्रायमुद्घाटयति-। “चतुरि”ति । चतस्र एव
प्रमास्त्वदभ्युपगताः^(३), पञ्चमी प्रमा स्मृतिरेव भवेदित्यपि
सुवचमित्यर्थः ॥ प्रमुष्टतर्ताशस्मरणस्य स्मरणान्तरदृष्टान्तेन पञ्च-
प्रमाणीभामयीविग्रहे जायमानत्वात् स्मृतित्वं साधनीयं, तदेव
तु नास्ति, सर्वेषामेव स्मरणानामनुभवत्वस्योक्तत्वादित्याह-।
“कुत्र चे”ति ॥ ननु प्रमुष्टतर्ताशस्मरणे परिशेषात्संस्कारमात्रं
कारणम्, अनुमित्यादौ तु लिङ्गपरामर्शादीनां कारणानां सत्त्वा-
दपूर्वसाध्यादिसंसर्गे पूर्वाननुभूते^(४)च संस्कारभावात् संस्कारा-
जन्यत्वेन चानुमित्यादेरनुभवत्वस्यैव व्यवस्थापनात् प्रतिव-
न्दिरिति शङ्कते-। “अथे”ति ॥

सू० मैवम् । “तत्र कारणात्वं किमिति नास्त्यैव ? , येन
संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते । * 'तेनार्थेन सह तदा-
ऽस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानज-
नकत्वेऽतिप्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्य ? *, -इति
चेन्न, 'संस्कारस्यापि केवलस्य तज्जनने^(५)ऽतिप्रसङ्ग-
तादवस्थ्यात् । * 'सहचरित^(६)धर्मदर्शनादिना सह-
कारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्र-
सङ्गः ? *, -इति चेत्, 'तेनैव सहकारिणा सहित-

(१) भाषसाधनम् = प्रमितिः प्रमाणम् (= प्रमा.) इतिभावत्युत्पत्तिकम् ।

(२) चार्वाकस्य मते प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, कथादशौद्धयोस्त्वनुमि-
तिरपि, नैयायिकैकदेशिनामुपमितिरपि, नैयायिकानां शाब्दमपि, भाट्ट-
वेदान्तिनोरनुपलब्धिपरि, पौराणिकानां वाग्भविक्वैतिहायके अपि, तात्त्विक-
काणां चेष्टापि-इति यथाशास्त्रमुत्तराकारं प्रमाणसङ्ख्या द्रष्टव्या ।

(३) 'अवेद्युरिति शेषः । (४) 'साध्ये इति शेषः, यद्वा 'पूर्वाननुभूते'-
इति'अपूर्वसाध्यादिसंसर्गे'इत्यस्यैव विशेषणम् । (५) तज्जनने=स्मृति-
जनने । अतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात् = सादृश्यदर्शनादिविरहदशायामनुद्बुद्ध-
संस्कारेभ्योपि स्मृतिप्रसङ्गात् । (६) सहचरितो धर्मः = साकषक्यादि-
रूपः समानो धर्मः ।

स्येन्द्रियस्यापि तज्ज्ञानजननेऽतिप्रसङ्गाभावात् । *
 अननुभूतेपि तर्हि प्रसङ्गः *,—इति चेन्न, 'तवापि
 तद्धर्मतानधिगते^(१) तद्धर्मवत्यधिगते तस्य संस्कारवतः
 स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात् । * 'लुप्ततत्साहच-
 र्य्यदर्शनजसंस्कारस्यापि तथा सति सहचरितरज-
 ताद्यज्ञजप्रतीतिप्रसङ्गः ? *,—इति चेन्न, 'तवापि मते
 तादृशस्य रजतादिर्संस्कारवतो रजतादिस्मृतिप्रस-
 ङ्गसाम्यात् । 'तस्माद्यत^(२)स्ते कालव्यवधानादितः
 संस्कारलोपस्तदनुपनिपातस्यापि हेतुत्वोपगमेऽन-
 तिप्रसङ्गात्^(३) ।

टी० ॥ परिशेषं प्रत्याचष्टे -। "तत्रे"ति ॥ रजतादिना
 सन्निकर्षाभावात्तादृशत्वमिति शङ्कते-। "तेने"ति ॥ ययाऽनुप-
 पत्त्या नाद्यज्ञत्वं, तयैव न संस्कारजत्वमपीत्याह-। "संस्कार-
 स्यापी"ति ॥ सदृशादृष्टचिन्ताद्युद्बोधितसंस्कारः स्मृतिकारणमते
 नानिप्रसङ्ग इति शङ्कते-। "सहचरिते"ति ॥ संस्कारमहकारि-
 त्वेन यदपेक्षितं तदक्षमहकार्य्यवास्तु, सन्निकर्षसंस्कारी तु न
 तन्नमित्याह-। "तेनैवे"ति ॥ यदि संस्कारं विनेन्द्रियमात्रात्
 सदृशादिदर्शनमहायात् प्रमुष्टतांशं स्मरणं तदातिप्रसङ्गमाह-।
 'अननुभूतेर्पां"ति ॥ यत्र रजतधर्मतया चाकचिक्यं नानुभूतं,
 रजतं धर्मं पुनरनुभूतमेव, तत्र चाकचिक्यं इति श्रुत्यादौ दृष्टे
 च रजतगोचरसंस्कारमप्येपि यद्विलम्बात् (४)स्मृतिविलम्बस्त-

(१) तद्धर्मतानधिगते = चाकचिक्यादौ ज्ञप्त्यादिधर्मतयाऽनधिगते,
 तद्धर्मवति = चाकचिक्यादिधर्मवति ज्ञप्त्यादौ, चाधिगते अतीत्यर्थः ।

(२) यतः कालव्यवधानादितः (विपरीतसंस्कारादिरादिशब्दार्थः) ते
 मते संस्कारलोपः तदनुपनिपातश्च = नदभावस्येति यावत् ।

(३) विश्वासागरास्तु "नानिप्रसङ्गात्"—इति पाठं लुप्तमसार्धं चाचेच्छन्ति ।
 † यद्यपि चाकचिक्यपदघटितं यद्यप्ययः पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते
 तथापि वयं तु चाकचिक्यपदघटितं पाठं बाधु मन्यामहे । (४) रजता-
 धिकरणकचाकचिक्यादिविषयकज्ञानविलम्बादित्यर्थः ।

द्विलम्बादननुभूते समापि स्मृतिविलम्बो ननु संस्कारविलम्बा-
दित्याह-। "तथापी"ति ॥ ननु रजतादिस्मरणमिन्द्रियजनमेव
चेत्तदा लुप्तसंस्कारस्या(१)पि रजतादेर्ज्ञानप्रसङ्गः; किंच, तयोर्ध-
र्मधर्मिणोर्यत्साहचर्यं संबन्धस्तस्य दर्शनाद्यः संस्कारो जातः
स यस्य लुप्तस्तस्यापि महचरितं यद्रजतादि धर्मिभूतं तद्विषया
त्वन्मतेऽज्ञा प्रतीतिः स्यादित्याह-। "लुप्ते"ति ॥ गूढाग्निम-
न्वेरुत्तरम्-। "तथापी"ति । ताद्रूशस्य=लुप्तसाहचर्यदर्शनजन-
स्कारस्य पुंनः, केवलधर्मिणोच्चरसंस्कारजनः स्मृतिप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥
अग्निमन्त्रिमाह-। "तस्मादि"ति । त्वन्मते यत्संस्कारलोपकारणं
तदभावविशिष्टादिन्द्रियादेव स्मरणोपपत्तेः किं संस्कारेणेत्यर्थः ।
सू० तदेवम्-

"तत्सद्रूपप्रत्यभिज्ञान(२)यत्ते संस्कारबोधकम् ।

सहकारि तदेवास्तामक्षस्याऽतिप्रसक्तिनुत् ॥ २८ ॥

'तत्सद्रूपप्रत्यभिज्ञानं तु स्मर्त्तव्यस्मरणपूर्वकम्'-इत्ये-
तदपि सममेव(३) । * 'तथाप्यन्यत्रार्थसन्निकर्षमन्त-
रेणैन्द्रियस्य ज्ञानकरणात्वं नापलब्धचरम् ? * इति
चेन्न, 'विशिष्टरूपेण(४)भ्रमविषये मया तदुपगमात्,
'सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात् ।
'किंच, संस्कारस्यापि प्रमाणान्तराऽसहकृतस्य नान्यत्र
ज्ञानजनकत्वं द्रष्टुमिति तदपि कथं कल्प्यते ? ।

(१) लुप्तसंस्कारवतः पुरुषस्येत्यर्थः ।

(२) तेन = अतुभ्रमरजतेन सदृग्दिमिति तत्सजातीयसाद्रूप्यज्ञानं
यस्यो निष्ठागते संस्कारोद्बोधकत्वेनाभिमर्तं तदेव समाक्षर्य सहकार्या-
स्तामित्यर्थः । (३) यथा तव मते तत्सद्रूपप्रत्यभिज्ञानं स्मर्त्तव्यस्मरण-
पूर्वकं सत्संस्कारोद्बोधकं तथा मन्मतेपि तत् स्मर्त्तव्यस्मरणपूर्वकं यदिन्द्रि-
यसहकारि भविष्यतीति साध्यमेवेत्यर्थः । (४) अत्र तृतीयाविभक्त्य-
र्थोऽभेदः, तथा च रजतत्वविशिष्टशुक्लप्रत्यभिज्ञो यो भ्रमविषयस्तत्र तदुप-
गमात् = सन्निकर्षमन्तरेणैन्द्रियस्य करणत्वोपगमात् । यद्वा विशिष्टरू-
पेणेत्यस्य लोकविलक्षणप्रकारेणेत्ययमर्थः ।

*प्रत्यभिज्ञाने एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारि कल्पितं^(१) न त्विन्द्रियस्य ? *, -इति चेत् न, प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणात्वात्, सदृश^(२) दर्शनादिसहकृतत्वदर्शनाविशेषात् ।

टी० ॥ “तत्तद्गि”ति । तस्य=रजतादेः, सदृशं=शुक्लादि, तस्य प्रत्यभिज्ञानं=ज्ञानं,^(३) तथाच सदृशाऽदृष्टचिन्तासहकृतमिन्द्रियमेव स्मृतिजनकम्, अतः स्मृतेरनुभवत्वमित्यर्थः ॥ दृष्टान्वयव्यतिरेकस्य मन्तिकर्षस्याभावाद् रजतस्मरणं नाज्ञमित्या-

ह-। “तथापी”ति ॥ “विंशष्टे”ति । अनविषयरजतस्मरणमज्ञं नेन्द्रियमन्तिकर्षमपेक्षते-इत्युच्यते, नत्व^(४) अनुभवमात्रमित्यर्थः, धर्मीन्द्रियमन्तिकर्षस्य प्रत्यभिज्ञाने इव प्रकृतेः सत्त्वादिति भावः ॥ येन दोषेण तत्तामोषस्थया वाक्यः स एवेन्द्रियप्रत्यासक्तिरित्याह-। “सहकारी”ति ॥ विवादपदं रजतस्मरणं तथापि संस्कारमात्रं कथं रुयात् ?, संस्कारस्य प्रमाणसाहित्येनैव प्रत्यभिज्ञानादौ जनकत्वावधारणादित्याह-। “किंचे”ति ॥ प्रत्यभिज्ञादिदृष्टान्तानुरोधेन चेत्तत्कल्पना तदा तत्र संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारी इत्यन्यत्रापि तथैवेति शङ्कते । “प्रत्यभिज्ञाने”इति ॥ तत्रापी^(५)न्द्रियसहकारित्वमेव वक्तव्यमित्याह । “ने”ति ॥

(१) सदृशदर्शनादिभक्तस्य संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञाने एव कारणात्वं दृष्टं नेन्द्रियस्येति भावः । (२) सदृशदर्शनादित्यतः प्राक् ‘तयोरिति शेषः । अयमाशयः-यथा त्वया प्रत्यभिज्ञायां सदृशदर्शनस्योद्बोधकविधया संस्कारं प्रति सहकारित्वं वक्तव्यं तथा तत्रेन्द्रियं प्रत्यपि तस्य सहकारित्वं शक्यते एव यथापि वक्तुं, तद्देव चान्यत्रापीति । (३) ज्ञानं, तेन सदृगिदमितिसादृश्यज्ञानमित्यर्थः, क्वचित् ज्ञानमितिपदं नास्ति । यद्वा शङ्करमिश्रस्य प्रत्यभिज्ञानशब्देनापि मौलिकेन प्रकृते ज्ञानमात्रमेव व्याचिख्यासितं, नतु तेन सदृगिदमित्याकारकं प्रत्यभिज्ञारूपं विगृह्यज्ञानमपीति बोध्यम् । (४) अनुभवत्वावच्छिन्नोऽनुभवः सन्निकर्षं नापेक्षते इति ननुच्यते, इति सम्बन्धः । (५) तथापि=सदृशदर्शनादावपि । यद्वा तथापि=प्रत्यभिज्ञायामपि, ‘सदृशदर्शनादीनामिति शेषः ।

सू० * "अत्र^(१) सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्व-
स्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानवत् ? *, -इति चेन्न, ^६तथा
सति तद्वदेव तत्तोलेखापत्तेः, 'सदृशदर्शनादिसह-
कृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने^(२) संस्कारजत्वस्योपाधि-
त्वम् । * ^७नच सदृशदर्शनसहकारित्वैव तत्ताप्रयो-
जिकेति त्यज्यतां, न संस्कारः-इति युक्तम्*, 'सदृ-
शदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यप्यतथाबोधात्^(३) ।
* ^८तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न
हातुं शक्यम् ? *, -इति चेन्न । "उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य
प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि
प्रमाणान्तरसहकृतस्य ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि
हातुं न युक्तमिति;

टी० ॥ यथा प्रत्यभिज्ञाने सदृशदर्शनमिन्द्रियमहकारि
दृष्टं तथा संस्कारोपि तत्रेन्द्रियमहकार्यैवेति कथं रजतस्मृतौ
संस्कारस्तिरस्कृतः ? इत्याह- । " "अत्र" इति ॥ संस्कारजत्वे
प्रसुष्टतत्ताकं स्मरणमेव न स्यादित्याह- । ^६ "तथा सत्ता" इति ॥ ननु
संस्कारवत् सदृशदर्शनादेरपि तत्तोलेखसामर्थ्यमावशिष्टमित्यत
आह- । "सदृशेति । संस्कारजत्वनिवृत्त्या तत्र तत्तोलेखनिवृ-
त्तिरित्यर्थः ॥ संस्कारजत्वोपाधेः पक्षवृत्तित्वमाशङ्काह- । "नचे-"
ति । विषादपदे रजतज्ञाने तत्तोलेखो नास्ति, तथाच तन्निवृत्त्या
तद्व्याप्यस्य सदृशदर्शनजत्वस्य निवृत्तिरस्तु संस्कारजत्वं च तत्र
स्यादेव, तथाच स्मरणमेव प्रसुष्टतत्ताकमिति शङ्कार्थः ॥ सदृश-

(१) अत्र = रजतादिभूमे, सदृशदर्शनस्येन्द्रियं प्रति सहकारित्वे
संस्कारस्यापीन्द्रियं प्रति सहकारित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः, भ्रमज्ञाने संस्कारे-
न्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वाविशेषादिति भावः । तथाच संस्कारजत्वा-
द्रजतादिभूमिः स्मृतिरेव । यद्वा, अत्र = इन्द्रिये सदृशदर्शनस्य सहकारि-
त्वे संस्कारेपि सहकारित्वस्य प्रसङ्ग इत्यर्थः । (२) भ्रमज्ञानं तत्तोलेखि,
सदृशदर्शनादिसहकारिजत्वत्वाविशेषादित्यापादने इत्यर्थः ।

(३) अतथाबोधात् = स्मृत्यात्मकबोधाभावात् ।

दर्शनादिविनाकृतस्य संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वं न दृष्टमिति तन्नित्यवस्था (१) संस्कारजत्वमपि निवर्तते इति कथं तस्मिन् रणं भवेदिति परिहरति—। “सदृशदर्शनमि”ति ॥ नन्वसन्निकृष्टरजत-विषयकं प्रत्यक्षं कथं स्यादिन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वात्तथाचागत्यैव तत् स्मरणं मन्तव्यमिति शङ्कते—। / “तथापी”ति ॥ प्राप्यभावाद् यथा नेन्द्रियं तत्र रजते प्रवर्तते तथा प्रमाणांतराभावात् संस्कारोपि न प्रवर्तते, प्रत्यभिज्ञानादौ मानान्तरसहकृतस्यैव जनकत्वनिर्णयादिति प्रतिवन्दिमाह—। “उक्तमि”ति ॥

सू० “सं(२)स्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः । तत्तांशमोषकल्पनं च स्वतन्त्र-संस्कारजत्वपक्ष एव याव(३)दधिकम् । कुतश्चायं तत्तांशमोषः ?-इति विचारमधिकरोति, “पूर्वं वर्तमानादिकालविशेषविशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवो- (४)पनेतुमुचितत्वात् ; प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात् । * दोषवशात्तत्तांशमोषः? *, -इति चेन्न, ‘विषयसंबन्धस्य स्वभावत्वेन(५) संस्कारे तदलोपात् ।

टी० ॥ ननु प्रतिवन्दिरदूषणमित्यत्र आह—। “संस्कार-स्यापी”ति । संस्कार एव मनसः प्रत्यासत्तिरिति मानसमेव रज-तज्ञानमित्यर्थः ॥ अज्ञानिरपेक्षसंस्कारजत्वे तत्तोऽज्ञेयवैधर्म्यमिति दोषान्तरमाह—। “तत्तांशे”ति । यद्यप्यज्ञापेक्षसंस्कारजत्वेपि प्रत्यभिज्ञायां तत्तोऽज्ञेयो दृष्टः(६) तथापि संस्कारजत्वे तत्तांशमोष-

(१) सदृशदर्शनादिनिवृत्त्येत्यर्थः । (२) पूर्वं प्रत्यासत्त्यभावना-भ्युपेत्य दूषणमवाचीदानीं तु स एवास्मिन्न इत्याह-समिति । (३) स्वतन्त्र-संस्कारजत्वपक्षे एव तत्तांशमोषकल्पनं यावत् (तावद्) अजिकमित्य-न्वयः । (४) तथैव=पूर्वकालवैशिष्ट्यरजताद्यर्थे तदुभयविषयकैव । (५) संस्कारे विषयसंबन्धस्य (=तत्तारूपविषयसंबन्धस्य) स्वभा-वत्वेन-इति संबन्धः । (६) “तथा च रजतधर्मस्यैन्द्रियकत्वेपि तत्तोऽज्ञेय भाव्यम्”-इति शेषः ।

कल्पनमिह त्वया कर्तव्यमिति कल्पनागौरवमित्यर्थः^(१) ॥
कल्पयितुमपि न शक्य^(२)मित्याह-। “कुत”इति ॥ सामग्री-
बलात्तथाभानघ्नौठयमित्याह-। “पूर्वमि”ति । अनुभवे ये वर्त-
मानकालो विशेषणतया भासते न एव स्मरणे तत्तथा भासते,-
इति वस्तुगतिः, तथाच विशेष्यमात्रं स्मर्यते न तु विशेषण-
मपि-इदं कथं स्यादित्यर्थः ॥ यदि दोषस्तत्तया मह प्रत्यासक्तिं
विलुप्यति तत्राह-। “विषये”ति । संस्कारेण मह तत्तागाः
स्वभावः प्रत्यासक्तिः, सच संस्काररूपमेव, सच तल्लोपः, तल्लोपे
वा विशेष्यस्मृतिरपि न स्यादित्यर्थः ॥

सू० * “दोषात् स्मृतौ तथा ?”, -इति चेत्, ‘कः पुन-
रसौ दोषः ? । * “यस्माद्भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषां^(३)म्”,
-इति चेत्, ‘तर्हि ‘तद्भ्रजताविशिष्ट^(४)मिदं रज-
तमित्यत्र, ‘सैव रजतव्यक्तिरियमित्यत्र वा, ‘पुन-
स्तदेव रजतमुपस्थितमि’तीह वा ‘सामान्यत एव
रजतस्य तदापि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोषः
स्यात्, दोषस्य विद्यमानत्वात् । “अन्यथा ‘इदं
रजतमित्यंशेपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोषो न
स्यादित्यास्तामियं’ प्रसक्तानुप्रसक्तिः ।

टी० ॥ ननु दोषः संस्कारं न विलुप्यति, किंतु तत्तांशे स्मृति-
लक्षणं कार्यं प्रतिबध्नातीत्याह-। “दोषादि”ति ॥ “तथे”ति ।

(१) अयंभावः,-संस्काराऽवहकृतेन्द्रियकज्ञाने तत्तांशमोषो दृष्टः,
केवलसंस्कारजन्यस्मरणे तु न च दृष्टः, दोषमदृष्टेऽपि त्वया कल्पयते
इति तत्रैव गौरवमिति । (२) “तत्तांशमोषणम्”-इति शेषः ।

(३) परेषाम्=नैयायिकानां-भवतामित्यर्थः, विशेषणताविशेष्यस-
न्निकर्षेण प्रत्यभिज्ञायां तत्ताप्रत्यक्षवादिनां तेनैव कथंया उपक्रान्तत्वात्,
अत एवात्र व्याख्यायां भ्रान्तिशब्दस्यान्यथाख्यातित्वेनार्थप्रकाशनमपि
रिक्तमिति । यद्वा, परेषां नैयायिकादीनामित्यर्थः, अस्मिन्पक्षे व्या-
ख्यायाम् “अन्यथाख्यातिजनकत्वम्”-इत्येवान्यथाख्यातिशब्दस्य वि-
परीतख्यात्यर्थकतयोपलक्षणतया वाऽख्यातिख्यातिव्यतिरिक्ताश्चतस्रः
ख्यातयः सङ्गृह्यन्ते । (४) अविशिष्टम्=सदृशम् ।

लोप इत्यर्थः ॥ भवेदेवं यदि दोष एव व्यवस्थितः स्यात्, नचैवमित्याह— “कः पुनरि”ति ॥ अन्यथाख्यातिजनकत्वं दोषत्वमित्याशङ्कते— “यस्मादि”ति । “यदपि कैश्चिदुच्यते”— इत्यारभ्य प्राभाकरो वादी, नचासावन्यथाख्याति मन्यते, इत्यत उक्तम्— “परेषामि”ति ॥ “तर्ही”ति । रजतव्यक्त्यन्तरे, शुक्लौ वा, यत्रैवंप्रकारो भ्रमस्तत्रापि तत्तामोषः स्यादित्यर्थः ॥ ननु तच्छब्देन खणिकीय्याद्दृष्टरजतविशेषपरामर्शं विशेषदर्शनात्प्रायमाकारो भ्रमस्येति कुतस्तत्तामोष आपाद्यते, इत्यत उक्तम्— “सामान्यत एवे”ति । तदा—तच्छब्देन सामान्याकारेणैवोपस्थितं रजतं परामृश्यते नतु पुरोवर्तिबिलक्षणकारिणे त्यर्थः ॥ ननु तत्तांशे स्मृतेरप्रतिबन्धात् त्वदुदाहृत्तानस्थले दोष एव नास्तीत्यत आह— “अन्यथे”ति । ‘नदेवेदं रजनमि’तिज्ञानं ‘नदेवेदमि’ति प्रत्यभिज्ञानं नरसिंहाकारं, ‘रजतमि’त्याकारस्तु स्मरणमेव; अन्यथारजताभेदग्रहेऽन्यथाख्यात्यापरोः, तथाच यदि दोषो नास्ति तदा रजतांशेपि तत्तामोषो न स्यादित्यर्थः ॥ “प्रनक्ते”ति । प्रमाखण्डनमुपक्रान्तं, तत्प्रमत्त प्रत्यभिज्ञानखण्डनं, तदनुपपत्तं दोषखण्डनमित्यर्थः ॥

सू० *नच प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार-इति वाच्यम्*, ‘अननुभवत्वेनाप्रमात्वापातात् । *नचैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्*, “अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमात्वेनोपन्यस्तत्वात्; ‘ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्येतेति । तस्माज्जातिवाचिनो^(१)ऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानम् इति सर्वथानुपपन्नमिति । ‘नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्, उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः । इतोपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, तथाहि—

(१) जातिवाचिनः = मीमांसकमतेऽनुभवत्वात्मकजातिवाचिनः ।

टी० ॥ चित्ररूपनिवृत्त प्रत्यभिज्ञानं स्मरणानुभवविलक्षण-
मेवेत्यपि नेत्याह-। “नचे”ति ॥ “तत्त्वानुभूतिः प्रमे”ति प्रमा-
लक्षणानुभववत्त्वेनाप्रमात्वापात इत्याह-। “अनुभववत्त्वेने”-
ति ॥ ननु स्मृतिवत्(१)प्रत्यभिज्ञानमपि यथार्थमात्रं नतु प्रमा-
पीत्यत आह-। “नचैवमि”ति ॥ “अक्षणिकत्ववादिने”ति ।
योहमन्वभूवं सोहं स्मरामीत्यादिप्रतिसन्धानस्यात्मादिस्थैयं-
साधनत्वेन त्वयोपन्यस्तत्त्वादित्यर्थः ॥ यत्रयत्रातिष्ठयाप्ति-(२)
स्तत्तद्यदि त्याज्यमेव तदा परमार्थव्यवस्थैव (३)न स्यादित्या-
ह-। “हेतूशेति” ॥ अनुभवत्वस्य स्मृतिठयावृत्तजातेरनुपपत्तौ
'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'तिलक्षणेनुभूतिपदमठयावत्कमेवेत्युपसंह-
रति-। “तस्मादि”ति ॥ अनुभवत्वं जातिर्मास्तु, स्मृत्यन्यत्त्वा-
नत्वलक्षणमुपाधिस्तु, नहि तत्रापि जातिसाङ्कर्यभयमित्यत
आह-। “नापी”ति । “तत्त्वदूक्प्रत्यभिज्ञानं यत्त संस्कारबोध-
कम्”-इत्यादिना सर्वानां स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन ज्ञान-
मात्रमनुभव इति(४) प्रमालक्षणेऽनुभवपदव्यवच्छेदकत्वानुपप-
त्तिरित्यर्थः । यद्वा, स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन 'स्मृत्यन्य-
त्वमित्यत्र स्मृतिपदव्यवच्छेद्यानुपपत्तिरित्यर्थः ॥

सू० स्मृत्यन्यत्वं “यत्किञ्चित्स्मरणान्यता वा ? १ सर्व-
स्मृतिव्यक्त्यन्यता वा ? २ स्मृतिस्मरणहितत्वं वा ? ३
अभिप्रेतम् । प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात्स्मृत्य-
न्तरमप्यनुभूतिः स्यात्, नहि यतो (५)व्यतिरिक्ता

(१) यथाभूतार्थावगाहिस्मृतिवदित्यर्थः । (२) यत्रयत्र प्रत्यभिज्ञादौ,
अतिष्ठयाप्तिः-अप्रमालक्षणस्य प्रमालक्षणस्य त्वव्याप्तिरेवेति ध्येयम्, तत्तत्
= प्रत्यभिज्ञादिकं, यदि त्याज्यम् = प्रमालक्षणाऽलक्ष्यत्वेन स्वीकरणीय-
मित्यर्थः । (३) “पदार्थव्यवस्थैव”-इति तु पुस्तकान्तरस्यः पाठः ।
(४) इतिशब्दे हेत्वर्थे, यस्मात्ज्ञानमात्रमनुभवस्तस्मात् “तत्त्वानुभूतिः
प्रमा”-इतिप्रमालक्षणेऽनुभवार्थकाऽनुभूतिपदनिष्ठव्यवच्छेदकत्वस्यानुपप-
त्तिरित्यर्थः । अनुभवपदमित्यापाततः, “तत्त्वानुभूतिः प्रमे”ति पूर्वोक्त-
प्रमालक्षणेऽनुभवपदाभावात् । यद्वा, “यथार्थानुभवः प्रमे”तिवद्वयमात्र-
लक्षणाऽभिप्रायेणानुभवपदं प्रयुक्तम् । (५) यतः स्मरणव्यतिरिक्तत्वादेका
स्मृतिव्यतिरिक्तव्यतिरिक्ता तत्स्मरणमेव न भवति (इति) नहीत्यन्वयः ।

स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात् । नापि द्वितीयः । मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयम् प्रमायाः ?, तासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात् । तथाहि, -न तावत् परकीयज्ञाने परस्याऽस्माद्दृशोऽध्यक्षसम्भवः, नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्; नापि शब्दः, "सर्वत्र तस्यासम्भवात् । उपमानाद्यसम्भवोपि स्फुट एव, ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेकोनिरूप्यः प्रमायाः ? इत्यबोधोदसिद्धिर्लक्षणस्य ।

टी० ॥ "व्यतिक्रिदि"ति । स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वमित्यर्थः ॥ "प्रथमे" इति । स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वं स्मृतिविशेषे गतमिति सोप्यनुभवः स्यादित्यर्थः ॥ "अस्माद्दृश" इति । अयोगिन इत्यर्थः । यद्यपि सर्वस्मृत्यनुपस्थितौ "तासां सर्वासामि"ति तत्राप्यभिधानमनुपपन्नम्, उपास्थितौ वा मनापि तदुपस्थितिः स्यात्, तथापि विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकेन प्रकारेण(१) तदुपस्थितिरशक्येत्यर्थः ॥ "सर्वत्र"ति । नहि स्मृत्यन्यत्वग्रहदशायामवश्यं तादृशः शब्दो(२)स्तीत्यर्थः ॥ "उपमाने"ति । उपमानस्य सङ्ज्ञासृजिसंबन्धमात्रपरिच्छेद(३)कलकत्वेन सर्वस्मृत्युपस्थापकत्वायोगात्(४) । आदिपदादैतिह्या-(५)

(१) तत्तस्मृतित्वेन प्रकारेणेत्यर्थः । (२) तादृशः शब्दः = तत्तत्त्वैव-सैत्रादिस्मृतिवाचकः शब्दः । (३) परिच्छेदोऽवधारणम् । (४) 'स्मृतिः स्मृतिपदवाचया' - इत्याकारकवाक्यवाचकभावसम्बन्धमात्रज्ञानरूपत्वादुपमानस्य तत्कारणीभूतं स्मृत्यात्मकमस्वन्धिज्ञानं ततः पृथगेव वस्तुव्यं नच तदुपमानमिति भावः । (५) इति ह इत्येवैतिह्यां, स्वार्थे तद्धितप्रत्ययान्तः, इति (=एवम्) इ (=स्फुटम्) आसीदित्येतदर्थबोधकं यत्तदैतिह्याम्, यथा 'इह बटे यत्प्रतिष्ठता'ति पारम्परिकं वाक्यं, तस्यापि स्मृत्यन्यत्वग्रहदशायां नियतं प्रागसम्भव एव ।

दिभङ्ग्रहः, सर्वमन्तखण्डनस्योपक्रान्तत्वात् ॥

सू० * " न च वाच्यम् स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः
सर्वकालसर्वपुरुषसंबन्धिन्यः स्वात्मीयां^(१) स्मृति-
व्यक्तिं प्रत्यक्षयताप्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यल-
क्षणयेन्द्रियप्रत्यासक्त्या व्याप्तिग्रहणकाले इव व्या-
प्यव्यापकव्यक्तय इति*, "दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दा-
षग्रस्तत्वात् । तथा सत्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमे-
यत्वसामान्यप्रत्यासक्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्,
"एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्धधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदं
यदि जानासि किमस्मच्छेतसि विपरिवर्तते इति ।
नापि तृतीयः । स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभा-
ववत्त्वं वा स्यात् ? १ स्मृतित्व()प्रतियोगिकमाश्र-
यस्य स्वरूपं वा ? २ तज्ज्ञानं वा ? ३ न तावदाद्यः ।
तथाहि, स्मृतित्वान्योन्याभावोपि स्मृतित्वाभावो
भवत्येव, तद्वत्त्वं स्मृतिष्वप्यस्ति.

टी० ॥ ननु स्मृतित्वं यत्सामान्यं तद्विशेषणतया^(३) सर्वैः
सर्वाः स्मृतीयो ग्रहीतुं मनसैव शक्याः, कथमन्यथा धूमत्वविशेषण-
तयाऽतीतानागतमकधूमत्वकयो भ्रामन्तां, दृश्यते हि पक्ष-
वर्तिनो धूमादनुमिति, सा च सामान्यलक्षणान्तरेण न स्या-
दित्यहम् - । "नचे"ति ॥ सामान्यलक्षणप्रत्यःसत्तेरितिप्रसञ्जक-

(१) स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्य-
क्तयः सामान्यलक्षणया इन्द्रियप्रत्यासक्त्या प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते व्याप्ति-
ग्रहणकाले व्याप्यव्यापकव्यक्तय इवेति न च वाच्यमित्यन्वयः । (२) मभा-
करस्य मतेऽभावस्याधिकरणात्मकत्वेनानुभूतो स्मृतित्वरहितत्वं स्मृति-
त्वप्रतियोगिकमाश्रयस्यानुभूतेः स्वरूपमेवेत्यभिप्रेत्य पृच्छात-स्मृति-
त्वैति । तज्ज्ञानम् = स्मृतित्वप्रतियोगिकं यदाश्रयस्य स्वरूपं तज्ज्ञान-
मित्यर्थः । (३) 'तद्विशेषणतया' - इति बहुव्रीहिः, सामान्यविशेषणक-
तयेत्यर्थः । एवमग्रे धूमत्वविशेषणतयेत्यत्रापि बोध्यम् ।

तथा प्रमाणाबाधितत्वाद् दूष्टान्तदाष्टान्तिकावनुपपन्नादित्या-
ह-^b“दूष्टान्ते”ति ॥ अतिप्रसङ्गमेवाह-^c“तथा सती”ति ॥
ननु प्रमेयत्वसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या विश्वं प्रत्यक्षमेवेत्यत
आह-^d“एवमि”ति । प्रमेयत्वेन यदि विश्वमेव प्रत्यक्षं तदा
सर्वस्य हृदि स्थितं परेण ज्ञायेत; *नच तर्हि प्रमेयत्वेन ज्ञायते
एवेति वाच्यम्*, घटत्वादिनापि ज्ञानप्रसङ्गात्, घटघटत्वतद्वै-
शिष्ट्यानां प्रमेयत्वलक्षणप्रत्यासत्त्या सन्निकृष्टत्वात्; *सामान्य-
लक्षणायाः प्रत्यासत्तेरयं महिमा-यदेव सामान्यं प्रत्यासत्तिस्त-
त्प्रकारकमेव ज्ञानं तथा जन्यते इति प्रमेयत्वेन परहृदयगतज्ञानं,
ननु घटत्वेन*, -इति चेत्तर्हि यदि घटत्वमिन्द्रियसन्निकृष्टं, पर-
स्यापि हृदि घट एव, तदा ‘घटं जानामी’त्युत्तरापत्तेः; *
परमनोगतस्यापि घटस्य तत्र घटत्वेन ज्ञानसस्त्येव तन्मनोगत-
त्वेन तु तत्र ज्ञानं नास्ति तन्मनोगतत्वस्य सामान्यस्याप्रत्या-
सत्तित्वात् *, -इति चेन्न, नियामकाभावात्; नहि भासमानत्वे
सत्यपि प्रकारं प्रति विशेषः^(१) कश्चिदस्ति; * नचानागतपाक-
प्रवृत्तेर्ज्ञानमाध्यतया तत्र च प्रमाणान्तरस्य तदानीमभावाद्-
गत्या सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिरिति वाच्य*, ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां
समानविषयतामन्तरेणापि समानप्रकारकतयैवोपपत्तेः^(२); * नच

(१) अयं भावः,-परमनोगतस्य घटस्य घटत्वेन भाने जिज्ञासायां
वत्यां कदाचित् तन्मनोगतत्वेनापि भानं प्रत्युत्तरणं चावश्यकम्, नहि
भूतले घटत्वेन घटज्ञानवान् भूतलस्थत्वजलस्थत्वादिजिज्ञासायां तथा-
विधं प्रकारं न प्रतिपद्यते, प्रकृते तु शतशोऽपि जिज्ञासायां तन्मनोग-
तत्वं नैव प्रतिपद्यते इति घटत्वेन घटस्य भासमानत्वे तन्मनोगतत्वादि-
लक्षणं प्रकारान्तरं प्रत्यभासमानत्वं विशेषो न युक्त इति । (२) सामा-
न्यलक्षणप्रत्यासत्तिवादिमते वर्तमानपाकव्यक्तिं पश्यता तद्गतपाकत्वलक्ष-
णसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्याऽनागतपाकव्यक्तिरपि तत्रैव दृष्टैव, तथाच
तत्र प्रथमत इष्टसाधनताज्ञानं, तत इच्छा, ततः प्रवृत्तिश्चोपपद्यते; सा-
यद्वनिकमते तु ज्ञानेच्छाकृतीनां समानविषयतानियम एव नास्ति, समा-
नप्रकारताया एव नियमः, तथा च वर्तमानपाकव्यक्तिदर्शनकाले तद्व्य-
क्तिमाधिविषयकमेव ज्ञानं, नतु पाकत्वलक्षणसामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति-
बलादनागतपाकव्यक्तिविषयकमपि, कृतिश्चास्ति तद्विषयिणीति ज्ञान-
कृत्योरसमानविषयत्वेऽपि समानपाकत्वप्रकारता न द्वाह्यते इति भावः ।

ठयभिचारशङ्कार्थं सामान्यलक्षणं, ननु उपस्थितधूमे वह्निवैयधि-
करणं शङ्कितुं शक्यमित्यनागत^(१)धूमज्ञाने सति ठयभिचारश-
ङ्कायाः संभवादिति वाच्यम्*, अयं धूमो वह्निजन्यो न वेति
वह्निजन्यत्वसन्देहस्यैव ठयभिचारशङ्कात्वात्, तस्य उपस्थित-
धूमे एव संभवात्, नहि सामानाधिकरणमात्र^(२)कार्यकारणभाव
इति भावः ॥

सू० ततश्च स्मृतेरपि "तथात्वापत्तेः, तदव्यवच्छेदाद्
"विशेषणवैयर्थ्यं च; विना विशेष्यमिच्छादावपि
प्रसङ्गात् । * स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षितः
*, -इति चेन्न, तथाहि 'स्मृतित्वस्य संसर्गाभावः'-इति
किमुच्यते?, किं स्मृतित्वस्य संसर्गाभावः^(३)? उत
संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य? अथान्यदेव वा किञ्चि-
दनया वाग्भङ्गा विवक्षितम्? -। आद्ये स्मृतित्वसंस-
र्गस्यान्यान्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः^(४),
नहि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः । अत एव न द्वितीयेऽपि,
"नहि संसर्गविशिष्टं यत् स्मृतित्वं तदेव स्मृति-
व्यक्तिः, ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृति-
व्यक्तेरन्यान्याभावमादायोक्तदोषाऽनिवृत्तिः ।

(१) अनीतानागतेति त्वत्र युक्तं पाठमुत्पश्यामः, उपलक्षणं वाना-
गतपदमतीतस्यापि ।

(२) वह्नित्वावच्छिन्नरूपितधूमत्वावच्छिन्नविशेषणसामानाधिकरण्य-
लक्षणव्याप्यभिन्न एव यद्युपस्थितवह्निधूमयोः कार्यकारणभावः स्यात्तदा
वह्निजन्यत्वसन्देहस्य व्यभिचारशङ्कात्वेऽपि तदर्थं सामान्यलक्षणप्रत्यास-
न्निरवश्यमपेक्षेत न त्वेतदस्तीत्याह- 'नहि सामानाधिकरण्यमात्र-
मिति, उपस्थितधूमे उपस्थितवह्निः सामानाधिकरण्यस्योपस्थितवह्नि-
धूमोऽकार्यकारणभावसमनियतत्वात्कथञ्चिदभिन्नत्वेन 'सामानाधिक-
रण्यमात्रमित्युक्तम् । (३) "स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याऽभावः"-इत्यपि
क्वचित्पाठः । (४) स एव प्रसङ्गः=स्मृतावनुभूतित्वप्रसङ्गे विशेषणान-
र्थक्यप्रसङ्गे वा ।

टी० ॥ “तथात्वापत्ते”रिति । अनुभवत्वापत्ते रित्यर्थः ॥
 “विशेषणवैयर्थ्यं चे”ति । स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनुभवत्वमुक्तं तत्र
 ज्ञाने स्मृत्यन्यत्वविशेषणस्य वैयर्थ्यं, विशेषणे सत्यपि स्मृताव-
 तिष्ठ्याप्तेर्दुर्वारत्वादित्यर्थः । यद्वा, प्रमालक्षणे^(१)नुभवत्वस्य
 विशेषणस्य वैयर्थ्यं, स्मृत्यनुभवविवेकाभावादित्यर्थः ॥ ननु
 तत्रैवविषयत्वमेवास्तु प्रमालक्षणं किमनुभवेन विशेष्येणेत्यत
 आह-। “विने”ति । एवं सति न केवलं स्मृतावतिष्ठ्याप्तिः, किं
 तर्हि ? इच्छादा^(२)व्यतिष्ठ्याप्तिरेवेत्यर्थः । यद्वा, ननु स्मृत्य-
 न्यज्ञानत्वमित्यत्र ज्ञानमपि विशेष्यं त्यज्यतामित्यत आह-।
 “विने”ति ॥ “नह्यी”ति । संसर्गविशिष्टस्मृतित्वस्यान्योन्याभावः
 भवेत्स्मृतिव्यक्तिव्यनुगत इति विशेषणवैयर्थ्यं तदवस्थमेवेत्यर्थः ॥

सू० “एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषाऽनिवृ-
 त्तिरेव, अनवस्थायां वा पर्यवसानं विशेषणप्रक्षेपप-
 रम्परायाः । * नच वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न
 संसर्गान्तरेण संबन्धित्वं किंतु स्वभाव एव, तत्कुतः
 परम्परागवेषणं कार्यमिति *, स्मृतित्वसंसर्गस्यान्यो-
 न्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्तुं तदानीं
 सुतरामशक्यत्वात्, संसर्गान्तरविशेषणवचनस्याधि-
 कार्यापर्यवसायित्वात्* । “किञ्च,^(३)तदुभयस्वरूपा-
 तिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृ-

(१) “तस्वानुभूतिः प्रमा”-इतिप्रमालक्षणे इत्यर्थः ।

(२) इच्छादौ, यथाभूतार्थगोचरेच्छादावित्यर्थः । (३) एवं स्मृति-
 त्वसंसर्गस्य संसर्गाभावमनुभूतावभ्युपगमस्य तद्दृष्टान्तेन स्मृतावतिष्ठ्याप्ति-
 रवादि सम्प्रति तु सोपि नानुभूतो विज्ञरतीतिलक्षणस्याऽवस्थभवदोषसा-
 ह-किञ्चेति, तदुभयस्वरूपातिरेकम्=स्मृतित्वस्य यः समवायात्मकः सं-
 सर्गो यच्च स्मृतित्वात्मकधर्ममहितो धर्मो (=स्मृतिः) केवलो वा,-एतदु-
 भयस्वरूपातिरेकं, तत्संसर्गस्य=स्मृतित्वसंसर्गस्याऽमन्यमानेनेत्यर्थः । एवं
 च स्मृतित्वसंसर्गः स्मृति-स्मृतित्व-स्वात्मकसमवायैतत्तत्तयस्वरूपो नि-
 वृत्तः, तथा चानुभूतो कथं तत्तत्तयात्मकस्य संसर्गस्य निषेधः, स्मृतित्वस्य,

तित्वधर्मि^(१)स्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मकत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः ? किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति ? उत स्मृतित्वसंसर्गस्य ? ततः कस्य निषेधः ? (२) ।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतिषु प्रसङ्गो न भवति, यतः (३) स्मृतित्वसंसर्गस्यापि संसर्गाभाव एव स्मृतित्वरहितत्वं, तच्च न स्मृतिषु, तत्र स्मृतित्वसंसर्गस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—। “एवमि”ति । अपरापरसंसर्गप्रक्षेपे चरमसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतौ प्रसङ्गनादवस्थ्यमविश्रान्तौ चानवस्थैवेत्यर्थः ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गे संसर्गान्तरं नास्ति, किंतु स्वरूपसंबन्धेनैवाऽभौ संसृष्टः, तथाच नामवस्थेत्यत आह—।^b“नच वाच्यमि”ति । स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावात्संसर्गाभावस्य संसर्गान्तरविशेषणद्वारा कथञ्चिद्देवो भवेत्तदभावे तु भेदकाभावात्तदन्योन्याभावमादाय सुनरां प्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ नदेवाह—। “संसर्गान्तरे”ति ॥ किञ्च, स्मृतित्वरहितत्वं—स्मृतित्वसंसर्गनिषेधः, स्मृतित्वसंसर्गश्च तव स्मृतित्व धर्मिस्वरूपं (४) चेत्यत्र पर्यवसन्नं, तादृशश्च स्मृतित्वसंसर्गो न भवस्य।प्यस्तीति न तन्निषेधस्तत्र समवतीति पुनरपि विशेषणवैदर्भ्यादिकमेवे याह । “किञ्च”ति ॥

स्मृतौ स्मृतित्वसमवायस्य, अनुभूत्यात्मकधर्मिणश्चेतित्रयाणामपि यथायथं स्वरूपतः सत्त्वात्, यद्यप्यनुभूतिर्न स्मृत्यात्मकधर्मिस्वरूपा, तथापि धर्मित्वेन धर्मिविशङ्कया दोषस्तदवश्य एवेति भावः । अत एव च न स्मृतित्वसंसर्गस्य संसर्गाभाषोऽप्यनुभूतौ, नहि भूतले संगोगेन घटसङ्कावकाले घटसंगो गस्याभाव इत्यलमनस्यविस्तरेण । (१) स्मृतित्वधर्मिस्वरूपम्=स्मृतित्वस्य यो धर्मो (स्मृतिः) तत्स्वरूपं ; यद्वा, स्मृतित्वं च धर्मो च स्मृतित्वधर्मिणौ तयोः स्वरूपं (स्मृतिस्मृतित्वोभयस्वरूपमिति यावत्), विद्यावागदकृतध्यायानुसारिषाठे तु स्मृतित्वेतिपदं न दूश्यते, केवलं तदघटित एव “स्मृतित्वसंसर्गो धर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मकत्वे व्यवस्थाप्यमाने”-इति पाठः । (२) ‘दूयोरपि स्वरूपेण सत्त्वाद्’-इति शेषः ।

(३) यतः स्मृतित्वरहितत्वं-स्मृतित्वसंसर्गस्यापि संसर्गाभाव एव-इत्यन्वयः ।

(४) ‘स्मृतित्वं धर्मिस्वरूपं चेत्युपलक्षणं स्वात्मकसंसर्गस्यापि, स्मृतित्वसंसर्गस्मृतित्वधर्मिस्वरूपेति दुभयात्मकत्वस्यैव प्रक्रान्तत्वात् ।

मू० “अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्ग-
स्तदवस्थः, स्मृतौ तस्यार्थान्तरभूतस्य भवतानभ्युपग-
मात् । स्वरूपमेव तयोः (१) संबन्ध इति हि तत्र भवतो-
ऽभ्युपगमः । ^१अथोच्यते, * अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः
स्वरूपसंभवेपि न परस्परसंबद्धबुद्धिजनकत्वं तयोः,
तादृक्त्वं (२) च यत्र तयोस्तत्र संबन्धात्मकत्वं स्वरू-
पयोरुच्यते*, -इति, मैवम्, ‘विशेषोपसंग्राहकासिद्धौ
तस्याप्यनुपपत्तेः ।

टी० ॥ ननु स्मृतित्वसंसर्गो न निषिध्यते किंतु स्मृतित्व-
संसर्गस्यार्थान्तरभूतः संसर्गो नु भवे निषिध्यते तथाच स्मृतित्व-
हितत्वं (३) न स्मृतौ किंत्वनुभवे तदस्तीत्यत आह-। “अर्थान्त-
रभूतस्ये”ति । त्वदभ्युपगमरीत्या स्मृतावप्यर्थान्तरभूतः स्मृति-
त्वसंसर्गस्य संसर्गो नास्तीति पुनरपि स्मृतौ प्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः ।
“स्मृतौ स्मृतित्वमस्त्यनुभूतौ च तदत्यन्ताभावः? -इति चेत्,
स्मृत्यनुभवयोर्विशेषाभिधानमतन्त्रमेव, यतः स्मृतित्वस्याप्यनु-
भूतित्ववदुपप्लावनीयत्वात् (४); ‘अत्यन्ताभावः’-इति च यद्या-
त्यन्तिकोऽभावस्तदा स्मृतावपि स्मृतित्वस्यात्यन्तिक एवान्योन्या-
भावोऽस्तीति प्रमङ्गतादवस्थं, यदि च नित्यः संसर्गाभावोऽत्य-
न्ताभावः, नदा संसर्गान्योन्याभावमादाय कनस्य प्रसङ्गस्यापरिहार
एवेति भावः ॥ नत्वनुभूतेः स्वरूपं स्वरूपमेव, स्मृतित्वसंसर्ग-
स्यापि स्वरूपं स्वरूपमेव, नच तदुभयं स्वरूपं संबन्धात्मकं, पर-
स्परौपसंग्रहप्रत्ययजनकयोरेव स्वरूपयोः स्वसंबन्धात्मकत्वाद्,
उपसंग्रहप्रत्ययश्च स्मृत्यैव समं स्मृतित्वसंसर्गस्य नत्वनुभूत्यापीति
शङ्कते-। ^२“अथोच्यते” इति ॥ स्वरूपविशेषस्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गं च

(१) तयोः = स्मृतिव्यक्तिस्मृतित्वयोः । (२) तादृक्त्वं=परस्पर-
संबद्धबुद्धिजनकत्वम् । (३) स्मृतित्वरहितत्वम्=स्मृतित्वसंसर्गनिषेधः ।
(४) ‘अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ’-इतिकारिकाया अग्रे
क्रियद्दरे “गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिरिति च स्मृतिलक्षणे धाराबाहिकज्ञा-
नेऽतिप्रसक्तिः”-इत्यादिमूलग्रन्थेनोपप्लावनीयत्वादित्यर्थः ।

सह यदुपसङ्घप्रत्ययजनकत्वं तदुपयाहकमवच्छेदकं चेत्तास्ति तदा तस्यापि (=उपसङ्घप्रत्ययजनकत्वस्यापि) अनुपपत्तिरित्याह—
“विशेषे”ति ॥

सू० “उपसङ्घाहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेऽपि प्रसङ्गेनापराप-
रोपसङ्घाहकगवेषणायामनवस्थापातात्, एताव-
तापि^(१) चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः
स्यात् ? । * “स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे”—इत्येवं-
रूपबुद्धिजनकत्वस्य * ?-इति चेत्, “भ्रान्त्यात्मि-
काया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात् ।
* यथार्थायाः !*, -इति चेत्, ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि
सत्त्वमभ्युपैषि तदानुभूती स्मृतित्वप्रसङ्गः, अथ ना-
भ्युपैषि, किं प्रति^(२) तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः?।

टी० ॥ यदि स्मृती तदुपसङ्घप्रत्ययजनकत्वं प्रति किञ्चि-
दवच्छेदकमनुगतं वाच्यं, तदा तेनापि संबन्धः स्वरूपमेव वाच्यं,
तत्रापि तदुपयाहकपरम्परानुसरणेऽनवस्थेत्याह— “उपसङ्घा-
हके”ति ॥ अनुभूतौ स्मृतित्वसंसर्गो नारतीत्यत्रान्योन्याभाव-
नादाय कृतः प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्याह— “एतावतापी”ति ।
स्मृतित्वसंसर्गनिषेधस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति भावः ॥ ननु ‘स्म-
ृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे’-इतिबुद्धिरस्ति, ‘स्मृतित्वसंसर्गानुभूती
संबद्धे’-इतिबुद्धिर्नास्ति, तथाचैतादृशबुद्धिजनकत्वस्यैव निषेधो-
नुभवे क्रियते, इति शङ्कते— “स्मृतित्वे”ति ॥ ‘अनुभवोपि स्म-
तिरेवे’तिभ्राम्यतः ‘स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे’-इतिबुद्धिः सं-
भवत्येवेति तज्जनकत्वस्यानुभवे निषेधुमशक्यत्वमिति परिरह-
रति— “भ्रान्ती”ति ॥ ‘स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे’-इतीदृश-
प्रमाणजनकत्वमनुगवे यदि निषिध्यते तदा निषेधस्य क्वचिदपि

(१) सम्बन्धबुद्धिजनकत्वमेव स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गयोर्न सम्भवति नि-
यामकाभावादित्युक्तमिदानीं तदभ्युपगमेऽनुभूतिलक्षणस्यापिबुद्धिरित्या-
ह-एतावतेति । (२) किं प्रति = किं प्रतियोगिनं प्रति, तस्याः = तादृ-
शानुभूतिनिष्ठः ।

मिद्धौ स्मृतित्वसंसर्गानुभवे मिद्ध एवेत्याह-। “इदृशे”ति ॥
 सू० “अथात्यन्तासतीमेतादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावाव-
 धारणमनुभूतेरभ्युपैषि”तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः, ‘याव-
 त्यस्तद्बुद्ध्यस्तत्र जायन्ते तदधिकं तादृशबुद्धिमत्य-
 न्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि संभवात् । *
 “सर्वमिव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूते, न त्वेवं
 स्मृतेः * ?-इति चेत्, ‘सर्वतद्बुद्ध्यक्तिप्रमित्यसम्भवात् ।
 किंच, ‘सर्वमि’ति कोथं ? किमसतीं सर्वाम् ? उत
 सतीम् ? उत सतीमसतीं चेत्युभयीं प्रत्यजनकत्वम् ? ।
 “आद्ये द्वितीये च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव,
 नहि (१) ‘स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे’-इति यावत्यः
 स्मृतिव्यक्तिषु बुद्ध्य उत्पद्यन्ते ताः प्रति प्रत्येकं
 स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमस्ति (२) ।

टी० ॥ नन्वेतादृशी बुद्धिः क्वचिदपि भास्यत एवानुभूती
 तादृशबुद्धिजनकत्वं निषिध्यते इति शङ्कते- “अथे”ति ॥ अ-
 त्यन्तासत्यास्तादृशबुद्धेर्जनकत्वं स्मृतावपि नास्तीति स एव प्र-
 सङ्ग इति परिहरति-। “तदे”ति ॥ ननु यथाऽनुभूतौ स्मृतित्व-
 संसर्गज्ञानममत् न तथा स्मृतौ, तथाच कथमत्यन्तासत्तादृशबुद्धिं
 प्रत्यजनकत्वं स्मृतावपीत्यत आह-। “यावत्य”इति । स्मृतौ स्मृ-
 तित्वसंसर्गबुद्ध्यः मत्स्यो भवन्तु तेनैवा (३) सतीं तादृशबुद्धिं प्रत्य-

(१) असतीं सर्वां प्रत्यजनकत्वपक्षस्य (प्राथमिकस्य) स्मृतौ स्फुटत्वा-
 त्तमुपेक्ष्य सतीं तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वपक्षं (द्वितीयं) व्याचष्टे-न होति ।

(२) ‘प्रत्येकं, मितितात् (सर्वस्मात्) भिन्नमि’ति मते सर्वां निरुक्तबुद्धिं
 प्रति सर्वस्याः स्मृतेर्जनकत्वोपि नैकैकस्याः स्मृतेर्जनकत्वमिति भावः । यद्वा
 यावन्निरुक्तबुद्धिं प्रति तत्तद्विषयीभूतप्रत्येकस्मृतिव्यक्तेर्विषयविधया जनक-
 त्वेपि तत्तद्बुद्ध्यविषयीभूतप्रत्येकस्मृतिव्यक्तेरजनकत्वमेव, नहि ‘त्रैवीय-
 स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे’-इत्याकारकबुद्धिजनकत्वं त्रैवीयस्मृतिव्यक्ते-
 रसतीति भावः । (३) तेनैव=स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गबुद्धेः सत्त्वेनैव, अथ-
 तीम्=अनुभूत्यादावसतीं, तादृशबुद्धिं=स्मृतित्वसंसर्गबुद्धिं प्रतीत्यर्थः ।

जनकत्वं स्मृती सुलभमित्यर्थः ॥ ननु बुद्धौ सत्त्वमरुत्वं वा विशेष-
खनतत्रं, किन्तु सत्त्वाः स्मृतित्वसंसर्गोपरिलक्ष्यबुद्धीः प्रति जनक-
त्वमनुभूतौ निषेधाम इत्याह-। “सर्वाभि”ति ॥ सामान्यलक्षणया
प्रत्यासर्पया सर्वनादृशबुद्धिजनकत्वनिषेधः प्रतीयेत, सैव नास्ती-
त्याह-। “सर्वतद्व्यक्ती”ति ॥ ननु सामान्यलक्षणायां त्वदन-
भ्युपगममात्रमत्रमित्यनुशयेनाह-। “किंचे”ति ॥ एकैकस्याः
स्मृतिव्यक्तेः सतीमसतीं वा तादृशबुद्धिं सर्वा प्रति जनकत्वं
न सम्भवतीति स्मृतिरपि न स्मृतिः स्यादित्याह-। “आद्ये
द्वितीये चे”ति ॥

सू० “काञ्चित्सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितं,
तृतीयै च नानुभूतावपि तदजनकत्वं, सत्यासत्यता-
दृशबुद्धेर्भावेनाभावेन च सतीमसतीं प्रत्यजनकत्व-
स्यासम्भवादिति । * स्यादेतत्, स्मृतित्वस्यान्योन्या-
भावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दशिता सा नोपपद्यते,
भेदाभेदादिमते स्मृतित्वभेदाभेदस्य स्मृत्या सहा-
ऽभ्युपगमात्, ययोर्भेदाभेदस्तयोस्तत्रान्योन्याभावान-
भ्युपगमात्^(१)* । न ।

टी० ॥ नन्वेकैकस्याः स्मृतिव्यक्तेः सर्वां प्रति जनकत्वं
नास्तु काञ्चिन्मतिं सतीं प्रति तु तद^(२)स्तीत्येत आह । “काञ्चि-
दि”ति । अनुभूतौ यथार्थनादृशबुद्धिमिद्वौ स्मृतित्वापत्तिदोषस्य
प्रागभिधानादित्यर्थः ॥ “तृतीयै”इति । जनकत्वनिरूपकतादृ-
शबुद्धेः सत्त्वेकानुभूतौ तदजनकत्वम्?, असत्त्वे च निरूपकाप्रसि-
द्ध्या तदजनकत्वमशक्यमिति मित्यर्थः । प्रत्येकजनकत्वमादाय
स्मृती प्रसङ्गे^(३)सत्येव दीषान्तरमेतत् । यद्यपि ‘स्मृतित्वसंसर्गा-
नुभूतौ न सम्बद्धे’-इत्येवं प्रतीयमानाभावप्रतियोगिनः सम्बन्ध-

(१) अन्योन्याभावानभ्युपगमाद्=आत्यन्तिकभेदाऽनभ्युपगमाद्, (अभे-
दवह्निष्णुभेदानभ्युपगमादिति यावत्) अभेदवह्निष्णुर्भेदस्त्वङ्गाक्रियते एव ।

(२) “अनुभूतेस्तु काञ्चिदपि स्मृतित्वसंसर्गबुद्धिं सतीं प्रति जनकत्वं
नास्ति”-इति शेषः । (३) प्रसङ्गे=अनुभवत्वप्रसङ्गे ।

स्य निषेधे नुभूतौ, ननु स्मृतावपीतयनुभवनिष्ठमेतत्, स च सम्बन्धः स्वरूपं वा सम्बन्धान्तरं वेत्यन्यदेतत्; किंच 'स्मृति-
त्वं स्मृती', 'स्मृतित्वसमवायः स्मृती', 'स्मृतित्वसंसर्गः स्मृता-
वि'त्यादिप्रतीतिविषयीक्रियमाणः स्मृतित्वसंसर्गाऽनुभूतौ निषि-
ध्यते; यद्वा, स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गस्वरूपं नानुभव इति निषेधः
सम्भवत्येव, तथापि विचार्यमाणमिदमपि हस्तसमावरणमेवेति
भावः ॥ भट्टमतेनोपपत्तिं शङ्कते-। "स्यादेतदि"ति । स्मृति-
त्वरहितत्वमित्यत्र स्मृतित्वाभाववत्त्वं विवक्षितं, तच्च स्मृति-
त्वान्योन्याभाववत्यां स्मृतात्वपि गतम्-इति यदुक्तं तन्नोपप-
द्यते, यतः स्मृतित्वस्य स्मृत्यभिन्नतया^(१) तदन्योन्याभावस्य
तत्राभावादिति शङ्कार्थः ॥

सू० "कथं ह्यवधार्यं स्मृतित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभू-
त्या-इति? । * "अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभा-
वाद् !*-इति चेन्न, 'किं सत्या वा? किमसत्या वा?
इत्याद्युक्तविकल्पदोषात् । * "प्रागभावप्रतियोगि-
न्याः? *-इति चेन्न, 'अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेणा-
नुभूतेस्तथात्वापातात् । 'स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्या-
भावाभावश्चा^(२)न्योन्यात्माऽनुभूतावपि तुल्यः, नहि
स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतः, इत्युक्तमावर्तते ।

टी० ॥ स्मृतेरिवानुभूतेरपि धर्मः स्मृतित्व कुतो न भवति ?
तथाचानुभूत्यभिन्नमपि स्मृतित्वमिति ठयाप्यवृत्तेस्तदन्योन्या-
भावस्य तत्राप्यभावादिति परिहारमाह-। "कथं ही"ति ।
अनुभूतौ स्मृतित्वरहितत्वस्योपपादयितुमशक्यत्वादिति भावः ॥
नन्वनुभूतिमादाय स्मृतित्वविशिष्टप्रमा नास्तीति न स्मृतित्व-
मनुभूतेरपि धर्म इति न भेदाभेद इति शङ्काभाह-। "अनुभू-

(१) स्मृत्यभिन्नतया=स्मृतिभेदवहिष्यभेदवत्तया, तदन्योन्याभाव-
स्य=स्मृतित्वान्तरिकभेदवत्त्वस्य, तत्र=स्मृती । (२) अन्योन्याभावा-
भावश्च=ज्ञात्यन्तिकभेदाभावश्च, अन्योन्यात्मा=अन्योन्याऽभावस्वरूपः

त्ये"ति ॥ स्मृतित्वानुभूत्योर्वैशिष्ट्यप्रमा यदि सती निषिध्यते तदा तत्सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्धम्, अथासती निषिध्यते तदा स्मृतावपि न स्मृतित्ववैशिष्ट्यं, तत्राप्य^(१)सत्तयाः प्रमाया अभावात्-इतिपरिहारमाह-। "किं सत्या"इति । ननु सत्य-सती वा प्रमेति न ब्रूमः, किन्त्वनुभूतिस्मृतित्वयोर्वैशिष्ट्यप्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी नास्ति यथा स्मृतिस्मृतित्वयोरितिश-ङ्काभाह-। "प्रागभावे"ति ॥ प्रागभावप्रतियोगिनी या तादृ-शी^(२)प्रमा सा नास्तीति यद्यर्थस्तदा प्रागभावप्रतियोगित्वं तादृ-शप्रमायाः सिद्धमेवेति तदुत्पाद आवश्यक इति सिद्धमनुभूतौ स्मृतित्ववैशिष्ट्यम्, अथ तादृशी प्रमा^(३)प्रागभावप्रतियोगिनी न भवतीत्यर्थः तथापि प्रमायाः सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्ध-मेवेतिपरिहारमाह-। "अनुभूतावि"ति ॥ दूषणान्तरमाह-। "स्मृती"ति । स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावविरहे^(४)भेदाभेद-वादे यथाऽन्युपगम्यते तथाऽनुभूतावपि स्मृतित्वान्योन्याभाव-विरहेऽस्त्येव, स्मृतित्वान्योन्यावविरहे हि तदन्योन्याभा-वान्योन्याभावरूपः, सोनुभूतावपि समानः, नहि स्मृतित्वा-न्योन्याभाव एवानुभूतिरित्यर्थः ॥ "उक्तमि"ति । यथा स्मृ-तित्वराहित्यं तदन्योन्याभाव^(५)इत्युक्तं तथा स्मृतित्वान्योन्या-भावरहित्यमपि तथैव उक्तयमन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदस्य त्वयाऽद्याप्यनुपपादनादित्यर्थः ॥

सू० *अथ^(६)मा भूद् भेदाभेदमादाय परिहारस्तथापि 'इदं तन्न भवति' 'इह तन्नास्तीतिप्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदः ? *-इति चेन्न,

(१) तत्रापि = स्मृतावपि, असत्तयाः = अनुभूत्याद्यवच्छेदेनासत्तयाः (स्मृतित्ववैशिष्ट्यप्रमायाः) अभावादित्यर्थः । (२) तादृशी प्रमा = अनुभूत्यनुयोगिकत्वविशिष्टस्मृतित्ववैशिष्ट्यप्रमा । (३) अन्योन्याभाव-विरहः = आत्यन्तिकभेदाभावः । (४) तदन्योन्याभावः = स्मृतित्वा-न्योन्याभावः; तथैव = स्मृतित्वान्योन्याभावान्योन्याभावरूपम् ।

(५) { अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदलक्षणम् ।
प्रक्रम्यते निबन्धेऽस्मिन् भङ्गार्थं भेदवादिनाम् ॥ १८ ॥ }

^bप्रतियोगिरूपोपाध्यवैचित्र्या^(१)दभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्चानयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणी^(२)ति तदनादरणात् । *नच स्वप्रतियोगि "समानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभावः, तदन्योन्याभाववैश्वर्यं तदभावः संसर्गाभावः*, यथासंभवमात्माश्रयाद्य-ऽननुभव-स्वभेदाऽननुगम-तत्तदवगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोः प्रतीतिवैलक्षण्ययाद् वैलक्षण्यमिति शङ्कते-। "अथे"ति ॥ "प्रतियोगी"ति । प्रति-योगिभेद, उपाध्यन्तरभेदो, जातिभेदो वा, यदि प्रत्येतदयभेदको नास्ति तदा प्रतीतिवैलक्षण्यमतन्त्र^(३)मित्यर्थः ॥ प्रतीतिवैलक्षण्यबलादायातमुपाध्यवैलक्षण्यमाशङ्क निराकरोति-। "नचे"ति ॥ प्रागभावप्रध्वंसभावस्याभ्यासतिष्ठयामिषारणायाह-। "समानकाले"ति । अत्यन्ताभावेऽनिष्ठ्यामिषारणायोक्तं-"समानाधिकरणे"ति, आकाशाद्यन्योन्याभावोपग्रहश्च यथाकथञ्चित्तदधिकरणविवक्षया^(४), बद्दरसंयोगस्य स्वप्रतियोगिना बद्दरेण कुण्डे सामानाधिकरण्यमत उक्तम्-"अभाव"इति, प्रतियोगिपदस्य^(५)निरूपकपरत्वात्; स्वाभाव^(६)विरहात्मपरतायान्त्वभावापद-

(१) 'भूतले घटो नास्ति' भूतलं घटो नेत्युभयत्राप्यन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्घटस्य प्रतियोगिन एकत्वान्तयोर्भेदो न स्यादेवमन्यत्रापि भावः । (२) कूटसाक्षिणी = मिथ्याबुद्धिसाक्षिणी । (३) प्रतीतिवैलक्षण्यं हि प्रत्येतद्व्यवैलक्षण्यधीनमिति प्रतीतिवैलक्षण्यत्वात्प्रागन्योन्याभावसंसर्गाभावरूपप्रत्येतद्व्यवैलक्षण्ये तदनियामकमेवेति भावः ।

(४) वृत्त्यनियामकस्वन्धेन सम्बन्धित्वविवक्षयेत्यर्थः । (५) ननु बद्दरस्य कथं संयोगं प्रति प्रतियोगित्वं ? प्रतियोगिन उदयनाचार्य्यमतेन स्वाभावविरहात्मत्वात् बद्दरसंयोगस्य च बद्दराभावरूपत्वाभावात्, नापि च बद्दरसंयोगाभावो बद्दरमित्यत आह-प्रतियोगिनि । (६) ननु बद्दरसंयोगस्य प्रतियोग्येव बद्दरं न भवति, आचार्य्यमते प्रतियोगिनः स्वाभावविरहात्मत्वाद् बद्दरस्य च संयोगाभावरूपत्वाभावात्, तथाच न बद्दरसंयोगेऽतिप्रसङ्गः इत्याह-स्वाभावेति, अतिरिच्यते = अधिकं भवति, तथाच न देयमेवाभावपदम् ।

नतिरिच्यते, यत्किञ्चित्प्रतियोगिसमानकालसमानदेशत्वमन्य-
न्ताभावस्यापीत्यत उक्तं—“स्वे”ति ॥ “तदन्योन्याभाववा-
नि”ति । तद्विन्न इत्यर्थः ॥ ^१“यद्यामन्भवनि”ति । अभावत्वं
(^१)हि भावभिन्नत्वं, तच्च भावान्योन्याभाववत्त्वमित्यन्योन्या-
भावेनैवान्योन्याभावनिरूपणादात्माश्रयः; अथाभावत्वं भाव-
त्वात्यन्ता ऽभाववत्त्वं, तदाऽत्यन्ताभावस्य संसर्गाभावत्वात् तस्य
चान्योन्याभावाभाववत्त्वेन (^२)त्वयाऽभिधानादन्योन्याभावनि-
रूप्यः संसर्गाभावस्तन्निरूप्यश्च पुनरन्योन्याभावः—इत्यन्यो-
न्याश्रयः; अथाभावत्वं, भावभिन्नत्वं तच्च भाववैधर्म्यं, तच्च तद-
न्य(^३)वृत्तिधर्मात्यन्ताभाववत्त्वं, तदन्यत्वं च तदन्योन्याभाव-
वत्त्वमिति स्वापेक्षाऽपेक्षित्वेन (^४) चक्रकम्; अथाभावत्वं भाववि-
रोधित्वं, विरोधित्वं च धर्मा धर्मिभिन्नः, स च येन भेदेन भिन्नः
सोऽन्योन्याभावो वाच्यः, स यदि स्ववृत्ति(^५)स्तदात्माश्रयो, अन्यो-
न्यवृत्तिस्तदान्योन्याश्रयो, ऽपरापरान्युपगमे चानवस्था; यद्वा अ-
न्योन्याभावस्यान्योन्याभावोस्ति? न वा? आद्ये, स यदि स्वरू-
पमेव, तदा स्वनिरूप्यत्वादात्माश्रयः अथापर, स्तदा तस्याप्य-
न्योन्याभावो यदि पूर्वं एव, तदान्योन्यनिरूप्यत्वेऽन्योन्या-
श्रयः; अथ प्रथमान्योन्याभावादन्य एव द्वितीयान्योन्याभाव, स्तदा
तस्यापि यदि प्रथम एव, तदा चक्रक; यदि प्रथमादन्यः, तदा

(१) ‘स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणो ऽभाव’—इत्यन्योन्या-
भावलक्षणस्यमभावत्वमित्यर्थः । (२) अन्योन्याभावाभाववत्त्वेन = अ-
न्योन्याभावभिन्नत्वेन । (३) तदन्येति, अभावाग्यभाववृत्तिभावत्वरूपध-
र्मात्यन्ताभाववत्त्वमित्यर्थः । (४) चक्रकम्—भावभिन्नत्वमभावान्यवृत्ति-
धर्मात्यन्ताभाववत्त्वघटकीभूतमभावान्यत्वमभावान्यत्वं चाऽन्योन्याभा-
वमन्योन्याभावश्च पुनर्भावभिन्नत्वमपेक्षते इति चक्रकमित्यर्थः । स्वापे-
क्षापेक्षित्वेन, स्वं = भावभिन्नत्वं, तदपेक्षः परस्परया (अभावाग्यत्वद्वारा)
अन्योन्याभावः, तदपेक्षित्वेन भावभिन्नत्वस्येत्यर्थः । यद्वा, स्वं = चक्रक
घटकत्रयमध्ये द्वितीयम् (अभावाग्यत्वम्) तदपेक्षाऽन्योन्याभावस्तदपे-
क्षित्वेन भावभिन्नत्वस्येत्यर्थः । स्वापेक्षापेक्षित्वेनेति पाठे तु न क्लृप्त-
कल्पना । (५) स्ववृत्तिः = स्वात्मकेन भेदेन धर्मिणो भिन्नः ।

पञ्चषष्ट्याद्यभ्युपगमे^(१) यदि परावृत्तिस्तदाचक्रकम्; अपरावृत्तौ, चानवस्था; तदुत्तरान्योन्याभावात्तनुभवश्च; 'स्वप्रतियोगी'त्यत्र स्वपदेन विशिष्य तत्तदन्योन्याभावाभिधानेऽननुगमः; तस्य- तस्याऽन्योन्याभावस्याऽसर्वज्ञतावगमो नाभ्युपगम्यते^(२) इत्यर्थः। यदा स्वशब्देनान्योन्याभावाभिधानं तदा तेनैव तन्निरूपणे आत्माश्रयः; प्रतियोगिपदेन च यद्यन्योन्याभावविरोध्यभिधी- यते तदात्माश्रयः;—इत्याद्युन्नेयम् । यद्यपि प्रतीतिवैलक्षण्यं प्रत्येकवैलक्षण्यव्याख्याविनाभूतं, तदेव चात्रोद्देश्यं, विशिष्य वैल- क्षण्यानभिधानेपि न किञ्चिदनिष्टं, नहीतु क्षीरगुहादिमाधु- र्याणां विशिष्यानभिधानमात्रेण निवृत्तिः । किञ्च, प्रतीति- विशेष एव लक्षणमुभयोः संभवति, संभवति च तादात्म्या- वच्छिन्नप्रतियोगिकत्वं संसर्गवच्छिन्नप्रतियोगिकत्वमुभयोः प्रत्येकं वैशिष्ये प्रतीतिवैशिष्याहृतं, तथापि हस्तसमावरणमे- तत्, 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'—इत्यस्यापि मयोपप्लावनीयत्वात्; तथाच ब्रह्मते—“नाऽत्यापत्या प्रणामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः”—इत्यादीति भावः ॥

मू० * ननु 'संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभावः—इत्युक्ते एव न मिश्रता तयोः, 'यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः स संसर्गनिषेध एव न भवति, तादात्म्यप्र- तियोगिकत्वात् * ?—इति मैवम्, "द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसाः नैवं संसर्गा- भावाः स्युः, संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवा- यस्वरूपतया समवाया ऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । 'किञ्च,

(१) "पञ्चषष्ट्याद्यभ्युपगमे"—इति तु प्रायः पुस्तकेषु प्रतीयमानः प्रासादिकः पाठो ज्ञेयः। पञ्चषष्ट्याद्यभ्युपगमे—इति तु युक्तः पाठः, यदि तु यथोक्तपाठे स च अद्वालाकार्यं तदा तु पञ्चभिर्युक्तः षष्ठ्यादिर्येषामित्येवं कथञ्चिद्विगृह्य। नि- र्वोदव्यम् । (२) नाभ्युपगम्यते,—केनापि शास्त्रकृता न स्वीक्रियते इत्यर्थः । नाऽभ्युपगम्यते इत्यस्य असर्वज्ञे न इत्यनेनान्वये तु नानुव्यवसीयते इत्यर्थः ।

तर्हि संसर्गान्योन्याभावी द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः, 'संसर्गतादात्म्ययोश्चाविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्, 'एवं यद्यदेव प्रतियोगिवाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात् ।

टी० ॥ उक्तिमम्भवमात्रेण शङ्कते-। "नन्वि"ति ॥ "उक्ते एवे"ति । उक्ते सत्यवेत्यर्थः । निश्चिता = एकत्वम् ॥ "यो ही"-ति । स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतौ यः प्रसङ्गः कृतः स नदा भवेत् यदि स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः संसर्गभावो भवेदपितु तादात्म्याभाव एवासी, स्मृतित्वसंसर्गतादात्म्यप्रतियोगित्वादित्यर्थः ॥ यदि संसर्गप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गभावः स्यात्तदा द्रव्यादीनां समवायिकारणगतौ ध्वंसप्रागभावौ संसर्गभावौ न स्यातामित्याह-। "द्रव्ये"ति । यद्यपि समवायनित्यत्वेपि रूपादिनिरूपितत्वावच्छिन्नस्य समवायस्यानित्यत्वमेव, विशिष्टस्यान्यत्वात्^(१); तथाच रूपसमवाये ध्वंसते एव, अत एव वायौ स्पर्शसमवाये सत्यपि रूपसमवाये नास्तीति, तथापि नित्यमपि विशेषणान्तरावच्छिन्नं ध्वंसते इत्यनुपपन्न^(२)मेवेति भावः ॥ यदि च संसर्गप्रतियोगिक एवाभावः संसर्गभावस्तदा घटादयो नाभावप्रतियोगिन इति देशभेदेन तेषामनिषेधे वैमवं, कालभेदेन तेषामनिषेधे नित्यत्वमपि, इति पदार्थवैचित्र्यं माधु त्वया ठ्युत्पादितमित्याह-। "किंचे"ति । दोषान्तरमाह-। "संसर्गे"ति । घटादीनां प्रतियोगिकोटावप्रवेशे संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं च निषिध्यतेति ते^(३)कचिदपि देशे काले वा न स्यातामित्यर्थः ॥ घटादीनामपि स्वरूपेण प्रतियोगित्वे समानमिदं

(१) 'विशिष्टं बुद्धादतिरिच्यते'-इतिमते विशिष्टसमवायस्य शुद्धसमवायादतिरिक्तत्वादित्यर्थः, तथाच रूपसमवायः=रूपनिरूपितत्वावच्छिन्नः समवायः, ध्वंसते=विनश्यत्येव । (२) अनुपपन्नमेवेति, ब्राह्मणात्वविशेषणावच्छिन्नस्य गौडादेर्द्रव्यादिविशेषणान्तरावच्छिन्नत्वेनाऽ-गौडत्वादेर्लोकैऽदर्शनादित्याशयः । (३) ते = संसर्गतादात्म्ये ।

दूष(१)णमित्याह-। "एषमि"ति ॥

मू० "तस्यापि संसर्गं प्रति धावने च तदक्षतं, 'संसर्गानवस्था, 'शेषीच्छेदात्पूर्वपूर्वीच्छेदो वा स्यात् ।

टी० ॥ ननु स्यादेव यदि संसर्गः स्वरूपत एव निषि-
ध्येत, किन्तु संसर्गस्यापि संसर्ग एव निषिध्यते, तथाच न संस-
र्गस्वरूपविलोप इत्यत आह-। "तस्यापी"ति । यथा घटस्य
संसर्गो निषिध्यते इति घटस्वरूपं देशतः कालतश्चाक्षतं तथा
संसर्गस्य संसर्गं निषिद्धे प्रथमसंसर्गस्वरूपमक्षतं स्यात्, तथाच
घटवत् नत्संसर्गोपि निरवधिः स्यादित्यर्थः ॥ देवान्तरमाह-।
"संसर्गानवस्थे"ति । पर्वपर्वसंसर्गनिषेधार्थमुत्तरोत्तरसंसर्गोपि-
क्षणे संसर्गानवस्था स्यादित्यर्थः ॥ अथ क्वचिद्गृत्वा संसर्ग एव
निषेध्यो नतु तस्यापि संसर्गान्तरमिति नानवस्था, तदा यः संसर्गो
निषेध्यः स स्वरूपत एव न स्यात्तन्निषेधे च तत्पूर्वः, एवं
तत्पूर्व, संसर्गो न भवेदिति पुनरपि संसर्गमात्रविलोप इत्याह-।
"शेषे"ति । यद्यपि संसृष्टो घटो यत्र निषिद्भूते स संसर्गाभावः,
संसृष्टनिषेधश्च घटनत्संसर्गयोर्निषेधः, तथाच घटसंसर्गनिषेध-
नान्तरीयको घटनिषेधः संसर्गाभावः, तद्वान्तरीयकघटनिषे-
धोऽन्योन्याभावः-इति वैषम्यं, तथापि संसर्गप्रतियोगिकसं-
र्गाभावे संसर्गाऽऽनन्त्यापत्तिरिति भावः ॥

मू० *अथ "न प्रतियोग्यनुयोगिनो(२)स्तथात्वं विरोधः,
किन्तु सहभावाभावो,ऽतः 'तन्मात्रं न स्यात्, 'नतु
तन्मात्रमेव न स्याद् ?*, -इति चेन्न, "अनुयोगिनि
प्रतियोग्यापत्तेः । * 'तथाप्रमाऽभावात्कथं तथाऽऽ-
स्ताम् ? * -इति चेन्न ।

(१) घटादयोपि क्वचिद्देशे काले वा न स्थिरित्याकारकं दूषणमित्यर्थः ।

(२) प्रतियोग्यनुयोगिनोः (=भावाभावयोः) तथात्वं (स्वरूपभूतो
विरोधो) न, किन्तु सहभावाभावः=सहानवस्थानं विरोधः, अतः तन्मा-
त्रं=सहभावमात्रं, तयोर्भावाभावयोर्न स्यात् न तु तन्मात्रमेव=स्वरूपमेव
तयोर्न स्यादिति, किन्तु स्यादेवेत्यर्थः ।

टी० ॥ ननु समर्गतादात्म्ययोरविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदस्तदा स्याद्यदि निषेधेन सह प्रतियोग्यनुयोगिभावावो^(१)विरोधो भवेत्^(२), किन्तु सहानवस्थानं विरोधः तथाच यत्र संमर्गस्य तादात्म्यस्य वाऽभावस्तत्र ते न स्यातामन्यत्र तु स्यातामेवेति शङ्कते-। “न प्रतियोग्यनुयोगिनोरिति”ति ॥ “तन्मात्रमिति”ति । सहभावमात्रमित्यर्थः ॥ “नतु तन्मात्रमिति”ति । प्रतियोगि^(३)मात्रमित्यर्थः ॥ यदि प्रतियोग्यनुयोगिभावावो विरोधः प्रतियोगिना महाभावस्य नेष्टस्तदाऽनुयोगिन्यभावे प्रतियोगिनो घटादेराप^(४)त्तिरित्याह-। “अनुयोगिनी”ति । यद्यपि प्रतियोग्यापत्तिर्न तदुत्पत्तिः, घटाभावे घटोत्पत्तिसामग्रीविरहात्; नापि प्रतियोगिप्रभोत्पत्तिः, अभावे प्रतियोगिमत्तया प्रमाकारणाभावात्; नापि प्रतियोगिने वृत्तिरापत्तिः, अभावस्य संयोगसमवाययोरभावात्; अन्यथा^(५)रूपरसावबिरुद्धाविति तयोरन्योऽन्यस्मिन्नदुत्पत्तिस्थितिज्ञप्तयः स्युः, तथापि प्रतियोग्यनुयोगिभावावो यदि न विरोधः तदा परस्परविरुद्धरूपत्वं नयो^(६)र्न स्यात् गोत्वशावत्वयोरिवेति भावः ॥ अनुयोगिनः प्रतियोगिमत्तया प्रमा नास्तीति कथमनुयोगिनि प्रतियोग्यापद्यनामित्याह-। “तथे”ति ॥

मू० “तथाप्रमाऽभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात्-प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोः स्यात्थ ? । * “तथा न प्रमीयमाणात्वमेव

(१) प्रतियोग्यनुयोगिभावावो विरोधः = प्रतियोग्यभावयोः स्वरूप-विरोधः, स चाभाव प्रतियोगिस्वरूपं न, प्रतियोगी चाभावस्वरूपं नेत्याकारकप्रतीतिवाकिकः । अनुयोगी प्रकृते सर्वत्राभावो ग्राह्यः ।

(२) ‘विरोधो भवेदित्यतोऽग्रे ‘प्रतियोगिनः’-इति शेषः ।

(३) ‘प्रतियोग्यनुयोगिमात्रमिति’ तु युक्तः पाठः, उपलक्षणं वा प्रतियोगिपदमनुयोगिपदस्यापि । (४) घटादेरापत्तिस्तादात्म्येन ज्ञेया । (५) अन्यथा, सामग्र्यादिकमन्तरापि सामान्यतोऽविरुद्धत्वमादायाऽन्यस्मिन्नन्यदीयोत्पत्तिस्थितिज्ञप्तयापादने-इत्यर्थः ।

(६) तयोः = प्रतियोग्यनुयोगिनोः, प्रतियोगित्वनुयोगित्वयोर्वा ।

वः *?—इति चेन्न, 'अतिप्रसङ्गात् । * "नियमेन *?—इति चेन्न, जात्या नियमाभ्युपगमात्—

टी० अनुयोगिनि^(१)प्रतियोगी कदाचिन्न प्रतीयते न वा कदाचिदनुयोगिसामानाधिकरथेन प्रतियोगी प्रतीयते तत्र^(२) सहभाषप्रमाविरहः सहानवस्थाननियमलक्षणो विरोधेनापवादप्रामाण्ययोगिवृत्तित्वाप्रमाविरहोपपादनार्थं तु प्रतियोग्यनुयोगिभावलक्षण एव विरोधेऽनुत्तरणीयः, सहानवस्थानलक्षणस्य तत्राक्रियत्करत्वात्, तस्मिन्मत्स्यपि तादृशप्रमायाः प्रमकत्वेन^(३)नियममभङ्गादित्याह— "तथाप्रमाऽभावे"ति । नहि यस्मिन्मत्स्यपि यदापद्यते तदभावे तन्नियमकमिति भावः ॥ ननु प्रतियोग्यनुयोगिनाः साहित्येनाधाराधेयभावेन चाऽप्रतीयमाणत्वमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते— "तथा न"ति ॥ तथा न प्रतीयमाणत्व कदाचित्पटमहारजनयोरपीनि तयोरपि विरोधः स्यादित्याह— "अतिप्रसङ्गं दि"ति ॥ ननु यज्जातीययोः कदापि तथा न प्रतीयमाणत्व तयोर्विरोधः, पटमहारजनयोस्तु कदाचिद्विशिष्टतया प्रतीयमाणत्वमेवेति नातिप्रसङ्ग इत्याह— "नियमेन"ति ॥

सू० "व्यक्तयोरविरोधापत्तेः । * 'तथा न^(४) प्रमातुमनौपाधिकी योग्यता* ?,—इति चेत्, 'सैव मेयगता योग्यताऽनुयोगिप्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्? । * "स्वरूपमेव ?,—इति चेन्न,

टी० ॥ तर्हि ययोर्ध्वक्तयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्भावत्वाभा-

(१) अनुयोगिनि=अभावस्वरूपे, प्रतियोगी घटादिस्तादात्म्येन कदाचिन्न प्रमायते—इत्यर्थः । (२) तत्र=तयोर्ध्वयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावसहानवस्थानलक्षणविरोधयोर्मध्ये । (३) द्रव्यगुणयोः सहानवस्थानलक्षणविरोधसर्वेषां धाराधेयभावदर्शनेन 'ययोः सहानवस्थानं तयोराधाराधेयभावः'—इतिनियममभङ्गादित्यर्थः । यद्वा, प्रतियोग्यनुयोगिनाः सहानवस्थानलक्षणविरोधे मत्स्यपि प्रतियोगिन्यनुयोगी आपद्यतामित्यतिप्रसङ्गत्वेन निरुक्तानियममभङ्गादित्यर्थः । (४) नञ्स्थित्यात्वेन तथाप्रमातुं स्वरूपाऽयोग्यतेति योजनीयम् ।

वत्त्वयोर्वा जात्युपग्रहे नास्ति तयोर्विरोधलक्षणविरहापत्तिरित्याह— “अयत्तयोरिति । नियमो यदि देशगर्भस्तदा विरुद्धयोरपि देशव्यक्तयोर्यदि कालगर्भस्तदा व्यक्तयोरती । त्वानागतत्वोर्वाविरोधो न स्याद्देशे देशाभावात्काले कालाभावादिति वार्थः । यद्वा, जात्यवच्छेदेन विरोधोपसंहारे च जात्योरेव विरोधः स्यान्नतु उपक्तयोरित्यर्थः ॥ ननु साहित्येनाधाराधेयभावेन च या प्रमा तां प्रति स्वरूपायोग्यत्वमेव भावाभावयोर्विरोध इति शङ्कते— “तथा न प्रमातुमिति । “अनौपाधिकी”ति, कादाचित्की सहकार्ययोग्यतां पटकुङ्कुमयोर्धर्मवच्छिन्नति ॥ तथाप्रमातुं स्वरूपायोग्यता भावाभावयोर्नतु पटकुङ्कुमयोरिति प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव विरोधः पर्यवसन्न इत्याह— “सैवे”ति । प्रमातुमयोग्यता, प्रमातुं वा योग्यता, निमित्तात्प्रमाता न वक्तव्या, किन्तु भेद्यता, सा च नोक्तरूपा^(१)दन्त्येति प्रावः ॥ ननु भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते— “स्वरूपमिति”ति ॥

सू० “मिथः संभेदाभ्युपगन्त्वापि तयोः स्वरूपोपगमात् । *तथाभूतं स्वरूपम्*—इति चेन्न, ‘तस्यैव निर्वाच्यत्वापत्तेः । ‘कश्च गोत्वात्त्वत्वाभ्यां भावाभाव^(२)योरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात् ? ‘सत्यां च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या ? प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति । *अथ घटादिविशेषितयोस्तयो^(३)निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसंक्रम्य स्याताम्*,—इति ब्रूषे, तदपि न

टी० ॥ येनापि प्रतियोग्यनुयोगिनोः साहित्यसाधाराधेयभावोवा संभेद^(४)इष्यते तेनापि तयोः स्वरूपोपगमादित्याह— ।

(१) उक्तरूपात्=प्रतियोग्यनुयोगिभावात् । (२) भावाभावयोरेवंविधविरोधे गोत्वात्त्वत्वाभ्यां च कः विशेषः इत्यादित्यन्वयः ।

(३) तयोः =संभेदादात्त्ययोः । (४) संभेदः=संबन्धः ।

“निषेध” इति । यद्वा, संयोगतदभावयोः संभेदनिषेधोऽपि तदु-
 भयस्वरूपोपपगमात्तन्मात्रं न विरोध इत्यर्थः ॥ ^a“तथाभूतनि”ति ।
 यथाभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावस्तथाभूतं स्वरूपं विरोध
 इत्यर्थः ॥ किंभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावः?—इत्येष दुर्बलनि-
 त्याह—। ^b“तस्यैवे”ति ॥ यदि सद्दानप्रत्यानमेव विरोधो नतु
 प्रतियोग्यनुयोगिभावस्तदाह—। ^c“कश्चे”ति ॥ यदि च तथा न
 प्रमीयमाणत्वमेव विरोधस्तदा संयोगतदभावयोरवच्छेदभेदधु-
 त्वादनसकलं, तथा ^d(१) प्रमीयमाणत्वेनैव तथा न प्रमीयमा-
 त्वस्य विरोधस्य प्रतिक्षेपादित्याह—। ^e“तस्यां चे”ति । यद्यपि
 तत्रावच्छेदभेदकथनमविरोधप्रतिपादनार्थं, नतु विरोधप्रसूनाथं,
 तथापि क्लृप्तो न विशेष इति भावः ॥ संसर्गाभावान्योन्याभावा
 यदि संसर्गान्योन्यप्रतियोगिकौ तदा घटादिनिषेधो न स्यादिति
 यदुक्तं तत्राशङ्कते—। ^f“अथे”ति । संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं वा
 न प्रतियोगि, किंतु घटविशेषितमुभयं प्रतियोगि, तथाच विशि-
 ष्टनिषेधो विशेषणनिषेधपर्यवसन्न एवेति कथं घटादिताद-
 स्ध्यनिनि गङ्कार्थः ॥

सू० “तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीति
 संसर्गान्योन्यनिषेधोऽपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः
 स प्रसङ्गो वज्रलेपायते । *अन्योन्याप्रतियोगिकसं-
 सर्गप्रतिषेधस्तथा ^g(२) विवक्षितः, एवमन्योन्यनि-
 षेधोऽपि संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्यः *?—इति
 चेन्न । एवं तर्ह्यन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्या-
 भावश्चापरा केटिः स्यात् ।

टी० ॥ तर्हि ‘स्मृतित्वसंसर्गाभावोऽनुभूनावित्त्वयोक्ते
 स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावनादाय स्मृतावेव प्रसङ्गः क्लृप्तो तथा,
 स सुनरां लभः, स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावस्य ^h(३) संसर्गाभावत्व-
 प्रीव्यादिति परिहारनाह—। ⁱ“तर्हि”ति ॥ यः स्मृतित्वसंसर्ग-

(१) तथा = साहित्येन । (२) तथा = संसर्गाभावत्वेन ।
 (३) स्मृतित्वसंसर्गविशिष्टान्योन्यस्य योऽभावस्तस्यैत्यर्थः ।

भावः स्मृतावापादान्. मान्यान्यप्रतियोगिकोप भवतीति नासी
संसर्गाभाव इति न स्मृते प्रकृतं इत्याह— 'अन्योन्ये'ति ॥
यद्यन्योन्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो न संसर्गाभावस्तदान्योन्यसं
सर्गाभावो न तादात्म्याभावो^(१)नापि संसर्गाभाव इति तृतीया
काटिः स्यादेव संसर्गाभ्याभ्याभावोपीत्याह— 'एवमित्ति' ॥
सू० किञ्च, एवं सति 'संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न भ-

वति^(२) स संसर्गाभावतया विवक्षितः,—इत्युक्तं स्यात्,
तथाच संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थम-
धिकमाकाङ्क्षता तद्व्याऽन्वर्थः^(३) संसर्गाभावशब्दे-
पि हारितः स्यात्, यतो^(४) अन्योन्याभावो यो न भव-
त्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम् । 'किञ्चा^(५) नयापि
वाचाऽन्योन्याभावनिरन्धेऽभिधीयमानोऽन्योन्याभा-
वेपि प्रसज्यते, न ह्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भव-
तीति शब्दं प्रमातुं, 'समानाधिकरण्यं हि प्रकार
भेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि, तत्"

(१) न तादात्म्याभावः संसर्गप्रतियोगिकत्वात्, नापि संसर्गाभावः अन्यो-
न्यप्रतियोगिकत्वात् इत्यर्थः । यद्यपि अन्योन्यसंसर्गाभावेऽन्योन्यं न प्रति-
योगि, किन्तु प्रतियोगिताच्छेदकमेव, तथापि तिगोप्येति निवेद्ये
विशेषणस्यापि भवतीत्येतदभिप्रेत्येतद्, अतो न दोषः । (२) अन्योन्या-
भावे यो न भवति संसर्गाभावः स संसर्गाभावतया विवक्षितः—इत्यन्वयः ।

(३) 'अन्वर्थम्'—इति क्वचित्पुस्तके पाठः । (४) "यतोः"—इत्यन्वयः
'इत्युक्तम्'—इत्यन्तः क्वचित्पाठो नास्ति, नापि च युक्तमुत्पत्त्यामः,
तादृगपादद्वाराग्रतृतीतचेतसा तु "स संसर्गाभावः"—इत्यतः प्र ग एकम-
न. तत्संसर्गाभ्यपदमन्वाहर्त्तव्यम् 'यो न भवत्यभावः'—इत्यस्य यो न भवति
संसर्गभाव इत्यर्थः कल्पनीयो वा, अन्यथा एकसंसर्गपदव्येयर्थेऽन्वय-
साङ्गताप्रसङ्गः । (५) ननु एक संसर्गपदं नोपादीयते एवेत्याशङ्क्या-
साह—इति चेत्, 'अन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभावः' इत्यु-
क्तावन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो न भवत्येव, उद्वेगविधेयभावस्य प्रका-
रभेदेनियतत्वात्, तथाचाऽन्योन्याभावभिन्नत्वात्संसर्गाभावकक्षणमन्यो-
न्याभावोऽन्वयस्यार्थः ।

स्तदभावादेव न तथेत्यतिप्रसङ्गः । 'अन्यश्चान्योन्या-
भावेऽप्येव तिष्ठन्नैव कः प्रमेयो यद्वृत्ति तथा कथ्यते ?
अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ "अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गविषेऽस्तथा विवक्षित"
—इति च ष्यस्यान्योन्याभावान्यः संसर्गाभावः संसर्गाभाव इति
पर्यवसितोऽस्तत्र संसर्गपदवैयर्थ्यमाह— "किंचे"ति ॥ 'अन्यो-
न्याभावो यो न भवति स संसर्गाभावः'—इत्यनयोत्तयान्योन्याभा-
वस्तदा तपवच्छिद्यते यद्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभाव इति वक्तुं
शक्यं, न चैव सम्भवति, उद्देश्यविधेयभावस्य प्रकारभेदनियतत्वा-
दितिहाह । "किंचे"ति ॥ "समानाधिकरण्यस्य"ति । भिन्नप्रवृ-
त्तिः न निश्चिन्तां गच्छानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यं,
प्रकृते च शब्द भेदान्न सामानाधिकरण्यम्, अत एव नोद्देश्यवि-
धेयभावोऽस्ति भावः ॥ "तदभावादेव न तथे"ति । प्रभाभेदा-
भावात् सामानाधिकरण्यमुद्देश्यविधेयभावो वेत्तव्यः ॥ ननु सक-
लान्योन्याभ वृत्तिना केनचिदुन्मेषावच्छिन्नस्योद्देश्यत्वं स्यादि-
त्यत्र आह— "अन्य"इति । तन्मात्रवृत्तेरुपाधेऽद्याप्यनिरूप-
णात् ॥ तन्वभावत्वेनैवोद्देश्यतास्तु को दोषः? इत्यत्र आह—
"अभावमात्रे"इति । 'अभावेऽन्योन्याभावः'—इत्यभिधाने
संसर्गाभावस्याप्यन्योन्याभावत्वापत्तिः । यद्यपि 'नीलमुत्पलमि'-
त्यभिधाने नीलमात्रस्य नोत्पलत्वं प्राज्यते, तथाप्युत्पलपदव्यु-
त्तिरस्य (२) इति तथाभिधाने तत्राप्यतिप्रसङ्ग एवेति भावः ॥

सू० "व्यक्तिविशेषे च शेषेऽन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्वा-
पत्तेः । एतच्च सर्वत्र तदन्यत्वेन (३) व्यवच्छेद्यमाने
द्रष्टव्यम् । तथाहि—

'नाऽतत्तन्मन्यसे (४) तावन्न तत्तदपि संस्यसे ।

(१) एकसंसर्गपदवैयर्थ्यमित्यर्थः । (२) उत्पलपदशक्तिशहाभाववतो ज्ञान-
स्य कुत्रोत्पलपदस्य शक्तिरिति व्युत्पत्तुमिच्छोर्नीलमुत्पलमित्यभिधाने
नीलमात्रस्यैवोत्पलत्वं प्रसज्यते इत्यर्थः । (३) तदन्यत्वेन=अलस्यान्यत्वेन ।
(४) यथा अतत् तत् (अघटो घटः) इति न, तथा तत् तत् (घटो घटः)

‘सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २८ ॥
 ‘रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
 ताद्रूप्येण तथापि स्यात् सैव सव्यभिचारिता ॥३०॥
 अपि चान्योन्याभावस्य संसर्गाभावोप्येवं व्यवच्छिन्नः
 स्यात् (१), तस्याप्यन्योन्यप्रतियोगिकत्वात् ।
 *अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नामाधिको (२)
 नापेयते एवमादाय तथा स्याद् ? *—इति चेन्न ।

टी० । ननु गुणान्योन्याभावत्वादिना प्रकारेणोद्दिश्यान्योन्याभावत्वमभिधीयतां, भवति हि गुणान्योन्याभावोऽन्योन्याभाव इति तत्राह—। “‘व्यक्तिविशेषे’ इति । तथाच द्रव्यान्योन्याभावो (३) नान्योन्याभावः स्यादित्यर्थः । एतदपि व्युत्पत्तिसंज्ञं प्रति, अन्यथा ‘घटो द्रव्यमित्युक्ते घटो न द्रव्यं स्यात् ॥ एव यत्रयत्र लक्षणं तदन्यत्वेन (४) विशेष्यं तत्र तदन्तर्भावप्रौढ्यमित्याह—। “एतच्चे”ति ॥ उक्तस्य कारिकाभ्यां संगृह्णाति—। “नातत्तदि”ति । ‘अघटो घट’—इति ययोरुक्तिविरोधाद्दुर्घटवचनं तथा ‘घटो घट’—इत्यपि प्रकारभेदाभावाद्दुर्घटवचनमेव ॥

इत्यपि न, हि=यतः, सामानाधिकरण्यं रूपभेदस्य=प्रकारभेदमपेक्षते इत्याद्यवार्तिकार्थः । नीलघटत्वादिना रूपान्तरेणोद्दिश्यतत्तत् (घटो नील घट) इतिवत्प्रकृते उक्ती ताद्रूप्येण=अधिकवृत्तिना प्रमेयत्वादिना रूपान्तरेणोद्दिश्य प्रमेयः संसर्गाभाव इत्युक्ती अन्योन्याभावादेः प्रमेयस्यापि संसर्गाभावत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति द्वितीयवार्तिकार्थः । (१) तद्यथाव्याप्यतिरिक्तं स्वैयम् । (२) अधिकः = अन्योन्याभावभिन्नः । तथाः=अन्योन्याभावसंसर्गाभावस्याऽनङ्ग्यः । (३) द्रव्यान्योन्याभाव इत्युपलक्षणां गुणान्योन्याभावव्यतिरिक्तान्योन्याभावानाम् । (४) यथा स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभूतिरिति लक्षणे यत्किञ्चित्स्मृति भिन्नत्वं यत्किञ्चित्स्मृतेरपि, स्मृतिव्याभाववत्यनुभूतिरित्युक्ती स्मृतिव्यान्योन्याभावमादाय पुनः स्मृतावतिप्रसङ्गः स्मृतिवत्संसर्गाभावविवक्षायां च स्मृतिवत्संसर्गाभावान्योन्याभावमादाय पुनः च एव प्रसङ्गः स्मृती दत्तस्तथा अनुभूतिभिन्नं ज्ञानं स्मृतिव्याभावावपि यद्यत्र लक्षणमलक्ष्याननुभूत्याद्यन्यत्वेन विशेष्यं तत्राऽलक्ष्यस्यानुभूत्यादेरन्तर्भावमादायातिप्रसङ्ग आवश्यक इत्यर्थः ।

दाष्टान्तिके युक्तिनाह— “सामानाधिकरथमिति” ॥ “रूपा-
न्तरेणे”ति । अधिकवृत्तिना घर्मान्तरेण तदुद्दिश्य विधानेऽति-
ठयाग्निर्न्यूनवृत्तिना चाऽठयाग्निरित्यर्थः ॥ किंवाऽन्योन्याप्रति-
योगिको योऽभावः स संसर्गाभाव’-इत्यभिधानेऽन्योन्याभावस्य
संसर्गाभावो न स्यादन्योन्याप्रतियोगिकत्वादित्याह—। “अपि-
चे”ति । यद्यप्यन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽन्योन्यं न प्रतियोगि,
किंतु तदभावः, सचान्योन्यरूपादन्य एव, तथापि विशिष्टस्य
प्रतियोगित्वे विशेषणस्याप्यन्तर्भाव इति भावः ॥ नन्वन्योन्या-
भावप्रतियोगिकः संसर्गाभावो यदि भवेत्तदा तदनुपग्रहे दोषः
स्यात् न एव तु नास्ति, अभावस्याप्यभावान्तराङ्गीकारेऽनव-
स्थानातिदि शङ्कते-। “अथे”ति ॥

सू० “एवं तर्ह्यन्योन्याभावस्यान्योन्याभावोपि नाधिको

(१)भ्युपगन्तव्यः स्यादित्यन्योन्याप्रतियोगित्वेन
व्यवच्छेदो(२)पि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं
स्यात् ? व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात्(३) । * अथ
माभूदधिकोसौ स्वरूपमेव तु तथेव्यते इति तदा-
दायैव व्यवहार एव निर्द्दोषः ? *,—इति चेत्,
'तर्ह्यन्योन्याभावसंसर्गव्यतिरेकेपि (४) तुल्यमेतत् ।

टी० ॥ अन्योन्याभावस्याभावान्तरानभ्युपगमे संसर्गाभा-
वलक्षणजे तद्व्यवच्छेदार्थं पात्तस्यान्योन्याप्रतियोगित्वस्य विशे-
षणस्य फलाभावाद्द्वैवर्ष्यम्, अन्योन्याभावव्यवच्छेदस्यान्यो-
न्याभावात्मकत्वात्, तस्य च त्वयाऽनभ्युपगमादिति परिहृ-
रति-। “एवं तर्ही”ति ॥ नन्वन्योन्याभावव्यवच्छेदकेन संस-
र्गाभाववलक्षणजे विशेषणेनान्योन्याभावानात्मा व्यवच्छेदो न

(१) अधिकः = अन्योन्याभावाभिन्नः । (२) व्यवच्छेदः, अन्योन्या-
भावात् व्यवच्छेदो व्यावृत्तिरन्योन्याभाव इति यावत् । (३) निषेधार्थ-
त्वात् = अन्योन्याभावस्वरूपत्वात् । (४) संसर्गव्यतिरेके = संसर्गाभावे ।

क्रिःने, किंतु षष्ठ्यच्छेद्यो षष्ठ्यच्छःश्च न एवान्योन्याभाव इति न वैयर्थ्यमित्याशङ्कते-। “अथे”ति ॥ तर्हि अन्योन्यभावात्सं-
र्गाभावात्प्यन्योन्याभावरूपमेवेति तदात्मकसंमर्गाभावात्पु-
नर्यहा देवस्तद्वस्थ एव व्यवच्छेद्याभावो वा अन्योन्याभावात्स्यापि
स्वर्गातियोगिसंमर्गाभावरूपत्वादिति परिहरति-। “तर्ही”ति ॥

सू० “अपिच, ‘अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः
स संसर्गभावः’ इतिवदताऽन्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे
निषिध्यमानेऽन्योन्यात्मकोशा (१) वभावोभ्युपगतः
स्यात्, द्रुगोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतया (२) अन्योन्यस्यैव
स्यैर्यापत्तेः; तथाच सत्यन्योन्यस्मिन्निर्विशेषणे जगदेव
प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदा-
त्मतायां निषेधन्त्यामन्योन्याभावात्मतापि स्या-
दिति व्यर्थं विशेषणप्रयासो हासायेति नविशेषणे-
प्यविशेषणवत् प्रमङ्ग इति महत्कौतुकम् । * “ननु
‘घटाभवे न भवति स्तम्भः’-इत्युक्ते किं स्तम्भो
घटात्मा विहितो भवति (३)? तत्कस्य हेतोः ? तदा
हि तथा स्यात् यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत्स्यःत्,
यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा केटिरस्ति तदा कथं
स्याद् ? इत्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति * ? ।

(१) कोशा = संसर्गाभावः । (२) सुन्दोपसुन्दतया = परस्परं विरो-
धितया, अन्योन्याभावाभावे अन्योन्यस्यैव स्यैर्यापत्तेः, अभावाभावस्य
भावरूपतादित्यर्थः । सुन्दोपसुन्दौ द्वावादिदेव्यो राजानो नर्मदातीरे
तपश्चतुः, नदुपघानर्थं जगत्पुद्गा काञ्चिद्दुराङ्गना प्रस्थापिता, तां
दुद्गा कामसंतप्नी ममेवं ममेवमिति परस्परं जप्नुवितोर्यं गाथा
सुन्दोपसुन्दयोः पुराणप्रसिद्धा । (३) “नैव भवति”-इति शेषः ।

टी० ॥ 'अन्योन्याभावो न भवत्यभावो य' इतिवाक्ये नङ्द्रूपप्रवणान्योन्यं यद्भवति स संसर्गाभाव इत्यर्थपर्यवसाने जगत एवान्योन्यत्वात् संसर्गाभावत्वं प्रसक्तं, जगदन्तर्गतस्यान्योन्याभावस्यापि च संसर्गाभावत्वमिति यद्भवच्छेदाय विशेषणमुपात्तं तस्यैव नङ्द्रूप इति कौतुकमित्याह—“अपिचे”ति । यद्यपि 'अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो य' इतिवाक्याद्यत्राभावेन्योन्यप्रतियोगिकत्वं धर्मो नास्ति स संसर्गाभाव इत्यर्थः प्रतीयते, तथाच, भवत्येषान्योन्याभावव्यवच्छेदः, तस्यान्योन्यप्रतियोगिकत्वात्, सुन्दोपसुन्दन्यायस्तु समानाधिकरणयोरेव निषेधयोः, तथाचाप्रतीयमानार्थखण्डनमपि कौतुकमेव, तथापि लक्षणवाक्यस्य यद्ययमर्थः^(१)स्तदैवं खण्डनमिति भावः । एवम् अन्योन्याभावो न भवत्यभावो यः स संसर्गाभाव'—इत्यापि यत्राभावेन्योन्याभावत्वं नास्तीत्यर्थः, इति^(२)नैतत् खण्डनमुचितं, न च अन्योन्याभावो न भवतीत्यन्योन्याभावानात्मा भवतीत्यर्थस्तथा अन्योन्यात्मत्वपर्यवसानमेवेत्यर्थः । अत्रैवं शङ्कते—“नन्वि”ति । 'घटाभावो न भवति स्तम्भ' इत्यत्र यथा स्तम्भस्य न घटात्मत्व तथा अन्योन्याभावो न भवति संसर्गाभाव' इत्यापि संसर्गाभावस्य नान्योन्यात्मत्वं, किंतु संसर्गाभावत्वमेव, केवलमन्योन्याभावानात्मकत्वमात्रं तत्र प्रतीयते इति शङ्कार्थः ॥

म० "मैवम् । यथा घटतद्भावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति केाटिस्तथान्योन्यतद्भावाभ्यां नान्या केाटिः संभवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात्; 'तदात्मनोपि^(३)निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात् । 'न हि

(१) लक्षणवाक्यस्य यद्यप्रतीयमान एव—'अन्योन्याभावाभावरूपः संसर्गाभावः'—इत्याकारकोर्धोऽभिप्रेतः स्यात्तदैवं खण्डनं शिलघटतरमित्यर्थः । (२) इतिशब्दे हेतौ । (३) तद् जगद्रूपमात्मा स्वरूपं यस्यान्योन्यस्य स तदात्मा, तस्य (अन्योन्यस्य तादात्म्यस्य वा) । तन्निषेधात्मके=अन्योन्याभावनिषेधात्मके ।

(१) घटः पटात्मैत्यनेन घटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात् । “यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स्यात् । तस्मान्निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोट्यन्तराभावः” इति ।

टी० ॥ “सैवमिति । यत्र प्रतियोगितदभावाभ्यां तृतीया कोटिस्तत्राभावाभावो न प्रतियोगी, इह तु न तथेत्यन्योन्याभावनिषेधोन्योन्यसैवेति परिहारार्थः ॥ नन्वन्योन्याभाव इति सञ्ज्ञामात्रं, नत्वस्यान्योन्यं प्रतियोगि येन तदभावनिषेधेन्योन्यपर्यवसानं स्यात्, किंतु तादात्म्यं तस्य प्रतियोगीति नेकदोष इत्यत आह—। “तदात्मन” इति । तादात्म्याभावो न भवति योऽभावः न संसर्गाभाव इतिकृतेऽपि पूर्ववन्निर्विशेषिततादात्म्यसम्पन्नजगदन्तर्गततादात्म्याभावरूपत्वं संसर्गाभावस्य पतितमिति तदेष कौतुकमित्यर्थः । “तदात्मनोऽपि निषिध्यमानत्वे” इति, घटः पटात्मा न भवतीत्यनेनैव प्रकारेणान्योन्याभावस्य प्रतीयमानत्वे इत्यक्षरार्थः ॥ ननु ‘तादात्म्याभावो न भवति संसर्गाभाव’ इत्युक्ते तादात्म्यस्वरूपं कथं संसर्गाभावस्त्वादित्यत आह—। “नही”ति । सुन्दोपसुन्दन्यायेन नञ्द्रव्य गते तादात्म्यं संसर्गाभाव इति पर्यवसाने निर्विशेषिततच्छब्दस्य जगत्परत्वे संसर्गाभावस्य जगदात्मत्वमेव स्यात् यथा घटः पटात्मैत्यत्र पटस्य घटात्मत्वमित्यर्थः ॥ ननु तादात्म्यनिषेधो नान्योन्याभावो येन तन्निषेधस्तदात्मा स्यात्, किंतु तादात्म्यस्य घटादिनिष्ठधर्मस्य निषेधस्तथाच तन्निषेधो जगद्गर्भो भवेत्तु जगदिति न तदन्तर्गतान्योन्याभावात्मत्वं संसर्गाभावस्येत्यत आह—। “यदि त्वि”ति ॥

(१) नहि घटः पटात्मा—इत्यनेन विहितस्तदात्मा (=तादात्म्यमन्योन्य वा) घटस्वरूपादन्यः स्यादित्यन्वयः ।

(२) कोट्यन्तराभावः, तादात्म्यान्तर्गतं जगदितिकोटितः कोट्यन्तरस्य गङ्गनाथस्याभाव इत्यर्थः ।

सू० "अपिच, एवं तर्हि घटे निषिध्यमाने घटाभावो विधी-
यते, घटाभावे च निषिध्यमाने घटः-इत्यपि न
स्यात्, तृतीयस्य विद्यमानत्वात्; भवन्वा 'घटाभावः
स्तम्भो न भवती'त्यत्रापि घटाभावत्वाविशेषा^b द्वि-
शेषान्तरानिर्वचनात् घटः स्तम्भात्मेत्येवोक्तं स्या-
दिति 'त्वत्प्रसङ्गस्त्वयि निपतेत् । संसर्गान्योन्या-
भाववैचित्र्यमादाय हि स परिहार्यः स^(१) एव च
नाद्यापि व्यवतिष्ठते । "अत एव^(२) 'प्रतीतिबलादेव
वैधर्म्यमनयोरुपेयमि'त्यपि निरस्तम् । 'प्रतिषेधप्र-
तिषेध्यविरोधे प्रकारविशेषव्यवस्थानिरुक्त्यशक्तेर-
विशेषेणैकनिषेधेऽन्यविधिप्रौढ्यं भवदन्योन्याभाव-
निषेधो^(३)प्यन्योन्यविधये स्यात् ।

टी० ॥ किंच, घटात्यन्ताभावाभावो यथा घट एव पर्य-
वस्यति तथा घटान्योन्याभावनिषेधोपि पर्यवस्येत, वस्त्रादि^(४)
कोटिस्तृतीया यथान्योन्याभावे तन्मात्यन्ताभावेपीत्याह-।
" "अपिचे"ति ॥ ^b"विशेषान्तरे"ति । अत्यन्ताभावे एवेयं रीतिर्न
त्वन्योन्याभावे-इति विशेषस्त्वया निर्वक्तुमशक्य इत्यर्थः ॥
" "त्वत्प्रसङ्ग" इति । 'घटाभावो न भवति स्तम्भ'-इत्युक्ते स्त-
म्भोपि घटात्ना विहितः स्यादिति यः प्रसङ्गस्त्वया कृतः न त्व-
द्येवापतित इत्यर्थः ॥ "अत एव"ति । कस्यचिदभावस्य प्रतिषेधः
प्रतियोगिपर्यवसन्नः कस्यचिरुच प्रतिषेधः प्रतियोग्यपेक्षयान्य एव
प्रतीयते इति प्रतीतिबलादन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैधर्म्यम-

(१) स=वैचित्र्यपदार्थः । (२) अत एव=अर्थवैचित्र्यनिरासेन
प्रतीतिवैचित्र्यनिरासादेव । (३) "अन्योन्याभावनिषेधे"-इति तु
युक्तं पाठं सम्भावयामः । एकनिषेधेऽन्यविधिप्रौढ्यमित्यस्यैकस्य कर्तृप-
दशयोक्तत्वात् 'भवति'ति तु शतृप्रत्ययान्तस्य रूपम् । यद्वा भवदन्यो-
न्याभावनिषेधो=भवतामन्योन्याभावस्य निषेध-इत्यर्थः । (४) आदिश-
ब्देन स्तम्भोत्पुपगृहीत इत्यतो न मूलशब्दानयोर्वैयर्थिकत्वम् ।

अयुपगम्यनानिति निरस्तमित्यर्थः ॥ ननु प्रतियोग्यभावोयत्र विरोधस्तत्रैकनिषेधेऽन्यविधिरित्यस्तु, तादात्म्याभावे तु प्रतियोग्यभावोः सामानाधिकरण्याद्विरोध एव नास्तीति नैकनिषेधेऽन्यविधिरित्यत आह । “प्रतिषेधप्रतिषेधे” नि । अत्यन्ताभावस्थले विरोधो, नत्वन्वो-याभावस्थलेपि, इति तदा स्याद्यद्यनयोः प्रकारविशेषव्यवस्था स्यात्, नैव तु नास्तीत्यर्थः ॥

सू० “सम चानिर्वचनीयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापक्ष-
न्युयोगवाणवारणाय वज्रवारवाणायमाना विजयते ।
‘सम ह्येवं दर्शनं; प्रतीतिसिद्धत्वात् अत्यन्तास-
द्विलक्षणं भवदपि जगत्तथा सत्त्वोपगमेपि बाध्य-
मानत्वा^(१)दनिर्वचनीयमिति । अत एव प्रतीयमान-
त्वाद्द्वैचित्र्यमनयोर्घुष्यमाणमतिदूरनिरस्तम् । “उ-
क्तप्रतियोग्यादिवैचित्र्यानुपपत्तितः प्रतीयमानस्यैव
बाध्यताया एव कथनात् । तस्माद्—

अन्वो-याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ

सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकत्सतु ॥ ३१ ॥

“अभाव^(२)एव यत्रेति सावधारणं च यत्कव्यम्—इति चेन्न
टी० ॥ नन्विदं प्रतीति-वैलक्षण्यमन्वो-न्यात्वन्-भाव
योस्त्वयाप्युपपादनीयमेवेत्यत आह । “सम चे” नि । पर्यनु-
योगलक्षणो वाणस्तस्य वारणाय वज्रस्य = लोहस्य, वा (वाणः =
कञ्चुकः (सद्भाहविशेषः) “कञ्चुको वारवाणोस्त्री” त्यमरः ॥
ननु प्रतीतिमिदमपि वैलक्षण्यमपह्नूयते इति महत्प्राहमनित्यत
आह—^१“सम ही”ति ॥ प्रतीतिर्नापह्नूयते, किंतु ‘विचारं न
सहते’—इत्युच्यते इत्यर्थः ॥ “अत एवे”ति । बाध्यत्वादेवेत्यर्थः ॥
ननु बाध्यमनभिधाय बाध्यत्वाभिधानं सर्वत्र सुनभनित्यत आह—
“उक्तप्रतियोग्यादी”ति । तदुक्तवैचित्र्यानुपपत्तिदर्शनं यत्कृतं

(१) बाध्यमानत्वात्सत्त्वोपगमेपि तद्यादनिर्वचनीयमित्यन्वयः ।

(२) “ननु स्मृतिव्यवस्थाभावः”—इत्यपि अवचितपाठः ।

तदेव ब्राम्हाभिधानमित्यर्थः ॥ उपसंहरति—“तस्मादि”ति ।
अन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव—इति संस-
र्गाभावस्यान्योन्याभावान्यत्वमादाय तदा ठयवस्था स्याद्य-
द्यन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदः स्यात्, स एव तु नाद्यापि सिद्धः,
इति तदुभयभेदठयवस्थयैव तदुभयठयवस्थेत्यात्माश्रय इत्यर्थः ।
यद्वा प्रतीतिवैलक्षण्याद्द्विषयवैलक्षण्यं ततश्च प्रतीतिवैलक्षण्यमित्य-
न्योन्याश्रयएवात्माश्रय इत्यर्थः ॥ ननु ‘स्मृतित्वस्याभाव एव
यत्र ज्ञाने तदनुभव’—इत्युक्ते स्मृती न प्रसङ्गो, यतस्तत्र भावोपि
स्मृतित्वस्येत्याशङ्कते—। “अभाव एवे”ति ॥

मू० “एवकारेण किमधिकमभिधीयते ? । * भावो निषि-
ध्यते ? *—इति चेन्न, तस्याभावपदेनैव लब्धत्वात्;
भावनिषेधोऽभाव इत्यनर्थान्तर^(१)मिदम् । * भाव-
सामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थः ? *—इति चेत्,
‘उक्तेनैव गतार्थत्वात्, ‘अन्योन्याभावस्य^(२)च स्मृ-
तावपि सम्भवात्; न हि भावसामानाधिकरण्यं
स्मृतिः । ‘स्मृती च भावमभावं चैकत्र मन्यमानेन
/तस्याप्येष्टव्यत्वात्, तयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात्,
^६न हि रूपरसयोरेकत्राभावे न^(३)तत्सामानाधिक-
रण्याभावः स्यात् ।

(१) अनर्थान्तरम्=एकार्थकम् ।

(२) स्मृतित्वभावसामानाधिकरण्यान्योन्याभावस्येत्यर्थः ।

(३) केचित्तु अत्र ‘अभावेनेतिपदं द्विन्दन्ति, तत्रायमर्थः—न हि
रूपरसयोर्मिलितयोरेकत्र=तेजसि अभावेनान्यत्रापि पृथिव्यादौ तत्सा-
मानाधिकरण्यस्याऽभावः स्यादिति, किन्तु स्यादेव पृथिव्यादौ सामाना-
धिकरण्यमिति । यद्यपि दृष्टान्तेऽन्यत्र सामानाधिकरण्योरेकत्राऽसामा-
नाधिकरण्यं द्रष्टं नैकत्र, तथाप्यत्रैकस्यामेव स्मृती स्मृतित्वान्योन्या-
भावस्य समवायेन स्मृतित्वाधिकरण्ये वृत्तित्वात्सामानाधिकरण्यं, तदा-
त्म्येन स्मृतित्वस्य स्मृतौ वृत्तित्वाभावाच्चासामानाधिकरण्यमिति ध्येयम् ।

टी० । 'अभाव एव यत्रे'त्यवधारणेन भावनिषेधोभि-
 प्रेतः, स चाभावपदलभ्य एवेत्यवधारणवैधर्म्यमिति परिहरति-।
 "एवकारेणे"ति ॥ अभावपदेन भाव^(१)निषेधमात्रं लभ्यते
 भावनामानाधिकरण्यनिषेधस्त्वेवकारलभ्य इत्याशङ्कते-।^b "भा-
 वनामानाधिकरण्यनिषेध" इति ॥ 'स्मृतित्वस्याभावो यत्रे'
 त्युक्तैव भावनामानाधिकरण्यनिषेधोपि लभ्यते एव यतस्तस्मि-
 न्नाधिकरणे भावश्चेदभावपदेन निषिद्धस्तदा भावसामानाधिक-
 रण्यस्यापि निषेधः पट्यवमन्न एवेति परिहरति-। "वक्तैर्नैवे"
 नि ॥ किञ्च, भावसामानाधिकरण्यनिषेधस्यान्योन्याभावरूपस्य
 स्मृतावपि मत्वादेवकारेणापि स दोषो न परास्त इत्याह-।
 "अन्योन्ये"ति ॥ किञ्च, भावसामानाधिकरण्यनिषेधः = भावेन
 महानामानाधिकरण्यं, तच्च यथानुभूतौ, तथा स्मृतावप्यगत्वा
 त्वयाभ्युपेयं, यतो भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकतया
 स्मृतित्वाभावे^(२)स्मृतौ स्वीकृते स्मृतित्वं तत्र नेष्टयमन्यथा
 परस्परप्रतिक्षेपात्मकैव भावाभावयोर्भज्येत, तथाच स्मृतावपि
 भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थस्तुत्य एवेत्याह-। "स्मृ-
 तौ चे"ति ॥ "तस्यापी"ति । सामानाधिकरण्यभावास्यापी-
 त्यर्थः ॥ ननु सामानाधिकरण्योरप्यसामानाधिकरण्यमिति दुर्घ-
 टमित्यन आह-। "नही"ति । पृथिव्यां सामानाधिकरण्योरेव
 रूपरसयोरैकत्र=तेजसि, रसाभावे नति तयोः सामानाधिकरण्या-
 भावो न स्यादेवं न, किंतु स्यादेवेत्यर्थः ॥

सू० * समाविष्टयोर्भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्म-
 कतैव न सिद्धा^(३)*?-इति चेत्, 'तर्हि तथाविधयोः^(४)
 भावाभावपदसङ्घेतो नतु रूपरसयोरिति रुचिस्ते प्र-
 माणम् । * रूपरसयोः परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वात्
 'तदभावे तयोः सामानाधिकरण्याभाव आस्ताम्'अत्र

(१) भावः=स्मृतित्ववचना । (२) स्मृतित्वाभावे=स्मृतित्वस्यान्यो-
 न्याभावे । (३) "न सिद्धयेत्"-इत्यपि केषुचित्पुराणकेषु पाठः ।

(४) तथाविधयोः=सामानाधिकरण्ययोः प्रतियोगितदन्वयोन्वाभावयोः ।

तु नैवम् !*—इति चेत्, तथात्वस्यासामानाधिकरण्य-
प्रयोजकत्वे तद्व्यतिरेकः^(१)सामानाधिकरण्यप्रयो-
जकः स्यादिति रूपरसादीनामसामानाधिकरण्या-
पत्तिः, भावाभावयोरसामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च ।

टी० ॥ ननु परस्परप्रतिज्ञेपात्मकत्वे सति स्मृतित्वतदन्वयो-
न्याभाषयोः सामानाधिकरण्यप्रतिषेधः स्मृतौ सिद्ध्येत् पर-
स्परप्रतिज्ञेपात्मकत्वमनयोर्नास्ति समावेशदर्शनादिति शङ्कते-।
“समाविष्टयोरिति ॥ तर्हि प्रतियोगिना सह समाविष्टस्यापि
कथमस्या^(२)भावपदवाच्यत्वं स्यात्, समसर्गाभावस्थले सर्वत्र
प्रतियोग्यसमावेशस्यैव दर्शनात्,^(३)संमर्गाभावान्योन्याभावयो-
र्वैचित्र्यस्य त्वयाद्याप्यसमर्थनात्, इति परिहरति-। “तर्ही”ति ॥
ननु सामानाधिकरण्योरपि रूपरसयोर्यदसामानाधिकरण्यं तत्र
परस्परप्रतिज्ञेपानात्मकत्वं तत्र, भावाभावयोस्तु परस्परप्रति-
ज्ञेपात्मनोः सामानाधिकरण्ये कथमसामानाधिकरण्यं भवेदिति
शङ्कते-। “रूपरसयोरिति ॥ “तदभावे”इति । तदेकैकाभावे
इत्यर्थः ॥ “अत्र त्विति । भावाभावयोरित्यर्थः ॥ “तथात्व-
स्ये”ति । परस्परप्रतिज्ञेपानात्मकत्वस्येत्यर्थः । परस्परप्रतिज्ञे-
पानात्मकत्वेन यदि रूपरसयोरसामानाधिकरण्यमुपपाद्यते तदा
क्वचिदपि तयोः सामानाधिकरण्यं न स्यात्, न स्याच्च भावाभाव-
योर्वैचिकरण्यमित्यर्थः । तदेवं स्मृतित्वतदन्वयोन्याभाषयोः
स्मृतावनुभवबलान् सामानाधिकरण्ये नत्येवाभावस्वरूपपर्या-
लोचनबलात् सामानाधिकरण्यनिषेधोऽप्युपपादित इत्यनुभवल-
क्षणं स्मृतावतिव्यापकमित्युक्तम् । *न चैकत्रैव सामानाधिकर-
ण्यमसामानाधिकरण्यं च भावाभावयोरनुपपन्नमिति वाच्यम्*,
यथात्वयैकत्रैव भावाभावावैकैकक्रियेते तथा सामानाधिकरण्या-
सामानाधिकरण्ये अपि स्यातामित्युक्तत्वात् । *अन्योन्याभाष-

(१) तद्व्यतिरेकः=परस्परप्रतिज्ञेपानात्मकत्वव्यतिरेकः (परस्पर-
प्रतिज्ञेपात्मकत्वम्) । (२) अथ=स्मृतित्वान्योन्याभावस्य ।

(३) ननु संमर्गाभावान्नस्ययादन्योन्याभावस्यैव प्रतियोगिसा-
मानाधिकरण्यमित्यत आह—संमर्गेति ।

स्याय^(१)मेव महिमा ? *,-इति तु न युक्तम्, अभाववैधित्या-
नुपपादनादिति भावः ॥

सू० * असामानाधिकरण्यमेव यत्रे (-)ति विवक्षितम्*?-
इति चेन्न, 'एवकारार्थदीस्थ्यतादवस्थ्यात्, 'एतेन
'विलक्षण एवायमभावो भावसहासुनानुपवेशी य
एवकारमभिध्याहारेणोच्यते'-इति निरस्तम्, त-
स्यापि विलक्षणं प्रतियोग्याश्रयनिषेधता^(३)सास्येपि
सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयं, तच्च^(४)तुल्यम्^d अ-
भावान्तरेण । * "सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेन*
?-इति चेन्न,

टी० ॥ अत्र शङ्कते-। "असामानाधिकरण्यमेव"ति ।
स्मृती तु सामानाधिकरण्यमपीति नातिठयाप्रित्यर्थः ॥ "एव-
कारे"ति । सामानाधिकरण्यनिषेधस्यैवकारार्थस्यात्रैवलक्ष्यत्वा
(^५)तपौनरुक्त्यमित्यर्थः । अथाभावस्य संसर्गाभावरूपत्वमेवका-
रलक्ष्यमती नान्योन्याभावमादायातिठयापितिरिति तु तयोर्वै-
चित्र्ये मति स्यादिति भावः ॥ एवकारमभिध्याहारमहिम्ना
स्मृतिस्वात्मन्ताभाव एव प्रतीयते इत्याशङ्क्यभाववैधित्ये मति
तथा स्यात् तदेव तु नास्तीति परिहरति-। "एतेने"ति ॥
"अभावान्तरेणे"ति । अन्योन्याभावेनेत्यर्थः ॥ ननु सामानाधि-

(१) अर्थ=नियतं प्रतियोगिसामानाधिकरण्य एव, न तु संसर्गाभा-
ववत्प्रतियोग्यसामानाधिकरण्योपीति । (२) 'सोनुभवः'-इति शेषः ।
(३) प्रतियोगी च आश्रयः (अनुयोगी) च निषेधश्च तेषां भावः प्रति-
योग्याश्रयनिषेधता, तस्य सास्येपीत्यर्थः; तथाहि-अनुभूतौ स्मृतिस्वान्यो-
न्याभावात्प्रत्यन्ताभावयोः स्मृतिस्वनिष्ठा प्रतियोगिता अनुभूतिनिष्ठाऽनुयो-
गिता 'न'-इति प्रतीतिविषये निषेधता च समानैव । (४) 'तदि'ति
सामान्ये नपुंसकनिर्देशः स्मृतिस्वसामानाधिकरण्यविरहरचेत्यर्थः ।

(५) असामानाधिकरण्यपदप्रतिपाद्याभिज्ञैवकारार्थस्य सामानाधिक-
रण्यनिषेधस्याऽत्रैवलक्ष्यत्वात् (=एवकारेण लक्ष्यत्वात्) पौनरुक्त्यमि-
त्यर्थः । यद्वा, अत्रैव लक्ष्यत्वादिति पदविभागः, अत्रैव=असामानाधि-
करण्यपदेनैव; सप्तमी तृतीयाविभक्त्यर्थे ज्ञेया ।

करण्याभावप्रत्ययेनेच एवकारसमभिव्याहारलक्ष्याभाववैलक्षण्यं
निश्चयतीति शङ्कते-। “सामानाधिकरत्ये”ति ॥

सू०^०प्रत्ययविशेषकस्यार्थस्य स्मृतावपि भावात् । *^१अन्यो-
न्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभावः*, -इत्युक्तौ स्म-
तिव्यतिरिक्तपक्षोक्त एव दोषः । तदास्तां विस्तरः ।
‘नापि स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं तद्द्विर्वे-
तिपक्षः, ‘अन्योन्याभावेपि भवतामभावव्यवस्थाया-
स्ताद्दृशत्वेनोक्तप्रसङ्गस्य समानत्वात् । *अथान्यदेव
किञ्चित्संसर्गाभावनिर्वचनं क्रियते, ‘तथाहि, -स्मृति-
त्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधस्तत्र तदभावस्य संस-
र्गाभावत्वं, यत्र तु तदात्मत्वेन तत्र तदभावस्य न
संसर्गाभावता, किंत्वन्योन्याभावत्वमेव, ^१सचे^(१)ह न
विवक्षितः, पूर्वक एव तु संसर्गाभावोऽभिधित्सतः? *
इति नैतद्विचारसहं, ‘संसर्गितया निषेध’-इति येयं
तृतीया सा किं लक्षणो^(२) वा? -१ सहयोगे वा ? -२ कार-
कभेदे वा करणादौ? -इत्याद्यः, ^१संसर्गितया लक्षितस्यै-
वान्योन्याभावमादाय प्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, ^१त-
त्सहिस्थैवान्योन्यनिषेधस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् ।

टी० सामानाधिकरण्याभावप्रत्यये सामानाधिकरण्या-
भाव एव विशेषकः, स चोक्तरीत्या स्मृतावपि संबोपपादित इति
परिहरति-। “प्रत्यय”ति ॥ ‘अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृति-
त्वाभावः’-इत्यत्र सकलतद्दृशतिरिक्तत्व ? यत्किञ्चिद्दृशतिरि-

(१) सच=अन्योन्याभावश्च, इह=अनुभवलक्षणे । (२) संस-
र्गितया लक्षितं यत्स्मृतित्वं तदभावः-इत्याद्यविकल्पार्थः, संसर्गितया
लक्षितस्य स्मृतित्वस्याऽभावः-इति द्वितीयविकल्पार्थः, संसर्गितया कृतस्य
स्मृतित्वस्याऽभावः-इति तृतीयविकल्पार्थः ।

कृतं वा विवक्षितम् ?-इति विकल्पकदर्शितत्वं^(१)मेवेत्याह-।
^b“अन्योन्ये”ति ॥ प्राणाकारमतेऽप्यनुभूतिलक्षणमनुपपन्नमित्या-
 ह-। “नापी”ति । स्मृतित्वे स्मर्यमाणे ज्ञानस्वरूपं^(२)ज्ञान-
 स्वरूपज्ञानं वाऽनुभव इत्यपि नेत्यर्थः ॥ अन्योन्याभावापि
 त्वन्मतेऽधिकरणस्वरूपं तज्ज्ञानं वेति तमादाय स्मृतौ कृतस्य
 प्रसङ्गस्यापरिहार इत्याह-। ^d“अन्योन्याभावेपी”ति ॥ स्मृति-
 त्वस्य संमर्गाभावा यत्रेत्येवानुभवलक्षणं संसर्गाभावनिरुक्त्या-
 पस्कुरुते-। ^c“तथाही”ति ॥ ^f“सचेहे”ति । अनुभवलक्षणे न
 न विवक्षित इत्यर्थः ॥ ^e“संमर्गितये”ति । ‘संमर्गितया लक्षितं
 यत् स्मृतित्वं तत्स्मृतिर्न’-इतिप्रतीतेरन्योन्याभावस्यापि ताद्-
 प्याप्तमादाय स्मृतावतिप्रसङ्गतादवस्थ्यमित्यर्थः ॥ ^h“तत्सहि-
 तस्यैवे”ति । ‘संमर्गितया सहितं स्मृतित्वं न स्मृतिरि’नित-
 दन्योन्याभावमादाय प्रसङ्गमत्वादित्यर्थः । * नच संमर्गितायाः
 स्मृतित्वस्य च निषेधो यत्रत्यर्थस्तथा च स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गि-
 ताया निषेधो नास्तीति तत्साहिन्याभावाच्च प्रसङ्ग इति वा-
 च्यम् * , संमर्गितान्योन्याभावस्मृतित्वान्योन्याभावयोः साहि-
 त्यस्य स्मृतावपि भावादिति भावः ॥

सू० तृतीयस्तु न संभवति, “अत्यन्तनिषेधस्या^(३)नुत्पत्ति-
 धर्मकत्वात्, तस्य च प्रकृतोदाहरणत्वात् । * “प्रका-
 रवाचिनीयं तृतीया?*-इति चेन्न, “प्रकारशब्दार्थ-
 स्याधिकस्य निर्वक्तव्यत्वापातात् । * “प्रकारः प्रकार
 एव?*- इति चेन्न, अविदितलक्ष्यस्य लक्षणमनभिधाये-
 तरत्यवच्छेदेन तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्; अन्यथा

(१) सकलस्मृतित्वान्योन्याभावमिश्रत्वा प्रत्येकस्मृतित्वान्योन्या
 भावस्यापि, तथाऽसर्वज्ञेन तद्विज्ञेयत्वं च, यत्किञ्चित्स्मृतित्वान्योन्याभा-
 वव्यक्तिमिश्रत्वं च तदतिरिक्तयत्किञ्चित्स्मृतित्वान्योन्याभावस्यापि
 पूर्वोक्तदोषदूषितत्वमेवेत्यर्थः । (२) सर्वज्ञाभावज्ञाने प्रतियोगिसम-
 वास्य हेतुत्वात्प्रतियोगिरूपे स्मृतित्वे स्मर्यमाणे सति यदनुभूत्यात्मकानु-
 योगिज्ञानस्वरूपं, तस्य ज्ञानं वा, सोऽनुभव इत्यपि नेत्यर्थः ।

(३) अत्यन्तनिषेधस्य=अत्यन्ताभावस्य ।

सर्वत्र प्रष्टारं प्रति लक्षणानभिधानापातात् । 'को घटः'—इत्यादिपृष्ठे 'घट एव घटः'—इत्याद्येवोत्तरं सङ्गच्छेत । "प्रकार इति पक्षो नोपपन्नः, सद्दोषत्वाद्"—इति वक्ता 'को दोषः' ?—इत्यनुयुक्तो 'दोष एव दोषः'—इत्यभिधायैव निर्वृत्तो^(१) भवेद् इति ।

टी० ॥ "अत्यन्ते"ति । स्मृतित्वात्यन्ताभावपरत्वं तत्र लक्षणत्वेनाभिमतं, तच्च नित्यमेवेति न संसर्गितया करणेन क्रियते ॥ ननु संसर्गित्वेन प्रकारेण यो निषेधः न संसर्गाभावः, सत्वति हि 'नह घटः संसृष्ट' इति, तादात्म्याभावे तु भायं प्रकारः, पटसंसृष्टेपि घटे 'नायं पटात्मा घट' इतिप्रतीतिरिति शङ्कते— "प्रकारे"ति ॥ "प्रकारशब्दार्थस्ये"ति । संसर्गितां विहाय नान्यः प्रकारशब्दार्थः, संसर्गितासमभिधयाहृतायाश्च तृतीयायाः संसर्गितैव नार्थ^(२) इत्यर्थः ॥ ननु प्रसिद्धार्थः प्रकारशब्दः किमत्र प्रश्नेनेत्याह— "प्रकारः प्रकार" इति ॥ प्रसिद्धेऽप्यर्थे विप्रतिपक्षं प्रति प्रसिद्धिमात्रमन्वित्याह— "अविदिते"ति । यद्वा, प्रकारस्य लक्षणप्रश्ने स्वरूपाभिधानमन्वित्याह— "अविदिते"ति ॥ ननु स्वरूपकथनेनैव लक्षणमुक्तमित्यत आह— "अन्यथे"ति ॥ अनिष्टान्तरमाह— "प्रकार इति पक्ष" इति । यद्यपि 'प्रकारवाचिनीयं तृतीयेति न युक्तं, सद्दोषत्वाद्'—इत्युक्ते 'को दोषः ?'—इतिपृच्छतो दोषविशेषस्वरूपाभिधानमावश्यकं, नद्यात्रापि लक्षणप्रश्ने, येन प्रकारलक्षणप्रश्नसमानन्यायता स्यात्, यद्यत्र विशिष्यदोषविशेषाभिधानं न भवेत्तदा "सद्दोषत्वादि"ति हेतुरेव नोपपादितः स्यात्, तथापि दोषलक्षणप्रष्टारं प्रतीदमुक्तमिति भावः ॥

सू० "स्मृतित्ववत् 'स्मृतेर्लक्षणान्तरेण रहितत्वमनुभूति-त्वमिति' प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । "गृहीतस्य ज्ञानं

(१) निर्वृत्तः=कृतकार्यः, "निर्वृत्तो भवेदि"तिपाठे तूपरतो भवेदित्यर्थः । क्वचित्सु निर्वृत्तीभवेदिति पाठः । सचायुक्तः । (२) नार्थः, संसर्गस्य संसर्गान्तराभावादिति भावः । 'इत्यर्थ' इति क्वचिन्नस्ति ।

स्मृतिः-इति च स्मृतिलक्षणो धारावाहिकज्ञानेऽति-
प्रसक्तिः । * 'सापेक्षज्ञानं स्मृतिः, सापेक्षता च स्ववि-
षयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षा ?'-इति चेन्न, 'प्रत्य-
भिज्ञावास्तत्ताभागस्य स्मृतित्वापत्तेः (१) । * एव-
मस्तु ?'-इति चेन्न, तर्हि प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यनुभव-
भागयोर्भिन्नविषयत्वव्यवस्थितौ 'तदभेदः केन गृह्यते ?
-इति पूर्वदोष आवर्त्तते । * संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृ-
तिः * -इत्यपि न, सामग्रीतः (२) सर्वसम्भवेन लक्षण
स्या (३) 'ऽसम्भवात् । * 'असाधारणतद्भूतुकधीत्वम् ?
* -इति चेन्न, आत्मप्रत्यभिज्ञानेऽप्यापत्तेः (४) ।

टी० ॥ संस्कारासाधारणकारणत्वरहितज्ञानत्वमनुभवत्वमि-
त्याद्यनुभवलक्षणमनुपपन्नमित्याह- । "स्मृतित्ववदि"ति ॥
गृहीतग्राहिज्ञानान्यज्ञानत्वमनुभवत्वमित्यपि न भवति, स्मृति-
लक्षणभागस्य (५) धारावहनातिठयापत्तेः, अतः (६) एवानुभवलक्ष-
णस्य धारावहनाठयापत्तिरित्याह- । "गृहीतस्ये"ति ॥ नन गृही-
तग्राहित्वेन जनकज्ञानविषयताप्रयुक्तविषयताकत्व (७) विव-
क्षितं, तच्च न धारावाहिकज्ञाने, येन तत्र स्मृतिलक्षणमतिठयापत्तं
स्यादित्याह । "सापेक्षज्ञाननि"ति ॥ धारावहने विषयनियमो
यद्यपि न पूर्व ज्ञानाधीनस्तथापि प्रत्यभिज्ञाभागे पूर्वानुभवा-

(१) प्रत्यभिज्ञायाः तत्ताभागस्य स्मृतित्वापादनं प्रत्यभिज्ञायाः
सर्वाशेनुभवत्वमताभिप्रायेण (प्रक्रान्तेन) ज्ञेयम् । (२) सामग्री-देश-
काकारमनोयोगादिरूपा । (३) लक्षणस्य=मात्रपदपटितलक्षणस्य ।

(४) बोद्धमित्यात्मप्रत्यभिज्ञानस्य संस्कारातिरिक्तमसाधारणकार-
णं नास्ति, आत्ममनोयोगस्य सर्वज्ञानसाधारणत्वादिति तस्यापि
स्मृतित्वमसङ्ग इत्यर्थः । (५) गृहीतग्राहिज्ञानान्यज्ञानत्वमितिलक्षणे गृही-
तग्राहिज्ञानपर्यन्तस्मृतिलक्षणभागः, तस्येत्यर्थः । अत्रापि 'स्मृतित्व-
लक्षणं भागस्येति पाठः । (६) धारावाहानुभवे स्मृतित्वापत्तं देव तस्य
तदस्यज्ञानत्वाभावात्तत्र निरुक्तानुभवलक्षणाव्याप्तिरधीत्याह-अत एवेति ।
(७) स्मृतौ एवजनकीभूतमागनुभवविषयता प्रयुक्ता विषयता, सा च न धा-
रावाहानुभवे, पूर्वपूर्वानुभवनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वाद्दुस्तरौत्तरानुभवस्येत्यर्थः ।

धीन एवेति तत्रातिष्ठयातिरित्याह--^a“प्रत्यभिज्ञाया”इति ॥
 “तद्भेद” इति । तत्रातिष्ठियातिरित्याह इत्यर्थः ॥^b“असम्भवादि”
 ति । आत्मनसोरपि तत्कारणत्वादित्यर्थः ॥^c“असाधारणे”
 ति । संस्कारासाधारणकारणकत्वमित्यर्थः ॥

म० “आत्ममनोयोगस्य साधारण्यात्,^bकार्यैक्या^(१)नव-
 धारणे च कारणत्वानवधारणात्; तदैक्ये च तदेव
 लक्षणं स्यात् । * येन ज्ञानेनार्था ज्ञाततात्मकः क्रियते
 तदनुभवः, येन तु ज्ञातमेव ज्ञाततात्मकत्वेन क्रियते
 तत्स्मरणम् ? *—इति चेन्न, “ज्ञातो” ‘ज्ञास्यते^(२)
 चे’त्यनुमानादावप्यापत्तेः ।

टी० ॥ असाधारण्यं यदि तद्विराजनकत्वे सति तज्जन-
 कत्वं तदा तत्राभिद्धं, संस्कारेण स्वध्वंसस्यापि जननात्, संस्का-
 रेण स्वविषयाभ्यामबुद्धिमहितेन संस्कारान्तरजननाच्च; यदि च
 स्मृतिस्वावच्छिन्नकार्येण प्रतियोगिककारणता^(३)वच्छेदकरूपव-
 र्थ तदाऽग्रे^(४)दूष्यमिति दोषान्तरमाह—^a“आत्मे”ति । आत्म-
 मनसोस्तत्रापि साधारणत्वात्साधारण्यं संस्कारमात्रस्यैवेत्यर्थः ।
 यद्यपि मनोपीन्द्रियत्वेनासाधारण्यम्, एवमात्मनापि विषयत्वेन,
 तथाच न संस्कारमात्रासाधारणकारणत्व, तथापि त्वत्परिभा-
 षासात्त्वमेतदिति भावः ॥ संस्कारस्य स्मृतिं प्रत्यसाधारणकारण-
 त्वं स्मृतिरिवावच्छेदेन निर्वहेत्, स्मृतिस्वमेवानुगतं नाद्यापि
 सिद्धं, सिद्धौ च तदेव लक्षणमित्याह—^b“कार्यैक्ये”ति ॥ भाटं

(१) कार्यैक्यपदं लक्षणया कार्यैक्यनियामकं भूतकार्यतावच्छे-
 दकीभूतस्मृतिस्वादिधर्मपरं, तदेव=कार्यैक्यनियामकमेव । (२) सूत्रे
 ‘ज्ञात’—इत्यतीतानुमानाकारः, ‘ज्ञास्यते’—इति चानागतानुमानाकारः,
 तथाचानागतानुमानानुमानस्थले विषये ज्ञातताऽऽधानमशक्यं, विषयस्य
 तत्राऽभावादित्यर्थः । (३) कार्यताप्रतियोगिककारणता=कार्यता-
 निकषितकारणता । (४) अग्रे=‘तद्विदुरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधार-
 णकारणकबुद्धित्वमिति चतुर्थविकल्पखण्डनवेलायाम्, कार्यैक्येत्प्राज्य-
 वहितोत्तरग्रन्थेनैव वा ।

स्मृत्यनुभवविभागं दूषयितुं शक्नुते-। “येने”ति । अनुसवेनार्थे
 ज्ञाततालक्षणो धर्मो आधीयते, न च धर्मो धर्मधर्मिनादात्म्य-
 वादिनो भट्टस्य मते धर्म्यात्मक एव इति ‘येनार्थो ज्ञानतात्मकः
 क्रियते’ इत्युक्तं, † स्मृत्या तु ज्ञान एवार्थो ज्ञायते इति ‘ज्ञाततैव
 ज्ञाततात्मिका क्रियते’ इत्युक्तम् † ॥ अनुमानेनापि ज्ञातता ज्ञात-
 तात्मिका क्रियते इति स्मृतिलक्षणं तत्रातिव्याप्तिरिति। “ज्ञात’
 इति। अतीतानागतस्थले ज्ञातताऽऽधानमशक्यं, वर्तमानेपि विषये
 ‘ज्ञातो घटः’-इति ज्ञानवैशिष्ट्यमात्रग्रहो, न तु ज्ञाततावैशिष्ट्य-
 ग्रहः, अन्यथा कृतेष्टतादिधर्माऽऽधानप्रसङ्गः (१) इति भावः ॥
 सू० “ततश्च विषयतः स्मृतिविवेचनम्, अन्ततो वाक्ये
 नाप्यनुभाव्यत्वात्(३), कार्यकारणाभ्यां चानुगतरूप
 स्य प्रागसिद्धे, जातितश्च सङ्करप्रसङ्गाद्, अशक्य-
 मिति । नापि चतुर्थः, यतः कार्यगतवैलक्षण्यानवगमे
 क्व कारणता ? क्वाऽसाधारण्यं वा ज्ञेयम् ?-इति ।

टी० ॥ सर्वप्रकारेण स्मृतिलक्षणानुपपत्तिमुपसंहरति-।
 “ततश्च”ति। स्मृतिविवेचनमशक्यमिति योजना ॥ ^b“विषयत’
 इति । गृहीतविषयग्राहित्वम्-इत्यादिना विषयतः स्मृतिलक्ष-
 णमेतलक्षणवाक्यजन्यानुपपत्तिरित्यापकं, लक्षणवाक्येन तत्रानु-
 पपत्तिवश्यं जन्यः-इति ‘अन्ततः’-इत्यस्य स्वरसः। कार्यद्वारा कार-
 णद्वारा च स्मृतिलक्षणतदा स्याद्यदि कारणतावच्छेदकं कार्यताव-
 च्छेदकवाऽनुगतं निर्वहेत्, तच्च न स्मृतित्वाद्येव, तस्य स्वयिहत्तत्वा-
 त्, न च स्मृतित्वं जातिरेव लक्षणं*, प्रत्यभिज्ञायामनुभवत्वसाङ्क-
 र्येण न निरासादित्यर्थः ॥ तदनेन ‘स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वमि’

१ उक्तम्=अर्थत उक्तमित्यर्थः । (१) ‘कृतो घटः’-इत्यत्र कृतता-
 धर्माऽऽधानप्रसङ्गः, ‘इष्टो घटः’-इत्यत्र चेष्टताधर्माऽऽधानप्रसङ्ग इत्यर्थः ।
 (२) अन्ततो वाक्येनाप्यनुभाव्यत्वात्विषयतः स्मृतिविवेचनमशक्यम्,
 चानुगतरूपस्य (कार्यतावच्छेदकस्य कारणतावच्छेदकस्य) च प्रागसिद्धेः
 कार्यकारणाभ्यां स्मृतिविवेचनमशक्यम्, सङ्करप्रसङ्गाच्च जातितोपि
 स्मृतिविवेचनमशक्यमिति योजना ।

तितृतीयं कल्पं खण्डयता स्मृतिलक्षणमपि खण्डयन्, इदानीं
‘तद्विदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणबुद्धित्वमनुभव
त्वम्’-इति चतुर्थं विकल्पं खण्डयति-“नापि चतुर्थं” इति ।
अनुभवं प्रत्यसाधारणं कारणनिन्द्रियसत्त्विकर्षं निष्कृपरात्म-
पदज्ञान-मादृश्यज्ञानरूपमव्यवहितप्राक्कालोत्पत्तिकं वाच्यं,
तस्य च कारणात् अनुभवं प्रत्यनुभवत्वजानिमन्तरेण दुर्यहेत्यर्थः ॥

सू० “न केवलं प्रत्येक पदार्थस्य^(१) तद्व्यवच्छेदकत्वस्य चा-
नुपपत्तिर्मिलितेप्यस्मिन् लक्षणे दूषणमुच्यते; तथाहि
-‘तत्त्वानुभूतिः प्रमा’-इत्यनेन काकतालीयमपि^(२)
यथार्थज्ञानं व्याप्यते । तद्यथा, -पाणी पञ्च वराट-
कान् पिधाय कश्चित् पृच्छति-‘कति वराटकाः?’ इति, -
पृष्ट्वाऽजाकृपाणीयन्यायेन^(३) ब्रवीति-‘पञ्चे’ति, ततः
‘पञ्चे’ति ज्ञानमस्ति वस्तुः श्रोतुश्च; दूश्यन्ते तावदे-
वंविधान्युदाहरणानि; तच्च ज्ञानं न तत्त्वपदेन व्यव-
च्छेत्तुं शक्यं, वस्तुतस्तस्य पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वेना-
ऽतथाभूतत्वाभावात् । नाप्यनुभवशब्दव्यवच्छेद्यस्,
अननुभूतचरत्वेन स्मरणलक्षणोपेक्षणात् । * ‘नच
वस्तुः संशय एव निश्चयकाभावात्, एकतरकोटिव्य-
वहारस्तु “कृष्यादिप्रवृत्तिवद्” इति युक्तं*, तत्राप्या-
हाररूपैककोटिनिश्चयाऽऽस्थानात्^(१); ‘अन्यथा
संशयस्य कोटिद्वयनिश्चयसमञ्जयतापत्तोः ।

(१) पदार्थस्य = तत्त्व नुभूतिरिति लक्षणस्य तत्त्वं पदव्योच्यते ।

(२) परिणतमानफलपतनकाले काकोषि तद्वन्तमाश्रयते तत्र काकयो-
गस्य सालफलपतनेऽव्यव्यतिरेकविग्रहाद् यादृच्छिकः काकयोग इति
यथा, तथा देवादागतविज्ञानं यादृच्छिककाकतालीयममं काकतालीय-
ज्ञानमुच्यते इति द्रष्टव्यम् । (३) कण्डूयनार्थं तस्मादौ शिथिल-
बन्धकज्ञे द्वागी शीर्वा मसात्त्यति, यद्वृद्धया च शीर्वा चिद्यते, तथाभूतो-
ऽजाकृपाणीयन्यायः काकतालीयन्यायसमः ।

टी० ॥ 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'-इति लक्षणे प्रातिपत्ति^(२)ज्ञाने-
तिष्ठयाहिमापादयितुं भूतिमारचयति-। "न केवलमिति ।
एतेन 'इषो मे आता समागमिष्यती'ति, 'शालिवाहनमपति-
रिदानीं शृङ्गारसरसीतीरे देव्या लीलावत्या सह ललितनचुरं
सङ्गीतक^(३)मनुतिष्ठती'त्यादिप्रातिपत्त्यानातिव्याप्तिरुहनीया ॥
तदेवाह-। ^b"दृश्यन्त" इति ॥ "नच वक्तुरिति । तथाच
संशयत्वेनाऽतस्त्वकोटिप्रवेशात्तत्त्वपदेनैव तादृशज्ञानव्यवच्छेद
इति ज्ञावः ॥ ननु संशये क्वचिदपि नैककोटिव्यवहार इत्यत
आह-। "कृष्यादी'ति । कृषी फल भविष्यति नवेति संशये 'भवि-
ष्यत्येव कलमि'त्येकतरामेव कोटि यथा कृषीवला व्यवहरन्ती-
(^४)त्यर्थः । 'सहकारिसंस्पत्तौ कृषेरवश्य फलमिति ज्ञानमाहारः ॥
"अन्यथे'ति । एककोटिकनिश्चयस्यापि संशयत्वेऽन्योपि संश-
यो निश्चयसमुदायरूपः स्या^(५)दित्यर्थः । यद्वा, ^(६)यदि संश-
योपि निश्चयव्यवहारजनकः स्यात्तदा कोटिद्वयनिश्चयात्मक
एव स्यादित्यर्थः ॥

सू० * नच प्रमेव तदि^(१)त्युररीकरणीयं *, "मध्ये^(८)
ऽध्यक्षादि दुरन्तर्भावत्वात् । * ^bअव्यभिचारिकर-

(१) तथापि=कृत्यादिप्रवृत्तावपि, आहारैककोटिकनिश्चयस्यैव
आरुधानात्=स्वीकारात्, 'तथाचाऽर्थाङ्गो दृष्टान्त"-इति शेषः ।

(२) प्रतिभा=स्फूर्तिः, तथा परिप्राप्ते, (यादृच्छिके ज्ञाने, इति यावत्)

(३) यतान्यमुद् हरणानि यथायंस्थले द्रष्टव्यानि । शृङ्गारसरसीतीरे =
शृङ्गारसाधनोभूतपुष्करिणीतीरे । (४) अत्र यथाशब्दानुरोधेनाप्येत्य
एवाहर्तव्यम् । (५) अत्रायमुद्देयविधेयभावो दोष्यः-एककोटिक-
निश्चयसंशययोरभिन्नत्वेऽन्योपि (अनेककोटिकसंशयोपि, अनेककोटी)
निश्चयात्मक एव स्याद्-इति, अन्यथा निश्चयस्यापि संशयत्वेऽन्योपि
निश्चयः संशयः स्यादित्युक्त भवेत् । (६) पूर्वमनेककोटिकसंशयस्या-
नेककोटी निश्चयात्मकत्वं प्रसिद्धतमिदानीं तु सहकारिसंस्पत्तौ कृषाव-
वश्यं फलमित्याद्येककोटिकसंशयत्वेनाभिसम्बन्धैवानेककोटिकनिश्चया-
त्मकतां प्रवृत्तयति-यद्वेति । (७) तत्=काकतालीयं संवादिज्ञानम् ।
(८) अध्यक्षादिर्मध्ये मध्येऽध्यक्षादि, मध्येगङ्गा, पारेगङ्गम्-इत्यादिवत् ।
अध्यक्ष=प्रत्यक्षप्रसाधम् ।

ज्ञानजन्यत्वे सतीति विशेषणीयम्?—इति चेत्, न, 'तत्त्व-
पदवैयर्थ्यापातात् । नच (१) "काकतालीयसंवाद्मपि
ज्ञानं व्यभिचारिकरणसामग्रीजन्यमास्थातुमीशिषे
(२), 'व्यभिचारिणोपि(३) करणविशेषाद्यथार्थत्व-
प्रसङ्गात्; न ह्यहेतुकमेवाऽस्य यथार्थत्वं, नियामका-
भावेनातिप्रसङ्गापाताद्; अवश्यमस्याव्यभिचारित्वे
अव्यभिचारिनियतमेव करणं वक्तव्यम् । * "किं
तद्? *,—इति चेत्, 'स्वात्मनैवात्र प्रश्ने दीयतामुत्तरं
भवता, येन नियतेषु प्रमाराशिष्वेवेदं ज्ञानमन्तर्भा-
व्यम् 'प्रमासामान्यलक्षणेन वा व्यवच्छेत्तव्यम् ।

टी० ॥ "मध्ये" इति । प्रत्यक्षादिविज्ञानीयकरणजन्य-
तया प्रत्यक्षादिप्रमासु तदनन्तर्भावादित्यर्थः ॥ "अव्यभिचारी"
ति । प्रमालक्षणमव्यभिचारिकरणजन्यत्वेन विशेषणीयम्, इदं तु
ज्ञानं व्यभिचारिलिङ्ग(४)जन्यमिति नातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥
"तत्त्वे"ति । अव्यभिचारिकरणजन्यानुभूतिः प्रमेतिलक्षणा-
देव अनठयावृत्तेरित्यर्थः ॥ प्रकृतज्ञानमव्यभिचारीत्यव्यभिचा-
रिकरणजन्यमभ्युपेयमित्याह— । "काकतालीये"ति ॥ अत्रा-
निष्टप्रसङ्गाह— । "व्यभिचारिणीवी"ति । यदि यथार्थज्ञानस्य-

(१) पूर्वं काकतालीयसंवादिज्ञानस्याव्यभिचारिकरणजन्यत्वम-
भ्युपगम्य तत्त्वपदवैयर्थ्यमवाचि शब्धुना तु न व्यभिचारिकरणजन्यत्वमपि
तस्य, तथा च न निरुक्तविशेषणव्यावर्त्यतापीत्याह—न चेति । संवादः=
यथार्थज्ञानम् । (२) ईशिषे = शक्तो भवति । (३) 'व्यभिचारि-
णोपि'—इति पठ्यन्तं करणविशेषादित्यस्य विशेषणं, तत्र 'ज्ञानस्येत्य-
ध्याहृत्य 'यथार्थत्वप्रसङ्गादिति योजनीयम्, यद्वा 'व्यभिचारिणोपि'—इति
वाच्यन्तं, तत्र करणविशेषः=दुःखेन्द्रियलिङ्गादे, व्यभिचारिणः=अज्ञान-
नस्यापि, यथार्थत्वप्रसङ्गः—इत्यर्थः । यद्यपि प्रकृते व्यभिचारिणः करणवि-
शेषादेव यथार्थं संवादिज्ञानं तथापि त्रिसंवादिस्थलेपि तथा स्यादिति
भावः । (४) अत्र लिङ्गपदं करणमात्राभिप्रायकम्, उपलक्षणं वा
शब्दादेरपि ।

अथभिचारिकरणजन्यत्वं न ननुष्यं तदा दुष्टेन्द्रियलिङ्गादेरपि प्रभोत्पद्येतेत्यर्थः ॥ १६ अर्थे"ति । काकतालीयसवादिज्ञानस्ये-
त्यर्थः ॥ अथभिचारिकरणमनुपलम्भवाधिनमित्याशयेनाह-
॥ "किमिति ॥ कार्यबलादायातं (१) नाऽनुपलम्भवाधितमि-
त्याह । "स्वात्मनैवे"ति ॥ "प्रमामामान्ये"ति । यद्यार्थत्वे
तद(२)शक्यमिति भावः ॥

सू० एवं लिङ्गाभामादिभ्योपि जातं लिङ्गिज्ञानं देवग-
त्या(३)स्थितलिङ्गलिङ्गिनि लिङ्गिमत्येव वा यत् स्या-
त् तत्तु यद्यपि लिङ्गाभासे न प्रमा न वा तद्वृत्ति लिङ्गि-
स्वरूपे, तथापि विशिष्टं तथाविधं गोचरयन्त्यास्त-
स्या बुद्धेर्लिङ्गान्तरवति केवले वा लिङ्गिनि वन्हा-
दावप्यंशे विषये प्रामाण्यस्वीकारेणोक्तदोषापरिहा-
रादिति * आभासकरणजत्वा(४)त्तद्विषयस्य वस्तु-
भूतलिङ्गादेरन्यत्वमेव*—इति चेन्न, विशेषस्या(५)
न्यत्वेपि तज्जातीयमात्रवन्तावभासांशे दोषापरिहा-
रात् । * सामान्य(६)मस्वन्धकोटिनिविष्टत्वाद्वि-
शेषस्य, तस्य च तत्रानवस्थितस्यैव स्फुरणान्नैष दोषः

(१) अत्र 'अथभिचारिकरणम्'—इति शेषः । (२) तद=अथ-
वन्धोक्तत्वम् । (३) देवगत्येति, देवगत्या स्थिते लिङ्गलिङ्गिनी
(वास्तविकभूमवह्नी) उभौ यत्र पर्वतादौ तत्र, लिङ्गिमत्येव वा=वास्त-
विकैकवह्नीयक्तित्येव वा यल्लिङ्गाभासादिभ्यो लिङ्गिज्ञान स्यात्तद्यद्यपि
लिङ्गाभासांशे न प्रमा, नापि तद्वृत्ति(= लिङ्गाभासविशिष्टे लिङ्गिरूपे)
प्रमा, तथापि वास्तविकभूममात्मकलिङ्गविशिष्टे वास्तविकलिङ्गिनि व-
न्हादौ केवलवन्हादौ वा प्रसवेत्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । (४) आभासकरणा-
जत्वात्, 'अप्रज्ञानस्येति शेषः । (५) अनेकव्यक्तिसाध्यकस्येले विशेष-
पस्य = अमविषयलिङ्गलिङ्गिव्यक्तिविशेषस्य, अन्त्येपि = वस्तुभूतलि-
ङ्गादेरन्यत्वेपि । (६) भूमत्ववह्नीत्वसामान्यस्य यः समवायात्मकः
मस्वन्धस्तत्कुञ्जनिविष्टत्वाल्लिङ्गलिङ्गिव्यक्तिविशेषस्य तस्य चानवस्थित-
स्यैव अत्रे भान न् अमन्तानस्य प्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

* इतिचेन्न, 'विशेषाप्रतिभासे सामान्यतस्तन्मात्रव-
त्ताप्रतिभासस्याप्य^(१)भ्युपेयत्वात्, देवदत्त^(२)यज्ञद-
त्तसम्बन्धितासंशयेपि पुरुषसम्बन्धितया निश्चय-
वत् । 'सम्बन्धिविशेषस्य^(३)निलु' णिठतविशेषरूप-
तया च प्रवेशे व्याप्त्यादेरननुगमप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ धूनीपटले धूमश्चमाज्जातायां च वन्त्स्ये यद्यार्थानु-
नितौ तत्त्वानुभूतित्व लक्षणमतिठयापकमित्याह-। "एव-
मि"ति ॥ अनुभूतिविषयो वह्निस्तत्र नास्तीत्यथापर्यमेव तत्रेति
शङ्कते-। "आभासे"ति ॥ तथापि वह्निस्तत्र तत्राबाधितमेवे-
त्याह-। "विशेषस्ये"ति । प्रत्युतानुमितवह्नेः प्रत्यभिज्ञाना-
द्व्यक्तिविषयत्वेपि प्रामाण्यमेवेति भावः ॥ विशेषाभासे सामा-
न्यमपि भासमानमन्यदेव वक्तव्यम्, अन्यथा तत्सामान्यसम्ब-
न्धाकृष्टस्य विशेषस्यापि भानं स्यादिति शङ्कते-। "सामान्येति ॥
विशेषभानमन्तरेणापि सामान्यभानं दृष्टं, यथा मालादौ
चैत्रनैत्रादिविशेषनिर्मितत्वाज्ञानेपि पुरुषनिर्मितत्वभानमि-
त्याह-। "विशेषाप्रतिभासे" इति ॥ यदि च सामान्यमात्र-
प्रकारकं ज्ञान नाभ्युपेयं तदाऽनिष्टमाह । "सम्बन्धी"ति ।
निलुण्ठितत्व=केवलत्व, विशेषमात्रप्रकारप्रवृत्तं व्याप्तज्ञानम-
नुमित्यौपयिकं न सम्भवतीत्यर्थः ॥

मू० "सामान्यानुमानाभासे^(४)च संवादिनि विशेषान्य-
वत्ताकरूपनानवकाशात् । * "सामान्यसमवाययोर-

(१) यपिशब्दे "विशेषाप्रतिभासे"-इत्यतोऽग्रे सम्बन्धनीयः-वि-
शेषाप्रतिभासेपीति । (२) "देवदत्त"-इत्यादितः प्राक् 'मालादावि'-
ति शेषः । (३) सम्बन्धिविशेषस्य=सामान्यप्रकारकज्ञानविषयीभूतसामा-
न्यसम्बन्धस्य (=समवायस्य) यः सम्बन्धी तस्येत्यर्थः । यद्वा, व्याप्त्या-
त्मकसम्बन्धस्य यौ सम्बन्धिनौ व्याप्यव्यापकौ तदात्मकविशेषस्येत्यर्थः ।
(४) सामान्यानुमानाभासे=नोगलबद्धपटे सास्त्राभ्रमेकाऽयं गौः सास्त्रा-
वत्त्वादित्याकारकगोत्वानुमानाभासे विशेषाव्यवत्ताकरूपनानवकाशात्
= भ्रमविषयगोत्वान्यसत्यगोत्वविशेषस्य कल्पनानवकाशात्, गोत्वस्यै-
कत्वादेवेति भावः ।

प्यन्ययोरेव प्रतिभासे अन्यथाख्यातिं विहायाऽस-
त्ख्यातिप्रवेशापातात् । * 'तत्रत्यधर्मान्तरस्य जात्या
तादात्म्यारोपस्तत्र^(१) *—इति चेन्न, 'तथापि धर्मिणि
जातौ च प्रमात्वतादवस्थ्यात्, 'संसर्गारोपनिमि-
त्ताञ्च तादात्म्यारोपानुपपत्तेः ; परार्थानुमानाभासे
हि प्रतिपादितपदार्थसंसर्गारोपकारणसम्भवात्, 'त-
थापि तत्र तादात्म्यतयारोपकल्पने च तथाभ्रमनि-
यमस्य^(२) निष्कारणत्वात् ।

टी० ॥ किञ्च, नानाव्यक्तित्वले व्यक्त्यन्तरभानकल्पनेपि
गोमलवद्वृषटादौ मास्त्रादिसुद्ध्या गोत्वानुमाने कथमुक्ता ग^(३)ति-
रित्युदाहरणान्तरमाह—। “सामान्यानुमानाभासे” इति ॥ मन्व-
त्राप्यन्यदेव गोत्वं ज्ञानतामित्यत आह—। “सामान्येति ।
तस्यालीकतया तज्ज्ञानकल्पनायामसत्ख्यातिः स्यादित्यर्थः ॥
ननु गोनित्यरूपादौ गोत्वतादात्म्यारोपस्तत्रेति भ्र नैव सानु-
मिति रिति शङ्कते—। “तत्रत्येति ॥ तादात्म्यमात्रे तर्हि भ्रान्तिर्न
स्वारोपविषययोर^(४)पीति परिहरति—। “तथा पी”ति । प्रत्य-
क्षभ्रमेपि धर्म्यंश इहोदाहरण द्रष्टव्यम् ॥ किञ्च, संसर्गारोपमा-
मयी कथं तादात्म्यारोपं जनयेदित्याह—। “संसर्ग”ति । स्वार्था
नुमाने क्वचित्तादात्म्यारोपसम्भवेपि परार्थानुमाने पदोपस्थापि
तसमस्तरूपोपेत^(५)ल्लिङ्गभ्रमात्पक्षसाध्यसंसर्ग एव सेदुमर्हती-

(१) तत्र=निरुक्तगोत्वानुमित्यस्थले, तत्रत्यधर्मान्तरस्य = गोनित्य-
रूपपादेः, जात्या सह तादात्म्यारोपः, तथाचारोप्यमाणरूपाद्यात्मक-
गोत्वान्तरस्यगोत्वमन्यदेवेति भावः । (२) तथाभ्रमनियमस्य=संसर्गारोप-
सामग्रीतः संसर्गभ्रमः, तादात्म्यारोपसामग्रीतश्च तादात्म्यभ्रमः—इत्या-
कारकारोपप्लव्यनियमस्य, निष्कारणत्वात् = अप्रामाण्यापातादित्यर्थः ।
(३) उक्ता गतिः = व्यक्त्यन्तरभानकल्पनागतिः । (४) आरोपविषययोः =
गोत्वरूपाद्यात्मकधर्मप्रतियोगिनाः । (५) पक्षे सत्त्वं, सपक्षे सत्त्वं विप-
क्षाद्व्यावृत्तवत्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेत्याकारकपञ्च-
रूपोपेत्यर्थः ।

त्यर्थः ॥ यदि संमर्गारोपसामग्र्यपि तादात्म्यारोपं जनयेत्-
दाऽऽरोपद्वैविध्यं न स्यादित्याह-।^१“तत्रार्पी”ति ॥

सू० “कस्यचित्तत्र जातसंवादजातिसंसर्गभ्रमस्य मितौ का
गतिः? ^१का वा गतिः सिद्धसाधने? ^२तत्राप्यन्यत्व-
कल्पनायां सिद्धत्वव्याघातात्, ^३तथात्वे च हेत्वा-
भासस्यापि यथार्थग्राहितयोक्तनिमित्तस्य व्यभिचा-
रेणान्यत्राप्याभासेऽन्यप्रतिभासकल्पनाया निर्निमि-
त्तत्वात् । सिद्धसाधनमितेरेव वाऽव्यवच्छेदात् ।

टी० ॥ इह मया नेत्वममर्गाऽनुमितौ नूनं गौरैवायमित्य-
नुठयवभायेन संमर्गारोपत्वठयवस्थितेरित्याह-। “कस्यचिदि-”
ति ॥ सिद्धसाधनेन हेत्वाभासतां गतेन लिङ्गेनानुमितिव्यभिचा-
रिकरणान्यापि यथार्थैव वक्तव्येति दोषान्तरमाह-।^४“का च्छे”ति॥
ननु तत्राप्यन्य एव रमादिभ्रामते इति क्व याथाथ्यमित्यन आह-।
“तत्रार्पी”ति ॥ ननु सिद्धसाधने यथार्थैवानुमितिरस्तु को दोषः?
इत्यन आह-।^५“तथात्वे च्छे”ति । यदि सिद्धसाधने यथार्थैवा-
नुमितिरस्तदा धूलीपटले धूमश्चमादपि यथार्थैवानुमितिरस्तु किं
व्यक्त्यन्तरभासकल्पनायां हेत्वाभासत्वेनाविशेषादित्यर्थः ॥

अस्तु वा तत्र व्यक्त्यन्तरकल्पना, सिद्धसाधनस्थलेनुमितियाथा-
थ्यभावशयकमित्याह-। “सिद्धसाधनमितेरेवे”ति । यद्यपि सिद्ध-
साधनेऽनुमितिरिव नेदेति कुत्र याथाथ्यापत्तिः?, * यागावहने
सिद्धेः सिद्धान्तराप्रतिबन्धकतया प्रकृतेपि न प्रतिबन्धकत्वम्?*-
इति चेन्न, तत्र प्रत्यक्षसामग्र्या अप्रतिहतत्वादिह पक्षधर्मतावि-
घटनेन तत्प्रतिघातात् । * बाधोपि तर्हि स्वरूपसत्त्वेव प्रतिबन्ध-
कः स्यात्^(१) *-इति चेन्न, इष्टत्वात् । * हेत्वाभासत्वं तस्य
भज्येत, ‘ज्ञायमानं सद्यदनुमितिप्रतिबन्धकं स हेत्वाभास’-इति

(१) बाधसत्त्वावस्थसन्देहवति पक्षे यथा बाधसत्त्वनिरूपय-
रूपायाः सिद्धेः स्वरूपसत्त्वा एव प्रतिबन्धकत्वं तथा बाधस्यापि पक्षे
बाध्याऽनस्वरूपस्य प्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः ।

तल्लक्षणत्वात् ? *—इति चेन्न, सदनुमितिप्रतिबन्धकत्वमात्रस्य^(१) तल्लक्षणत्वात् । * नहि अतस्यात्मनो मननं न स्यात् ?—इति चेन्न, अनुमतिरिक्तप्रकारेणाभिद्वेन तत्र मननात्; तथापि यन्मते सिद्धन्तरं न सिद्धान्तरविरोधि तन्मतमाश्रित्य खण्डनावतारः ॥

सू० 'यथार्था^(२)नुभवः प्रमेत्यप्यलक्षणम् । यथार्थत्वं हि "तत्त्वविषयत्वं वा ? अर्थसदृशता वा स्यात् ? नाद्यः, पूर्व^(३)निरस्तत्वात् । नापि द्वितीयः, "व्यभिचारिणो^(४)पि प्रमेयत्वादिनाऽर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात् । * 'ननु ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यं विवक्षितम् । * "नच प्रमेयत्वादिरूपस्य व्यभिचारिण्यपि प्रकाशसम्भवेन तथाप्यतिप्रसङ्गः*,—इति वाच्यम् *, प्रमेयत्वाद्यंशे प्रकाशमाने विषयीभूतधर्मान्तरापेक्षया व्यभिचारिणोपि^(५) प्रमात्वाभ्युपगमात्*,—इति नैतद्युक्तम् । प्रकाशमानेन रूपादिसमवायित्वेन रूपेण ज्ञानस्यासार्थदृश्याभ्युपगमेपि तत्र तदीयप्रमात्वाङ्गीकारादिति ।

टी० ॥ यथाशब्दस्य पदार्थानतिवृत्तिपरतामादायाह—। "तत्त्वविषयत्वं वे"ति ॥ "व्यभिचारिणोपी"ति । यद्यपि अत्रविषयस्यामतो रजतत्ववैशिष्ट्यादेः प्रमेयत्वं नास्तीति न सादृश्यं

(१) सत्त्वे इति अनुमितिप्रतिबन्धकत्वमात्रस्येत्यर्थः ।

(२) { तत्त्वानुभूतिरित्येतत्त्ववृत्तयित्वा तु लक्षणम् ।
(३) { यथासंख्यादिना चाव खण्डयते लक्षणान्तरम् ॥ २० ॥ }

(४) पूर्वम् = तत्त्वानुभूतिः प्रमा—इति लक्षणस्य तत्त्वादिपदार्थ-खण्डनवेलायाम् । (५) व्यभिचारिणः = अर्थव्यभिचारिणो भ्रमज्ञानस्य ।

(६) व्यभिचारिणोपि (भ्रमज्ञानस्य) प्रकाशमाने प्रमेयत्वाद्यंशे प्रमात्वाभ्युपगमादित्यन्वयः । धर्मान्तरापेक्षया = भ्रमविषयीभूतरजतत्वादिधर्मापेक्षया ।

तथापि सम्मात्रविषयतायाः^(१)पक्षमाश्रित्य यत्किञ्चिद्^(२)व्य-
भिचारिज्ञानार्थसादृश्यं चाश्रित्य खण्डनम् ॥ ननु ज्ञानार्थयोः
प्रमेयत्वेन सादृश्येपि न अमेतिह्यासिर्यतो ज्ञानविषयीकृतेन
रूपेणार्थसादृश्यस्य विवक्षेत्याह- "नन्वि"ति ॥ 'इदं रजतं
प्रमेयमि'त्वादिष्वमे तथाप्यतिठयाप्तिरित्याशङ्क परिहरति-
"नचे"ति । विषयीक्रियमाणे प्रमेयत्वाद्यंशे प्रमात्वात्ता-
तिठयाप्तिरित्यर्थः ॥ एव सति 'रूपसमवायी घटः'-इत्यादि-
प्रमायामठयाप्तिरित्याह- "प्रकाशमानेने"ति ॥

सू० * "प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यम-
नुभवस्य विवक्षितम्, अर्थस्य च यथा समवायाद्रूपं
विशेषणीभवति तथा विषयभावात् ज्ञानस्यापि तद्
विश्लेषणं भवत्येव ?*, -इति चेन्न, 'एवं हि पुरोवर्ति-
त्वादिना रूपेण तथाभावसम्भवा^(३))त्पुरोवर्तिनीं
शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं प्रमा स्यात् । *न
च वाच्यमिष्यत एव सा प्रमापीति न व्यभिचारको-
दनेयं युक्तिमतीति *, यथार्थताविशेषणवैयर्थ्यप्रस-
ङ्गात् । "अनुभूतिः प्रमा'-इत्युक्ते एव हि तावन्नास्त्य-
तिप्रसङ्गः, सर्वस्य व्यभिचार्यनुभवस्य (अन्ततोऽन्य-
थाख्यातिवादिनये) धर्मिण्यपि प्रमात्वसम्भवेन
प्रमायामेवानुभवत्वस्य स्थैर्यात् ।

टी० ॥ तत्रापि रूपवत्त्वं विषयतया ज्ञानेष्यस्तीति नाठया-

(१) यद्विमपक्षे सम्मात्रस्य=अस्तीतिप्रतीतिविषयभूतवस्तुमा-
त्रस्यैव (सतो वाऽसतो वा) प्रमेयत्वम्=इदं प्रमात्रिषयत्वम् (सतः
सत्त्वेनैवाऽनतश्चाऽसत्त्वेनैव) तत्पक्षमाश्रित्य खण्डनं युक्तिमित्यर्थः ।
(२) यत्किञ्चित्त्वम् अर्थसादृश्येऽन्वेति, तत्र च तुच्छमिच्छत्वयोपाख्यात्वा-
दिरूपं सादृश्यं व्यभिचार्यव्यभिचारिणोर्ज्ञानार्थयोः समानं, तदेव प्रमे-
यत्वशब्दोपलक्षितं ग्राह्यमित्यर्थः । (३) तथाभावसम्भवात्=विश्लेष-
णभावसम्भवात्, तथाहि-पुरोवर्तित्वं स्वकथनः समवायेन वा यथा अर्थ-
स्य श्रुक्त्यादेर्विश्लेषणं तथा विषयविषया ज्ञानस्यापीति ।

स्मिरिति शङ्कने - । "प्रकाशमानेने"ति । * अनद्रजतत्वादि-
शिशुषं विषयतया भ्रमेप्यस्मिन् विशेषणमिति तत्रातिव्याप्तिः-
इति न वाच्यम् * , असत्त्वेतस्या^(१)र्थविशेषणत्वाभावाद्भय-
विशेषणत्वाभावाद्देति भावः ॥ "एवं ही"ति । यदि विषयतया
विशेषणेन सादृश्यं विवक्षितमित्यर्थः ॥ अन्त्ये लक्षणगमनाद-
तिव्याप्तिः, प्रकृते च न तथा^(२), अन्त्याप्यंशभेदेन प्रमात्वादि-
त्वाद्- । "नच वाच्यमि"ति ॥ विशेषणवैयर्थ्यं स्फुटयति-
'अनुभूतिरिति"ति ॥ "प्रमायामेवानुभवत्वस्य स्थैर्यादि"ति ।
अनुभवे प्रमात्वस्य स्थैर्यादित्यर्थः ॥

सू० 'यदि त्वंशतोपि व्यभिचारिण्यां मा लक्षणं गमदि-
तिचेतसि निधाय यथार्थत्वविशेषणं प्रयुक्तं तदा न
युक्तम्, उक्तदोषात् । 'अथोच्येत * प्रकाशमानरू-
पेण सर्वेण विशेषणभावाद् यस्यानुभवस्यार्थसादृश्यं
सा प्रमा, 'नच तावता^(३)धर्मिणो धर्म्यविशेषणतया
दोषः, तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेदकत्वाद्*-इति,
'तर्हि व्यभिचारिज्ञानं धर्मिण्यपि प्रमा न स्यात्, सर्वा-
त्मना सादृश्याभावात्; 'अव्यभिचारिणं चांशमननु
रुद्धय तदीया^(४)प्रमितिकोटिनक्षेपसाहसिकयाद
बिभ्यता किमव्यभिचार्यंशानुरोधेन व्यभिचार्यंश-
स्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव नाध्यवसीयते भवता,

टी० ॥ अन्त्येभयरूपतया व्यभिचार्यंशव्यवच्छेदाय
'यथार्थमिति विशेषण यदि, नदोक्तदोष^(५)अन्तेन न तद्व्यवच्छेद
इत्याह । - "यदि त्वि"ति ॥ यावदर्थविशेषणं तावद्विषयतया तत्र

(१) तस्य = अक्षतो रजतस्य वैशिष्ट्यस्य, अर्थविशेषणत्वाभा-
वात् = शुक्तिरूपार्थविशेषणत्वाभावान्, शुक्तिभ्रमोभयविशेषणत्वाभावाद्वा
इत्यर्थः । (२) न तथा = नातिव्याप्तिः । (३) तावता = प्रकाशमा-
नसमस्तूपेण सादृश्यविवक्षणेन । (४) तदीयेति, अव्यभिचार्यंशस्या-
स्यप्रमितिकोटिनक्षेपात्मक यस्याहसिक्यं तस्माद्विभ्यता भवतेत्यर्थः ।

(५) उक्तदोष = भ्रमेऽतिव्याप्तिरूपो दोषः ।

ज्ञाने विशेषणं तत् प्रमा, भ्रमस्तु नैव, तत्र विषयतया ज्ञान-
विशेषणस्य रजतत्वादेरर्थविशेषणत्वाभावादिनि शङ्कते-। “अ-
थे”ति ॥ ननु धर्मा ज्ञानविशेषणमपि न स्वविशेषणत्वः सर्वथा
प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावाभावात्तत्राठयापितरियत
आह-। “नचे”ति ॥ धर्मिणः स्वाविशेषणत्वेपि स्वगतधर्मवि-
शेषणतया^(१) नाठयाप्तिरित्यर्थः ॥ परिहरति-। “तर्ही”ति ।
अनठयावर्तनाय यद्विशेषणं तद्भ्रमप्रमांशठयावर्तकमपि स्यादेवे-
त्यर्थः ॥ भ्रमज्ञानस्य सामस्त्येनैवाप्रमात्वात्तदंशानुपग्रहो न
दोषमावहतीति यदि, तत्राह-। “अठयसिधारिणमि”ति । स्मृ-
तिप्रामाण्यपक्षे ज्ञानत्वमपि प्रमालक्षणमुक्तम्, आदिपदाद्विशि-
ष्टज्ञानत्वपरिग्रहः ॥

सू० शक्यन्ते ह्यनुभूतित्व() ज्ञानत्वादयः “तादृगभिप्राये-
ण लक्षणोक्तुम् । यदि च बाध्यार्थांशा धीरबाध्या-
र्यांशेष्यप्रमैव तदा सौधाग्रकुम्भादिवत्^(३) दूरत्वा-
त्तुहिनद्युतिविद्युदादिपरभागग्रहणाद् अवयविनं च
तावत्परिमाणग्रहणात् अल्पपरिमाणमुल्लिखत्प्र-
त्यक्षं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धमप्रमा स्यात् । क्व च
लभ्यं देशकालालोकादिव्यक्तिसहितजलादिज्ञानस्य
समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणं ? येन तत् प्रा-
माण्यं मन्यसे । यदि चांशे बाधादबाध्येष्यंशे तद्वो-
धमिथ्यात्वं समर्थयसे तदा ‘यदर्थजातीयं बाध्यं तद-

(१) स्वगतधर्मविशेषणत्व धर्मिणस्तद्व्यवच्छेदकतया द्रष्टव्यम् ।

(२) अनुभूतित्वं नानुगतम्, आस्मिन्पक्षे स्मृतेरपि प्रमात्वादित्यत
आह-ज्ञानत्वेति, परीक्षापरीक्षान्यतरत्वमादिशब्द-र्थः । (३) तुहि-
नद्युतिविद्युदाद्यवयविनं अल्पपरिमाणमुल्लिखत्प्रत्यक्षमप्रमा स्यादिति
सम्बन्धः । अल्पपरिमाणग्रहणे हेतुः-तावत्परिमाणऽग्रहणादिति,
तत्रापि हेतुः-परभागऽग्रहणादिति, तत्रापि हेतुः-दूरत्वादिति; तत्र
दृष्टान्तः-सौधाग्रकुम्भादिवदिति, बौधः-प्रमादः तच्छिखरस्यकुम्भवदि-
त्यर्थः । तुहिनद्युतिः = चन्द्रः ।

र्थजातीयमबाध्यमपि मित्ये'ति मन्यमाने किमुत्तरं
ते स्याद् ? अन्यत्र लोकप्रसिद्धप्रमोदाहरणत्यागात् ।

टी० ॥ “तादृगभिप्रायेणे”ति । व्यभिचार्यशक्यापि प्रमा-
कोटिनिवेशनाभिप्रायानुगोथेनेत्यर्थः ॥ विनिगमनाविरहमुक्त्वा
लोकविरोधमाह—“यदा”ति । प्रकाशमानाल्पपरिमाणत्वादेश्च-
न्द्राद्यर्थविशेषणत्वाभावात्तत्र प्रमाणलक्षणपरिहारा^(१)चन्द्रा-
दांशेपि प्रमात्वं न स्यादित्यर्थः ॥ यावज्ज्ञानविषयविशेषणका-
र्यकत्वं^(२)यथार्थत्वलक्षणं, तत्रात्मभवमाह—। “क्व च लभ्यमि”-
ति । यावाननुभवस्य विषयस्तावानर्थस्य विशेषणमिति तदा
स्याद्यदि ज्ञानोल्लिखितमकलप्रकाराबाधः स्यात्, स च प्रवृ-
त्तिसंवादागम्यो, न सर्वत्रप्रकारे क्वापि ज्ञाने प्रवृत्तिसंवाद, इत्य-
मममत्र इत्यर्थः ॥ अशबाधमात्रेण सकलज्ञानबाध्यत्वाभ्युपगमे
दोषान्तरमाह—। “यदि चे”ति । ‘प्रमाज्ञानं बाध्य, बाध्याशक-
त्वादि’ति वत् ‘मन्यत्वेनाभिमतं रजनज्ञानं बाध्य, शुक्तिस्थल-
बाध्यरजनज्ञानीयविषयत्वादि’त्यपि स्यादित्यर्थः । यद्वा, ‘रजतं
सर्वज्ञाने बाध्य, शुक्तिज्ञानं बाध्यत्वादि’त्यपि स्यात्, विष-
यबाधकाभासस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति भावः ॥

सू० “अथोच्यते * प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणतया यद-
र्थमात्म्यमनुभवस्य तत्र तस्य प्रमात्वमिति विषयवि-
शेषनियमेनैव प्रमात्वं लक्षणीयमित्येतदर्थमेव यथा
र्थविशेषणोपादानम् *-इति । मैवम् । “विशेष्यांशे-
नुभूतिरेवं प्रमा न स्यात् । * व्यवच्छेदकत्वं ‘विशे-
षणत्वमभिमतं, धर्म्यपि च स्वसम्बद्धान् धर्मान्वि-
शिनष्टीति नोक्तदोष इत्युक्तमेव ?* इति चेन्न, वि-
शिष्टे प्रमात्वाभावापत्तेः । “अपिच, एवं तर्हि रजत-

(१) क्वचित्पुस्तके ‘प्रमाणलक्षणपरिहारात्’—इत्यपि पाठः ।

(२) यावद्देग कालमम्बन्धादि ज्ञानस्य विषयस्तावदेवार्थप्राप्तिकाले
यज्ज्ञानीयार्थस्य विशेषणं तज्ज्ञानमित्यर्थः ।

त्वादिकमपि व्यवच्छिन्नत्वेव शुक्तिकां, 'रजततया प्रकाशिता या शुक्तिव्यक्तिः सेयमि'ति^(१) । * 'ननु साक्षाद्विशेषणत्वं विवक्षितं, रजतत्वं तु ज्ञानद्वारा शुक्तिविशेषणमिति नातिप्रसङ्गः, ? *—इति मैवम् । तर्हि 'दीर्घदण्डः पुरुषः'—इत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यो^(२) वैलक्षण्ये विशेष्यस्यानुभूयमानेनुभूतेर्न प्रमात्वं स्यात्, दीर्घत्वादेर्दण्डादिद्वारा विशेषणत्वादिति । * ज्ञानरूपद्वाराऽनपेक्षतया विशेषणत्वमिष्टम् ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ यदर्थविशेषणं, तद् यस्य ज्ञानस्य विषय,स्तज्ज्ञानं तत्रार्थे प्रमा, रजतत्वं तु शुक्तौ न विशेषणं, तेन तत्रार्थे भ्रमो, न प्रमा, परोक्षतित्वं तु प्रमेवेति शङ्कोते—। "अथे"ति ॥ परिहरति—। 'विशेष्ये'ति । विशेष्यस्याविशेषणत्वात्तदंशे क्वापि प्रमा न स्यादित्यर्थः ॥ नन्वयं गौरित्यादौ ज्ञाने यथा गोत्वं गवि विशेषण तथा पिरडोपि गोत्वस्येत्यवश्यं वक्तव्यमन्यथा सर्वज्ञानानां प्रकारे निर्विकल्पकत्वं स्यादित्याह—। "विशेषणत्वमि"ति^(३) ॥ विशिष्टस्यापि विशेषणविशेष्योभयात्मकतया तत्रापि प्रमात्वस्योक्तरीत्या सुलभत्वादित्यनुशयनाह—। "अपिचे"ति ॥ ननु रजतत्वं प्रकाशे, प्रकाशश्च शुक्तौ, विशेषणम् इति परम्परा न विवक्षिता, किन्तु साक्षादेव यत्र विशेषणत्वं तद्विवक्षितमित्याह—। "नन्वि"ति ॥

सू० "साक्षात्कृत"—इत्याद्यवगमानामप्रमात्वापातात् । * तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्वम् *,—इति तु दूरंतुच्छं, रूपादेः समवायेन तज्ज्ञानाविशेषकत्वात् ।

(१) तथा च ज्ञानद्वारा रजतत्वस्य शुक्तिविशेषणत्वादित्येवामिरित्यर्थः । (२) ह्रस्वः दण्डो येषां तेभ्यः पुरुषेभ्य इत्यर्थः । (३) "विशेषणत्वमि"तिप्रतीकस्थाने "व्यवच्छेदकत्वमि"ति प्रतीकमपि कौञ्चिदाधुनिकैः प्रचल्यमानम् ।

‘अर्थविशेषणत्वेऽयं नियमः यत् तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेणेति, नतु ज्ञानेपि ? * - इति चेत् ‘न. तज्ज्ञान-
व्यक्तेर^(१) न्यत्रासंभवेनासाधारण्यादव्यापकत्वादि-
त्यलम् ।

‘सम्यक्परिच्छिन्तिः^(२) प्रमा’ इत्यपि न युक्तम् । “न
खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयता याथार्थ्यं वा संभवति,
उक्तदोषात् । * “ननु सामस्त्यं^(३) सम्यक्त्वमिष्टम्,
अभिधीयते हि लोके ‘न मया सम्यग्दृष्टं, सामा-
न्याकारेण तूपलब्धमि’ति, तदहि समीचाऽर्थस्य
परिच्छेदः = सम्यक्परिच्छेदः, सम्यगर्थविषयत्वाद्वा
सम्यक्शब्दः परिच्छेदसमानाधिकरण एवायम् ? * -
इति, मैवम् ।

टी० ॥ “मात्रात्कन” इति । साक्षात्त्वादिज्ञानीनां ज्ञान-
द्वाराऽर्थविशेषणत्वात्तत्राव्याप्यत्वेत्यर्थः ॥ ननु अमे रजतत्वस्य
शुक्तिममवायिनया विशेषणत्व ममते. न न त”) तथा तत्रास्तीति
वैषम्यमित्याह- । “नज्ज्ञाने”ति ॥ तुच्छत्वे हेतुमाह- । “रूपा-
देरिति । रूपं ममवायिनया घटे विशेषण, न तु ताद्रूप्येण
ज्ञानेपीत्यर्थः ॥ ननु यज्ज्ञानोऽस्तिव्यतप्रक र्णेण यदर्थे यद्विशेषण
तज्ज्ञानं तत्रार्थे ममेति शङ्कते । “अर्थविशेषणत्वे” इति ॥

(१) ‘तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेणेति ज्ञानव्यक्तिपरिचितमिदं लक्षणं ततश्च
घटोयमिति ज्ञानप्रकाशितरूपस्य घटत्वस्य घटोयमिति ज्ञानविषयविशे-
षणत्वाभावेनाव्याप्यत्वापरिचित्याशयः । असाधारण्याद् = अन्योन्य व्या-
प्यत्वात् ।

(२) { प्रमा सम्यक्परिच्छिन्तिरित्यौदयनलक्षणम् । }
{ खण्डयन् वादिनां गर्वमखर्वं मर्दयत्यय ॥ २१ ॥ }

अमेतिव्याप्तिवारणाय ‘सम्यगिति, यथार्थेच्छावाप्तितव्याप्तिवार-
णाय ‘परिच्छिन्तिः - इति, परिच्छिन्तिः = अवधारणम्, अवचित्तु “सम्य-
क्परिच्छेदः - इति पाठः । (३) सम्यक्त्वं सामस्त्यमिष्टमित्यन्वयः ।

(४) तत् = शुक्तिममवायिनया विशेषणत्वं, तत्र = रजतत्वे ।

यत्तद्भयं विशेषणेन च लक्षणोऽननुगमो दोष इति परिहरति-
 “न”ति ॥ ‘मितिः सम्यक्परिच्छित्तिरित्याचार्यलक्षणखण्डन-
 मुपक्रमते-। ^१‘सम्यगिति’ति ॥ सम्यक्परिच्छेदपदयोरसमासं^(१)
 समासे कर्मधारयमाक्षिपति-। “न खल्वि”ति ॥ षष्ठीतत्पुरुष
 शङ्कते । ^२“नन्वि”ति ॥ सम्यक्पदस्यार्थद्वारा परिच्छेदविशेषण-
 तथा विशेषणसमासं^(२)शङ्कते-। “सम्यगर्थ”ति ॥

सू० “सामस्त्यमर्थस्य किं सर्वावयवसहितत्वम् ? अथवा
 सर्वधर्मसहितत्वं ? नाद्यः, अनवयवपदार्थपरिच्छेदस्य
 (नावयवपदार्थपरिच्छेदस्यापि मध्यभागाद्यविषय-
 स्य) अप्रमात्वापातात् । नापि द्वितीयः, “असर्ववि-
 त्परिच्छिन्तीनां सर्वासा^(३)मप्रमात्वापत्तेः । अथ
 मन्यसे, * सम्प्रकशब्दः सविशेषार्थः, यदपि लोके-
 ऽभिधीयते ‘न मया सम्यग्दृष्टं’-तस्यापि मया न
 विशेषतो द्रुष्टमित्यर्थः । तस्माद् ‘विशेषसहितधर्मि-
 परिच्छित्तिः प्रमेत्युक्तं भवति, विभ्रमादयो हि
 ‘विशेषमपश्यतो जायन्ते इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशे-
 षणमिदं विशेषाणां^(४) च सर्वेषां विशेषान्तरानभ्यु-
 पगमेपि स्वरूपमेव केषाञ्चिद्विशेषः*, -इति नैतद्युक्तं,
 विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिना विशेषेण सहैव
 शुक्तिव्यक्त्यादेर्भ्रमेणावगाहनात्तस्यापि प्रमात्वं स्या-

(१) सम्यक्परिच्छेदपदयोः असमासं=समासनिर्वचनमन्तराऽर्थादेव
 प्राप्तम्, समासे = समासान्तर्गतं, कर्मधारयमाक्षिपतीत्यर्थः । (२) विशे-
 षणसमासं, सम्यगितिविशेषणेन जायमानं कर्मधारयसमासमित्यर्थः ।
 (३) यद्यपि ‘अयं चट एतश्चिह्नवर्धमवानिति ज्ञाने प्रमालक्षणं गच्छत्ये-
 वेति ‘सर्वासामित्युक्तं, तथापि तादृशज्ञानभिन्नघटोत्तमित्यादिज्ञाना-
 भिप्रायेण तथोक्तिर्द्रष्टव्या । (४) नन्वन्त्यविशेषप्रमायासम्यासिः, अन-
 वस्थाभयेनान्यविशेषेषु विशेषान्तरानभ्युपगमेन सविशेषत्वाभावादि-
 त्यत आह-विशेषाणामिति ।

त्, "प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकाराणां च विशेषाणामुपादानेऽननुगमप्रसङ्गात्, "सामान्यतरचातिप्रसङ्गा^(१)दिति उभयथाप्यसङ्गततापत्तेः ।

टी० ॥ परिच्छेदकर्मतयार्थसामग्र्यविवक्षां दूषयति—। "मानस्यनर्थस्ये"ति ॥ "असर्ववितपरिच्छिन्नीनामि"ति, प्रमेयत्वादि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यमपि ज्ञानं विवक्षितम्^(२) ॥ अपदार्थनामाशङ्काह—। "यदपि लोके"इति ॥ "विशेषमि"ति, कालवृष्टत्वादि^(३)नामस्त्यादिकं च ॥ "केषाञ्चिदि"ति । अनन्यविशेषाणामित्यर्थः । असर्वव्यापत्तेरिति भावः ॥ "विशेषमात्रे"ति । सामान्यत एव विशेषाभिधाने इत्यर्थः ॥ "प्रत्यर्थमि"ति । यत्र या विशेषस्तत्र नन्तर्माहृतोपलम्भ इत्यर्थः ॥ सङ्कल्पव्याभिधानार्थमुक्तं स्मारयति—। "सामान्य"इति ॥ सङ्कलयति—। "उभयथे"ति । सामान्यविशेषाभ्यामितिप्रसङ्गाननुगमदोषावित्यर्थः ॥

सू० "विशेषस्य च भवतु स्वरूपमेव विशेषः तथाप्यभेदादेव विशेषसहितत्वं नाम्नीत्य'याप्यंतरपरिहारात् । यत्तु कश्चिदवोचत् 'विशेषशब्देन तेऽभिधीयन्ते यददर्शनेन भ्रमसंशयावकाशो, यददर्शने च बाधाऽबाधव्यवस्था, 'तदनभ्युपगमे तत्त्वातत्त्वविभागो न स्यात्, भवितव्यं च तेन^(४) 'अन्यथा व्याघातादिति, तदयुक्तम्^(५) । न तावदेवंविधोविशेषोऽभि-

(१) 'रजतादिभ्रमे'—इति शेषः । (२) असर्ववितपरिच्छिन्नीनामिति शब्देन सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिजन्यमपि ज्ञानं विवक्षितमित्यर्थः । तस्यापि यदात्मकं सामान्यं प्रत्यासत्तिस्तद्व्यतिरिक्तसर्वधर्मपुरस्कारेण वस्तुभासकत्वाद्योगादिति भावः । (३) कालवृष्टत्वम् = नीलवृष्टत्वम् । (४) तेन = तत्त्वाऽतत्त्वविभागेन । (५) "मम चानिर्वचनोयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्यनुयोगवाणवारणाय वज्रवारवाणायमाना विजयते"—इत्यादिना व्याघातस्य पुरस्तादेव निराकृतत्वात् न मनसि व्याघात इति परिहरति—तदयुक्तमिति ।

धातुं शक्यः यदवगमस्य^(१) न भ्रान्तित्वादि सम्भवः ;
 "स्वप्नद्रुशः सर्वविशेषोपलम्भात् । * 'नच व्याघात-
 दण्डभयमात्रादसावुपपादयितुमशक्योप्यभ्युपगन्त-
 व्यः इति युक्तम् * । 'तदुपदर्शनाशक्यत्वेन व्याघात-
 परिहार एव कश्चिदभ्यो निर्वक्तुमशक्योप्यस्तीत्येव
 तदा किं न व्यवस्थाप्यते ? "नहि परिदृश्यमानप-
 दार्थगोचरं^(२) तदस्ति किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्ने
 वा वाक्याभासे वा प्रतिपत्तुमशक्यम् इति प्रतिप-
 त्त्यारूढतया येयमप्रतीयमानकल्पना ततो वरमनुप-
 लभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैव कल्पना भद्रा ।

टी० ॥ विशेषे विशेषसाहित्याभावात्तत्प्रमायासठयाग्निरि-
 त्याह— । "विशेषस्ये"ति ॥ "तदनभ्युपगमे"इति । बाधाबा-
 धठयवस्थानभ्युपगमे इत्यर्थः ॥ "अन्यथे"ति । सर्वाप्रमास्ये-
 तद्ग्राहकप्रमात्वात्प्रमात्वर्याघातः ;^(३) प्रमास्येति त-

(१) अत्र निवृत्तं षष्ठ्यर्थः, तथाच यादृशविशेषावगमनिवृत्तान्तित्वा-
 दिसम्भवेनेत्यर्थः । अयं भावः— स्वप्नदशायां शुक्तित्वादि विशेषदर्शनेपि
 स्वप्नात्मकभ्रमाऽनिवृत्तेर्न विशेषदर्शनस्य भ्रमनिवर्तकत्वमिति ।

(२) गोचरशब्दस्य नियतपुंस्त्याद्गोचर इति युक्तं पाठं सम्भावयामः,
 यद्वा परिदृश्यमानाः पदार्था गोचरा विषया यस्य विशेषात्मकवस्तुनस्त-
 दिति बहुव्रीहिः, यद्यपि विशेषस्य न मुख्यं विषयित्वं तथाप्यविद्यादेरि-
 षौपचारिकत्वात्तद्देशः । अथवा परिदृश्यमानाः पदार्थाः (विशेषरूपेण)
 विषया यस्य ज्ञानस्यैतादृशं ज्ञानं न किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्नादौ न
 स्यादित्यर्थः । इतीति, इतिहेतोः सर्वविशेषाणांशुक्तन्यायेन स्वप्नादौ
 प्रतिपत्त्यारूढतयाऽप्रतीयमानत्वकल्पना अनुपलम्भाधिपत्त्वेन विरुद्धेति
 ततोऽनुपलभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैवाविरुद्धत्वेन कल्पना भद्रे-
 त्यर्थः । (३) सर्वं चेदप्रमाणं तदा तद्ग्राहकज्ञानस्य प्रमात्वं व्याहृतं,
 तस्यापि सर्वात्तर्गतत्वात्; तथा सर्वाप्रमास्ये तद्ग्राहकज्ञानस्याप्रमा-
 त्वमपि व्याहृतं, तत्र प्रमाणाभावात्; एवमेव सर्वाप्रमास्ये प्रमास्यनि-
 वेधवाक्ये प्रमास्यप्रामाण्यव्याघातोपि ज्ञेयः । तथा अप्रामास्यमात्र-
 परिशेषे सर्वत्रैव घटादिज्ञानेऽप्रमात्वनिश्चयात्प्रमाप्रवृत्तिर्न स्यादिति

विशेष्यव्याघातः; प्रामाण्यनिषेधवाक्यं प्रामाण्याप्रामाण्यव्याघातः; अप्रामाण्यमात्रपरिशेषं स्वप्रवृत्तिव्याघातः, स्वप्रवृत्तौ सामर्थ्यासामर्थ्यव्याघातश्चेत्यर्थः ॥ “स्वप्ने”ति । निद्रादिमहिम्ना^(१) विशेषसार्हाहृत्येनापि स्वप्नसम्भवादित्यर्थः ॥ ननु क्व व्याघातभयादत्रश्यमेतदभ्युपगन्तव्यमित्यत आह—। “न चे”ति ॥ “तदुपदर्शने”ति । दुर्वचस्यापि विशेषस्य व्याघातभयादभ्युपगमः—इति यदि, तदा दुर्वचनैव केनचित्प्रकारेण व्याघातपरिहार एवाभ्युपगम्यतामलं विशेषस्वीकारेणेत्यर्थः ॥ ननु किमत्र विनिगमकमत आह—। “नही”ति । अत्रविषयत्वं बाधितमिति विशेषकल्पनया व्याघातपरिहारस्वीकारादनुपलभ्यमानहेतुकव्याघातपरिहार एव श्रेयान्निर्णयर्थः ॥

सू० “बहुशश्च व्याघातोद्भावनविभीषिकामिसामुन्मूल यिव्यामः । * ननु न ब्रूमे विशेषेण सहोपलम्भो विशेषमहितोपलम्भः, किंनाम विशेषेण सहितस्य पदार्थस्योपलम्भः, तथाच न शुक्तौ रजतत्वं विशेषोस्ति तत्कथं रजतभ्रमेऽतिप्रसङ्ग इति, न उक्तदोषेणैव निरस्तात् । यदि हि विशेषस्य सामान्यतोभिधानं तदा पुरोवर्तित्वादेः () मत्त्वान्न प्रसङ्गनिवारणं, विशेषेण तदभिधाने त्वननुगमः, इति । ‘बाधाबाधव्यवस्थाहेतुररित विशेषः’-इति पत्रं यस्तु जडतरो न जहाति स ‘आप्तानाप्तवाक्याभ्यां नदीतीरे फलानि मन्तीत्येवंरूपाभ्यां प्रतिपाद्यमानैर्ये स्थितं कं विशेषमेकत्र पश्यसि यमपरत्र न

प्रवृत्तेर्ग्याघातः, तथा तस्यां प्रवृत्तौ सकलतमानफलत्वयोः (=सामर्थ्या-
ऽसामर्थ्ययोः) व्याघातश्च स्यात् तयोरेपि प्रमात्वाप्रमात्वनिश्चयनत्वा-
दिति फल्लिमार्थः ।

(१) “मिद्धिमहिम्ना”—इति तु प्रायः पुस्तकेषु प्रतीयमानः पाठः
प्रामादिकः । (२) पुरोवर्तित्यम (=इदन्त्वं) चाकचक्यादिकं च
विशेषो शुक्तौ रजतभ्रमे भाषने एवेत्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

पश्यसि ?, -इति पृष्ठा प्रतिबोधनीयः^(१), तथाप्य-
 (३)जातबोधस्तु जडतमः कश्चिद्यदि स्यात् स एवं
 प्रबोध्यः, -ये ते विश्लेषान्तरप्रवाहस्वीकारेऽनन्तविश्ले-
 षापत्तिभयात्त्वया स्वत एव विशेषरूपा इति स्वी-
 कृताः तेषां स्वरूपं तावत्परस्परव्यावृत्तमतोऽनुगतै-
 करूपाभावादव्यापकत्वं स्यादिति । * बाधव्यवस्था-
 हेतुत्वादेवानुगतिः ? *, -इति चेन्न, "क्वाचित्कबाध-
 व्यवस्थाहेतोर्भ्रमेपि प्रकाशात् । * तत्र तस्य*, -
 इति चेन्न, 'व्यावृत्तेः ।

टी० ॥ ठयाघातश्च^(३) सर्वविरोधखण्डनप्रस्तावे^(४) निरस-
 नीय एवेत्याह- । "बहुश" इति ॥ विषये विशेषमाहित्यमपेक्षितं,
 नतु ज्ञाने, भ्रमश्च न विशेषरजतत्वादिमहितशुक्त्यादिविषयक
 इति नातिठयाग्निरिति शङ्कते- । "नन्वि"ति ॥ उक्तं दोषं विग-
 दयति- । "यदि ही"ति । जडतरत्वम् = उक्तखण्डनाऽविवेचकत्वं,
 जडतमत्वम् = असकृत्काग्राहकत्वम् ॥ "क्वाचित्के"ति । रजते^(५)
 बाधव्यवस्थाहेतोरेव रजनत्वस्य भ्रमेपि भानादित्यर्थः ॥ यत्र
 यद्बाधव्यवस्थापकं तत्र तस्य विशेषत्वमित्याह- । "तत्र तस्ये"
 ति ॥ यत्परस्परयोरनुगमादिदमलक्षणमित्याह- । "ठयावृत्ते"रिति
 सू० "बाधस्य च तद्विपरीतार्थप्रमात्वेन तदर्थाननुगमात्,
 'प्रमायाश्चाद्याप्यव्यवस्थापनादिति । 'शङ्कान्तरा-

(१) आत्मानामवाक्यजपतिपत्तिविषयेषु न वेलक्षण्यमनुभूयते ये-
 नैकत्र प्रमाऽन्यत्र चाऽप्रमा भवेत् विशेषविशेष्यतत्त्ववर्गिणामुभयत्रावि-
 गिष्टानां भानात्, किन्तु बाधादेकत्राप्रमा अन्यत्राऽबाधात्प्रमेति तत्र
 प्रमायासव्याग्निरिति भावः । (२) तत्रापि वंशिष्ट्यमदसत्त्वाभ्यां विश्ले-
 षोस्मोति यदि ब्रूयान्त्राह-तथापीति । (३) "व्याघातश्च विरोधः"
 इति त्वयुक्तः पाठः, व्याघातस्य विरोधजनकत्वेन विरोधरूपत्वाभावात् ।
 अथवा त्रिरूप्यतेऽर्थोनेनेति विरोध इति व्युत्पत्त्या कथञ्चित्तस्याप्यर्थे
 उपवर्णनीयः । (४) चतुर्थपरिच्छेदान्ते आत्मानयादितर्कनिरसनप्र-
 करणे इत्यर्थः । (५) रजते = चरत्यरजते ।

खि चातः पराणि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषिता^(१)
 न्येवोपनिपतन्तीतीह द्विरभिधानभयान्नोक्तानि ।
 “किंच, तर्कज्ञानमाहार्या च संशयविपर्ययो परिट्टूर्य-
 माने एव विशेषे भवन्तीति तैरतिप्रसङ्गः स्यात् । *
 नचाहार्या तौ नाभ्युपगन्तध्याविति युक्तम् *, विप्र-
 लम्भकस्य वाक्यप्रयोगसूलतया आहार्यभ्रमस्य^(२) ज्ञा-
 ततत्त्वस्य च गुरोः शिष्यप्रबोधार्थं विचारं प्रवर्तयत
 आहार्यसंशयानां भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्वात्,
 परिच्छेदशब्दश्चानुभूतिपर्यायो ऽनुभूतिदूषणं ना-
 तिक्रामतीत्यलम् ।

नापि ‘अव्यभिचार्यनुभवः प्रमे’ति युक्तम्, अव्यभि-
 चारिपदस्य यदि तत्त्वविषयत्वात्पर्यत्वं तदा दूषणा-
 न्युक्तान्येवावर्तन्ते । अथैवमुच्यते- *अव्यभिचारित्व-
 मर्थाविनाभूतत्वं*, तदा प्रष्टव्यं कोस्यार्थः ? किं यदाऽ-
 र्थस्तदैव ज्ञानम्?—१, उत यत्रार्थस्तत्रैव देशे ज्ञानम्?—२,

टी० ॥ किंच, बाधो न विपरीतप्रमाणान्नमपि तु बाध्यं यत्र
 यत्तद्विपरीतप्रमा, तथाच यत्प्रमाणाननुगमादनुगतेन बाधेन बा-
 धत्ववस्थाहेतुत्वं विशेषण नानुगमकमित्याह—। “बाधस्य चे”-
 ति ॥ किंच, सविशेषज्ञानं प्रमा, विशेषश्च बाधत्ववस्थाहेतुर्बा-
 धश्च विपरीतप्रमेवेति च क्लृप्तमित्याह—। “प्रमायाश्चे”ति ॥
 यद्विशेष^(३) महितो धर्मो तेन रूपेणानुभवः प्रमा, माहाद्विशे-

(१) “याथार्थ्यविशेषणदूषितानी”ति पाठेपि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषि-
 तानीत्यर्थः । (२) आहार्यभ्रमस्य भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्वादिति सम्भ-
 द्यः । (३) ननु सम्यक्परिच्छित्तिरित्येव पूर्वोक्तं प्रमाणज्ञानमास्ताम्,
 सम्यक्त्वं चाऽर्थे शास्त्राद्गतत्वादिविशेषणमाहित्यं, नतु ज्ञानद्वारा, तत्र-
 वत्परजते एव, भ्रमविषयोभूतशुक्ती तु ज्ञानद्वारैव, एतादृशं च सम्यक्त्व-
 मर्थगतमपि परिच्छित्तादाराऽप्युच्यते—‘सम्यक्परिच्छित्तिरिति, तथा च
 शास्त्राद् यादृशजतत्वादिविशेषणमहितो धर्मो तेन रूपेण तथ्यानुभवः
 प्रमा—इति प्रमाणज्ञानं निष्पन्नमित्याह—यद्विशेषेति ।

वसाहित्यं सम्यक्परिच्छेदे विवक्षितः, भासमान^(१)यावद्विशेष-
विशेषणविषयकज्ञानं वा प्रमेत्याद्यपि प्रमालक्षणं दूषितमेवे-
त्याह-। “शङ्कान्तराणी”ति ॥ विशेषसहितधर्मिपरिच्छितिः
प्रमेत्यत्र दूषणान्तरमाह-। “किंचे”ति ॥ “तावि”ति, संग्रहवि-
पर्ययौ ॥ “विप्रलम्भकस्ये”त्याद्युपलक्षणम्, ^(२)‘आरोप्य निवि-
चयते’-इतिमते आह्वारोपस्यैव निवेद्यधोहेतुत्वाभ्युपगमादि-
त्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ^(३)“अनुभूतिदूषणमि”ति । अनुभूतिस्त्वस्य जातेः
स्मृत्यन्यज्ञानत्वाद्युपावेशे खण्डितत्वादित्यर्थः । “तत्त्ववि-
षयत्वादी”त्यादिपदाद्युपावेशत्वसम्यक्त्वादिसङ्ग्रहः ॥

मू० “अथ यादृगर्थस्तादृगेव ज्ञानं यत्तत्प्रमितिरिति ?-३।
नादाः, अतीतानागतानुमित्य^(३)व्यापनात् । न
द्वितीयः, ज्ञानासमानदेशार्थप्रमितीनामव्यापनात्,
ज्ञानसमानदेशमर्थ^(४)मन्यत्रारोपयतोऽप्यनुभवस्य प्र-
मात्वापत्तेः । नापि तृतीयः, ज्ञानार्थभेदवादे ‘सर्वा-
कारेण तत्साम्यानुपपत्तेः, अभेदवादे भ्रमस्यापि
तथाभ्युपगन्तव्यत्वप्रसङ्गेन विशेषणवैयर्थ्यापातात्
^(५), तैश्च^(६)तैश्च विशेषैः सादृश्यस्य विवक्षितत्वे
यथार्थताप्रस्तावोक्तदूषणान्यावर्तन्ते इति । * ‘अवि-
संवाद्यनुभवः प्रमा’ *,-इत्यपि, न युक्तम् । अविस्वा-

(१) लक्षणान्तरं शङ्कते-“भासमाने”ति, भासमाना यावन्तो रज-
तत्वाद्यो विशेषा रजतादौ विशेषणीभूतास्तद्विषयकं ज्ञानमित्यर्थः ।
(२) ‘विप्रलम्भकस्ये’त्यविप्रलम्भकस्याप्युपलक्षणमित्यपि द्रष्टव्यमित्यर्थः,
आदिशब्देन ‘ज्ञाततत्त्वस्य गुरोरित्यज्ञाततत्त्वस्याप्युपलक्षणं ज्ञेयम् ।
तत्र हेतुः-‘आरोप्ये’त्यादि । (३) “अनुमित्याद्यव्यापनादि”ति त्वर्थाद्गु-
रोधादाधुनिकैः कैश्चित्प्रकृतैः पाठः । (४) ज्ञानसमानदेशमर्थस्य-आत्म-
त्वादि, अन्यत्र-गरीटादौ । (५) ‘अव्यभिचारी’तिविशेषणस्य भ्रमज्ञान-
नवारकस्य नैर्त्यव्यादित्यर्थः । (६) तैश्चैः प्रकाशमानतया प्रविष्टैरि-
त्यर्थः । उक्तदूषणानि-विशेषणानि-विशेषमात्राभिधानेऽतिप्रसङ्गः, तत्त-
द्विशेषणव्यवधिभिधाने चाननुगम इत्यादीनि ।

दित्वं हि ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वं वा ?
 -१, ज्ञानान्तरेण विपरीततयाऽप्रतीयमानार्थत्वं वा ?
 -२, प्रतीयमानव्याप्य^(१)विषयत्वं वा ?-३, अन्य-
 देव वा किञ्चित् ?-४ ।

टी० ॥ “अथ यादृगर्थ” इति । यद्यपि नेयमठयभिचार-
 निरुक्ति^(२)स्तथापि विषयत्वाधीनो विकल्प इति मन्तव्यम् ।
 ‘अनुमिती’त्युपलक्षणं शाब्दज्ञानमपि तादृशं द्रष्टव्यम् ॥ “ज्ञा-
 नसमानदेशनि”ति । शरीरादावात्मत्वारेोपोपि प्रमा स्यादि-
 त्यर्थः ॥ “सर्वान्तरेणे”ति । यत्किञ्चिदाकारेण तु भ्रमेतिठया-
 म्प्रित्यर्थः । अग्निदेवादेो वेदान्तियोगाचाराद्यनुमतः । “नाप्य-
 ठयभिचारिणोर्यस्यानुभवः प्रमा, अर्थाठयभिचारश्च यत्रार्थे
 ज्ञानं^(३)तत्रैव योर्थ इति वाच्यम् * , एवं च धर्मिण्य^(४)प्रमात्व-
 पत्तेः । तथोल्लिख्यमानत्व-पूर्वज्ञानप्रकारेणोल्लिख्यमानत्वम् ॥

मू० न प्रथमः, धारावाहिनेो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात् । *
 नच प्रमाभूतं ज्ञानान्तरं विवक्षितमिति वाच्यम् *,
 प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वात् । नापि द्वितीयः, ‘अ-
 नुपजातबाधभ्रमव्यापनात्^(५)’; ‘स्वस्थदशोत्पन्नस्य
 शुक्लशङ्कादिज्ञानादेर्दुष्टेन्द्रियदशोत्पन्नतत्पीतिम-
 ज्ञानाद्युल्लिखितविषयवैपरीत्यस्याप्रमात्वप्रसङ्गाच्च ।
 ‘प्रमित्यानुल्लिखितार्थवैपरीत्यभावविवक्षायां तु’प्रमा-

(१) यत्र तादात्म्येनार्थस्तत्रैव विषयतासम्बन्धेन ज्ञानमिति, या-
 दृशोऽर्थस्तादृशमेव ज्ञानमिति वा, प्रतीयमानज्ञानव्याप्यार्थविषयकत्व-
 मित्यर्थः । अथदृ=अर्थक्रियाकारिवस्तुविषयत्वमिति । (२) प्रगल्भमिच्छास्तु
 चिंशिपात्वस्य वृक्षत्वाद्यभिचारिणस्तदात्म्यं द्रष्टुमित्यवष्टम्भेन यादृगर्थ
 इति कल्पान्तरस्याभिधानादेपोऽप्यभिचारिण्यार्थो भवत्येवेत्याहुः ।
 (३) यत्रार्थे विषयतासम्बन्धेन ज्ञानं तत्रैव तादात्म्येन योर्थ इत्यर्थः ।
 (४) धर्मिणि = भ्रमज्ञानीने धर्मिणि शुक्त्यादीदमंशे । (५) यत्र शुक्तौ
 रजतमनुभव कोपि मृतसतत्र तदीयभ्रमस्यानुपजातबाधवत्त्वेन तत्राति-
 प्रसङ्गादित्यर्थः ।

यालक्ष्यमाणत्वादि'त्युक्तमनुषज्जति । * ^aअदुष्टकरण-
जज्ञानेनाबाधितत्वं विवक्षितम् *, -इति चेन्न, 'तदेव
तर्हि प्रमालक्षणमस्तु । किंच, दुष्टत्वनिरूपणमन्त-
रेणादुष्टत्वस्य दुर्निरूपत्वात् । * ननु किमेतावता,
दुष्टत्वं-विपरीतज्ञान^(१)प्रयोजकस्तद्धेतुगतो विशेष
इति सुवचमेवेति * । न, विपरीतपदव्यवच्छेद्याऽ-
प्रमितौ तदुपादानवैयर्थ्यात्^(२), तदनुपादाने च
ज्ञानजनकत्वमात्रं दुष्टत्वमित्यदुष्टकरणजं ज्ञानं
नास्त्येवेति स्यात् । * विपरीतपदव्यवच्छेद्या प्रमै-
व *, -इति चेन्न, तस्या एव लक्ष्यमाणत्वात् ।

टी० ॥ “अनुपजातबाधे”ति । यद्यपि पुरुषान्तरेण वि-
परीततया प्रतीयमानत्वं तत्राप्यस्ति, तथापि तत्र न संवादो-
क्ति^(३)रिति भावः ॥ भ्रमेण ज्ञानान्तरेण विपरीततया प्रतीय-
मानतया प्रमायामव्याप्तिरित्याह-। ^b“स्वस्य^(४)दशे”ति ॥ ननु
तत्र भ्रमेण विपरीत्यमस्तिखितम्, प्रमायां च तथाऽनुस्तिरूपमानत्वं
विवक्षितं, तत्र च शङ्कज्ञानेऽस्त्येवेति नाठ्याप्तिरित्यत आह-।
“प्रमित्ये”ति ॥ ननु प्रमित्येत्युक्तेऽत्माश्रयो, ऽदुष्टकरणजन्य-
ज्ञानाबाध्यत्वविद्यक्षायां न दोष इत्याह । “अदुष्टे”ति ॥
“नदेवे”ति । तन्निरूपितलक्षणान्तरे गौरवं स्यादित्यर्थः ॥
“किंचे”ति । प्रतियोगिनिरूप्यत्वात्तदभावस्येति भावः ॥ सा-
मान्यत आह । “विपरीते”ति ॥

(१) पीतः शङ्क इत्यादिविपरीतज्ञानप्रयोजककरणजुरादिगतः का-
मलादिविशेष एव दोष इत्यर्थः । दुष्टत्वं दुष्टवृत्त्यसाधारणो धर्मः स च
दोष इवेति नायुक्तं किञ्चित् । (२) तदुपादानवैयर्थ्यात्=विपरीतपदोपा-
दानवैयर्थ्यात् । (३) यत्र पुरुषान्तरेण विपरीततया प्रतीयमानत्वं तत्र
न संवादस्यातिप्रसङ्गशोक्तिः, किन्तु यत्र कदाचित्कस्यचिद्विपरीततया
प्रतीयमानत्वं नास्ति तत्रैवेत्यर्थः । यद्वा, ‘अत्रावश्यं पुरुषान्तरस्य वि-
परीततया प्रतीतिर्भविष्यत्येवेत्यत्र न संवादस्य=विनिगमकप्रमाणस्यो-
क्तिरित्यर्थः । (४) स्वस्येत्यपि मूलश्याख्यानयोः केषुचित्पुस्तकेषु पाठः ।

म० तदीयस्वरूपस्यैतरठ्यावृत्तस्याद्याप्यप्रतीतिः कुतो व्यव-
च्छेदः प्रत्येतद्व्यः, इति "व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमन्तरेण
व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यमित्यात्माश्रयान्योन्याश्र-
यावनवस्था वा ।

'एकोऽनेकविशेषेथे' विशेषो यत्र लक्ष्यते ।

तद्विशेषान्तरान्यत्वा(१)द्विषस्तत्रैव धावति ॥ ३२ ॥

'नापि तृतीयः, त्याप्यशब्देन व्याप्यमात्रम्? तद्विशे-
षो वा कश्चिदभिप्रेतः स्यात्? । आद्ये, सधूमाग्नि-
विषयस्य स्वप्नज्ञानस्यानाप्तवाक्यजबोधस्य वा ना-
प्रमात्वं स्यात् । नापि द्वितीयः, स ह्यर्थक्रिया(२)वा?
सामग्री वा? । उभयत्रापि "पूर्वाक्तदोषानतिवृत्तेः ।

'एकदा च सर्वत्र प्रमाणासम्भवेन क्रमाश्रयणे तत्त-
दर्थक्रियातत्तत्सामग्रीपरम्पराऽवगमनियमाभ्युपगमे
एकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषः पर्यवसानप्रसङ्गात्, वि-
च्छेदाभ्युपगमे त्वन्तिमावगमस्याप्रामाण्यादाऽऽप्र-
थमप्रमात्वापत्तेः ।

टी० ॥ विशिष्याह- । "व्यवच्छिन्ने"ति । ठ्यावृत्तप्रमा-
ज्ञानाधीनं ठ्यावृत्तप्रमाज्ञानमित्यात्माश्रयः, अप्रमाठ्यावृत्तत्वेन
प्रमाज्ञानं, प्रमाठ्यावृत्तत्वेन चाऽप्रमाज्ञानमित्यन्योन्याश्रयः, अ-
प्रमाठ्यावृत्तत्वेनादुष्टकरणकज्ञानत्वनिरूपणं, तेन च प्रमानिरू-
पणं, तेन चाप्रमानिरूपणनेवमान्तरालिकापरापरापेक्षणे चक्रकम्;
अनिवृत्तौ त्वनवस्थेत्यर्थः ॥ "एक"इति । अनेको विशेषोनुभ-

(१) तद्विशेषान्तरान्यत्वात्, सत्त्वो विशेषान्तरेभ्योऽव्ययैति
तथोक्तस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । (२) अर्थक्रियाशब्देन सर्वत्र कार्यं
विषयितम् । (३) आत्माश्रयादावन्वोन्याश्रयमाह-वन इति । आत्मा-
श्रयस्तु अनुभवमित्यस्मरकान्यत्वेनानुभवस्य, स्मरकभिक्षानुभवान्यत्वेन च
स्मरकस्य, लक्षणज्ञेयः । एवं गुणभिक्षाद्व्यावृत्तेन गुणस्य लक्षण-

वत्त्वस्मृतिस्वादयो यत्र ज्ञानादौ तत्रैको विशेषोनुभवो वा स्मरणं वा यत्र लक्ष्यते तत्रैवात्मानयादिरापत्ति, यतः^(३)स्मरणान्यत्वेनानुभवस्यानुभवान्यत्वेन स्मरणस्य वा लक्षणात्, एवं द्रव्यान्यत्वेन गुणस्य गुणान्यत्वेन द्रव्यस्येत्यादावपीत्यर्थः ॥ 'प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वं वा अविसंवादित्वमिति दूषयति-। "नापी"ति ॥ "पूर्वोक्ते"ति । स्वप्नादावर्थक्रियामाहित्येन भानसंभवादित्यर्थः ॥ दोषान्तरमाह-। "एकदा चे"ति । वहि-ज्ञानस्याविसंवादित्वं तदर्थक्रियागोचरं ज्ञानान्तरमेव, तस्याप्यविसंवादित्वं तदन्यदित्यविच्छेदेऽनवस्थेत्यर्थः ॥

सू० वास्तवतदर्थक्रियात्वस्य च दुर्निरूपत्वेन व्यवहारानर्हत्वात्, तथा प्रतीतिमात्रस्याप्रमासाधारण्यात् । *नन्वेवं चतुर्थः पक्षोस्तु, तथाहि,-अर्थक्रियाकारिविषयत्वं वाऽविसंवादित्वमिति, यथाह,-"प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चाविसंवादः"-इति * । न, सामान्यतो विवक्षायां भ्रान्तावपि प्रसङ्गात् । *प्रतीयमानरूपेणार्थक्रियाकारित्वमर्थस्य विवक्षितमस्ति, इति चेन्न, 'दुरवधारणत्वात् । * तदर्थक्रियादर्शनात्तदवधारणम्*, -इति चेन्न, "विनाप्यर्थक्रियां तद्दर्शनसंभवात् । * "अर्थक्रिया प्रमितिरभिधित्विता"-इति तु दूषितमेव, प्रमाया एव निरूप्यमाणत्वात् । * अभिप्रायाविसंवादात् प्रमाणं सर्वमुच्यते*, -इति चेन्न, 'तदा अभिप्रायाविसंवादस्य स्वप्नादिप्रत्ययेपि संभवात्,

टी० ॥ ननु स्वप्नज्ञानादौ वास्तवार्थक्रियाविषयत्वं संवादित्वं नास्तीत्यत आह-। "वास्तवे"ति ॥ 'अन्यद्'ति पक्ष कीर्तिदिशा^(३)परिष्कृत्य खण्डयति-। *नन्वेवमिति ॥ "सामा-

न्यन" इति । अत्रेपि शुक्त्यादेरर्थक्रियाकारित्वादित्यर्थः ॥ ननु तत्र शुक्तित्वेनार्थक्रियाकारित्वं, नतु प्रतीयमानेन रजतत्वादिनापि, तथा च^(१) विवक्षितमित्याह—। "प्रतीयमाने"ति ॥ "दुरवधारणत्वादि"ति । दृष्टाप्यर्थक्रियाऽङ्गुलीयकादिः^(२) किं रजतत्वादिनाऽन्येन वा रूपेणेति दुरवधारणमित्यर्थः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव रजतत्वादिरूपेण तद^(३)वधारणीयमित्याह—। "तदर्थे"ति ॥ अर्थक्रियादर्शनस्यापि भ्रान्तिवत्सम्भवाद् दुरवधारणमित्याह—। "विनापी"ति । यद्वाऽर्थक्रियाकारिण्यवयवकमपि ज्ञानं धमः सम्भवतीति नायं सत्त्वाद् इत्यर्थः ॥ अर्थक्रियाकारित्वप्रमाविवक्षायाभात्ताप्रयादिरित्याह—। "अर्थक्रिये"ति ॥ "अग्निप्राये"ति । ज्ञानोक्तिखितप्रकारावच्छेदेनेच्छाप्रवृत्ती अभिप्रायस्तदविसत्त्वाद् इत्यर्थः ॥ "तदे"ति । यदा ज्ञानं तदाऽग्निप्रायाविसंधादः स्वप्नज्ञानेपीत्यर्थः, भवति हि पायमज्ञानं, बुभुक्षाभोजनज्ञानं, तृप्तिज्ञानं च स्वरूपमिति भावः^(४) ॥

सू० "कालान्तराविमंवादस्य च दुरवधारणत्वात् । 'एतेन 'प्राप्त्यादियोग्यता संवादार्थः'-इत्यपि निरस्तम्, दुराबाध इव चायं धर्मकीर्तः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति । 'अबाधितानुभूतिः प्रमे'त्यपि निरस्तम् 'तदानीं बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात् कालान्तरेपि बाधविरहस्य च दुर्निरूपत्वात्; स्वतो^(५)बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात्; 'सर्वजनबाधविरहस्य च दुरवधारणत्वादिति । 'तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमा'-इत्यपि न, स्मृतिव्यतिरिक्तत्व-

(१) तथा च=प्रतीयमानरजतत्वादिना रूपेण चेत्यर्थः । (२) अङ्गुलीयकम्=मुद्रिका । (३) तद्=अर्थक्रियाकारित्वम् । (४) 'एद पायममि ति पायमज्ञानम्, 'अहं बुभुक्षितो' 'ऽहं भुञ्जे'-इति बुभुक्षाभोजनयोश्च-त्मनि ज्ञानं, भोजनोत्तरं स्व-त्मनि तृप्तिज्ञानं च स्वप्नात्मकं भवतीत्यर्थं पूर्वं पायमज्ञानं ततो बुभुक्षा ततो भोजनज्ञानं ततस्तृप्तिज्ञानं भवतीत्यर्थस्तु न बाधुः । (५) स्वतो=स्वरूपेण प्रत्यक्षम् ।

सखडनन्यायेन^(१)निरस्तत्वादिति, ^१जातिसङ्करमि-
च्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यभिसंबन्धात् प्रमेत्यपि
दुर्लक्षणम्, अस्या^(२)ज्ञातस्य तद्व्यवहारजनकत्वे प्र-
मायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्याताम्,

टी० ॥ स्वप्नद्रष्टस्य जागरावस्थायां विसंवाद एवेति काला-
न्तराविसंबादौ विवक्षित इत्यत्र आह-। ^१“कालान्तरे”ति ।
‘कदाप्यत्र विसंवादो न भविष्यती’ति दुरवधारणं, प्रत्युत जा-
गरावस्थाद्रष्टस्य स्वप्ने विसंबादानुभवादिनि भावः ॥ ^२“एतेने”
ति । कालान्तरप्राप्त्पादियोग्यतातत्कालप्राप्त्पादियोग्यता-
विकल्पसखडनेनेत्यर्थः ॥ उत्पादविशेषः प्राप्तिर्योग्यता भविसं-
वादः-इति यदि धर्मकीर्तिः ममाद्यत्ते तदा क्षणभङ्गभङ्गप्रसो-
न्मूलनीयोयं पक्ष इत्याह-। “दुःखाद्य इवे”ति ॥ “तदानीनि”
ति । ज्ञानकाले बाधाभावा अत्रस्यापीत्यर्थः ॥ “स्वप्नः”इति ।
शुक्ती रजतत्वज्ञानवन्तो बाधनैयत्याभावाद्भ्रमसात्तित्याप्तिरि-
त्यर्थः ॥ ^३“सर्वजने”ति । योग्यानुपलम्भेनाभावपरिच्छेदे सर्व-
जनबाधविरहस्य सुप्रदृष्टेपि सर्वत्र न तथात्वमिति भावः ॥
^४“जातिसङ्करमि”ति । साक्षात्स्वप्नप्रमात्वपरिहारेण साक्षात्का-
रिणिभ्रमे, प्रमात्वं च तत्परिहारेणानुमितौ, प्रत्यक्षप्रमायां तु
साङ्कर्यमित्यर्थः ॥

सू० “दोषाभावसहकृतस्य तथात्वे चाऽजायमानभ्रमसंश-
यादिप्रमाव्यवहारे^(३)ज्ञानमात्रावगमोदाहरणेपि त-
दापत्तेः । ज्ञातेनानेन लक्षणोपव्यवहारे च कथमिद-

(१) यत्किञ्चिन्तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तत्वं तद्व्यतिरि-
क्ततर्कविपर्ययस्मृतिव्यक्तीनामपि, सकलतर्कनंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरि-
क्तत्वमपि च प्रत्येकस्य तर्कादिदृश्यत्वेस्तीत्यादिप्रकारेणेत्यर्थः । (२)
अस्य=प्रमात्वस्य । (३) अजायमानो भ्रमसंशयादिर्गत्वां प्रमायां
तस्याः स्वरूपतो व्यवहारे इत्यर्थः । आदिपदेन प्रमात्वव्यहः, यत्र
भ्रमसंशयप्रमात्वादिदृश्यवहारे न जायते ज्ञानमति चाऽवगम्यते तत्रापि
तदापत्तेः प्रमात्वव्यवहारापत्तेरित्यर्थः ।

(१)मेव ज्ञातव्यमिति वक्तव्यम् । न तावत्प्रत्यक्षेण मानसेन, तथा सति क्वचिज्जातायां प्रमायामप्रमाविपर्ययसंशयानवकाशादिः^(२) स्यात्, 'धर्मिवन्मनसैव निर्णीतत्वात् । "चिन्हान्तरसापेक्षेण मनसा संवेदनं, चिन्हेनैव वा तेन लक्षणीभूय ज्ञापनम्"- इत्यपि प्रत्याशामात्रम्, 'तच्चिन्हेनैव प्रमात्वजातिकल्पनाप्रतिक्षेपापत्तेः; तेषां नानात्वे च कानि तानीति वक्तव्यं स्यात्. तच्चिन्हानां यथोपन्यासं सर्वेषामेव दूषितत्वात्; 'प्रामाण्यपरतस्त्वद्युदस्तिप्रस्तावे च विस्तरेण दूषयिष्यामः । एतेन "शक्तिविशेषः प्रमात्वं, 'तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तम्, 'दुरवधारणत्वात् ।

टी० ॥ ननु दोषाभावमहकृतं स्वरूपमदेव प्रमात्वं तद्व्यवहारजनकमास्तामित्यन आह ॥ "दोषाभावे"ति । एव मतिभ्रमसंशयभिक्षं सर्वं ज्ञानं प्रमात्वंनैव गृह्यतेत्यर्थः ॥ "धर्मिवदि"ति । ज्ञानवदित्यर्थः ॥ "चिन्हान्तरे"ति । यथार्थानुभवत्वादिनेत्यर्थः । तच्चिन्ह प्रत्यक्षमहकारि प्रमात्वज्ञापकं । लक्ष्णीभूय वाऽनुमापकमिति कल्पनार्थः ॥ चिन्हेनैवानुगमादौ सिद्धे किं प्रमात्वजात्येत्याह- । "तच्चिन्हेनैवे"ति ॥ ननु चिन्हस्यैक्ये तेनानुगमः, प्रकृते तु बहुन्यननुगतानि प्रमात्वचिन्हानीति नान्यथामिदिरित्यत आह "नेषामि"ति ॥ यच्च प्रमात्वं वाच्यं तत्परमो वेद्यमित्यनवस्थापीत्याह- । "प्रामाण्ये"ति ॥ "शक्तिविशेष" इति । समर्थप्रवृत्तिजननंशक्तिरित्यर्थः ॥ "तद्योग"इति । समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमित्यर्थः ॥ "दुरवधारणत्वादि"ति । अनुगतरूपापरिचये जनकत्वं दुर्यहम्, अनुगतरूपप-

(१) इदम्=प्रमात्वजात्यात्मकं लक्षणम् । (२) प्रमायामप्रमाया यौ विपर्ययसंशयौ तथोरनवकाशादिरित्यर्थः । तथाहि,—प्रमाया-मित्यसमवेत्प्रमाया विपर्ययः, इयमप्रमा प्रमा वेति च तत्संशय इति

रिचये वा तदेव लक्षणमित्यर्थः । यद्वा “शक्तिविशेषः”=भातना-
नात्मप्रकाशनशक्तिरिति परमताभिप्रायम् ॥

मू० यच्च किञ्चित् प्रमाया लक्षणमुच्यते तदज्ञातं “ज्ञात-
मात्रं वा यदि तत्त्वव्यवहारकं तदा^१ऽत्यापत्तिः,
प्रमितं चेत्प्रमानवधारणे तस्य दुरवधारणता । *
भावधारि, ‘वस्तुतस्तथा ? *-इति चे’न्न, ‘वस्तुतो
न तथैव किं न’?-इतिवादिन्यनुत्तरापत्तेः, ‘प्रमा-
त्वनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च; ‘वस्तुतस्तु^(१)प्रमयैव च-
टादितत्त्वव्यवहारोपि तर्ह्यस्त्वित्यास्तां विस्तरप्रसङ्गः[†]

“एवं प्रमितेरनिरुक्त्या ‘प्रमाकरणं प्रमाणमि’त्यप्य-
युक्तम्, ^१करणार्थानिरुक्तेश्च । * ननु कारकान्तरेऽ^(२)
चरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम्; कर्तुर्हि करणं निष्पा-
दयतः कारकान्तरे चरितार्थत्वं, ‘स्वरूपतोऽनिष्पाद-
नेपि व्यापारवत्तया निष्पादनात्, तादृशस्य च त-
स्य करणत्वात् । एवं कर्मापि करणनिष्पादने चरि-
तार्थम्, ^१करणव्यापारो हि कर्मविषयो भवति, ^१कर्मा-
भावे विषयाभावात्करणव्यापार एव न निष्पद्यते,
इति तन्निर्वाहे^(३)तस्यापि चरितार्थत्वम् ।

(१) वस्तुतस्तु प्रमायाः=वास्तविकप्रमयेत्यर्थः ।

+ { एवं तत्त्वानुभूत्यादेर्लक्षणस्याऽनिरुक्तिः ।
प्रमैतावत्प्रसङ्गेन खण्डिता मेयसाधिका ॥
प्रमाणाणां तथा तस्याः करणानां विस्तरम् ।
करणत्वाऽनिरुक्तेश्च सर्वहनं क्रियतेऽधुना ॥ }

(२) कर्मादावतिव्याप्तिवारणाय कारकान्तरेति, करणस्यापि क्रिया-
विज्ञौ चरितार्थत्वमत उक्तं-कारकेति, कारकेऽचरितार्थ इत्येव कृते
कर्मादिकारके कर्मादेरचरितार्थत्वादतिप्रसङ्गः स्यादत उक्तम्-अन्तरेति,
यद्यनपरिभाषादावतिप्रसङ्गभ्युदासाय-हेतुरिति । (३) तन्निर्वाहे-व्यापार-
द्वारा करणस्वरूपनिर्वाहे ।

टी० ॥ ^a“ज्ञातमात्रमिति । अत्रप्रमासाधारणज्ञानविषय इत्यर्थः ॥ ^b“अत्यापत्तिरिति । अत्रेपि प्रमाठयवहारापत्तिरित्यर्थः ॥ ^c“वस्तुत” इति । प्रमितमेव प्रमालक्षणं प्रमाठयवहारात्मकं, ननु प्रमितत्वेन ज्ञातमपि, येन दुःखधारणं स्यादित्यर्थः ॥ ^d“ने”ति । ‘प्रमालक्षणं न प्रमितमिति वादिनि ‘स्वरूपतः प्रमितं तदि’ति वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ यदि च वास्तवं प्रमितत्वनादाय ठयवहारस्तदा प्रमात्वनिरूपणमफलमित्याह-। “प्रमात्वे”ति ॥ वैयर्थ्यमेवाह-। ^e“वस्तुत” इति ॥

^g“एवमिति”ति । क्रियेपहितमर्थादस्य क्रियानिरूपणमन्तरे खाशक्यनिरूपणत्वादित्यर्थः ॥ ^h“करणार्थे”ति । करणपदार्थानिरुक्तेरित्यर्थः ॥ सिद्धे कुठारादौ कर्तुंशक्तिरित्येवमाह-। “स्वरूपत” इति ॥ ननु तथापि करणठयापारे चरितार्थत्वं, ननु करणे, इत्यत आह-। ⁱ“तादृशस्ये”ति । ठयापारवचन इत्यर्थः ॥ ^j“करणव्यापारे ही”ति । उद्यमननिपाननादेश्छेद्यविषयत्वादित्यर्थः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चरितार्थत्वमेवाह-। “कर्माभावे” इति ॥

मू० “एवमधिकरणस्यापि करणठयापारनिर्वाहकत्वं, सम्प्रदानापादानयोश्चामावृत्ति^(१)कत्वं, करणं तु सार्वत्रिकमेवेति-”कारकान्तरेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणस् ? *,- इति मैवम् । ²अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम्, अन्तरशब्दे यदि विशेषमात्र^(२)वचनस्तदा न ठयवच्छेदकः, नहि विशेषमपास्य कारकमात्रं केनचिज्जन्यते यद्व्यवच्छिद्येत; नापि चान्तरशब्देऽन्यवचनस्तथा सति^(३)कस्माद-

(१) असार्वत्रिकत्वम्-असार्वत्रिकहेतुत्वं, तथाचाव्यवहितोत्तरं व-ह्यमात्रसार्वत्रिकविशेषणेन तथैरपि श्युदाहः, करणस्य सार्वत्रिकक्रिया-हेतुत्वात् । (२) विशेषमात्रेण, ‘अन्यैरन्तरं महदि’त्यादौ तस्य विशेषवचनत्वं बोध्यम् । तस्मात्कारकवाचक इत्यर्थः, मात्रया द्वितीयपक्षोक्तं मेदवाचकत्वं व्यापयति । (३) करणान्यकर्मादौ कर्त्रादेरचरितार्थत्वेन तेषामित्याश्रयत्वे सत्येवात्माश्रयमभ्याह-तथा वतीति ।

न्यदिति विश्लेषानिर्देशे करणादिति^(१) समभिव्याहारा-
राल्लभ्येत; यथान्य आत्मा, शरीरमन्यदित्यादौ; तथा
सति करणव्यतिरिक्तकारकाभिप्रायेण प्रयुक्तः स्यात्,

टी० ॥ “एवमिति”ति । कर्तृकर्मणोः स्थितिं सत्त्वाद्यद्देश-

कालरूपमधिकरणं कारकान्तरे चरितार्थं, स्थाल्यादिरूपमधि-
करणं कर्मनाश्रयित्वद्वारेणेत्यर्थः ॥ एतावता यन्निर्णयं तदाह-
^b“कारकान्तरे”ति । सार्वत्रिकपदं सम्प्रदानापादानव्यावर्तकं,
तयोर्दानक्रियाविभागादिविशेषहेतुत्वादमार्वात्रिकत्वम् ॥ अजनके
गगनादा^(२)वतिठयाप्तिनिरासायाह-। “हेतुरिति”ति ॥ कारका-
न्तरपदं करणपरमित्यात्माश्रयः, यथा च विषयतयो करणे कर्म
चरितार्थं तथा कर्तृठयापारविषयतया कणमपि कर्तृरि चरितार्-
थमित्यनिर्द्विरित्यभिप्रेत्याह-। ^d“अस्तु तावदि”ति । मार्वा-
त्रिकत्वं च करणस्य न व्यक्त्यभिप्रायेण, न वा करणत्वेन, तद-
निरुक्तेः, एवं हेतुत्वमपीति भावः । समभिव्याहारात्=लक्षणा-
पस्थापककरणपदसमभिव्याहारादित्यर्थः । ‘अन्य आत्मे’त्यत्रा-
न्यत्वं समभिव्याहृतशरीरापेक्षया, अन्यच्छरीरमित्यत्र च यथा-
त्मापेक्षयेत्यर्थः ॥

सू० “तच्च न, करणस्यैवाद्यापि निरूप्यमाणत्वात्, ^bअति-
भ्याप्तेश्च । “नापि कर्तृकर्मणोः स्वरूपोपादानपरो-
क्षन्तरशब्दः, ताभ्या^(३)मेवातिध्याप्त्यापत्तेः। “नापि
कर्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यदन्तरशब्दार्थः, वैधर्ष्या-
पत्तात्;—कारकेऽचरितार्थ इत्येवोच्यताम् । नाप्यन-

(१) करणादिति, लभ्येत, लक्षणसमन्वयवेल्यायामित्यर्थः । (२) प्रग-
क्षमिस्तु गगनपरिमाणादावतिध्याप्तिवारणं हेतुपदस्य प्रयोजनमाहु-
र्मन्थ्येत्वाधु, अक्षुमहत्परिमाणयोरहेतुत्वात् “परिमाणदृश्यभिन्नानां का-
रणत्वमुदाहृतम्”-इति वचनात्, गगनस्य तु शब्दादिकं प्रति हेतुत्वमेव ।
(३) ताभ्याम् = कर्तृकर्मभ्याम् । अयं भावः । नहि कर्ता कर्तरि चरितार्थः
कर्म च कर्मणि, तथा च कारकान्तरपदप्रतिपाद्ययोरवतयोरचरितार्थत्वा-
त्कर्तृकर्मणोरेवातिप्रसङ्ग इति ।

धिकार्यं स्वायमिति न प्रयोक्तव्योऽन्तरशब्दः, तथा सति कारकजनकं हस्तादि करणं न स्यात्; व्यापारवद्धि कारणं कारकमुच्यते, अस्ति च स्थाली-संयोगादिव्यापारवतो बह्व्यादेस्तथात्वम्, (१) अस्ति च हस्तादेस्तज्जनकत्वम् । * न च हस्ताद्यकरणमेवाभ्युपेयम् *, व्यापारवतः कारणत्वेन तत्कारकत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कर्त्तृदिषु दुरन्तर्भावत्वात्, सप्तमकारकस्वीकारापत्तेः । * न च (२) व्यवधानात्तत्राहेतुत्वमेव तेषां, किंनाम हेतुहेतुत्वमिति *, कर्तुरप्येवं प्रसङ्गात्,

टी० ॥ एवं मत्यास्ताश्रय इत्याह— “तच्च ने”ति ॥ करणाभ्यकारकाचरितार्थत्वं कर्तृकर्मणोरपीत्यतिव्याप्तिमाह— “अतिव्याप्तेरिति”ति ॥ कर्तृकर्मोचरितार्थत्वविवक्षायां ताभ्यां † नतिव्याप्तिमाह— “नापी”ति । * नचानेनोपाधिना कर्तृकर्मणोरपि करणत्वमिति वाच्यम् *, एवं लक्षणप्रणयनानर्थक्यप्रसङ्गादिति वक्ष्यते इति भावः ॥ ननु कर्तृकर्मण्योचरितार्थत्वमित्युक्ती करणे चरितार्थाभ्यां ताभ्यां † नातिव्याप्तिरित्यत आह— “नापी”ति ॥ “वैयर्थ्यापानादि”ति । कारकाचरितात्त्वोक्तैव ताभ्यां † नतिव्याप्तिरिरासादित्यर्थः ॥ हस्ते करणत्वं व्यवस्थापयति— “व्यापारवदि”ति ॥

सू० “पुंव्यापाराद्देहस्पन्दादिस्ततः कुठारक्रियदिस्ततरिच्छदेति परम्पराव्यवधानात् । * सर्वे कर्तृव्यापारपरम्परा न तस्य हेतुतां हन्ति? *,—इति चेत्, तुल्यम् । तस्मात्कारणत्वेनाऽवश्याभ्युपगन्त्यह—

* इतिहस्ते हस्ते कारकं, प्रायः सर्वत्र करणकारकमेव ग्राह्यम् ।

(१) तथात्वम्=करणत्वम् । तज्जनकत्वम्=बह्व्यादिरूपकारकजनकत्वम् । (२) काष्ठादिव्यापारव्यवधानात्कुशाखपितृवदन्यथाविद्धत्वमेव तेषां हस्तादीनामिति न च वाच्यमित्यर्थः । † ताभ्याम्=कर्तृकर्मण्यम् ।

स्ताद्यव्यापकत्वादलक्षणाभिदम् । ^dएतेनापि 'कार-
कान्तरशब्दः कर्तृकर्मव्यतिरिक्तवचनः'-इति पक्षो
व्युदासः^(१) । * 'कर्तृव्यापारविषयः करणम् ?*-
इत्यपि न, 'शरीरचालनाय^(२) प्रयतमानस्य शरीरच-
लनक्रिया, क्रियाविशिष्टं वा शरीरं, प्रयत्नलक्षणक-
र्तृव्यापारविषयीभवतीति तस्यां क्रियायां करणं
स्यात्, न चैतच्छ्रवयाङ्गीकारं, भविष्यतः स्वं प्रति च
कारकत्वानुपपत्तेः ।

टी० ॥ कर्त्तरि व्यवधानमाह— "पुंठयापारे"ति ॥ कर्तुः
प्रथमं कारणत्वं गृहीतं, तत्परम्पादनायान्तराले ठयापारकल्पन-
मिति न तेनान्यथामिद्विरित्याह—^h"मर्वैयमि"ति ॥ "तुल्यमि"
ति । इत्यादेरपि प्रथमगृहीतं कारणत्वं ठयापारपरम्पराकल्प-
नमन्तरेणानुपपन्नमिति न तथाऽन्यथामिद्विरित्यर्थः ॥ ^d"एतेन"
ति । इत्यादावठयापकत्वेनेत्यर्थः । कर्तृकर्मभ्यामन्यस्मिन् करण
एव इत्यादेश्चरितार्थत्वादिति भावः ॥ "कर्तृव्यापारे"ति ॥
कर्तृव्यापार=उद्यमनिपातनादिस्तद्विषयः करणमित्यर्थः ॥
कर्तृव्यापारविषयः फलमपीति तत्रानिठयाप्तिं प्रपञ्चयति—
'शरीरे'ति । क्रियाविशिष्टमिति मतान्तरे^(३)"भविष्यत"-इति,
क्रियाविशिष्टस्य च शरीरस्यानन्वात् कारणत्वमेवानुपपन्नं, दूरे
करणत्वं, नचाभेदे जन्यजनकभाव इत्यर्थः ॥

सू० "न च 'साक्षात्कर्तृव्यापारविषय'-इति विशेषोपा-
दानेऽप्यस्य^(४) परिहारः, साक्षाद् व्यापार्य्य^(५) मनःप्र-

(१) 'व्युदस्य' इति त्वपपाठः । (२) 'शरीरचलनायेति
पाठस्तत्त्वमङ्गतः । (३) "शरीरचलनक्रिया इति मते च स्वं प्रतीति"
इति शेषः । क्रियाविशिष्टं शरीरमिति मतेन 'भविष्यतः कारकत्वानु-
पपत्तेरिति' सूक्तोक्त व्याख्याय शरीरचलनक्रियेति मतेन 'स्वं प्रतिकारक-
त्वानुपपत्तेरिति' सूक्तोक्तं विवृणोति-नचाऽभेदे इति । (४) अस्य=
अतिव्याप्तिदोषस्य । (५) साक्षात्कर्तृव्यापारविषयेत्यर्थः ।

भृत्तिक्रियायां प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, ^१अध्यापक^(१)त्वाद्वा ।
 'अथ *तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयस्त-
 त्क्रियायां करणम् *, - इति मन्यसे, मैवम्, ^२अनीश्व-
 रवादे अङ्कुरादीनामकरणकत्वप्रसङ्गात् ; सुषु^(३)प्ल्य-
 नन्तरभाविन्याः प्रमायाः परिगणितकरणोपाधिभेद-
 परिसंख्यातेषु प्रमाराशेषु बहिर्भावप्रसङ्गात्; अचेत-
 नस्यापि कर्तृत्वे चातिप्रसङ्गात्^(४) । शेश्वरवादे त्वी-
 श्वरव्यापारविषयः सर्वं कारणमिति नाऽकरणं कारणं
 स्यात्^(५) । 'ओमित्यभिधाने^(६)चाकारणमात्रं व्यव-
 च्छेद्यमिति'कारणं करणमि'त्येवोच्यतां वृथा विशे-
 षणपूरणप्रयासः ।

टी० "नचे"ति । आत्मव्यापारस्य तु न साक्षाच्छरीरं
 विषयो मनोऽव्यापारव्यवहितत्वादिति भावः^(६) । प्रभृतिपदं
 प्राणमनोबुद्धिनाड्यादिपरम् ॥ ^७"अध्यापकत्वादि"ति । परम्परया
 व्यापार्यं कुठारादावव्यापकत्वादिति भावः ॥ ननु मनःशरी-
 रादिव्यापारस्य न तत्क्रियाहेतुत्वमिति कुतोऽतिव्याप्तिरिति
 शङ्कते- । "अथे"ति ॥ क्षित्यङ्कुरादिकार्यं प्रति यत्करण तस्य
 कर्तृव्यापाराविषयत्वेनाकरणत्वप्रसङ्गः, यच्च सुषुप्तस्य प्रवेद्य-

(१) मनःप्रभृत्तिक्रियान्यत्वे मति साक्षात्कर्तृव्यापारविषयः कर-
 णमित्युक्ती नोक्तदोषोऽतो दोषान्तरमाह-अध्यापकत्वादिति ।

(२) अध्याप्यन्तरमभ्याह-सुषुप्तीति । परिगणितानि यानि करणानो-
 न्द्रियाणि तान्येवोपाधयस्तेषां भेदेन परिगणयताः पञ्चधा बोधेति वा
 ये प्रमाराशयस्तेषु बहिर्भावः प्रसज्येतावस्तुकारणजन्यत्वादनञ्च तस्याः
 करणमस्ति न च तस्य कर्तृव्यापारविषयत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः ।

(३) आत्मदाद्यचेतनशरीरस्यैव सुषुप्त्यव्यवहितोत्तरभाविप्रमाकरणत्वे
 तु तस्यैवाङ्कुरादिकरणत्वमपि प्रसज्येतेत्यर्थः । तथाच सम्भतेऽङ्कुरादि-
 कमकर्तृकं न स्यादिति भावः । (४) कारणम् अकरणं न स्यादित्य-
 न्वयः । (५) ओमित्यभिधाने=अस्तित्वमित्यभिधाने । (६) पूर्वदक्षिणो
 भाव इत्यर्थः ।

ज्ञानकरणं तदपि न करणं स्यात्, चैतन्योपहितस्य कर्तृत्वस्य
नान्नासत्वात् कर्तृत्व्यापारविषयत्वाभावादिति परिहरति-।
“अनीश्वरे”ति ॥ शन^(१)पाधीनामसाङ्ग्यं नः सिद्धान्तो,
नतूपधेयासाङ्ग्यमपि, तथाच कर्तृकर्मादेरपि करणत्वमनेनोपा-
धिनाभिमतमेवेत्याशङ्क्य परिहरति -। “ओमि”ति ॥

सू० “अथ मन्यसे, * न धर्म्यन्तरव्यवच्छेदाय विशेषणानि,
किं त्वेकस्यापि धर्मिणो रूपभेदेन करणपदाभिधेय-
तोपदर्शनाय*,—इति, 'एवं^(२)तर्ह्येतद्रूपालिङ्गितस्यं
करणत्वान्न लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन त्वया लक्ष्यमात्रमुक्तं भ-
वेत् । * 'नच लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्तामेव लक्षणार्थः
*, गन्धवत्त्वादेः पृथिव्याद्यलक्षणत्वापत्तेः । “अपि
चैवं 'वस्तुमात्रं करणमित्यभिधायैव किं न करण-
पदप्रवृत्तिनिमित्तमुपादर्शि ? । * 'स्यादेवं यदि
सर्वत्र वस्तुनि करणव्यवहारः स्याद् ?*,—इति चेत्तर्हि
त्वदुक्तलक्षणमपि भवेद् यदि सर्वत्र कारणे कारणव्य-
वहारः स्यादित्यपि पश्य; नहि कर्त्तारि कर्मणि वा
कस्यचित्करणव्यवहारः । * कर्त्तारि^(३)तावदस्ति लोके

(१) उप धानां = धर्मिणःसाङ्ग्यमुपधेयस्य = धर्मिणश्च साङ्ग-
र्यमिति साङ्ग्ये-नन्विति । (२) एवं तर्हि लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन त्वया
एतद्रूपालिङ्गितस्य (= साङ्ग्यव्यवच्छेदापारविषयत्वधर्मवतः) करण-
त्वात्लक्ष्यमात्रमुक्तं भवेदित्यन्वयः । लक्ष्यमात्रम् = वाक्यस्वरूपमात्रम्,
नतु लक्षणमपात्त्यर्थः । (३) लोकशास्त्रयोर्दृष्टोदाहरणानुसारेण
कर्त्तारि करणव्यवहारसाङ्ग्ये-कर्त्तारिति, इह=मनुक्तैर्ये, प्रमाणं=प्रमा-
करणम्, देवदत्तः (कर्ता) । “मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवदि”त्यादि गीतमीयं
द्वितीयाध्यायस्यप्रथमान्विकस्य सप्रवृत्तिसं सूत्रम् । अर्थः=यथा
वेदिकदेशस्य पश्याऽदृष्टार्थस्य पश्याद्यभिधायिन आयुर्वेदस्य यथा वा
विषभूताशनिप्रतिषेधार्थस्य मन्त्रवेदस्य प्रामाण्यं दृष्टं तथाऽदृष्टार्थं
स्यापि समग्रवेदराजः प्रामाण्यमनुमतव्यं तत्कर्तृराजस्य यत्प्रामाण्यं-
यथाभूतार्थविख्यापयिषादि तस्योभयत्रापि समानत्वादिति । एवं देव-

‘प्रमाणमिह देवदत्तः’-इति, शास्त्रेपि “मन्त्रायुर्वेद-
प्रामाण्यवद् तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्” *.-इति
चेन्न । किमयं^(१)माणवकेऽग्निव्यवहार इव गौणो ?
मुख्य एव वा ?-इति संशये यदि त्वत्परिकल्पिता-
न्निमित्तान्मुख्यः स्यात् ततः कर्मण्यपि स्यात् तत
एव निमित्तादिति बाधदर्शनेन^(२)पारिच्छेद्याद् गौण-
तयैव तद्व्यवस्थापनाया युक्तत्वात् ।

टी० ॥ ननु कारणमात्रस्य कारणत्वेपि न कारणत्वं करण-
पदप्रवृत्तिनिमित्तमपि तूक्तं^(३)लक्षणमेव नयेति शङ्कते-। “अथे”
ति ॥ लक्षणगवेषणायां प्रवृत्तिनिमित्ताभिधानं न प्रस्तुतमिति
परिहरति-। “एवं तर्ही”ति ॥ प्रवृत्तिनिमित्तमपि लक्षणमेव,
तथाच नाप्रस्तुतत्वमित्यन आह-। “नचे”ति । यदि प्रवृत्तिनि-
मित्तमेव लक्षणं तदा गन्धवत्त्वं न पृथिवीलक्षणं स्यात्तस्योपाधि-
तया गुरुत्वेन पृथिवीत्वजातेरेव तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तात्वा-
दित्यर्थः । अथ तदपि^(४)लक्षणं, तदाऽतिठया प्रकृत्येति भावः ॥
किंच, यदि प्रवृत्तिनिमित्तमात्रमलक्षणभूतमपि वक्तव्यं^(५)तदा
वस्तुत्वाद्येव तदस्तिथत्वाह-। “अपि चे”ति ॥ प्रवृत्तिनि-
मित्तमपि व्यवहाराऽऽयत्तं वक्तव्यं नतु यत्किञ्चिदिति शङ्कते-।
“स्यादेवमिति । “त्वदुक्तलक्षणमपी”त्यत्र “प्रवृत्तिनिमित्तमा-
त्रमपी”ति शेषः ॥ “तत एवे”ति । कारणत्वादेवेत्यर्थः । आत्मा-

दत्ताप्तयोः प्रमाकर्त्रोरपि प्रामाण्यस्य (=प्रमाकरणत्वस्य) लोकावेदयोः
श्रवणात्कर्तुरपि कारणत्वं भवत्येवेति पूर्वपक्षाभिप्रायः । (१) अयं=क-
र्तारि कारणत्वव्यवहारः । (२) बाधदर्शनेन=कर्मणि कारणत्वव्यवहारो
नास्तीति बाधदर्शनेन, यद्वा कारणत्वनिमित्तात्कर्मण्यपि कारणत्वव्य-
वहारः स्यादित्याकारकसत्कं एव प्रकृते बाधो ग्राह्यतद्दर्शनेनेत्यर्थः ।
पारिच्छेद्याद् गौणतयैव, तद्व्यवस्थापनायाः=कर्तारि कारणत्वव्यवहार-
व्यवस्थापनाया, युक्तत्वादित्यर्थः । (३) “व्यापारवद्धि कारणं कार-
कमि”त्युक्तलक्षणमेव, तथा=करणपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । (४) तद-
पि=करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमपि । (५) वक्तव्यं, प्रस्तुते लक्षणत्वेन
वक्तव्यमित्यर्थः ।

नमात्मार्थं जानामीत्यादी गौण एव कर्मण्यवहारः, परस्मैवेत-
क्रियाकलशालित्वलक्षणाभावादिति भावः ॥

सू० *अस्त्येव कर्मण्यपि "तेन रूपेण?*, -इति चेत्, न^(१)
ताव^(२)दयं शक्योपदर्शनोदाहरणः शास्त्रलोकयोः; क्व
दृश्यते घटं पश्यतीत्यर्थे घटेन पश्यतीति ? । "यदि
तु त्वच्चेतसि केवलं स्यात् तत्र च नादरं विधातुमु-
त्सहामहे । 'प्रमेयमात्रं करण'मिति वदतो वामबुद्धे-
र्मनसि परिवर्तमानं प्रमेयमात्रे एव करणव्यवहारा-
स्तित्वमेव^(३)मनुरोद्भव्यं स्यादिति । " * घटेन पश्य-
तीत्याद्यनभिधानवशान्न प्रयोगो, न हि सर्वं लाक्ष-
णिकं^(३)प्रयुज्यते ?*, -इति चेन्न । साऽस्तु, ^१तदभावे
कान्योस्ति तेषु करणव्यवहारः ? इति वक्तव्यः स्यात्,
नचासौ शक्यदर्शन इति ।

टी० ॥ "तेने"ति । कारणत्वेनेत्यर्थः ॥ "अयमि"ति ।
कारणत्वमात्रनिवन्धनः करणव्यवहार इत्यर्थः ॥ "क्वे"ति ।
साधकतमत्वविषयज्ञायां घटेन पश्यतीत्यपि अस्त्येवेति वाङ्-
मात्रमिति भावः ॥ एतदेवाह— "यदि त्वि"ति । यदूक्त्या ठव-
वहारोपपादकत्वं वामबुद्धित्वम् ॥ कर्माद्युक्तोपाधिना करणं
भवति, तृतीया तु तत्र न भवति, तथाप्रयोगाभावादित्याह—
"घटेने"ति ॥ "नही"ति । यद्यपि करणपदप्रवृत्तिनिमित्तव-

(१) अनन्यथाविद्धव्यवहारात्तथात्वावगतिरयं तु व्यवहारो गौणत-
यात्प्रयुज्यतेऽतो न कर्मादौ करणव्यवहारं समर्थयितुमीष्टे—इत्याह-
नेति । यत्र कर्मणि करणव्यवहारो दर्शयितुं शक्यते तादृशोदाहरणं
लोकशास्त्रयोर्नास्तीत्यर्थः । (२) सर्वं (वति) प्रमेयमात्रे करणव्यव-
हारावितत्वमनुरोद्भव्यं इतिदित्यन्वयः । (३) लाक्षणिकम्=लक्षणाभि-
प्याद्यम्, प्रवृत्तिनिमित्ताविद्धमिति यावत् । अयमाशयः, यथा शशीत्यस्य
चन्द्रे प्रयोगस्तथा शृगीत्यस्य लक्षणाविद्धत्वेऽपि न प्रयोग इति ।

सायां न लाक्षणिकत्वं(१) तथापि तथाप्रयोगाविषये प्रयुज्यमानत्वमेव लाक्षणिकत्वं विवक्षितम् ॥ “तदभावे” इति । प्रयोगाभावे कर्मणि करणव्यवहारो नान्यो वक्तुं शक्यते, प्रयोगरूपव्यवहारस्तु त्वयैवानभिधानान्निरस्तस्तथाच प्रवृत्तिनिमित्तं तत्रातिप्रसक्तमेवेत्यर्थः ॥

सू० * “क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन संबन्धि(२)करणम्*,- इत्यपि न । तथाहि, अयोगव्यवच्छेदो योग एव पर्यवस्येदिति संबन्धेन संबन्धीत्युक्तं स्यादिति पौनरुक्त्यम् । * यदा संबन्धीत्यनेन कालाविशेषनियतसंबन्धिताभिधीयते ततोऽन्यस्मिन्नपि काले संबन्धिता अयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षिता ? *,- इति चेन्मैवम् । “संबन्धीत्यनेन न कालविशेषनियता संबन्धिताभिहिता येन कालान्तरेऽलवधसंबन्धिताऽभिधानाय पदान्तरमुपादीयेत । अथोच्यते * संबन्धीत्यस्य सामान्यतोभिधाविनः कालाविशेषनियतसंबन्धमादायापि पर्यवसाने सार्थकत्वं भवत्येवेति कालान्तरे असंबन्धितया व्यवतिष्ठमानं कर्त्वाद्यपि करणं प्रसज्येत, तद्व्यवच्छेदाय कालान्तरे संबन्धिता पदान्तरेणाभिधीयते” इति, मैवम् । तर्हि तेनापि क्वचिदेव कालान्तरे यदि संबन्धिताभिधीयते तदापि तस्य सार्थकता संबन्धिपदव्यायेन(३) सामान्याभिधायिने

(१) यद्यपि प्रवृत्तिनिमित्तवद्वृत्तमाधारणधर्मं प्रवृत्तिनिमित्तं (कारणत्वे) न लाक्षणिकत्वं तथापि च्छेदेन परयतीति प्रयोगाविषये कारणत्वस्य प्रयुज्यमानत्व (प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्) एव लाक्षणिकत्वमापाततोऽत्र निर्दिष्टमिति पङ्क्त्यर्थः । (२) संबन्धि करणमित्युक्ते द्रव्यसंबन्धिगुणोऽतिप्रसङ्गस्तन्निराकरणाय-क्रिययेति, कर्त्वादावतिप्रसङ्गवारणाय-अयोगव्यवच्छेदेनेति । (३) संबन्धिपदव्यायेन=प्रथमसंबन्धिपदद्वयान्तेन ।

भवेदिति ततोपि कालान्तरेऽसंबन्धव्यवच्छेदाय विशेषणान्तरमपि निवेशनीयं स्यात् ।

टी० ॥ “क्रिये”ति । प्रधानक्रिययाऽयोनव्यवच्छेदेन संबन्धि करणं, नहि कुठारादौ मठयापारे मति न छिदा, कर्तृ-
कर्मणेःस्तु मठ्यापारयोरपि सतोः कदाचिन्न क्रियेत्यर्थः ॥ “त-
याही”ति । द्वौ निषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत इति भावः ॥ निषेध-
द्वयममभिठयाहारात् सार्वदिकसंबन्धो लभ्यते इति शङ्कते—। “य-
दे”ति ‘संबन्धी’ति सामान्याभिधानसामर्थ्यादेव विवक्षितार्थं
मिद्धिरिति परिहरति—। “संबन्धी”ति ॥ सामान्यं किञ्चिद्विशेषमा-
दायैव चरितार्थं, निषेधद्वयममभिठयाहारस्तु नैवानिति शङ्कते—।
“अथे”ति ॥ ‘अयोगव्यवच्छेद’इति योगनामान्यनिषेधोपि यं
कस्मिन् विशेषमादायेति परिहरति—। “तर्ही”ति ॥

सू० “अथ * यदाकदाचिदपि योऽयोगस्तस्य सर्वस्य व्यव-
च्छेदो विवक्षितः*—इति, तर्हि संबन्धिपदे एवैषा
विवक्षास्तु, कृतमधिकमुपादाय तद्विवक्षया ।*^१नि-
षेधव्यवच्छेदेन सार्वत्रिकत्वलाभः(१)?*—इति चेन्न,
‘निषेधव्यवच्छेदस्य विषयनतिरेकार्थत्वेनाविशेषा-
त्।*^२तद्भूमिकं(२)संबन्धस्यासंबन्धासामानाधिकरण्य-
म’ऽयोगव्यवच्छेदेनेत्यनेनाच्यते?—इति चेन्न, ‘त-
स्यापि संबन्धकाले तत्रासत्त्वोपगमात् ।*^३सर्वदा?*

अथमाशयः,—यथा प्राथमिकेन संबन्धीतिपदेन कालविशेषसंबन्धिताभि-
धाने कालविशेषे संबन्धितया कालविशेषे वाऽसंबन्धितया अवतिष्ठमाने
कर्त्तृदावतिप्रसङ्गवारणाय सातत्येन संबन्धाभिधायकमयोगव्यवच्छेदपदं
प्रयुक्तं, तथा यदि तेनापि (=अयोगव्यवच्छेदपदेनापि) कालविशेषनिव-
र्तैव संबन्धितास्ता स्यात्सदापि तस्य सार्थकत्वं भवत्येवेति पुनरपि काल-
विशेषे संबन्धितया तद्व्यतिरिक्तकालविशेषे वासंबन्धितया व्यवति-
ष्ठमाने कर्त्तृदावतिप्रसङ्गः स्यादिति तद्वारणाय पुनः एतत्संबन्धाभि-
धायकमयोगव्यवच्छेदेनेति पदान्तरमुपादेयमेवं पुनःपुनरपीत्यत्रवस्था स्या-
दिति । (१) संबन्धे—इति शेषः । (२) तद्भूमिकं=कुठारादिभूमिकम् ।

इति चेन्न, 'यद्येवं तत्किं करणासत्त्वकालेपि योग एव कारणेन क्रियायाः? । *यावत्सत्त्वम् *(^१)-इति चे-
त्तर्हि संबन्धीति ^१ठ्यर्थं, यावत्सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन
यद्विशिष्टमुपलक्षितं वा तत्करणमित्येवास्तु, 'संब-
न्धीत्येव वा तथा विवक्ष्यतामित्युक्तमेव । 'अयमेवार्थः
कयापि कुसृष्ट्या(^२)संबन्धिपदसार्थकतामुपपाद्य
यदि विवक्षितस्तदाप्युच्यते ।

टी० ॥ 'अयोगे'ति सत्त्वायोगविवक्षा, अत्र तन्निषेध इति
सर्वयोगलक्षण इति शङ्कते-। "अथे"ति ॥ शङ्कित्वा स्वाभिप्राय-
मिदानीं विशदयति-। "निषेधे"ति ॥ खारहनिष्केपि स्वाभि-
प्रायमादिच्छकरोति-। "निषेधे"ति ॥ यत्र धर्मिणि प्रधानक्रिया-
संबन्धस्य तदसंबन्धसामानाधिकरस्य नास्ति तत् करणं, कर्त्रादौ
तु नैवमिति शङ्कते-। "तद्गुर्मिकमि"ति ॥ कर्मादेरपि प्रधानक्रि-
यासंबन्धसत्त्वकाले तदसंबन्धसामानाधिकरण्यासत्त्वोपगमा-
दिति परिहरति-। "तस्यापी"ति ॥ कर्त्रादौ क्रियारूपकालसा-
न्नेऽयोगसामानाधिकरण्यासत्त्वं, कारणे तु सर्वदेति शङ्कते-। "स-
र्वदे"ति ॥ कारणेऽप्यसम्भवः सार्वदिकक्रियायोगस्येत्याह-। "य-
द्येवमि"ति ॥ ^१ठ्यर्थमि"ति । तर्हि क्रियया अयोगठयवच्छिन्न-
मित्येव लक्षणमित्यर्थः ॥ "संबन्धीत्येववे"ति । नित्ययोगे
सत्त्वर्थीयविवक्षास्तिवत्यर्थः ॥ "अथमि"ति । निषेधद्वयसमभि-
ठयाहारबलाऽलभ्येऽप्यर्थे समभिठयाहारलभ्यत्वाभिमानरूपया
कुसृष्ट्यदृशार्थलाभेपि दोषान्तरदुष्टनिदं लक्षणमित्यर्थः ॥

सू० "कृत्तिकोदयक्रियायां रोहिण्यासत्तिरप्येवं करणं
स्यात्, अनन्तरभाविनश्चतुर्दशस्य नक्षत्रस्योदयं प्रति
पूर्वभाविचतुर्दशसङ्ख्यनहात्रास्तमयस्य(^१) च करण-
त्वं स्यात् । * नचैवमेव युक्तम् *, ^२योगपद्येन कार-

(१) यावत्कुठारादेः कारणस्य सत्त्वं तावत्तेन विदादिक्रियायोग इत्यर्थः ।

(२) कुसृष्ट्या = कुतर्कैव । (१) अस्तमयस्य अस्तमयस्येत्यर्थः ।

शात्वानुपपत्त्या कारकत्वस्य दूरनिरस्तत्वेन करण-
त्वस्य सम्भावनाऽनारोहात् । * न च तत्र संबन्ध
एव नास्ति *, व्याप्तेः स्वभावसंबन्धात्मिकाया दु-
रपन्हवत्वात् । *^४अथ कार्यकारणभावः संबन्धो विव-
क्षितः *, न, सामग्र्याः करणत्वापत्तेः^(१) । * उोम् ?*-
इति चेत्, तत् किमोमित्यभिधायैव निर्वृत्तो भवान् ?
आकलितं किलास्माभिः सामग्र्यपि करणमित्यत्र न
अदूधतः^(२) प्रणवपूर्विकां श्रुतिमेव काञ्चित्पठित्वा
अद्वापयिष्यति भवानस्मानिति । * न सामग्री
कारणं, किंतु तदेकदेशे नानाभूतः^(३) प्रत्येकं तथा,
सामग्री तु यदनन्तरं कार्यं भवत्यैवेत्येतावन्मात्ररूपा
? *-इति चेन्न, एतादृशस्य सामग्रीलक्षणस्य कर-
णेपि सत्त्वात् करणस्यापि सामग्रीत्वापातात् ।

टी० ॥ तदेवाह-। “रुत्तिके”ति । उपोतिःशास्त्रादेतद्-
धयस्येयम् ॥ कारणत्वठयाप्यं कारकत्वं, तदूघाप्यं च करणत्वं,
तथाच प्रकृते ठयापकनिवृत्त्या ठयाप्यनिवृत्तिरावश्यकतीत्याह-।
“योगपद्येने”ति ॥ “ठयाप्तेरि”ति । रुत्तिकोदयरीहिरयासस्यो-
र्भाविचतुर्दशनक्षत्रोदयातीतचतुर्दशनक्षत्रास्तमययोश्च ठयाप्ति-
क्षणसंबन्धसंवादित्यर्थः ॥ “अथे”ति । सामान्यशब्दस्य विशेष-
परतयेत्यर्थः । अयुपगममात्रेण नार्थतथात्वमित्याह-। “कि-
मोनि”ति ॥ विवक्षितलक्षणं^(४) सामग्र्यां नागतमिति नातिव्या-
प्तिरित्याह-। “न सामग्री”ति ॥ सामग्रीलक्षणं तदेकदेशे करणे
व्यभिचारयति-। “एतादृशे”ति ॥

(१) यद्यपि सामग्रीलक्षणे क्रियायोगो नास्ति तथापि स्थूलकालमा-
दायेदमिति बोध्यम् । (२) न अदूधतोऽस्मान् (तमर्थं) भवाद्ब्रह्मा-
पयिष्यतीत्यन्वयः, किलशब्दो निरुक्तार्थस्याऽप्रामाणिकत्वेन हासप्रकट-
नार्थः । (३) नानाभूतः=कुठारदण्डादिरूपः । तथा=करणम् ।

(४) कार्यकारणभावसंबन्धघटितं विवक्षितलक्षणं सामग्र्यां

सू० "क्रियाया विभागादौ विभागस्य च संयोगनाशादि प्रति तथात्वापत्तेः । यच्च^(१)" प्रति सामग्र्येकदेशं नि यतप्राग्भावादिकारणलक्षणमिष्यते तत्सामग्र्यामपी- ति कथं तदकारणता? । *प्राक्कालमन्तर्भाव्य सामग्री, तादृश्याश्च^(२) तस्याः प्राक् सत्त्वमेव नास्ति? *- इति चेन्न, "अत एव प्राक्कालस्याकारणत्वात् कार- णसामग्र्यां तदनिवेशात्^(३) । अपिचैवं विवक्षित- मपि कारणं न स्यात् । नहि यावत्सत्त्वं व्यापारवतो- पि तस्य क्रियाजनकत्वं, क्रियाऽकाले^(४) लक्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे प्रमाणस्य दुरुपन्यासतया संशये- नापि लक्षणाऽसिद्धेः ; प्रत्युत चिरस्थिरकरसंयोगे^(५) स्पृश्ये स्पर्शप्रमाकरणस्पर्शनेन्द्रियसंयोगस्थैर्यस्य "मन्तुमुचितत्वात् ।

टी० ॥ अतिव्याप्त्यन्तरमाह- । "क्रिये"ति । विभागं

नागतं सामग्र्या अकारणत्वादित्यर्थः । (१) पूर्वं नामग्र्या अकारण- त्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं सामग्र्या अत्र कारणत्वमभ्युपगन्तव्यं तथा च कारणलक्षणं सामग्र्यामतिशयाप्रमित्याह-यच्चेति । (२) ता- दृश्याः=प्राक्कालघटिताया,स्तस्याः=सामग्र्याः, प्राक्काले सत्त्वं नास्ति आत्माश्रयादिति भावः । न च विगिष्टकाले शुद्धश्च शुद्धकाले वा विगिष्टस्य वृत्तौ न दोषस्तत्राप्यंशत आत्माश्रयादिति हृदयस् ।

(३) कालस्य कारणसामग्र्यामनिवेशे च कालाघटितकारणसामग्र्यां कारणलक्षणातिशयाप्रियेति भावः । (४) क्रियाऽकाले=फलीभूतच्छि- दात्मकक्रियातः पूर्वं, लक्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे=उद्यमननिपातनादिवि- गिष्टकुठारादेर्व्यापारिणः नामान्यसत्तानिषेधे-इत्यर्थः । यद्वा, फलीभू- तक्रियाऽकाले लक्षणमप्युद्यमननिपातनादिविगिष्टकुठारादौ तदनुवृत्ति- निषेधे छिदाऽसत्त्वनिषेधे इत्यर्थः ।

(५) चिरं स्थिरः करसंयोगो यत्र स्पृश्यद्रूप्ये तच्चेत्यर्थः । तथा- चेन्द्रियसंयोगस्थैर्यमस्ति, नास्ति चान्यत्रव्यासङ्गकाले स्पृश्यममेति तत्क- रणे त्वगिन्द्रियेऽव्याप्तिरिति भावः । एवं चक्षुरादात्रव्याप्तिर्दृष्टाव्य ।

प्रति कर्मणः सामग्रीत्वापत्तिः, एवं चरमकारणे सर्वत्रेत्यर्थः ॥
 “प्रती”ति । मानग्रेकदेशं प्रतीति योजना ॥ “प्रागि”ति ।
 प्राक्कालस्यापि कारणतया तद्व्यतिरेकमेतस्य (सामग्राः)
 प्राक्काले वृत्तिर्नास्तीति न सामग्री कारणमित्यर्थः ॥ “अत
 एवे”ति । प्राक्कालावृत्तित्वादेवेत्यर्थः ॥ क्रिययाऽयोगव्यवच्छे
 दतया यावत्सत्त्वं सन्नित्वं कुठारादावपि नास्तीत्यसम्भव-
 माह - “अपि चे”ति । उद्यमनिपातनादिविशिष्टकुठारादौ
 प्रथमक्षणे(२)पि छिदाऽसम्बन्धे नास्तीत्यत्र प्रमाणाभावात्सन्देह
 इत्यर्थः ॥ “क्रियाकाले” इति । नञोत्र प्रश्लेषः(३) ॥ “प्रत्युते”
 ति, तथापि ननु द्रव्यम् ॥ “मन्तुमुवितत्वादि”ति । मनो-
 णुत्वकल्पनानुरोधेनेत्यर्थः ॥

मू० “यावत्सत्त्वं च कारणमिति भाषायां सर्वस्मिन्
 तत्सत्त्वकाले कारणत्वमित्यर्थः, न च कारणत्वस्य
 नियतपूर्वकालसंबन्धात्मकस्य क्वचित्काले सत्त्वं, कालं
 प्रति कालान्तराभावादिति । अथ * ‘क्रिययाऽयोग-
 व्यवच्छेदेन संबन्धी’त्यस्यायमर्थो(४)-यस्मिन्सति
 भवत्येव क्रियेति * । केस्यार्थः ? किं यस्मादनन्तरं
 क्रियोत्पद्यते एव ? १ उत यस्मिन्वर्त्तमाने क्रियो-
 त्पद्यते एव ?-२ उत यस्मादनन्तरं क्रिया तिष्ठत्ये-
 व ?-३ उत यस्मिन्वर्त्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव ?-४ ।
 नाद्यः, सामग्र्याः(४)कारणत्वप्रसङ्गात्, ‘हस्तादीनाम-
 कारणत्वप्रसङ्गात्, ‘सुखदुःखादेः प्रमेयस्यापि प्रमा-

(१) प्रथमक्षणे=फलोभूतक्रियापूर्वक्षणे, फलोपहितकुठारादिक्रियाऽऽद्य-
 क्षणे वा । (२) वस्तुमस्तु नञोऽत्राप्रश्लेषेपि ‘क्रियाकाले = फलानुपहित-
 कुठारादिक्रियाक्षणे तदनुवृत्तिनिषेधे=छिदाऽसम्बन्धनिषेधे’-इत्यर्थकरणे
 न दोषः । (३) यद्यपि वाच्योऽयमर्थः न, तथापि तात्पर्यागत्याऽयमर्थ
 इति भावः । स्वाद्यवर्त्तमाने तत्क्षणे जायमानक्रियाकारणमिति प्रथम-
 विकल्पार्थः, अन्यत्र तु स्पष्ट एव । (४) सामग्र्याः=क्रियासाक्षर्याः ।

करणत्वप्रसङ्गाच्च । * नच प्रमेयमपि प्रमायाः करणं
स्यादेवेति वाच्यम् *, तत्र तथाव्यवहारस्य ^(१) कस्य-
चिदप्यसिद्धेः । नापि द्वितीयः, स्पृश्येन सह स्थिर-
संयोगस्य स्पर्शनेन्द्रियस्याव्यापनात्, तत्सत्त्वेपि
व्याप्तौ तेन प्रमाऽनुत्पादात् । नापि तृतीयः, साम-
ग्यादेः करणत्वप्रसङ्गात्, उत्पत्तेः 'स्थिरे करणत्व-
प्रसङ्गाच्च । नापि चतुर्थः, 'सहस्थायिनां करणत्व-
प्रसङ्गात् । * अथ 'क्रियाऽयोगव्यवच्छेदेन संबन्धित्वं
करणत्वमित्यस्याथमर्थः व्यापारवतः फलाव्यभि-
चारित्वमिति * । मैवम्, 'हस्ताद्यव्यापनात् ।

टी० ॥ प्रकारान्तरेणासम्भवमाह । "यावदि"ति । 'या-
वत्मत्त्वं क्रियाऽयोगव्यवच्छेदेन यत्कारणं तत्सम्बन्धि तत् कर-
णमिति वाक्यस्य भवति स्वसत्ताकाले यत्कारणं तत्र तत्कारणमि-
त्यर्थं पर्यवस्यति, काले च कालघटितं कारणत्वमसम्बन्धीत्यर्थं ॥
'हस्तादीनामिति । हस्ते मन्वापारे मत्यापि क्वचित्पाकानु-
त्पत्तेरयोगव्यवच्छेदाभावादित्यर्थं ॥ 'सुखे'ति । सुखदुःखयो-
रवश्यसंबन्धतया तदनन्तरं प्रतीत्यन्तरेणवश्यकत्वादित्यर्थं ।
आदिपदात् ज्ञानव्यक्तिशेषग्रह ^(२) । 'सामग्यादेरित्यादिप-
दात् कर्मशब्दादिपरिग्रहः ^(३) ॥ "स्थिरे" इति । स्थैर्यपक्षेघटो-
त्पत्तेरनन्तरमपि घटोत्पत्तदुः ^(४) त्वत्तावतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥
'सहस्थायिनामिति । व्यापारविशिष्टकुठारादिरूपादीनामि-

(१) तथाव्यवहारस्य—प्रमाकरणत्वव्यवहारस्य । (२) अनुभव-
सायविषयीभूतव्यवसायात्मकज्ञान-व्यक्तिरिणेष्वप्यपरिग्रह इत्यर्थः ।

(३) चक्राद्येकैकक्रियानन्तरमुत्तरोत्तरं क्रिया तिष्ठत्येव, तथा
धारावाहिशब्दस्थलेपि पूर्वपूर्वशब्दानन्तरमुत्तरोत्तरं शब्दस्मिष्टत्येवेति
तत्र प्राथमिककर्मशब्दयोः करणत्वं स्यादित्यर्थः, न तु तथासि, दण्डा-
दीनामेव करणत्वात् । (४) पूर्वं क्रियाऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धीति
करणत्वस्य क्रियापदस्य कार्यवाचकतया घटस्यापि क्रियात्मकत्वं बो-
ध्यम्, तथाच घटोत्पत्त्यनन्तरं घटरूपा क्रिया तिष्ठत्येवेति घटोत्पत्ता-
वतिप्रसङ्गः । यद्वा, घटवत्त्वाद्घटवत्त्वरूपक्रियास्थानात् ।

त्यर्थः । कारणत्वेन विशेषणे पूर्वदोषानुवृत्तिरिति भावः ॥
/“हस्तादी”ति । हस्ते सठ्यापारे सत्यपि कदाचित्पाकानुत्पत्ते-
रित्यर्थः ॥

सू० कश्चायं^(१) तद्व्यापारो नाम ? किं तज्जन्यं कार-
णम् ?-१ उत तदाश्रयं^(२) कारणं ?-२ । नाद्यः, “लि-
ङ्गपरामर्शं तदसम्भवात् । *पक्षे प्रथमधूमादिद-
र्शनस्य व्याप्तिस्मृतिद्वारा द्वितीयलिङ्गपरामर्शं व्या-
पारं जनयतः करणत्वमेष्ट्यम्, ! एवं च परमार्थतो
व्याप्यस्य “स्वरूपेण प्रामितिद्वितीय^(३)व्याप्ततत्प-
रामर्शव्यापारिकाऽनुमानमिष्यते ? * इति चेन्न,
अन्यतो जाताग्निधूमादिव्याप्तिस्मृतौ सत्यां
पक्षगतप्रथमधूमादिदर्शनस्य तद्व्यापारकत्वासि-
द्धेः^(४) । * तत्राप्यु^(५)भयकर्मजसंयोगवत् तदपि
कारणम्*-इति चेन्न,

टी० ॥ “लिङ्ग”ति । तृतीयलिङ्गपरामर्शाद्यवहितोत्तर-
क्षणे एवानुमित्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ ननु प्रथमलिङ्गदर्शनमेव तृतीय-
लिङ्गपरामर्शव्यापारकमनुमितिकरणमतो नाठ्याप्तिरिति शङ्कते ।
“पक्षे”इति । ठ्याप्तिग्रहकाले प्रथमलिङ्गदर्शनं महानसादौ,
पक्षे तु द्वितीयमत उक्तं “पक्षे”-इति ॥ एतदेव विविक्षयाह ।
“एव चे”ति ॥ “स्वरूपेणे”ति ॥ ठ्याप्यनुपधानेनेत्यर्थः । अनु-
मानम्=अनुमितिकरणम् ॥ यत्र प्रथमं ठ्याप्तिविशिष्टधूमस्य पक्षी-

(१) { व्यापारखण्डनेनापि कारणत्वस्य खण्डनम् ।
व्याप्यमित्यभिप्रेत्यन्वादी व्यापारं च निरस्यति ॥ }

(२) तत् कारणमाश्रयो यस्य तत्तदाश्रयम् । तदसम्भवात् = निर-
कथ्यापारासम्भवात् । (३) अत्रापि सापेक्षं द्वितीयत्वं, वस्तुतस्तु
तस्य तृतीयत्वमेव । (४) द्वितीयलिङ्गपरामर्शव्यापारकत्वासिद्धे रित्यर्थः । (५) तत्रापि = अदृष्टादिकस्मृतौ, तदपि = पक्षे धूमदर्शन-
मपि; प्रकान्तशाङ्करव्याख्यापुराधेन तु-तत्रापि=द्वितीयलिङ्गपरामर्शेपि,
तदपि = पक्षे धूमदर्शनजन्यस्मरणमपीत्यर्थः ।

यतया परामर्शस्तत्र स एवानुमितिकरणं, तस्य च निठ्यापार-
तया तत्र लक्षणमठ्याप्तमेवेत्याह—। “अन्यत” इति, = देवादेः, ननु
पक्षे धूमदर्शनात् ॥ एकस्यापि कर्मणः. सयोगजनकत्वाभ्युपगमे
यत्रोभयकर्मनस्त्रिपातस्तत्र यद्योभयस्यापि हेतुत्वं तथा देवाधी-
नठ्याप्तिस्मृतेः प्रथमधूमदर्शनजन्यठ्याप्तिस्मृतेश्च मिलित्वा तृ-
तीय^(१)लिङ्गपरामर्शजनकत्वमिति प्रथमलिङ्गदर्शनस्य तद्व्यापा-
रकस्यानुमितिकरणत्वमिति नाठ्याप्तिरित्याशयाऽविद्वत्तया^(२)
शङ्कते—। “तत्रापी”ति ॥

सू० “अभावादिसापेक्षविशिष्टप्रतिपत्तिवत्प्रागुपजातव-
न्निष्ठव्याप्तधूमस्मृतेः^(३)प्रथममपि योसौ वन्निष्ठव्याप्तः
सोयं धूम इति परामर्शोपपत्तोः । * नित्यसापेक्षे-
र्हेस्तु तथा, नान्यत्र^(४)प्रथमं तथा ?* इति चेन्न, प्रागु-
क्ततत्कारणोपपत्तौ ‘नान्यत्रैव’मिति नियमे प्रमाण-
स्याभावात्^(५) । * तस्य व्यापाराभावात् नानुमित्यु-
त्पादकत्वमेव * इति चेत्, स्यादप्येवं यदि व्यापा-
रवतः करणत्वमित्येव सिद्धं स्यात् । * तत्र धूमादि-
निर्विकल्पकस्य तद्व्यापारकस्य करणत्वम् ? * इति
चेन्न ।

टी० ॥ आशयमुद्घाटयति । “अभावादी”ति । प्रतियो-
गिस्मृत्यैव यथाऽभाविशिष्टज्ञानं तथा देवाधीनव्याप्तिस्मृति-
लक्षणविशेषज्ञानमहिम्ना व्याप्तिविशिष्टपर्वतीयधूमपरामर्श

(१) तृतीयत्वं वास्तविकं. पक्षे धूमदर्शनापेक्षया तु द्वितीयत्व-
मिति बोध्यम् । (२) आशयापिहिततयेतिपाठे तु सिद्धान्तप्राशय-
स्योद्वेगतयेत्यर्थः । (३) देवादिना प्रागुपजाता वन्निष्ठव्याप्तधूमस्मृति-
र्नस्य पुंसस्तस्येत्यर्थः । प्रथमं = पक्षे लिङ्गदर्शनस्यतिरेकेण । (४)
अन्यत्र = अनुमाने । (५) प्रथमं पर्वते धूमदर्शनं विनापि ठ्याप्तिस्मृति-
सहितधूमेन्द्रियसंस्पर्शकषादिदृक्कललिङ्गपरामर्शकारणत्वंपत्तौ सत्यां नित्य-
सापेक्षताहीने प्रथमं विशिष्टलिङ्गपरामर्शं न जायते इत्यत्र प्रमाणस्यो-
पन्यसितुमशक्यत्वादित्यर्थः ।

एव प्रथमं जायते इति न ततः पश्चादपि धूमदर्शनजं^(१) द्वितीयस्मरणं मन्तव्यमित्यर्थः । अभावाद्यो^(२)पे मापेक्षाः सप्रतियोगिकास्तद्विशिष्टप्रतिपत्तिवत् ॥ नन्वभावादिसापेक्षविशिष्टप्रतिपत्तिवत् धूमत्वविशिष्टे स्मृतव्याप्तैविशिष्टभानं प्रथमधूमज्ञानं विना न सम्भवति, तत्राभावत्वप्रतियोगित्वयोः पूर्वोक्तद्वितीयोरप्यवच्छेदः प्रहृष्टप्रौढ्या^(३)द्भानमिति वैषम्यं शङ्कते । “नित्ये”ति ॥ धूमत्वशेषकठ्यामिषिशेषकज्ञानस्य तृतीय^(४)लिङ्गपरामर्शरूपस्य प्रथममपि सम्भवान्न वैषम्यमित्याह । “प्रागिति ॥ ननु धूमनिर्विकल्पकं तत् सविकल्पकठ्यापारकं तत्र करणमिति शङ्कते - “तत्रे”ति ॥

सू० “नित्यसङ्घटितार्थवद्विनापि निर्विकल्पकं सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे प्रमाणाभावात् । *नित्यसङ्घटितेष्वपि निर्विकल्पकं संस्यते?* इति चेन्न, कारणान्तरादेव^(५)तदुपपत्तौ तत्र निर्विकल्पककल्पनायां प्रमाणाभावात्; प्रत्युत तत्सङ्घटनस्य स्वभावानतिरेकोपगमात् । * तथापि “यत्क्रि-

(१) पक्षे प्रथमधूमदर्शनजमित्यर्थः । (२) “अभावादय”-इत्यादिभ्यः विशिष्टप्रतिपत्तिं वदित्यन्तः पाठः कैश्चिदाधुनिकैरर्थसुबोधाय ‘अभावादीति’-इतिपूर्वीकः इत्यदिहोक्तः एवैव पुरुषे पश्यन्, परमत्र ग्रन्थेऽनेकैर्विधत्तदर्शनाद्दूहनामनुग्रहस्य ग्याः व्यत्यस्य सन यथाश्रुतोपपाठो नायुक्त इति मन्ये । (३) तत्र = दृष्टान्ते त्वभावाविशिष्टाभावत्वस्य प्रागनधिगतस्यैव प्रतियोग्यादिक्रानमाहात्म्यादनन्तरं भानं तथा प्रतियोगिषहितप्रतियोगित्वस्यापि प्रागनधिगतस्यैवाभावरूपावच्छेदकज्ञानमाहात्म्याद्भानमित्याह-तत्रेति । यत्रच्छेदेति, यत्रच्छेदग्रहणस्य = प्रतियोग्यनुयोग्यादिरूपाभावनिरूपकज्ञानस्य, प्रौढ्याद् = यावत्सकत्वादित्यर्थः । निर्णीतोऽयमेवार्थः कुसुमाञ्जलौ “यत्रच्छेदग्रहप्रौढ्याद्प्रौढ्यविद्धभाधनः”-इति कारिकायाम्, वक्षते च व्याख्याकारः समनन्तरमेव, व्याख्ययता ज्ञेयमस्माभिरपि तत्रैव । (४) तृतीयत्वं वास्तविकम् ।

(५) कारणान्तरात्=प्रतियोग्यादिस्मरणात्, तदुपपत्तौ = अभावादिविशिष्टज्ञानोपपत्तावित्यर्थः ।

श्चित्तजनकं तदेव तत्रानुमितिकरणमास्ताम् ? *
इति चेन्न, 'तथेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वापत्तिरित्य-
लमतिविस्तरेणेति । शब्दश्रोत्रसन्निकर्षस्य च श्रोत्रा-
ध्यापारत्वप्रसङ्गात्, 'तथाच श्रोत्रस्य शब्दप्रतिपत्ता-
वकरणत्वप्रसङ्गात्, सन्निकर्षो हीन्द्रियध्यापार उच्यते
इति, 'ध्यापारान्तरं च तस्य क्षणिकमसिद्धम्, 'स्थिरे
चोक्त एव दोषः । * 'शब्द एव तद्ध्यापारः किं न
स्यात् ? *—इति चेन्न, तस्य कर्मत्वेन करणकोटिवहि-
भवात् ।

टी० ॥ विशेषणज्ञानान्तराभावे निर्विकल्पककल्पना, प्रकृते
ठयाप्तिस्मृतिरेव विशेषणज्ञानमिति किं निर्विकल्पककल्पनयेति
परिहरति—। "नित्ये"ति । नित्यमङ्कुठितोर्थाऽभावरुनवायादिः ॥
अभावादिविशिष्टज्ञानेपि निर्विकल्पकापेक्षेति मतमालम्ब्य
शङ्कते—। "नित्ये"ति । उक्तं (१) चाचार्यैरपि,—“अवच्छेदग्रहणौ
व्यादधौठये सिद्धमाधनात्, प्राप्त्यन्तरेनवस्थानाको चेदन्वयोपि
दुर्लभः” (२) इति ॥ “प्रत्युत्ते”ति । अभावादीनामिदमेव स्वाभाठय
यद्विशिष्टज्ञानमात्रविषयत्वमिति त्वयाऽभ्युपगमादित्यर्थः ॥
ननु परामर्शजनकतया तत्र ठयाप्तिस्मृतिरेव करण स्यादि-
त्याह—। “यत्किञ्चिदि”ति ॥ तथा सतीन्द्रियस्यापि कर-
णत्वसम्भवादानुमितित्वप्रत्यक्षत्वसङ्करापत्तिरित्याह—। “तथे-

(१) एतच्छङ्कासमाधानतयोदयनाचार्यैरप्युक्तमित्यर्थः ।

(२) 'दुर्लभः'—इत्यपि पाठः । निरुक्तकारिकार्थस्तु—ननु प्रथममनु-
पलब्ध्या निर्विकल्पकत्वेन विषयीकृत एव घटाभावादिरिन्द्रियेण घटा-
भाववद्भूतत्वमिति (ग्राह्यजसौरभोपनयानन्तरं सुरभिचन्दनचानुष-
वत्) अविकल्पतया गृह्यते इत्यभावग्रहं प्रत्यनुपलब्धिरेव करणं, नित्य-
न्द्रियं, तस्याभावेन समं प्रत्यासत्तेरभावात्, विशेषणतायाञ्च सम्भ-
न्धान्तरगर्भत्वात् । तथाहि—विशेषणत्वं नाम केनापि सम्बन्धेन कस्मिं-
रिषष्टित्वं, यथा संयोगेन भूतले घटस्य वृत्तित्वं भूतले घटस्य-
विशेषणता, नचाऽभावो भूतलादौ केनापि संयोगादिसम्बन्धेन वर्तते
चेन तस्य विशेषणता स्यादित्यत आह—“अवच्छेदे”ति । यस्मिन्तेऽभाव-

न्द्रियादेरिति ॥ 'तज्जन्यं तज्जन्यकारणं ठयापार' इति यद्वा-
पारलक्षणमुक्तं तत्राव्याप्तिमाह- । / "शब्दे" इति । तत्सन्निकर्षस्य
समवायस्याजजन्यत्वादित्यर्थः ॥ सास्तु मन्त्रिकर्षो ठयापार इत्यत
आह- । "तथाचे" इति ॥ ठयापारान्तरमेव श्रोत्रजन्यमस्ति त्वत्यत
आह- । "ठयापारान्तरमिति ॥ "स्थिरे" इति । इति । सन्निक-
र्षरूपे इत्यर्थः ॥ "शब्द एवे" इति । श्रोत्रजन्यत्वात् श्रोत्रजन्य-
शब्दमाक्षात्कारजनकत्वाच्छब्द एवात्र ठयापार इत्यर्थः ॥

सू० * "क्वचित्तयोरेकत्वेपि का क्षतिः?—इति चेन्न, शब्दबुद्धौ
कार्यायामुपधायकत्वेन^(१) प्रविष्टस्य शब्दस्य करण-
ठयापारतया करणकोटावपि प्रवेशनेशतोपि निय-
म्यनियामकत्वविरोधापत्तेः । * 'घटादिबुद्धौ चक्षु-
रादेश्चक्षुर्घटादिसंसर्गव्यापारवस्त्वेपि सममिद^(२)
म् ?—इति चेत्, किं न^(३) स्यात् । तथाच—

प्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणं तन्मते ऽवच्छेदग्रहस्य (=प्रतियोगि-
ग्रहस्य) प्रौष्यात् (=आवश्यकत्वात्) नियमतः प्रतियोगिविशिष्टाभा-
वज्ञानोदयेन न तस्य निर्विकल्पकत्वम्, यन्मते च प्रतियोगिज्ञानमभाव-
प्रत्यक्षं प्रति न कारणं तन्मते ऽवच्छेदग्रहस्य (=प्रतियोगिग्रहस्य) अभा-
वबुद्धिं प्रति कारणत्वेनाऽप्रौष्येपि (=अनावश्यकत्वेपि) इन्द्रियादेव
तदुत्पत्तिर्भविष्यतीति सिद्धसाधनात् (=अभावबुद्धिं प्रति कारणत्वेन
सिद्धस्यैवेन्द्रियस्य कारणत्वेन मयापि वाक्यत्वात्) नानुपलब्धिः कर-
णम् । सिद्धसाधनमत्र प्रतिबन्दिस्थानापन्नं ग्राह्यम् । यदि चाभावीयवि-
शेषणतायाः प्राप्त्यन्तरं (=सम्बन्धान्तरं) वाच्यं तदा तस्यापि सम्ब-
न्धान्तरं तस्यापि सम्बन्धान्तरमित्यनवस्थाऽऽपद्येत; तस्मान्न विशेषण-
तायाः स्वरूपसम्बन्धरूपायाः सम्बन्धान्तरम् । न चेदभावस्याऽधिकर-
णेन स्वरूपसम्बन्धस्तदाऽनुपलब्धिकरणतावादिभट्टमतेपि अन्यः प्रकारो
दुर्घटः, भूतले घटाभावसम्बन्धावगाहिन्याः घटाभाववद्गूलमिति सर्वा-
नुभवसिद्धमतीतेर्वाश्रुपधानित्यादिमतीतिवद्भ्रमत्वमापद्येतेत्यर्थः ।

(१) उपधायकत्वेन=स्वाकारसमर्पकत्वेन । (२) इदम्=दुप-
णम् । (३) "किं नः" इत्यपि क्वचित्पाठः ।

‘बाधेऽ^(१)दूहेन्यसाम्यात् किं दूहेन्यदपि बाध्यताम्।
 क्व समत्वं मुमुक्षुणामनिर्वचनवादिनाम् ॥ ३३ ॥
 तथाहि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निमंभः पुरा ।
 आहेटं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते ॥३४॥ इति ।
 नापि द्वितीयः, ^१लिङ्गपरामर्शस्यानुमितावकरणात्-
 प्रसङ्गात्, ^२निर्विकल्पकस्यापि तस्योपगमे सविकल्प-
 कानाश्रयत्वात् ।

टी० ॥ “क्वचिदि”ति । निमित्तसमावेशा^(२)दित्यर्थः ॥
 “शब्दे”ति । एकस्यैव शब्दस्य कार्यबुद्धिविशेषकतया^(३)कार्यत्व-
 करणव्यापारतया च कारणत्व विरुद्धमित्यर्थः । शब्दप्रध्वंसग्रहे
 यथाकथञ्चिदुपपत्तावपि शब्दप्रागभावेग्रहे नैवमपीति हृदयम्
 (४) ॥ ननु नियमनियामकत्वविरोधः, (जन्यजनकत्वविरोधः)
 घटादिबुद्ध्यापि, यतो घटबुद्धिर्जन्या घटेन्द्रियसन्निकर्षो जनक
 इति घटस्यैव जन्यजनककोटावन्तभावादित्याह-। “घटादी”-
 ति ॥ अनेन विरोधेन सर्वं निवर्तनां नाऽद्वैतवादिनः किञ्चिदनिष्ट-
 मित्याह । “किञ्चे”ति ॥ एतदेव स्पष्टयति-। “बाध”इति ॥
 तदाश्रयं कारणं व्यापार इति दूषयति- “नापी”ति ॥ “लि-
 ङ्गे”ति । परामर्शाश्रितस्य व्यापारस्याभवादित्यर्थः ॥ निङ्ग
 निर्विकल्पकमपि न करणं, परामर्शस्य न दृशापात्त्वेनाभिमतस्य
 तदनाश्रितत्वादित्याह । “निर्विकल्पकस्यापी”ति ॥

(१) बाधे=खण्डनकोटी । (२) निमित्तसमावेशात्, कर्मका,
 शयोर्यद्विमित्तं तस्यैकत्र समावेशादित्यर्थः । (३) कार्यबुद्धिविशेषक-
 तया = शब्दबुद्धिरूपं यत्कार्यं तस्य विषयविधया व्यावर्तकतया, विशे-
 षणतया तत्कुक्षिमविष्टतयेति भावः । (४) शब्दप्रध्वंसं प्रति प्रति-
 योगिविधया शब्दस्य जनकत्वाच्छब्दप्रध्वंसविशिष्टज्ञाने शब्दस्य कथञ्चि-
 त्जनकत्वोपपादनेपि शब्दप्रागभावे प्रतियोगिविधयापि शब्दस्य जनक-
 त्वाभावेन तद्विशिष्टज्ञानेपि न कारणतेत्यर्थः । वस्तुतस्तु शब्दप्रध्वंसज्ञाने
 शब्दप्रध्वंसः, तत्र च शब्दो न विशेषणं, येन विशेषणे कारणतासादाय
 विशिष्टेपि स्यादित्यभिप्रेत्योक्तं कथञ्चिदिति ।

मू० "अतद्धेतुत्वाश्रयस्य^(१) तद्धेतुव्यापारत्वे चात्यापत्तेः । किंच, फलाध्यभिचारित्वं^b किं तस्मिन्नेव काले फलसत्त्वनियमः १ उत तदनन्तरं फलसत्त्वनियमः २ नाद्यः, 'कारणस्य पूर्वभाविताया अवश्यं वक्तव्यत्वात् । न द्वितीयः, आनन्तर्यं यद्यव्यवहितानन्तर्यं विवक्षितं^c तदा यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वपक्षे हस्तादेरकरणत्वापातः, 'आफलव्यापारवतस्तु तथात्वे कर्तृदिष्वतिव्याप्तिः । * अथ व्यवहितस्याप्यानन्तर्यं विवक्षितं *^(२), तथापि यत्किञ्चिद्व्यापाराभिप्रायेन्तरायसम्भवाद्दस्ताद्यव्याप्तिः, आफलव्यापाराभिप्राये च व्यवधानासम्भवात् 'कारकमात्रं करणमित्युक्तं स्यात् । व्यापारवतश्च तत्फलाध्यभिचारः-इति किं तद्व्यापारस्य फलाध्यभिचारित्वं ?-१ व्यापारविशिष्टस्य वा ?-२ । नाद्यः, हस्ताद्यकरणत्वापातात् । अत एव न द्वितीयः,

टी० ॥ नन्वात्मनिष्ठ एव परामर्शो निर्विकल्पकस्यानुमितिकरणस्य व्यापारः स्यादित्यत आह-। "अतदि"ति । करणाश्रितस्यैव करणव्यापारत्वमुचितं, न तु तत्क्रियाकारणान्तराश्रितस्या^(३)पि, तथा सति सहकारिमात्रं करणव्यापारः स्यादित्यर्थः । स चासौ हेतुश्चेति तद्हेतुः ॥ "किं तस्मिन्नि"ति । यदा करणं तदा फलमित्यस्यभिचार इत्यर्थः ॥ "कारणस्ये"ति । समकालयोः कार्यकारणभावाऽभावादित्यर्थः ॥ "तदे"ति । नहि प्राथमिकहस्तव्यापारानन्तरमेव पाकरूपं फलमित्यर्थः ॥ "आफले"ति । कर्तुरपि फलपर्यन्तं व्यापारानुवृत्तेरित्यर्थः ॥ "तथापी"ति । हस्तव्यापारे सत्यपि कदा-

(१) अनुमित्यहेतुत्वात्माश्रितस्याऽनुमितिहेतुनिर्विकल्पकलिङ्गपरामर्शव्यापारत्वे चेत्यर्थः । (२) तथा च न हस्तादावव्याप्तिरिति शेषः । (३) वा चासौ क्रियेति तत्क्रिया, तस्याः कारणं करणं, तद्भिन्नाश्रितस्येत्यर्थः ।

चित् फलानुत्पादाद्वयवधानेऽप्ययन्निचाराभावादित्यर्थः ॥
 “कारकमात्रमिति । आफलठयापारानुवृत्त्या कारकमात्रस्यैव
 फलाठयन्निचारिठयापारवत्त्वादित्यर्थः ॥

मू० “यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वापाताद्, ‘अपूर्ववाक्यार्थत्ववादिनापि चरमयागस्य फलकरणत्वाभ्युपगमादिति । * ‘अथोच्यते यद्वा नेव करोति तत् करणम्, यद्वा नेव प्रमिमीते तत् प्रमाणम् * । मैवम्, आत्मधर्मप्रध्वंसादीनामकरणानां प्रमाणत्व^(१)प्रसङ्गात् । *येन क्रियाकारणेन युक्त एव प्रमिमीते ? *-इति चेन्न, ‘सुखादिप्रमितौ तत्करणव्यापारस्यापि करणत्वप्रसङ्गात् । * उोम् ? *-इति चेन्न, अव्यापारतयाऽकारकत्वेन तद्विशेषकरणभावानुपपत्तेः ॥ * ‘व्यापारवतापि *-इति चेन्न, ‘एवं हि व्यापारवत् एव करणत्वं न स्यात्, नहि व्यापारवत्स्य व्यापारान्तरवत्तास्ति।

टी० ॥ “यागादेरिति । यागादेरिचरनप्रत्वेनापूर्वविशिष्टस्य फलाठयन्निचाराभावादित्यर्थः ॥ ननु मा भूत् यागः करणं, नहि यजेतेतिलिङ्गा यागसाधनत्वं बोध्यते किन्त्वपूर्वकार्यत्वमिति नाठयान्निरित्यत आह-। “अपूर्व”ति । कार्यत्वा^(२)न्वयान्यथानुपपत्त्या यागसाधनत्वस्यौपादानिकस्य गुरुणापि स्वीकारात्, अन्यथा नियोज्यान्वययोग्यता न स्यादिति तन्मते यागस्याकरणत्वप्रसङ्गस्तुल्य इत्यर्थः ॥ चरम कार्यत्वोपस्थित्यनन्तर^(३)मुद्योतकरः करणलक्षणं शङ्कते-। “अथे”ति ॥

(१) निरुक्तप्रमाणलक्षणकरणे सुखादिध्वंसादिमानेवात्मा घटादिदिकं प्रमिमीते इति सुखादिध्वंसादेरपि घटादिप्रमा प्रत्यकरणस्य घटादिप्रमाकरणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । (२) कार्यत्वस्य = कृतिसाध्यत्वस्य, नियोगे यागनिष्ठकृतिसाध्यत्वं विनाऽन्वयाऽनुपपत्त्या यागसाधनत्वस्य = यागनिष्ठेष्टसाधनत्वस्य, औपादानिकस्य = अर्थापत्तिप्रमाणगतस्य, गुरुणापि स्वीकाराद्; अन्यथा नियोगे नियोज्यस्य = कार्यबोधुर्नियोज्यनियोजकभावरूपाऽन्वययोग्यता न स्यादिति पङ्क्त्यर्थः । (३) कार्यत्वोपरिस्थित्यनन्तरमुद्योतकरः चरमं करणलक्षणं शङ्कते-इत्यन्वयः ।

“सुखादी”ति । ननस्तत्र करणं न तु तदात्मसंयोगः, त्वल्लक्षणेन तस्यापि करणत्वप्रसंग इत्यर्थः ॥ “ठयापारवतापी”ति । येन क्रियाकारणेन ठयापारवता युक्तः प्रभिनीते तत् करणमिति लक्षणमित्यर्थः ॥ / “एवं ही”ति । व्यापारविशिष्टस्यैव करणत्वात्तस्य व्यापारान्तराभावादकरणत्वं स्यादित्यर्थः ॥

सू०*अथ ठयापारवतो व्यापारांशमपहाय करणत्वं, तत्र चास्त्येवेदं लक्षणं-यस्य करणत्वमस्ति तस्य व्यापारवत्त्वमप्यस्तीति व्यापारवत्करणमुच्यते इति* । न । ^१पटमुद्यम्य निपात्य च प्रक्षालयतः स कर्मैव हि करणं स्यात् । “किंच, किं^(१)तस्य करणत्वम् ? इति लक्ष्यीभूतस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् यद्युक्तलक्षणवत्त्वमेव तत् स्यात्तदात्माश्रयापातः स्यात् । *स्वरूपम्?*-इति चेत्, स्वरूपस्य प्रतिकरणं भिन्नतया एकपरित्यागेनापरत्र लक्षणं गतमित्यतिव्यापकं स्यात्, न हि चक्षुषः स्वरूपं श्रोत्रस्येति । किंचैवमिन्द्रियादेः प्रमाणत्वं न स्यात्, अतद्वतोऽप्यनुमात्रादेः प्रमातृत्वात् । *नासौ प्रत्यक्षम्?*-इति चेन्न, ^२नेदमपि हि प्रत्यक्षमात्रस्य लक्षणं भवती क्रियते ।

टी० ॥ ठयापारवता न विशेषणं, किन्तूपलक्षणमिति शङ्कते-। “अथे”ति ॥ “पटमि”ति । यद्वा नेव करोतीति लक्षणेन प्रक्षालनक्रियायां पटस्य करणत्वापत्तिः, पटवत् एव प्रक्षालनक्रियाकर्तृत्वात् । ‘उद्यम्य निपात्ये’त्यनेन पटवता कर्तृ-रुक्ता ॥ “न कर्मैवे”ति । स=पटः कर्म वस्तुगत्या भवति त्वल्लक्षणेन करणं स्यादित्यर्थः ॥ लक्ष्यतावच्छेदकापरिषये लक्षणमतन्त्रमित्याह-। ^३“किंचे”ति ॥ “स्वरूपमि”ति । स्वरूपं यदि

(१) तस्य=तन्निष्ठं (करणनिष्ठम्) किं करणत्वमिति लक्ष्यता-वच्छेदकत्वेन लक्ष्यीभूतस्यावश्यं वक्तव्यत्वादित्यर्थः ।

लक्ष्यं तदा श्रोत्रेऽतिठयासिः, लक्ष्यीभूतस्वरूपतिरिक्ते गतत्वा-
दित्यर्थः ॥ यद्दानेव प्रमिमीते इत्यत्र दोषान्तरमाह-। /“किंचे”
ति । अनुमितिलक्षणप्रमायां प्रमातुरिन्द्रियव्यवस्थानियमाभावादि-
त्यर्थः ॥ प्रत्यक्षप्रमायामिन्द्रियव्यवस्थानैयत्यमेवेति न व्यभिचार
इति शङ्कते-। ^a“नामाधि”ति ॥ प्रमात्रे यदव्यभिचारस्तत प्रमा-
णमिति भवनो विवक्षितं, नचेन्द्रियलिङ्गादौ कापि तथाऽस्तीति
तदसङ्ग्रह एवेति परिहरति-। ^b“नेदमि”ति ॥

सू० * ननु यद्यपीन्द्रियादेर्विशेषतो व्यावृत्तिस्तदापि
तज्जातीयकरणमात्रतया तज्जातीयमात्रस्याव्यावृ-
त्तिरेव ^(१), 'नह्यनुमित्यादावप्यकरणजातीयवान्
प्रमिमीते इति*? । न । 'करणतया साधारणभावस्या-
द्यापि निर्णेतुमशक्यत्वात् । *अथ यां प्रमां यद्वा-
नेव जनयति तस्यां तत्करणम्*-इति, मैवम्, कौपी-
नाच्छादनादेरपि करणत्वप्रसङ्गात् । *यज्जातिकाम् ?
*-इति चेन्मैवम्, 'परोक्षजातीयां प्रमां लिङ्गवानेव
शब्दवानेव वा जनयतीतिनियमाभावात्तस्याऽकरण-
त्वप्रसङ्गात् । *साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जा-
तिभेदा विवक्षिनाः !*-इति चेन्न, 'प्रत्येकमुपादाने
भागाव्याप्तेः, सम्भूयोपादाने सर्वाव्याप्तेः(२),

टी० ॥ ननु यद्यप्यनुमानिक्यां प्रमायां न सतुरादिनैय-
त्यं तथापि करणजातीयवत्ता कर्तुस्तत्राप्यस्त्येवेति शङ्कते-।
“नन्वि”ति ॥ एतदेव स्फुटयति-। ^b“नही”ति ॥ करणत्वा-
सिद्धौ तज्जातीयवत्ता दुर्यहेति परिहरति-। “करणतये”ति ॥
प्रमाव्यक्तौ यद्व्यवस्थानियमं शङ्कते-। ^a“अथेति ॥ “यज्जातिकामि”
ति । प्रत्यक्षत्वादिप्रमाजातीयजनने कर्तुः कौपीनवत्तानियमो
नास्तीति न तत्रातिठयासिरित्यर्थः ॥ एवं सति शब्दलिङ्गयो-

(१) 'अव्यावृत्तिरेवेत्यतोऽनन्तरं 'सनसः करणजातीयस्य तत्र
विद्यमानत्वादि'ति हेतुः पूरणीयः । (२) सर्वाऽव्याप्तिः=सर्वसम्भवः ।

करणत्वप्रसङ्गः, नहि परोक्षजातीयप्रमाजनने कर्तृरुत्पन्न यव-
त्तानियम इत्याह—। “परोक्षे”ति ॥ परोक्षत्वं न जातिः किंतु
माहात्म्यानुमितित्वाद्य इति ते एव विवक्षिता इत्याह—। “सा-
क्षादि”ति ॥ ‘यद्वा नेष साक्षात्कारिणीं प्रमां जनयती’तिलक्षणे
लिक्षाद्युच्यतेः, यद्वा नेष सर्वां प्रमां जनयतीतिलक्षणे सर्वाऽऽद्या-
प्तिरित्याह—। “प्रत्येकमि”ति ॥

सू० “अनियमेनोपादाने च लक्षणाननुगमापातादिति । *
यद्भावात् कर्तृकर्मणी क्रिया न जनयतस्तत्कर-
णम्, तेन यद्भावात्प्रमातृप्रमेये प्रमां न जनयतस्त-
त्प्रमाणमिति लक्षणम् ? *—इत्यपि न युक्तम् । किं
प्रमातृप्रमेये सती यत्र न जनयतः ? उतासती
अपि ? । “आद्येऽतीतानागतानुमानादिकरणाध्या-
प्तिः नापि द्वितीयः, प्रमातृप्रमेययोरपि प्रसङ्गात्;
‘यथा हि चक्षुराद्यभावात् प्रमा न जायते तथा प्रमा-
तृप्रमेययोरप्यभावात्, अन्यथा तयोः कारणत्वमेव न
स्यात् । “एतेन सामान्यतोभिधानं प्रत्युक्तम्, ‘अ-
स्मदादिकर्तृ सापेक्षेश्वरकर्तृ के चास्मदादिज्ञाने अ-
स्मदादिकर्तृ कारणत्वापत्तेः^(१) । ‘एवं च सति प्रका-
रभेदेनापि प्रमाणप्रमात्रादिष्ववस्थासमर्थना कृता
न स्यात्,

टी० ॥ यस्यकस्यचिदुपादानेननुगम इत्याह—। “अनिय-
मेने”ति ॥ “आद्ये”इति । अतीतादिष्वले प्रमेयासत्वादित्यर्थः ॥
“यथा ही”ति । कारणमाश्रयतिरेकस्यैव कार्यव्यतिरेकप्रयो-
जकतया कारणमाश्रयतिरेकस्यैव ॥ ननु यद्भावात् प्रमा-
तृप्रमेये प्रमां न जनयत इत्येव लक्षणं, न तु तयोः सत्त्वमसत्त्वं
सा विवक्षितमित्यत आह—। “एतेने”ति । कारणमाश्रयतिरे-

१ अस्मदादेः कर्तृरस्मदादिज्ञाने कारणत्वापत्तेरस्मदादिष्वतिरे-
केवास्मदादिज्ञानस्येश्वरेणाप्यजननादित्यर्थः ।

पथैवेत्यर्थः ॥ ईश्वरस्य कर्तृरस्मदादिठयतिरेकेण प्रमानुत्पाद-
कत्वाद्स्मदादीनामपि करणत्वं स्यादित्याह । “अस्मदादी”
ति ॥ एष च प्रवृत्तिनिमित्तभेदा^(१)दपि करणत्वादिठयवस्था न
स्यादेकेनैव प्रकारेण तदुपपत्तेरित्याह—/“एवं चे”ति ॥

सू० “येनैव रूपेण (कर्तृत्वादिना) तस्य प्रमायामन्वय-
स्तेनैव तद्व्यतिरेकस्य प्रमानुत्पत्तौ प्रयोजकत्वा-
दिति । * चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वम् ? *-इत्यपि
न, 'व्यापाराभावलिङ्गपरामर्शस्याकरणत्वापातात् ।
* नच मविकल्पकव्यापारवतो निर्विकल्पकस्य तत्र
प्रामाण्यं*, 'केवलविकल्पनीयलिङ्गविषये तदनुपपत्तेः,
“संस्कारादिपर्यन्तानुसरणे चानुमितेस्तज्जन्यत्वे प्र-
माणाभावात्, कार्यार्थहेतोश्च कारकाव्यापारत्वात् ।
'अपि चाज्ञातकरणत्वापातात् । *नच लिङ्गमेव परा-
मर्शव्यापारवत्तया करणम् इति युक्तम्*, 'अनुमिता-
नुमानादौ ^(२) परामर्शस्यालिङ्गजत्वेन तद्व्यापार-
वत्त्वानुपपत्तेः ।

टी० ॥ ननु स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं कर्तृनिष्ठप्रमाठयतिरेकप्रयो-
जकठयतिरेकप्रतियोगित्वं च करणत्वमिति कथं नोपाधिभेद
इत्यत आह—। “येनैवेति । कार्यठयतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्र-
तियोगित्वस्य सर्वकारणसाधारणत्वादिति भावः ॥ कर्त्रादि-

(१) प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्=प्रकारभेदात् । (२) अनुमितेति,
महत्त्वं क्वचित्प्राप्तकाष्ठाकं धर्मत्वादित्येवमनुमितेन परममहत्त्वादिना
यद् आकाशादावाकाशः सर्वगतः परममहत्त्वादिति सर्वगतत्वाद्यनुमानं
तत्र परममहत्त्वस्य हेतोर्न क्वचिद्विषयकपरामर्शजनकत्वं, पारिभाषिकत्वा-
त्माऽवृत्तिपरममहत्त्वमिच्छानामेव कारणत्वसाधर्म्यात्, तथा च तत्र
लिङ्गस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणत्वमयुक्तमिति फलिकार्यः । यद्वा,
प्रत्यक्षात्मकज्ञाने एव विषयस्य कारणत्वेनाकाशोऽयपरममहत्त्वपरामर्शस्य
चानुमित्यात्मकत्वेनाऽप्रत्यक्षत्वात् तत्र परममहत्त्वबलकथलिङ्गस्य विषय-
विधवा जनकत्वमिति बोध्यम् ।

ठयापारापेक्षया चरमत्व विवक्षितं, लिङ्गपरामर्शं ठयापारवत्त्वं नास्ति कुत्र चरमत्वमिति तदव्याप्तिरित्याह— “ठयापाराभावादि”ति ॥ “केवले”ति । अभावसमवायादिः केवलमविकल्पकनात्रवेद्यः केवलविकल्पनीय, स्तत्र निर्विकल्पकाभावादित्यर्थः ॥ ननु संस्कार एव ध्वंसो वा परामर्शठयापारः स्यादित्यत आह— “संस्कारे”ति । नहि तज्जन्यत्वमात्रं ठयापारलक्षणं, किंतु तज्जन्यजनकत्वपर्यन्तमित्यर्थः ॥ लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेनुमितेरज्ञानकरणतया प्रत्यक्षत्वापत्तिरित्याह । “अपिचे”ति ॥ “नच लिङ्गमेवे”ति । तच्च^(१)ज्ञानमेव कारणमित्यर्थः ॥ “अनुमिते”ति । आकाशादौ परममहत्त्वादिना सर्वगतत्वाद्यनुमानादौ लिङ्गपरामर्शस्य लिङ्गाजन्यत्वान्न तद्व्यापारकतया लिङ्गस्य करणत्वमित्यर्थः ॥

म० “आप्तोक्त्यादिभिस्तत्रासीद्धूम इति प्रतीत्या तदा तत्र वन्हिरप्यासीदिति यदनुमानं तत्रासत्त्वाद्धूमस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणताया दूरनिरस्तत्वात् । किंच, यत्किञ्चिदपेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य सर्वकारकसाधारण्यात्, सर्वकारकापेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य स्वापेक्षया चरमत्वानुपपत्त्या सर्वत्रासिद्धेः । * कर्त्रपेक्षया * ? इति चेन्न, ‘कर्तृधर्मिमात्रापेक्षया विवक्षितत्वे कर्त्तरि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्; व्यापारवत्कर्त्रपेक्षाभिप्राये च कर्त्तरि न एव प्रसङ्गः, “एकव्यापारवत्कर्त्रपेक्षयाऽपराऽपरकर्तृव्यापारस्य चरमव्यापारत्वात्, यावद्व्यापारवत्कर्त्रपेक्षापक्षे तु विवक्षितमपि करणं न स्यात्. आफलसिद्धेः कर्तृव्यापाराविरामात् ।

टी० ॥ आदिपदग्राह्यमाह—। “आप्ते”ति । आप्तवा-

(१) तद्=लिङ्गम् ।

क्यात् स्मरणाद्वा अतीतधूनादिपरामर्शनातीतवन्त्याद्यनुमाने
लिङ्गस्य व्यापाराभावात्^(१) करणत्वमनुपपन्नमित्यर्थः ॥ ^७“स्वा-
पेक्षये”ति । यद्यपि स्वापेक्षयापि स्वव्यापारस्य अरमत्वं सम्भ-
वति तथापि व्यापारविशिष्टस्यैव करणत्वमिति विवक्षित्वे-
दमुक्तम् ॥ ^८“कर्त्तृवर्गी”ति । कर्त्तृव्यापारस्यापि कर्त्तृपेक्षया अर-
मत्त्वादित्यर्थः ॥ प्रसङ्गमेव स्फोरयति—^९“एके”ति ॥ यावत्कर्त्तृ-
व्यापारापेक्षया अरमत्वं विवक्षितमनेन न कर्त्तृरि प्रसङ्ग इत्यत
आह—^{१०}“यावदि”ति । कलाद्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तं कर्त्तृव्यापार-
सत्त्वात्पदपेक्षया अरमत्वं करणव्यापारस्य नास्तीत्यसंभव इत्यर्थः ॥

मू० “व्यापारस्य विच्छेदे तद्धेतुलक्षणप्रक्षीणतापत्तेः । *
यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते तच्चरम-
व्यापार^(२)मिष्टम् ? *—इति चेन्न, “शेखरपक्षे कर्त्तृ-
व्यापाराविरमात् तदाऽऽनन्तर्यासिद्धस्तत्करणत्वा-
पातात्, “अनीश्वरपक्षे चाक्षयोगादिभिरेव स्वव्यापारे
कर्मण्यपि प्रसङ्गात् । “द्वेद्यादेर्हि करणसंयोगादि-
व्यापारश्चरम एवेति कुतस्तद्व्यवच्छेदे, “हस्ताद्य-
व्याप्तेश्चेति । *अनन्तरफलं^(३)करणम् * ?—इत्यपि
न, अविशेषिताऽऽनन्तर्यस्य सर्वकारणसाधारण्यात्,
अध्यवहितानन्तर्यस्य व्यापार्यपेक्षस्य च^(४)यागा-
द्यव्यापनात्, व्यापारापेक्षस्य च हस्ताद्यव्यापनात्;

टी० ॥ ननु कारकान्तरव्यापारमुत्पाद्य कर्त्तृव्यापारविच्छेदे
सम्भटत्येव कर्त्तृव्यापारापेक्षया अरमभावी करणव्यापार इति
नासम्भट्येव इत्यत आह । ^५“व्यापारस्ये”ति । तर्हि तद्व्या-

(१) लिङ्गस्यैव तत्राभावेन तत्सम्बन्धिष्यव्यापारस्याप्यभावादित्यर्थः ।

(२) अरमव्यापारो यस्यास्ति तच्चरमव्यापारम्, “अरमव्यापारत्वम्”
—इति पाठस्तु ग्रामादिकः । (३) अनन्तरम् अध्यवहितान्तरं विदादि-
रूपं फलं यश्च तदिति बहुव्रीहिः । (४) चकारो भिन्नक्रमः “अध्यवहि-
तानन्तर्यस्येत्यनन्तरं सम्बन्धते ।

परममनोपक्षीयव्यापारः कर्ता कारणमेव न स्यादभ्यधासिद्ध-
त्वादित्यर्थः ॥ ^७“शेखरे”ति । अन्यतन्तुसंयोगादिलक्षणचरम-
ठयापारस्यापीश्वरकर्म्यतया तदीयत्वं, तदनन्तरं ^(१)च कार-
कान्तरं न ठयाप्रियते इतीश्वरकरणात्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ^८“अग्नी-
श्वरे”ति । इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणकरणव्यापारस्य कर्मसाधारण-
तया कर्मशयतिठयाप्रित्यर्थः ॥ न केवलं ज्ञानकर्मणि, किंतु
छिदादिक्रियाकर्मशयपीत्याह— ^९“छिदादेरि”ति ॥ ^{१०}“हस्ते”ति ।
तद्द्वयापारस्याचरमत्वादित्यर्थः ॥ ^{११}“अठयवहिते”ति । अठयव-
हितोत्तरक्षणवर्त्तिकलकत्वम् ? अठयवहितोत्तरक्षणवर्त्तिकलठया-
पारवत्वं वा नद्विवक्षितम् ? आद्ये—“यागादी”ति । अन्ये—
“हस्तादी”ति ॥

सू० “व्यापारपरम्परापेक्षस्य सर्वकारकव्यापनात् । किंच,
तत्कार्यो यदि ^(२)क्रियाहेतुस्तद्द्वयापार इष्टस्येन्द्रि-
यकार्यो लिङ्गपरामर्शानुमितिक्रियाहेतुरीन्द्रिय-
करणिकानुमितिः प्राप्ता । * अथ हेतोः सतः कार्यः
क्रियाहेतुस्तद्द्वयापारः, तथा सति चानुमित्यहेतोरि-

(१) यद्यपि कदाचिद् ईश्वरव्यापारोपरमे एव तदानन्तर्यमपि
स्यान्नत्वेतदर्शनं “शेखरपक्षे कर्तृव्यापाराऽविरमादि”ति मूले। क्तेस्तथा
च “तदनन्तरमि”त्युक्तेर्विरोधः प्रतिभाति तथापीश्वरीयसामान्यव्यापा-
रत्वेन तदानन्तर्याऽसिद्धिरन्यतन्तुसंयोगादितस्तद्द्वयापारत्वेन चान-
न्तर्यावधित्वमिति न विरोधः । मूलेपि च अन्यतन्तुसंयोगादिलक्षण-
चरम व्यापारस्यापीश्वरीयत्वे कर्तृव्यापाराऽविरमादिति हेतुर्बोध्यः,
कारकान्तरव्यापारस्य च तदानन्तर्याऽसिद्धिरिति ध्येयम् । व्याख्यानतरा-
ऽभिप्रेतोश्च मूलस्य यथाश्रुतोऽर्थस्तु-ईश्वरव्यापारः प्रयत्नरूपस्तस्य
नित्यत्वात्तदनन्तरमपि कारकान्तरं न व्याप्रियते तदानन्तर्याभावात्क-
र्तुरीश्वरस्य करणत्वं स्यादिति (२) यदि तत्कार्यः (= कुठारादिकर-
णकार्यः) क्रियाहेतुः (=कलीभूतच्छिदादिक्रियाहेतुः,—उद्यमननिपा-
तनादिः) तद्द्वयापारः (=कुठारादिकरणव्यापारः)—इत्यन्वयः । “यदि
क्रियाहेतुस्तद्द्वयापारः”—इत्यस्य स्थाने “यत्क्रियाहेतुस्तद्द्वयापारः”इति
पाठस्तु भ्रमविकृम्भितो ज्ञेयः । यद्वा, यादृशक्रियां प्रति हेतुस्तद्द्वया-
पारः=तादृशक्रियाजनककरणव्यापारा इति तदर्थः ।

न्द्रियस्य कुतः करणत्वं स्यात् *-इति, मैवम् । किं तद्धेतुत्वं यन्नास्त्यनुमिताविन्द्रियस्य ? । * नियत-पूर्वभावित्वम् ? *-इति चेत्, अस्ति तावत्पूर्वभावित्वं, नियतत्वमपि यदि कारणतायां प्रयोजकमिच्छसि तदा भवतैव यतितव्यं "केनचिद्रूपेणेन्द्रियादेर्नियतत्वं प्रति, अन्यथा लिङ्गेन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारादकरणिकैव प्रमा स्यात् ।

टी० ॥ ननु हस्तस्यापि पाकाद्यवहिततेजःसंयोगादिव्यापार एवेति नाठ्याप्तिरित्यत आह-। "व्यापारे"ति । कर्तृ-कर्मणोरपि परस्परया तद्व्यापारकत्वादित्यर्थः ॥ अव्यवहितानन्तरफलकठ्यापारवशत्वे करणलक्षणे दोषान्तरमाह-। "किंचे"ति । तज्जन्यस्तद्व्यापारः ? तज्जन्यः संस्तज्जन्यजनको वा ? वक्ष्यथापीन्द्रियस्य परामर्शठ्यापारकतयानुमितिकरणत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ नन्विन्द्रियस्य परामर्शस्तदा व्यापारः स्याद्यदीन्द्रियमनुमितिकरणकं स्यान्नचैवमित्याशङ्कते-। "अथेति"। "केनचिदि"ति । प्रमात्वावच्छिन्नकार्यं प्रति प्रमाणात्वेन कारणतायां प्रमाणजातीयस्येन्द्रियस्यापि प्रमानियतपूर्ववर्तित्वस्य त्वयैवेष्टयत्वादित्यर्थः ॥ ननु प्रमानात्र प्रति प्रमाणात्वेन न कारणता, किं नामेन्द्रियत्वलिङ्गत्वादिनेति नेारुदोष इत्यत आह-। "अन्यथे"ति । समान्यवच्छिन्नं प्रति विशेषेण कारणता व्यभिचारात् सम्भवतीत्यर्थः ॥

मू० "मनःसंयोगादेरेव तथात्वे चाप्रमासाधारण्यम् ?^bअपिचाक्षादेरकरणात्वापातः, यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकं तद्विशेषस्यैव तद्विशेषे प्रयोजकत्वनियमदर्शनात्; ततो येन केनापि रूपेणेन्द्रियस्य प्रमायां नियतत्वमुपपाद्यते तेनैव रूपेण प्रसङ्गोपपत्तिः । * अथ प्रमात्वे तत् प्रयोजकं, नानुमितित्वादी *-इविति चेन्न, "निरुपाधिकत्वाविशेषेणोक्तार्थाना-

धिक्यात्; समान्यप्रयोजकत्वेन विशेषत्यागानवका-
शात्; अन्यथा व्यक्तेरकरणात्वापत्तेः ।

टी० ॥ ननु तथापि नेन्द्रियस्याऽनुमितिकरणत्वं, यतः^(१)
प्रमात्वावच्छेदेन व्यापकस्य मनःसंयोगस्यैव करणत्वकल्पना,
दित्यत आह—। “मन” इति । प्रमात्वावच्छेदेन मनःसंयो-
गस्य न कारणत्व किंतु ज्ञानत्वावच्छेदेनैवेति न तस्य प्रमाणात्व,
प्रमां प्रत्यासाधारणकारणस्य प्रमाणात्वै। चित्यादित्यर्थः ॥ “अपि
चे” ति । इन्द्रियलिङ्गादिसाधारणरूपेण प्रमां प्रतीन्द्रियादेरकर-
णत्वे माहात्कारादिकारणतापि न स्यादिति सामान्येन प्रयो-
जकतायामिन्द्रियस्यापि तेन रूपेणानुमितिनियनपूर्ववर्तितया-
ऽनुमितिकरणत्वं स्यादेवेत्यर्थः ॥ सामान्येन रूपेण सामान्यं
प्रतिकारणता न विशेषकारणताऽऽपादिकेति शङ्कते— “अथ
प्रमात्वे” इति ॥ कार्यसामान्यकारणसामान्ययोश्चेन्निरुपाधिः
सबन्धस्तदा विशेष्यारपि स वाच्य ए- युक्तभावर्तते, इति
परिहरति—। “निरुपाधिकत्वेति ॥ अत्र विपक्षे बाधकमाह—।
“अन्यथे” ति । सामान्यावच्छेदेन यत्करणत्वं तद्यदि विशेषे
न स्यात्तदा व्यक्तिः करण न स्यादित्यर्थः ॥

सू० *अथाऽन्यत्रास्तु यद्वा तद्वा करणं, प्रमा^(२)विवक्षित-
तजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम् । “चतस्रः खल्वि-
माः प्रत्यक्षादिप्रमितयो भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजः, नच
प्रमाता प्रमेयं वा तद्भेदहेतुः, प्रमाणानि तु यथा-
यथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिब-
न्धनानीति ? * । मैवम् । विवक्षितपदं तावल्लक्षणे
‘भाग्यलालेख्य (३) मिव, पुरुषेच्छानामनियतविषय-

(१) “यतः” “कल्पनात्” - इत्युक्तिस्त्वस्य (वक्तुः) सरलस्वभावतां सूचयति ।

(२) प्रमेति, प्रमायां विवक्षिता ये जातिविशेषाः प्रत्यक्षावानुमितित्वाद्यः
तद्द्वयपदेशकम् = तद्द्वयपदेशहेतुरित्यर्थः । व्यपदेशहेतुरित्युपलक्षणं बुद्धि
हेतुत्वस्यापि । (३) “भग्यलालेख्यमिव” - इति तु विद्यावागरसंमतः पाठः
तदर्थस्तु यथा भग्यलालेख्य = लिखकस्य, भाग्यलालेख्यं, “पुत्री न पुत्री ।” - इति,
विवक्षावशात्पुत्रपुत्रीभयपक्षेपि योजयितुं शक्यं तथेत्यर्थः ।

त्वात् "अर्थजत्वस्य साक्षात्कारित्वं प्रतीन्द्रियजत्वा-
विशिष्टतयाऽर्थस्यापि करणत्वप्रसङ्गात् । "आप्तोक्तौ
कर्तुरपिशाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेनातिप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ ननु करणानिरुक्तावपि प्रमाणं सुवचमेवेत्याह—
"अन्यत्रे"ति ॥ प्रमाजातिविशेषणपदेशकत्वमेव स्फुटयति—
"चतस्र" इति । तथाच तादृशानाधारणजातिष्वपदेशासाधा-
रणत्व प्रमाणात्वं, भवति हि 'लैङ्गिकी प्रमा' 'शाब्दी प्रमे'ति
उपदेश इति भावः ॥ "भाष्यालेख्यनिवे"ति । यथा,ऽऽले-
ख्यं=रेखापरेखादि^(१)सर्वभाष्य भाषारणं, न भाष्यविशेषलक्षणं,
तथा पुरुषाधीनविवक्षापि न विशेषिकेत्यर्थः ॥ ननु विवक्षित-
प्रमाजातीयत्वं साक्षात्कारित्वादिजातीयैव विवक्षितं, तथाच
तत्तद्साधारणकारणत्वेन लक्षणं न भाष्यालेख्यन्यायमनुहरती-
त्यत आह— "अर्थजत्वस्ये"ति । अर्थः=कर्म, नदपि साक्षात्का-
रिज्ञाने करणं स्यात्, तस्यापि उपदेशकत्वादित्यर्थः ॥ कर्म-
ण्यतिष्ठयामिमुक्त्वा कर्तुरि आह— "आप्ते"ति । आप्तः=
कर्ता, शाब्दीं प्रमां प्रत्यसाधारण्येन विशेषक एवेत्यर्थः ॥

सू० "डीमित्युत्तरे च पूर्वोक्तमिति । "विवक्षितजातिभे-
दौपयिकत्वेन^(२)प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्र-
माणमित्यप्यत एव प्रत्युक्तम् । इति प्रमाकरणानि-
रुक्तिदूषणानि ।

एवं^(३)विशेषतोपि प्रमाणलक्षणानि प्रतिवक्तव्यानि ।

(१) यद्यपि तत्तद्भाष्यगतं रेखापरेखादि तत्तद्भाष्येऽसाधा-
रणमेव तथापि रेखापरेखाशब्देन तन्निर्मिता हस्यादेराकारा ग्राह्याः,
ते च सर्वभाष्यसाधारणा एवेति भावः ।

(२) "विवक्षितजातिभेदौपयिकत्वेने"ति, "विशेषकमि"त्यनेनाऽ
भवेति ।

(३) { ग्रन्थेनैतावताऽखण्डि प्रमात्करणे तथा ।
तत्प्रसङ्गवशात्प्रामं प्रत्यभिज्ञाखण्डि च ॥
तेन मानादिकस्योक्तौ वादिनां यो दुराग्रहः ।
कथास्वावरयकत्वस्य भङ्गितः खण्डनेक्तिभिः ॥ }

तथाहि,—“प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम-
व्यभिचारी”त्याहुः^(१) ।

टी ॥ नन्वाप्तोऽपि प्रमाणात्मेव, कथमन्यथा “नन्त्रायुर्वेद-
प्रमाणाद्यवच्छेदं तत्प्रमाणाद्यनाप्तप्रमाणाख्यादि”ति पारमर्षं सूत्रनि-
त्यत आह—। “दोमि”ति । किमेनित्यभिधायैव निर्वृतेऽ
भवामि”त्यादिना पूर्वमेव बाधकस्योक्तत्वात् । नन्त्रायुपगमा-
धीनमर्थं तथात्वमित्यर्थः ॥ नन्वात्मनःसंयोगः प्रमित्यसमवा-
यिकारणं, तद्विशेषकं लिङ्गशब्दादिप्रमाणं, तथाच प्रमित्यसमवा-
यिकारणव्यपदेशकं प्रमाणासिद्धिं लक्षणमास्तामित्यत आह ।—
“विवक्षिते”ति । विवक्षान्तर्भावैवैव तदपि भाव्यत्वेरुपनिष,
किञ्च, अर्थस्य=(कर्मणः)कर्तुं श्चाप्तस्य करणत्वप्रसञ्जकमित्यर्थः ॥

“एवमि”ति । प्रमाणाद्यसामान्यलक्षणदूषणानि कियन्ति-
विद्विशेषलक्षणेपि बोद्धव्यानीत्यर्थः यद्वा, । “एवमि”ति स्व-
नीयत्वमात्रमतिदिशति, तेन “तथाहीत्य”स्य सङ्गतिः ॥

म० “किमर्थमिदमुच्यते ? किं सजातीयविजातीयव्यव-
च्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थं ?-१ उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये
तच्चिह्नोपदर्शनमिदम् ?-२ उत व्यवहारार्थम् ?-३ उत
प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम् ?-४ उता-
न्यत्किञ्चिदर्थमेव ?-५ । नाद्यः । तथाहि,—किं ‘सजा-
तीये’ति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यमपेक्षितं ? रूपान्त-
रेण वा ? नाद्यः, ‘तस्माद्भवच्छेदावधेः सजातीया-

इति श्रीमदुदासीनवर्णं श्रीसुकुन्ददाशशिष्येण श्रीराममिश्रया-
विष्णोऽधिगतवेदवेदाङ्गादिविद्विषयविद्येन श्रीमोहनजाल-कां० यो० वे-
दान्ताचार्येण प्रणीतायां गर्तप्रदर्शिन्यां सामान्यतः प्रमाप्रमाणखण्डनम् ।

{ स्वच्छन्दं प्रतिजानीते श्रीहर्षोऽयं विशेषतः ।
{ मानानां, मानभङ्गार्थं वादिनां मानमानिनाम् ॥ }

(१) प्रथमाध्याये प्रथमाह्निके चतुर्थसूत्रे न्यायाचार्या गीतमसहस्रं
आहुरित्यर्थः ।

दव्यावृत्तत्वे^(१) व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्व-
स्वीकारेणाव्यापकत्वात् । "नापि द्वितीयः, विजाती-
यपदोपादानवैयर्थ्यात् । अस्ति हि प्रमेयत्वादिना
सर्वसाजात्यम् । "अथ प्रमाणत्वादिना विश्लेषेण
साजात्यं विवक्षित्वेदमुच्यते, "तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमा-
णत्वेन साजात्यात् व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया सङ्-
ग्राह्यताऽभावप्रसङ्गः ।

टी० ॥ लक्षणस्य व्यतिरेक्यनुमानत्वेन पराभिमतस्य
प्रयोजनं खण्डयितुं विरूपयति । "निमित्तमिति । तत्प्र-
तीत्यर्थं = लक्ष्यप्रतीत्यर्थम् ॥ लक्ष्यलक्षणमात्रखण्डनमपीदं प्रत्य-
क्षस्य सर्वप्रमाणमूलत्वादिद्वैव^(२)प्रस्तौति- । "तस्मादि"ति ।
यतः प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षं व्यावर्तनीयं तत्रैव लक्षणमस्वे ऽव्यावृत्तेर-
नुपपत्तिः, असत्त्वे तदव्याप्तिर्लक्षणदोष इत्यर्थः ॥ रूपान्तरेण
साजात्यमस्तिममिति खण्डयति- । "नापी"ति । प्रमेयत्वा-
दिना सर्वं सजातीयमेव, तथाच कस्योपग्रहाय विजातीयपद-
मित्यर्थः ॥ ननु "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानी"ति-
सन्ने^(३)प्रमाणसामान्यं विभक्तं, तथाच प्रमाणत्वेन सजाती-
येभ्योऽनुमीनादिभ्यो विजातीयेभ्यः प्रमेयसंशयादिभ्यः प्रत्यक्षम-
नेन लक्षणेन व्यावृत्तं शोध्यते, इति शङ्कते- । "अथे"ति ॥
प्रमाणत्वेन सजातीयाद्व्यवच्छेदो यदि लक्षणफलं तदा स्वस्मा-
दपि व्यवच्छेद एव स्यादिति परिहरति- । "तर्ही"ति ॥

मू० * लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयं तद्व्यव-
च्छेद्यं, न च लक्ष्यस्य लक्ष्यं सजातीयं, षष्ठ्यर्थस्य भेद-
व्यवहितत्वात्?*-इति चेत्, ^bएवंतर्हि लक्ष्यापेक्षया
भिन्नाद्व्यवच्छेद इत्येवोच्यतां, कृतं प्रमाणत्वादिना
साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन, 'यदा च

(१) प्रत्यक्षलक्षणस्याऽव्यावृत्तत्वे इत्यर्थः । (२) द्वैव=प्रत्यक्षस्यैव एव ।
लक्ष्यलक्षणमात्रखण्डनमपि प्रस्तौतीत्यन्वयः । (३) प्रथमाध्याये प्रथमा-
ह्निके तृतीयं गौतमीयं सूत्रम् ।

लक्ष्यादन्यत्वं परेषामवगतं तदा परस्मादन्यत्वमपि लक्ष्यस्यार्थादवगम्यते इति सिद्धमग्रत एव लक्षणप्रयोजनमिति वैयर्थ्यमेव स्यात् लक्षणाख्यानस्येति । अस्तु वा विवक्षावैचित्र्यवशात्कथमपीदृशमभिधानं, तथापि "न तावदनेन लक्षणोनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवः, अतिप्रसङ्गात् । नापि ज्ञातेन, दुरवधारणत्वात् । न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षात्पत्तिः प्रत्यक्षा, 'अप्रत्यक्षविशेषणत्वात् ।

टी० ॥ ननु स्वयमेव न स्वमजानोयं, किंत्वनुमानादि तथेति नेकदोष इत्याह— "लक्ष्यस्ये"ति ॥ एव मति लक्ष्य भिन्नव्यवच्छेदफलकं लक्षणमित्येवोच्यते सजातीयव्यवच्छेदफलकत्वोक्तिरतन्त्रमिति परिहरति— "एवमि"ति ॥ ननु तथैवास्तु, तावनापि लक्षणमफलमेवेत्यत आह— "यदा चे"ति । परेष्यः प्रत्यक्षस्य भेद विना परेषां प्रत्यक्षद्विन्नत्वमनुपपन्नमित्यर्थवशात्तद्विन्नत्वमित्यर्थः । विवक्ष वैचित्र्य=लक्ष्यभिन्नव्यवच्छेदफलकत्वं समानाऽसमानजातीयव्यवच्छेदफलकत्वं वा लक्षणस्येत्यभिधानवैचित्र्यमित्यर्थः ॥ दुरवधारणत्वमेवाह— "न तावदि"ति ॥ 'अप्रत्यक्षे'ति । इन्द्रियस्य तन्सन्निकर्षस्य वाऽप्रत्यक्षतया प्रत्यक्षेण तद्विशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

सू० "नापि कार्येण लिङ्गेन तदनुपपत्त्या वा तदवगमः, ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगता-नुगतरूपासिद्धा^(१)वेकरूपलक्षणाऽसिद्धः । * 'कार्यस्यैकजात्यादेकजातीयकारणसिद्धिः ? *—इति चेत्, ^dतर्हि कार्यगतैकजात्यस्य पूर्वमवश्यप्रत्येत्यवत्वाङ्गीकारे तत एव सजातीयविजातीयव्यवच्छेदप्रती-

(१) कारणगतस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वार्थजत्वादेरनुगतस्य रूपस्याऽपि ज्ञावित्यर्थः ।

तिरस्तु, कृतमनया पारम्पर्यकुसृष्ट्या^(१) । * 'नन्वे-
तावतापि न प्रकृतलक्षणखण्डनं भव, त्यव्याप्तेरति-
व्याप्तेर्वाऽनुद्भावेनात् * । मैवम्, प्रथमभावितयाऽव-
श्यानुष्ठेयतया वा लघोरुपायात्साध्यसिद्धौ भवन्त्यां
चरमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावेन च गुरावुपाये
प्रवर्तमानस्य तवैवेद दोषोद्भावनं प्रदीपे प्रदीपं
प्रज्वाल्य^(२) तमोनाशाय यतमानस्येव पुंसः । नहि
तस्य दीपान्तरस्य कश्चिद्दोषः, किन्तु तथाकारी
पुरुष एव पर्यनुयोज्यः । सर्वसाधनसाधारणोऽयं दोषः
यत्सम्भवदेवविधिलघूपायत्वं^(३) नाम, स्वरूपासिद्धि-
रिव^(४) सर्वप्रमाणानाम् । तस्मान्मा नाम भूदति-
व्याप्त्यादिदोषः, सामान्यदोषादेवेदं लक्षणं दुष्ट-
मिति ।

टी० ननु प्रत्यक्षस्येतरभिन्नत्वेन ज्ञानं लक्षणमाध्यमिति
तदेव^(५) लक्षणे लिङ्ग, तदन्यथानुपपत्तिर्वा लक्षणज्ञापिकेत्यत
आह- । “नापी”ति । यद्वा. माहात्कारिजातीयं ज्ञानमिन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षं स्वकारणमनुभापयिष्यतीत्यत आह- । “नापी”
ति ॥ ^b“साभ्यामि”ति । लिङ्गानुपपत्तिभ्यामित्यर्थः ॥

(१) साहात्कारिज्ञानत्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षत्रयमनुभास्यं ततश्च
तस्य लक्षणत्वं वक्तव्यमिति पारम्पर्यस्य कुसृष्ट्या (=दुहृत्या) कृतमल-
मित्यर्थः । (२) प्रदीपं प्रज्वाल्य प्रदीपे तमोनाशाय यतमानस्य पुंस
इत्येवम्वयः । (३) सम्भवत्येवविधौ लघूपायो यस्य गुरुपायवत्तः स
सम्भवदेवविधिलघूपायवत्तस्य भावस्तस्यमिति विग्रहः । सम्प्रतिपक्षवदेवाद्यं
सम्भवलघूपायोऽपि दोषो बोध्यः । (४) स्वरूपासिद्धिः = स्वरूप-
तोऽसिद्धिः । सा चाऽनुमितौ शुकुटैव । 'इदं रजतमि ति प्रत्यक्षेण रज-
तरूपार्थस्याऽवच्छेदेन, एतद्धस्तिवदृशी मदीया गौरित्युपमितेभ्यात्वंत्तं
विवदृशयोः सादृश्यावगाहित्वेन, वन्दौ भूमोपपाद्यत्वभ्रूमेण वन्द्यान्वया-
नुपपत्त्या भूमकल्पनारूपार्थापत्तेरपि वस्तुतोऽनुपपाद्यादनुपपादककल्प-
नारूपत्वेन च स्वरूपासिद्धिर्बोध्या । (५) तदेव = इतरभिन्नत्वेन ज्ञानमेव

साक्षात्कारवच्छिन्नकार्यं प्रतीन्द्रियार्थसन्निकर्षत्वेनैव कारयतेति तदेव^(१) तेनानुमेयमिति शङ्कते—। “कार्यस्ये”ति ॥ तर्हि साक्षात्कारिज्ञानत्वमेव प्रत्यक्षलक्षणमस्तु, क्लममनुमितलक्षणेने, ति परिहरति^(२)—। “तद्ही”ति ॥ लक्षणदूषणाय प्रवृत्तस्यान्यासिधायनमप्रस्तुतमिति शङ्कते—। “नन्वि”ति । प्रथमसाधित्वं = लक्षणात् पूर्वमेवोपस्थितत्वम् । अवश्यानुष्ठेयत्व = लक्षणज्ञानार्थमवश्यानुसरणीयत्वम् । लक्षण^(३)दोष एवायं यत्प्रमत्तवद्गुणपायत्वं त्वदकौशलस्थापनमूलेनोद्भाव्यते इति परिहारार्थः ॥

सू० एतेन द्वितीयोपि निरस्तः, साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तदवगमानुपपत्तेः; तदवगमाञ्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गः । अस्तु वाऽन्यद^(४)पि किञ्चिदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं तथापि तदेव^(५) साक्षात्कारित्वाविनाभूततया प्रत्यक्षलक्षणमुपन्यस्यतां, सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वात् । * नच तद्^(६)वश्यं व्यापकं वक्तव्यं, लिङ्गस्य तद्व्याप्यत्वेनैवोपपत्तेः?—इति चेन्न ।

टी० । ‘साक्षात्कारिज्ञोपदर्शनमिति पक्ष दूषयति—। ‘एतेने’ति । साक्षात्कारित्वेनेन्द्रियार्थमन्निकर्षोत्पन्नत्वमनुमेयं, तच्च ज्ञात सत्साक्षात्कारित्ववच्छिन्नकमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः । यद्यपि साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षमेव तथापीन्द्रियजन्यत्ववच्छिन्नमेवोपपत्तौ ॥ नचवर्णनत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमनुमाय तेन साक्षात्कारमनुमास्यते, इति नान्योन्याश्रय इत्यत आह—। “अस्तु वे”ति ।

(१) तदेव=इन्द्रियार्थमन्निकर्षत्वावच्छिन्नकारणमेव, तेन=साक्षात्कारवच्छिन्नकार्येण । (२) नन्वेतावतापि ममेव दोषोऽभिहितो न लक्षणस्येत्याशङ्क्यायामह-लक्षणमिति । (३) अन्यद = अर्थजत्वम् । (४) तदेव = अर्थजत्वमेव । (५) तद् = अर्थजत्वं प्रत्यक्षस्य लक्ष्यस्वावश्यं व्यापकम् = अनुगतं लक्षणं वक्तव्यं न च भवति, साक्षात्कारित्वलिङ्गस्य मस्य तद्व्याप्यत्वेन = साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वेन साक्षात्कारित्वव्याप्येन्द्रियजत्वव्याप्यत्वेन वा तन्न्यूनदेशवृत्तित्वात् किञ्चिदिन्द्रियजत्वमेवानुगतं लक्षणमित्यर्थः ।

तथाभार्यजत्वमेव प्रत्यक्षत्वे लिङ्गमस्तु, व्याप्यव्याप्यस्य सुमरां
 व्याप्यत्वा^(१)दिनि किमिन्द्रियजन्यत्वेनेत्यर्थः । सन्निरहितप्रतिप-
 त्तिकत्व = प्रथमोपस्थितत्वम् । 'अर्थजत्वस्येन्द्रियजत्वेनावि-
 नाभावो गृहीतो, न तु साक्षात्त्वेनेति न वाच्यं * , तुल्यसामर्थी
 (२) कृत्वादि,ति भाष ॥ नन्विन्द्रियजत्व सकलप्रत्यक्षव्यापक,
 मिति तदेव साक्षात्कारित्वस्य लक्षण, नन्विन्द्रियजत्वानुमा-
 पकं यस्मिन् लक्षणो भवितुमर्हति, लिङ्गस्य^(३) तद्व्याप्यमात्र
 स्यापि मन्वेन प्रत्यक्षस्य लक्ष्यस्याव्यापकत्वादिति शङ्कते ।
 "नच तदवश्यमिति ॥

मू० "यत्र लिङ्ग^(४)मव्यापकत्वान्नास्ति तत्रेन्द्रियजत्वस्य
 प्रमाणाभावात् प्रत्येतुमशक्यत्वेन कथं ततः साक्षा-
 त्कारित्वावगमः ? । यदा^(५)तु क्वचित्प्रत्यक्षजातीये
 एव प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वमनवधारणीयतया सा-
 क्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणं, तदा
 किमपराद् लिङ्गान्तरेणा^(६)व्यापकेन । * 'अथ यत्र
 तदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र लिङ्गान्तरात्प्रत्ये-
 तव्यस ? * । 'एवमपि तदेवास्तां साक्षात्कारित्वे
 लिङ्ग, कृतमिन्द्रियजत्वानुमानपूर्वकं तदनुमानक-
 ल्यनया । * 'अथ तथालिङ्गद्वयं तत्प्रत्येकमव्याप-
 कतया न लक्षणमिन्द्रियजत्व तु तथात्वानुक्षणम्?*

(१) प्रत्यक्षत्वव्यप्येन्द्रियजत्वव्यप्यव्याप्यजत्वस्य सुमरां प्रत्यक्षत्व-
 व्याप्यत्वादित्यर्थः । (२) सामर्थी = इन्द्रियार्थभक्तिकर्षादिकृपा । (३)
 लिङ्गस्य = अर्थजत्वस्य, तद्व्याप्यभावस्य = साक्षात्कारित्वव्याप्यभावस्य
 साक्षात्कारित्वव्याप्येन्द्रियजत्वव्याप्यभावस्य वेत्यर्थः । (४) लिङ्गम् = अ-
 र्थजत्वम् । तत्र प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वस्य प्रत्येतुमशक्यत्वेनेत्यवयवः ।
 (५) ननु यत्र प्रत्यक्षजातीयेऽर्थजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र साक्षात्कारित्वव्या-
 पकत्वेनाऽनवगतमेव तत् लक्षणं संशय इत्यत आह-यदेति । व्याप-
 कत्वेनाऽनवगती हेतुः- 'अनवधारणीयतयेति । (६) लिङ्गान्तरेण = अर्थ-
 जत्वेन ।

इति चेन्न, साक्षात्कारित्वानुमानस्य लक्षणप्रयोजन-
स्योभाभ्यामेव सिद्धेः, कृतं व्यापकेन तेन^(१) । नापि
तृतीयः । स ह्येवंरूपः, यद् इन्द्रियार्थसन्निरुषजनि-
तत् 'प्रत्यक्षमि'ति व्यवहर्त्तव्यमिति । अयमप्यर्थो-
ऽनुपपन्नः, लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । साक्षात्का-
रित्वात्तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनि-
यमनिदानम्, "अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वादित्यावेदि-
तम् ।

टी० ॥ यत्र प्रत्यक्षभागे व्याप्यैकरूपेण तेन^(२) सिद्धेन
नेन्द्रियजत्वानुमेय तत्राव्याप्तिः स्यादिति परिहरति - "यत्रे"
ति ॥ तत्रापि प्रत्यक्षभागे लिङ्गान्तरणेन्द्रियजत्वमनुमितमिति
नाठ्याप्तिति शङ्कते । ^b"अथे"ति ॥ ताभ्यः लिङ्गाभ्यामाहत्य
(३)साक्षात्त्वमेवानुमीयतां किमिन्द्रियजत्वेनेति परिहरति -
"तथार्थे"ति ॥ अनुमानानुगमयोर्विनिगमकत्वमिहेति शङ्कते -
"अथे"ति ॥ इदानीमाशयं स्फुटयति - "साक्षात्कारि-
त्वे"ति । साक्षात्त्वप्रतीतिमात्रं लक्षणस्योद्देश्यं, तच्च
ज्ञानमेवेत्यलमिन्द्रियजत्वानुमानेनेत्यर्थः ॥ व्यवहारसाधक
व्यतिरेकलक्षणमिति खण्डयति - "नापी"ति ॥ "अव्यव-
हिते"ति । साक्षात्त्वेनेन्द्रियजत्वानुमानं, तेन च व्यवहारानु-
मानमिति परम्परागौरवमित्यर्थः ॥

सू० "अत एव न चतुर्थः, कल्पनागौरवदोषश्चाधिकः ।
नापि पञ्चमः, तादृशस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । एतेन
'भासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजं प्रत्यक्षम'पि निर-
स्तम् । किञ्च, प्रमाणविशेषलक्षणमिदं प्रमाणलक्ष-
णोपसङ्गृहीतस्य कियतः सङ्ग्राहकं कियतश्च प्रति-
क्षेपकं वक्तव्यम् ? प्रमाणलक्षणेन च व्यभिचारिणी

(१) तेन=इन्द्रियजत्वरूपेण लक्षणेन । (२) तेन=अनुमानत्वेन ।

(३) साक्ष्यत्वमिति ।

(^१) निवृत्तिः प्रदर्श्यते, तथा सति यथाश्रुतमिदमलक्षणं, व्यभिचार्यपि हि भासमानस्य सत्तादेराकारस्येन्द्रियसंयोगादुत्पद्यते । अथ विशेषाभिप्रायेणेदं लक्षणं वाच्यं, तथाप्यसङ्गतिः । ^१ तथाहि,—किं (^२) कियन्मात्रभासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितम्?—१ उत यावद्भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम्?—२ । आद्ये व्यभिचार्यव्यवच्छेदः,

टी० ॥ ^१ “अत एवे”ति । अथवहितप्रतिपत्तिकत्वादेवेत्यर्थः ॥
^२ “कल्पने”ति । साक्षात्कारित्वजात्यपेक्षया सखहनस्येन्द्रियार्थसृष्टिकर्षजत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वकल्पनायां गौरवमित्यर्थः ॥
 “तादृशस्य”ति । तादृशस्य लक्षणफलस्य दर्शयितुमशक्यत्वादि-
 त्यर्थः । “एतेन”ति । लक्षणफलानिर्देशेनेत्यर्थः । यद्वेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वस्य दुरवधारणत्वेनेत्यर्थः । अमे रजनाद्याकारेण सम्प्रयोगाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं ‘भासमाने’ति ॥ ‘इदमद्रूपतमि’ति अमस्यापि भासमानसत्ताकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वादातिव्याप्ति-
 नाह— “किंचे”ति ॥ मनु मर्यादिसौममःनोप्याकारो न विशेष, स्तेन चाकारेण (^३) भासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्व विवक्षित, निति नातिठयाप्तिरित्याह— । “अथे”ति ॥ विशेषाकारमेवादाय विकल्पयति— । “तथा ही”ति ॥ “व्यभिचारी”ति । इदन्त्वल-
 लक्ष्य विशेषाकारमादाय तथापि अमेऽतिठयापत्तेः, संशयं च वास्तव प्रकारमादायातिठयापत्तेरित्यर्थः ॥

सू०^१ निर्विकल्पासङ्ग्रहश्च । नापि द्वितीयः, विकल्पासह-
 त्वात् । तथाहि,—किं भासमानताविशिष्टस्येन्द्रियसम्प्रयोगः?—१ उत भासमानतोपलक्षितस्य?—२ । नाद्यः,

(१) व्यभिचारिण इत्यतोऽग्रे “ज्ञानस्य”—इति शेषः । (२) किमिति, यत्किञ्चिद्भासमानविशेषाकारेणैन्द्रियसंयोगजन्यत्वमिति मन्विकल्पार्थः, यावद्भासमानविशेषाकारेणैन्द्रियसंयोगजन्यत्वमिति द्वितीयविकल्पार्थः । (३) तेन चाकारेण = विशेषाकारेण । भासमानो यथाकारस्तेन बहेन्द्रियसंयोगजत्वमित्यर्थः ।

पूर्वं भासमानत्वाभावात् कारणस्य च पूर्वभावि-
त्वात् । द्वितीये “लटोऽविवक्षितार्थत्वं वा ?-१ विव-
क्षितार्थत्वं वा ?-२ । नाद्यः । तथाहि, “यावद्भा-
समाना^(१)कारेन्द्रियसंयोगजमपि भवति ‘घटोयमि’
ति विज्ञानं, न चात्मनि प्रत्यक्षम्, आत्मनस्तदीया-
विषयत्वात्, प्रमाणस्य च विषयनियतत्वात्, यत्र
प्रामाण्यं तत्रैव विषये तद्विशेषस्य प्रत्यक्षत्वस्य वक्त-
व्यत्वात् । अन्यथा पटास्तित्वे ‘घटोऽयमि’ति प्रत्यक्षं
प्रामाण्यतः किमुच्चारम् ? । *नन्विदमुच्चारं^(२)घटवि-
ज्ञानं न पटे प्रत्यक्षं, न हि तदिन्द्रियसन्निकर्षणोत्प-
न्नमिति * । तत्किमात्मेन्द्रियसन्निकर्षणं घटविज्ञान-
मात्मनि प्रत्यक्षमेव ? ।

टी० ॥ “निर्विकल्पके”ति । तत्र निष्प्रकारकतया भास-
मानस्याकारस्याभावादित्यर्थः । पट्टा^(३) सविकल्पकोत्पत्तिकाले
इव निर्विकल्पोत्पत्तिकाले प्रकारस्य भासमानत्वाभावादित्यर्थः ॥
निर्विकल्पकमेवाधिकृत्याह- ।^४ “पूर्वमिति ॥ ननु तत्रापि निर्वि-
कल्पकेनैव^(५)भासमानतावैशिष्ट्यमस्तीत्यत आह- ।^६ “कारण-
स्ये”ति ॥ “लट”इति । ज्ञानस्थानस्ये^(७)त्यर्थः ॥ यस्य भास-
मानस्येन्द्रियेण सन्निकर्षाद्यज्ज्ञानं जायते तत्र प्रत्यक्षमिति^(८)

(१) भासमानेति, यदाकदाचिद् (अहमस्मीति स्वात्मप्रत्यक्ष-
काले) भासमाना यावन्त आकारा यस्यात्मनस्तेनात्मनाऽप्यकाले मनो-
रूपेन्द्रियसंयोगजमित्यर्थः । (२) “नन्विदमुच्चारम् -इति पाठस्तु
विद्यमानराद्यभिमतः । (३) ननु सविकल्पकज्ञाने सप्रकारकतया भास-
मानाकारवन्निरविकल्पकज्ञाने निष्प्रकारकतयाकारो भासने इति न तद-
मङ्ग्यह इत्यस्वात्सादा-इत्येति । (४) “निर्विकल्पकेने”ति पदं भास-
मानतावैशिष्ट्यपदैकदेशेन भासमानत्वेनाप्येति तथा च निर्विकल्पकेन
भासमानतया सहेन्द्रियस्य वैशिष्ट्यं लब्धव्य इत्यर्थः । (५) “लटः
ज्ञानस्थानस्ये”इति सूत्रोक्तः ज्ञानस्थाने यस्य लटस्तस्येत्यर्थः ।
(६) इति-इव प्रकारेण, यत्तच्छब्दघटितविशेषोक्तौ लक्ष्यं पर्य-

विशेषपर्यवसानाय सामान्योक्तावनिष्ट तावदाह-। “यावदि”
ति ॥ ननु नेदमनिष्टमित्यत आह-।^f“आत्मन” इति ॥ नन्व
न्यविषयस्याप्यन्यत्र प्रत्यक्षत्वं स्यादित्यत आह-।^g“अन्यथे”नि॥
घटप्रत्यक्षस्यात्मप्रत्यक्षतापादनाय लक्षणस्य विशेषपरतो पूर्व-
पक्षिणमङ्गीकारयति-।^h“नन्वि”ति ॥ एवं स्थिते स्वात्ममत-
नापादनमाह ।।ⁱ“नत्किञ्चि”ति ॥

सू० “ * कथमेवं स्यात्, आत्मेन्द्रियसन्निकर्षाद् घटज्ञान-
स्योत्पादेऽप्यात्मनोऽनवभासमानत्वाद्*-इति चेन्न,
^b“भासमाने”त्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येद
भवतोच्यते, इति स्मर्त्तव्यम् । अस्ति ह्यात्मनो भास-
मानत्वं कदाचित्केनचित्, अन्यथाऽप्रमेयत्वप्रमङ्गात् ।
* ‘उक्तलक्षणकं स्वविषये प्रत्यक्षं न त्वन्यत्रापि ? *-
इति चेन्न । स्वशब्देन यदि ज्ञानमात्रं विवक्षितं तदा
“स दोषस्तदवस्थः । अथ ज्ञानव्यक्तिरपेक्षिता तदा
लक्ष्यस्वरूपस्यासाधारणतया तत्परित्यागेन लक्षण-
स्याऽन्यत्रापि गतत्वादतिव्याप्तिः, व्यक्त्यन्तरस्य
लक्षणाश्रयस्यैकव्यक्त्यभिहितलक्ष्यीभूतासाधारणरू-
पत्वाभावात्^(१) । * व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेव, अल-
क्ष्ये च लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिः * ? इति चेन्न ।

टी० ॥ भासमानत्वं विशेषणमपश्यतस्तन्वेदनापादनमिति
शङ्कने-। “कथमेवमिति ॥ लक्षणाविवक्षया भासमानत्वं
विशेषणं स्वयैवापास्तमिति परिहरति ।^b “भासमाने”ति ।

वसाययितुं सामान्योक्ता-सामान्यतो यावद्भासमानाकारेन्द्रियसंभ्रमो-
गजत्वोक्ता, वनिष्टमाहेत्यर्थः । यस्तदो गिह तस्माद्द्वयवत्यभिधायितया
विशेषवाचकत्वम् । (१) एकव्यक्त्यभिहितं गल्लक्ष्यीभूतासाधार-
णरूपत्वम्-लक्ष्यतावच्छेदकीभूतधर्मवत्त्वम्, तस्य लक्षणाश्रयेऽलक्ष्यव्यक्त्य-
न्तरेऽभावादित्यर्थः । यद्वा, एका या लक्ष्यीभूतासाधारणरूपा व्यक्तिर-
भिता तद्गुणतया अलक्ष्यव्यक्त्यन्तरेऽभावादिति वरल्लक्ष्यार्थः ।

एतदनिष्टभयेन^(१) यल्लक्षणविधेयतयातिव्याप्तिरिति परिहाररह-
स्यम् । वस्तुतो^(२) अन्यविषयकप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनमेव
प्रघट्टकार्यः । आत्मप्रत्यक्षत्वस्य घटप्रत्यक्षेति^(३) व्याप्तिर्व्यंटा-
नित्यादौ प्रत्यक्षलक्षणातिव्याप्तिर्वा न प्रघट्टकार्यः, उपसंहारवि-
रोधात् ॥ ननु स्वविषयकप्रत्यक्ष^(४)स्यैव तल्लक्षण, तथाचान्यवि-
षयकप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनं न सम्भवतीत्याशङ्कते-
“उक्तलक्षणकमिति ॥ “न दोष” इति । “घटोऽयमिति ज्ञा-
नमात्मनि प्रत्यक्ष स्यात्, इत्ययं दोष इत्यर्थः ॥ एकैव व्यक्तिर्यदि
लक्ष्यते तदा व्यक्त्यन्तरातिव्याप्तिरित्याह-। “तद्” इति ॥
अतिव्याप्तिमेव स्फटयति-। “व्यक्त्यन्तरस्ये” इति ॥

मू० “यदेकत्रासाधारणस्वरूपं लक्ष्यत्वेन निरूप्यते भवता
न तदन्यस्वरूपम्, अतः कथं ‘तदपि लक्ष्यमि’त्य-
पिशब्देनानेकसाधारणीकृत्य समुच्चेतुं शक्यं; यदपि
साधारणं रूपं तद्व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकं स्वविषय-
पदं विशेषणं प्रक्षिपता भवतैवाऽसाधारणीकृतम् ।
स्वशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वे ‘दोषस्योक्तत्वात्, स्व-
त्वस्य चानुगतस्वरूपस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । “अ-
न्यथाऽन्यव्यक्तिविषयस्यान्यत्र तथात्वापत्तेः^(५) ।
'नापि द्वितीयः पक्षः, विकल्पासहत्वात् । किं स-
म्प्रयोगापेक्षया वर्तमानत्वम् ?-१ अथ यत्किञ्चिद-
पेक्षया ?-२ । प्रथमे विशेषणत्वपक्षान्न विशेष इत्यु-

(१) एतदनिष्टभयेन = भावमानत्वस्य विशेषणत्वे पूर्वोक्तिप्रति-
षेधेन, यद् = भावमानत्वोपलक्षितत्वघटितं प्रत्यक्षलक्षणवक्तव्यं त-
त्रात्मप्रत्यक्षत्वस्य घटप्रत्यक्षे, घटप्रत्यक्षस्य वा घटानुमित्यादावतिव्या-
प्तिरित्यर्थः । (२) नन्वेवं सति “अत एवात्मविषयत्वानुगोचरत् त्रिपु-
टीप्रत्यक्षवादिनि पटज्ञानस्य घटादौ प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो
द्रष्टव्यः” इत्यग्निप्रोपसंहारविरोधः स्यादित्यस्वरनाशतत्वात्किं निश्चा-
नमाह-वस्तुत इति । (३) घटविषयकप्रत्यक्षस्यात्मविषयकप्रत्यक्षत्वा-
पत्तिरित्यर्थः । (४) स्वविषयकप्रत्यक्षस्य = स्वविषयविषयकप्रत्यक्षस्ये-
त्यर्थः । (५) तथात्वापत्तेः = प्रामाण्यापत्तेः ।

क्तदोषापत्तिः । द्वितीये तु लटोऽविवक्षितार्थत्वमेव
स्यात्, "व्यवच्छेद्ययोर्भासितभासिष्यमाणयो रपित-
दा^(१) भासमानत्वस्वीकारात् । * ^२इन्द्रियसंयोगा-
नन्तरं भासमानत्वमपेक्षितम्, अतो विवक्षितार्थ-
त्वम् * ?-इति चेत् ।

टी० ॥ "यदेकत्रेति । स्वपदमहिम्ना व्यक्तित्विशेषमात्रो-
पस्थितौ 'उपत्यन्तारमपि लक्ष्यमेव'ति तद्वदभिधानमतन्त्रमेवे-
त्यर्थः ॥ ^३"दोषस्ये"ति । घटप्रत्यक्षस्यात्मनि प्रानाख्यापोद-
लक्षणस्येत्यर्थः ॥ "स्वत्वस्य चे"ति । स्वत्वमपि^(२) हि स्वमेव,
अन्यथा तत्प्रत्यक्षानुपग्रहस्तथाच स्वत्वे यदि तदेव स्वत्व-
तदात्मन्ययः । स्वत्वान्तरं चेत्तदानवस्था, स्वत्वाद्यं च धर्मा-
न्तरं नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ननु मा भूत्स्वत्वमनुगतं, किमत, इत्यत
आह- "अन्यथे"ति ॥ 'भाममाने'त्यत्र लडुयं विवक्षितार्थं दूष-
यति- "नापो"ति ॥ "प्रथमे" इति । निर्विकल्पके भाममा-
नताविशिष्टेनेन्द्रियसंयोगजत्वाभावात् तदनुपग्रह इत्यर्थः ॥
^१"व्यवच्छेद्ययोर्"ति । ज्ञानान्तरे भासितस्य भासिष्यमाणस्या-
त्मन इन्द्रियसंयोगजे घटोपनिमित्तं ज्ञानेप्यात्मप्रत्यक्षत्वापत्ति-
रित्यर्थः ॥ "इन्द्रिये"ति । तच्च निर्विकल्पकेप्य^(३) स्ताति न
तदनुपग्रह इत्यर्थः ॥

सू० "आत्मनोपीन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमस्ति ।

नहि स यदा मनसा गृह्यते तदा नेन्द्रियसंयोगान-
न्तरम्^(४) । * नेन्द्रियसंयोगमात्रं विवक्षितं, किं नाम

(१) तदा = तत्कालापेक्षया तत्कालानेन्द्रियसंयोगापेक्षयेत्यर्थो वा ।

(२) स्वविषयकप्रत्यक्षस्यैव लक्षणत्वे स्वयमपि किञ्चिदाह व्याख्याकारः-
स्वत्वमपीति, यथा स्वपदार्थता घटपटादीनामेवं स्वत्वमपि स्वपदार्थ-
स्येत्यर्थः । अन्यथा = स्वत्वस्य स्वपदार्थताऽनङ्गीकारे, स्वत्वप्रत्यक्षे स्व-
विषयकप्रत्यक्षत्वाभावादव्याप्तिः स्यादित्यर्थः (३) गृह्यपि निर्विकल्पके न
नविकल्पके इव भाममानत्वं तथापि किञ्चिद्भेदात् भाममानत्वमभिप्रेत्यै-
तदुक्तम् । (४) 'भाममानत्वम्, -इति शेषः । यद्वा 'अनन्तरमिति भाव-
प्रधानो निर्देशः, आनन्तर्यमित्यर्थः ।

यदनन्तरं भासमानतोत्पत्तिः ? *-इति चेन्न, 'तद-
नन्तरमपि भासमानतोत्पत्तेः । *- 'भासमानतान्तरं
तत्, नत्विदं भासमानत्वम् * ?-इति चेत् 'न,
अव्यापितप्रसङ्गात्, एकभासनमात्रव्यवस्थितत्वान्नुक्त-
णस्य । * अथ मन्यसे-यद्भासनं यस्य विषयस्येन्द्रिय-
संयोगादुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निरुक्ती
न दोषः * ?-इति, 'मैवम् । यद्भासनं 'घटोऽयमिति,
यस्य विषयस्यात्मन इन्द्रियेण सह सन्निकर्षादुत्पन्नं
तद्भासनं तस्मिन्नात्मनि प्रमाणं स्यात् । * नात्मा
तस्य विषयः, तत्कथमेवं स्यात् * ?-इति चेत्, नहि
भवता तदीयविषयस्येत्युक्तं, किन्तु सामान्यतो वि-
षयस्येति, तेनेद^(१)मभिहितम् । यदि तु तदीय-
ताविशेषणमुपादत्ते भवान् तदा यदि तच्छब्देन
ज्ञानजातीयमात्रपरामर्शस्तदा स दोषस्तदवस्थः ।

टी० ॥ अविशेषितेन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानतया पूर्व-
दोषानुवृत्तिरित्याह-। "आत्मन" इति । ननु भासमानतो-
त्पत्तिप्राक्कालत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षो विशेष्य इति शङ्कते-।
"नेन्द्रिये"ति ॥ विशेषकत्वेन यदभिमतं तदपि साधारण-
मेवेति परिहरति-। "तदनन्तरमिति ॥ इदन्तया विशिष्य-
माणं भासनं न साधारणमिति शङ्कते-। "भासमाने"ति ॥
इदन्तागर्भलक्षणमेकव्यक्तिविश्रान्तमित्यव्यापितरिति परिहर-
ति-। "ने"ति ॥ यत्तद्विषयशब्दानां साधारणत्वात् पूर्वदोषान-
तिवृत्तिरेवेत्याह-। "मैवमिति ॥

सू० यदि तु ज्ञानव्यक्तिविशेषपरामर्शस्तदाऽव्यापकत्वं,
प्रतिज्ञानं तच्छब्दार्थस्य भेदात् । नहि यत्त्वं तत्त्वं वा
किञ्चिदनुगतं रूपमस्ति । "अत एवात्मविषयत्वा-

(१) इदम्=प्रतिष्ठापितरूपं दूषणमित्यर्थः ।

नुयोगवत् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनि पटञ्चानस्य घटादौ प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो द्रष्टव्यः । तदर्थं ^(१) 'यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नमि'ति विशेषणप्रक्षेपेयत्तच्छब्दस्यासाधारण्यादव्याप्त्यापत्तेः । यदि तु यच्छब्दतच्छब्दार्थानुगतः स्यात्, पुनरप्यन्यत्र 'घटोयमि'ति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणात्ता प्रसज्येत । *^b अथा "ऽऽत्मव्यतिरिक्ते" इति विशेषणं प्रक्षिपसि, आत्मविषयस्य प्रत्यक्षता न स्यात् । 'तच्छब्देनानुगताभिविधाने व्यवच्छेदकत्वाभावाद् घटज्ञानस्य पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत । एतेन "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि प्रत्यक्षमि"त्यत्रापि "दोषोऽयमुक्तेः द्रष्टव्यः, तादृशस्यापि ज्ञानस्य विषयान्तरे प्रत्यक्षत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ ननु घटप्रत्यक्षनात्मनि प्रमाणमेव, तस्य भित्तिमातृमेयात्मकपुटत्रयगोचरत्वा,दिति नेदमनिष्टं प्रामाकरणये, इत्यत आह- । "अत एवे"ति । यस्तदादिमाधारणशब्दबलेन घटप्रत्यक्षस्य पटादौ प्रामाण्यं तन्मतेपि प्रसक्तमेवेत्यर्थः ॥ ननु यज्ज्ञानं यस्यात्मठगतिरिक्तस्येन्द्रियेण सद्योगादुत्पन्नं तज्ज्ञानं तत्र प्रत्यक्षमिति विवक्षिते न्यायमतेपि न दोष इत्याशङ्क्याह- । "अथे"ति । तद्^(२) आत्मव्यतिरिक्ते विषये प्रत्यक्षमिति वा शङ्का ॥ उभयमतमाधारणं^(३) परिहारान्तरमाह- । "तच्छब्देने"ति ॥ "दोषोयमि"ति । अन्यप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनरूप इत्यर्थः ॥

मू० * यस्यार्थस्य सन्निकर्षाद्यदुत्पद्यते तत्तत्र प्रत्यक्षतया

(१) तदर्थम् = अथविषयकप्रत्यक्षस्यान्यत्र विषये प्रामाण्यानुयोगवारणार्थम् ॥ (२) तद् = यज्ज्ञानं यदिन्द्रियसंयोगादुत्पन्नं तदित्यर्थः । प्राथमिकोत्थाभिकशङ्कायासात्मव्यतिरिक्तत्वविशेषणं लक्षणकुत्वावुपात्तमिदानीं तु लक्ष्यकुत्वाविति पूर्वस्माद्विशेषः ॥

प्रमाणम् * ?-इत्यभिधाने तु यच्छब्दतच्छब्दसाधारणासाधारणाभिधान "विकल्पोक्तदोषप्रसङ्गः ।
 'अव्यभिचारिपदं च व्यर्थं, न हि शुक्ती रजतज्ञानं
 रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नम् । * 'संस्कारलक्षणप्रत्या-
 सती रजतेप्यस्ति ? *-इति चेन्न, रजतत्ववैशिष्ट्ये
 पुरोवर्तिन^(१)स्तदभावात् तस्मिन्नेवांशेऽप्रामाण्यं,
 नतु रजतत्वमात्रे, तस्थान्यत्र सत्त्वात् । "अथ साक्षा-
 त्कारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमुच्यते 'तदा साक्षात्कारिवि-
 भ्रमेपि प्रसङ्गः । * 'अथाऽव्यभिचारित्वविशेषितं
 तल्लक्षणमिति वा भेदाग्रहव्यतिरिक्तविभ्रमाभावो
 वा() * ?-इति चेन्न, विकल्पासहत्वात् । किमवगत-
 मिदं लक्षणं "फलहेतुः ? अनवगतं वा ? । तावच्चरमः,
 तदभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्; अभिधानस्य ज्ञानोत्पा-
 दोपयोगित्वात्, तस्य चानवगतस्यैव फलसाधकत्वा-
 भ्युपगमात् । आद्ये किमन्यस्मादवगमः ? उत त्वदी-
 याल्लक्षणवाक्यात् ? । यद्यन्यस्मात्, कृतममुना लक्ष-
 णाभिधानप्रयासेन, अभिधानस्यास्य ज्ञानोत्पादा-
 तिरिक्तप्रयोजनाभावात्, तस्य चान्यत एव सिद्धेः ।
 अन्तर्बे किं त्वदभिधानमाप्तोपदेशतया साक्षात्का-
 रित्वं बोधयति ? उत लिङ्गादिभावेन ? । न ताव-
 च्चरमः, "त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वाविनाभावादेर्द-
 र्शयितुमशक्यत्वात् । नापि प्रथमः, वादिनं प्रति

(१) प्राभाकरनैयायिकोभयमतसाधारणमित्यर्थः । (२) पुरो-
 वर्त्तिनः (=पुरोवर्तिभुक्तिनिष्ठे) रजतत्ववैशिष्ट्ये तदभावात् (=संस्का-
 रलक्षणप्रत्यासत्तेरभावात्) -इत्यन्वयः । (३) "अथा मश्यते, तथा
 च नातिप्रसङ्गः" -इति शेषः ।

भवत आप्तत्वासिद्धेः । सिद्धौ हि प्रतिज्ञामात्रादेव
साध्यसिद्धेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकं सर्वत्र स्यात् ।

टी० ॥ “विकल्पे”ति । साधारण्येऽन्यप्रत्यक्षस्यान्यत्र
प्रामाण्यम् । असाधारण्ये प्रत्यक्षान्तरानुपपन्न इत्यर्थः ॥ यत्प
दत्तपदपूरणे दोषान्तरमाह-। “अठयन्निचारी”ति ॥ “संस्का-
रे”ति । अत एव नाननुभूतमारोप्यते इत्यर्थः । यदा (१)रोप्यं न
तत्र संस्कारो यत्र संस्कारो न तदारोप्यमिति न संस्कारस्तत्र
प्रत्यासत्तिरिति परिहारार्थः ॥ योग्यव्यक्तियुक्तितया सुग्रहं
साधारणं(२) च साक्षात्त्वमिति तदेव प्रत्यक्षलक्षणमिति शङ्कते-।
“अथे”ति ॥ विश्रमेप्यनुश्रवसायेन साक्षात्त्वप्रतीतेस्तत्राति-
ठयाप्तिमाह-। “तदे”ति ॥ न्यायमते श्रमान्यत्वेन विशेष्य, गुरु
मते तु सर्वथापार्यादाविशिष्टमेव लक्षणमिति शङ्कते-। “अथे”ति ॥
“कले”ति । इतरव्यवच्छेदेो व्यवहारो वा यत्कलं तद्धेतुरि-
त्यर्थः ॥ “त्वद्वचनस्ये”ति । त्वद्वचनं न साक्षात्कारित्वाविना-
भूतं, न वा पक्षधर्म, इति ज्ञेयं तदनुमानमनुपपन्नमित्यर्थः ।
“भवत” इति । लक्षणवादिन इत्यर्थः ॥

सू० “अथ मन्यसे, * यः साक्षात्कारित्वमन्यतो जानाति
प्रत्यक्षव्यवहारनिदानतया च न जानातीति तं प्रति
प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वमस्य ज्ञाप्यते लक्षणवादि-
ना, तच्चानुमानभावेनैव, नाप्तोपदेशतया, अत एव
च लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्षते; तद्यथा,
आवणादिप्रमितयः साक्षात्कारिप्रमितयो वा प्रत्य-
क्षत्वेन व्यवहर्तव्याः, साक्षात्कारिप्रमितित्वात्, न
यत् प्रत्यक्षतया व्यवहियते न तत् साक्षात्कारि
यथाऽनुमितिः, तथा चैताः, तस्मात्तथा । एतदनुमा-

(१) यद् = रजतत्ववैशिष्ट्यम् आरोप्यं न तत्र संस्कारः, यत्र =
रजते संस्कारो न तदारोप्यमिति न संस्कारस्तत्र (= रजतत्ववैशिष्ट्ये)
पर्याप्त्यमित्यर्थः ॥ (२) साधारण्यम् = निखिलसद्व्यप्रत्यक्षव्यक्त्यनुगतम् ।

नप्रतिपादकं च वाक्यं नाप्तवाक्यत्वेन प्रयुज्यते
 वादिना, किन्तु व्याप्त्यादेः प्रतिपन्नस्यैव स्मारकं
 पूर्वाप्रतिपन्नस्य वा जिज्ञासोत्पादनद्वारेणोदानीमेव
 (१)वादिनि प्रमाणोत्पादकमित्युक्तदोषानवकाशः *
 -इति । न । “प्रत्यक्षतया व्यवहर्त्तव्याः”-इति व्यव-
 हारस्य किं “विषयभेदो विशेषः ? उत शब्दभेदः ? ।
 आद्ये, ‘यद्यसौ विषयविशिष्टव्यवहारं नाज्ञासीत्,
 कथं साक्षात्कारिणि तस्यस्वकर्त्तव्यतां(२)लक्षणवा-
 क्यादप्यवगच्छेत् । नह्यविदिताग्निरनुमानादप्य-
 ग्निसंबन्धं बोधयितुं शक्यः । अथाऽज्ञासीत्, ‘तदा
 ज्ञातज्ञापनवैयर्थ्यात् लक्षणरूपमनुमानं निष्प्रयोज-
 नम् । * अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयः
 प्रत्यक्षव्यवहारस्य, विशेषतस्तु न जानाति, तं प्रती-
 दमुच्यते ? * । न । किं सामान्यतो निमित्तवशां
 व्यवहारमात्रस्य जानाति ? उत व्यवहारविशेषस्य ? ।
 आद्ये ‘प्रकृतानुपयोगः, व्यवहारविशेषस्य चिन्त्यमा-
 नत्वात् । द्वितीये किंकृतौ व्यवहारस्य विशेषः ?-इति
 विकल्पितपक्षानुप्रवे शमन्तरेण न निस्तारः । एतेन
 सर्वस्यैव । लक्षणस्य स्वीकारः परासनीयः । तथाहि,—
 नाऽत्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः ।
 तद्वियस्तदुरीकारे स्थाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३५ ॥

टी० ॥ ननु लक्षणवाक्यमाप्तवाक्यत्वेन नोपयुज्यते, किन्तु

(१) उदानीमेव = अनुमानवाक्यप्रयोगकाले एव । वादिनि =
 प्रतिवादिनि, ओत्तरीतियावत् । प्रमाणोत्पादकम् = प्रतीयतेऽनेनेति
 प्रमाणं तथा जिज्ञानं तदुत्पादकमित्यर्थः ॥ (२) स्वकर्त्तव्यताम् = स्वकृ-
 त्तिजनलेच्छाजनकज्ञानेन ज्ञेयताम्, ज्ञानस्य कृतिसाध्यत्वाभावात् ॥

परार्थानुमानत्वेन, तस्य^(१) च पूर्वानुभूतव्याप्तिस्मारकत्वं जिज्ञा-
सोत्पादकत्वमात्रं वा कलं, तथा च नोक्तदोष इति शङ्कते-। “अ-
ये”ति ॥ ^b“विषयभेद” इति । प्रत्यक्षत्वलक्षणो व्यवहारविषयः ?
(^२) प्रत्यक्षशब्दाभिधेयत्वमात्रं वा व्यवहारविशेषः ? इति विक-
ल्पार्थः ॥ ‘उपबहर्त्तव्या’ इति प्रैषात्^(३) व्यवहारविशेषं तदा स्व-
कर्त्तव्यतयानुमाप्येद्यद्यसौ प्रतीतयः, स्यादन्यथा साध्याऽसिद्ध्या
व्याप्यग्रह एवेत्याह-। “यद्यमावि”ति ॥ सिद्धमाधनमाह-।
“तदे”ति ॥ विषयविशेषाद्धितव्यवहारकर्त्तव्यत्वे माधये सामा-
न्यज्ञानमत्त्रमित्याह-। “प्रकृते”ति । अत्यापत्तिः=अभिप्र-
सङ्गः, घटप्रमातोपि घटप्रनिष्ठिलक्षणः ॥ घटविशेषितप्रमातो
घटनिष्ठौ विशिष्टप्रविष्टात् घटादपि घटनिष्ठिरित्यात्माश्रय
इत्याह-। “तद्विय” इति ॥

मू० अथान्यः स विशेषश्चेत्तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते ।

^bदत्तः साकारवादाय विष्टरः^(४) स्पष्टमेव तत् ॥ ३६ ॥

अर्थादुत्थास्नवो^(५) धर्म्मा नानुमात्वादयो यथा ।

तद्धीत्वमपि तद्वत् स्या^(६) दित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ ३७ ॥

‘सोपि^(७) वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्वियं विना ? ।

एवं च सोपि सोपीति नान्तः सोपानभावेन ॥ ३८ ॥

‘समस्त^(८) लोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।

(१) तस्य = परार्थं नुमानस्य ॥ (२) व्यवहारस्य ज्ञानात्मक-
त्वाभिवदनात्मकत्वाभ्यां द्वैविध्याद् “उपबहर्त्तव्याः”-इत्यत्र ज्ञानात्मकं
व्यवहारमादाय तस्य विषयः प्रत्यक्षत्वलक्षणो ग्राह्यः ? उत प्रत्यक्षशब्दा-
भिधेयतामात्रमादायेत्यर्थः ॥ (३) प्रैषः = विधिः ॥ (४) विष्टरः =
आचनम् ॥ (५) उत्थास्नवः = उत्थानशीलाः ॥ (६) तद्वत्स्यात्, =
अर्थादुत्थितं न स्यादित्यर्थः ॥ (७) सोपि धीविशेषः=घटधीविशेषः, किं
तद्वियं घटधीविषयकधियम् विना स्वीकार्यः ? “नैव स्वीकार्यः”-
इत्यर्थः, एवं च सोपि सोपि घटधीधीशेत्तद्धीविशेषादिरपि स्वस्वतो-
परधियं विना नैव स्वीकार्यं इति सोपानपरम्पराभावेनैवत्येत्यर्थः ।
(८) पूर्ववादी शङ्कते-समस्तेति । तत् = तस्मात् समस्तलोकशास्त्रयोरे-
कमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः = भाषमानयोस्तत्तद्वस्तुव्यवहारतत्तद्धीव्यवहा-
रयोः का गतिरस्तु इत्यर्थः ।

का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ? ॥ ३८ ॥

उपपादयितुं^(१) तैस्मैर्मतैरशकनीययोः ।

अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिस्तयोः ॥ ४० ॥

नापि^(२) द्वितीयः । तथाहि, -अवमनुमानार्थः स्यात्,
 आवणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः, साक्षा-
 त्कारित्वादित्यादिः, सोपि न ।

टी० ॥ ननु घटधीत्वमित्यत्र घटो न विशेषणं येनात्मा-
 अयः स्यादपि तु घटेन्द्रियमन्त्रिकर्षजे ज्ञाने घटधीत्वं नाम स
 काश्चद्विशेषो येन घटसिद्धिरिति शङ्कते । “अथान्य” इति ॥
 एवं मति घटोपि ज्ञानाकारप्रविष्टः^(३) स्यादिति वा, घटाकार-
 कादाचित्कत्वाद्घटलक्षणविषयसिद्धिरिति वा, साकारत्वादाभ्यु-
 पगमः स्यादिति परिहरति- । “दत्त” इति । तथाचापमिदुान्त
 इति भावः ॥ ननु नार्थाधीनं घटधीत्वं, किन्त्वनुमितित्वा-
 दिवत्कारणान्तराधीनं, तथाच नकारकादाचित्कत्वात् घटसि-
 द्धिरिति न साकारत्वाद् इत्याह- । “अर्थादि”ति । इतिशब्दा-
 नन्तरं ‘यदा, तदे’त्यध्याहार्यम् । अर्थो घटादिरनर्थं = मङ्कटं प्र-
 विशेषेण सिद्धेदित्यर्थः । अर्थाधीनघटधीत्वस्यार्थं प्रत्यतन्त्र-

(१) सिद्धान्ती समाधत्ते-उपपादयितुमिति । तैस्मैर्मतैरुपपादयि-
 तुमशकनीययोस्तयोः (= तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः) अनिर्वक्तव्यतावा-
 दपादसेवागतिः-इत्यन्वयः । (२) ‘प्रत्यक्षतया व्यवहृतव्याः इत्यत्र प्रत्यक्ष-
 शब्दाभिधेयत्वाच्च व्यवहारविशेषो ब्राह्म इति द्वितीयं पक्षं खण्डयति-
 नापीति । (३) यदि ब्राह्मार्थवादी ज्ञेयविकादिराशितकः शङ्कक-
 स्तदा तं प्रति “ज्ञानाकारप्रविष्टः स्यादि”ति प्रसञ्जनम्, यदि तु विज्ञा-
 नवादिषोभाचारः शङ्ककस्तदा तं प्रति “घटलक्षणविषयसिद्धिरिति
 प्रसञ्जनमिति विभागः । तत्र घटधीत्वस्य घटधियां वृत्तित्ववत्तद्विशेष-
 षीभूतघटोपि वृत्तित्वेन घटस्य घटधीरूपज्ञानरूपे प्रविष्टत्वम् । तथाघ-
 टाकारस्य घटधीत्वस्य कादाचित्कत्वेन घटात्मकविषयनिश्चयत्वं वक्त-
 व्यम् (अनियतत्वे हि घटधीत्वस्य नार्थद्विरूपप्रसङ्गः) इति घटाकार-
 कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या तदतिरिक्तस्य घटरूपविषयस्य सिद्धि-
 रिति द्रष्टव्यम् ।

त्वा^(१)दिति भावः । यद्यपि^(२)घटप्रमातेऽन्या न घटसिद्धिः, किन्तु घटप्रमेव स्वरूपमती घटसिद्धिः, तथापि विशेषाभावात्स, घटसिद्धिरेव किं न स्यादिति हृदयम् ॥ यद्वा, अनेनेवानुशयेनाह- । “नोपी”ति । ‘घटधीरेटसिद्धिरिति तद्गोचर^(३)ज्ञानान्तरनि-
र्वाह्यमिति तत्रतत्र प्रसङ्गेऽनवस्थेत्यर्थः ॥ व स्तुगोचरधीठयवहा-
रयोः सर्वेषां लोकानां शास्त्राणां च सम्प्रतिपत्तिमात्रं, विचारतस्तु
तयोरुपपादनमशक्यमित्याह- । “समस्तेति ॥

म० यद्यसाक्षात्कारिण्यनुमानादौ तच्छब्दाप्रयोगमात्रात्
(^४)साक्षात्कारिणि तच्छब्दप्रयोगः क्रियते “तर्हि
शशविषाणजवगडदशादिशब्दप्रयोगोपि साक्षात्का-
रिणि कर्तव्य एवाविशेषात्^(५) । * अथ जवगडदशा-
दिशब्दाः सामान्यतोर्थवत्तया न प्रसिद्धाः, क्वचि-
दप्रयोगात्; शशविषाणादिशब्दा प्रसद्विषया एवेति
प्रसिद्धाः, प्रत्यक्षादिशब्दास्तु सद्विषयवत्तया सामा-
न्यतः सिद्धाः, प्रत्यक्षमस्तीत्यादिप्रयोगदर्शनाद्; इ-
त्यस्तिविशेषः *, -इति, मैवम्, एतेनापि विशे-
षेण चाक्षुषादिशब्दानामव्यवच्छेदात् तेषामपि सा-
क्षात्कारि प्रमासात्रे प्रयोगप्रसङ्गः । * ‘साक्षात्का-
रित्वे सत्यपि श्रावणादौ चाक्षुषादिशब्दानामप्रयो-
गो, न त्वेवं प्रत्यक्षादिशब्दानामिति विशेषः * ?-इति

(१) अर्थं प्रत्यक्षत्वत्वात्=अर्थाऽसाधकत्वात् । (२) ननु घटरूपाऽ-
र्धानधीनत्वमपि घटधीत्वस्य घटधीरूपाऽर्धानधीनत्वमस्त्वेष, घटधीरेव च
घटसिद्धिः, तथाच तत्साधकत्वे कथं घटाऽसाधकत्वमित्याशङ्क्याह-यद्य
पीति । (३) तद्गोचरेति, घटधीविषयकज्ञानान्तरेण ज्ञेयमित्यर्थः । एवं
तत्रतत्र=घटधीगोचरज्ञानादावपि, प्रसङ्गे=ज्ञानान्तरशाह्यत्वप्रसङ्गेऽनवस्थे-
त्यर्थः । (४) तच्छब्दःऽप्रयोगमात्रात्=प्रत्यक्षशब्दाप्रयोगमात्रात् । (५) अ-
विशेषात्=अनुमानाद्यथाचकत्वस्य शशविषाणादिशब्देपि तुल्यत्वात् ।

चेत् "एवं तर्हि 'यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति तत्र प्रत्यक्षशब्दप्रयोगो नास्ति, यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति तत्र सर्वत्रास्तीति यो जानीते तं प्रति लक्षणाभिधानमिति स्यात्,

टी० ॥ अनुमानाद्यवाचकत्वं यदि प्रत्यक्षवाचकत्वे सम्भ्रं, तत्राह—। "तर्ही"ति ॥ अथ मद्वाचकत्वे मत्प्रत्यनुमानाद्यवाचकत्वं, तत्राह—। "एतेनापी"ति । चाक्षुषादिशब्दानामनुमानाद्यवाचकत्वे मति मद्वाचकत्वमस्तीति तेषामपि साक्षात्कारित्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन प्रत्यक्षवाचकत्वं स्यादित्यर्थः ॥ चाक्षुषादिशब्दे साक्षात्त्वं न प्रवृत्तिनिमित्तं तस्मिन्मत्यपि आध्यादिप्रतिपत्तौ तदप्रतिपत्तेरिति शङ्कते—। "साक्षादि"ति ॥ एवं मत्प्रत्यक्षव्यतिरेकाभ्यामेव तत्पदार्थचेयत्वमिदिरिति लक्षणोपन्यासप्रयासवैकल्यमिति परिहरति । "एवमि"ति ॥

सू० स च व्यवहारान्तरवदन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वाच्यवाचकभावमवधारितवानिति व्यर्थं लक्षणम् । "एतेनानुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्त्तव्यमित्युक्तानुमानमाध्यतयाभिधीयमानमपास्तं वेदितव्यम् । * पूर्वप्रतिपन्नमेव^(१) वाच्यवाचकभावं लक्षणाभिधानेन स्मार्यते?—इति चेन्न, 'अवगतसमयस्य^(२) प्रत्यक्षशब्दादेव तत्स्मरणसम्भवात् व्यर्थता लक्षणाभिधानस्य स्यात् । 'अवगतशब्दार्थसंबन्धः शब्दादेव स्मरन् यदि लक्षणोऽस्मिन् स्मार्यते, तदा लक्षणवाक्यगतपदकदम्बार्थस्मरणार्थमपि लक्षणमभिधानीयमविशेषाद्, एवं तल्लक्षणवाक्येपीत्यपर्यवसानं स्यात् । * "ननु प्रतिवादिनं

(१) पूर्वं प्रतिपन्नो ज्ञातो यो वाच्यवाचकभावस्त प्रत्येव पुरुषो लक्षणाभिधानेन लक्षणवादिना स्मार्यते इत्यर्थः । (२) अवगतो ज्ञातः समयो=वाच्यवाचकतासंबन्धो यस्य पूर्वस्तस्येत्यर्थः ।

प्रति लक्षणाभिधानं नार्थवत्, तेन वाद्याप्तभावान-
ङ्गीकारात्, किन्तु शिष्यार्थं लक्षणमुच्यते शास्त्रे, स^(१)
हि शास्त्रस्य कर्त्तारमाप्तमेव मन्यते, तस्माच्छिष्यं
प्रत्याप्तवचनत्वेनैव लक्षणवाक्यमर्थं प्रतिपादयिष्य-
ति गुरुणा गीयमानं, - यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः
प्रतीतः स एव प्रत्यक्षशब्दार्थः^(२) - इति चेन्मैवम् ।
यदि वादिनं प्रति न शास्त्रं किन्तु शिष्यं प्रति, तदा
प्रतिज्ञामात्रादेवाप्तवचनात् शिष्यस्यार्थनिश्चयो-
त्पत्तेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकमापन्नं शास्त्रे। अथ*भवतु
(३) तत्प्रतिवादिनमपि प्रति शास्त्रे वाक्यं यत्र हेत्वा-
द्युपात्तं, लक्षणवाक्यं तु शिष्यमेव प्रति प्रयोजकं,
प्रतिपन्नशास्त्रकाराप्तभावम्-* इति मन्यसे,

टी० ॥ “एतेने”ति । अन्वयव्यतिरेकमिद्वत्त्वेनेत्यर्थः ॥
“अवगते”ति । शब्दान्तरवदित्यर्थः ॥ ननु लक्षणाधीनं वाचक-
त्वस्मरणं प्रयोजकम्, नत्वन्यदित्यत आह- । “अवगते”ति ॥
“वादिनं प्रति भवन आप्तत्वामिद्वेरिति पूर्वोक्तं गच्छते-।
“नन्वि”ति ॥ शिष्यं प्रति लक्षणाभिधानप्रकारमाह - “यस्त्व-
ये”ति ॥ “किन्त्विति । उपनिषन्न्यायेनो^(४)पदेशमात्रं शास्त्र-
मस्तु, किं लिङ्गाद्युपदर्शनेनेत्यर्थः ॥

सू० तदप्यनुपपन्नम्, शास्त्रान्तरसाध्यत्वाद् स्यार्थस्य ।
अस्ति शास्त्रं समयस्य ग्राहकं मुनिभिः प्रणीतं नाम-
लिङ्गानुशासनव्याकरणादि । यदि च शास्त्रान्तरसा-
ध्योर्यो भवदीयशास्त्रस्य विषय, स्तर्हि प्रकृतिप्रत्य-

(१) सः = शिष्यः । (२) अत्रैकमन्यदितिपदमध्याहर्तव्यम् ।

(३) अथ यत्र हेत्वाद्युपात्तं लक्षणवाक्यं प्रतिवादिनं प्रत्यपि शास्त्रे
भवतिवस्यन्वयः । (४) उपनिषन्न्यायेन = उपनिषद्गृह्यान्तेनराजाज्ञा-
भद्युक्तिनिरपेक्षमित्यर्थः ।

यविभागेन साधनमपि शब्दानां कुतो न व्युत्पाद्य व्यवस्थाप्यते? लिङ्गं वा शब्दानां कुतो नाभिधीयते? तदज्ञानेपि पराजयो जायते एव । अथवाऽस्तु ध्या-
करणादिविषयं विहाय नामव्युत्पादनं कथमपि भ-
वच्छास्त्रविषयः, तदापि न्यूनतरत्वमस्मिन्विषये
भवदीयशास्त्रस्य । बहूनि नामानि विद्यन्ते कोशा-
न्तरवर्तीनि, कुतो^(१) न व्युत्पादितानीति । *अथा-
स्मिन् शास्त्रे येषां शब्दानामुपयोगस्तेषामनेन व्यु-
त्पादनं, न सर्वेषाम्*—इत्युच्यते तथापि यथैकवाक्य-
गतस्य पदस्य लक्षणव्युत्पादनम् एवं तल्लक्षणवाक्य-
गतपदस्यापीत्यपर्यवसानमापतितं शास्त्रस्य, तत्तल्ल-
क्षणवाक्यप्रयोगे एव तेषां तेषां पदानां शास्त्रे जा-
तोपयोगत्वात् । *अथ नानालक्षणप्रखेटृणां वादिनां
विप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिशब्दाय एव व्युत्पाद्यते
संशयनिरासाय नान्योऽसंशयत्वात्*—इति मन्यसे,
तथाप्यनुपपत्तिः । अस्ति हि 'वादीनामर्थे वाच्य-
ताद्योत्यताविवादः^(२), 'अस्ति च छिदुरादिपदा-
नामर्थे कर्मकर्तृत्वाकर्मकर्तृत्वे विवादः, अस्ति
च भावशब्दस्य स्वरूपसत्त्वसत्तासामान्याद्यर्थत्वे^(३),
अस्ति चाऽधिकरणशब्दायस्य पतनप्रतिबन्धकत्व-
समवायित्वाद्दौ, एवमन्यस्मिन्नपि बहौ पदाये जाग्र-
ति विप्रतिपत्तयः^(४) तत्तल्लक्षणानिकस्मान्नोक्तानि?।

(१) 'कुतः'—इत्यतः प्राक्'तान्यपि'—इत्यस्याहरणीयम् । (२) निपातानां
वाचकत्वं नैयायिकमते, द्योतकत्वं वैयाकरणमते ज्ञेयम् । (३) भवन्तीति
भावाः—इतिश्रुत्पत्त्या तत्तद्वस्तुस्वरूपसत्त्वार्थत्वं; भवनं भाव इति श्रुत्प-
त्त्या च सत्तासामान्यार्थत्वम् । भाव इति प्रयोगश्चैरादिकस्य । (४) विप्र-
तिपत्तयो जाग्रतीत्यन्वयः, "जाग्रति"—इति बहुवचनान्तं क्रियापदम् ।

टी० । “अस्यार्थस्ये”ति । वाच्यवानकत्वव्युत्पादनस्ये-
त्यर्थः ॥ तदेवाह-। “अस्ती”ति ॥ “वादीनामि”ति । वाश-
ब्दादीनामित्यर्थः ॥ “अस्ती”ति । “विदिभिदिच्छिदेः कुर-
जि”तिभूत्रविहितकुरच्प्रत्ययस्य कर्मकर्त्तरि क्तरि मात्रे वाऽनु-
शासनमिति मन्देशः, प्रयोगद्वैविध्यदर्शना^(१)दित्यर्थः । यद्यपि
यावतां पदार्थानां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयमहेतुस्ते एव लक्षणानि परी-
क्षातश्च शास्त्रे निरूपणीयाः, इति नायमुपालम्भो^(२)घटते,
तथापि तदप्येतावतामेवेति न नियामकमिति भावः ॥

सू० तदास्ताम् “एकत्र विस्तराभिनिवेशः । किञ्च तत्सा-
क्षात्कारित्वम् ? । * सविशेषार्थप्रकाशत्वम् ?^(३)”-इति
चेन्न । “सविशेषत्वस्योपलक्षणत्वेऽनुमानादिद्वयापत्तिः ।
‘विशेषणत्वे च यदि विशेषशृङ्खलाया “विश्रान्ति,
स्तदा^(४)’शेषविशेषस्य बोधे प्रत्यक्षलक्षणक्षीणत्वे-
नाऽऽमूलमप्रत्यक्षत्वापातः । यद्यविश्रान्ति,स्तदा
तादृशस्यैव व्यापितग्रहादनुमायामपि तादृशसिद्धि-
रिति साक्षात्कारित्वापत्तिः । * ‘अथाननुगमात्तत्र न
तदनुमा*, “तर्हि तदनुगतप्रतीत्याद्यनुपपत्तिः ।

टी० ॥ “एकत्रे”ति । प्रत्यक्षादिलक्षणमात्रे इत्यर्थः ॥
“सविशेषत्वस्ये”ति । मह विशेषेण रूपित्वादिना तार्थत्वाऽ-
तार्थत्वादिना वा वक्तव्यमानस्य बहुधादेरनुमानादिनापि प्रतीते-
रतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ विशेषेण महैव भान यदि विषयितं, तत्रा-
ह-। “विशेषणत्वे चे”ति । अनवस्थाभयेन यस्य विशेषस्य सवि-
शेषत्वभान नाभ्युपेयं तत्राप्रत्यक्षतया मूलपर्यन्तमप्रत्यक्षत्व स्यात्,

(१) क्लिष्टते यदाच्छिदुरमिनिष्ठ्युत्पत्त्या काष्ठादौ, क्लिष्टतेतिव्युत्पत्त्या
च पुरुषे, क्लिष्टरपदप्रयोगदर्शनादित्यर्थः । (२) अयमुपालम्भः-“तत्त-
लक्षणानि कस्म नोक्तानि”-इत्युपालम्भ इत्यर्थः । (३) विशेषेण वर्तु-
लत्वपृथुबुधोदरत्वादिना सहितो योऽर्थो घटादिस्तज्ज्ञानत्व साक्षात्का-
रित्वमिति शङ्कते-सविशेषेति । (४) शेषविशेषस्य=वरमविशेषस्य,
यद्विषयकं विशेषान्तरं नास्ति तस्येत्यर्थः ।

विशेषसाहित्येनाऽज्ञानादित्यर्थः ॥ “विश्रान्तिरिति ।
कश्चिद्विशेषो विशेषं विनाकतोपि गृह्यते इत्यर्थः ॥ “अवि-
श्रान्तिरिति । सर्वे विशेषाः स्वविशेषसाहित्येनैव भासन्ते
इत्यभ्युपगमे ष्याप्तियाहकप्रत्यक्षे यावद्विशेषभानम् इत्यनुमा-
ने^(१)पि तद्भानादनुमितेः प्रत्यक्षत्वात्परित्यक्त्यर्थः ॥ ननु ताव-
तामनन्तविशेषाणां ष्यापकतावच्छेदकैकरूपाभावादनुमितौ भा-
नमनुपपन्नमिति न तत्रानिष्ठाप्यमिति शङ्कते- । “अथेति ॥
तां तावतामनन्तविशेषाणां अनुगतप्रतीतिव्यवहारो न स्याता-
मेकरूपाभावादिति परिहरति- । “तर्हीति ॥

सू० “व्यक्तेरनुमानादसिद्ध्यापत्तेश्च । यथा हि व्यक्तिं
विना सामान्यस्य, तथा तावन्तं विशेषं विना व्य-
क्तेरप्यनुपपत्तावविशेषात् । “यदि च प्रतीत्यपर्यव-
सानाभावात्पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरिति
मन्यसे, तदा प्रतीता^(२)पर्यवसानानद्बुद्धिः साक्षा-
त्प्रकाशः स्यात् । अप्रतिपद्यमानानन्तविशेषप्रका-
शकल्पनाच्चैकाकिसाक्षात्त्वनामकविशेषकल्पनैवा-
ल्पत्वाच्छ्रेयसितरा, साक्षात्कारित्वव्यवहारानुपप-
त्तेः (कल्पनाबीजस्य) तावता^(३)पि चरितार्थत्वात्,
इति कृत्वा तत्कल्पनापि नाऽत एव ।

टी० ॥ किंच, सामान्योपग्रहं ष्याप्तियह इत्यनुमितौ
सामान्य भावमानं व्यक्तिभादायैव यथा भासते तथा बहिर्गम्य-

(१) अनुमाने=अनुमितौ । अत्रायसाशयः । व्याप्तियहकप्रत्यक्षे
बहिर्गम्यनन्तविशेषवन एव व्यापकस्य भानान् तादृशविशेषभानधाराया
अविश्रान्तेश्च त्वयैवेत्कत्वादनुमितपर्यन्तमपि विशेषभानं वक्तव्यमि-
त्यनुमितेरपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इति । (२) प्रतीतेति, प्रतीताया बन्धि-
व्यक्तैस्तार्थत्वाऽतार्थत्वाद्यनन्तविशेषं विनाऽपर्यवसानाद्=अनुपपद्यमान-
त्वात्तदुपपत्तकानामनन्तविशेषाणां बुद्धिः=कल्पनारूपार्थापत्तिः साक्षा-
त्प्रकाशः=साक्षात्कारिज्ञानं ष्यादित्यर्थः । (३) तावता=अर्थगतानुगत-
साक्षात्त्वकल्पनेनैव ।

नुमितौ भाममानस्तावदनन्तविशेषमादायैव^(१) भामते तत्समानमवित्सवेद्यत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा सामान्यमादायैवानुमितिः पर्यवस्येद्व्यक्तिभानं क्वापि न स्यादित्याह— “व्यक्तेरिति” ॥ एतदेवाह— “यथा ह्येति” । सामान्यस्यानुपपत्तिरिति संबन्धः^(२) ॥ “व्यक्तेरिति” । अनुमितौ भाममानाया वह्न्यादिव्यक्तिरित्यर्थः ॥ ननु व्यक्तिमनादाय सामान्यबुद्ध्यर्थोऽपर्यवसानं न तथा तावदनन्तविशेषमनादाय वह्न्यादिव्यक्तिबुद्धेरपर्यवसानं, तावद्विशेषमनादायापि व्यक्तिबुद्धेर्दर्शनादित्यत्र आह— “यदि चेति” । एवमपि प्रतीता बह्विव्यक्तिस्तावदनन्तविशेषमनरेण न पर्यवस्यतीति तदनुमित्यनन्तरभाविन्यर्थबलायाते ज्ञानान्तरे^(३) प्रत्यक्षलक्षणानिष्ठासि स्थितित्यर्थः ॥ किञ्च, तावदनन्तविशेषभानमनुपलब्धिबलाधितमित्यवश्यनिर्वाह्यमात्रत्वेव्यवहारानुरोधाद्विषयगतमात्रत्वेसामान्यमभ्युपगम्यतां, यद्विषयीकुर्वन्नुज्ञानं माहात्कापि व्यवह्रियते इत्याह— “अप्रतिपद्यमानेति” । एकाकि त्वमल्पत्वं च लाघवानुरोधादुक्तम् ॥ नन्वस्तु तथा, को दोष ? इत्यत्र आह— “तत्कल्पनापीति” ॥ “अत्र एवेति” । विषयगतमात्रत्वेविषयकानुमित्तावतिष्ठासिदोषादेवेत्यर्थः ॥

सू० “विस्तरश्चात्र वक्ष्यते । विशेषश्च यदिव्यवच्छेद, स्तदा निर्विकल्पकाऽव्याप्तिः । यदि^(४) च तदितरविश्वव्यावृत्तस्वरूपप्रकाशः, सोपि तथा, तदा दूरात्सामान्यप्रत्यक्षस्या^(५) प्रत्यक्षत्वापत्तिः । तन्न,

(१) तावदनन्तविशेषमःदाय=तार्गत्याऽतार्गतत्वादिलक्षणं विशेषमादयैव भामतेत्यर्थः । तत्र हेतुः—तत्समानेति, सामान्यमाहात्कज्ञानशब्दात् अभ्युपगमात् विशेष्येत्यर्थः । (२) “अनुपपत्तौ”—इत्यस्यैव विषयव्यक्तिविराजनेनानुपपत्तिरिति प्रकल्प्य सम्बन्ध इत्युक्तम् । (३) अनुपपद्यमानेति तार्गत्यादुपपादकभूतार्थान्तरकल्पनाकार्यापत्त्यात्मके ज्ञाने इत्यर्थः । (४) ननु स्वैतरविश्वव्यावृत्तं स्वरूपं विशेषः, तत्प्रकाशकं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्युच्यते, तथा च सोपि=निर्विकल्पकज्ञानविषयाप्यसि तथा=स्वैतरविश्वव्यावृत्त इति न तद्विषयके निर्विकल्पकेऽव्याप्तिरित्यत्र आह—यदीति । (५) सामान्यप्रत्यक्षस्य=सामान्यतः स्था-

जगद्वैलक्षण्यप्रकाशे संशयाद्यनुपपत्तेः । यदि च तत्रापि प्रतिपत्त्रादिव्यवच्छेदमात्रप्रकाशाद्विशेषप्रकाशत्वमेव, तदाऽनुमित्यादिव्याप्तिः । अथेन्द्रियकरणकानुभवत्वं^(१), तत्र 'साक्षात्कारिधीकरणत्वस्यैवेन्द्रियत्वेनान्योन्याश्रयत्वापत्तिरिति केचित् । तन्न, अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य^(२) "भावत्वविशेषितस्य चेन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात् । "विना कार्यगतविशेषसिद्धिं, किं प्रति करणत्वमेव ज्ञेयमिति तु बाधः सार्धायात् । 'एतेन 'ज्ञातता काचिद्वैलक्षणा, तज्ज्ञानकत्वं ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्' इत्यपि निरस्तम्,

टी० ॥ ननु ज्ञानगतमेव साक्षात्त्वमस्तु, तदेव च लक्षणमित्यत आह । "विस्तरश्चे"ति ॥ 'सविशेषार्थप्रकाशत्वनि'-त्यत्र विशेषपद विकल्प्य दोषमाह- । "विशेषश्चे"ति । निर्विकल्पके विशेषस्यातद्दृष्ट्यावृत्तेरभानात्तत्राठ्याप्तिरित्यर्थः ॥ ननु व्यवच्छिन्नभानमभिमतं, न तु व्यवच्छित्तिमानमित्यत आह- । "यदि चे"ति ॥ "सोपीति । निर्विकल्पकविषयोपीत्यर्थः ॥ "तदा दूरादि"ति । यदि धर्मिर्मात्रमपि विशेषो वस्तुमात्रं वा विशेषस्तदा धर्मिर्दर्शनं विशेषदर्शनम्, अतस्तत्र संशयो न स्यादित्यर्थः ॥ ननु सकलव्यवच्छिन्नप्रकाशो न लक्षणं, किन्तु व्यवच्छिन्नप्रकाशमात्रं, तच्च दूरप्रत्यक्षेऽप्यस्तीत्याह- । "यदि चे"ति ॥ अट्टमतेऽनुपलब्धिद्वयावर्तनायाह- । "भावात्वे"ति ॥

एवादेर्धर्मिणः प्रत्यक्षस्य, अप्रत्यक्षत्वापत्तिः, इतरव्यवच्छिन्नस्वरूपस्य तत्राभानात् । तज्ज्ञाने बाधकमाह-तत्रेति ।

(१) अत्र "साक्षात्त्वम्" - इति शेषः । (२) अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य=अज्ञातत्वे सति प्रमाकरणत्वस्य ।

स्वयं खण्डनमाह—। “विने”ति ॥ “पूतेने”ति । कारणत्व-
स्याशक्यग्रहत्वेनेत्यर्थः । ज्ञाततावैलक्षण्यं -यतः ‘साक्षात्कृतोय-
नि’ति व्यभिहार इत्यर्थः ॥

सू० “ऐकरूप्याव्यवस्थितौ कारणत्वानवधारणात् । * नच
ज्ञाततावैलक्षण्यान्यथानुपपत्तेरेव “तत्सिद्धिः, ‘कार-
णान्तरवैलक्षण्यादेव तदुपपत्तेः । नापि मेयजनितत्व,
‘मतिप्रसङ्गात् । ‘स्वमेयजन्यत्वं च स्वार्थव्यावृत्त्या-
ननुगमात्, ‘पूर्वदोषानिवृत्तेश्च । “अथ * येन प्रमिते
सति न प्रमित्सा पुनर्भवति तज्ज्ञानं साक्षात्कारि
*—इति, तन्न, “प्रत्यक्षावगतेपीठे तनयादौ प्रमि-
त्सादर्शनात् । * अथ यदनन्तरं न विजातीयप्रमि-
त्सा तद्भावस्तथात्वं*, तन्न, तत्साजात्यानवगतौ
तद्विजातीयत्वानवगतेः, अरिसम्पद्यनुमानादिविष-
यायां प्रत्यक्षयितुमनिष्टेश्च । प्रत्यक्षावगतेपि दहने
रक्ताऽशोकस्तवकसन्देहे धूमदर्शनेन वह्नेरनुमीय-
मानत्वादित्यप्येके । * अज्ञायमाना /ऽसाधारण-
कारणको /ऽनुभवत्वं,

टी० ॥ “ऐकरूप्ये”ति । साक्षात्कृतताऽऽधायकं किं
ज्ञानम् ? इति नाद्यापि निरूपितमित्यर्थः ॥ “तत्सिद्धिरिति ।
ज्ञानगतैकरूपसिद्धिरित्यर्थः ॥ ज्ञानभिन्नकारणेनापि ज्ञाततावै-
लक्षण्यमन्यथोपपन्नमित्याह—। “कारणान्तरे”ति ॥ “अतिप्र-
सङ्गादि”ति । आत्मना मेयेन सर्वज्ञानजननादित्यर्थः ॥ प्रत्य-
क्षज्ञानस्य यन्मेयं (घटादि) तत्तज्जन्यत्वं न लक्षणं, स्वपदार्थो-
ननुगमादित्याह—। “स्वमेयजन्यत्वमिति ॥ आत्मप्रत्यक्षे प्रत्य-
त्यात्मना मेय इति तज्जनितत्वं सर्वज्ञानानामित्याह—। “पूर्व”

विशेषणतया लिङ्गस्यापि करणत्वमित्यत आह-। f "ज्ञाने"ति ।
तथाचावधावपि तुल्यमित्यर्थः । यद्यपि विशेष्यस्य ज्ञानस्य करणत्वेऽनुमिता-
वज्ञायमानं रणत्वं गतमेव, तथापि तौल्यमेवेति भावः (१) । ननु तत्र लिङ्गं
करणं, तज्ज्ञानं तु व्यापारः । इति नाज्ञायमानकरणत्वमिति शङ्कते । g "अ-
साधारणे"ति । अथचिज्ञानस्य व्यापाराभावात् करणत्वमिति वा शङ्काथेः ॥
भाविना व्यापारद्वाराऽपि न लिङ्गस्य करणत्वमित्येतदथ "भावी"ति ॥
स्वप्रकाशेन ज्ञायमानकरणत्वमनुमानेऽनुपपन्ने, तस्यान्यथासिद्धत्वादित्याह
h "नस्यापी"ति ॥

सू० । अन्यथासिद्धस्यापि ज्ञायमानत्वमभावर्जते चक्षुराद्य-
नुमित्यनन्तरं दैव्यापजान्ते इति प्रत्यक्षत्वात्पनात् ।
* नियमेन ? -- इति चेन्न, विधौ वैयर्थ्यात् । नियमेन
निषेधस्य विशेषणे दैव्यापजान्तेन्द्रियज्ञानानन्तरजप्र-
त्यक्षसम्बन्धमितिः । * विधौ करणत्वप्रविष्ट एवायं
विधयो निरुच्यते ? इति चेन्न, तथापि वैयर्थ्यादेव ।
g अन्यथानिप्रसरेतरदैयर्थ्यम् ? * -- इति चेन्न, तथा-
प्यनिप्रसरेतरेव । तद्वि रसादिनाश्चात्कारे रूपादि-
हेतुः । / अन्यथासिद्धेर्न ? -- इति चेन्न, तुल्यत्वादनु-
मानेऽपि ।

टी० । अवर्जनीयमित्यस्य कारणकोटौ प्रमेयेऽनियमः । a "अ-
न्यर्थे"ति । तथाच ज्ञायमानं रणत्वा प्रत्यक्षेऽपि म्यादित्यर्थः ॥ अनुमानं
नियमेन ज्ञायमानं करणकं न तु तथा प्रयतित्याह । h "नियमेने"ति ॥

(१) अथचिज्ञानं विशेष्यमात्रस्य ज्ञानस्यैव रणत्वं न विशिष्टस्य अनुमितौ तु
विशेष्यस्य करणत्वमात्रं करेण विशेष्यभूतत्वात् । तथापि करणत्वमित्यनुमितावज्ञायमान-
करणत्वं गतम्-निरस्य मेवेत्याक्षेपप्रसङ्गः । तथापि विशेष्यस्य निरहादनुमितावपि
विशेष्यमात्रे करणत्वस्वीकारे साम्यमेवेति गतमनप्रसङ्गम् । यद्वा, यद्यप्यनुमितौ
विशेष्यस्य ज्ञानस्य करणत्वमित्यनुमितावज्ञायमानकरणत्वत्वलक्षणं गतं-स्थितमेव तथापि
प्रत्यक्षेऽपीन्द्रियस्यावधिज्ञानस्य वा ज्ञायमानस्यैव करणत्वानौल्यमित्यर्थः ।

नियमेन ज्ञायमानकरणाकमनुमानमिति वा विवक्षितं ? नियमेन ज्ञायमान-
 करणाकं प्रत्यक्षमिति वा ? आद्ये आह-। c 'विधावि' ति । नियमाशस्य
 कारणोक्तलभ्यत्वात्, नियमपूर्ववर्तिन एष कारणत्वादिन्यर्थः ॥ द्वितीये
 वाह-। d "निषेधस्ये" ति । नियमेनाज्ञायमानकरणात्वस्य प्रत्यक्षविशेषाव्या-
 पकत्वमित्यर्थः । ज्ञायमानत्वं कारणे विशेषणं, ननुपनक्तमिति नियमेने'ति
 पुरणाल्लभ्यते, इत्याह-। e "विधौ करणात्वे" ति ॥ ज्ञायमानकरणाकमित्य-
 भिधानादेव ज्ञानस्य विशेषणात्वमपि लभ्यते ()-इति नियमेनेत्यस्य वैय-
 थ्यमेवेत्याह-। f "तथापि" ति ॥ ज्ञायमानकरणात्वं तु काकनाचीयज्ञानमा-
 दाय प्रत्यक्षेतिप्रमत्तमिति तद्वाग्ग्याथमयं प्राप्तानुवाद इत्याह-। g 'अन्य-
 थ' ति ॥ श्रवर्जनीयसिद्धमप्यादाय यद्यतिप्रसक्तिभेदादन्यथासिद्धमन्यदप
 (१) करणं स्यादिति सुतरामनिप्रसक्तिरित्याह-। h "तथापि" ति । ईश्वरज्ञा-
 नमादाय ज्ञायमानकरणाकत्वं प्रत्यक्षे'पी' त्यपव्याख्यानस्य अप्रिमत्तमिच्छाऽ-
 नन्वयात् (१) ॥ ननु भयत्यन्यथासिद्धमपि करणमित्यत्र आह-। i "नहीं" ति ॥
 अन्यथासिद्धेन * ज्ञानेन ज्ञायमानकरणात्वं प्रत्यक्षे, नन्वेवमनुमाने इत्य-
 ज्ञायमानकरणाकानुभवत्वं नानुमानगामित्याह । / "अन्यथासिद्धेति" ति ॥
 निद्वज्ज्ञानपवि स्वप्रकाशतया स्वयमेवेत्यथासिद्धमेव, इत्यनुमानेनाज्ञाय-
 मानकरणाकत्वमतिव्यापमेवेत्यह-। k "तुल्यावति" ति ॥

मू०००किञ्च, यत्र निषेधस्तद्गमैकरूप्यं निरूप्यम्, अन्यथा
 किमादाय नियमो निरूप्येव, इति कार्यगतैकरूप्यमन-
 भिधाय न निस्तारः ॥ किनापि च नियमपदप्रवेशं कार्य-
 गतैकरूप्यमनिरूप्याऽनिस्तार एव । c 'ज्ञायमाने नात्र

(१) लभ्यते, 'ज्ञायमाने'ति ज्ञानचप्रत्ययवर्त्ताति भावः ।

(२) अन्यद् इति रमादिगणकारे करणं स्यादितिपर्यः ।

(३) "न हे रमादिगणकारे रूपदिहेतुः"-इत्यव्यवहृता प्रकाशकाऽनन्व-
 यापनेति-व्यर्थः ।

(४) स्वप्रकाशविधया ज्ञान ज्ञानप्रसाधनेऽन्यथासिद्धम् ।

करणमि'ति हि यदि कार्य्यव्यक्ति(१)मभिसन्धाय, तदा तत्पूर्वं प्रतीतानां तत्राकरणत्वं दुरवधारणं, ततस्तज्जातीयं नज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽवश्यं यतनीयमिति । ॥ अथाव्यवहितार्थप्रमात्वं तथा, एतद्धि किमपेक्ष्याव्यवधानं? किञ्च तन्न? इति वाच्यम् । इन्द्रियमपेक्ष्य तन्न(२)अस्ति कर्षश्च तां(३)दि' चत्, तर्हीन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वामिति ॥ कुटिलिकार्थः, सच्चानुपपन्नः, ॥ स्वविलोचनगोचरानुमानव्यापेः । ॥ ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तन्न? इति चेन्नः । मविकल्पकविशेषाऽव्यापनात् ।

टी० यज्जात्यावच्छेदेन नियमेन ज्ञायमानकरणकत्वं निषेध्यं तस्य(४)प्रतिद्वो नियमो दुप्रदः, प्रमिद्धो च तदेव लक्षणमित्याह- ॥ "किञ्चे"ति ॥ अत्र यमानकरणकत्ववच्छेदकमन्तरं प्रत्यक्षं दुष्टमित्याह- ॥ "निर्नापी"ति । यद्वा, ज्ञायमानकरणकत्वनिषेधो यत्र स्यात्तानुगतत्वं वक्तव्यमित्यर्थे ॥ व्यक्तविशेषे(५), ज्ञायमानकरणकत्वं निषेद्धं न शक्यते, यतो ज्ञायमानेनेव केनचित्करणेन न जननमम्भवात्, अत्र एतज्जातीयं न ज्ञायमानकरणकमेतज्जातीयं च तथा-इत्यन्वयव्यापारेकाभ्यां ग्राह्य(६)मित्याह- ॥ "ज्ञायमानमि"ति ॥ प्रत्यक्षलक्षणान्तरं शङ्कते- ॥ "अथे"ति । इन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वं साक्षात्त्वमित्यर्थः ॥ एतदेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति- ॥ "तर्ही"ति ॥ / "तदि"ति । व्यवधानमित्यर्थः ॥ ॥ "कुटिलिकार्थ" इति ।

(१) कार्य्यव्यक्तिम् - देवाज्जायमानचक्षुरादिकरणकप्रत्यक्षव्यक्तिम् । तज्जातीये = प्रत्यक्षत्वावच्छेदे, तज्जातीयस्य = ज्ञायमानकरणत्वावच्छेदनस्य, यो व्यभिचारस्तत्प्रतिसन्धाने इत्यर्थः ।

(२) तद् = कव्यवधानम् ।

(३) तद् = व्यावधानम् ।

(४) तस्य = जातिरूपस्यावच्छेदकस्य । नियम - व्याप्तिः ।

(५) देवाज्जायमानकरणकप्रत्यक्षव्यक्तिविशेषे - इत्यर्थः ।

(६) ग्राह्यमिति, तथाचावश्यमनुगता नतिप्रमत्तरूपप्रहृषापेक्षया भाव्यमिति भावः ।

लार्थत्वं, तत्रापि व्याप्तिप्रविष्टत्वं तादृशत्वस्य प्रयोजिका ? *—इति चेन्न, कथमप्यस्तु / तथापि स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्य सम्भवात् ।

टी० ॥ a "एतेने"ति । सविकल्पकाव्यापकत्वेनेत्यर्थः । लिङ्गादिज्ञानेन विषयान्तरेऽनुमित्यादिजनन निर्विकल्पकेन तु स्वविषये एव सविकल्पकजननमिति लक्षणाकर्तृर्गोचरमान । अतश्चात्रानुमित्यस्य वैशिष्ट्यस्य निर्विकल्पकविषयतापेक्षया विषयान्तरत्वादेतदनुपग्रह इत्यर्थे (१) । यद्वा, स्वविज्ञानजन्यदीर्घादिप्रत्ययै ह्यस्याऽप्यवच्छेदः एवाधको भासते इति, तदनुपग्रह इत्यर्थे ॥ एतदेवाह- । b "तदवय"ति ॥ c "स्वविषये"ति । प्रत्ययं प्रत्यक्षावयवविषयमज्ञानेन न जन्यते लिङ्गानुपधानपक्षे, अनुमित्यादिकं च नथे । ति नऽप्यवच्छेद इत्यर्थः ॥ प्रतियोगिताऽप्यभवत्वाने भानास्त्येवेति नाभावप्रत्ययत्वप्रतिरूप्याह । d प्रतियोगितेऽर्ग"ति । प्रतियोगितादऽप्यमते त्वाह । e "अप्रतियोगितेने"ति । / स्वपदार्थस्याननुगमादित्यर्थः ॥ वेजात्यमन्तरेण जायन्तकभावा दुष्य इति पूर्वदृश्यामतिदिशति । f "कथं"ति ॥ h "स्वकाले"ति । बोधकालावाच्छिन्नार्थत्वस्य प्रकाशत्वमित्यर्थे ॥ उपच्छेदप्रकाशनाह- । २ "न"ति । यदा धूमस्नदा वाहरित्वाकारव्याप्तिप्रवृत्ततायानं स्वकालावच्छिन्नत्वं, ननु विपरस्वभावाधीनमित्यर्थः ॥ बोधकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं चन्द्रोदयादिग्रथने गतमेवेत्यनिव्याप्तिरित्याह- । j "नथार्प"ति ॥

सू० "न च यज्जातीयमेवमेवेति विशेषः* । साजात्यस्य वैलक्षण्यम्याग्रतः सिद्धौ किमनेन(१), न च नदपीति

(१) लक्षणखण्डनपरग्रन्थार्थ इत्यर्थः ।

(२) लिङ्गार्थहितर्लक्षकमानवादिमनं नियमादहह्यनुमितिविषयीभूतमेव लिङ्गज्ञानेन बह्व्यनुमितिजन्यते, अत एवर्त-लिङ्गानुपधानपक्षे इति ।

(३) स्वात्मकानुामत्यविषयाभूतलिङ्गज्ञानेन जन्यते एवेत्यर्थः ।

(४) अनेन (= जातिघटितलक्षणोऽन) किमन्यन्वयः । न च नदपि साजात्यमपि सम्भवतीति वक्ष्यते- "अथ ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित् साक्षात्वं, तत्रै"त्यादिना प्रन्थेन

वक्ष्यते । **b* व्याप्त्यादिकमन्तरेण ? *—इति चेन्न, तस्यैव समर्थत्वेन स्वकालकार्थव्यर्थान् । यथा च न तदपि तथा वक्ष्यते^(१) । *d* यत्तु कश्चिदाह—“स्वप्रकाशनिषेधात्स्वकालावच्छिन्नकार्थप्रकाशत्वासंभव” इति, तदयुक्तम्, एवस्तु नो यः स्वकालस्य विवक्षितत्वात्, वर्तमानप्रकाशस्थेति निरुक्तिपर्यवसानात्^(२), वर्तमानार्थस्य च सर्वनिर्वचनीयत्वात् । तथाचोक्तं,—“नम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुर्गदिना” । इतस्मादस्मदुक्तमेव युक्तम् ।
 **b* बोहामन्निकर्षेतराऽप्रयुक्तविषयनियमजं ज्ञानं तथा ? *—इति चेन्न, दोषवशाजानमाक्षाहोषे तदसंभवात् ।
 *प्रमासाक्षात्कारस्तथा ? *—इति चेत्तान्, साक्षात्त्वेन प्रमेतरयोरविशिष्टतया साक्षात्त्वस्य साधारणस्यैव निर्वक्तव्यत्वात् ;

टी० ॥ ननु तथाऽप्यनुमितिमात्रं न तथा, यथा प्रत्यक्षे, इत्यत आह—*a* “नचे”ति ॥ व्याप्त्यादिक्यनिरंकेण बोधकत्वावच्छिन्नार्थबोधत्वं विवक्षितमिति शङ्कते । *b* ‘व्याप्त्यादी’ति ॥ व्याप्त्यादिकमन्तरेण जायमानबोधत्वमेव तर्हि लक्षणमस्त्वान् परिहरति—*c* ‘तद्यैवे’ति ॥ प्रकृतलक्षणो खण्डनान्तरमुपपद्यते—*d* ‘यत्त्वि’ति । स्वकालावच्छिन्नत्वेनार्थबोधत्वं स्वप्रकाशपक्षे^(१) सम्भवते, तस्य च निषेधादित्यर्थः ॥ स्वकालावच्छिन्नोऽपि न प्रकारत्वेन^(२) विवक्षित इत्याह—*e* ‘वस्तुन’ इति ॥ ननु

(१) वक्ष्यते “अनुमानादिव्यवच्छेद्यतत्साधारणकारणाऽजनिताधीः साक्षादिति चेन्नेत्यादिग्रन्थेन । व्याप्त्यादित्वखण्डनेन वक्ष्यत इति त्वन्ये ।

(२) ‘स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वमिति प्रत्यक्षत्वनिर्दोषं वर्तमानार्थप्रकाशस्तथा’ (=प्रत्यक्षम्)—इति निरुक्तिपर्यवसानादित्यर्थः ।

(३) स्वविशिष्टकालविशिष्टार्थप्रकाशकत्वे ज्ञानस्य कालविशेषणीभूतस्य स्वस्यापि प्रकाशकत्वमिति भावः ।

(४) न प्रकारत्वेन विवक्षितः किन्तु पाधिनयोपलक्षणतया वेति भावः ।

वर्तमानत्वमपि दुर्वचमित्यत आह-। / 'वर्तमाने'ति ॥ यत्तु स्वशिद्धं मया तदेवयुक्तमित्याह-। ४ "तस्माद्"ति ॥ ५ "पोढे"ति । षोढासन्निकर्षेत्तरेण व्याप्यादिना अप्रयुक्तो यो विषयनियमग्नञ्जं ज्ञानमित्यर्थः ॥ ६ 'दोषवगे'ति । साक्षात्कारिभ्रमे दोषस्यैव षोढासन्निकर्षेतरस्य विषयनियामकत्वेन तदव्याप्तिरित्यर्थः ॥ साक्षात्कारसामान्यस्यैव लक्षणमुपक्रान्तमित्याह-। / 'ने'ति ॥

सू०^१ अनिष्टभ्रमबुद्धिमते ^१) षोढामन्निकर्षस्य ^२प्रत्येकमिलितविकल्पात्तुरपत्तः । *साक्षाद्गीः स्वरूपधीः^(३) (४)स्वेन रूपेण वस्तुतो भावस्य ?) -इति चेन्न, अनुमानादिव्यापनात् । *अनुमानादौ लिङ्गाद्यपेक्षत्वात् तदवच्छिन्नकालसम्बन्धस्योपपत्तं, नन्वध्यक्षे ? -इति चेन्न, व्यभिचारात् । ५ यत्र^(१) लिङ्गादि भाव्यादिबोधकं तत्र तत्कालतावगमिचारात् । / तन्न 'यदि न लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभामोऽनुमानं तदा कूट^(२) व्याप्यानुमितस्य न्यायकस्य दैववशात्सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरगतः प्राप्नोऽव्यापिकालावच्छिन्नव्यापकप्राप्त्यतावत्संज्ञो प्रमान्यं प्रमाविशेषान्नर्भावाऽनिर्वाह्यमापद्येते'ति निरस्तस्य, / भूतादिव्यापकानुमाने व्याप्यकालत्वाऽसम्भवात् ।

टी० ॥ १ 'अनिष्टं'ति । अनिष्टा भ्रमबुद्धिर्यस्य मीमांसकस्य तन्मते इत्यर्थः ॥ २ 'प्रत्येकमि'ति । पसगा मन्त्ररूपाणां प्रत्येकमन्योन्याभावे । विविक्तानो ? मितितान्योन्याभावो वा ? उभयथापि सन्निकर्षस्यापि कस्य

(१) मम सकं इति तु दोषान्तरमाह-पोढे'न । पोढागान्निकर्षस्य यः प्रत्येकमिलितयोविकल्पस्तदनुपपन्नानुपपत्तेरित्यर्थः ।

(२) स्वपरीः साक्षात्कारि-यन्वयः ।

(३) इत्तं व्यभिचारमेव स्फुटयति यथेति ।

(४) कूटव्याप्येनायव्याप्येनाऽनुमितयेत्यर्थः ।

खित् पोडासन्निकर्षेतरम् भवतीति तदप्रयुक्तविषयनियमजत्वं तद्वृत्त्यसाक्षात्कारव्यापकमित्यर्थः । प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशाभ्यामिदं द्रौपस्तमने तत्तांशस्य स्मृतिवत्त्वात् । नरसिंहाकारं हि तज्ज नं मीमांसकमते ॥ ८ "स्वरूपधीरि"ति लक्षणम् ॥ तदेव विभजते (१) - 'ल' 'स्वेने' 'ति । ननु लिङ्गाद्यपधानेनेत्यर्थः ॥ ९ "यत्र"ति । सेनोक्त्यनुमितभाविषुष्टौ लिङ्गकालानुपधानान् स्वरूपेणैव भावमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ 'लिङ्गकालोपधानमावश्यकम् अथथा धृतीपदनाद्विभक्तिवहयनुमितिः प्रमास्यान्तप्रमाणं च प्रमाचतुष्टये क्व मान्तर्भवेत्लिङ्ग (२) कालोपधानांशस्यासत्यत्वात्तदप्रमाण्य प्रमाचतुष्टयान्तर्भाव्यानुनिर्भवती'ति कस्यचिन्मनरूपस्यम्य दृश्यति । 'एतेने' त 'ल' 'व्यापकाले'ति । व्याप्तिकालावाच्छब्दव्यापकप्राप्त्या तदुपधानस्य (३) नाप्रमात्वप्रयोजकत्वमित्यर्थः ॥ एतदनुरोधेन व्याप्यकालवत्कालेऽप्योक्तियेत्, यदि तन्निवहेन-लोवमित्याह- । / "भूतादी"ति । अतीतनागनस्थले-नुमितौ यत्कालोपधानासम्भवान्त्सम्भवं वा तदप्रमाणं (४) स्पर्शादित्यर्थः ॥

मू० "तथापि (५) चाप्यादिमं शब्दात्तदप्रमाणत्वात्तस्य दु-
पपरिहरत्वस्योक्तत्वात् । अत्रुहित्प्रतीतिः सा-
क्षादीः? - इति चेन्न, (६) अपि विनोऽप्यप्यभा-
व्यापनत् (७) । * 'क' शब्दात्तदप्रमाणत्वं विवक्षितम्? । * -
इति चेन्न, 'क' शब्दोपहितोपधानत्वात् । स्वपदकृत्प्रतीति-
हितत्वस्य च स्वपदकृत्प्रतीतिरप्रधाना (८) । * - व्या-

(१) विभजते=अल. यावृत्तिनेन दर्शयति ।

(२) लिङ्गकालोपधानस्याऽवश्यकत्वे तु निष्कनुमितप्रामाण्यात्प्रधानतर्भाव-
व्याप्तिसंभवेतिव्याह लिङ्गात् ।

(३) तदुपधानस्य-व्यापिकालवत्त्वतः शक्याऽप्रमात्वप्रयोजकत्वं तु न, तदंश-
स्यापि सत्यत्वात् किन्तु लिङ्गकालोपधानात् । अन्वयव्यतिरेकित्यर्थः ।

(४) अप्रमाणत्वं स्यात्, लिङ्गकालानुपधानस्य लिङ्गकालानुपधानेन विषयीकर-
णादिति भावः ।

(५) तथापि=लिङ्गकालोपधानेन विभक्तमानस्वीकारोप । उक्त्यानु-प्रमाखण्ड-
न शब्दे "एवं लिङ्गाभासादिभ्याऽपि जतम' इत्यादौ ग्रन्थेन (२३२ पृष्ठे) ।

(६) विशेष्यस्य विशेषणोपहितस्य भावोदिति भावः ।

(७) स्वपद कृत् शब्दोपहितं स्यात् तदा स्वपदकृत्प्रतीतिः तस्य भावतत्त्वं तस्मा-
दित्यर्थः, "अव्यापनाद्"-इति अत्राप्यनुपजनीयम् ।

पत्याद्युपहितत्वानां व्यतिरेकस्य यत्र समुच्चयः सा
धीः साक्षाद्गीः ? * इति चेन्न, व्याप्त्यादिप्रत्यक्षा-
व्यापनात्, ^f असिद्धत्वाच्च, ^g पर्वतोऽग्निमानित्येव प्रति-
ज्ञानात्, ^h शब्देन च स्वाप्रतिपादनात्, साध्यादिमि-
तेश्च^(१) प्रत्यक्षत्वापादनात् । * अथाऽव्यवहिनधीत्वं^(२)
साक्षाद्गीत्वम् ? *—इति चेन्न, व्यवधानविकल्पानु-
पत्तेः^(३) । यदि द्रव्यविशेषान्तरस्थितिव्यवधिस्तदा-
नीमप्रत्यक्षविभुधियां साक्षात्तापत्तिः । ^j अथ ज्ञाप-
कज्ञानस्य पूर्वमत्ता व्यवधानं ^k नदा परत्याद्यप्रत्यक्ष-
तापत्तिरिति । * विशिष्टं^(४) व्यवधानम् *—इति
चेन्न, धूमविशिष्टे वह्निर्विशिष्टं^(५) मिति स्वरूपस्थितौ
नथात्वे कार्यकारणभावविरोधः ।

टी० दोषान्तरमाह— ^a “तथापी”ति ॥ ^b “अनुपहिते”ति । अनु-
मित्यादौ लिङ्गशब्दमाहश्योपधानात्तद्व्यवच्छेद इत्यर्थः । अनुपहितत्व-
मात्रमादाय दूषयति— ^c “विशिष्टं”ति ॥ ^d “करणे”ति । प्रत्यक्षे तु नेन्द्रि-
योपधानमित्यर्थः ॥ ‘दण्डी पुरुषः’ इत्यत्र घटकरणदण्डोपधानादव्याप्ति-
रित्याह— ^e ‘परे’ति ॥ अनुमित्यादावपि व्याप्तत्वाद्युपधानमसिद्धमि-
त्याह— ^f ‘असिद्धत्वाद्’ति ॥ तत्रानुमितौ तावदाह— ^g ‘पर्वते’इति ॥
शाब्दज्ञाने शब्दोपधानासिद्धत्वमाह— ^h “शब्देने”ति ॥ विकल्पानुपपत्तिमे-
वाह— ⁱ ‘यदी’ति । कालाकाशाद्यनुमिनावतिव्याप्ति, स्तेषां द्रव्यान्तरान-

(१) क्वचित् “शाब्दादिमितेश्च” इति पाठः ।

(२) अव्यवहितस्य धीत्वमिति पश्रीतत्पुरुषसमासः ।

(३) अव्यवहितत्वं व्यवधानाज्भावत्वं तच्च व्यवधानविकल्पानुपपत्त्याऽनुपपन्न-
मित्याह-व्यवधानेति । क्वचित् “अव्यवधाने”ति पाठः, तत्र व्यवधानविकल्पद्वारका-
ऽव्यवधानविकल्पानामप्यनुपपत्तेरित्यर्थः ।

(४) “उत्पद्यते” इति शेषः ।

वस्थितत्वेनाव्यवहितत्वादित्यर्थः ॥) "अथे"ति । ज्ञापकं यत्तिलङ्गादि-
तज्ज्ञानपूर्वमन्ता; तथाच ज्ञानाजन्यं ज्ञानमित्यर्थः ॥ ४ "नदे"ति । परत्वा-
दिज्ञानानामवधिज्ञानजन्यत्वादव्याप्तिरित्यर्थः ॥ धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्य-
मिति यदि वस्तुगतिस्नदा वदो धूमस्य काण्णत्वापत्तिरित्याह—
४ "धूमे"ति ॥

सू०^१प्रतीनौ^(१) धूमवैशिष्ट्यस्य धर्मिविशेषणत्वे हेतोरं-
शनः स्ववृत्तिः । ४ माध्यविशेषणत्वे व्याप्तिग्राहिप्र-
त्यक्षे व्यवधानान्न साक्षात्त्वं स्यात् । (अथ ज्ञानस्य
जातिभेदः कश्चिन्साक्षःत्वं, तत्रा^(२))नुभवत्वेन परा-
परभावानुपपत्तिः, ५ स्मृतेरपि साक्षात्कारित्वादिति
केचित् । ६ तन्न, स्मृतेर्मन्थात्त्वानभ्युपगमात्, ७ स्वप्नस्य
तावत्स्मृतिन्वाऽसिद्धेः, ८ मिद्धौ^(३)वा तत्र साक्षात्त्वा-
रोपोपगमात् । ४ भावनाबलजस्य च क्वचिदालोकादि-
धर्मिकप्रियाद्याश्रयधर्मा^(४) रोपत्वं शक्तिरजनभ्रमव-
त्, निमीलिनयनादेश्च स्वप्नवदेन गतिरवगन्नव्येति ।

टी० ननु धूमविशिष्टो धर्मा वह्निवैशिष्ट्येन प्रतीयते इति क्व
कार्यकारणविरोध इत्यन आह । ५ "प्रतीतावि"ति । तर्हि धूमविशिष्टो
धर्मा वह्निमान धूमवत्त्वादित्यनुमानं स्यात्तथाच धूमविशिष्टे च धूमवत्त्वे
सत्यात्माश्रय इत्यर्थः । अथ धूमविशिष्टस्य वह्निधर्माणां वैशिष्ट्यमिति विशि-

(१) प्रतीनी विपर्यायप्रया वर्तमानस्य (प्रतीयमानस्येति शब्दतः) ।

(२) तत्र केचिदित्यन्वयः । केचित्=प्राभाकराः । अनुभवत्वापेक्षया साक्षात्त्वस्य
परत्वे (व्यापकत्वे) ऽनु मत्तयमभेदपि साक्षात्त्वं स्यात्, तदपेक्षया साक्षात्त्वाऽपत्तये
(व्यापकत्वे) तु स्मृतिरुपराक्षत्कारिणि ज्ञानेऽप्यनुभवत्वं स्यादिति भावः ।

(३) प्रभाकरमतसाध्याहृ-मिद्धौ वेति ।

(४) प्रियादिः कामिन्ग्राहिराश्रयो येषां धर्मिणां गौरवरणमुखनापिकादीनां ते-
प्रियाद्याश्रयधर्मा, प्रियाद्याश्रयस्य धर्मा इति वा रामासः । तथा च शक्तिरजनवह्नि-
पर्ययानुभवरूपत्वाद्भावनाबलजसाक्षात्कारस्य न स्मृतित्वम् ।

एष वै शिव्यवधानं, तत्र व्याप्तिप्रत्यक्षेऽपि धूमविशिष्टबहिर्ज्ञानादग्न्यवहितधीत्वं लक्षणमव्यापकमित्याह-। *b* "साध्ये"ति ॥ *c* "अथे"ति ॥ *d* "स्मृतेरपी"ति । अज्ञातकरणजत्वादित्यर्थः ॥ *e* "तन्ने"ति । साक्षात्त्वजातिवादिना नैयायिकेन स्मृतिसाक्षात्त्वानभ्युपगमात्, ज्ञानाकरणकज्ञानत्वस्य साक्षात्त्वव्यवस्थापकस्यानुभवकरणिकायां स्मृतावभावादित्यर्थः ॥ ननु स्मृतिविपर्ययः (१) स्वप्नः, स च साक्षात्कारीति यथं न स्मृतौ साक्षात्त्वमित्यत आह-। *f* "रजस्ये"ति । स्मृतिविपर्ययो हि स्मृतिविषये विपर्ययो ननु स्मृतिविपर्ययनेत्यर्थः ॥ ननु तथैव किं न स्यादत आह- *g* "मिद्धौ व"ति । यद्दि स्वप्नस्य स्मृतत्वमेव, तत्र न साक्षात्त्वं, राज्ञो मया कामिनीसाक्षात्कृत्येत्यनुव्यवसायस्य साक्षात्त्वारोपरूपत्वादित्यर्थः ॥ ननु कामातुरकामिनी साक्षात्कारः स्मृतिरेव विपर्ययसन्निकर्षेण तदनुभवयाभावात् आह । *h* "भायतावजस्ये"ति ॥ ननु निर्मालितगन्धस्य यः कामिनीसाक्षात्कारः स स्मृतिरेव धर्म्यप्रदेणारोपानुपपत्ते तन्त्र माद्वर्त्य म्यादित्यत आह-। *i* "निमीलिते"ति ॥

मू० "इदं (१) नु स्यात्, परमाणुदिवुद्भादनुव्यवस्यमानायां परमाणुप्रतीत्यंशे (२) ऽपि साक्षात्त्वमनुभूयते इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिः । *d* अन्यथा लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यासत्त्या बहिरपि मानसप्रत्यक्ष एव, न लैङ्गिकः, इति परेण गृह्यत्वात् । एवं प्रत्यभिज्ञायां पूर्वदेशकालस्थितिमस्य पश्यामीति कस्थानुभवो ? यद्वलात् तथाभ्युपेयम् । तस्मात्प्रतीतिकलहोऽयम् । यदि च साक्षात्त्वजानिरध्यक्षमानिका, तदा प्रतीतौ कस्याश्चिदध्यक्षानध्यक्षविवादो न स्यात् । नहि घटादिप्रत्यय-

(१) स्मृतिविपर्ययः=विपर्ययस्तस्मृतिरित्यर्थः ।

(२) परोक्षदूषणं दूषयित्वा स्वाभिमतं दूषणमाह - इदमिति ।

(३) अत्र मूलव्याख्यानयोः सारूप्यार्थं "परमाणुप्रतीत्यंशे"-इत्यस्य परमाण्वंशे इत्यर्थो बोध्यः । तथाच परमाणुज्ञानवानहर्मत्यनुव्यवसायस्य परमाण्वंशे परोक्षत्वात्तद्वुद्ध्यंशे चाऽपरोक्षत्वात्सङ्करः ।

क्षात्वे विवदन्ते । *कचिदस्फुटत्वाद्विवादः ? *-इति चेन्मैवम् ।

टी० तर्किक साक्षात्त्वं जातिरेव ? तथा च तदेव लक्षणं प्रत्यक्षस्येत्यन आह-। 'इदमि'ति ॥ साक्षात्त्वमिव परोक्षत्वमपि जातिः स्यात्तथाच तयोः संकरोऽत्र दोष इति वक्तुं पीठमारचयति-। 'परमाखवादी'ति । "अनुव्यवस्यमानायामि"त्यत्रा"ऽनुव्यवसीयमानायामि"ति युक्तः पाठः, साधानोर्वा गगुपाठसिद्धयर्थं प्रयोगः ॥ ननु तत्र परमाखवंशेऽपि साक्षात्त्वमनुभूयते एवेत्यन आह-। 'न नः सम्प्रतिपत्तिरिति ॥ न वसम्प्रतिपत्तिमात्रेण न वस्तुनिवृत्तिरित्यन आह-। 'अन्यथे'ति । यद्यप्यन्यवृद्धिर्नायत्र प्रत्यासत्तिस्तथापि लक्षणादृश्य परम्यायमभिप्राय इत्यर्थः । यद्वा, लिङ्गबुद्धिपदेन व्याप्तिस्मृतिरुक्ता, तथाच स्मृत्युपनीत^(१)र्वाद्धवशिष्टं पवते प्रत्यक्षैव भासते इति सुवचमित्यर्थः ॥ 'तथाभ्युपेयमि'ति । प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशस्य साक्षात्त्वमभ्युपेयमित्यर्थः ॥ / 'नस्मादि'ति । प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे परोक्षत्वमिदन्तं शो साक्षात्त्वमिति साङ्ख्यम् । एवं^(२), परमाखवनुव्यवसायेऽपीत्यर्थः ॥ दूषणान्तरमाह-। 'यदि चे'ति । साक्षात्त्वसंशयः क्वापि न स्यादित्यर्थः । यद्वा, अभावज्ञाने भाट्टनैयायिकयोर्वाट्टवादिज्ञाने वा साक्षात्त्वाऽसाक्षात्त्वविवादो न स्यादित्यर्थः ॥

सू० "निरंशे वस्तुनि कः स्फुटत्वावभासः^(३) । यद्ये कार्थ-
(^१)समवायिभिर्भूयोभिःसहोपलम्भः, स ज्ञानत्वादिव-
त्माक्षात्त्वेऽपि तर्हीनि ज्ञानादित्वे न विवादःसाक्षात्त्व^(४)

(१) व्याप्तिस्मृत्युपनीतेत्यर्थः ।

(२) सङ्कलन्यार्थमिधानार्थं पूर्वोक्तं एतः स्मरयति-एवमिति ।

(३) 'स्फुटत्वभासः' इति तु विद्यासागरसम्मतः पाठः ।

(४) एकस्मिन् ज्ञानरूपेऽर्थेऽपरोक्षत्वेन सह समवायिनो ये ज्ञानत्वानुभवत्वप्रमाणादयो भूयांसो धर्मास्तेऽसहोपलम्भ इत्यर्थः ।

(५) "साक्षात्त्वे तु" इत्यतोऽपि विवाद इत्यध्याहरणीयम् ।

ति विशेषो वाच्यः । ^bदर्शनकृतो हि विवादो न मात्सर्येण वाङ्मात्रेण वा, किन्तु तत्त्वाभिमानादेव । ^cप्रत्यक्षार्थधर्मिकायां चाऽनुमायां साक्षात्त्वपरोक्षत्वसङ्करो तुर्वारः । * परोक्षत्वं न जातिः किन्तु साक्षात्त्वमेव तथा (१), केवलं साक्षात्त्वाभावः परोक्षत्वम् ? *—इति चेन्न, अस्यार्थस्य विनिगन्तव्यत्वापत्तेः (२), ^dसर्वज्ञमनुभन्यमानस्य च जते हृष्टलिङ्गादेरीशस्य लिङ्गादिकवुद्धावपरोक्षत्वेनापि विरोधः (३) । *लिङ्गादिधीजन्यत्वमनुमित्यादौ प्रयोजकम् ? *—इति चेन्न, साक्षात्त्वेऽपि तर्हीन्द्रियमन्त्रिषुर्पादिजन्यमिति साक्षादपि (४) मान स्यात् । ^eवञ्जकोपाधिनियता च जातिरिष्यते, न च तदत्र, ^fउक्तप्रकारबाधात् । *न च व्यञ्जकनियमानभ्युपगत्या न तदत्रोपगम्यमिति वाच्यम्*,

टी० ॥ ^a“निरंशं” इति । अखण्डजानावित्यर्थः । उपाधौ घटकाद्यनिश्चये क्वचिदम्फुटत्वमपि संभाव्यते इति भावः । गोत्वादेर्दृरत्वादिद्वोपादग्रहे सन्देहोऽपि स्यादान्तरं तु ज्ञाने साऽपि नास्तीति हृदयम् ॥ ^b“दर्शनकृत” इति । शास्त्रकृतोऽनुभवकृतो वा । तथाच शास्त्रकाराणां साक्षात्त्वेन वैमत्यं (५) प्रतीतिकतहो वेत्यर्थः ॥ साक्षात्त्वपरोक्षत्वयोः साङ्कर्यं स्यानान्तरमाह— । ^c“प्रत्यक्षं” इति । “परोक्षत्वसङ्कर” इत्युपलक्षणम्, अनुमितित्वस-

(१) तथा=जातिःत्वेन संमतम् ।

(२) साक्षात्त्वं न जातिः किन्तु परोक्षत्वमेव केवलं परोक्षत्वाभावः साक्षात्त्वमिति वैपरोक्ष्येनापि वक्तुं शक्यत्वाद्यस्यार्थस्तावद्विनिगमनाविरहितत्वेनास्त्वविनिगतः स च विनिगमनां प्रदर्श्य न्वया विनिगन्तव्य इत्यर्थः ।

(३) विरोधः=साङ्कर्यम् । तथाहि ईश्वरज्ञानान्तेनेश्वरज्ञानेऽपरोक्षत्वलिङ्गादिप्रयुक्तत्वेन च परोक्षत्वमिति ।

(४) साक्षादपि=साक्षात्कारिज्ञानात्मिकापि

(५) ‘स्यादिति शेषः । यद्वा साक्षात्कारित्वेन रूपेण साक्षात्कारिणि ज्ञाने वैमत्यं भवति स च विशेषाभावात् स्यादित्यर्थः ।

ङ्करोऽपि द्रष्टव्यः ॥ दृष्टलिङ्गस्येश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं भवितुमर्हति नत्वपरोक्ष-
मिति तत्र परोक्षापरोक्षत्वविरोध इत्याह-। d 'सर्वज्ञमि'ति । धर्मि^(१)प्राह-
कमानादि तत्र साक्षात्त्वं तदा तत एवानुमितित्वमपि किं न स्यात् ?
प्रवृत्तेरुपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्ववद्विष्टसाधनानुमितिजन्यत्वव्याप्त-
त्वादिनिर्भावः ॥ e 'उक्तप्रकारे'ति । इन्द्रियजत्वादिप्रकारेत्यर्थः ॥ f 'न-
चे'ति । जातो व्यञ्जनियमानभ्युपगमान्प्रकृतेऽपि ग नभ्युपगम्यते इति
नच वाच्यमित्यर्थः ॥

सू० किं मया दृष्टं तथा किं वा केनचित्कथितमिति संश-
य नुपपत्तः । ७ प्रा. भूतायां स्मर्यमाणायाम् तद्बुद्धौ त्व-
न्मते मनसा ज्ञानरूपया प्रत्यासत्त्याप्रत्यक्षीक्रियमा-
णायाम् साक्षात्त्वाऽग्रहो विना व्यञ्जकाभावे कथं स्यात् ?
अर्थधर्मश्च साक्षात्त्वमिति स्वप्रकाशवादे निरास्य-
म्^(२) । d तथाप्यवधितसाक्षात्त्वबुद्धिव्यवहारबला-
दन्ततः पदार्थान्तर^(३)मपि साक्षात्त्वमननुमन्य न
निस्तारोऽस्ति, भ्रान्ते^(४)रूपभ्रान्तिपूर्वकन्धान् ? :-
इति चेन्न, नस्या^(५)पि साक्षाद्ग्रहे क्वचिदपि तद्धि-
वादो न स्यादित्यादिदोषमाभ्यात् । अनुमानादिवे-
द्यत्वे च लिङ्गाद्यनुपपत्तिः ; क च व्याप्त्यादिग्रह

(१) धर्मि=ईश्वरज्ञानम् । तद्प्राहकं मानं च=ईश्वरस्य कर्ष्यानुकूला प्रवृत्ति-
ज्ञानसाध्या प्रवृत्तित्वान्मत्प्रवृत्तिवदिति ।

(२) ईश्वराभिमन्थे. स्वप्रकाशवादे निरास्यमिति न्यहं गम्भावयामि, अत एव
च कर्तृकर्मविरोधखण्डनवेलायामिहैव सूत्रे उक्तं "शेषं चेश्वराभिमन्थौ स्वप्रकाशवादे
निर्वक्ष्याम इति । विद्यामागारास्तु कर्मलक्षणखण्डनेन तत्खण्डितमित्येव व्याचक्षते तदनु-
सार्थ्यपि एव केषुचिन्पुस्तकेषु निरस्तमिति पाठो दृश्यते । यद्वा, विद्यासागरस्यापि महु-
त्कर्त्तृतात्पर्यम् ।

(३) पदार्थान्तरम्=द्रव्यादिसप्तपदार्थातिरिक्तपदार्थम् ।

(४) ननु भ्रान्तिसिद्धसाक्षात्त्वमित्यत आह भ्रान्तेरिति ।

(५) तस्य=अवस्थाभ्युपगम्यस्याऽनिर्णयितस्य साक्षात्त्वस्य । साक्षाद्ग्रहे=साक्षा-
त्कारिज्ञानेन ग्रहे इत्यर्थः ।

इत्यादिदुरुत्तरपरम्परं(१) स्यात् । ऽसप्तपदार्थी(२)-
नियमसाधनानि च कथं परिपन्थीनि न स्युरिति ।
लिङ्गादिजत्वाभावसमुदागवती धीः साक्षात् ?-
इति चेन्न, परोक्षविषयसंशयादावतिव्याप्तेः । *ईदृ-
शी प्रमा तथा ? *-इति चेत्, j प्रत्यक्षभ्रमाऽव्याप्तेः । *
अनुमानादिद्वयवच्छेद्यनत्तदसाधारणकारणाऽजनिता-
धीः साक्षात् ? *-इति चेन्न ।

टी० ॥ a 'किं म्ये'ति । धर्मिदर्शनमात्रादेव साक्षात्त्वदर्शनात्सं-
शयो न स्यादुत्पन्नोवा संशयो न निवर्ततेत्यर्थः ॥ एतदेव स्पष्टयति-।
b 'प्रागि'ति ॥ "अनुगतसाक्षात्त्वकल्पनैव श्रेयसिनरे"ति यदुक्तं तत्राह-।
c 'अर्थधर्म' इति ॥ d "नथापी"ति । नहि वस्त्वन्तरेण प्रतीतिव्यवहा-
रावित्यर्थः । प्रतीतिवलायानस्यापि दोषदर्शनात्त्याग एवेत्याह-। e 'तस्या-
पी'ति । "लिङ्गादी" त्यादिपदान्सङ्कता(३)दिसङ्ग्रहः । f 'क्वचे'ति ।
अनिर्णीताश्रयत्वात्साक्षात्त्वस्येत्यर्थः ॥ साक्षात्त्वस्य परि-। गितपदार्थानन्त-
भावे दोषमाह-। g 'रूपे'ति । नियमसाधनानि परिग्रेषानुमानानि ॥
h "लिङ्गादी"ति । अत्र लिङ्गशब्दसादृश्यं भावं नास्ति नज्ज्ञानं प्रत्यक्षमित्य-
र्थः । अपरोक्षे इष्टापत्तिमाशङ्क्य "परोक्षे"ति । i 'ईदृशी'ति ॥ लिङ्गादिज-
त्वाभाववतीत्यर्थः ॥ साक्षात्कारिज्ञानलक्षणमभिप्रेत्याह-। j 'प्रत्यक्षे'ति ।
अनुमानादि च तद्वयवच्छेद्यं चेति कर्मधारयः । तेनानुमानादेर्वयवच्छेद्यस्य
यदसाधारणं लिङ्गादिकारणं नज्जनिता धीः साक्षात्कीरित्यर्थः ॥

(१) प्रथमतः साक्षात्त्वं न नाभावशीलं दुरुत्तरोऽनुमानप्रमाण्युत्पत्तिकारेऽपि लिङ्गा
नुपपत्तिदुरुत्तरा, इन्द्रियार्थवर्जिकार्थजत्वादिलिङ्गस्वकारेऽपि लिङ्गलिङ्गिनोर्ध्यासिप्रहस्यन्ता-
भावे दुरुत्तर इति दुरुत्तरदोषपरम्परं व रयादित्यर्थः ।

(२) सप्तपदार्थानां समाहारः सप्तपदार्थां तत्रियमसाधकानीत्यर्थः ।

(३) सङ्केतः=अस्मान्प्रदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरमद्वैताधुनिकसङ्केतयोरन्यतरः
सङ्केतः शक्तिरिति यावत् ।

मू० अणं हि प्रत्यक्षतत्तदपरव्यतिरिक्ता^(१)धीरनुमाना-
दिरिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादित्यविनिगम्यत्वं
स्यात् । ^bतेषु व्यवच्छेदोपवेकद्वयादिपरिहाराय व्यवच्छे-
द्यहेत्वजनितत्वेनापि साक्षात्स्ववत्तत्रतत्रानुगतबुद्ध्यन्त-
रापत्तः । * व्यवहारे सति निमित्तानुसरणं, नतु निमि-
त्तानुभारेण व्यवहारः ?* -इति चेन्न, ^dनिमित्तस्या^(२)
नत्यापत्तिद्वारस्यैव कल्प्यत्वात् । ^eतज्जनितत्वाभावो
हि तेनैव रूपेणः नुगतव्यवहारानुगतप्रत्ययावादध्यान्न
त्वत्येनापि । तथात्वे यावत्परिदृष्टव्यक्तिविशेषान्य-
त्वेन व्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः । तस्मात्
g विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः ।

h नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना ॥४१॥

टी० ॥ a एवं ही"ति । प्रकारान्तरेण तदप्रकृत्यनिर्वचनमनुमाना-
द्यपि प्रत्यक्षादिकारणाजन्यत्वेन निवर्त्यमित्यन्योन्याश्रयः^(३) इत्यर्थः ॥ दो-
षान्तरमाह- । b तेष्विति । इन्द्रियाद्यजन्यतयानुमित्यादिषु निष्कारणजन-
न्यतयोपमित्यादिषु साक्षात्त्वव^(४)त्तत्तदृषाधिकल्पनाप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ननु

(१) प्रत्यक्षं च तत्तद् (शब्दोपमानादि) अपरं च तद्व्यतिरिक्तता धीरित्यर्थः ।

(२) "निमित्तस्यानत्यापत्तिद्वारस्ये"ति व्यधिकरणे षा-धा तथाचायमर्थः-निमित्त
चेदनातिप्रसङ्गतमस्ति तर्हिनिप्रसङ्गाऽनपादकस्य तस्य द्वारस्य (कारणस्या)ऽपि कस्यचित्
कल्पनाऽऽवश्यकति । यदा कल्प्यत्वात्-व्यवहारहेतुत्वेन कल्पयितुमुचितत्वादित्यर्थः ।
केषुचित्पुस्तकेषु तु "कल्पयमानन्वादि"ति पाठस्तदुपेक्षया "कल्पयन्वादि"ति वरः पाठः ।

(३) यद्यपि मूले न प्रत्यक्षादिकारणाजन्यत्वमुक्तं किन्तु प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तधी-
त्वमेव न बाऽन्योन्याश्रयो दोष उत्तः किन्त्व-वनिनियम्यत्वमेव तथापि मूलस्य पर्यवसि-
तार्थमादागेत्थं व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ।

(४) प्रत्यक्षसाक्षात्त्वमखण्डोपाधिरनुमित्यादां त्वनुमितित्वादि नःखण्डोपाधिः
किन्त्व-न्द्रियाद्यजन्यत्वमात्रं मखण्डोपाधिरिति सिद्धान्तः तत्रैवं साक्षात्वनिरुक्तं तत्रा-
प्यनुमितित्वाद्यखण्डोपाधि कल्पना प्रयोज्येत, साम्यादित्यर्थः ।

यथा साक्षात्त्वं व्यवह्रियते तथैव नानुमानादिवत् एको धर्मस्त-
त्कथं कल्पनीयः स्यादित्याह—। “व्यवहारे” इति ॥ यथा साक्षा-
त्त्वकल्पनानिमित्तमनुमानादिकारणाजन्यत्वमनतिप्रसक्तं तथा-
नुमानादाव्विद्विद्याद्यजन्यत्वमपीति निमित्तमाख्यातकल्पना
स्यादेवेत्याह—। “निमित्तस्ये”ति ॥ दोषान्तरमाह—। “तज्ज-
नितत्वे”ति । लिङ्गाद्यजन्यत्वेनैव साक्षात्कारिविज्ञानेष्वनुगत-
प्रत्ययः स्यात् तु साक्षात्त्वेनापीत्यर्थः ॥ “तथात्वे” इति । यथा-
कारानुगतप्रत्ययोपि केमरादिमद्वयक्तिविशेषान्यत्वेनैव स्यादि-
त्यर्थः । यद्यपीन एवानिष्टप्रसङ्गात्साक्षात्त्वमनुभूयमानं दुरपलापं
तथापि ठयतिरेकस्य न विधिठयवहारनिर्वाहकत्वमिति भावः ॥
एनदेवाह—। “विधिज” इति । ठयतिरेकेणासमर्थनं यस्ये-
त्यर्थः ॥ “नैवमि”ति । तथाचाऽगोठयावृत्त्यैव यथाकारानुगत-
धीरस्तु किं गोत्वेनेत्यर्थः ॥

म० “शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्र-
मितित्वं प्रत्यक्षलक्षणमभिधाय यः केऽपि न त्रपते
(^१) स प्रष्टव्यः, किं प्रत्येकमिदं लक्षणं ? मिलितं
वा ? । नाद्यः, “प्रत्येकं व्यभिचारात् । द्वितीये, किं
मिलितानां निषेधः ? उत निषेधानां मिलितत्वम् ? ।
नाद्यः, प्रत्येकमेव व्यभिचारात् । नहि प्रत्येकम-
नुमित्यादौ मिलिततद्रूपसम्भवः । नापि द्वितीयः,
“मिलितास्वनुमित्यादिषु निषेधमेलक(^२)संभवेपि
प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात् । * न बह्वाश्रयाणामुक्तनि-
षेधानां लक्षणत्वमपि त्वेकाश्रयाणां ? *—इति
चेन्न, समुदायिभेदेपि समुदायस्यानुमित्यादिवदेक-
तोपचारबीजाविशेषाभ्युपगम इति हि वक्ष्यते(^३) ।

(१) न त्रपते = न सज्जते ।

(२) मेलकम् = मेलनम् ।

(३) परीक्षप्रमितित्वस्यानुमित्यादिषु मिलितास्वपि भावादिभ्यः
विभ्रमग्रन्थेन वक्ष्यते इत्यर्थः ।

* असमुदायत्वे^(१) सतीत्यपि विवक्षितम् ? -
इति चेन्न, ^hसमुदायत्वविशिष्टे एवांशतः स्वात्मनि
वृत्तिविरोधभयेनासमुदायत्वस्यै^(२) ष्टव्यत्वेन तादृशि
प्रसङ्गो दुर्वारः । * ज्ञानस्यैवं विवक्षितम् ? - इति
चेन्न, ^jविशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ज्ञानत्वादेव ।

टी० ॥ ननु प्रतीतित्वं प्रतीत्यन्तरभिन्नत्वविशिष्टं माहा-
एवव्यवहारहेतुरिति विधित्वमेवेत्याशङ्क्याह- । “शब्दे”ति ।
प्रत्येकमिलितदोषाऽज्ञानमेव त्रपाहेतु , व्यतिरेकविशिष्टस्योपा-
धेर्विधित्वाभिमानो^(३) वा ॥ “प्रत्येकमि”ति । अनुमित्यादि-
प्रत्येकान्योन्याभाववत्त्वे सति प्रतीतित्वस्यानुमित्यादिप्रत्येका-
तिठ्यापकत्वमित्यर्थः ॥ “नही”ति अनुमित्यादिसमुदाया-
न्योन्याभावस्य प्रत्येकगतत्वेनातिठ्याप्तिरित्यर्थः ॥ “मिलिते-”
ति । अनुमित्यादित्रयमेलके त्रिन्यान्योन्याभावमेलकनव्वेना-
तिठ्याप्तिरित्यर्थः ॥ “न बहुाश्रयाणामि”ति । मिलिता अप्यनुमि-
त्यादयो बहवः प्रत्यक्षं त्वेकोपाधिऽङ्गहीतमेकम्, एकनिष्ठत्वं
लक्षणस्य विवक्षितमित्यर्थः ॥ “समुदायी”ति । समुदायिनो न-
मित्यादयो यद्यपि बहवस्तथापि तत्समुदाय एक एवेत्येका-
श्रयत्वादतिठ्याप्तिरित्यर्थः । अनुमितिषु यथा लिङ्गादिभक्तत्वमे-
कमु^(४) पचारबीजमेवमनुमित्यादित्रये प्रत्यक्षभिन्नत्वमैक्यनिब-
न्धनमस्त्वयेवेति भावः ॥ “असमुदायत्वे” इति । तथाच नानुमि-
त्यादिमेलकेतिठ्याप्तिस्तस्य समुदायत्वादित्यर्थः ॥ “समुदा-
यत्वे”ति । एवमप्यनुमित्यादिमेलकेतिठ्याप्तिस्तस्य समुदाय-
त्वविशिष्टस्यासमुदायस्यात्माश्रयभयेन स्वीकार्यत्वादित्यर्थः ॥

(१) असमुदायत्वे सति = समुदायत्वानाश्रयत्वे सति ।

(२) असमुदायत्वस्य = समुदायत्वानाश्रयत्वस्य ।

(३) वस्तुतो व्यतिरेकविशिष्टस्योपाधेरप्यंशतो व्यतिरेकरूपसै-
वेत्यत उक्तमभिमान इति ।

(४) “एकतोपचारबीजमि”ति तू चितः पाठः ।

“ज्ञानस्ये”ति । अनुमित्यादिमेलकस्य ज्ञानत्वात्मानिठ्यामि-
त्यर्थः ॥ “विशिष्टस्ये”ति । समुदायत्वविशिष्टानुमित्यादेरपि
ज्ञानत्वादिठ्यामिठ्येत्यर्थः ॥

मू० “एके”ति च किमाश्रयव्यक्त्यभेदो विवक्षितः?—
१ उताऽभिन्नजातीयता ?-२ उतैकोपाधिकता ?-३ उतैक-
(^१)सङ्ख्या योगिता ?-४ उत द्वयादिसङ्ख्यायोगा-
भावः ? ५ । “आद्ये तद्विशिष्टस्या(^२)व्यापकता-
दोषः, व्यक्त्यात्मनोऽभेदस्य व्यावृत्तत्वात् । “धर्मिणा
च लक्षणस्य विशेषणेऽलक्ष्यधर्मत्वं धर्मस्य स्यात्,
स्वस्यैव(^३)स्वधर्मत्वानुपपत्तेः । आश्रयाभेदस्योप-
लक्षणत्वे प्रागुक्तदोषः । द्वितीये तदेवाभिन्नजाती-
यत्वं लक्षणमस्तु, अवश्यन्तया प्राथम्येन प्रतीयमा-
नत्वात् । न तृतीयः, परोक्षप्रमितित्वस्यानुमित्या-
दिषु मिलितास्वपि भावात् । नापि चतुर्थः, वैश्ले-
षिकपक्षे “गुणतया तदभावात् ।

टी० ॥ एकाश्रितानुमित्यादिनिषेधमेलको लक्षणमिति
यदुक्तं तत्रैकत्वं विकल्पयति— “एकेनि चे”ति ॥ “आद्ये”
इति । एवं मत्तयेकस्या एक प्रत्यक्षव्यक्तेः सङ्ग्रहे लक्षणस्य व्य-
क्त्यन्तराठ्यापकत्वमित्यर्थः ॥ “व्यक्त्यात्मन” इति । एक-
त्वस्य व्यक्तिस्वरूपाभेदस्य व्यावृत्तत्वादित्यर्थः ॥ एकलक्ष्याश्र-
यत्वं च लक्षणविशेषणं चेत्तदा लक्ष्यवृत्तित्ता लक्षणस्य न स्यादि-
त्याह— “धर्मिणे”ति । एकाश्रयत्वं लक्षणे न विशेषणं येनाल-

(१) एकद्वयादिशब्दा भावप्रधाननिर्देशात्वेनैकस्याद्वैतत्वादिषडङ्ख्यापरः ।

(२) तद्विशिष्टस्य=आश्रयव्यक्त्यभेदघटितलक्षणस्येत्यर्थः ।

(३) एकलक्ष्याश्रयत्वमित्यत्र विशेषणविधेयैकव्यक्तिरूपलक्ष्यस्यापि
लक्षणे प्रवेशात्पुनस्तस्य लक्षणात्मकधर्मस्य लक्ष्यवृत्तित्ता न स्यात्, स्वस्य
स्ववृत्तित्तानुपपत्तेरित्यर्थः श्वचित् “धर्मस्ये” त्यस्य संज्ञाने लक्षणस्येत्येक
पाठः ।

इयधर्मता स्यात् किन्तूपलक्षणमिति न स्ववृत्तितेत्याशङ्क्याह-।
 “आश्रये”ति । अन्नमित्यादयोप्याश्रयाभेदोपलक्षिता इति प्रागु-
 क्तातिठ्याग्निरित्यर्थः ॥ एकोपाध्यवच्छिन्नाश्रयत्वं यदि लक्षणे
 विशेषणं तदा परीक्षप्रमितित्वरूपैकोपाध्यवच्छिन्नानुमित्यादि
 मेलकानिठ्याग्निरिवेत्याह-। “परोक्षे”ति । प्रत्यक्षमात्रवृत्त्युपा-
 धिष्विषक्षायां तेनैवान्यथा^(१)मिद्गुरिति भावः ॥ “गुणतये”ति ।
 अन्नमित्यादिठ्यतिरेकमेलकस्यैकत्वमङ्ग्यासामानाधिकरण्य प्र-
 त्यक्षे गुणे न सम्भवतीत्यर्थः ॥

सू० “भावे वाऽनुमित्यादित्रयवृत्तीनां त्रयाणामप्यभावा-
 नामेकत्वमङ्ग्यासामानाधिकरण्यसम्भवात् । मिलि-
 ताना^(२)मेकसमुदायापेक्षया तथात्वात् । नापि
 पञ्चमः, वैशेषिकमतानुसारेणानुमित्यादित्रयेपि त-
 दभावस्य तुल्यत्वात् । अतदनुसारेण^(३)प्रत्यक्षव्य-
 क्तिष्वपि द्वयादिसङ्ख्यायोगात् । * “तथापि नैकस्यां
 प्रत्यक्षव्यक्तौ द्वयादिसङ्ख्यापरिसमाप्तिः^(४), द्वयादि-
 सङ्ख्यापरिसमाप्त्यभावश्च तदभावशब्देन विवक्षि-
 तः ? * -इति चेन्न, का हि परिसमाप्तिर्यैकस्यां व्यक्तौ
 नास्तीत्युच्यते ? । * तत्रैव वृत्तिद्वयादेः परिसमाप्तिः,
 सैकस्यां व्यक्तौ नास्ति ? । * -इति चेन्न, एवमेक-
 त्वस्यापि न क्वचित्परिसमाप्तिः स्यात् । नहि तस्य
 तत्रैव वृत्तिरन्यस्यैकत्वाभावप्रसङ्गात् । अत एक-
 त्वमङ्ग्यावन्यामेव व्यक्तौ द्वयादिपरिसमाप्तिरित्य-

(१) प्रत्यक्षणस्येति शेषः ।

(२) मिलितानां त्रयाणामभावानामेकसमुदायापेक्षया तथात्वात्
 = एकत्वमङ्ग्यासामानाधिकरणत्वादित्यर्थः ।

(३) अतदनुसारेण = वैशेषिकमतानुसारेण । “द्वयादिसङ्ख्या-
 योगात्”-इत्यतोऽग्रे ‘न तदभावः इत्यव्याग्निरसम्भवो वा’-इति शेषः ।

(४) परिसमाप्तिः = पर्याप्तिः सर्वत्र प्रकृते शाब्दा ।

विशेष एव । * एकव्यक्तिगतैकत्वसङ्ख्याव्यक्तिर्नान्यत्र ? *—इति चेन्न, सत्ताव्यक्तेरप्येवम्भावप्रसङ्गात्, "अननुगतत्वापत्तेश्च^(१) । 'सत्तैकैव जातिरूपा, एकत्वं तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं गुणपदार्थः ? *—इति चेन्नूनं वैशेषिकैर्विप्रलब्धोसि । कथमन्यथा सदेकप्रत्यययोरनुभवव्यवहारविशेषमपश्यन्नपि कानिचित्कानिचिदसम्बद्धान्यक्षराणि प्रलपसि । * सत्तैकत्वयोः परापरत्वानुपपत्तेर्नैवं^(२) स्यात् *—इति चेन्न,

टी० ॥ अभ्युपेत्याह - । "भावेव"ति । अनुमित्यादिममुदायस्यैकतया तत्राप्यभावमेलकसत्त्वाङ्गक्षणमतिठयापकमेवेत्यर्थः ॥ "वैशेषिके"ति । द्वयादिमङ्ख्याविराहण्यनुमित्यादावतिठयाप्तितादवस्थ्यादित्यर्थः ॥ "अतदि"ति । सङ्ख्यायाः पदार्थात्तरत्वाभ्युपगमे इत्यर्थः । यथाऽनुमानादित्रये द्वित्वं त्रित्वं वा परिसमाप्यते तथा नैकस्यां प्रत्यक्षठयक्तावित्यपरिसमाप्तद्वित्वादिप्रत्यक्ष^(३)मैकमेवेत्याशङ्कते- । "तथापी"ति । धीठयवहारयोस्तन्मात्रगतत्वं तत्र परिसमाप्तिः, तच्च नैकत्वस्यापीत्याह- । "एवमि"ति ॥ "अत्" इति । यदेकं तदद्वयमपीत्यविशेषाल्लक्षणे विशेषणोपादानमनर्थकमेवेत्यर्थः ॥ "अननुगतत्वे"ति । एवं सत्येकठयक्तिमात्रवृत्तित्वा लक्षणस्य स्यादित्यर्थः ॥

मू० "सास्यात् । "जातिपरापरत्वध्रौठयमेव च क्वाप्येकस्य न्यूनवृत्तित्वे प्रमाणं स्यात् । * क्व तथा ? *—इति चेन्न,

(१) 'लक्षणस्येति शेषः ।

(२) यद्येकत्वं जातिस्तर्हि सत्ताद्वयत्वयोरिव परापरभावे वाच्यस्तन्न सम्भवति सत्तायां सत्तावैधुर्येणैकत्वभावेन न सत्तापरं नाप्येकत्वं परमेकत्व एकत्वाभावेपि सत्ताभावाद्द्वयादौ च तयोः साङ्ख्यादेकत्वं गुण एवेत्यर्थः नैवं स्याद्, एकत्वं जातिर्नस्यादित्यर्थः ।

(३) अपरिसमाप्तं द्वित्वादि यत्र प्रत्यक्षे तदित्यर्थः ।

शैलेऽननस्यानुमायामपि क्व हस्तवितस्त्यादौ तदंशे
इत्यनिश्चयवददोषत्वात् । * अथास्तु मा^(१) वा-
सीदेकत्वमनुगतं किमनेनात्र निरूपितेन द्वित्वादि-
र्यत्र न समाप्यतेऽभिहिताभावत्रयं चास्ति तत्प्रत्य-
क्षमिति * । मैवम्, अनुमित्यादित्रयेपि न त्रित्वं
परिसमाप्तम् । एवं ^(२)सत्यन्यानि त्रीणि न स्युः ।
* अन्या सा त्रित्वव्यक्तिर्याऽन्यत्र ? *—इति चेन्न,
“त्रित्वव्यक्तेः कस्याश्चिदनुमित्यादित्रये परिसमा-
प्यभावात् । * काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समा-
प्यते ? *—इति चेन्न, अव्यापकत्वात् । ‘प्रत्यक्षत्वस्य
त्रित्वव्यक्तेश्चावश्यं सामानाधिकरण्यस्य वैशेषिक-
मताभ्युत्थितेन भवताऽभ्युपगन्तव्यत्वात् । अन्यथा
प्रत्यक्षव्यक्तयस्त्रिसो न स्युः । तदेव हि त्रिरित्यभि-
धीयते यत्र त्रित्वं परिसमाप्यते ।

टी० ॥ “मास्यादि”ति । स्याया एव गुणत्वमुभयोर्वा
गुणत्वं स्याद्विनियमनाऽभावादित्यर्थः । एकस्या कस्याञ्चिद्व्यक्तौ
मत्तापरिहारेणैकत्ववृत्तौ स्यादेव पराऽपरभाव इत्याह—। “जा-
ती”ति । विशेषानिश्चयस्य प्रमाणादोषत्वमाह—। “शैले”
इति ॥ “त्रित्वव्यक्तेरिति”ति । एकस्या अपि त्रित्वव्यक्तेर-
परिसमाप्तौ त्रित्वापरिसमाप्तेः सत्त्वादित्यर्थः । अठ्यासि-

(१) मावासीदित्यत्रमावा आसीदिति क्ङेदः । नाथं माङ्गशब्दः
किन्तुमाशब्दः’ माङ्गलीकारे. “माङ्गिस्तुङि”ति सर्वलकारापवादभूते
नुङिषति “अस्तेर्भू”रिति प्रकृतेर्भूभावेन मावाभूदित्यापद्येत । माशब्द-
योगे तु न तथा माङ्गयोगे एव तथाविधानात् इतरथाभेदेवसूचयेत
एतएव “कथन्तर्हिमाभवत्तु, माभविष्यतीति इनायं माङ्गकिन्तु माशब्दः”
इतिममादाधुस्तद्विदः । तथा च मावासीदित्यस्य न वास्थितः स्यादि-
त्यर्थो द्रष्टव्यः ।

(२) अनुमित्यादित्रये एव त्रित्वसमाप्त्यङ्गीकारे दोषमाह-एवमिति ।

मुपपादयति—“प्रत्यक्षत्वस्ये”ति । वैशेषिकमतमुपेक्ष्य प्रतीतिब-
लात्प्रत्यक्षप्रतीतिषु गुणभूतास्वपि त्रित्वसम्भूतव्यक्तियर्थः ॥
प्रतीतिमेवाह—“अन्यथे”ति ॥

सू० “किञ्च, तथापि स एवातिव्यापकतादेषः । त्रित्वे-
नावच्छिन्नास्वनुमित्यादिव्यक्तिषु त्वदभिमतमभाव-
त्रयमस्तीति तत्र प्रत्यक्षलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरु-
क्ता, तद्व्यावर्तनाय भवताऽभिधीयते काचिदपि
त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यते इति, नचैवमुक्तेऽ-
सावतिव्याप्तिर्निवर्तते तत्राप्युक्तविश्लेषणस्य विद्य-
मानत्वात् । नहि त्रित्वावच्छिन्ने तस्मिँस्त्रित्वव्य-
क्तिः काचिदपि समाप्यते । त्रित्वलक्षणौकोपाध्यव-
च्छिन्ने तस्मिँस्त्रित्वव्यक्त्यन्तरं (१) भवदप्याश्रयान्तर-
मादाय वर्तते, न तु तत्रैव परिसमाप्यते । ‘यत्र चोक्त-
मुपाधिभूतं त्रित्वं, तेषु यदि त्रित्वसमाप्तधर्मिषु
दृश्यते, तदा तद्दर्शनेन तत्र धर्मिमात्रे लक्षणाऽव्या-
वृत्तिः सिध्येत्, न तु त्रित्वविशिष्टे धर्मिणि । तस्मा-
दतिव्यापकत्वं तदवस्थमेव । अभावत्रयं च त्रित्वोपा-
ध्यवच्छेदेन समुदिततामुपगतवति विशिष्टे धर्मि-
णि वर्तते, नत्वविशिष्टे. “प्रत्येकमभावत्रयावस्था-
नस्य तेषु वक्तुमशक्यत्वात् ।

टी० ॥ ‘काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न परिसमाप्यते’—इति
विश्लेषणदानेप्यनुमित्यादित्रये त्रित्वावच्छिन्ने स्वविशिष्टे स्ववृ-

(१) त्रित्वावच्छिन्न-घट-पटैतस्मिन्त्रये वर्तमानं यस्मिन् तत्र यद्यपि
त्रित्वावच्छिन्नेपि वर्तते तथापि घटपटलक्षणमाश्रयान्तरमादायैव, न तु
केवले त्रित्वावच्छिन्ने वर्तते—इत्यर्थः ।

स्तिमयात्प्रथमत्रित्वविशिष्टे (१) त्रित्वान्तरस्य च त्रित्वत्वेनैकीकृते परिममात्प्रत्यनुपपत्तेरतिव्यापकत्वं तदवस्थमेवेति “किञ्चे”त्यादिना “ऽनिठयापकत्वं तदवस्थमेवं”त्यन्तेन विशदयन्नाह ॥ “किञ्चे”ति । नन्वनुमित्यादिषु परिममात्प्रमेष्ठ प्रथमत्रित्वमिति कुनोऽतिव्याप्तिरित्यत आह— । “यत्र चे”ति । धर्मिमात्रेतिव्याप्तिर्नोका, किन्तु त्रित्वावच्छिन्ने, तत्र च त्रित्वापरिममाप्तिरेवेत्यर्थः ॥ प्रत्येकं धर्मिण नानुमित्याद्यन्वोन्याभावात्प्रथममिति विशिष्टे तत्त्वत्वेन प्रागपि त्रैवाऽतिव्याप्तिरुक्ता, सा चाद्यापि न परिहृतेत्याह— । “अभावे”ति ॥ “प्रत्येकमिति । अनुमिताद्यनुमित्यन्वोन्याभावाभावाद्वादित्यर्थः ॥

मू० “अ० मन्यसे— तादृशस्य विशिष्टस्य प्रमितित्वेनैव व्यवच्छेदः, न ह्यभावत्रयवत्तित्वं (२) विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तासु व्यक्तिषु प्रमितित्वं वर्तते (३) किन्तु तेषां धर्मिणां स्वरूपमात्रे, उक्ताभावत्रयं प्रमितित्वं चेत्येतद्व्याप्तिस्तत् प्रत्यक्षमिति हि ब्रूमः? *—इति, न, “भवतापि भिन्नधर्मावच्छिन्नस्यैव (४) धर्मिणः प्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वं चावश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तथाहि—यदि प्रमितित्वस्य क्वाचित्कत्वे नियामकं नोच्यते तदा सर्वा प्रमितिः स्यात्, न वा काचिदपि ।

(१) अत्र “प्रथमत्रित्वस्य” इति शेषो द्रष्टव्यः ।

(२) अभावत्रयवत्तित्वम्=सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनाऽभावत्रयविशिष्टं त्रित्वमित्यर्थः । तासु=अनुमित्यादिषु ।

(३) नहि वर्तते—इति सम्बन्धः, विशेषणीभूते त्रित्वेऽपि प्रमितित्वप्रसङ्गादिति तत्र हेतुः पूरणीयः ।

(४) भिन्नधर्मावच्छिन्नस्य=अन्यान्यधर्मावच्छिन्नस्य । तथाहि प्रत्यक्षे यथार्थानुभवत्वाद्यवच्छेदेन प्रमितित्वं प्रत्यक्षत्वावच्छेदेनाभावत्रयवत्त्वं च वाच्यम् । तथाचाभावत्रयप्रमितित्वयोर्वैयधिकरण्याल्लक्षणाऽविद्विरिति भावः ।

सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया^(१) ।
 नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भवः ॥४२॥
 तन्नियामक^(२)माश्रये विशेषणीभूतं वक्तव्यमुपलक्ष-
 णीभूतं वा ? । आद्ये^(३)यदेव प्रमितित्वस्याऽऽ-
 श्रये विशेषणं तदेव यद्यभावत्रयस्यापि तदा त्रित्वा-
 वच्छिन्नेनुमित्यादा^(४)वभावत्रयस्य दर्शितत्वात्तत्र
 प्रमितित्वेनापि त्रित्वावच्छिन्ने भवितव्यमिति स-
 मितित्वान्न तदूच्यवच्छेदः ।

टी० ॥ विशिष्टे चेदतिव्याप्तिस्तदा प्रमितित्वेनैव तदूच्य-
 वच्छेदः, नहि विशिष्टे प्रमितित्वमित्याशङ्कते-। “अथे”ति ।
 प्रमितित्वमपि यथार्थानुभवत्वादिविशिष्टे वक्तव्यमन्यथातिप्र-
 सङ्ग इति प्रकृतेपि त्रित्वविशिष्टे प्रमितित्वं मानुषपक्षमिति
 परिहरति-। “भवतापी”ति । यदवच्छिन्ने प्रमितित्वं तदव-
 च्छिन्नं एवाभावत्रयं चेन्न वाच्यं तदा त्वत्पक्षे लक्षणस्यासम्भव
 एवेत्ययं भावाभिठयक्तिः ॥

सू० “अथान्यावच्छिन्ने प्रमितित्वमन्यधर्मावच्छिन्ने चाऽ-
 भावत्रयसम्बन्ध,स्तदा^(५)नास्ति त्वत्पक्षेपि प्रमितित्व-
 त्वस्यैकधर्मविशिष्टाश्रयत्वलक्षणमेकाश्रयत्वम् । वि-
 शिष्टेपि धर्मिण्याश्रिते^(६)धर्म्याश्रित एवेति कृत्वा

(१) अन्यानपेक्षया नियमे (स्वीक्रियमाणे) सर्वत्रसत्ताऽसत्ता
 वा स्यादिति सम्बन्धः ।

(२) प्रमितित्वस्य यद्यथार्थानुभवत्वादिकूपं नियामकमवश्यं वक्तव्यं
 तन्नियामकमित्यर्थः ।

(३) यदि विशेषणं तदापि प्रमितित्वाश्रयविशेषणमेवाभावत्रय-
 स्यापि नियामकतयाऽऽश्रयविशेषणभूताभ्यदिति तत्र प्रथममनुवदति
 आद्ये इति । द्वितीयमनुवदति अथेति ।

(४) अनुमित्यादौ = अनुमित्यादिद्वयमुदाये ।

(५) एवं सति प्रमितित्वाभावप्रयवत्त्वयोर्वैयधिकारव्यादादसम्भव एव
 लक्षणस्येत्याह--तदिति । अभावत्रयेण सहेति शेषः ।

(६) यथा शाखावच्छिन्नसंयोगविशिष्टे वृक्षे धर्मिण्याश्रिते मूला-

प्रमितित्वस्याभावत्रयसमानाश्रयत्वेऽनुमित्यादित्रयेपि
 प्रसङ्गस्तदवस्थः । नापि द्वितीयः, उपलक्षणीभूतेन
 केनचिद्धर्मेण (१) योऽसावुपलक्षितो धर्मी स एव खलु
 त्रित्वविशिष्टः, विशेषणवतोपि यावद्विशिष्यवस्तुने
 विशिष्यवस्त्वात्मकत्वात्, यथा दण्ड्यपि पुरुषः
 पुरुष एव । एवं च सत्युपलक्षितादनन्यभूति त्रित्व-
 विशिष्टेष्वनुमित्यादौ प्रमितित्वमाश्रितं, नियाम-
 केनोपलक्षणेनोपलक्षयाभेदव्यवस्थिततया तस्याप्यव-
 च्छिन्नत्वात् । ^१तथाचातिव्याप्तिर्वज्रलेपायिता ।
 *तथाप्युपलक्षकेण त्रित्वविशिष्टतया नोपलक्षितौ-
 ऽसौ धर्मी, किन्तु स्वरूपेण *—इति चेन्न, उक्तमत्र
 यदेव तदुपलक्षितं तदेव विशिष्टमपि । * तथापि
 विशिष्टेन रूपेण तावन्नोपलक्षितम् ? इति चेत्,
 'नोपलक्षि, अविशिष्टेनापि तन्नोपलक्षितमेव ।
 अन्यथा प्रकृतेपि वैयधिकरण्यापत्तेः । तदास्तामु-
 ल्लसत्पल्लववचनविलसितेनेति । तदेवं लक्षणान्तरेपि
 प्रतिपादितोयं दूषणसमूहः स्वयमूहनीयः ।

टी० ॥ भावमेवाभिठयन्कि- । "अथे"ति ॥ "तथाचे"-
 ति । त्रित्वविशिष्टप्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वं चानुमित्यादित्रये-
 पीत्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः । "तथापी"ति । उपलक्षकतायां
 विशिष्टमपि नावच्छेदकमित्यर्थः । अवैशिष्ट्यमपि न तथे-
 त्याह- । "नोपलक्षी"ति ॥ "अन्यथे"ति । प्रमितित्वस्या-
 भावत्रयस्य च नानाधर्मावच्छेद्यत्वेन वृत्तावित्यर्थः ॥

वच्छिन्नस्तदाभावोपि धर्म्याश्रित एव तथाऽन्वधर्मावच्छिन्नप्रमितित्ववि-
 शिष्टे प्रत्यक्षे धर्मिव्याश्रितेऽव्यधर्मावच्छिन्नोऽभावत्रयसम्बन्धोपि धर्म्या-
 श्रित एव नियामकधर्मविशिष्टयोर्भेदेपि प्रत्यक्षस्य धर्मिण्यप्रकृतादित्यर्थः ।

(१) केनचिद्धर्मेण = यथार्थानुभवत्वाद्दुष्टकारणोद्भवत्वादिना ।

मू० एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतं लक्षणस्याभिधानं
तु केनांशेनापयुज्यते "अन्याभिप्रायोक्तमपि हि
तत्सामान्यतोप्युपपद्यमानमेवेति (१) अनुमानमपि
(२) किमुच्यते 'करणपक्षे लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति
चेत् किं लिङ्गत्वं व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमिति चेत्
संशयस्योपलक्षणत्वे तत्र दृष्टापि व्यापकं तत्परा-
मर्शेतिप्रसङ्गात् "अत एव न तस्य वर्तमानस्य 'अत-
त्कालेप्युपलक्षणत्वात् 'विशेषणत्वेचानुमाय व्यापकं
धर्मिनाशवदप्रवृत्त्यापत्तेः (३) * "पक्षधर्माद्धेतोः
पक्षांशे विशेष्ये साध्यमिद्धिरीदृशं च वैयधिकर-
णमिष्टमेवेत्यतो नैवम् !* इति चेन्न ।

टी० ॥ ननु चेदनेव प्रमाणमेवेति च प्रतिज्ञाद्वयं निर्वाह्यं
तत्र च पदार्थानां लक्षणमनुपपन्नमिति भट्टेनात्पर्येण तु लक्ष-
णानां समानासमानज्ञानीव्यवच्छेदो न फलमिति तदभिप्रा-
यस्तथाच प्रकृतान्ङ्गनिदमत आह-। "अन्ये"ति । "करण-
पक्षे" इति । भावसाधनत्वनिवृत्त्यै (४) पक्षधर्मत्वमिति हि मन्दि-
रथमाध्यधर्मा धर्मो पक्षस्तद्वर्तवं तत्र मन्देहस्यापलक्षणतां दूष-
यति-। "साध्यस्ये"ति । वहिज्ञाने वृत्तेपि धूमपरामर्शः करणं
स्यादित्यर्थः लिङ्गपरामर्शस्तत्र करणमेवानुमित्यनुत्पादस्तु मिद्ध-
साधनादिति न वाच्यम् लिङ्गपरामर्शस्य चरमकारणत्वोपगमा-
दिति भावः ननु व्यापकनिश्चयेन विरोधिना तत्र संशयस्य

(१) { प्रत्यक्षं खण्डित प्रागनन्ताभिरुपपत्तिभिः ।
सुदृढं खण्डयतेऽद्यानुमानं परिकराम्बितम् ॥ }

(२) अनुमानं दूषयितुं पृच्छति किमिति ।

(३) धर्मोति, धर्मो पर्वतादिर्नष्टो यस्य बहूयादेः साध्यस्य तत्र
धर्मिनाशवद्बहूयादौ बहूयाद्यर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः ।

(४) भावसाधनत्वनिवृत्त्यै = अनुमितिरनुमानमिति भावश्च्युत्पत्ति-
कत्वनिवृत्त्यै ।

नाशाक्तस्योपलक्षणत्वं यत्र न वर्तमानस्तत्रोपलक्षण भवत्येवेत्यत आह—^१“अत एवे”ति । वर्तमानस्योपलक्षणत्वनितिशेषः ॥ “अत एवे”ति । अल्पमात्रहेत्वतिदेशः तमेवाह— “अतकाले” इति । ^१“विशेषणत्वे” इति । सन्देहविशिष्टो धर्मो यदि पक्षस्तदा सन्देहनाशे विशिष्टस्य पक्षस्यापि नाशादनुभावां जानायामपि साध्यं कुत्र वर्ततेत्यर्थः ननु विशिष्टस्य पक्षत्वेपि तदुभौमाद्विशेष्यमात्रे साध्यमिद्विरिति तस्यावस्थानादनुमितवह्निस्तत्रैव प्रवर्तते नचान्यधर्मादन्यत्र साध्यमिदुत्रतिप्रसङ्गो विशिष्टधर्मस्य विशेष्ये साध्यकत्वनियमाभ्युपगमादित्याशङ्कने— “पक्षे”ति ।

सू० “पक्षमादायैव वैयधिकरण्ये नियतसामानाधिकरण्य-
लक्षणव्याप्तिलोपापत्तेः * तथापि विशेष्यमादाय
सास्ति ? * इति चेन्न, ‘साध्यविशेषसिद्धिरपि यत्र
व्याप्तबलायातं सामान्यं तत्र सामान्यप्रतीत्यपर्य-
वसानबलादेवेति सामान्यविशेषसिद्धयनुपयोगिनी
पक्षधर्मता त्वदिष्टा केवल सिद्धसाधनपरिहारायानु-
मितिकारणत्वेनेष्टव्या सिद्धसाधनं च न स्वार्थानु-
माने दोष इति नानुमितिमात्रहेतुनिवेशनी^(२)सेति
‘मोक्षमाणैर्हि’ “^(३)आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्र-

(१) अज्ञातसतस्वन्देहस्य विशेषणत्वमहास्त्रिज्ञातसतः नद्यः
अज्ञातसतस्य विशिष्टबुद्धानियामकत्वेन विशिष्टबुद्धिविषयतामन्तरेण
पर्यतादेः पक्षत्वानुपपत्तेरतएव नाज्ञातस्य विशेषणत्वमपीतराव्यावर्तक-
त्वात्—नहि स्वरूपसत्त्वमात्रेण विशेषणं सम्भवति येनाज्ञातस्यापि विशे-
षणत्वमङ्गीक्रियेत तदेव हि विशेषणं पक्षमावर्तयतीतरस्माद्विशेष्यमज्ञा-
तस्य च विशेष्ये व्यावर्तकत्वादिति नाज्ञातस्य विशेषणत्वम् । नापि
द्वितीयः ज्ञातस्य व्यावर्तकत्वेपि ज्ञानस्य स्वात्पत्तितृतीयक्षणवृत्तिध्वंस-
प्रतियोगित्वेनेति सन्देहनाशानन्तरं विशिष्टस्य पक्षस्यापि नाशाज्जा-
सायामनुमितौ साध्यं निराश्रयं स्यादित्याह—विशेषणत्वे—इतीति—

(२) सेति—पक्षधर्मतेतीत्यर्थः ।

(३) आगमेत्यादिना न शब्दादिप्रमाणमभिप्रेतमपि तु शब्-
दादित्रयम् । प्रसङ्गभाषार्थास्तु “आगमेनानुमानेन”त्यादिपद्यं न न

(^१)त्यक्षणे न च त्रिधात्मनि प्रमाणानां(^२)सम्प्लवः स्वार्थमुच्यते” इति “(^३)एतेन संशययोग्यतापि निरस्ता ।

टी० ॥ एवं सति लिङ्गलिङ्गिनोः सामानाधिकरण्यं ठयाप्तिरिति यदुच्यते तद्गुण्येतेति परिहरति ॥ “पक्षमादाये”ति । ननु विशिष्टे सामानाधिकरण्याभावेपि विशेष्ये तदुभयसामानाधिकरण्यमत्त्वान्न ठयाप्तिलोप इत्याशङ्कते-। “तथापी”ति । एवं सति पक्षधर्मता नानुमित्यङ्गं स्याद् ठयाप्तिबलादेव सामान्यं मिथ्यद्विशेषमादायैव सेत्स्यतीति विशेषमिदंवापि तदनुपयोगादिति परिहरति । “साध्यविशेषे”ति । स्वार्थानुमाने मिदुमाधनस्यादोषत्वमाह-। “सोक्तमापैरि”ति । मुनेऽकर्मकस्य सनि रूपं तथाच मुमुक्षुभित्यर्थः आगमावगतात्मनि मननबोधनात् मिदुमाधनं न दोषः श्रुतिबोधितेष्टमाधनताकस्य मननस्यानुमित्साहेतुकत्वेन तत्र संशयस्यानपेक्षणात् प्रकारान्तरेण श्रवणं तदन्यप्रकारेण संशयान्ननमित्यमारं श्रवणमननयोः समानप्रकारकत्वावगमादिति भावः ॥ “एतेने”ति । पक्षधर्मताया अन्वयत्वप्रदर्शनेन साधकबाधकसामाभावलक्षणसंशययोग्यताघटित पक्षत्वं निरस्तमित्यर्थः यद्वा साधकमाने सत्यपि मननप्रवृत्तिदर्शनेनेत्यर्थः ।

श्रवणादि त्रयमभिहितमपि तु “ध्यानात्प्रत्यक्षणेन चे”ति द्वितीयपादेनानुमानानन्तरं प्रत्यक्षवदागमानन्तरमनुमानमिधीयतइत्यर्थं ब्रुवते तथा चैतन्मतेऽप्यागमिकात्मावगमान्तरमनुमानविधानान्न पक्षतायास्सर्वत्र हेतुत्वं तत्र प्रगल्भाचार्य्यकृत स्वार्थस्वप्नगिति मन्ये तत्र सिद्धि-सत्त्वेऽप्यनुमितिदर्शनेन न पक्षतायास्सर्वत्रकारणत्वमिति पक्षधर्मताहेतुत्वनिरासकप्रकृतग्रन्थोपयोगित्वात्तदर्थस्य श्रवणानन्तरं मननबोधने तु मनस्यापि साक्षात्काररूपत्वेन सिद्ध्यनन्तरमनुमितेरबोधनान्न तद्ग्रन्थस्य पक्षधर्मताहेतुत्वनिरासकत्वं सम्भवति श्रवणादि त्रितयविधानवादिमत इति । (१) प्रत्यक्षणेनेति प्रत्येकवागमाद्यन्वयि ।

(२) सङ्करः । एकधर्मिणोऽवस्थाविति यावत् ।

(३) ननु तत्र साधकसामाभारूपायाः पक्षधर्मताया असत्त्वेपि संशययोग्यत्व रूपापक्षधर्मतास्त्वेवेति न पक्षतायामनुमितिमात्रहेतुत्व-निरास इत्यत आह-एतेनेति ।

मू० "व्याप्यत्वमिति चेत् किं वस्तुगत्या व्याप्यस्य स्वरूपेण परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वा नाद्यः "अगृहीतव्याप्तनापि धूमादिपरामर्शस्यानुमानताप्रसङ्गात् नापि द्वितीयः "व्याप्त्युल्लेखिनः प्रमाणस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् तस्यापि (१) व्याप्यत्वग्राहिनाया अवश्यं वक्तव्यत्वात् "अत एव द्वितीयतृतीयविशेषणे अपि निरस्ते धारावाहिनि तथात्वापत्तेः "गृहीतव्याप्तना च युगपदुभयग्रहणे द्वावेतौ व्याप्यव्यापकाविति परामर्शस्यानुमानत्वप्रसङ्गात् * नच तदनुमानमेव*, असन्दिग्धतया पक्षत्वाभावेन तद्धर्मस्य हेतोः सिद्धसाधनव(२)दपक्षधर्मत्वात् * स्वार्थानुमाने नायं दोष ? * इति चेत्, "प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वासाक्षात्त्व विरोधापत्तेः ।

टी० ॥ पक्षधर्मता चेदनङ्गमस्तुतर्हि व्याप्यत्वमेव लिङ्गत्वमित्याह-। "व्याप्यत्वमिति । वस्तुगत्या यद्व्याप्यं तस्य परामर्शोऽव्याप्यत्वेन वा परामर्शोऽनुमानमाद्यं दूषयति-। "अगृहीते"ति ॥ द्वितीये त्वाह-। "व्याप्ती"ति । व्याप्तिज्ञानमप्यनुमानं स्यादित्यर्थः तस्यापि व्याप्यत्वग्राहित्वादन्यथा व्याप्तिग्रहत्वमेव तस्य न स्यादिति भावः (३) उक्तदोषादेव द्वितीयलिङ्गपरामर्शस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो वा अनुमानमिति निरस्तमित्याह-। "अत एव"ति ॥ देशान्तरमाह-। "धारे"ति । धारावाहिविद्वितीय तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमानत्वापत्तेः व्याप्यत्वव्यापकत्वप्रकारकधूमवह्निनमूढालम्बनेऽनुमानत्वप्रसङ्गात् । "गु-

(१) व्याप्येत्यपि क्वाचित्कः पाठः ।

(२) सिद्धसाधनस्य हेतोः यथापक्षधर्मत्वं नास्ति असन्दिग्धसाध्यवपक्षत्वात्तद्वदित्यर्थः ।

(३) स्वरूपेणद्वितीयलिङ्गस्य तृतीयलिङ्गस्य वा परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वानाद्यः । धूमादिमात्र परामर्शस्याप्यनुमानत्वापत्तेर्नापि द्वितीयः । व्याप्तिग्रहणस्यापि व्याप्यत्वविषयकत्वेनानुमानत्वप्रसङ्गादिति ।

हीते"ति । व्याप्यत्वपरामर्शरूपतया असूहालम्बनप्रत्यक्षनपि यद्यनुमानमङ्गीकार्यं तदा तदनन्तरेऽल्पकव्यापकप्रत्यक्षस्येन्द्रियज्ञानेन माक्षात्वेन लिङ्गजत्वेन चासाक्षात्त्वमिति विरोधः स्यादित्याह- । "प्रत्यक्षे"ति ।

सू० * अद्यापकविषयत्वे सति ? * इति चेन्न, 'व्याप्यत्व-विषयत्वाभावप्रसङ्गात् 'व्याप्यत्वं' हि सप्रतियोगिक-ग्रहणम् तथाचैतस्य व्याप्यमिदमिति गृह्यते तथा च सति व्यापकस्यापि विशेषणस्य ग्रहणमवश्यं वक्तव्यम् अन्यथा विशिष्टग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात् * विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सति ? * इति चेन्न, अग्निधूमौ व्याप्तावित्याप्तोपदेशाद्वा पूर्वं भूयो गृहीतवह्निधूमसाहचर्यस्य वह्निधूमाग्रहणकाले विमर्शवशाद्वा जायमानव्याप्तिग्रहणस्य 'व्याप्यपरामर्शानुमानं स्यात् * न परामर्शः प्रत्ययमात्रं येन प्रथमग्रहणे प्रसङ्गः स्यात् किं नाम प्र^(१)त्यभिज्ञानम् ? * इति चेन्न, 'विचारादाप्तोपदेशाद्वा प्रतीत्यव्याप्तं पुनराप्तोपदेशाद्विचारान्तराद्वा यैव मया व्याप्तिर्गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानमनुमानं स्यात् ? * विशेषतो व्याप्यविषयत्वे सति ? * इति चेन्न, 'अद्यापकत्वप्रसङ्गात् 'एकव्यक्तिविषयत्वस्य व्यक्त्यन्तरेऽसम्भवात् 'सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वस्य चातिप्रसङ्गकत्वात् 'किञ्च धूमवत्त्वादेर्यदा कदाचिदग्निमत्त्वं वा प्रतीयते तदानीं वाग्निमत्त्वं पर्वतादेर्नाद्यः ॥

टी० ॥ "अद्यापके"ति । व्यापकास्फुरणे व्याप्यत्वस्फुर-

(१) वह्निव्याप्त्येयमिति ।

खानुपपन्नमेवेति क्वाप्यनुमानं न स्यादित्याह-। “व्याप्यत्वविषयत्वे”ति । एतदेवोपपादयति-। “व्याप्यत्वं ही”ति । “उयाप्यपरामर्श” इति । मानस इत्यर्थः साहचर्यमात्रग्रहादयं मानसोऽयाप्यपरामर्शः प्राथमिक एव न न विवक्षितः किन्तु उयाप्योऽयमित्यनुसन्धानमनुमानमिति शङ्कते-। “न परामर्श” इति ॥
 /“विचारादि”ति । अनुकूलनकीपगृहीतमहवारदर्शनादित्यर्थः ॥
 /“विशेषत” इति । अयं धूमो वह्निठयाप्य इत्याकारपरामर्शानुमानमित्यर्थः ॥ “अठयापकत्वे”ति । अमित्यत्वठयाप्यं कृतकत्वमित्याकारः परामर्शानुमानं न स्यादित्यर्थः एतदेव स्पष्टयति-। “एके”ति । ननु व्यक्तिसात्रविषयत्वं विशेषतो व्याप्यविषयत्वमभिमतं नतु धूमैरुप्यक्तविषयत्वं येनाठयापकता स्यादित्यत्र आह-। “सामान्यत” इति । प्रकारान्तरेणानुमानं खण्डयति-। “किञ्चे”ति ॥

सू० “तदानीमिवा न्यदाप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तेस्तत्र प्रसङ्गात् नापिद्वितीयः तदानीमग्निमत्तया व्याप्तत्वानवगमात् * “तदेति धूमकालो पेक्षित? * इति चेन्न, ‘क्वचिद्देशेऽन्यदापि धूमस्यावस्थानमस्तीति कालान्तरस्यापि धूमकालत्वात् (१) * ‘तद्धूमकालोपेक्षित? * इति चेन्न, “तच्छब्दस्य व्यक्तिविशेषवचनत्वेऽप्रतीतव्याप्तिकत्वं यत्किञ्चिद्वाक्तवचनत्वे चो- (२) क्तदोषापत्तिः हेतोः पक्षधर्मतयाप्यपर्वतादिधमः साध्ये। माभूत्तस्तु कालान्तरे किं न स्यात् / तं कालमन्तर्भाव्य पक्षत्वे कथमुत्तरं निष्कर्षं प्रवर्तते / धूमकालमन्तर्भाव्य चेदुक्तमावर्तते / तद्धूमकालं चेद् ॥

(१) धूमकालादित्यस्यानन्तरं तथा च कालान्तरेपि बह्वर्चिनः प्रवृत्तिस्स्यादित्येतदध्याहार्यम् ।

(२) क्वचिद्देशेऽन्यदापीत्यादिपूर्वग्रन्थोक्तदोषस्यापत्तिरित्यर्थः ।

टी० ॥ "तदानीमिति" । सिद्धकाले इत्यर्थः ॥ "अन्य-
दापी"ति । अतीतानाम् । लिङ्गस्यनेपि पर्वते वह्निमनुभाय प्रवृत्तिः
स्यात् तत्कालं नवाह्वानस्यार्थं मन्मथादित्यर्थः ॥ "तदा-
नीमिति" । वह्निमात्रेण धूमस्य उपाटिर्गत्तु धूमकालीनवह्नित्वं
व्यापकनाशकत्वेऽकस्मिन्नायं । ननु गदा धूमस्तदा वह्निरिति काल-
गर्भव्याप्त्यह्वानादेव लिङ्गकाली तैर्ङ्गात्वाद्गिति शङ्कते-
"तदानीमिति" । एवमपि धूमो वह्नी कालेन स च नानेति
स्य च विनिर्गमकत्वमित्याह । "कादि"ति ॥ "तदु मका-
ल" इति । परास्युपपाण्युपकाल इत्यर्थः । यदि विशिष्ये तेन
धूमविशेषेण व्याप्त्यह्वानं भवेत्तदा तत्कालस्फुरणं स्यान्नचैव
मित्याह- । "उक्तवद्वि" । ननु यस्यापि व्यक्तौ विशिष्य
व्याप्त्यह्वानं नैव तत्कालं इत्येव आह- । "यत्किञ्चिदि"ति ।
एवमपि तत् किञ्चिद्गुणकाली-वह्निमेव इत्युक्तिर्निर्गमकाला न
स्यादित्यर्थः पक्षधर्मोऽह्वाने पक्षधर्मवह्निमिद्विर्नतु नियतका-
लीनतयापक्षधर्म्या अन्वयव्यादित्याह । "हेतारि"ति । नन्व-
नुगितिकालावधिपटो लिङ्गमात्रविशिष्टो वा धर्मो पक्षधर्मेन पक्ष-
धर्मेऽह्वानत्तन्वयव्यकालादिमित्या आह । "तमिति" ।
तत्कालनाशे पक्षधर्मात् न च प्रवृत्ति स्यादित्यर्थः ननु धूममा-
सान्यकालान्तारेण पक्षधर्मोऽह्वानं धूमप्रवृत्त्या प्रवृत्तका-
लेऽवश्यमेवेत्येव आह । "धर्म"ति । एवमपि यत्किञ्चिद्गुण-
कालीनवह्निमिद्विर्नतु नियतकालं इत्येव आह- । "उक्तमिति" । परा-
स्युपाण्युपपाण्युपकालं ननु धूमप्रवृत्ते । "तदि"ति ॥

मू० अंशतः स्ववृत्तिः कश्च व्याप्तिशब्दार्थ इति वक्तव्यं
अविनाभावः इति चैतिकभेदस्याऽव्यतिरेकेऽपरस्य
भावोऽविनाभावपदार्थः उत एकस्य व्यतिरेकेऽप-
रस्य व्यतिरेकः यद्यद्याः तदाऽव्यतिरेकोऽन्वयार्थ
इत्येकस्यान्वयेऽपरस्यान्वय इत्युक्तं स्यात् एवं च
सति पार्थिवत्वलोहत्वव्यत्ययोरप्यन्वयो व्याप्तिः
स्यात् * न क्वाचित्कः सम्बन्धो व्याप्तिः 'सार्व-

त्रिकस्य तथात्वेन विवक्षितत्वात् ? * इति चेत्कि-
मिदं सार्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य सर्वासु तज्जातीयव्य-
क्तिषु विद्यमानतेति चैत्रेयं सर्वतज्जातीयव्यक्त्यऽ-
परिज्ञाने शक्यावधारणा न च सर्वास्ता व्यक्तयो
विश्लेषतो ज्ञातुं शक्याः तत्तत्प्र^(१)मितिकरणास-
म्भवात् इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या
व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते
(^२)यदनभ्युपगमे(^३)षण्डकमुद्राह्यमुग्धायाः पुत्रप्रा-
र्थनमिवेति वाचस्यतिरूपालम्भमवादीदिति चेन्मै-
वम् "सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले
सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे^(४) प्रमेयत्वादिद्व्याप्तिङ्गु-
हणतः सार्वज्ञप्रसङ्गात् 'क्वचिदप्यज्ञानं ते न स्या-
दिति च सार्वज्ञ्यापादनमिति न^(५)प्रतिकृत्यापि ॥

टी० ॥ तथाच परासृष्यमाणधूमकालर्वाशष्टः पक्षस्तद्गुर्भश्च
परासृष्यमाणो धूम इत्यंशत आत्माश्रय इत्याह-। "अशत"इति ।
"सार्वत्रिकस्ये"ति । पार्थिवत्वलेःहलेस्यत्वयोश्च वज्रे व्यभि-
चारात् तथात्वमित्यर्थः ॥ 'यदनभ्युपगमे' इति । यदि पक्षी-
यधूमेपि व्याप्तिग्रहो न वाच्यस्तदा ततोनुमितिनं स्यादिति
तदर्थं सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरभ्युपगन्तव्येत्यर्थः एवं सति
यत्प्रमेयं तदभिधेयमिति व्याप्तिग्रहकाले सर्वज्ञः स्यादित्याह-।
"सामान्ये"ति । ननु सार्वज्ञ्यमापादयतस्तवैव सार्वज्ञ्यमापन्न-
मित्यत आह-। "क्वचिदि"ति । यद्यपि क्वचिदप्यज्ञानं न

(१) प्रमितिकरणेति भावप्रधानतया निर्देशस्तथा च प्रमिति-
करणत्वस्यैकस्यानुगतस्यासम्भवादित्यर्थः ।

(२) सर्वोपसंहारवद्द्वयाप्यनङ्गीकारे । (३) नपुंसकम् ।

(४) प्रमेयत्वादिनिरूपितामभिधेयत्वादिनिष्ठामित्यर्थः ।

(५) कृत्या नामानिष्टोत्पादिका क्वचिद्देवता तद्वारकं देवता-
न्तरं प्रतिकूरया प्रतिवन्दीति ताव्यर्थः ।

स्यादित्यस्य सर्वत्र ज्ञानं स्यादित्यर्थं इति प्रतिकृत्यैव तथापि तद्वत्माज्ञात्कारविषयत्वं यदि वस्तुत्वठयापकं तदा प्रमेयत्वक-
न्दीयचित्तवर्तिविषयवृत्तिः स्यादिति भावः ॥

मू० * प्रमेयतया सर्वं तदा ज्ञायते एव नतु रूपान्त-
रेण ? * इति चेन्न, यदि रूपान्तरेण तत्प्रमेयं तदा
रूपान्तरवतोपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणं
अथ न प्रमेयं नास्त्येव रूपान्तरेण तत्त्वेन तु रूपा-
न्तरेणास्ति तेन सर्वेण प्रमेयमिति यावद्विद्यमाना-
कारेण ज्ञातत्वप्रसङ्गः तथात्वस्वीकारे च ज्ञायतां
प्रमेयत्वदर्शिना भवतां सामकी चित्तवृत्तिः ततः
अद्भास्ये * स्यादेतत् यथा भेदोऽन्योन्याभाववैध-
र्म्यादिः पृथक् तथैक्यमपि वस्तूनां भूतः प्रमेयत्वा-
द्यपि धर्मिणामेकत्वमेव ततः प्रमेयत्वेन ज्ञायमानं
तत्सर्वमपि तेनैक्येन प्रतीयमानैकव्यक्त्यात्मकमेव
ज्ञातं भवतीति कथं तदेकत्ववेदिनसार्धद्वयं *
(१) नच वाच्यं नानात्वमपि व्यक्तीनां प्रमेयमिति
तदपि धर्मितया ग्राह्यमेवेति ? * - यतस्तदपि (२)
प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव गृहीतं भवतीति ॥

टी० ॥ इष्टापादनमाह-। "प्रमेयतये"ति । रूपान्तरवि-
शिष्टमपि प्रमेयमेवेति ताद्रूप्येणापि ग्रहणं स्यादित्याह-। "इदी-"
ति । अत्रापीष्टापादने बाधेनाह-। "तथात्वे"ति । यद्यपि
प्रमेयत्वप्रकारेण तदापि ज्ञायते एव यत्सामान्यं प्रत्यासत्तिस्यया
तत् प्रकारकज्ञानस्यैव जननात् तथैव सामर्थ्यान्धारणादिति

(१) अथ व्यक्तीनामिव तद्वृत्तिनानात्वस्यापि प्रमेयस्वरूपत्वात्स-
द्ग्रहणं धर्मितयावर्ग्यं वाक्यमग्न्यथा सामान्यप्रत्यासत्तेस्वाश्रयसर्वधर्मि-
ग्राहकत्वं तद्वद्भ्युपगतं व्याहन्येतेति नानात्वस्यापि धर्मितया गृहीत-
त्वेन तदवस्थं सार्धद्वयमिति शङ्कामप्यकुर्वन्नाह-नच बाध्यमिति ।

(२) नानात्वमपीत्यर्थः ।

घटत्वादिनापि प्रकारेण तज्ज्ञानापादनमनुपपन्न तथापि नत्रैव न
 नियायकमिति भावः प्रमेयत्वेन सर्वमिन्द्रियेण कथं न्यथा इदं
 प्रमेयत्वं नैव देयं त्यजेत्प्रति अन्वयान्निति तेषां कारणज्ञानमभि-
 लषिष्यकमेवेति न प्रमेयत्वापादनमित्याह - । "स्यादेदि"ति ॥
 सू० तस्मात् "ए कौ भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वं भावा-
 स्तत्त्वतस्तेन दृष्टा इति" 'तत्त्वत स्तादूप्येण एकी-
 भूता इति भावः ? * - (१) तदेवदपि नोपपन्नम् ना-
 नैकमिति (२) व्याहृतप्रतीत्यापत्तेः * (३) अथ रूपा-
 न्तरेण नानान्वं प्रमेयत्वादिना चैक्यमिति व्यव-
 स्थित्या न ध्याघातः स्यात् ? * त हि प्रमेयत्वाधा-
 रस्य ध्यास्त भेदस्य कृत्स्नस्य ग्रहणत् सापेक्ष्यप-
 तिस्तादृश्येवेति किं च सामान्यनश्लया प्रत्या-
 सृत्या तज्जातीयविशेषग्रहणं तामु र्वामु व्यक्तिसु
 सम्बन्धास्तित्वे (४) किं प्रमाणं * सर्वव्याप्तग्रहवत्त-
 त्सम्बन्धग्रहेण ध्यापितग्रहकमिन्द्रियमेव प्रमाण-
 मिति चेत् ? * त हि त्वच्चिदेवसवभासितस्य यदू-
 व्यभिचारो दृश्यते तद्र स्यात् इन्द्रियेण तत्सम्बन्धस्य
 प्रमितत्वात् * भ्रान्तिस्तत्र सम्बन्धप्रतीतिः पश्चा-
 द्वाधात् ? * इति चेद्, सामग्र्यभेदे काचिद्भ्रान्तिः

(१) अथ किमिति न नत्व परिष्णु तदभिसतमित तत्त्वस-
 र्वक-
 रूप्याभावः । उतसंख्यारूपे तत्त्वाभावः । आदोस्विद्वृत्तभेदः न प्रथमः
 प्रमेयत्वादिनेव रूपस्य त्वयै परिष्णु र्वोकारेण तत्र तदभारूपनाना-
 त्वस्यासम्भवात् नपि द्वितीयस्तत्त्वाभासस्य संख्यारूपे तत्त्वात्सवतया
 मतिव्यक्तियश्चान्तत्वात्तेन सर्वव्यक्तिस्य नुत्पत्तेः नापि तृतीयस्तद-
 ङ्गीकारेपि तद्वत्तः प्रमेयत्वादिना श्रुतात्वात्तेन सर्वव्यापत्तेस्तादवस्थयात्ता-
 नैकत्वप्रतीत्योर्द्विधात्वेत्पाद-तदंतदपिति ।

(२) नाना-- एकमिति हेतुः । तद्वनामेकत्वमिति तु तदर्थः ।

(३) घटपट आत्मना । (४) सर्वस्यै = व्योमिति ।

काचिद्भ्रातिरिति विभागानुपपत्तेर्दोषादोषवैचि-
त्र्यविवेचनस्य दुष्करत्वात् कार्यभेदादेव सामग्रीभे-
दोप्युत्तरेय इति चेत् उज्जीयतां^(१) स एव कीदृगुत्तरेय
इति वाच्यम् ॥

टी० ॥ ए० "इति" । येन सावो धर्मो द्रव्यत्वप्रमेयत्वा
दिदृष्टान्तेन तादृशपक्षेण तदा लिङ्गधर्मिणो^(२)भावाः सर्वे एवै-
क्यभाषणादुक्त इत्यर्थः कःशिकाया उक्तायासमर्पकत्वं सत्त्वा
व्याप्ये - "त्व" इति ॥ "माने"ति । यद्गुणमेकत्वमिति
उच्यते इत्यर्थः - गुणमेकभाषणत्वेऽप्यत्र चेदेतत्त्वं नत्राह-
"तर्ही"ति । सामान्य^(३)विशेषणं यद्यद्व्यक्तिग्रहेषु तद्गत-
व्याप्तिग्रहे त प्रमाणमित्यह । "किंच"ति । सर्वामु ठ्याकषु
सम्बन्धभेदित्वात् प्रमाणत्वात् परिश्रवत्त्वोपलक्ष्यत्वयोः
क्वाचित्कः सम्बन्धो यथा त स्यादित्यह - "तर्ही"ति ॥

म० न तावत्सार्वात्रिकसम्बन्धभावाऽभावात्मकस्तदानीं
"भाविनां सम्बन्धानामसत्त्वेनाकारणत्वात् सामा-
न्यतश्च तज्जातीययोः सम्बन्धस्य प्रतीतेः पूर्वसत्त्वं
भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणम् क्वचिदपि सम्बन्धाभावे
भ्रान्तेरनुदयात् * किमेतावता अन्य एव तर्हि कार्य-
भेदात्कारणभेदः कल्पयिष्यते इति चेत् ? * स कि-
मिन्द्रियसहकारिभूतः करणान्तरमेव वा कल्पनीय-
मिति वाच्यम् नाद्यः इन्द्रियस्य भूतभाविसम्बन्धांशे
प्रमाणात्कल्पनायां प्रमाणाभावात् प्रत्युत व्युपर-

(१) अनुमीयताम् ।

(२) तद्गुणमालिङ्गितं येषु धर्मिषु ते तदा लिङ्गितधर्मिणः ।

(३) सामान्यं विशेषणभूतं यस्या यावत्तथा व्यक्तेस्तद्ग्रहे-इत्यर्थः ।

यद्वा, यथा व्यक्त्यवच्छेदकतया सामान्यं व्यक्तेर्विशेषणं तथा व्यक्तेरपि
सामान्यव्यवच्छेदकत्वात्सामान्यविशेषणत्वम् ।

तेन्द्रियव्यापारस्यापि '(^१)भावयतः पूर्वप्रतीतसम्ब-
द्धधर्मद्वयव्याप्त्यवधारणदशनात्'*(^२)तदापि मनो-
ऽस्तीन्द्रियमिति चेत् ? *- ॥

टी० ॥ सम्बन्धानामपि मानयन्तर्भावे भाविनामसत्त्वा-
त्तद्ग्रहे न स्यादित्याह-। "भाविनामि"ति । ननु यद्यपि भावि-
नां विशेषाणां सम्बन्धा न सन्ति तथापि सामान्ययोर्धूमत्वावच्छि-
न्नवह्नित्वावच्छिन्नयोः सम्बन्धप्रतीतिः पूर्वमस्त्येव स एव कारणं
स्यादित्यत्र आह-। "सामान्यत"इति । पार्थिवत्वजोहलेख्यत्व-
योरपि व्याप्तिप्रतीतिरेव स्यादित्यर्थः व्याप्तिप्रतीतिलक्षणकार्या-
नुरोधात्कारणं कल्पनीयमित्याह-। "किमि"ति । असम्बद्धाव-
त्तेमानग्रह प्रतीन्द्रियाणामकारणत्वादित्याह-। "इन्द्रियस्ये"-
ति । व्याप्तिप्रतीतिं प्रतीन्द्रियस्य व्यभिचारमाह-। "प्रत्यु-
त्ते"ति । भावयन्श्चिन्तयत । "तदापी"ति । इन्द्रियान्तरव्या-
पारव्युपरसकाले इत्यर्थः ॥

सू० "अस्तु तस्मिन्कार्ये मनसः करणत्वे तु प्रमाणाभावः
अवश्यं परिकल्पनीयेनान्येनैव सर्वानुपपत्त्युपशान्तेः
कारणत्वमात्रं तु चक्षुरादिजज्ञानवन्मनसस्तत्र स्यात्
चक्षुरादिवत्करणमन्यदेव तत्कल्पनीयमिति तत्स-
प्तममिन्द्रियं प्रमाणान्तरं वा प्रसज्येत अन्यथा
चाक्षुषादिप्रतीतावपि चक्षुरादेः करणत्वं न स्यात्
शक्यते तत्रापि वक्तुं मन एव तत्सुखादि प्रतीति-
वत्करणं चक्षुरादयस्तु सहकारिमात्रं नापि द्वितीयः
इन्द्रियान्तरप्रसङ्गात् प्रमाणान्तरप्रसङ्गाद्वा नापि
विनाभावः(^३) एकस्य व्यतिरेकेणापरस्याव्यतिरेकः

(१) विचारयत इत्यपि पाठान्तरम् ।

(२) ननु तदानीमिन्द्रियान्तराणां व्युपरमेपि न मनोरूपेन्द्रि-
यस्य व्युपरतत्वमस्तीत्याह-तदापीति ।

(३) एकस्य साध्यत्वेनाभिमतस्य व्यतिरेकेणाभवेनापरस्य सा-
ध्यत्वेनाभिमतस्याव्यतिरेकोऽवस्तद्विषयेऽविनाभावइत्यर्थः ।

तन्निषेधाऽविनाभाव इति द्वितीयः पक्षः एवं हि लोहलेख्यत्वव्यतिरेकश्च पार्थिवत्वव्यतिरेकश्च 'क्वचिदस्तीति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यविनाभावः प्रसज्येत * सार्वत्रिकं व्यतिरेकयौगपद्यं विवक्षितं ननु क्वाचित्कं अत एवोच्यते अविनाभावनियमः * इति चेन्न, सार्वत्रिकान्वयावधारणनिरासन्यायेन सार्वत्रिकव्यतिरेकावधारणस्याप्यशक्यत्वात् शक्यत्वे चान्वयावधारणमेवास्तु सार्वत्रिकं कृतं व्यतिरेकावधारणकुटिलिकया यत्र विपक्षे वृत्तौ हेतौ बा^(१)धकमस्ति तयोरन्वयो व्याप्तिरिति केतितन्न यत्तु विपक्षे वृत्तौ हेतौ + बाधकं तत्प्रमाणं वा तर्को वा स्यात् आद्ये न तावदिन्द्रियम् ।

टी० ॥ इन्द्रियमहकारितया यत्कल्पनीयं तदेव तत्राभाधारण कारणमस्तु मनस्त्वन्मित्यादिवत्साधारणमेव तत्रेत्याह—
“अस्त्विति । व्याप्तिज्ञानस्य साक्षात्कारित्वे सुप्तमिन्द्रियमसाक्षात्कारित्वे प्रमाणान्तरमिति विकल्पे तात्पर्यं एवमग्र्येपि एकस्य व्यतिरेकेणेति साध्यमाधनयोरन्यतरस्य व्यतिरेकेऽन्यतरव्यतिरेक इत्यर्थः ॥ “क्वचिदि”ति । आकाशादादित्यर्थः ॥ सार्वत्रिकमिति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वव्यतिरेकयौगपद्यस्य वज्र-
ऽभावादित्यर्थः अविनेति अविनाभावयो^(२)र्व्यतिरेकयोर्नियम इत्यर्थः दुग्धधारणत्वमाह— । “सार्वत्रिके”ति । कुटिलिकाप्रतिपत्तिगौरवम् ॥

सू० “तदसम्भवात्” अन्यथा व्यभिचाराव्यभिचारसंशयो न स्यात् नाप्यनुमानं अनवस्थाप्रसङ्गात् नाप्यर्थापत्तिरनुमानाव्यतिरेकात् “व्यतिरेके वा यदि लिङ्गव्य-

१ क्वचित् हेनाविति पाठो नास्ति । (१) तर्कादि ।

(२) अविनाभावयोः=अविनाभाविनोरित्यर्थः ।

तिरेकेण लिङ्गस्यानुपपत्तिस्तदा तत एव लिङ्ग-
सिद्धेः कृतमनुमानेन (१) अनेवम्भावे च तयोः
किमायातं अस्तु कथमपि तादर्थ्यापत्तिर्वाधिका
तथापि कीदृशश्चाभ्युपगम इति प्रत्यं किं
विपक्षवृत्तिबाधकसुध्रीचीनो यत्र क्वचिदन्वयो
व्याप्तिः उत तत्सहितः सार्वत्रिकोऽन्वय उत किं
नो विशेषगवेषणेन तत्सुध्रीचीनः सामान्यतोऽन्वयो
व्याप्तिः उत सार्वत्रिकोऽन्वयः स न विपक्षबाधका-
दवगम्यते नाद्यः विकल्पानुपपत्तेः तथाहि किं
विपक्षे वृत्तौ बाधकं सर्वव्यपत्तिविषय उत सामान्य-
विषयं (२) आद्ये यत्राप्यनुमानं प्रदत्तं नीयं तत्रावश्यो-
पस्थाप्यया अन्यथाभावबाधकभूत्यापत्त्यैव सा-
ध्यसिद्धेः शान्तमनुमानव्यसनेन द्वितीये क्वचिद्व्य-
भिचारेपि क्वचिद्व्यभिचारमाश्रित्य बाधकस्य चार-
तार्थत्वम् ॥

टी० ॥ “तदा सम्भवति” इति । अतीतानागतस्मरणे
इन्द्रियाणामगमनार्थोऽद्वयण अस्मत्प्रत्ययः । “अन्यथे”ति ।
अव्यभिचारस्यैव परास्तेनात एतादृशोऽन्वयः ॥ “अस्व-
स्थे”ति । विपक्षबाधकानुमात्सूल-यादर्थपि विपक्षबाधकानुमा-
नान्तरानुमन्सौचित्यात् इत्यर्थः ॥ “अत्यन्तं विचारी”ति । न्याय
नये इति शेषः ॥ “अनेवमि”ति । लिङ्गित्तिरेकेण लिङ्गस्य
यदि नानुपपत्तिस्तदा व्याप्तिरपि न परिहारिता इत्यर्थः विप-
क्षबाधकप्रमाणानु-रक्षणफलमत्रेत्यर्थः ॥ “यत्रापी”ति । सर्वा
धूमठयक्तिर्वाह्ययक्तिं विनानुपपत्त्या तथाच वह्निं विना दृश्य-
मानापि धूमठयक्तिरनुपपद्येत्यर्थापत्त्या वह्निद्वौ गलमनुमान-

(१) लिङ्गव्यतिरेकेण लिङ्गानुपपन्नभावे चेत्यर्थः ।

(२) सामान्यतः कतिपयव्याप्यव्यापकव्यक्तिविषयमित्यर्थः ।

मित्यर्थः यद्यपि पूर्वार्थापत्ने^(१) नदर्थापत्त्या व्याप्तिग्रहोऽनतु प्रत्ये-
कानुमितिकाले^(२)पि तदवतारो येनानुमानवैफल्यं स्यात्तथापि
तावद्विशेषोपस्थापकप्रमाणाभावे तात्पर्यं "द्वितीये" इति ।
साधनवत्सामान्यं साध्यवन्मःत्रिमन्ने वर्तते इति विपक्षस्य यद्वा-
धक तेन साध्यसाधनयोर्बिरोधः परं निरस्योऽनतु व्यभिचारो-
पीत्यर्थः ॥

सू० धूमवन्नामात्रमग्निमत्तामात्रव्यतिरेकीत्येवंरूपो हि
सामान्यतो विपन्नः तत्र च बाधकं^(३)तयोरविरोधे
पर्यवस्यति अत्रिरोधश्च क्वचित्साहित्याद्भवत्ये-
वेति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्येवं भूतव्याप्तत्व-
प्रसङ्गः नापि द्वितीयः विशेषणवैयर्थ्यात् सार्वत्रि-
कोऽन्वय इत्येवोच्यतां नच सोऽपि सङ्गत इत्युक्तम्
नापि तृतीयः बाधकस्य सामान्यविशेषविषयत्व-
विकल्पोक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वात् नापि चतुर्थः तथा-
हि यद्भूमवत्तदग्निमदित्यत्रेदमन्वयस्य सार्वत्रिकत्व-
वाच्यम् यत्सर्वासां धूमव्यक्तीनामग्निसम्बन्धित्वं
तद्यदि व्याप्तिग्रहकाले गृहीतं तदा पक्षस्यापि
धूमवद्व्यक्तेरग्निमत्वं प्राग्गृहीतं स्मर्यते एवेति गत-
मनुमानं * सामान्यतोऽग्निमत्वं तस्यापि गृहीतमेव
विशेषतस्त्वनुमीयते ? -इति चेन्न, विशेषत इति
किमग्निमन्वस्य विशेषो व्यक्तिरूपो विवक्षित उत
कालदेशादिमन्बन्धस्तस्य नाद्यः "सर्वव्यक्तीनां व्या-
प्तौ प्रतीतत्वेन भवतवाङ्गीकारात् नापि द्वितीयः ।

(१) अनुमितेः पूर्वमर्थापत्त्यात्मकज्ञाने उत्पन्ने सतीत्यर्थः ।

"पूर्वोत्पन्नतदर्थापत्त्या"-इत्यपि क्वचित्पाठः ।

(२) प्रत्येकानुमितिकाले-प्रत्येकानुमितिपूर्वकाले, तदवतारः-
अर्थापत्त्यवतारः ।

(३) साध्यसाधनयोः ।

टी० ॥ एतदेवाह—“अविरोध” इति ॥ “विशेषणे”ति ।
 विपक्षबाधकसहित इति विशेषणस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः । “नचे”ति ।
 तत्र ग्राहकाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः ॥ “बाधकस्ये”ति । सामान्य-
 योः क्वचित् सामानाधिकरस्यमात्रभादाय विपक्षबाधकविश्रान्ते-
 विशेषाणां यदि प्रत्येकं तच्चिन्ता तदार्थापत्त्यागतार्थमनुमानमि-
 त्यर्थः ॥ “यद्भूभवदि”ति । पक्षीयवह्निव्यक्तेः (१)पूर्वमनुभवा-
 दिदानीं स्मरणोपपत्तौ विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियमन्निकर्षतदुभ-
 यासंस्कारग्रहरूपप्रत्यक्षग्रहसामग्रीसत्त्वात् गतमनुमानमित्यर्थः यत्र
 विशेषणस्य विशेष्यगतनया ग्रहणं तत्रेदमुपनीतं प्रत्यक्षं नतु
 सामान्यतोपि ग्रहे इत्याशङ्कते—। “सामान्यतोऽग्निमत्त्वमि”ति ।
 वह्नि इत्येकविशेषस्य विशेष्यगततयैव पूर्वं भानात्स्यादेव प्रत्यक्ष-
 नित्याह—। “सर्वे”ति ॥

सू० “अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य पक्षीभूतस्य धूमवद्विशेषस्य
 चक्षुरादिभिरेव पर्वतत्वादिदेशकालविशेषादिमत्तया
 परिच्छेदात् यथा प्राक् प्रत्ययाहि संस्कारसङ्घीचीनै-
 श्चक्षुरादिभिः परिच्छिद्यमानेदानीम्भावदेशविशेषा-
 वस्थानादेः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानताङ्गी-
 क्रियते तथैवात्राप्यस्तु कृतमनुमानेन नाप्युपमानं
 बाधकं विपक्षे वक्तुं शक्यं तस्य नियतविषयत्वेन
 (२)तादृशे विषयेनुदयात् नापि शब्दः आप्तस्योप-
 देष्टुरभावे व्याप्त्यनवगमप्रसङ्गात् ‘अभावस्तु कदा-
 चित्स्यात् सोपि निरूप्यमाणेन घटते ‘एवं स वा-
 च्यो यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपल-
 भ्यते नचोपलभ्यतेऽतोनुपलम्भान्नास्ति तद्व्यतिरेके-

(१) वह्निवत्त्वेन वह्निव्यक्तेः पूर्वं महानसाद्यवच्छेदेनाऽनुभवादिदानीं
 च तस्यैव पक्षीयत्वेन स्मरणोपपत्तावित्याशयः ।

(२) तादृश्यात्मकनियतविषयविषयकत्वेनेत्यर्थः ।

येति तच्च न तथा हि "क्वचिद्व्यभिचारादर्शनादय-
मभावः प्रवर्तते सर्वत्र व्यभिचारादर्शनाद्वा नाद्यः
पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गात् ना-
पि द्वितीयः सर्वत्र योग्यानुपलम्भो वाऽनुपलम्भ-
मात्रं वा नाद्यः सर्वत्र योग्यानुपलम्भासम्भवात् नापि
द्वितीयः पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि सम्भवात् *
तत्र वज्रे एव व्यभिचारः ? * इति चेन्न, तदीयाद-
र्शनदशायां व्यभिचारानवगमात् * तदर्शनदशायां
तावदस्ति व्यभिचारो यत्र तु न कदापि व्यभिचार-
दर्शनं तत्र व्याप्तिः ? * इति चेन्न, अन्यत्रापि व्य-
भिचारो न द्रश्यते इत्यत्र नियामकादर्शनात् नापि
विपक्षे बाधकस्तर्को वाच्यः तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वा-
ऽभ्युपगमे^(१) ऽनवस्थानप्रसङ्गात् तदनभ्युपगमे मूल-
शैथिल्येन तर्काभासत्वापातात् * अथ ब्रूषे न शक्य-

टी० देगकालमन्वन्वस्य प्रत्यक्षेणैव भान प्रत्यभिज्ञावदि-

त्याह— "अग्नी"ति ॥ "अभावभित्त्व"ति । महात्मिसतानुपल-
धिधरित्यर्थं. अनुपलम्भप्रमाणस्येति कर्तव्यताभूतं तर्कमाह—
"एवमि"ति । एवमुपकरण. स वाच्य इत्यर्थः ॥ "क्वचिदि"ति ।
क्वचित्कठयवा. दर्शनमात्रमनुपलम्भः सार्वत्रिकव्यभिचारादर्शनं
वेत्यर्थं. ॥ "नर्वत्र"ति । सर्वं तु व्याप्तिषु वा एकस्यामपि व्याप्ती
मर्वांसु धूमादिव्यक्तिषु वेत्यर्थं. ॥

(१) तर्कः किं सूत्रक इति प्रश्ने व्याप्तिमूलक इति वाच्यं व्याप्तिः
किं मूलिकेति प्रश्नेपि तर्कमूलिका व्याप्तिरिति प्रश्नेऽन्तरधारयाऽनव-
स्थाया दुर्धारात्वादिति न च वाच्यं प्रश्नेऽन्तरधारयानास्त्यनवस्थातयोः
परस्परमूलकत्वेनैवानवस्थाभङ्गादिति तथाभ्युपगमेपरस्परप्राप्यपक्षः न
च व्याप्तिमूलं तर्कोभिन्न इत्यत इत्यपि सास्त्रतं तत्रापि पर्यनुयोगे निरु-
क्तदोषप्रसरादिति दुरुद्धरानवस्थेति भावः ।

मू० "मिदं वक्तुं तथाहि धूमाग्निव्यभिचारशङ्कायां बाध-
कस्तर्कोयमभिधीयते यदि धूमेऽग्निं व्यभिचरेत्
अकारणः सन्नित्यः स्यात् न स्यादेव वा सत्राय^१म-
(^१)नुत्तरस्तर्कस्तत्र शङ्कायां व्यघातापत्तेः 'तदेव
ह्याशङ्कते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो
दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा एवं सर्वत्रानुत्तर-
स्तर्को बाधकोभिधेय! *—इति मैवम् "किमित्येवं
शङ्कितव्यं य(^२)द्वेतुफलभाव एव न भविष्यतीति
एवं तु शङ्कितव्यं अग्निं विहायान्यस्मादपि हेतोर-
यमुद्देश्यतीति * नच वाच्यं एवं हि सति धूमस्यैक-
जातिमत्त्वं न स्यादिति! *—'क्वचिदिन्द्रियजत्वे
ष्वचिदनुमानादिजत्वे विज्ञानैकजात्यवत्तदुपपत्तेः *
तत्रेन्द्रियादीनामवान्तरसामान्ये साक्षात्कारित्वादौ
प्रयोजकत्वं न ज्ञानताया? *—इति चेन्न, ज्ञानत्वस्या-
कस्मिन्कत्वपरिहाराय तत्कारणस्यानुगतस्य भवताव-
श्यं वक्तव्यत्वात् धूमेपि बह्वे(^३)र्विशेषे एव प्रयोजक-
त्वस्य तद्वच्छङ्कितुं शक्यत्वात् * न दृश्यते तावद-
ग्निप्रयोज्ये धूमे विशेष इति च न वाच्यम्? *—'तद-
दर्शनस्या(^४)पाततो हेत्वन्तरप्रयोज्यावान्तरजात्यद-
र्शनेनायोग्यतया (^५)विकल्पत्वादप्युपपत्तेः यदा तु

(१) अपरिहार्यः । (२) ययोर्बहिर्धूमयोः कार्यकारणभावः ।

(३) धूमेविशेषपीत्यन्वयः । (४) विचारमन्तरेण ।

(५) विशिष्टज्ञानयोग्यत्वादपि तद्दर्शनस्योपपत्तेरन्यथासिद्धं तदि-
त्याशयः । परेतु—अयोग्यतया—अविकल्पत्वादिति पदच्छिदन्ति तेषा-
मयमाशयः यद्यप्यस्ति धूमेऽग्निप्रयोज्यविशेषे धूमस्याग्निमन्तरेण हेत्व-
न्तराजभ्यासथापि तद्गतविशेषस्य नास्तिदर्शनयोग्यत्वमिति न शक्यते
वक्तुं तद्गतविशेषादर्शनस्य हेत्वन्तरप्रयोज्यतद्गतविशेषादर्शननेवबा-
धितत्वेन तद्दर्शनस्य विकल्पमन्तरेण सिद्धत्वादिति ।

हेत्वन्तरप्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रह्यते तदाऽसौ विकल्पिष्यते इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात् ।

टी० “इदं वक्तुमिति । अनवस्थापादकं वाक्यमित्यर्थः । तर्कद्वयाप्रियहोपि शङ्कानिराकरणद्वारैवेति शङ्कानिरासार्थः तदवतारो न विरुद्धः ॥ “अनुत्तर” इति । शङ्काप्रतिपादकोत्तररहित इत्यर्थः ॥ तदेवाह— ‘तदेवेति । स्वक्रिया कथादिप्रवृत्त्यात्मिका ॥ “किमिति । अग्निधूमयोः कार्यकारणभावनिश्लेषेपि हेत्वन्तरशङ्कानिरासो न प्रकृतकर्तादित्यर्थः ॥ धूमत्वावच्छिन्नम्प्रति बह्वं कारणताग्रहे हेत्वन्तरशङ्का नोदेतुमर्हतीत्यत आह— “नत्रै”ति । हेत्वन्तरजन्यं धूममादायापि बह्विधूमे धूमत्ववृत्ता-वैष्यजात्यं स्यादेवेत्याह— “क्वचिदि”ति ॥ तृणारणिमणिप्रभ-ववह्विवत् विशेषस्यापालतेऽग्रहेपि न दोषः इत्याह— “तद-दर्शनस्ये”ति ॥

मू० “अस्त्यात्ममनोयोगानुगतं कारणं ज्ञानोत्पत्तौः* इति चेन्न, ‘यद्यात्ममनोयोगादुत्पद्यमानं ज्ञानं स्यादिच्छादयेपि ज्ञानं प्रसज्येरन् यदि त्वद्वृ(१)ष्टविशेषो वा(२)शक्तिभेदो वा (३)ज्ञानत्वजातिर्वा (४)ज्ञान-प्रागभावो वा तत्रानुगतं कारणमुच्यते तदा(५) तदितरत्रापि बह्विव्यभिचारेपि धूमस्यै(६)कजात्य-

(१) प्रदूषस्य कार्यत्वावच्छिन्नम्प्रति हेतुतया सर्वकार्यसाधारण्या-द्वशेष इत्युपाक्तम्—

(२) मीमांसकमते कारणेषु कार्यवैविच्यनिपासकशक्तिवैविच्य-स्वीकाराद्दे इत्युक्तम्—

(३) ज्ञानत्वजातेर्नित्यत्वेन ज्ञानमात्रनिपतपूर्ववृत्तित्वाज्जाति-रित्युक्तम्—

(४) जातिरूपकारणस्य नित्यत्वेन सर्वदाकार्योत्पत्तिरस्यात्सा-मिाद्दिति ज्ञानप्रागभावइत्युक्तम् ।

(५) बह्वृष्टादन्यत्रापीत्यर्थः । (६) एकजातेर्भाव ऐकजात्यम्—

प्रयोजकतया शक्यते एवं शङ्कितुं "दृष्टे व्यभिचारे युक्तमदृष्टादेरैकजात्यपरिकल्पनम् ? * -इति चेन्न, अस्तु^(१) दृष्टे तन्निश्चयः अत्रापि व्यभिचारो न द्रश्यते इत्यत्र नियामकाभावात् एवं शङ्कष्यते शङ्कष्यमाणस्य भवतो न क्वचिदनुमानं स्यात् प्रतिवाद्यात्माद्यनुमानादिव्यतिरेकेण कथायामेव प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयं स्वीकर्तव्येष्वनुमानेष्वेतादृशशङ्काक्रमणात्* स एव व्याघात * इति चेन्न, धूमवद्वन्हेरपि वह्निकारणविशेषानुमानस्यैवं सति सदानुमानत्वप्रसङ्गात् सामग्रीसाम्येन प्रमाप्रमावैचित्र्यस्यानुपपत्तेः साधारणधर्मदर्शनादौ सत्यपि शङ्कायाश्चानुदये सामग्र्यां सत्यामपि कथानुदयात् परप्रतिपत्त्युत्पादनार्थं वचनादिरूपां प्रतिपत्तिसामग्रीमुत्पादयितुं यतमानस्य भवतोपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः व्याघातस्यैद^(२) विशेषत्वात्तद्दर्शने शङ्कासामग्र्येव नास्ति मत्पक्षे तत् कुतो व्याघात साम्यमिति चेत् ॥

टी० सिंहावलोकनन्यायेन ज्ञानमात्रप्रयोजकमाह - "अस्तीति" इति ॥ "यद्यात्ममन" इति । यद्यपीच्छादौ ज्ञानत्वापादनमयुक्तं तथापि ज्ञानमेवात्ममन संयोगो जनयतीति । गृहीत्वापादनं शक्तिभेदो भीमांमकनयेन तृणारणिमणिवृद्धेस्त्वन्तरसाधारणेष्वहृद्यादावित्यर्थः ॥ ज्ञानत्वजातिरित्यभ्युपगममात्रं शङ्कासौलभ्यादाह - "तदे"ति ॥ तृणादौ व्यभिचारः स्फुटइति तत्र कल्पना नक्षत्रापीत्याह - "दृष्टे"इति ॥ अनुमित्यभावात्

(१) दृष्टे - इत्यस्मात्प्रारब्धव्यभिचारे = इत्यपिपूरणीयम् -

(२) व्याघातः = व्याप्यज्ञानाधीन व्यापकज्ञानलक्षणः, स यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निजन्मत्वमित्येवं लक्षणः, तस्यैव विशेषत्वादित्यर्थः ।

प्रवृत्त्यभावं शङ्कते-। “एवमि”ति । अवश्यमित्यं शङ्का निवर्तनीया अन्यथा तृणाद्वह्निमसकदुपलभ्यठयाप्तिं गृहीतवतोऽयं देशस्तृणवान् वह्निमस्वादित्यप्यनुमानननाभासं स्यात्तथाच शङ्कानिवर्तनीयैव तन्निवृत्तिस्त्वशक्येति भाव (१) ।

मू० “तद्धि न तावदाहारादिकारणाज्जायमानमेष्टव्यं कूटविषयस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वात् *कूटभिन्नः प्रसञ्जकः प्रमितस्यैव स्यात् ? *—इति चेन्न, तस्य तर्कावसरे निरस्यत्वात् तस्मात् यदेतद्व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते तत्किं प्रमाणात् कुतश्चिदुपजायमानं वक्तव्यं तर्काद्वा यदि प्रथमः “शङ्कास्तित्वमपि तेनैव प्रमाणेन उपनेयं शङ्कायां सत्यां व्याघातात् ॥

टो० “तद्धी”ति । व्याघातस्वरूपमित्यर्थः । “आहारादिकारणादि”ति । आहार्यव्याघारोपरूपकारणादित्यर्थः । तथाचैतादृशव्याघारोपाधीनव्यापकारोपरूपव्याघातदर्शनमतिप्रसञ्जकत्वात् न व्यभिचारशङ्कानिवर्तकमिति भावः ॥ “कूटविषयस्ये”ति । असदर्थविषयस्येत्यर्थः ॥ “कूटभिन्न”इति । वास्तवाद्द्वयाप्याद्वास्तवस्यैव्यापकस्य प्रसञ्जनं व्याघात इत्यर्थः ॥ एतच्च तर्कस्वरूपमेव तच्चाग्रे द्रव्यमित्याह-। “तस्ये”ति ॥ व्याघातस्वरूपमाक्षिप्य तदाक्षेपोपसंहारव्याजेन तद्दर्शनमाक्षिपति-। “तस्मादि”ति ॥ शङ्कायां सत्यां व्याघातइति व्याघातग्राहकप्रमाणादेव शङ्कासिद्धिरित्याह-। “शङ्कास्तित्वमपि”ति ॥

मू० यदि च शङ्कां विनापि व्याघातः तदा शङ्कमानयोर्व्याघातस्य साम्यं सिद्धमेव *भवतु शङ्कायामपि तत्

प्रमाणं किमेतावता प्रथमोपजातशङ्कामवलम्ब्याव-
स्थितस्य व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनात्तु शङ्कान्तरं
नेोत्पद्यत ? * इति चेन्न, व्याघातसत्ताकाले (१) तद-
वलम्ब्यया शङ्कयैव शङ्क्यमानव्यभिचारता तस्याः
शङ्काया व्युपरमे च तदवलम्बिनो व्याघातरूपस्य
विशेषस्याभावात् कः शङ्कान्तरोत्पत्तेर्वारयितेति
वक्तव्यं *मा नामास्तु तदा व्याघातात्मा विश्लेष-
स्तदवगमस्तादाहितो वा संस्कारस्तावदस्ति । विश्ले-
षावगमतत्संस्कारौ च शङ्काविरोधिनौ नच स्वरूपेण
वचिदस्ति विशेषस्यावस्थानं तथा ? *—इति चेन्न,
'अयावदाश्रयभाविनो विशेषस्य पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं
तदाहितो वा संस्कारस्तस्य कालान्तरेपि तत् प्रति-
धर्मसंशयविरोधित्वेऽवयविपाकपक्षे कुम्भस्य (२) पर-
माणुपाकपक्षे परम्परया तदारम्भकस्य परमाणोः
पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे सम्भावितपाक-
जन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यात् ॥

टी० व्याघातेन शङ्कानिवृत्तौ शङ्कान्तरानुत्पादे स्यादेव
व्याप्तिग्रह इति शङ्कते—। “भवत्वि”ति ॥ विशेषदर्शनस्य स्वरू-
पनिवृत्तावपि तदाहितसंस्कारस्य शङ्काविरोधित्वं शङ्कते—। “मा
नामे”ति ॥ “अयावदि”ति । यद्यपि तत्र पाकसम्भावना विश्ले-
षदर्शनसंस्कारावस्कन्दिकेति तत्र संशयः प्रकृते तु न तथा
तथाप्युपाधिसंभावनाया प्रकृते संशयः स्यादिति भावः ॥

(१) व्याघातविषयीभूतया—

(२) अवयविपाकपक्षे कुम्भस्य पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे
सम्भावितपाकजन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यादित्यन्वयः । तदार-
म्भकस्य=अवयवव्यारम्भकस्य ।

मू० "यदि च शङ्कायां व्याघातस्तदाशङ्काश्रयस्य विशेषरूपस्य व्याघातस्य दर्शनाच्छङ्कायां शङ्कान्तरं मा भूत् यदि तु व्यभिचाराश्रयस्तदा व्यभिचारः स्यादेव व्याघाताश्रयस्य व्यभिचारस्यापि प्रमितत्वापत्तेः * अनादिसिद्धव्याप्तिकास्ते तर्का ? *—इति चेन्न, 'तद्वद्धेः प्रमितत्वासिद्धेः' (१) शरीरेष्वात्मप्रत्ययस्य तादृशस्याप्यप्रमात्त्वोपगमात् अनादिसिद्धेश्चोभयत्राविशेषात् नापि यद्यत्र व्यभिचारश्शङ्कयते तदा व्याघातः स्यादित्येवंरूपात्तर्काद्व्याघातावगमः (२) व्याघातप्रतिपादकस्य तर्कस्य मूलशैथिल्ये तर्काभासत्वापातात् तादृशस्यापि व्याघातोपनायकत्वे व्याघातापत्तेः साम्यं, शक्यते एव तर्काभासाद्भवतोपि व्याघात उपनेतुं अथ (३) तस्य तर्कस्य व्याप्तिमूलताभ्युपगमते तत्रापि व्यभिचारशङ्कायां पुनरनवस्थैव तत्रापि व्याघातोपपादने पुनरित्यमनवस्थैव ॥ "तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा त्वद्गार्थवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि

टी० ॥ व्याघातात्समानमानाधिकरणशङ्कानिवृत्तिरिति शङ्कायामेव शङ्का न स्याद्व्यभिचारे तु स्यादेवेत्याह— "यदि चे"ति ॥ ननु व्यभिचारे एव व्याघात इति तत्रैव शङ्कानिवृत्तिरपीत्यत आह— "यदि त्वि"ति ॥ "तद्वुद्धेरि"ति । व्याप्तिबुद्धेरित्यर्थः ॥ शङ्कानुच्छेदं प्रतिपादयितुं प्रस्तौति— "तस्माद्"ति । शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्काततस्तरां व्याघातावधिराशङ्का तर्कशङ्कावधिर्मत इत्यादित्वद्गार्था कियन्त्यप्यक्षरा-

- (१) व्याप्तिबुद्धेः प्रमितत्वे तु व्यभिचारस्यापि प्रमितत्वापत्तिर्बोद्धव्या ।
 (२) तर्कस्य चाऽप्रमात्त्वान्न व्यभिचारप्रमात्त्वमिति भावः ।
 (३) तस्येति क्वचित्पुस्तके न दृश्यते ।

अन्यथाकारं अन्यथा कृत्वा न दृष्टपठेत्यन्वये सिद्धाप्रयोगत्वाभावा-
(१) दृष्टपत्यथैव कथमित्थं सुनिद्धाप्रयोगश्चेदिति सूत्रेण णमुल्
प्रत्ययो न स्यादत इत्थं योज्यं क्रियन्त्यप्यक्षराणि तस्यद्वाधा
अन्यथाकारम् अन्यथा न दृष्टपठा अन्यथाकारम् अन्यथा करणं
यथा स्यादिति क्रियाविशेषणं वा

म० “व्याघातो यदि शङ्कास्ति नचेच्छङ्का ततस्तरास्
व्याघातावधिराशङ्का तर्कशङ्कावधिः कुतः”

^bअव्यभिचारश्चैकपरित्यागव्यवच्छेदेनापरान्वयः स-
मकालजातदृष्टनष्टेऽदृष्टः शङ्कयत इत्याहुः, स्वाभा-
विकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः स प्रष्टव्यः कस्य
स्वाभाविकः किं सम्बन्धिनोस्तान्यस्य न चरमः
^d(^c)विपरीतापत्तेः आद्ये कः स्वाभाविकशब्दार्थ
इति प्रष्टव्यं किं सम्बन्धिस्वभावाश्रितः १ अथ स-
म्बन्धिस्वभावजन्यः २ अथ (^३)सम्बन्धित्वविवक्षि-
तस्वभावानतिरिक्तः ३ अथवा सम्बन्धिस्वभाव-
व्याप्यः ४ अथ सम्बन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः ५
उतान्य एव ई कश्चिद्विवक्षितः आद्ये

टी० ॥ अन्यथाकारं पठति “व्याघात” इति । यदि व्या-
घातस्तदा तदाश्रयभूता शङ्कास्तथैव शङ्कामन्तरेण व्याघातानव-
तारात् नचेद्द्वयाघातस्तदा सुतरां शङ्काप्रतिबन्धकस्य व्याघात-
स्याभावाद् व्याघातावधिर्वाघातेऽवधिर्यस्याः शङ्काया ना

(१) सिद्धाप्रयोगत्वाभावाणामुल्लप्रत्ययो न स्यादित्यन्वयः अन्यथा-
एवम्-कथम्-इत्यम्-इत्येतेषूपपदेषु मत्सु कृत्वातेः णमुल् प्रत्ययः स्यात्
स चेत्कृञ् सिद्धाप्रयोगः स्यात्, “सिद्धाऽप्रयोग” इति किम्? शिरोन्यथा
कृत्वा भुङ्क्ते । सिद्धाऽप्रयोगो नाम उपपदाऽनतिरिक्तार्थक इति ।

(२) व्याप्यव्यापकातिरिक्तयोरपि व्य.पत्यापत्तेरित्यर्थः । विपरी-
त्यापत्तेरित्यपि क्वचिद्दूश्यते पाठः ।

(३) सम्बन्धिस्वभावविवक्षितेत्यस्य सम्बन्धित्वेन रूपेण विवक्षितेय-
ससम्बन्धीत्यर्थः ।

कुनः शङ्काया अवधिः पर्यवमानं च कुनस्तर्कस्तर्कमूलध्या-
 प्रावपि शङ्कातादवस्थादित्यर्थः ननु व्यभिचारशङ्कायाम-
 व्यभिचारोपेका कोटिरिति क्वचिद्व्यभिचारप्रमायां तदधी-
 नमनुमानं तत्रैव स्यादित्यन आह-। “व्यभिचार” इति ।
 एकस्य व्यापकस्य परित्यागो विरहस्तद्व्यवच्छेदे एषापरस्य
 व्याप्यस्यान्वय इत्यर्थः । नच तत्रैवानुमानं तस्यादृष्टत्वा(१)
 दिति भावः ॥ नष्टपुनरुत्पत्तेर्मदालमास्थले दृष्टत्वात् ममदृष्टनष्ट-
 योरपि नाव्यभिचारमिद्विरिप्रस्वरमादाह-। “इत्याहुरिति ।
 व्यावहारिकमनिर्वचनीयमव्यभिचारमादाय शङ्केति परमार्थं
 इति भावः ॥ “विपरीते”ति । व्याप्यव्यापकत्वाभिमतान्ययो-
 रेव सर्वत्र व्याप्तिः स्यादित्यर्थं ॥

म० “पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गः न द्वि-
 तीयः अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च अत एव न तृतीयः
 नापि चतुर्थः व्याप्त्यनिरुक्तौ व्याप्यत्वानिरुक्तेः
 सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे च सम्बन्धिनाव्यापकयोः
 सम्भावितसम्बन्धाधिकदेशकालतया एकसम्बन्धिद-
 र्शनेऽपरानुमाननियामकत्वायोगान्नापि पञ्चमः न
 प्रयुक्त इति यदि न जनितस्तदा सम्बन्धस्थाकृतक-
 त्वपक्षे न्येनेति विशेषणवैयर्थ्यं अकृतकस्य सम्बन्धि-
 स्वभावेनाप्यजनितत्वात् सम्बन्धस्य कृतकत्वपक्षे
 स्वरूपासिद्धिरेव स्यात् सामग्र्याः सर्वसम्भवादन्ततः
 कालदेशादृष्टादिभिरपि तज्जन्यत्वस्यावश्यं वक्तव्य-
 त्वात् नापि षष्ठः तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् “एवमेव
 विकल्प्यायं चरमविकल्पः सर्वत्रोपन्यस्य दूष्यो न्यून-
 त्वशङ्काभगादिति अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्ति-
 रित्यपरः-स प्रष्टव्यः कायमुपाधिर्नाम यच्छून्यत्व-

(१) “तस्य दृष्टत्वाद्” - इति क्वाचित्कः पाठस्तु प्रामादिकः ।

मनोपाधिकत्वस्- उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति
साधनाव्यापकः अर्थं च ।

टी० ॥ “पार्थिवत्वे”ति । लोहलेख्यत्वयोः यथायाः पार्थि-
वत्वात्त्वित्वादित्यर्थः ॥ “अतिव्याप्तेरिति”ति । धूमरासभसं-
योगेऽतिव्याप्ती रूपरससम्बन्धे चाव्याप्तिरित्यर्थः ॥ “अत एवे-
”ति । अतलघटाभावसम्बन्धेऽतिव्याप्तेर्विधुमसम्बन्धे चाव्या-
प्तेरित्यर्थः ॥ “व्याप्ती”ति । आत्माश्रय इत्यर्थः । दोषान्तरमाह-
“सम्बन्धस्ये”ति । सम्बन्धस्य सम्बन्धिद्वयव्याप्यत्वं स्यात्तु सम्ब-
न्धिनोरन्यतरस्य येनैकेनापरमनुमोयेतेत्यर्थः ॥ “न प्रयुक्त”इति ।
प्रयुक्तत्वं जन्यत्वं व्याप्यत्वं व्यापकत्वं वा आद्ये सम्बन्धिद्व-
यमात्रजन्यत्व क्वापि न सिद्धमदृष्टादेरपि जनकत्वात् अजन्यस-
म्बन्धाव्याप्यत्वं अन्त्ययोरारम्भाश्रय इत्यर्थः ॥ विजिघ्यान्ति-
क्तस्य विकल्पनीयत्वे हेतुमाह- । “एवमेवे”ति । यदि वादो
विकल्पितभिन्नमेव पक्षमालम्बेत तदा विकल्पे न्यूनता भवेत्
मानान्योक्तौ च तदालम्बितपक्षस्य तत्रैवान्तर्भावयितुं शक्य-
त्वादिति भावः न्यूनत्वमिहाकौशलं

मू० “एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः सा-
ध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय” इत्यस्य
व्यतिरेकमुखस्य^(१) यदत्ययः स उपाधिरिति योज्य-
मानस्य पर्यवसितोर्थः तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपा-
कुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमतं चकास्ति इत्यु-
पाधिरसावुच्यते तदिदमाह “अन्ये परप्रयुक्तानां
व्याप्तीनामुपजीवकाः तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकां-
शावधारणा” * स चोपाधिर्निश्चित इवा ‘शङ्कि-
तश्च यत्रेदमुच्यते “यावञ्चाव्यतिरेकत्वं शतांश-

(१) व्यतिरेकमुखस्येति षष्ठी तृतीयाथे शेषा, तथा च व्यतिरे-
कमुखेन योज्यमानस्येत्यर्थः ।

नापि शङ्कयते विपक्षस्य कुतस्तावद्दे तोर्गमनिकावलं”?

*-इति चेन्न, साध्यव्यापके साधनाव्यापके

टी० ॥ “एके”ति । यदत्ययो यदभावः साध्यभावावि-
नाभावी साध्याभावव्याप्यः स उपाधिस्तथा च साध्याभाव-
व्याप्याभावप्रतियोगी साध्यव्यापक इति यावत्-निघः सम्ब-
न्धशून्ययोः साधनोपाध्योर्मध्ये एकस्य साधनस्य साध्याविना-
भावे ग्राह्ये^(१) यदत्ययः साध्याभावाविनाभावी स उपाधिरिति
भट्टाचार्यवार्तिकयोजना निघः सम्बन्धशून्यतया साधनाव्यापक-
त्वमुक्तं साध्य^(२)मानस्या उपाधित्वव्युदासाय दूषकताबीजा-
व्यभिचारोन्नयनप्रयोजनलाभाय च साधनाव्यापकत्वमुक्तं यो
यद्वापकव्यभिचारी स तद्वायभिचारीति व्यभिचारसिद्ध्यर्थमेव
साध्यव्यापकत्वमुक्तं ॥ ^b“अन्ये” इति । अन्ये सोपाध्यः परप्र-
युक्तानामुपाधिगतानां व्याप्तीनामुपजीवका इति तैस्सोपाधिभिः
पक्षनिष्ठतया दृष्टैरपि न व्यापकांशावधारणानुमितिरित्यर्थः ॥
“आशङ्कितश्चे”ति । साध्यव्यापकत्वेन निश्चितस्य साधना-
व्यापकत्वशङ्का साधनाव्यापकत्वेन वा निश्चितस्य साध्यव्या-
पकत्वशङ्का ननु भविष्यति कश्चित्तत्रोपाधिरिति शङ्कार्थः^(३) ॥
^d“यावद्”ति । विपक्षस्येति मत्तमर्थे षष्ठी तथाच हेतोर्विपक्षे
अव्यतिरेकित्वं मद्भावे यावच्छङ्कयते तावन्नानुमितिः तेनोपा-
धिसंदेहादपि तादृशी शङ्का व्याप्तिसम्बन्धस्कन्दतीत्यर्थः

(१) ग्राह्ये = निरूप्यमाणे सति, यदत्ययः = यादृशोपाधेरभावः ।

(२) निश्चितधूममादिवाधनवति पर्वतादौ बन्धिलक्षणसाध्यव्याप-
कत्वमात्रमादाय साध्यसामग्र्या उपाधित्वनिरासार्थं साधनाव्यापकत्व-
मुक्तं, तथा साधनाव्याप्तिरूपकाधिकरणस्यैव हेतुसाध्यव्यभिचार-
निरूपकाधिकरणत्वाद् व्यभिचारोन्नयनप्रयोजनलाभाय तदुक्तमित्याह-
साध्येति ।

(३) यद्यपि तत्र सोपाधिर्त्वं संदिग्धत्वेनैवाविवक्षितं तत्संदेहश्चोपा-
धेरन्य एव तथापि यद्वातिरेकनिश्चयो ऽनुमिति जनकस्तत्संदेहा ऽनु-
मितिप्रतिबन्धकस्तद्बुद्धिर्निरूपकश्चोपाधिरित्युपाधेर्दोषत्वमुच्यत इति
प्रगल्भभाषार्याः ।

म० "पक्षेतरत्वेपि प्रसङ्गात् * तद्व्यतिरिक्त इत्यपीति ?
 *चेन्न, ^bबाधेनोन्नीतस्य तस्याध्यापनात् 'अन्यथा
 निरुपाधिसम्बन्धत्वे बाधासिद्धेः यदाह बाधेनोपा-
 धिरुन्नीयताम् ^d'अन्येन वा इति न कश्चिद्विशेषः
 एतदर्थमपि विशेषणीयम्-?-इति चेन्न, ^fतथापि
 साधनाव्यापकत्वे सतीति तद्व्याप्त्यनवधारणे न श-
 वयावधारणम् एवं साध्यव्यापक इत्यपि अथ मन्यसे
 "सद्रष्टव्यभिचारसाध्यत्वं साध्यव्यापकत्वं न ^hवस्तुतो
 व्यभिचारिसाध्यस्याप्यापाततोऽद्रष्टव्यभिचारसाध्य-
 त्वसम्भवान्नस्याप्युपाधित्वापातात् ⁱन द्रश्यते इति
 च निरूपयितुमशक्यं ^jव्याप्तिग्रहकाले च साध्यत्वा-
 भावेन तदव्यभिचारः कथमवधार्यः

टी० ॥ "पक्षेतरत्वेपी"ति । सकलानुमानोच्छेदकतया
 स्वव्याघातकतया^(१) च तस्यानुपाधित्वेन तत्रानिष्ठयाप्रित्यर्थः
 पक्षेतरत्वभिन्नत्वेन यद्युपाधिलक्षणं विशेषणीयं तदा सङ्ग्राह्य-
 स्यापि बाधोक्तीतपक्षेतरत्वस्य सङ्ग्रहो न स्यादित्याह-। ^b"बा-
 धेने"ति ॥ ननु बाध एव तत्र दोषो न तूपाधिरपीत्यत आह-।
 "अन्यथे"ति । व्यभिचारे चावश्यमुपाधिर्हेतुमति च पक्षे बा-
 धस्यले पक्षे एव व्यभिचार इति तत्रोपाधिघ्नौष्यमन्यथा कृतक-
 त्वस्य हेतोरुत्पन्नत्वानुत्पन्नत्वोभयसहचारविरोधः स्यादित्यवच्छे-
 दभेदोपन्यासस्योचितत्वादन्यस्य तादृशस्याभावाद्दृष्टीतरत्वादे-

(१) स्वव्याघातकतया=उपाधिस्वरूपव्याघातकतया, तथाहि-उ-
 पाध्यभावेन साध्यभावाः साध्यते यथा पर्वतो घूमाभाववान् आर्द्रे^bन्धन-
 संयोगाभावाद् हुदादिवदिति, यद्वा हेतोरुपाधिव्यभिचारित्वेन साध्य-
 व्यभिचारित्वमुन्नीयते, यथा वह्निर्भूमव्यभिचारी, आर्द्रे^bन्धनसंयोगव्यभि-
 चारित्वाद् घटादिवदिति, पक्षेतरत्वस्योपाधित्वे तु निरुक्तोभयविध-
 साध्यकानुमानेपि तस्य सुवचत्वादुपाधेरुपाधित्वमेव होयेतेति ।

देव^(१) तथात्वमभ्युपेयमित्यर्थः ॥ “अन्वेन वे”ति । व्यभिचारा-
 रेणेत्यर्थः बाधोन्नांतपक्षे नरत्वान्यपक्षे नरत्वान्यत्वेनोपाधिलक्षणं
 विशेषणीयमित्याह— “एतदर्थमि”ति ॥ “तथापी”ति । व्या-
 प्त्योपाधिरूपणमुपाधिना च व्याप्तिरूपणमित्यन्योन्या-
 श्रय इत्यर्थः ॥ “अद्रू”ष्टेति । अद्रूष्टव्यभिचारं साध्यं येनेत्यर्थः ॥
 “वस्तुत”इति । तत्र च साध्याठयापकेऽप्युपाधिलक्षणमतिव्या-
 पकसित्यर्थः ननु व्यभिचारदर्शनात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षितमि-
 त्यत आह— “न द्रुष्यत” इति । तथाच दुर्यहं लक्षणमित्यर्थः ।
 “व्याप्ती”ति । तदा न सिद्धिकर्मत्वमित्यर्थः ॥

मू० * साध्यं व्यापकमपेक्षितम्?*-इति चेन्न, व्याप्त्य-
 नवगमे व्यापकार्यानवगमात् * सम्भावितव्यापक-
 भावो व्यापकोपेक्षित? *-इति चेन्न, व्यापकरयानि-
 रुक्तीं किंरूपतया सम्भावनापि स्यात् अथ साध्य-
 व्यापक इत्येव भद्रं तदानीं साध्यत्वाभावेऽपि साध-
 यितुमहंतव्यस्य विवक्षितत्वात्^(२) न कथं ह्यवगन्तव्य-
 मिदमेव साधयितुमर्हमिदं नेति व्यापकत्वादिति
 वक्तुमशक्यत्वात् नच साधनाव्यापकत्वं सर्वत्र नि-
 श्चेतुं शक्यं स श्यामो^(३) मैत्रतनयत्वादित्यत्र शा-
 काद्याहारपरणतिपरम्पराया मैत्रतनयेऽभावस्य दुर-
 धिगमत्वात् *यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाण-
 मस्ति तत्र निश्चतोपाधित्वं अन्यत्र शङ्कितोपा-

(१) तथाश्वस्-अवच्छेदकत्वमित्यर्थस्तथा च हेतौ कृतकत्वे बहू-
 तरत्वावच्छेदेनानुष्णत्वसामानाधिकरण्यं बहूवच्छेदेन तूष्णत्वसामा-
 नाधिकरण्यम् ।

(२) परिहारमाह-नेति-अन्वयस्तु इदमग्न्याद्येव साध्यं न धूमा-
 दीति कथमवगन्तव्यमिति ।

(३) मित्राया अथ मैत्रः मैत्रश्चासौ तनयश्चेति तथा-

धित्वं^(१) मैत्रतनयत्वव्याप्यशाकाद्याहारपरिणति-
परम्परया^(२) स्थातद्यमित्यत्र नियामकाभावात्?*-
इति चेन्न, 'मैत्रतनयत्वेनैव हेतुना तस्यापि प्रसाधने
तच्छङ्काया अपिच्छेतुं शक्यत्वात् ॥

टी० ॥ व्यापकत्वमेव साध्यत्वं न सिद्धिकर्मत्वमित्याह-।
“साध्यमिति । अन्योन्याश्रयमाह-। “व्याप्तौ”ति “सम्भा-
विते”ति । वास्तवत्वं व्याप्त्येऽन्योन्याश्रयत्वापादकमित्यभिना-
नः । एवमप्यन्योन्याश्रय एवेत्याह-। “व्यापकस्ये”ति । ज्ञप्ता-
वन्येऽन्याश्रय इत्यर्थः ॥ “मद्वनि”ति । तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावा-
प्रतियोगित्वं हि व्यापकत्वमिति नान्योन्याश्रय इत्यर्थः शाक-
पाकजत्वाद्युपाधायठ्यामिमाह-। “नचे”ति । निश्चितोपाधे-
रिदं लक्षणं नतु शङ्कितोपाधेरिति तत्राठ्यामिर्न दोष इत्याश-
ङ्कते । “यत्रे”ति । साधनेनैवोपाधेरपि साधनात्साधनठ्यापक-
त्वनिश्चयात् नत्र शङ्कितोपाधित्वमपीत्याह-। “मैत्रे”ति ।

सू० “तत्रापि तत्तत्सामग्रीत्युपाधिपरम्पराभिधाने च
तस्यास्तस्या अपि मैत्रतनयत्वेनैव साधनस्य कर्तुं
शक्यत्वात् * अनवस्थैवं स्यात्?*-इति चेन्न, 'उपा-
ध्युपन्यासे एव च कुतोऽनत्रस्था न स्यात् साध्य 'सा-
मग्रया उपाधित्वे धूमानुमानसाधारणत्वात् एवं च
साध्यसामग्र्युपाधित्वव्यवच्छेदार्थमपि लक्षणं विशे-
षणीयं 'श्यामत्वादी साध्ये शाकाद्याहारपरिणति-
पारम्पर्यादेस्तस्मिन्साध्ये श्यामत्वादेरुपाधित्वस-
म्भवेन कथमुपाधिरपि साधयितुं शक्यते इति चे-
न्मैवस् 'प्रत्येकं द्वयोरपि मैत्रतनयत्वादिना साधने

(१) श्यामत्वविशिष्टमैत्रतनयत्वं साध्यं यस्यास्तथेत्यर्थः । मैत्रत-
नयत्वविशिष्टश्यामत्वव्यापकत्वेति पर्यायवसित्तिर्ऽर्थः ।

(२) स्थातद्यमित्यस्मात्प्राक्=गौरशरीरे-इत्यपि योजनीयम्-

टी०॥ मनु मैत्रतनयत्वेनापि शाकपाकजत्वमेवाप्ये साध्य-
साधनदया उपाधित्वात् तत्र शाकपाकजत्वनिश्चय इति उच्यते-
उपोपाधित्वमेवेत्यत आह ॥ “तत्रापी”ति ॥^१ “उपोधी”ति । यथा
हेतुना तत्तदुपाधिसाधनेऽनवस्था मन तथा तत्तदुपाध्युपपत्तौ
तथाप्यनवस्थैवेत्यर्थः शाकपाकजत्वादेरुपाधित्वेदोषान्तरमाह-
“सामग्रा” इति । धूमादिमदनुमानमप्येव न स्यादित्यर्थः हेतु-
नोपाधिसाधने दोषान्तरमाह-^२ “श्यामत्वे”ति । साध्योपाध्यो-
र्द्वयोरपि मैत्रतनयत्वेन साधयितुं शक्यत्वात् प्रत्येकस्योपाधि-
त्वमित्याह-^३ “प्रत्येकनि”ति । मनु द्वयोः प्रत्येकं यदि साधनं
तदा प्रत्येकस्योपाधित्वमेव मिलितसाधने चार्थान्तरं विप्रतिप-
त्तिसमये चोभयसाधनपर्यान्तरत्वापादकमेवेति तत्राहुः तत्रो-
पाधि. साधनेन साधनार्हः तत्र साधनव्यापकत्वात्तदोपाधित्वम-
स्तीति तात्पर्यमत एवानुक्रममुदाहरति-^४ “अन्यथे”ति । कार्य-
त्वेन हेतुना सकर्तृकत्वाद्दृष्टजत्वयोरुभयोरपि साधयितुं शक्य-
त्वात्तदोपाध्युपाधिसङ्गाव इत्यर्थः ॥

सू० “^(१)अत एव साध्यसाधनसम्बन्धं प्रति व्यापकत्वं
साध्यव्यापकत्वमित्यपि प्रत्युक्तम्^५ यत्राप्युपाधिर्नि-
श्चीयते तत्राप्य^(२)तीन्द्रियोपाधिविषये तदभावस्य
साधनाव्याप्यर्थमनुमेयतायां^(३) सोपाधीक्रियमा-
णोऽसाधनेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्तुं शक्यत्वात् तथा
सति तत्र शङ्कितोपाधित्वमेव निवृत्तं स्थास्यतीति

(१) उक्तं द्रुपदं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे सति साधना-
व्यापकत्वमित्युपाधिलक्षणात्तरे इतिदिशति-अत एवेति- (२) अती-
न्द्रियउपाधिर्विषयत्वेन व्यवस्थितो यत्र हेतौ तत्रैत्यर्थः यथाचैव च इया-
मो मैत्रतनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वमतीन्द्रिय उपाधिरिति तदभाव-
स्याध्ययोरप्रतिषेधिकत्वेनातीन्द्रियत्वाद्गौरमैत्रतनयसाधनाव्यापकत्व-
सम्पत्त्यर्थमनुमेयत्वमेव वाच्यं तथा हि-अर्थं शाकपाकजत्वाभाववान्
गौरत्वादयन्नैवं तन्नैवमिति तथा चायं शाकपाकजत्वोभित्वातनयत्वात्
स्यामतनयदिति सत्प्रतिपक्षतेति समग्रपक्षस्यर्थः-एवमुदाहरणात्तरेप्यु-
क्तम् । (३) उपाध्यात्मकसाध्यशबलोक्रियमाद्येनेर्थः ।

चेत् ^(१)एवं ब्रुवाणो नियतमजैषीः परं मन्दमन्दाक्षं
 तथाहि स्वीकृतनिश्चितोपाधिभावे शङ्कितोपाधि-
 त्वमापत्तदनुकूलं मन्यते कोन्यो जितलज्जात् नच
 क्वचिन्निश्चितोपाध्यनभ्युपगमे तच्छङ्काशङ्कया * यत्र
 प्रत्यक्षेणोपाधिनिश्चयस्तदेव तद्दर्शनस्यानं भवि-
 ष्यति ? *—इति चेन्न, ऐन्द्रियकबाधे तज्जातीयस्प-
 तीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रियमाणेन हेतुनैव साधयितुं
 शक्यत्वात् ॥

टी० ॥ “अत एवे”ति । साध्यत्वठयापकत्वयोरनिरूप-
 णादेवेत्यर्थः इदानीं निश्चितोपाधावपि साधनाव्यापकत्वस्या-
 शक्यप्रवृत्तमाह— ^b“यत्रापी”ति । साधनाव्यापकत्वसम्पत्तये
 साधनवति यथोपाध्यभावः साध्यस्तथा साधनेनैवोपाधिरपि सा-
 धयितुं पार्यत एवेति न साधनाव्यापक त्वनिश्चय इत्यर्थः ॥
 ‘एवं ब्रुवाण’ इति । उपाधित्वनिश्चयस्य क्वचिदप्यसम्भवे तत्सं-
 शयस्याप्यसम्भवादित्यर्थः नन्वाद्र्भ्यनवत्वस्योपाधेः साधनव-
 ह्निमत्ययोगोलकादावभावः प्रत्यक्ष इति तस्यैव साध्यधुनठया-
 पकत्वे सति साधनवह्वधठयापकत्वान्निश्चितोपाधित्वमिति
 शङ्कते— ^a“यत्रे”ति । अयोगोलकमाद्र्भ्यनवत् बह्निमत्वान्महा
 नसवदित्पनेनात्राप्युपाधिसाधने क्व तदभावनिश्चय इति परि-
 हरति— “ऐन्द्रियकबाधे” इति ।

मू० “नच यदेकत्रैकजातीयमैन्द्रियकं तदन्यत्रैन्द्रियकबा-
 धेहेतुबलादतीन्द्रियं न प्रसाध्यते पाकदर्शनाज्जठरा-
 नलादिवत् ^bसाधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक
 इति च न शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं व्या-
 प्नोतीत्यव्यापकतादोषः ‘नहि शाकादित्वं नाम
 किञ्चिदेकमस्ति यत्साध्यं व्याप्नुयात् ^aअस्तु वा कथ-

(१) हेमन्द एव ब्रुवाणस्त्वं मन्दाक्षं—सउजामेव नियतमजैषीः
 परं=परन्तु न प्रतिपक्षमित्यवश्यपूर्वकोऽर्थः ।

अपि तथापि श्यामत्वं न व्याप्नोति 'इन्द्रनीलशि-
लादिश्यामलत्वस्याहाराजन्यत्वात्' * शरीरश्या-
मत्वं साध्यं तच्च व्याप्नोत्येवेदम् ? -इति चेन्न,
'व्याप्तानुपाधेरभिधेयत्वात् नच पुरुषश्यामत्वेन
व्याप्ति' हेतुपक्षधर्मतयैव हि साध्यं पक्षधर्मः सि-
ध्यति न व्याप्त्या 'अन्यथा पुरुषपदस्याव्यवच्छेद-
कस्याविशेषणत्वापातात् ॥

टी० ॥ नन्विन्धनवत्त्वावच्छेदेनैवैन्द्रियकत्वमिति तत्सा-
धने बाध एवेत्यत आह--। "न चे"ति । यथा पाकेनानुमीय-
मानो वह्निर्जठरे प्रत्यक्षो न सिद्ध्यति अतीन्द्रियः साध्यते तथा
प्रकृतेःपि स्यादित्यर्थः साधनाठयोपाकत्वं निरस्य साध्यठयाप-
कत्वं निरस्यति--। "साधने"ति । शाकादीनामनुगमेन साध्य-
ठयापकत्वग्रहासम्भवात् तदेवाह--। "नहीति । शाकाद्याहार-
स्यानुगमेऽपि श्यामत्वस्य व्यभिचारात् साधनापकतेत्याह--। "अ-
स्तु वे"ति । व्यभिचारमेवाह--। "इन्द्रे"ति । विशिष्टसाध्यव्या-
पकत्वमभिमतं तथास्त्येवेति शङ्कते- । "शरीरे"ति । ययोरे-
वव्याप्तिरभिमतता तत्रैवोपाधिरभिमतो नतु विशेषणान्तरप्रक्षेपे-
णापि साध्यत्वमिति परिहरति-। "व्याप्तावि"ति । ननु पुरुष-
श्यामत्वमेव पर्यवसितमिह साध्यं तद्वापकोयमुपाधिर्भवत्येवे-
त्यत आह--। "हेत्विति"ति । यदि पुरुषश्यामत्वमेव साध्यं तदा
मैत्रेयः पुरुषः श्यामः मित्रातनयत्वादित्येव प्रतिज्ञा स्यात्तत्र
च पुरुषपदं ठयर्थं स्यादित्याह--। "अन्यथे"ति ।

सू० "परम्परासम्बन्धिकज्जलादिलेपश्यामलत्वव्यवच्छेद-
कत्वे च संयुक्तश्यामपुरुषसमवेतश्यामत्वस्य परम्प-
रासम्बन्धिनः कथं व्यवच्छेदः स्यादिति ^b* नच सा-
ध्यसाधनसम्बन्धाद्गृह्यविचारत्वं साध्यव्यापकत्वं
मा रूपसाक्षात्कृतिकरणादेस्तैजसादिसत्त्वे साध्ये-
ऽभूदुद्भूतरूपादित्वादेरुपाधित्वम् * 'साधनेनापि च

विशेषणतया निवेद्येन यदि केवलसाध्यव्यापकं व्यवच्छेद्यं तदा तस्य व्यभिचारशङ्काधानक्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यात् * अथ न किञ्चिद्व्यवच्छेद्यं तदा विशेषणत्वासिद्धिरेव नहि प्रयोजनमात्राद्विशेषणमर्थवद्भवति किंतु किञ्चिद्व्यवच्छेदादिति * शरीराजन्यत्वमिवाकर्तृ कत्वे व्यक्तमसिद्धौ पर्यवस्येदिति

टी० ॥ ननु पुरुषोपमेव श्यामरूपं सिद्ध्यात् कञ्जलादिगतं तु मा सैत्सीदेतदर्थमेव तद्विशेषणमित्यत आह "पररूपरे"ति । एवं व्यावर्तकानुसारेण संयुक्तपुरुषश्यामताठयवच्छेदार्थमपि विशेषणान्तरमुपादेयं स्यादित्यर्थः श्यामरूपसमवाये साध्ये पुरुषपदस्य सुतरां वैयर्थ्यमिति भावः ननु तथापि मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामलक्ष्यं प्रति शास्त्राद्याहारपरिणतेर्यभिवारो न दृश्यते इति तदवच्छिन्नकठयापकत्वमेव साध्यकठयापकत्वमभिसतमत आह-- "न से"ति । एवं सति वस्तुस्तैजसं रूपसाम्नात्कारकरणत्वात्प्रदीपवदित्यत्र नदनुमाने यीदमेवमणि केवलसाध्याठयोपकमपि साधनावच्छिन्नसाध्यकठयापकतयोद्भूतरूपवत्त्वमुपाधिः स्यादित्यर्थः मा भूदिति सम्प्रत्ययः दोषान्तरमाह-- "साधनेनापी"ति । साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं केवलसाध्यकठयापकोपाधी नास्तीति तत्राठवासिदित्यर्थः ननु केवलसाध्यकठयापकोपाध्युक्तप्रदमात्रार्थमिदं विशेषणं ननु केवलसाध्यकठयापकोपाधिठयवच्छेदाय योनःठयाप्तिः स्यादित्याशङ्क निराकरेति- "अथे"ति । यदि न ठयवच्छेदकं तदा साधनावच्छिन्नसाध्यकठयभिवारित्वेन । साधनस्य साध्यठयभिवारित्वे साध्येऽनर्थविशेषणतया ठयाप्यत्वात्सिद्धिः स्यादित्यर्थः ।

सू० "किंच आभासे केवलठयतिरेकिणि ^६पक्षधर्मं हेतौ जीवच्छरीरं पृथिव्याद्याष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत् प्राणादिमस्वादित्यादौ कथमिदमुपाधिलक्षणठयवस्थाप्यं न ह्याभासे ध्यतिरेक्यनुमानात्मनि यत्साध्यं तदु-

पाधिना व्याप्तं वर्तते तस्य पराभिमतस्य क्वचित्सि-
द्ध्यापत्तेः ^a“व्यतिरेकव्याप्तानुपाधिश्चेत्तर्हि व्यति-
रेके यद्व्याप्यं तस्य व्याप्य उपाधिरवश्यं मन्तव्यः ॥

टी० ॥ व्यतिरेकव्याप्तासौ साध्यव्यापकत्वाद्यद्वाधेः नु-
पाधित्वमित्याह—^a“किञ्चित् । आभासत्वाभिधानमुपाधिधौ-
ठयार्थं अपक्षधर्मतया चेदाभासत्वं तदा न व्याप्तिभङ्गायोपाध्य-
नुसरणमित्यत आह—^b“पक्षधर्म”ति । अष्टद्वयानिरिक्तानेकचे-
तनवत्त्वं साध्यं तदप्रसिद्ध्या नोपाधिः साध्यव्यापकत्वमह
इत्यर्थः पराभिमतस्य स्थापनावाद्यभिमतस्य ॥ ^c“क्वचिदिति ।
* नच पक्षे एव तत्तिनद्विरिति वाच्यं ? *—साधनव्यापकत्वमु-
पाधेस्तथानति स्यादित्यर्थः ननु व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्ता-
वेवोपाधिरिति न तत्र मोक्षव्यापकत्वं तन्त्रमित्यत आह—
^d“व्यतिरेके”ति । व्यतिरेकव्याप्ती साध्याभावस्य व्याप्यत्वा-
दुपाधेस्तद्व्याप्यत्वं स्वीकार्यमिति नोपाधिः साध्यव्यापकः
स्यादित्यर्थः । यद्यपि साध्यपदेन व्यापकमभिमतं तेन व्यतिरेक-
व्याप्तावपि व्यापकव्यापकत्वमुपाधेर्वापकत्वं च साधनाभाव-
स्येत्युपाधिस्तद्व्यापकौयथा प्रतिसन्धानाभावे कार्यकारणभा-
वाभावे उपाधिः परीक्ते एककर्तृकत्वानुमाने तथापि साध्या-
भावव्याप्यत्वाभिधानं कथञ्चित्तन्मर्थनीयमिति ।

सू० “अन्यथोपाधेरन्वये साध्यान्वयापत्तेरिति ^eउपाधे-
र्व्यतिरेकव्याप्त्यवश्यम्भावस्याभ्युपगम्यतयोपाधेर्य-
द्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधिव्यतिरेकस्य व्याप्य-
तया मन्तव्य इति परसाध्यापत्तिः असमव्याप्तिक-
थोरन्वयव्याप्तिसाध्यसाधनभाववैपरीत्येन व्यति-
रेकव्याप्त्येति * नच दोषान्तरमेव तर्हि वाच्यम् ?
*—इति वाच्यम् हेतोः पक्षधर्मत्वस्थिते व्याप्तिसं-
त्यर्थं त्वयोपाध्युपगमप्रौढ्यात् ^f“भवतु वा या काचि-

दूष्याप्तिर्नाम^(१) तत्सत्त्वे एवानुमितिभावात् तस्या-
श्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या ततश्चात्माश्रयस्त-
द्भेदे चाननुगमाविनिगमौ स्यातामिति व्याप्तिप-
क्षधर्मते अनुमितिं भावयत इति वदन्ति तत्र केयं
पक्षधर्मता * पक्षाश्रितत ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ अस्तु तत्रापि साध्यव्यापकत्वाध्याभावाध्याप्य
एवोपाधिः किमनिष्टमित्यत आह-। “अन्वये”ति । उपाधिस-
ङ्गावे यदि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तेत तदा साध्यं स्यात्
साध्याभावाभावस्य नाध्यतवाप्तिकिरूपणं च पक्षादन्यत्र न वा-
च्यमन्यथा व्यतिरेकभङ्गप्रसङ्ग इत्यवश्यमुपाधिः साध्याभाव-
व्याप्य एव वाच्य इत्यर्थः ॥ ^b“उपाधेरि”ति । साध्यव्याप्यवृत्त्यर्थ-
मुपाधिव्याप्यरूपामनीयत्वेनोपाधेर्यतिरेकिधर्मत्वमियमादिति
भावः अन्वये यद्व्यापकं तदभावो व्यतिरेके व्याप्य इति केवला-
न्वयिनि नास्तीत्यत उक्तम् अननव्याप्तिकयोरिति नन्वीदृशे
व्यतिरेकिणि सास्तुपाधिरित्यत उक्तम् । “हेतोरि”ति । व्या-
प्तिमभ्युपेत्य दोषमाह-। “भवतु वे”ति । व्याप्याप्यनुमित्या
सह व्याप्यमभ्युपगमे स्ववृत्तित्वमित्यर्थः ॥ “तद्भेदे” इति ।
यद्यनुमितिवाप्योरन्यैव व्याप्तिस्तदाननुगमो यदि तत्रापि
स्ववृत्तिभयेनान्या नदानवस्था स्यात्तथाच का व्याप्तिरनुमाना-
ङ्गमिति विनिगमना न स्योदित्यर्थः ॥ ^f“भावयत” इति । जन-
यत इत्यर्थः ॥

सू० नैयायिकादीन् प्रति प्रमेयत्वस्याहेतुत्वप्रसङ्गात् वि-
षयविषयिभावस्य ज्ञेयज्ञानस्वरूपातिरिक्तस्यानङ्गी-
कारात् तयोश्च ज्ञेयाश्रितत्वायोगात् कश्चायं पक्षो
नाम यद्धर्मत्वं पक्षधर्मत्वं * सिद्धाधियुक्तिसाध्य-
धर्मा धर्मो ? *-इति चेन्न, सिद्धाधियथा हि प्रति-

(१) तत्सत्त्वे-इत्यतः पूर्वं तथापीति पूरणीयम्-तत्सत्त्वे=इत्य-
स्य व्याप्तिव्याप्ये-इत्यर्थः ।

विपादयिषा वा स्यात् प्रतिपित्वा वा आद्ये स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः द्वितीये चा'सुरभिगन्धानुमे-
यकुत्सितरसविषयस्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः नचानव-
धारितधर्माधर्मी पक्षः हेतुसत्तयाप्यनवधारणे ऽनु-
मानोदय^(१)निदानभावासम्भवात् अवधारणे वान-
वधारितधर्मत्वानुपपत्तेः नचानवधारित हेतुविष-
यधर्मा धर्मी पक्षः तथाहि केनानवधारितधर्मा न
तावदनुमानप्रयोक्ता स्वयमज्ञाते परं प्रत्यप्रयोगात् *
प्रतिवादिना ? *-इति चेत् न प्रतिवादिबिहितेप्यर्थे
वादिताया परस्परविद्योत्कर्षनिरूपणार्थमनुमानद-
र्शनात् ॥

टी० ॥ ^१“नैयायिकादी”निति । अनिरिक्तविषयविषयि-
भावसम्बन्धानङ्गीकर्तृ मते वाच्यो घटः प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमे-
यत्वस्य घटतत्प्रमास्वरूपस्य घटावृत्तित्वादपक्षधर्मता स्यादि-
त्यर्थः कृतद्विनसमासेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन तुल्यमिति
कात्यायनवचनादिति भावः ^(२) परम्परामुद्भूतं प्रमात्वमेव
यदि प्रमेयत्वं तथापि तस्य विषयघटितोपाधितया विषयावृ-
त्तित्वमेवेति हृदयम् ॥ ^२“असुरभी”ति । सटितमांसादावसु-
रभिगन्धेन हेतुना कुत्सितरमानुमानमस्ति नतु प्रतिपित्वापि
येन तस्य पक्षता स्यादित्यर्थः हेतुधर्मावधारणेपि न सानान्यतो-
नवधारितधर्मत्वमिति पक्षतादेरपक्षत्वापत्तिरित्याह-। “हेत्व’
ति । हेतुविषयः साध्यं तथा चानवधारितसाध्यधर्मैत्यर्थः ॥

सू० तथानवधारणं यत्किञ्चिद्धेतुविषयधर्मगोचरम् वादिप्र-
योक्तव्यहेतुविषयगोचरं वा नाद्यः “अग्निमस्त्विच्छ-
यदशायासपि तत्तद्धेतुविषयबहुतरापरधर्मतानवधा-
रणात् धूमं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वप्रसङ्गात् न द्वितीयः

(१) निदानानुभवासम्भवादित्यपि क्वाचित्कः पाठः ।

(२) स्वधर्मवार्थिविषयत्वसम्बन्धेन सम्बद्धम् ।

तथापि तत्प्रसङ्गात् ^bतद्धेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात्
 'असाधारण विवक्षायां चाननुगमात् इतरेतराश्रय-
 दोषाच्च ^c'पक्षधर्मत्वेन हेतुत्वनिरूपणात् व्याप्तपक्ष-
 धर्मत्वस्य हेतुत्वात् हेतुना च पक्षनिरूपणात् स्वार्थानु-
 माने च हेतोरप्रयोज्यत्वात् पक्षत्वाभावेनानुमाना-
 नुदयप्रसङ्गात् 'विरुद्धहेतौ च पक्षधर्मत्वाभावप्रस-
 ङ्गात् तत्र साध्यस्य तद्धेतुविषयत्वाभावात् ^d'हेतो-
 रेव साध्यपिरीतव्याप्त्या दुष्टत्वात् ^e'एतेन सन्दिग्ध-
 साध्यधर्मविशिष्टो धर्मो पक्षः साध्यत्वं च स्वपरा-
 र्थानुमानसाधारणं उत्पाद्यज्ञानत्वमिति निरस्तम् ॥

टी० ॥ "अग्निमत्त्वे"ति । अनुमित्यनन्तरमपि पर्वतादेः

पक्षता स्याद्गुणविषयस्य प्रदेशश्यामलतादेरनवधारणादित्यर्थः
 पूर्वप्रसङ्गे सत्येवाह-। ^b"तद्धेतूनामिति ॥ "असाधारणे"नि ।
 वादिप्रयोक्तव्यधूमादिविषयस्येति कृते शब्दादेरपक्षता स्यादि-
 त्यर्थः ॥ ^c"पक्षे"ति । व्याप्तपक्षधर्मत्व हेतुत्वं हेतुविषयधर्मत्वत्वं
 च पक्षत्वमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ॥ ^d"विरुद्धे"ति । नही नि-
 त्यत्वमपि कृतकत्वविषयस्तत्प्रतीतिजन्यप्रतीति विषयत्वमेव
 हि तद्विषयत्वमित्यर्थः ननु विरुद्धे पक्षधर्मत्वादेवासासत्त्वम-
 स्तिवत्यत आह-। 'हेतोरेवे"ति । साक्षाद्हेतुदोष एव विरोधो
 ननु पक्षद्वारेत्यर्थः ॥ ^e"एतेन"ति । सन्देहस्य विशेषणत्वोपलक्ष-
 णत्वव्युदाससन्देहाधारपुरुषविकल्पादिनेत्यर्थः ॥

सू० *प्रतीतिं व्याप्तित्वत्वेन सामान्यतो व्यापकावगाह-
 नप्रवृत्तां विशेषमादाय पर्यवसाययितुं व्याप्यस्य
 सामर्थ्यं सा ? *इति चेन्न, ^bतस्याः^(१) सामान्य-
 विषयाया ^(२)अनुपपत्तेरसिद्धेर्व्याप्तित्वत्सम्भवात्

(१) तस्याः=व्याप्तित्वत्वेन सामान्यतो जायमानप्रतीतिः ।

(२) अनुपपत्तेरित्यतः अविशेषविनेत्यवधारार्थम् -

अनुपपत्तित्वे व्याप्त्यनुप्रवेशात् "अधिकविषयाका-
ङ्क्षित्वे विरम्य व्यापारापत्तेः मानान्तरत्वापत्तेर्वा
विशेषविषयायाश्चानुपपत्तित्वेऽतिप्रसङ्गः पक्षध-
र्मतया च यदि साध्यव्यक्तिभेदः सिद्धर्थे तर्ह्यनुमाय
तां प्रत्यक्षेण पश्यन् पुंशब्दात् पुरुषानुमायी प्रत्य-
क्षेण पुरुषद्वयदर्शने तद्विशेषासंशयी स्यात् *प्राग्वि-
शेषादर्शनात् तथा स्यात् ? *-इति चेन्न, 'पश्चात्त-
त्तद्वर्शित्वान्न संशयीतेति^(१) ॥

टी० ॥ प्रकारान्तरेण पक्षधर्मतानाशङ्कने-। "प्रती"ति-
मिति । व्याप्तिबलाद्बुद्धिमात्रप्रतीतिः पक्षधर्मताबलात्पर्वतीय-
त्वादिक्मादाय पर्यवस्यतीत्येतादृश धूमनामपर्यं पक्षधर्मते-
त्यर्थः ॥ "तस्या"इति । विशेषं विनापि साध्यसामान्यविषया
बहिर्प्रतीतिः स्यादेव यथा ठ्यामिबुद्धिरिति नानुपपत्तिरित्यर्थः
अनुपपत्तित्वेन विशेषविषयत्वाभ्युपगमेऽर्थापत्तिरेव स्यात् सा
चानुमानमेवेत्याह-। "अनुपपत्तित्वे" इति । यदि च सामा-
न्यबुद्धिरुत्पद्य विशेषविषया तत्राह-। "अधिके"ति । सामान्य-
बुद्धिरनुपपद्यमाना विशेषबुद्धिं यदि जनयति तत्राह-। "नाना-

(१) ननु संशयस्य पक्षधर्मत्वाभावेपि सिद्धाधिक्यविरहसह-
कृतसिद्ध्याभावो यत्र सपक्षगद्गत्तिधर्मः पक्षतेति विशेषसाक्षात्कारकाले
सिद्धाधिक्यः विरहसहकृतसिद्धिबलवान्न पक्षतेति चेन्न एतल्लक्षणस्य यत्र
व इति पदघटितत्वेनाननुगतत्वात्-यावज्जीवं यमानुमितिरस्यादित्य-
नुमित्सायान्त्यामनुमित्यव्यवहितोत्तरक्षणेऽनुमितिसप्रकाङ्गाश्च यथानु-
मातुस्विषाधिक्यविरहसिद्धयश्चे विशेषणमाहोस्वित्पुरुषान्तरस्य नाद्यः ।
विशेषरूपेण दुर्गन्धानुमितिरथले सिद्धाधिक्यायामसत्त्वामप्यनुमितिद-
र्शनात्-न हि तत्र सामान्यरूपेण सिद्धिरन्वे विशेषरूपेण दुर्गन्धमनुमि-
त्यामितीच्छोत्पद्यत इति नानुमन्त्रिच्छाविरहो विशेषणं स्यान्नामतदा-
नुमात्रिच्छाविरहो विशेषणमुत्पद्येत कदाचिद्यदिदुर्गन्धानुमित्वावस्वे-
त्यनुमितिर्नहि तत्रानुमातुर्दुर्गन्धानुमित्वाभवति जात्वपीति न तादृ-
शोच्छाविरहो विशेषणमित्यनवद्यम् । नापि द्वितीयः । सिद्धिरप्येवैपि पुरु-
षान्तरवेच्छामादायानुमितिसप्रकाङ्गादित्येतल्लक्षणस्यनुपपत्तयम् ।

कतस्त्वै"ति ॥ १६ "अतिप्रसङ्ग" इति । अपरापरविशेषधीप्रसङ्ग इत्यर्थः दोषान्तरमाह- । १७ "वक्ष्यन्ततया चे"ति । बह्वनुमानानन्तरं प्रत्याखीदतो नामावहृद्दर्शने किमियं बह्विधयस्त्वरनुमितेयं वेति बह्विसंशयो न स्यात् किंच शकद्विशेषेण गृहे पुरुषानुमानानन्तरं चैत्रोनुमितो मीत्रो वेति संशयो न स्यादित्यर्थः नन्वनुमितस्यापि विशेषस्य साक्षात्काराभावात्संशयः स्यादेवेत्याह- । १८ "प्रागि"ति । विशेषसाक्षात्कारकालेपि संशयदर्शनान्निवृत्तित्याह- । १९ "पश्चादि"ति ॥

मू० (१) उपमानमपि (२) किमुच्यते सादृश्यज्ञानमुपमानमित्येकैः (३) तन्न "स्मृतावपि प्रसङ्गात् अनुभव इत्य-

(१) { प्रत्यक्षमनुमानं च विदीर्षणं युक्तितः पुरा ।
अधुना दृश्यते सस्यमुपमानं सविस्तरम् ॥ }

(२) उपमानं दृषयितुं पृच्छति-किमिति—

(३) सादृश्यज्ञानमुपमानमिति वदन्प्रहृष्टो वादी किं सादृश्यस्मरणमुपमानं किं वा सादृश्यानुभवः । नाद्यस्सादृश्यस्मरणध्वंन तत्प्रत्यक्षयोरपि सादृश्यस्मरणजन्यत्वेनोपमितित्वापत्तेः । द्वितीयश्चेत्किं सादृश्यप्रत्यक्षमुपमानम्-उत सादृश्यानुमितिः-आहोस्वित्सादृश्योपमितिः-सादृश्यबोधो वा-तत्राद्येकोदृशं तद्यदुपमानत्वेनाभिमतम्-चक्षुरादीन्द्रियसंसर्गिणि गवये गोसादृश्यप्रत्यक्षमिति चेत्-किं चक्षुरादिवृत्तिकृष्टे गवये गो सादृश्यं गवि च गवयसादृश्यं भिन्नमभिन्नं वा-भिन्नमिति चेत्-न तत्सादृश्यम्भवितुमर्हति भूयसानवग्रहानां समानसंसर्ग एव सादृश्यं च चेद्गो गवययोर्भिन्नस्यःतत्रय सादृश्यं भवेदिति सादृश्यस्वरूपस्यै समान एव वक्तव्यसमानशचेत्कथं तद्विषयं ज्ञानमुपमानं भिन्नं भवेदिति यद्गो गवययोस्सादृश्यं प्रत्यक्षं तदेकमेव वाच्यं तथा च तद्दृश्यासादृश्यप्रत्यक्षानन्तरं गवयोपमितिवद्गोरप्युपमितित्वात्किं तादृश्यासादृश्यप्रत्यक्षानन्तरं गवयोपमितिवद्गोरप्युपमिति कश्चिदभिमतत्वेन गवोपमितिरपि श्वीक्रियेत् तादृश्यप्रत्यक्षस्योपमितिकरत्वाङ्गीकारे च गवयोपमितिवद्गवोपमितिरप्यावश्यकीति न गवये चक्षुरादिवृत्तिकृष्टे गोसादृश्यप्रत्यक्षमुपमानम्-नापि सादृश्यानुमितिरुपमानम्-वा च गो सद्गवो-मवय इत्याकारैव वाच्यं न गोपमानं भवितुमर्हति-तद्वत्प्रत्यक्षयोरप्युपमितित्वप्रसङ्गात्-किञ्च गवयसपश्यतीति पुरुषश्च गोसादृश्यानुमिति-

भिधाने च सदृशाविभावित्तीन्द्रियजेपि प्रसङ्गात् ^bसो-
पि गवयो गवा सदृशोगवयत्वात् गवयान्तरवदित्व-
नुमानस्यापि 'तथात्वापत्तेः' ^dएवमाप्तोक्तिजेपि कि-
ञ्चोपमितिलक्षणमिदं उपमितिकरणलक्षणं वा स्या-
न्नाद्यः 'सादृश्यस्योपमेयतापत्तेः' ^f* सदृशेषोपमे-
यव्यवहारोस्ति चन्द्रोपमेयं मुखमित्यादि सदृशमिति
^gसा ? *—इति चेन्न, ^hअज्ञादिकरणासम्भवे तदुदाहर-
णासिद्धेः नापि द्वितीयः सादृश्यज्ञानस्य सर्वस्यास-
म्भवत्प्रमाणांतरव्यापारफलजनकताया दर्शयितुम-
शक्यत्वात् ^jनच सादृश्यमनुगतमेकमस्ति ^kमुखसादृ-
श्यस्य हस्तसादृश्यस्य च परस्परभेदेनैवोपलम्भात् ।

टी० ॥ ^a“स्युतावि”ति । सादृश्यस्युतावित्यर्थः सादृश्य
गोश्वरः परोक्षानुभवश्चेद्विषयिनस्तत्राह— ^b“सोपी”ति ॥ ^c“त-
थात्वे”ति । उपमानत्वापत्तेरित्यर्थः ॥ ^d“एषमि”ति । गोस-
दृशो गवय इत्यादिशब्दजन्यानुभवस्यप्युपमानत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।
^e“सादृश्यस्ये”ति । सदृशो धर्मी लोक उपमेयो न सादृश्यमि-
त्यर्थः तदेवाह— ^f“सदृश” इति ॥ ^g“सेनी”ति । उपमितिरि-
त्यर्थः ॥ ^h“अज्ञादी”ति । प्रत्यक्षेण या सदृशमितिः प्रमा सा

सम्भवेन तदनन्तरमप्युपमितिस्त्याञ्चैतज्जवितुमर्हति गोसादृश्यानुमि-
तेर्वाप्तिग्रहपूर्वकत्वेनेति तदनन्तरमेव गो सदृशो गवय इतिज्ञानसम्भ-
वात्कृतमनुमित्यात्मकेनोपमानेन— । नाशुपमिति रूपमानस्-तस्यास्त्वा-
त्मकोपमितिसप्रतिकरणात्वे च तनाश्रयः । उभययोरन्योन्यसप्रतिकरणात्वे
ऽन्योन्याश्रयः । करणभूतोपमितेरप्युपमित्यात्मककरणत्वाङ्गीकारे तस्या-
प्युपमित्यन्तर्गतकथमित्यनवस्थाप्रसज्येत नच करणभूतोपमितेर्न करण-
मुपमित्यन्तरमिष्यत इत्यपि ⁱशक्यं वक्तुं तथा सप्युपमितेरुपमिति
करणत्ववशाचातादिति नोपमितिरप्युपमानस्-नापि बोधस्तस्य सक्तिग्र-
हसकृतपदज्ञानजन्यतया गोसदृशो गवयपदवाच्य इतिशक्तिग्रहकाश्च एव
गवयबोधसम्भवादिति वैयर्थ्यं सादृश्यबोधस्योपमिति करणत्वेनेति न
तद्वोधोप्युपमानमित्यभिप्रेत्याह—तत्रेति—

सावकीपमितिस्तत्र साक्षात्त्वानुभवात् एवमनुमितिशब्दज्ञान-
योरपि वाच्यम् तदतिरिक्त्वा च नितिर्नास्त्येव योपमितिः स्या-
दित्यर्थः ॥ “सादृश्यज्ञानस्ये”ति । सादृश्यज्ञानं तदा पृथक्
प्रमाणं स्याद्यदि क्लृप्तप्रमाणाख्यापारापेक्षया बिलक्षणोऽस्य ठया-
पारः स्यादेवं तत्कलापेक्षया विजातीयं फलं स्यादथवा प्रमाणा
पारासङ्कीर्णो विषयः स्यात् नचैवमित्यर्थः सादृश्यज्ञानमुपमानं
सादृश्यभेदेनाननुगतं स्यादित्याह— । “नचे”ति ॥ “मुखेति आ
ह्लादकत्वकीमलत्वारुणत्वादीनां भेदादित्यर्थः

सू० “नच सादृश्यरूपत्वमनुगतं तेष्वपीत्यदोषः ”तथापि
सादृश्येन सह सादृश्ये ऽनेकस्यत्वाद् सादृश्यरूपत्वा-
श्रिते सादृश्यरूपत्वस्याश्रयणाभ्युपगमे परस्पराश्रय-
भावोऽनभ्युपगमे चाननुगमः “तयोः सादृश्यानभ्यु-
पगमेऽन्यत्रापि तथात्वापत्तिः “किञ्च वैधर्म्यप्रतिप-
त्तेरपि प्रमाणान्तरत्वमेवं स्यादविशेषात् एवमेवा-
भ्युपगमे च परिगणितप्रमाणाधिक्यप्रसङ्गो वा सादृ-
श्यबुद्धेरपि वा परिगणितेष्वेवान्तर्भावः स्यादिति
अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमिति-
रूपमानमित्यपि न आप्तवाक्यादपि तथा प्रतीतेः
*यत्र “तद्व्यापारो नास्ति ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ नानासादृश्यगतं सादृश्यत्वमपि धर्मानुगतो नास्ती-
त्याह— । “नचे”ति ॥ “तथापी”ति । सादृश्येषु यदेकं सादृश्य-
त्वमनुगतं वाच्यं तत्रापि सादृश्यत्वेन सहानेकवृत्तित्वादिना
सादृश्यमस्त्येवेति सादृश्ये सादृश्यत्वं तत्र च सादृश्यत्वे सादृ-
श्यमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ॥ अनेन भयेन यद्येकं सादृश्यत्वं
नाभ्युपेयं तदाननुगम इत्याह— । “अनभ्युपगमेचे”ति । अथ
सादृश्यसादृश्यत्वयोर्न सादृश्यं तदा सादृश्यबुद्धेरविशेषात्
मुखबुद्धोरपि सादृश्यं न स्यादित्याह— । “तयोरि”ति ॥
“किञ्चे”ति । धिक्कुरभमतिदीर्घधीर्घं प्रलम्बोष्ठं कटोरकवटका-

शिनमपसदं पशूनामिति पश्वन्तरवैधर्म्यज्ञानबलोपशयमभौ कर-
मप्रदवाच्य इति प्रमिनिरस्ति तत्कारणं प्रमाणांतरं स्यादित्य-
र्थः शास्त्रमुपमानं शङ्कते— । “अप्रतीयमानस्ये”ति । सा गौरैत-
त्सद्गुणीति परोक्षधर्मिकसाद्दृश्यज्ञानमुपमानमित्यपि नेत्यर्थः ॥
“तद्दृश्यापार”इति । शब्ददृश्यापार इत्यर्थः ।

सू० “स चायं चाभिन्नाद्वितिवर्त् स चायं च सदृशाविति
पर्वप्रतीतस्य प्रतीयमानेन सहैन्द्रियकसाद्दृश्यप्रतीता-
वपि प्रसङ्गात् ^६* इन्द्रियासम्पृक्तस्य?*-इति चेन्न, प्रत्य-
क्षतो गोगवयसाद्दृश्यं प्रतीत्य सापि च गौर्गवयः सदृ-
शो गोत्वादियमिवेत्यनुमितावपि प्रसङ्गात् * अलिङ्ग-
जापि? *-इति चेत्, नत्वेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दानु-
त्यत्ये सतीत्युक्तं स्यात् तथाच ‘विश्लेषणमेव समर्थ-
मित्यप्रतीयमानस्येत्यादि व्यर्थम् । * नोपादेयमेव
पदान्तरम्? *-इति चेन्न, ‘अर्थापत्तेरवश्यम्भावात्
(^१) ‘तेन साद्दृमेतत्साद्दृश्यस्यानेन साद्दृ तत्साद्दृश्य-
व्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वात् ‘अन्यथावैधर्म्यप्रत्य-
योत्पत्तिविषयं प्रमाणं प्रमाणान्तरमापद्येत तस्मादयं
ह्रस्व इति प्रतीतेरस्मात्स दीर्घ इति वा अन्यथा
कतमा प्रमा स्यादर्थापत्तिं प्रमाणान्तरमनिच्छतापि
इयमर्थापत्तिरनुमानेवान्तर्भाष्या पृथक्प्रमाणीक-
र्त्तव्या वा ॥

टी० ॥ “स चायं चे”ति । यद्यपि तत्र तत्तेदन्ताविशि-
ष्टस्य धर्मिक एकत्वमिति भवति विशेष्यमन्निकर्षोत्साद्दृशं प्रत्यक्षं
प्रकृते विशेष्यभेदात् साद्दृशप्रत्यक्षमभवस्तथापि विशेष्यसन्नि-
कर्षेनात्रं प्रत्यक्षे तन्त्रं नतु यावद्विशेष्यमन्निकर्षोपि अन्यथा भ्रान्त-
विपरीतप्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति भावः इन्द्रियदृश्यापारं विना

यदमकिकुटे सादृश्यज्ञानं तदुपमानमिति शङ्कते-।^६“इन्द्रिये”-
ति ॥ “विशेषणमेवे”ति । प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वे सत्यप्रतीयमानं
स्य प्रतीयमानेन सादृश्यप्रतिरूपमिति रित्यत्र विशेषणमात्र-
स्यैव लक्षणत्वमुचितमित्यर्थः ॥^७“अर्थापत्तेरिति । अर्थापत्त्यैव
प्रकृतफलनिद्वेः किमुपमानेनेत्यर्थः तामेव दर्शयति-। “तेने”ति ।
अन्यथा तद्विधनायमिति प्रतीयमानन्तरमेव तद्विधनां स इत्यपि
प्रमाद्यान्तरफलं स्यादित्याह-।^८“अन्यथे”ति ।

सू० “एतेनाप्रतीतगवयगवान्तर^(१)सादृश्यस्य^(२)दृष्टान्ता-
भावेनानुमानासम्भवात् गवयेनानेन सदृशी सा गौ-
रिति मितिरूपमिति रित्यपि व्युदस्तस्^३तयैतत् सादृ-
श्यास्यैतेन तत्सादृश्यं विनानुपपत्त्यैव सिद्धेः ‘अनव-
गतसङ्गतिसञ्ज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य सच्चिन्मनु-
साधनमुपमानमित्यपि न^(३)प्रस्मृतसङ्गतेरेवम्भूतो-
यमित्यव्यापनात् * अस्मृतसङ्गतीत्यभिधेय^(४)सू?*-
इति चेन्न, ‘अनुभूतस्मृतकालान्तरप्रस्मृतसङ्गतेरेव्या-
पनात् * अस्मर्यमाणा ? *-इति चेन्न, कदाचिदस्म-
र्यमाणायाः^(५)स्तत्रापि सम्भवात् सर्वदा अस्मर्य-
माणायाः क्वचिदप्यसम्भवात्* उपमिति प्राक्काले?*-
इति चेत्, स्यादप्येतद्व्युपमितिर्लक्षिता स्यात् तद-
र्थमेव तु^(६)क्रन्दनमिदं भवतः किञ्च ‘सर्वैरनवगतसङ्ग-
तित्वस्य प्रकृतेऽप्यसिद्धेः केनाप्यनवगतसङ्गतित्वस्य
वाक्यजेपि सम्भवात् उपमात्रेति च ‘पूर्ववन्निरस्तं
यस्याः प्रमितेयेन प्रमात्रेति चाभिधानेनुगतरूपाभा-

(१) सामान्यस्येति पुस्तकान्तरपाठः । (२) अदृष्टान्ता-
नुमानासम्भवादिति तु पुस्तकान्तरपाठः । (३) विस्मृत्येत्यर्थः ।

(४) अनवगतस्थानेऽस्मृतसङ्गतीत्यभिधेयमित्यर्थः, तथा च तत्रा-
नवगतत्वाभावेऽप्यस्मृतत्वमस्त्येवाती न दोषः । (५) कदाचिदस्म-
र्यमाणायाः, अर्थात् कदाचिदस्मर्यमाणाया इत्यर्थः । (६) आक्रोशः ।

वाद्बस्ती पतनेन लक्ष्मणाननुगत्यापत्तेः ॥

टी० ॥ मनुयेन गवान्तरगवयान्तरमादृश्यं न प्रतीतमस्ति तस्य सा गौरेनत्नदृशी गोत्वादिदृश्यनुमानं न सम्भवति दृष्टान्ताभावात्ततः सैवोपमिति रित्यपि निरस्तमर्थापत्तित एव तत्फलमिद्वै रित्याह— “एते ने”ति । अतिदेश्यमाह— “तये”ति । आचार्यलक्षण दूषयति— “अनवगते”ति । अनवगता सकृत्तिर्यस्याः सञ्ज्ञायाः सा तथा तत्समभिव्याहृत यद्वाक्यं गोसदृशो गवय इति रूपं तदर्थस्य भ्रष्टज्ञानं गवये प्रत्यक्षे यदनुसन्धानमयमसौ गवयपदवाक्य इति सैवोपमितिः प्रत्यक्षाद्यभाष्यत्वादित्यर्थः ॥ “प्रस्मृते”ति । तत्रानवगन्तत्वाभावादित्यर्थः ॥ “अननुमते”ति । तत्रास्मृतत्वाभावादित्यर्थः ॥ दोषान्तरमाह— “सर्वैरिति” ॥ “पूर्ववदिति । उपमिति निरूप्यत्वात्स्येत्यर्थः ॥

सू० “सञ्ज्ञेत्यपि व्याकुलं गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति द्रक्ष्यते इति श्रुतवाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गतेः गवयपदविदितसङ्गतेश्च सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलाया^(१) मीदृशप्रतिपत्तौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात्^(२) विनापि वा^(३) प्रायः शब्दसभिहितस्य^(४) तस्यानुसन्धाने प्रसङ्गः तत्र काननसञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धावधारणे^(५) अन्यत्रेव पदान्तरसम्बन्धोत्थाया अन्यथानुपपत्तेः प्रमाणात्त्वान्न तूपमानस्य^(६) उपमेयसञ्ज्ञासमभिव्याहृतेति विशेषणे च^(७) पूर्व एव निरासः वाक्यार्थेत्यपि तादृशेव^(८) प्रतिपत्तिकालास्मृतातिदेशवाक्यगतकाननादिपदार्थस्य तथाविधप्रत्ययाध्यापनात् ॥

- (१) इदं, काननं, गवयाधारत्वादित्यनुमित्यात्मकप्रतिपत्तावित्यर्थः ।
 (२) प्रायः पदस्य व्याप्तिमूचकनवाहुमितिर्भवते इति ज्ञेयम्— (३) काननसञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धस्य प्रसिद्धगवयपदवाङ्निध्यानुपस्थाऽनुसन्धानइत्यर्थः ।
 (४) गोसदृशो गवय इत्यन्वयेत्यर्थः ।

टी० ॥ प्रकारान्तरेणातिव्याप्तिमाह—। “सङ्घेत्यपी”ति । प्रायः पदं बाहुल्यवाचि उवाप्तिपरतां वाक्यस्य व्यनक्ति तथा-
चेदं काननं गवयाधारत्वादित्यनुमिती लक्षणमिदं गतमित्यर्थः ।
यत्रापि प्रायः पदं नास्ति तत्रापि यथेह प्रसिद्धकमलोदरे मधूनि
मधुकरः पिबतीति प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यान्नमधुकरसङ्घा-
सञ्चित्तसंबन्धपरिच्छेदेवत्काननसङ्घापरिच्छेदे गतत्वात्तिठया-
प्तिरित्याह—। ^b“विनापी”ति । त्वयाप्युपमानादस्य श्रेया-
ङ्गीकारादित्यर्थः ॥ “अन्यत्रेवे”ति । गोसदृशो गवय इत्यत्र
यथा सङ्घतिग्रहेस्तथात्रापि प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या
सङ्घतिग्रहेतिठयाप्तिरित्यर्थः । ननूपमेयसङ्घाया अनवगतसङ्घ-
तित्वं विवक्षितं प्रकृते च काननसङ्घाया अनवगतसङ्घतित्वं का-
ननं च नोपमेयमित्यत आह—। ^d“उपमेये”ति ॥ “पूर्वं एवे”ति ।
उपमेयत्वस्योपमितिगर्भतयाद्यापि तदतिरुक्तेरित्यर्थः ॥ ^f“तादृ-
गेवे”ति । आकुलमेवेत्यर्थः ॥ तदेवाह—। ^g“प्रतिपत्ती”ति । गव-
याठयुत्पन्नं प्रति काननान्तर्भावेन प्रवृत्तमतिदेशवाक्यं कानन-
पदबहिर्भावेन स्मर्यमाणं यत्र गवयसङ्घाप्रतिपत्तिफलकं तत्रा-
ठयाप्तिः समग्रवाक्यार्थानुसन्धानाभावादित्यर्थः ।

सू० “वाक्यार्थकदेशस्यापि^(१) वाक्यार्थत्वेन विवक्षितत्वे
सदृशो गवय इत्यादिस्मारिणोपि प्रत्यये प्रसङ्गात्
^b*प्रतीत्युत्पत्तिं प्रति प्रयोजकीभूतं यावत्तावद्वाक्यं
विवक्षितम् ? *—इति चेन्न, ‘अन्तर्भावितवनाधिकरण-
तादृशप्रतीतिं प्रति तस्यापि प्रयोजकत्वात्^(२)’ ‘उप-
मिति^(३)प्रतीति तु पूर्वन्निरस्तमिति * यावत्सङ्घा-
सञ्चित्तिसंबन्धबुद्ध्यौपयिकं तावद्विवक्षितम् ? *—इति
चेन्न, ^f‘लक्षणसहचरितसङ्घोपदेशार्थानुसन्धानेपि
प्रसङ्गात् ॥

(१) वाक्यत्वेनेति पाठः पुरतकान्तरे लभ्यते—

(२) तदननुसन्धानस्यलोपमितावश्याप्तिरिति शेषः ।

(३) यावत्प्रयोजकविवक्षितं वनपदन्तर्बन्धकमेवेत्याशयः ।

टी० ॥ वाक्यैकदेशानुसन्धानस्वादि यद्युपमानत्वं तदा गोपदमस्युत्था सदृशो गवय इति मात्रं यत्रानुसन्धत्ते तत्राति-
ठयाप्तं करणलक्षणमित्याह—। “वाक्ये”ति । सदृशो गवय इति
मात्रानुसन्धानं न प्रतीतिहेतुरिति नातिठयाप्तिरिति शङ्कते—।
“प्रती”ति । तर्हि काननान्तर्भावेनापि यदतिदेशवाक्यं तत्रापि
काननाधिकरणगवयस्य गवयपदवाक्यत्वबुद्धौ काननपदनपि प्र-
योजकमेवेति तदननुसन्धानरूपलोपनितावठयाप्तिरेवेति परि-
हरति—। “अन्तर्भावेति”ति । ननु तथाप्युपनिधिं प्रति गोव-
दृशो गवय इत्येव प्रयोजकं काननपदं त्वधिकमेवेति न प्रयो-
जकमित्यत आह—। “उपनिधिं प्रती”ति । उपनिधिरेव स-
ञ्ज्ञासञ्ज्ञानसम्बन्धबुद्धित्वेनाभिधेयेति नोत्पन्नाश्रय इति शङ्कते—।
“यावदि”ति । गन्धवती पृथिवीतिवाक्यात् सञ्ज्ञानसञ्ज्ञानसम्बन्ध-
परिच्छेदानन्तरं यत्र पुनः प्रत्यक्षेण तदर्थानुसन्धानं तत्राति-
ठयाप्तिरिति परिहरति—। “लक्षणे”ति । उपदेशः कथनं ।

मू० “किंच यदा तर्कानुसन्धानविरहिणः सत्यप्येवंविधा-
नुसन्धाने सादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति
मितिः फलमुत्पद्यते तदा तस्याप्रमाकरणास्याप्युप-
मानत्वं चापद्यते प्रमाफलकमिति विशेषणप्रक्षेपे चा-
नुसंहितरूपव्यवहार्यतानुमित्युत्पादेनाप्येतादृशानुस-
न्धानमुपमानं स्यात् * अठयाप्त^(१)विषयप्रमाफल-
कमिति विशेषणीयम् ? *—इति चेन्न, ‘वस्तुगत्या
(२)ऽठयाप्तत्वस्योपमेयेप्यभावात्’ ‘ठयाप्ततयानवग-
म्यमानस्येति च कृते यत् प्रति तस्मिन्नेन सह ठया-
प्तत्वावगतमुपमितिकरणमपि न ठयाप्नुयात्’दुपमे-

(१) पृथिवीत्वस्य पृथिवीव्यवहारव्याप्तत्वात्सञ्ज्ञानमनुमानं भवति
अठयाप्तविषयकं वत्प्रमाविषयकमिति विशेषणे तु न तत्रातिठयाप्तिरि-
त्यभिप्रायेणाह—अठयाप्तेति । (२) गोवदृशो गवय इतिवाक्यानुसन्धा-
नस्योपमेयवत्पदवयोपि विषयस्तथापि केनचित्पदार्थत्वादिना ठयाप्त-
त्वात्सञ्ज्ञानमात्रमुपमानं न स्यादतोऽसम्भव इत्याह—वस्तुगत्या इति ।

येन सह व्याप्तत्वानवगतत्वेोक्तावध्यनुमाने प्रसङ्ग-
ज्ञादवस्थः ॥

टी० ॥ व्युत्पत्तिग्रहाय गोसादृश्यं सस्यदहत्वेन गुरु गवयत्वं
तु जातिरूपतया लघु गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति तर्कोपगृहीत-
गवयसादृश्यानुमन्यानस्य गवयत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन गवयपदवा-
च्योपनिमित्तप्रमाकरणस्य तावदुपमानत्वमपेक्षितं तत्र तर्कानुसन्धा-
नविरहिणो यत्र सादृश्यस्यैव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तताज्ञानं तत्र
तत्करणफलयोरुपमानत्वोपनितित्वातिव्याप्तिरित्याह— “किञ्च”
ति । इयमप्रमेति प्रमाफलत्वेन करणं विशेषमित्याह—^६ “प्रमे”ति ।
लक्षणवाक्यानुमन्यानानन्तरनियं पृथिवीति व्यवहर्तव्या पृथि-
वीत्वात् यत्कैवं तत्कैवमिति व्यवहर्तव्यत्वानुमित्त्योपयिकेऽति-
प्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ “वस्तुगतये”ति । उपमेयमपि केनचिद्दृष्टाप्त-
मित्यसम्भवलक्षणं भवेदित्यर्थः ॥^७ “ठयाप्तये”ति । उपनिति-
करणस्य स्वठयापकेन सह कश्चिदनुमन्याने यत्रोपनितिस्तत्राठया-
प्तिरित्यर्थः ॥ “उपमेयेन सह”ति । व्यवहार्यतानुमानेऽप्युपमे-
येन सह ठयाप्यत्वानवगतिरेवेति तत्रातिठयाप्तिरेवेत्यर्थः ॥

मू० *अनुमेयेन सहेति कृते च तदनपायादव्याप्तिस्तदव-
स्थैव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणम् ?*—इति
चेन्न, ^८तथात्वासिद्धेः अर्थापत्त्यादितस्मात्सिद्धेर्वक्ष्य-
माणत्वात् अननुमितिजनकं *तादृकप्रतिसन्धान-
मुपमानम् ?*—इति चेन्न, ^९तज्जातीयस्यानुमिति-
जनकत्वात् व्यक्त्यपेक्षया चाजनकत्वस्य^(१)सामा-
न्याकारपर्यवसायिनो नित्यं व्यक्तावसम्भवितथा-
ननुगमेन चायुक्तत्वादिति किञ्च गोसादृश्यं विहाय

(१) व्यक्त्यपेक्षया चाऽजनकत्वस्याऽयुक्तत्वादित्यवयवः, तत्र हेतु-
द्वयमाह—सामान्याकारेत्यादिना, ‘सामान्याकारपर्यवसायिनः’—इत्यतो-
ऽग्रे ‘जन्यजनकभावस्य वतः’—इति शेषः पुराणीयः । ‘व्यक्त्यपेक्षया चाज-
नकत्वस्ये’ति स्थाने क्वचित् ‘व्यक्त्यपेक्षया च जनकत्वस्य’—इत्यपि पाठः ।

गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यं तर्कम-
पास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानि-
क्येव तत्र गवयपदवाच्यताप्रमितिरीयं नेष्यते स-
म्भवति हि प्रयोगः ॥

टी० ॥ अनुमेयठयाप्त्यविषयत्वं यदि विवक्षितं तदा
स्वठयापकेनानुमेयेन सहोपनिमित्तकरणस्य कदाचिद्दुष्प्राप्त्यग्रहे-
प्युपनिमित्तदर्शनादठयाप्तिरित्याह— “अनुमेयेने”ति ॥ “तथा-
त्वे”ति । मञ्जुसञ्ज्ञानसम्बन्धपरिच्छेदकरणमर्थापत्तिरनुमानं वा
नतूपमानमधिकं प्रमाणमित्यर्थः ॥ “तादृगि”ति । अनधिगत-
सङ्गतिमञ्जुसमन्विठयाह्वनवाक्यार्थस्य सञ्ज्ञान्यनुमन्धानमित्यर्थः
तथाच न व्यग्रहार्थतानुमित्तकरणेतिठयाप्तिरित्यर्थः ॥ कदा-
चित्तेनाप्यनुमित्तजनने तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वादसम्भव
इत्याह— “तज्जातीयस्ये”ति । या कश्चिदप्युक्तिस्तादृशी ना-
नुमित्तं जनयति सैवोपमानमिति न युक्तं सामान्यपुरस्कारेण
युहीतस्य अन्यजनकभावस्य उपक्ताभावस्यकत्वेनासम्भवादननु-
गमाद्वेत्याह— “ठयक्ती”ति । कल्पनालाघवत्कर्त्तुं य उपमाने
कल्पनीयप्रमाणभावे सहकारीष्यते न क्लृप्तप्रमाणभावस्यानुमान-
स्यैव किं नेष्यते इत्याह— “किंचे”ति ॥

मू० “विमतिपदं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तथाचैव तर्क-
णाविषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात् न यदेवं न तदेवं
यथा गोत्वं^(१) तथा चेदं ततस्तथेति न ह्यस्ति सम्भवा
मूलशैथिल्यादिदोषविरहिततर्कनिवेदितविपर्यय-
श्चार्थो नच तथेति अथवा गवयपदसम्भवत्प्रवृत्ति-
निमित्तान्तरमनुपपद्यमानामोक्तगोसदृशसामानाधि-
करण्यमर्थाद्भवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाप्तिपतीत्य-

(१) यथागोत्वमिति, गोत्वस्य गवयाऽवृत्तित्वात्कथञ्चिद्गोत्व-
त्वकल्पनायां कल्पनागौरवेण विषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात् तद्गवय-
पदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । तथाचैदमिति, इदं गवयत्वं तथा—प्रवृत्ति-
निमित्तत्वे तर्कणाऽविषयीक्रियमाणविपर्ययकमित्यर्थः ।

व्यापत्तिरेवात्र प्रमाणात्स्तु वा च त्वया व्यतिरेकी-
कृत्य प्रदेष्टुं पृथगेवावश्यं प्रमाणात्तीति ।

टी० ॥ तत्रोपकार्यं अनुतावताह-। “विनतिपदमिति ।
गद्यव्यतिरेकस्यार्थः । तथात्वे प्रवृत्तिनिमित्तत्वे तर्केण गौरवेष्वावि-
षयीक्रियमाणो विपर्ययोऽप्रवृत्तिनिमित्तत्वं यस्य तत्तथा सादृ-
शत्वादित्यर्थः गद्यव्यत्यस्याख्यवृत्तया तस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वे
सादृश्यस्य न प्रवृत्तिनिमित्तत्वं कल्पनागौरवतर्केण प्रतिवृत्तत्वा-
दिति भावः ॥ ^b “नही”ति । यद्यपि गौरवादितर्के त्रिशिष्टवा-
प्युपग्रहे नास्ति येन विपर्ययपर्यवसानं भवेत्तथापि लाघव-
मेवाख्य विपर्यय इति भावः वस्तुतो गद्यवदं सप्रवृत्तिनिमित्तं
पदत्वादिति सामान्यतो दृष्टमेव सादृश्यप्रवृत्तिनिमित्तताबाधक-
सहकृतं प्रकथनं तावलाद्गद्यव्यत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वं विषयीक-
रोति यथा पृथिव्यादिवृत्तित्वात्प्रकथनसहकृतस्येच्छाकवन्निदा-
श्रिता गुणत्वादित्यनुमानस्यैवाद्दृष्टवान्यदृष्टवृत्तित्वपरिच्छेद-
कत्वमिति भावः ॥

मू० (१) शब्देऽपि (२) क उच्यते (३) आप्तवाक्यं हि शब्दः
प्रमाणात्तिति न युक्तं विकल्पानुपपत्तेः तथाहि को-
यमाप्ते नाम * यथादृष्टवादी ? * इति चेन्न, “आ-
न्तिप्रतिपन्नवादिवाक्येषु प्रसङ्गात् ^b प्रमाणादृष्टेति
विशेषणे च तथाभूतस्यान्यथावाद्दृष्ट्यापनात् ‘यथा-
प्रमाणेति करणे चांशे तथाभूतवादिवाक्यस्यायथा-
र्थस्यापि व्यापनात् ^d यावद्यथा प्रमाणादृष्टनिवृत्तौ
च प्रायेणातथाभूतत्वादेव लक्षणां तदव्याप्तेः
तर्हि यावत् प्रमितं तावदभिधीयते ‘यथाप्रमित-

(१) { पाराकृत्य प्रमाणानि प्रत्यक्षादीन्वयतः परम् । }
{ आगमस्याप्रमाणात्प्रमाणात्तदर्थे तर्कवृत्तित्त्वं ॥ }

(२) आगमं दुषयितुं पृच्छति-क इति ॥ (३) क्रियमाणं
शब्दः प्रमाणात्तु निर्देशस्य वाक्यमाहोक्तिव्यत्यर्थवाक्यमिति विकल्प-
प्रथमं निराकरोति-आप्तवाक्यमिति-

स्वैव वस्तुर्वाक्यमिति व्याकारे च (१) बुद्धिहिरवा-
क्यस्याप्यनेवम्भतत्वेनाट्याप्तयापत्तेः तत्र विषये इति
विशेषरूपस्य विषयस्यासाधारण्येनाट्यापकत्वापा-
तात्* अथ निर्दोषस्य वाक्यं तथा * इति चेन्न, (२)
'सदोषस्य नास्ति चट इत्यभिधित्सतोस्ति चट इति
द्वैवान्निर्गतयथार्थवाक्याट्यापत्तेः ^h*तत्प्रमाणं तु न भ-
वत्येष ? *-इति चेन्न,

टी० "आन्ते"ति । आन्तेरपि बुद्धित्वात्तया प्रतिपन्नं
यो वदति तद्वाक्ये इत्यर्थः ॥ ^b"प्रमाणे"ति । प्रमाणदृष्टरजतस्य
आन्तेन शुक्त्यात्मनया यदभिधानं तदपि प्रमाणं स्यादित्यर्थः ॥
'यथे'ति । इमेरङ्गरजते इति वाक्यस्य रजतांशे तथा प्रमाणदृ-
ष्टाभिधाने रङ्गांशे अयथार्थस्य प्रमाणत्वं स्यादित्यर्थः ॥ यावद्य-
थाप्रमाणेन दृष्टं तावतस्ताद्रूप्येणाभिधानमित्यथयापकं नहि
तार्पणत्वादिदशेनाद्बुद्धिर्महानसेस्तीति नाभिधीयत इत्याह-।
^d"यावदि"ति ॥ ^e"यथाप्रमितस्यैवे"ति । आन्तेः पुरुषधर्मत्वा-
दिनि भावः ॥ ^f"निर्दोषस्ये"ति । अमप्रमादविप्रलिप्ताकरणा-
पाटवरहितस्येत्यर्थः ॥ आन्तप्रतारकवाक्याठयापकत्वमाह-।
^g"सदोषस्ये"ति । द्वैवादिति निर्देशेन करणापाटवं विवक्षितं ॥
^h"तदि"ति । प्रमाया गुणजन्यतया दोषवत्प्रणीतवाक्यस्य प्रमां
प्रत्यजनकत्वादित्यर्थः ॥

मू० "पूर्वमुक्तौत्तरत्वात् प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमास्यासम्भ-
वात् 'आपाततः सन्देहेऽप्यदोषात् सामान्यतो निर्दो-
षत्वस्य च (३) भीमाग्रजेप्यभावात् विशेषतस्तथात्व-
स्यासाधारण्यपर्यवसायित्वात् * यथार्थवाक्यं शब्द-
प्रमाणमित्यत्र को दोषइति चेत् ? *-(४)पूर्वोक्त-

- (१) अरवत्प्रमा इतो वरो वा कुञ्जरो वेत्याकारकथ-
(२) द्वितीयसपाकरोतिनेति-- (३) बुद्धिहिर इत्यर्थः ।
(४) तृतीयं दूषयति पूर्वोक्तेति--

वाचार्थ्यदूषणानि तावत्प्रथमः यथार्थमिति विशेष-
णस्य व्यवच्छेदकत्वाव्यवच्छेदकत्वयोः पूर्ववद्वीषश्च
द्वितीयः वाक्यत्वानिरुक्तिश्च तृतीयः तथाहि कि-
मिदं वाक्यं नाम * एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो
वाक्यम् ?*—इति चेत्, एकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानां
वाच्यानि दूषणानि तावत्सन्तु^(१) पदपदार्थं तु
चिन्तयामः सुप्तिङन्तं पदमित्येके वर्णं विभक्त्य-
न्ताः पदमित्यन्ये तत्र नाद्यः प्रत्येकं मिलितस्य
वाऽऽव्यापकत्वात् ॥

टी० ॥ “पूर्वमिति । आशानकरणजन्यस्यापि संवादि-
ज्ञानस्य प्रमात्वेन प्रमासंख्येन प्रस्तावेभिधानादित्यर्थः ॥ ^b “आ-
पातत्” इति । प्रवृत्तिसंवादात्प्रागित्यर्थः ॥ “पूर्वाक्ते”ति । यथा
र्थानुभवः प्रमेति लक्षणप्रस्तावोक्तदूषणानि तद्यथा वाक्यार्थयोः
मादृश्यं प्रमेयत्वादिनाप्रमाणशब्देऽप्यस्ति तेन यथार्थज्ञानजनकं
वाक्यमिति वक्तव्यम् तत्र यत्किञ्चित्मादृश्यं भ्रान्तावपीति
तज्जनकवाक्यातिव्याप्तिः प्रकाशमानरूपेणेत्यभिमतं रूपवान्
पट इत्यादी प्रकाशमानरूपवत्त्वादिरूपेण ज्ञानस्य मादृश्याभा-
वादसंभव इत्यर्थः ॥ “द्वितीय” इति । यथार्थपदस्यायथार्थ-
वाक्यार्थव्यवच्छेदकत्वे यस्य वाक्यस्यांशे यथार्थ्यमंशे वाचा-
थार्थ्यं तत्रापि प्रमाणं न स्यादित्यव्याप्तिरव्यवच्छेदकत्वे च
विशेषणवैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ “प्रत्येकमिति । सुबन्तं यदि पदं
तदा तिङन्तं न भवेत् तिङन्तत्वं च सुबन्ताठ्यापकं मिलितं
चासंभवतीत्यर्थः ॥

सू० “पृथक्प्रवृत्तिनिमित्तायां च वाक्यलक्षणाव्यापक-
त्वात् नापि द्वितीयः विभक्त्यर्थस्यानुगतस्याभावात्
विभक्तिरित्यनेन सुप्तिङोः प्राक्दिशो विभक्तिरि-

(१) पदेत्याकारकपदस्य योर्थस्तमित्यर्थः ।

त्यनेन च तसिजादेः पृथक् पृथगेव विभक्तिसञ्ज्ञाविधानात् शब्दसाम्येन लक्षणायोगात् किञ्च वर्णा इति बहुत्वस्य विवक्षितत्वेहमित्यादेरपदत्वप्रसङ्गः अविवक्षितत्वे देवदत्त इत्यन्ताकारस्य पदत्वापातः तस्य विभक्त्यन्तत्वात् * सार्थकस्तथा ? *—इति चेत्, भवतीत्यादौ शबकारादीनां पदत्वप्रसङ्गः शपः सार्थकत्वात् * यत्र विहिता विभक्तिस्ताद् ? *—इति चेन्न, शबकारं परित्यज्य पदत्वप्रसङ्गात् * तन्मध्यपतित्वाच्छबकारोपि गृह्यते ? *—इति चेत्, तर्हि यत्र विभक्तिर्विधीयते तच्च तद्विभक्तिमध्यपतितं च पदमिति वा विवक्षितं यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्तद्विभक्तिमध्यवर्तिसहितं पदमिति वा आद्ये शबकारस्यापि पृथगेवपदत्वप्रसङ्गः लक्षणस्य चाव्यापकत्वात् ॥

टी० ॥ “पृथगि”ति । सुश्रुतत्वतिङन्तत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदानामार्थमेव यदि पदपदं शक्यं तदा पदममुदायो वाक्यमित्यत्रानुगमः स्यादित्यर्थः ॥ ^b“बहुत्वस्ये”ति । अर्था हर्षा वा बहुत्वं यदि विवक्षितं तदाहमित्यादीनामपदत्वं स्यात् वर्णानात्रबहुत्वविवक्षा चेत्तदा ब्रह्मविष्णुशिववाचकानामकाराकारमकाराणां पदत्वं न स्यादित्यर्थः ॥ “शबकारादीनामिति । प्रत्ययत्वेन तस्य सार्थकत्वं स्यादित्यर्थः ॥ ^d“यत्रे”ति । शबकाराच्च न विभक्तिविधानमित्यर्थः ॥ मध्यपतितमात्रस्य पदत्वं मध्यपतितसहितस्य वेति विकल्पार्थः ॥ “पृथगि”ति । तन्मात्रस्य पदत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥

मू० द्वितीये देवदत्त इत्यस्यापदत्वप्रसङ्गः मध्यवर्तिनाऽभावेन मध्यवर्तिसहितविशेषणाभावात् * क्वचित्मध्यवर्तिसहितस्य क्वचित्केवलस्येति यथासम्भवम् ? *—इति चेन्न, एकानुगतरूपानभिधाने लक्षणा-

स्याद्यापकतापत्तेर्दुर्निवारत्वात् किं च "देवदत्त-
स्वित्यपि पदं स्यात् * अथ अपशब्दोऽयं पदत्वे सति
रुत्वादेर्निधानस्यावश्यमावित्वात् ? * -इति चेन्न,
^bयत एवायमपशब्दः अत एव भवतो दोषः प्रसज्यते
अपशब्देऽपि पदलक्षणं गतमिति तस्मात् पाणिनिना-
चार्येण शब्दसिद्धयर्थं पद "सञ्ज्ञेयं रुत्वादिविध्यनु-
रोधेनापशब्ददशायामन्यैव कृता नदीसङ्ज्ञावन्न
लौकिकपदव्यवहारसिद्धयर्थं साधुशब्दविशेषे तत्र च
तत्त्वान्यदेव लक्षणं वाच्यम् अन्यथा^(१)दाक्षीनन्द-
नादीरितनदीसङ्ज्ञाप्रत्यभिज्ञायां पाथः प्रार्थयमानः
(^२)काननस्थलीमलीकाभिमानी भवानीहेत * अथो-
च्यते विभक्त्यन्तमेव "सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं व्या-
वहारिकं पदमिति पदलक्षणमस्तु * मैवं, "सर्वलक्ष-
णवृत्तेः सर्वत्रासम्भवात् * सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्या ?
* -इति चेन्न, सम्भवत्वं तत्काले कालान्तरे वा विव-
क्षितं आद्यो देवदत्तवित्यपि पदं स्यात् रुत्वविधान-
काले विसर्गस्याविहितत्वात् ॥

टी० ॥ "देवदत्तस्वित्यपी"ति । प्रथमान्तमिति शेषः ॥
^b"यत एवे"ति । अलक्ष्ये लक्षणगमनस्य तथा निर्वाहादित्यर्थः ॥
"इयमिति"ति । सुप्तिङन्तं पदनिति सूत्रकृतसंज्ञेत्यर्थः ॥ ^d"सर्व-
लक्षणे"ति । व्याकरणानुशिष्टशब्दालक्षणप्रवृत्त्येत्यर्थः ॥ "स-
र्व"ति । शब्दादीनां श्यनादिस्थलेऽभावादित्यर्थः ॥ ^f"असम्भ-
वादि"ति । दिवादिस्थेन शब्दासम्भवादित्यर्थः देवदत्तवित्ति
प्रथमान्तदेवदत्तशब्दः सकाररुत्वविशिष्टः पदं स्यादित्यर्थः ॥

(१) पाणिन्युदीरितेत्यर्थः ।

(२) काननस्थलीमलीकेति सम्बन्धः ।

मू० देवदत्त इत्यपि पठं न स्यादित्यादिपदपूर्वकालभा-
विनेष(१)त्वपलोपादेरकरणात् * शब्दान्तरवन्निधि-
व्यतिरेकेण यद्भाविलक्षणं तद्विवक्षितम् ? *-इति
चेन्न, "जीविकाकृत्य व्याचष्टे इत्यर्थे जीविकां कृत्वा
व्याचष्टे इति प्रयुज्यमानं वाक्यं स्यात् एकारार्था-
वच्छिन्नपदसमुदायत्वस्य तत्रापि गतत्वात्कृत्वैत्य-
नेन सम्बद्धस्य जीविकामित्यस्योक्तपदलक्षणेन स-
ङ्गहीतत्वात् * ^bयदुपाधिका यल्लक्षणप्रवृत्तिः तदुपा-
धिसम्पत्तौ तेन निष्पन्नं तथा ? *-इति चेन्न, "यत्र
नास्त्युपाधिसम्पत्तिः तत्र केवले तस्यां सत्यामि-
त्यस्याभावात् अपदत्वापत्तेः * "यस्यामवस्थार्या
यस्य लक्षणस्योपनिपातस्तत्सर्वसम्पत्तौ विभक्तयन्तं
पदम् ? *-इति चेन्न, यस्यामवस्थायामित्यवस्थानां
भिन्नभिन्नाकारेण परामर्शे लक्षणस्यानुगमादव्या-
पकतादौषः "अवस्थानामैक्यं व्यविवक्षितम् 'अस-
म्भावितं च ॥

टी० ॥ "जीविकाकृत्ये"ति । जीविकोपनिषदा चीपन्त्ये
(^१) इत्यनेन गतिसञ्ज्ञायां गतिसमासस्य नित्यत्वेन साधुत्वा-
त्तत्पदद्वयात्मकं वाक्यं स्यात् नस्यत्र कर्त्वास्थाने लघुपो भावि-
त्वमित्यर्थः ॥ ननु लक्षणस्य भावित्वं न विवक्षितं किन्तु नि-
ष्पन्नत्वमित्यत आह-। ^b"यदुपाधिकेति । यत्र नोपाधिमत-
तत्र विशेषणभावात् पदत्वं न स्यादित्याह-। "यत्रे"ति ।
यच्छब्दार्थाननुगमनाह-। "यस्यानि"ति । ननु यस्यामित्येकी-
कृत्य सकलावस्थानिधानानाननुगम इत्यत्राह-। "अवस्थाना-

(१) भो भगे अपूर्वस्य योऽपि-लोपरचाकश्यत्येति वृत्त्यां
प्राप्तस्य वत्त्वपलोपादेरित्यर्थः । (२) चीपन्त्येऽर्थे वच्यमाने जीविकोप-
निषदा गतिसञ्ज्ञौ सत इति गतिसञ्ज्ञायां "कुगति प्रादयः" इति वाच-
स्येन नित्यं वचस्यन्ते इति वजाये च जाते वजायेऽनन्पूर्वं कृत्वा स्वप् ।

ति"ति । अविज्ञानितमेकत्र सर्वज्ञानस्थानानसम्प्रवाहः ॥^१ "अस-
म्भावितमि"ति । सङ्कीर्णानेकत्वाद्युक्तत्वादित्यर्थः ॥

सू० "सर्वदा सर्वावस्थाविषये लक्षणप्रसङ्गादिति^२ स च
भवतीति भवत्यस्तीति पटः पटाविति पटं पट इति
चेत्यतिव्याप्तिः "एतेनापीरुषेयं वाक्यं तदित्यपि
निरस्तं^(१) का पुन^(३) रर्थापत्तिरपि " *अन्यथानुप-
पत्तिः ? *—इति चेन्न, "यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरेव तद-
सिद्धेः ॥

टी० ॥ ननु विवक्षायां को दोष इत्यत आह—। "सर्वदे"
ति । ननु कीदृशः प्रसङ्ग इत्यत आह—। "स चे"ति । एकक-
पदत्वं पद्यवस्थिक्यं विवक्षितं तदा भवतीत्याख्यातस्य सम्बोध-
नस्य सम्प्रत्ययस्य च साधारणानि श्रुतिपद्यादिलक्षणानि स्युः
एकार्थत्वं चेत्तदा भवत्यस्तीत्यत्र समानलक्षणत्वप्रसङ्गः समान-
विभक्तिकत्वं चेत्तदा पटः पटावित्यत्र प्रसङ्गः एकप्रातिपदिकत्वं
चेत्तदा पटं पट इत्यत्र प्रसङ्गः^(३) समानलक्षणत्वाभावात्सिद्धितिल-
क्षणविरहाद्दृश्यामिरूपः प्रसङ्ग इत्यर्थः । सीमांसकनते वाक्यलक्षणं
दूषयति—। "एतेने"ति । वाक्यलक्षणदोषेण तद्दृष्टकपदलक्षणदो-
षेण चेत्यर्थः । नच शक्तत्वं पदत्वं शक्तेः पदार्थान्तरस्य सङ्केतस्य
वा त्वत्सगोत्रकलहनिरस्तत्वात् अत एव तसङ्केतबद्धत्वं पदत्वं
नापि शाब्दानुभवानन्यशाब्दानुभवजनकपदार्थापस्थितिजनक-
तावच्छेदकरूपपदत्वं पदत्वं प्रथमं जनकत्वस्य दुर्घटत्वमिति
भावः ॥ "अन्यथे"ति । जीविगृहासत्त्वस्य बहिः सत्त्वन्तरेषानु-
पपत्तिरर्थापत्तिरित्यर्थः ॥ "यत"इति । बहिः सत्त्वादभ्येन प्रका-

(१) { अक्षरव्याख्याप्रमाणात्त्वं शब्दवशात् सत्त्वयुक्तिभिः । }
{ अक्षरत्वं क्रियते सत्यमर्थापत्तेरक्षयितम् ॥ }

(२) अर्थापत्तिरत्र—अर्थस्य आपत्तिर्यस्मादिति विग्रहेण प्रमाणाभि-
प्राह्यं नत्वर्थस्य आपत्तिरिति विगृह्यार्थापत्त्याख्यप्रमाणा प्रमाणाक्षरवदनस्य
प्रस्तुतत्वादिति भावः । (३) सूक्तेऽतिव्याप्तिवद्देन लक्षणव्याप्यत्वात्-
रूपपाठ्यामिरेव प्राह्येत्याह—अव्याप्तिकपः प्रसङ्ग इति ।

रेण जीविवृहासस्त्वमनुपपन्नमिति ज्ञानेऽप्ये प्रथमत एव शक्य-
 दुस्तस्यार्थापत्तेः प्रमाद्यस्य फलासिद्धेरित्यर्थः । अन्यत्वप्रतियोगि-
 गिनो बहिः सत्त्वस्याप्यत एव ज्ञानं वेदिकमर्थापत्तेरिति कलि-
 तीर्थः अज्ञाताया एवार्थापत्तेः करणत्वेर्थापत्याभासानुपप-
 त्तिरिति भावः ॥

मू० *“सिद्धेनानुपपत्तिः?*-इति चेन्न, विशेषणव्यवच्छे-
 द्याप्रतीती तद्वैयर्थ्येन तदनुपादाने सर्वथानुपपत्त्य-
 र्यतायां फलविरोधात् केनाप्यनुपपत्त्यर्थत्वे साध्य-
 सिद्धयपर्यवसानात्*^(१)प्रमाद्योर्विरोधानुपपत्तिः ?
 *-इति चेन्न,

टी० ॥ ननु देवदत्तीयबहिः सत्त्वज्ञानमर्थापत्तिकलं बहिः
 सत्त्वमानान्यप्रतियोगिकान्यथानुपपत्तिश्च करणं सामान्यं च
 सिद्धमेवेति शक्यते-“सिद्धेने”ति । सिद्धनादानुपपत्तिज्ञानं
 करणमित्यर्थः सिद्धे बहिःसत्त्वसामान्येनुपपत्तिर्नास्तोत्यर्थे सिद्धे-
 नेत्यसिद्धदेवदत्तीयबहिःसत्त्वव्यवच्छेदार्थं विशेषणं तद्यदि व्यव-
 च्छेद्यं प्रसिद्धं तदा पूर्वदोषः अथ न प्रसिद्धं तदा विशेषणवैय-
 र्थ्यमिति परिहरति-“विशेषणे”ति । नन्वनुपपत्तिमात्रं करणं
 नत्वन्यथानुपपत्त्येन प्रतियोग्यनिरूपणं दोषः स्यादित्यत
 आह-|“तदनुपादाने”इति । यदि जीविवृहासत्त्वस्य सर्वथैवा-
 नुपपत्तिस्तदोपपादककल्पनानवकाश इत्यर्थः ॥ ननु सर्वथानुप-
 पत्तिर्न विवक्षिता किन्तु केनचिद्विनानुपपत्तिस्तथाच नोपपाद-
 ककल्पनानवकाश इत्यत आह-|“केनापी”ति । एवं सति देव-
 दत्तीयबहिःसत्त्वसिद्धिर्न पर्यवस्येत्त न विनानुपपत्तिरज्ञानादित्य-
 र्थः ॥ ननु जीवी कश्चिदस्तीति सामान्यतो द्रष्टव्य गेहनपि
 कश्चिन्नेन विषयीकुर्वती जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीति प्रत्यक्षेण

(१) प्रयोग्यं विवक्षयोर्गृहासत्त्वसत्त्वयोः प्रमाद्योर्वदवच्छेदात्
 नवच्छिन्नयोर्नास्ति विरोधो भिन्नविषयत्वात्तदवच्छिन्नयोरनवच्छिन्नयोर्दोष-
 यश्चित् विरोधश्च सामान्यविषयत्वादिति प्रतिनियमेनाविरोधव्यवस्थापनं
 तदर्थोपत्तिरिति पूर्वपक्षयोभिप्रायः ।

विरोधज्ञानाद्बहिः सत्यकल्पनार्थावत्तिलभिति शङ्कते-
“प्रमाणयोरिति ॥

म० “(१) असिद्धत्वात् * प्रमाणात्वे(२) नाभिमन्यमानयोः ?
*-इति चेन्न, अभिमतेर्भ्रमाथंत्वेति प्रसङ्गात् ज्ञानार्थ-
त्वे(३) प्युक्तदोषानिवृत्तिरेव अनिर्णीयमानप्रमा-
णाप्रामाण्ययोरित्यत्रापि तथैव तथाहि सत्प्रतिक्षेपि
तस्य तदुपपादकप्रमाफलकत्वापत्तेः* “तत्र विरोधे
व्याहृत्यैकाप्रामाण्यनिश्चयो यत्र तु नैवं तद्विवक्षि-
तम्?*-इति चेन्न, एवं ‘सत्प्रतिपक्षवदन्यत्रापि विरो-
धार्थत्वे(४) नैवाभासत्वाविशेषात्* तर्कयोर्विरोधोपे-
क्षित * इति चेन्न,

टी० ॥ परिहरति । “असिद्धत्वादि”ति । वस्तुगत्या प्रमा-
णयो(५) विरोध एव नास्ति किं कारण भवेदित्यर्थः । उक्तदोषो-
ति प्रसङ्ग एव ॥ “तथैवे”ति । अनिप्रसङ्ग एवेत्यर्थः उक्तमतिप्रसङ्गं
स्कटयति-“तथाही”ति । सत्प्रतिपक्षस्थलेपि प्रमाणात्वाभिमत-
तयोरविरोधाय किञ्चित्कल्प्यं स्यात् न तथोपेयत इत्यर्थः ॥ नन्वे-
कधर्मिकविरुद्धार्थोपस्थापकयोः सत् प्रतिपक्षयोरन्यत्रादप्रमाण-
मिति यथा निश्चयो न तथाऽर्थापत्तौ तत्र विषयसङ्कोचेन सामा-
न्यतो दृष्टस्यापि प्रामाण्यमस्मत्प्रमाणं ठयाघात इति शङ्कते-
“तत्रे”ति । विरोधे इति सति सप्तमी व्याहृतिरेकधर्मिकविरु-

(१) असिद्धत्वादित्यतः प्राग्वस्तुगत्या प्रमाणयोर्विरोधश्चेत्यपि
पूरणीयम्-अयम्भावः । न हि वस्तुगत्यास्ति प्रमाणाद्योर्गृहाणत्वसत्त्वयोः
कविचिद्विरोधो येन विषयप्रतिनिमतोऽविरोधः प्रमाध्येन न हि विरुद्धयो-
रविरोधसम्भवति विरुद्धे चेत्स्यातां गृहाणत्वसत्त्वेन तयोरविध उप-
पन्नो भवेन्नहि विरुद्धयोर्घट तद्भावविषयकयोर्बोधयोरविरोधसम्पत्तौ
तस्मात् विरुद्धे गृहाणत्वसत्त्वे इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति नाविरोधा-
पादनमर्थापत्तिः । (२) विरोधिप्रमाणात्वेनेत्यर्थः । (३) ज्ञानं
चात्र यथार्थं ग्राह्यम् । (४) “विरुद्धार्थत्वेन”-इत्यपि क्वचित्पाठः ।
(५) एकविषयप्रमाणायोरित्यर्थः ।

द्वार्योपस्थापकता तथाभासत्वमित्यर्थः यथा तत्राभासत्वादेव न विरोधस्तत्कारणान्तरं तथार्योपस्थापि कल्पनान्तरमन-
वकाशमेवेति परिहरन्ति-“सत्प्रतिपक्षवद्”ति ॥ ननु यद्येक-
विषयप्रमाणयोर्न विरोधस्तदा तर्कयोरेव विरोधः करणं स्या-
दित्याह-। “तर्कयोरिति । ज्योतिःशास्त्राच्चिरजीवित्वे
गृहीते जीविदेवदत्तो यदि क्वचिन्न स्यात्तर्हि जीवी न स्यात्
यदि जीवी देवदत्तो बहिर्न स्यात्तदा गेहनिष्ठात्यन्ताभावप्रति-
योगीनस्यादित्यनयोः क्वचित्त्वेन गृहसत्त्वविषयकगृहासत्त्ववि-
षयकयोर्विरोधः करणमित्यर्थः ॥

मू० “मिथोविरोधे तर्कयोरप्याभासत्वात् * विशेषप्रवृ-
त्ताप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयोऽविशेषप्रवृत्तात्-
द्विपरीतार्थप्रमाणस्य स^(१)? *-इति चेन्न, विशेषवि-
षयप्रमाणबोधितवैपरीत्ये सति तद्विरुद्धार्थांशे संश-
यस्य दुर्बलस्यानवकाशत्वेनाविशेषप्रवृत्ताप्रमाणवि-
षयतां तदीयां^(२) गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेव * “अ-
विशेषप्रवृत्तप्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्र-
माणदर्शनं तद्विपरिविशेषविषयप्रमाफलकं तथा ?
*-इति चेन्न,

टी० ॥ “मिथ”इति । यथा प्रमाणयोर्न विरोधस्तथा तर्क-
योरपि प्रकृते मिथोविरोधेन द्वयोस्तर्काभासत्वादित्यर्थः । “^(३)
विशेषे”ति । गेहे नास्तीति प्रत्यक्षानन्तरं जीवी क्वचिदस्तीति
पूर्वप्रवृत्तसामान्यतोद्गृहस्य प्रमाणस्य गृहसत्त्वमपि विषयो न वेति
संशय एव विरोधोऽभिमतः सच बहिरस्तीति प्रमाफलक इति
शङ्कार्थः विशेषप्रवृत्तं प्रमाणं गेहासत्त्वग्राहि प्रत्यक्षं तदर्थो गेहा-
सत्त्वं तत्प्रतिक्षेपोऽगृहसत्त्वं तद्विषयसंशयस्व विरोधः कस्ये^(४)त्य-

(१) स=विरोधइत्यर्थः । (२) तदीयासु=विरुद्धार्थांशीयासु ।
(३) पुनरपि प्रमापक्षमवच्छेद्यशङ्कते-विशेषेतीति- (४) कस्येति, किं
निष्ठतया विषयत्वसंशय इत्यपेक्षायामित्यर्थः । यद्वा, किं प्रतियोगिकः
च विरोध इत्यर्थः ।

पेक्षायामविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थग्राहिप्रमाणस्येति योजना ॥
 "विशेषे"ति । गृहेनास्तीति विशेषदर्शनानन्तरं सामान्यतो
 दृष्टस्य गृहमत्त्वविषयसंशय एव नावतरति दूरे तेन बहिः
 मत्त्वप्रमाणमनमिति परिहारार्थं । गृहे मत्त्वग्राहणः सामान्य
 तोदृष्टस्य विपरीतार्थोपस्थापकं गृहामत्त्वग्राहिप्रत्यक्षमिति,
 ज्ञानमेव देवदत्तीयबहिः सत्त्वप्रमाफलमिति शङ्कते-। "अवि-
 शेषप्रवृत्ते"ति ।

सू० "अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थ विशेष-
 विषयस्य च प्रमाणस्य विषययोस्तद्विपरीतत्वविशे-
 षणप्रतीत्यङ्गीकारलब्धायां परस्परविरुद्धत्वप्रतीतौ
 धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यामस्य भेदस्य विरोधविवेचन-
 स्फुटतद्गर्भप्रवेशतया तत्सहज्ञेयस्य तन्नान्तरीयकस्य
 वान्यत्रैवान्यत एव प्राप्तेः ॥

टी० ॥ प्रमाणयोर्विपरीतार्थत्वज्ञानं तदुभयत्रिययगत्वा-
 मत्त्वविरोधगर्भं विरोधप्रच मत्त्व मत्त्वग्रीरेकधर्म्यमसावेग इति
 विरोधमहज्ञेय एव धर्मभेदः सत्त्वामत्त्वं भिन्नधर्मिकं विरुद्ध-
 त्वादित्यनुमानमाद्यो वेगिमाद्योपत्तेरकक्राण इति परिहरति-।
 "अविशेषे"ति । यद्यपि सत्त्वामत्त्वयोधर्मभेदमात्रमिद्विरेवं
 स्यात्तु मत्त्वस्य बहिर्धर्मिकत्वमिद्विरपि तथाप्यमत्त्वस्य गृह-
 धर्मिकत्वे प्रतीयमाणे धर्मभेदकल्पना सत्त्वस्य बहिर्धर्मिकत्व-
 पर्यवसन्नैवेति भावः । विरोधविवेचनमेकधर्म्यमसावेशान्तिम-
 न्यानं तद्गर्भप्रवेशो धर्मभेदस्य तत्प्रतिमन्यानविषयत्वं तन्ना-
 रीयकत्वं विरुद्धत्वस्य भिन्नधर्मिकत्वव्यप्यत्व विरुद्धधर्माध्याम-
 स्यैव भेदत्वे मत्त्वमहज्ञेयत्वं भेदहेतुत्वे तु तन्नान्तरीयकत्वमुक्त
 मयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माद्यप्यसत्त्वमित्याचार्योः ॥

सू० किंच^(१)अविशेषप्रवृत्तस्यैव तस्य किं विशेषविषय-

(१) जीवति देवदत्त इत्यविशेष प्रवृत्ताप्रमःणस्य बहिर्धर्मविशेष-
 उपविशेषविषयत्वं प्रतीयत इति प्रथमत्रिकोपार्थः ।

त्वम् १ (१) अथ सामान्यतः प्रवृत्तास्य नान्तरीयकतया प्रागेव विशेषविषयस्य विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वम्-२ (२) अथ सामान्यस्य तद्विषयस्य विशेषः ३ (३) उत तद्विषयीकृतविशेषगतं किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रतीयते ४ (४) नाद्यः 'अर्थापत्तेर्भ्रमकरणात्वापत्तेः न द्वितीयः तदनुव्यवसायोत्पत्तेस्तद्विषयाप्रतीत्यसंभवात् (५) न तृतीयः 'सामान्यस्यानन्तर्भावितान्तरस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् प्रागेव तत्सिद्धेः ।

टी० ॥ "किं चे"ति । क्वचिदस्तीति सामान्यतो द्रष्टव्य सामान्यगतविषयस्य बहिः सत्त्वविषयत्वज्ञानमर्थोपत्तिफलमिति प्रथमत्रिरूपार्थः । सामान्यविषयत्वेन विशेषविषयतया नियतस्य सामान्यतो द्रष्टव्य विशेषविषयत्वज्ञानमर्थोपत्तिफलमिति द्वितीयविरूपार्थः । सामान्यविषयत्वेनाविशेषाद्विशेषद्वयं (६) विषयस्यापि प्रमाणास्य बहिः सत्त्वमात्रविशेषविषयत्वज्ञानं फलमिति तृतीयविरूपार्थः । प्रथमतो ज्ञायमानस्यैव बहिः सत्त्वादिलक्षणविशेषस्य प्रतीयमानविरोधित्यतिरिक्तत्वादिधर्मज्ञानं फल-

(१) प्रमाणस्य सामान्यतः प्रवृत्तात्वं तदपर्यवसानेनार्थापत्तेः प्रागेव विशेषविषयस्य सतो विशेषविशेषत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वमिदानीं प्रतीयत इति द्वितीयार्थः । (२) जीवनिदेवत्ताइति प्रमाणाविषयस्य सत्त्वमात्रस्य बहिर्देशत्वादिविशेष इदानीं प्रतीयत इति तृतीयार्थः । (३) सामान्यप्रमाणाविषयीकृते विशेषे किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रतीयत इति तुरीयार्थः ।

(४) पूर्वन्तु विकल्पद्वयं प्रमाणाश्रयपरं प्रमेयाश्रयविकल्पक्रमेण निराकरोति-नेति=इति विद्याशागराः । विद्याशागराचार्याणामयमाश्रयः । नाद्य इत्यादिमूलेन न मूलेः सत्त्वप्रथमविकल्पस्य निराधः नापि न द्वितीय इत्यादि मूलेन मौलद्वितीयविकल्पनिराधोऽपि तु नाद्य इत्यादिना मूलेन न द्वितीय इत्यादिना मूलेन च तृतीय चतुर्थयोः । न तृतीयः । नापि चतुर्थः । इत्यादिना द्वितीयप्रथमयोर्निराध इति—

- (५) तथा नुव्यवसायेन तत्सिद्धीनिरर्थार्थापत्तिरिति भावः ।
- (६) विशेषद्वयं तु बहिः सत्त्वं गृह्यत्वं च ।

निति चतुर्थविकल्पार्थः ॥ ^{६६}“अर्थापत्तेरिति । सामान्यमात्रविषयस्य विशेषविषयत्वज्ञानं भ्रम इत्यर्थापत्तेर्भ्रमकरणात्त्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ^{६७}“अनुव्यवसाये”ति । विशेषविषयं सामान्यतोद्दृष्टमनुव्यवसायीयमानं विशेषविषयत्वेनाप्यनुव्यवसायीयत एवेत्यनुव्यवसायीयैव कल्पनिद्रावर्थापत्तेरनुवादकत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ^{६८}“सामान्यस्ये”ति । अस्मिन्मविशेषस्यापि सामान्यविषयप्रमाणादेव सिद्धेऽनुवादकत्वापत्तिरेवार्थापत्तेरित्यर्थः ॥

सू० नापि चतुर्थः “तद्विप्रतीयमानविरोधिष्यतिरिक्तत्वमन्यद्वा स्यात् नान्त्यः ^{६९}तत्प्रतीतौ सामर्थ्यानुपदर्शनेनानियमप्रसङ्गात् न प्रथमः ‘अनुगताननुगतजातिव्यक्तिचाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादितादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमातादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधासिद्ध्यां तद्रमनिकावलस्यैवासिद्धेः ^{७०}‘तदुभयप्रतीतौ च तदवधारणे प्रागेव तत्प्रतीत्यार्थापत्त्यनुवादतापत्तेः ॥

टी० ॥ ^{६६}“तदिति । सामान्यतोद्दृष्टस्य कल्पितकत्वेन गृहबहिः सर्वविषयस्य ^(१) गृहसर्वशेषे प्रतीयमानो विरोधी गृहामरवलक्षणः प्रत्यक्षेण तद्व्यतिरिक्तत्वं बहिः सर्वशेषस्येत्यर्थः ॥ ^{६७}“तत्प्रतीतावि”ति । अन्यत्वेनोक्तधर्मस्य विशेषापरिषयात्तत्र सामर्थ्यानुपदर्शनादित्यर्थः ॥ ^{६८}“अनुगताननुगते”ति । गृहासर्वविरोधि गृहमरवं तदा स्याद्यदि मरवासर्वे विरुद्धे स्यातां तदेव तु नास्ति यतो द्वयोरपि धर्मयोर्भेदस्यार्थापत्तिवादिनो मतेऽधिकरणतादात्म्यन्तया च विरोधासिद्धौ प्रतीयमानविरोधि व्यतिरिक्तत्वमेवानुपपन्न किमर्थोपपत्त्याविषयोक्रियेतेत्यर्थः । विरुद्धतादात्म्यप्रतिपादनायानुगताननुगतेत्यादि प्रमायास्तादात्म्यविषयता प्रमातादात्म्यविषयता तस्या व्युदासं विनेत्यर्थः ननु मरवासर्वयोः प्रमायास्तदुभयाधिकरणतादात्म्यविषयताव्युदासैनास्तु विरोध एवानयोरित्यत आह— ^{७०}“तदुभये”ति । एव

(१) गृहे बहिरेत्युभयत्रापि यत्सर्वं तद्विषयस्येत्यर्थः ।

सति मन्वानस्वयोर्विरोधज्ञानसङ्क्षेप एव धर्मिभेद इति पक्षा-
कन्यायेनार्थपक्षफलस्य पूर्वमेव सिद्धावर्थापत्तेरनुवादकत्वेन
भट्टनते अगृहीतग्राहित्वं प्रामाण्यं न स्यादित्यर्थः ।

सू० “^(१)योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरण^(२)मित्यप्ययु-
क्तम्^(३) प्रमाणाभावस्य तथात्वे, विभ्रमानुदयप्र-
सङ्गात् उपलम्भाभावमात्रस्य तथात्वे शङ्खध्वनिम-
प्रतिसन्धानवतः पीतभ्रमानुदयप्रसङ्गात् * कालभे-
दात्तत्राविरोध?*-इति चेन्न, तथापि संसृष्टयोरन्यो-
न्याभावाग्रहणप्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ महस्य योग्यानुपलब्धिं प्रमाणं खण्डयति-। “यो-
ग्ये”ति । अनुपलब्धिपक्षेऽप्यभावस्तत्रोपलब्धिः प्रमा वा विव-
क्षिता ज्ञानमात्र वा भावो आह-। “भ्रमे”ति । प्रमाया अभावा-
यद्यनुपलब्धिस्तदा शुक्लो रजतत्वाभावप्रमेव स्यान्न तु रजत
भ्रम इत्यर्थः नत्पूर्वं रजतप्रमाया अभावेनानुपलब्धिपक्षेऽपि
त्यर्थः दोषादभावप्रमाप्रतिबन्ध इति न वाच्यं दोषस्य विकल्प-
निरस्तत्वात् अन्त्ये आह-। “उपलम्भे”ति । श्वेतः शङ्ख इति
ज्ञानतः पित्तदूषितनेत्रस्य पीतभ्रम एव सति न स्यात्पीतानुप-
लम्भात् पीतान्नावप्रमाप्रसङ्गादित्यर्थं ननु ध्वनिमप्रतिसन्धान
स्वकाले विरोधितया पीतमज्ञानं प्रतिबध्नातु तदुत्तरक्षणे तु
पीतानुपलम्भमसत्त्वात् न पीताभावप्रमा येन पीतभ्रमानुदय
इति शङ्कते-। “काले”ति । यद्यपि पीतभ्रमात्पूर्वं पीतानुपलम्भ
उपलम्भत्राधिल इति शङ्केयमनुपलम्भा तथाप्यभ्युपेत्य परिह-

(१) { अर्थापत्ति निरस्कृत्य विद्वेषणीं क्रियतेऽधुना ।
योग्योपलम्भविरहः प्रमाणं भट्टवमतम् ॥ }

(२) योग्यत्वे सत्यनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्यर्थः । योग्य-
त्वं चात्र प्रतियोगिसत्त्वप्रसङ्गजनप्रसङ्गितप्रतियोगिकत्वपक्ष-। यद्यपि साग-
रास्तु-योग्यत्व च प्रतियोगिति तत्तदिन्द्रियमन्निर्कर्षातिरिक्तप्रतियोगि-
प्रमापकत्वाद्वा विद्वेषमनस्समाधानादि दृष्टवामग्रीहस्पतिस्तस्यां सत्यां
प्रतियोग्यनुपलम्भस्तदभावप्रमाकुर्वन्नभावप्रमाणमुच्यते इति वदन्ति-

(३) अनुपलम्भ इत्यत्र प्रमाणभूतोपलम्भाभावस्य विविक्षितत्वे-इत्यर्थः ।

रति-। “तथापी”ति । संसृष्टयोरिन्द्रियसन्निकृष्टयोर्घटपटयोर-
न्योन्याभावग्रहो न स्यात्तदुभयोपलम्बेन योग्यानुपलम्बसा-
भावप्रमाकरणस्याभावादित्यर्थः ॥

सू० “तादात्म्यस्य स्वरूपमात्रानतिरेकात् ^bअभावस्फुरणे
च तत्प्रतिभानस्य ध्रौव्यात् “किञ्च योग्यता हि *तत्त-
द्विनाभूतान्यप्रतियोगिप्रमापकसाकल्यमिष्यते ^dत-
था सति यत्र भावोपलम्बस्तत्राप्यभावप्रमा स्यात्
“नहि तत्र हेतुव्यतिरेकेणैव वा ^cसत्येव वा तत्र भाव-
प्रमोत्पद्यते तत्तद्विनाभूतविरहसहितः स तथा?*-
इति चेन्न,

टी० ॥ ननु घटपटतादात्म्यं तत्र प्रतियोगि ननु घटप-
टावेव तच्चानुपलब्धमेवेत्यत आह-। “तादात्म्यस्ये”ति । तदु-
भयतादात्म्यस्यालीकत्वेन तदुभयस्वरूपमेव तादात्म्यं धाक्य-
नित्यर्थः तादात्म्यस्वरूपेण तथाप्यनुपलम्ब एवेत्याशङ्काह-।
^bअभावस्फुरणे”इति । घटपटात्प्रमा न सत्तीत्यत्र तादात्म्यज्ञान-
नस्यापि सम्भवादित्यर्थः यद्वा सर्वत्राभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञान-
ध्रौव्यादनुपलब्धिस्तत्करणं क्वापि नास्तीत्यर्थः ॥ “किं चे”ति ।
स प्रतियोगी तद्विनाभूत इन्द्रियसन्निकृष्टोदिस्तदितरद्यत्प्रति-
योगिप्रमापकं तत्साकल्यमित्यर्थः । ‘तथा सती”ति । घटप्रमा
यत्र तत्रापि तत्पूर्वं घटतद्व्याप्यतद्विषयत्वाद्घटप्रमापकसाकल्यं
घटानुपलब्धिश्चास्तीतिघटाभावप्रमेव स्यादित्यर्थः तदानीं
तत्प्रमापकसाकल्ये हेतुमाह-। “नही”ति । अनुपलब्धिपरवे हेतु-
माह-। “सत्येववे”ति । नहि सतीविद्यमानेव प्रमा जायते येन
घट प्रमोत्पत्तेः प्राक्तप्रागभावरूपाप्यनुपलब्धिर्न स्यादित्य-
र्थः ॥ “तत्तदि”ति । प्रतियोगितद्व्याप्ययोरप्यभावोयोग्यानुप-
लम्बसहकारी प्रकृते च स नास्तीति नाभाव प्रमेति शङ्कार्थः
सोनुपलम्बः ।

सू० “तद्विनाभूतव्यतिरेकस्य तद्व्यतिरेकेणैवान्यथासिद्ध-
सन्निधेरपि हेतुताङ्गीकारे प्रमाणाभावात् ^bअत एवा-

लोकस्याध्यक्षणे आलोकान्तरवृत्ताऽवयवेनावयविना
वा ऽऽलोकेनान्यथा सिद्धसन्निधिरहेतुरित्यालोका-
भावग्रहे सा नापेक्षते अर्थाक्षयोगस्तु नार्थ व्याप्तौ-
शत ऐक्यात् ।

टी० ॥ “तदधिनाभूते”ति । प्रतियोग्यत्वव्यतिरेकगर्भ-
त्वात्तद्व्याप्यात्वव्यतिरेकयोर्दृष्टवत्त्वदन्यथासिद्धस्तद्व्याप्यवि-
रह इति परिहारार्थः ॥ ६६ “अत एवे”ति । आलोकावयवावय-
विनाः प्रत्यक्षनायामन्योन्य सहकारिता यद्यारभ्यारम्भकभाव-
सिद्धमन्निधितयाऽन्यथासिद्धनया नेष्यते तथा प्रकृतेपीत्यर्थः ॥
ननु यथा प्रतियोग्यभावव्यापकस्तद्व्याप्याभाव इत्यन्यथा सि-
द्धस्तथेन्द्रियसन्निकर्षव्यापके घटादिरर्थ इति साक्षात्कारे सो-
प्यन्यथासिद्धः स्यादित्यत आह- । “अर्थाक्षयोग”इति । अर्था-
क्षसन्निकर्षस्यार्थघटितस्वरूपत्वादैक्यादिह ठ्यासिरेव नास्तीति
न प्रतिवन्दिरित्यर्थः यत्र घटः प्रतियोगी नास्ति तत्र तत्प्रमा-
पकसाकल्यमपि नास्ति घटेन्द्रियसन्निकर्षस्यैव तत्प्रमापकस्या-
भावात् * नच प्रतियोगितद्व्याप्यसिद्धत्वेन विशेषणात्तदमत्वं
न दोषायेति वाच्यं * तत्सन्निकर्षस्यतद्व्यतिरेकत्वेनाभेदेन तद-
व्याप्यत्वादिति स्वतन्त्रमेवैतद्व्यवधानमिति वयं ।

सू० * “तद्विरहसहितः स तथा ? *-इति चेन्न, इन्द्रिय-
सन्निकर्षस्य हि प्रतियोग्युपलम्भे तावद्धेतुताङ्गीक्रि-
यते तत्र किं सन्निकर्षव्यतिरेके कार्यानुदयोदाहरण-
मेष्टव्यं न वा न यदि तदा सन्निकर्षस्य हेतुतैव कुतो
मन्तव्या अन्यथैव कार्योत्पत्त्युपपत्तेः एष्टव्यं चेत्तर्हि
‘तत्रैवादाहरणे व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये पर-
मार्थतश्चाभाववत्युक्तकारणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यात्
*‘तत्र व्यवधायकाभावः प्रतियोग्युपलम्भको नास्ति ?
*-इति चेन्न, ‘सन्निकर्षव्यतिरेकस्य प्रमाव्यतिरेकप्र-
योजकत्वावधारणोदाहरणमेव तर्हि तन्न स्यात् व्य-

वधायकस्य सन्निकर्षविरोधेनैव प्रमाविरोधित्वमिति चेत्तर्हि ध्यवधायकाभावः सन्निकर्षोत्पत्तौ कारणं न त्वभावप्रमाविशेषोत्पत्ताविति स्थिते 'स प्रसङ्गस्तदवस्थ एव ।

टी० ॥ “तद्विरहे”ति । प्रतियोगिविरहः प्रतियोग्युपलम्भकयावत्समवधानं चाभावप्रमाकरणमते न प्रतियोगिप्रमास्थले तदभावप्रमाप्रसङ्ग इत्यर्थः प्रतियोगिविरहसहकृतापी त्ववुक्तमानयो क्वचिन्नभावग्राहिकेति व्यभिचारमुपदर्शयितुं पीठनारचयति—। “इन्द्रिये”ति । व्यभिचारमाह—। “तत्रैवादाहरण”इति । यत्र कुड्यादिठववहितो घटाभावो न गृह्यते तत्र घटतद्दुष्टाप्यभिन्नघटोपलम्भकसाकल्यं घटाभावश्चास्तीति घटाभाव प्रमा स्यादित्यर्थः कुड्यादेर्यवधायकस्याभावः प्रतियोगिप्रमापकः प्रकृते स नास्तीति शङ्कते—। “तत्र”ति तर्हि व्यवधायकाभावादेव तत्र कार्याभावो ननु सन्निकर्षाभावप्रयुक्त इति तत्सन्निकर्षस्य कारणतैव न स्यादिति परिहरति—। “सन्निकर्षे”ति ॥ “स प्रसङ्ग” इति । व्यवहृताभावग्रहप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

म० * “नच सन्निकर्षाभावादेव तदानीमुक्तकारणासम्पत्तिः * प्रतियोगिसन्निकर्षस्याभावप्रमेत्पादकत्वे नित्यं तदनुत्पत्त्यापत्तेः “अत एव नाव्यवधानमधिकं कारणमेष्टव्यं ‘इन्द्रियसन्निकर्षे एव तदुपपत्तेः “नचाश्रयसाक्षात्कारोपि प्राङ्नास्तिताग्रहादौ व्यभिचारात् * ननु ध्यवधायकसद्भावे यत्र परमार्थतोस्त्यभावस्तत्रोक्तकारणादभावावधारणमस्त्येव को विरोधः न तावद्भावयोगिन्यपि तावता तद्विरहप्रमा प्रसज्येत^(१) * ।

टी० ॥ प्रतियोगिव्याप्यत्वेन व्युदस्तस्यापि प्रतियोगिसन्निकर्षस्य कारणत्वमाशङ्काह—। “नचे”ति । अभावेन सह

(१) प्रसज्येत्यवधानभ्रमभावविरहस्य तत्राभावादिति प्ररणीयम् ।

सन्निकर्षो न शङ्कितः भट्टे^(१)स्तदनङ्गीकारात् ॥ “अत एवे”
ति । पदं व्यवधायकान्नाशत्वेन कारणत्वं शङ्कितनिदानोपलब्ध-
वधानत्वेनेत्यपौरुक्त्यं यद्वाऽभावेन यास्येण सहैन्द्रियव्यव-
धानमभावग्रहकारणं व्यवहितस्थले तदभावात्प्रमाणप्रसङ्गं
इत्यत आह-। “अत एवे”ति । तथाचार्यैन्द्रियसन्निकर्षः कारण-
मित्युक्तं स्यात्तथाचेन्द्रियवेद्यतैवाभावस्य नतु भट्टाभिमतानुप-
लम्भः कारणमित्याह-। “इन्द्रिये”ति । तदुपपत्तेरव्यवधानस्य
(२)कारणत्वोपपत्तेः ॥ “नचे”ति । कारणमित्यनुपलभ्यते भा-
श्रवणात्कारणस्याभावप्रमाहेतुत्वे गृह्याद्बहिर्गतेन गृहे चैत्रा-
भावेन न गृह्यते तदानीं गृहस्यासाक्षात्कारादित्यर्थः ननु यत्र
व्यवधानं तत्राप्युक्तसामग्रीवलादभावे गृह्यते एव प्रतियोगि-
मति यद्यभावज्ञानं भवेत्तदा दोषः स्यात्तत्र चाभाव एव
वास्तवो नास्तीति शङ्कते-। “नन्वि”ति ।

सू० “तर्हि प्रतियोग्यभावसहितानुपलम्भ एवाभावप्रमा-
णमस्तु जहि हि योग्यताविश्लेषणनिवेशव्यसनं
'योग्यता विश्लेषणाप्रक्षेपणेनुपलम्भमात्रतो वस्तु-
गत्या प्रतियोग्यभाववत्यपि नाभावनिश्चयः कदा-
चित्तु संशयो जायते तत्कथं तथाङ्गीक्रियते इति
चेत्तर्हि व्यवधानेप्येवमेवेति योग्यताविश्लेषणप्रक्षे-
पेपि तुल्यम् “अपिच मेयस्य वास्तवं सत्त्वं प्रमाणा-
कौटावनिवेशार्हमेव मेयवस्तुसत्त्वासत्त्वनिर्धारणार्थ-
मेव हि प्रमाणाप्रमाणविवेचनं विचारकाणाम्
'अन्यथानुमाने व्याप्तानुयाधिनिरासायासोऽव्यर्थः
स्यात् व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानमात्रस्यैव कारणत्वा-

(१) भट्टेस्तदनङ्गीकारात् (अभावेन ससं सन्निकर्षस्याऽनङ्गीकारात्)
अभावेन सह सन्निकर्षो न शङ्कितः (किन्तु प्रतियोगिनैव)-इत्यन्वयः ।
(२) भाष्यसिकमेवार्थमनुसृत्य तदुपपत्तेरित्यस्यार्थमाह-अव्यवधानस्येति ।

ङ्गीकारेण सौस्थ्यत् प्राङ्नास्तित्ताप्रमितौ च
यद्यभावप्रमाणांतां मन्यसे तर्हि सा (१) न स्यात्तत्रे-
दानां जायमानाभावप्रमात्पत्तावभाववास्तवसत्ता-
विरहस्येदानां क्वचित्सम्भवात् ।

टी० । अभ्युपेत्य परिहरति-। "तर्ही"ति । व्यवधानेऽ
भावप्रमा स्यादित्येतदर्थमेव (२) हि योग्यताविशेषणं ना चेद्भ्यु-
पगतैव किं विशेषणेनेत्यर्थः योग्यताविशेषणमन्तरेणान्धकारे
घटाभाववति गृहे घटाभावप्रमास्यात्तु घटसदसत्त्वसंशय इत्या-
शङ्कते-। "योग्यते"ति । तर्हि व्यवधानेपि घटाभावप्रमायां
घटसदसत्त्वसंशये न भवेदिति योग्यताविशेषणदानेपि साम-
ग्रीमत्त्वे फलानुदयदोषः (३) प्रसक्त इति परिहरति-। "तर्ही"ति ।
प्रमाणप्रवृत्ते प्राक् प्रमेयसत्त्वनिर्णये प्रमाणफलमेवेत्याह-।
"अपि चे"ति । यत्र वास्तवी त्वमिस्तत्र पक्षधर्मताज्ञानमनु-
मितिजनकमिति त्वामिज्ञानार्थमुपाधिनिरामप्रयामवैफल्यमि-
त्याह-। "अन्यथे"ति । प्राङ् नास्तित्तास्थने यद्यनुपलब्धिः
करणं तदा गृहोपलम्भकाले चैत्राभाववतो गृहस्य क्रमेण चैत्र-
वप्ये सति साम्रावः सहकारित्याह । "प्रागि"ति । तद्गृहं तदा
चैत्राभाववच्चैत्रवत्तया योग्यतायां सत्यामप्यस्मयंमाणत्वादि-
त्यनुमानमाशङ्क यद्युपनिबन्ध (४) ।

मू० "फलविषयकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः कारण-
कोटिनिवेशे विशेषाभावात् तदुपलक्षितत्वस्यैव
विशेषणस्य विशेषत्वे ऽतिप्रसङ्गात् (५)*^d तथापि
सामान्यतो विशेषाभावोसिद्ध ? *-इति, चेन्न तस्य
सत्त्वे निर्वचनापातात् ।

(१) वा=प्राङ् नास्तित्ता प्रमितिः । (२) इत्येतदर्थम्=इत्येतत्प्रस-
ङ्गवारणार्थम् । (३) फलानुदयदोषः, संशयाभावानुदयदोष इत्यर्थः ।
(४) यदि पदस्य मूले उपनिबन्ध इत्यर्थः । (५) अयमाशयः-चाश्रयनि-
ष्ठ यदिदमभावोपलक्षितत्वविशेषणं तादृशविशेषणविशिष्टत्वस्यैव
विशेषणमुपलक्षणं वा ? विशेषणत्वे तादृशविशेषणविशिष्टत्वस्यापि विशेषे-

टी० ॥ ननु कलेनानुपलब्धिजन्यज्ञानेन प्राक्काल एव वि-
षयीक्रियते तत्र चासीदेवाभाव इति तदुपलक्षिताश्रयोपि कार-
णकोटि प्रविष्ट इत्याशङ्काह-। “कले”ति । तथा सति प्रतियोगि-
मत्यभावप्रमा नभवत्यन्यत्र भवतीति विशेषो न स्यादित्यर्थः
आश्रयस्याभावोपलक्षितत्वं यद्विशेषणं तदेव विशेषः स्यादि-
त्याशङ्कते - । “उपलक्षितत्वे”ति । एवमप्यतिप्रसङ्ग एवेति परि-
हरति- । ‘अतिप्रसङ्गादि’ति । विशेषस्य विशिष्यानिर्वचनेपि
सामान्यतः कश्चिद्विशेषो व्यवहारानुरोधात्स्वीकार्य इत्याश-
ङ्कते- । “तथापी”ति । कोऽसौ विशेष इति वादिप्रश्ने तन्निर्व-
चनमावश्यकमन्यथा सर्वत्रसामान्येनैवोत्तरं स्यादिति परिह-
रति- । “तस्ये”ति । व्याख्याननिदनस्नाक यथा पितृवचस्तथा
व्याख्यानगुणदोषाभ्यां संबन्धो नत्पितुर्न मे ॥

इति श्रीमहामहोपाध्याय शङ्करनिष्कृतखण्डनठयारूपा-
नेऽनुपलब्धिखण्डनठयारूपानं समाप्तम् ॥

—:0:—

सू० (१) “कश्चायमसिद्धो नाम तथाहि ॥ व्याप्तिपक्षधर्म-
त्वाभ्यामप्रमितोसिद्ध इत्यलक्षणं ॥ हेत्वाभासान्तरा-
णामपि ह्यसिद्धप्रवेश एवं सति स्यात् ॥ व्याप्तिं
पक्षधर्मतां ॥ तत्प्रमितिं वा न विरुधतां हेतुदोषत्वा-
सम्भवात् ननु नेद(२)मीदृशं तथाहि ।

अथत्वेन पुनस्तादृशविशेषवर्षाविशिष्टवस्यापि तथात्वेनाऽनवस्थाः उप-
लक्षणत्वे तु प्रतियोगिमत्यपि देशे तदभावप्रमा प्रसज्येतेत्यतिप्रसङ्ग-
वत्तदवश्य इति ।

(१) { एतावतामवश्येन मानवट्कं निराकृतम् । }
{ आभासखण्डन कर्तुमारभते ततः परम् । }

(२) इदम्=उक्तलक्षणम्, ईदृशं न=हेत्वाभासान्तराणामप्यसिद्धे

प्रवेशकर्तृ न, -इत्यर्थः ।

टी० ॥ या सक्तिर्भवनाद्यवक्रकमलादुद्गत्बरी तत्कृतं सौ-
भाग्यं प्रतिपद्य शुद्धमितिभिः श्लाघापदं लम्बिता न्यस्ता सज्जन-
मानसे विजयतामापुष्यवन्तोदयं^(१) ग्रन्थग्रन्थिष्विमोचनाय रचना
वानामियं शाङ्करी ॥ १ ॥ प्रमाणात् सामान्यलक्षणानि विशेष-
लक्षणानि च विस्तरेश्च निराकृत्य तन्निरूप्यत्वोक्तदाभामानां
नदनन्तरं तन्निराकरणाय प्रस्तौति-। “कश्चायमि”ति । यद्यपि
भेदस्थापनायां हेत्वाभासखण्डनिकस्य स्वस्रधाय कृत्योत्थान-
मिव तथापि हेत्वाभासानामखण्डने तैरेव द्वैतापत्तिरिति तल्ल-
क्षणमपि खण्डयते-। “व्याप्ती”ति । व्याप्तेरप्रमायां व्याप्यत्वा-
सिद्धिः पक्षधर्मताया अप्रमायामाश्रयामिद्धिः स्वरूपासिद्धिश्च
तदेनचित्तयसाधारणं लक्षणं अप्रमा च विषयाभावाद्धिषये सत्यपि
तदग्रहाद्वा तथाच यत्र व्याप्तिस्वरूपं नास्ति सदपि वा न प्रती-
यते यत्र पक्षस्वरूपं नास्ति तद्विशेषणं मन्देहः सिषाधयिषा
वा नास्ति तत्प्रत्येपि हेतुर्वा नास्ति सर्वस्योपग्राहकमेतदिति
भावः विरुद्धव्यभिचारिष्वधितेषु व्याप्त्यभावात्सत्प्रतिपक्षे च
तदनिश्चयात्मवर्त्र लक्षणमिदमतिठयापकमित्याह-। “हेत्वाभा-
सान्तराणामि”ति । अनिव्याप्तिं दूहयति-। “व्याप्तिमि”ति ।
व्याप्तिपक्षधर्मतयोः सत्त्वेपि^(२) नदज्ञानदशायामज्ञानस्वरूपाम-
सिद्धिं मङ्ग्रहीतुमाह-। “तत्प्रमितिमि”ति ।

सू० “केचिद्वोषा व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमिति विरहात्मानः
केचिन्नु व्याप्त्यादिभङ्गे लिङ्गभताः प्रतिबन्धकतया-
नुमित्युत्पत्तिं निरुन्धानाश्च केचिद्वोषभूयं भजन्ते
तत्र प्रथमे तावदसिद्धमध्यमध्यासते तद्यथा व्या-
प्यत्वासिद्धः सोपाधिरूपः अनौपाधिकसंबन्धिता
हि व्याप्तिः सोपाधिता चानुपाधिताविरहरूपैव
“एवमधिकरणासिद्धिरप्यसिद्धावेवान्तर्भविष्णुः पक्ष-
पदोपात्तस्याश्रयस्य व्यतिरेकरूपाहि सा सिद्धसा-

(१) आयुष्यवन्तोदयम्=सूर्यवन्तोदयपर्यन्तम्, “एकयोक्त्यापु-
ष्यवन्तो दिवाकरनिशाकरी”-इत्यमरात् । (२) अत्र ‘हेतो’-इति शेषः ।

धनमपि तथैव सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो हि पक्ष
उच्यते यच्च सिद्धं न तत्र सिषाधयिषास्ति ततो
विशेषणाभावायत्तो विशिष्टपक्षरूपस्य तत्राभावः*
'न च वाच्यं यथा सठ्यभिचारत्वाद्भग्नध्याप्तिक-
मिति पृथगेव सठ्यभिचारस्य दोषत्वं तथा सिद्ध-
त्वान्तत्र सिषाधयिषा नास्तीति सिद्धत्वस्यापि
पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोति* लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्यव-
सायित्वात् ॥

टी० ॥ ठयाप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्वरूपत्वमसिद्धत्व-
मिति लक्षणं सङ्ग्रहीतुं त्रिधा हेत्वाभासान् विभजते-। “के-
र्त्विद्”ति । अज्ञायमानस्यापि ठयाप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरह-
स्य दोषत्वं ज्ञाधत् (१) ज्ञायमानं सद्यदनुमितिप्रतिबन्धकं स
हेत्वोभास इति न लक्षणं गौरवात् किन्त्वनुमितिप्रतिबन्धक-
त्वमात्रं तल्लक्षणमिति भावः दोषभूयं दोषत्वं-। “प्रथमे”
इति । ये ठयाप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहात्मान इत्यर्थः
ननु सेपाधित्वमसिद्धत्व भवति ननु त(२) दूठयाप्तिविरहस्वरूप-
मित्यत आह-। “अनीपाधिके”ति । आश्रयासिद्धेः पक्षधर्मता-
विघटनात्मकत्वनिर्वाहाय पीठमारचयति-। “पृथमि”ति । ननु
गगनारविष्टं सुरभीत्यत्राश्रयत्पतिरेकरूपतास्तु सिद्धसाधनं
तु न तथेत्यत आह-। “मिदु”ति । पक्षताघटकमिषाधयिषा-
विरहात्ताश्रयाश्रयविरहरूपत्वैवेत्यर्थः ननु ठयाप्तिचारवत् सिद्ध-
साधनस्यासिद्धत्वेऽज्ञायकत्वमेव ननु तदात्मकत्वमित्याशङ्क
निराकरेति । “न चे”ति ॥

सू० “अन्यथा ठयाप्त्यादिविरहपर्यवसिततामात्रेण स-
ठ्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावेवान्तर्भावः स्यादिति

(१) बाधः पक्षे साध्याभाववत्तामिच्छयेत् ब्राह्मः ननु पक्षे सा-
ध्याभावः साध्याभावश्च पक्षे वा, निरवयवस्य च तस्याऽऽज्ञातस्यैवाऽनुमि-
तिप्रतिबन्धकत्वम् । (२) तद्=सिद्धत्वम् ।

यतः सिधाधियिषाभावो न प्रतिपन्ना सिद्धत्वाल्लि-
ङ्गाद्गम्यते किं नामेच्छाभावस्य तस्य यथादर्शनं प्रत्य-
क्षादेरेवाधिगमः "इच्छैव तु तत्र यन्नास्ति तत्र सिद्ध-
त्वं प्रयोजकमित्येतावन्मात्रेण सिद्धत्वमुपन्यस्यते सि-
द्धसाधने मत्विच्छाभावमनुमातुं लिङ्गतयेति (१) एवं
स्वरूपासिद्धिरपि पक्षधर्मताविरहरूपैव ये तु व्या-
प्तपक्षधर्मताविरहलिङ्गभूतास्ते ऽसिद्धतः पृथगेव
हेत्वाभासाः 'तद्यथा विरुद्धः साध्यविपरीतव्याप्तः
तत्र साध्यव्यतिरेकव्याप्तता हेतोर्न साध्यव्याप्त-
ताभावः किं नाम साध्यव्यतिरेकेण सहानौपाधिकः
संबन्धान्य(२) एवासौ ।

टी० ॥ असिद्धयुक्तायकस्याप्यसिद्धयन्तर्भावे दण्ड-
माह- "अन्यथे"ति । सिद्धसाधनस्याश्रयसिद्धिघटकत्व न
तु तदुक्तायकत्वमिति यन्निवारणादिवैषम्येण परिहृति- । "यत"
इति ॥ "यथादर्शनमिति । न्यायमते प्रत्यक्ष एवच्छाभावो
भट्टमते त्वनुपलब्धिगम्य इत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षादेरित्यादिपदेना-
नुपलब्धिगम्यप्रहः किं तर्हि सिद्धसाधनोपन्यासेन इच्छाविरह
एवोपन्यस्यनाशित्यत आह- । "इच्छैव त्वि"ति । स्फुटत्वादि-
च्छाप्रयोजकस्य सिद्धसाधनस्योद्भावनमित्यर्थः ॥ विरुद्धे व्या-
प्तिसिद्धलिङ्गत्वमुपपादयति- । "तद्यथे"ति साध्यविपरीतव्याप्तोयं
न साध्यव्याप्तः नहि तदभावव्याप्तस्य तद्व्याप्तत्वमभ्य-
इति विरुद्धस्य व्याप्तिसिद्धलिङ्गत्वं ननु व्याप्तिसिद्धत्वमेवेत्य-
र्थः ॥ "किं नामे"ति । साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यात्साध्य-
नैकान्तिकसाधारण्यादिति भावः ॥

(१) शब्देऽनित्यशक्त्युत्पादिति स्वरूपासिद्धिसंसाधियपस्युत्ति-
स्वरूपपक्षधर्मताविरहरूपेत्याह- एवमिति-भागासिद्ध्यादेरप्यत्रान्तर्भा-
वो यथा यथमूहनीय इति—(२) अन्यः, साध्यव्याप्तताऽभावादप्यः ।

सू० "इत्यमेव पक्षधर्मताविरहात्मापि नायं किंनाम
ततः साध्यव्यतिरेकेण सह निरुपाधिकसंबन्धत्वा-
त्साध्यव्याप्तिरस्य नास्तीत्यनुमीयते तथा सति
साध्यव्याप्त्यतिरेके लिङ्गं सद् विरुद्धः पृथगेव
हेत्वाभासो भवति एवमनैकान्तिकोपि न व्याप्ति-
व्यतिरेकरूपः किन्तु तल्लिङ्गमेव तथाहि हेतोरन्वयस्य
व्यतिरेकस्य वा व्यभिचारा न साध्यसाधनव्याप्तिवि-
रहात्मा "किंनाम व्यभिचारो हेतोः साध्यव्याप्ति-
विरहं विना न सम्भवतीति लिङ्गभावेन व्याप्तिभङ्गं
बोधयते 'यदि हि निरुपाधिः साध्येन संबन्धोऽस्य
भवेत् कथं व्यभिचरितुं शक्नुयात्तस्माद्व्याप्तिविर-
हलिङ्गं व्यभिचारः नतु व्याप्तिविरहः 'पक्षधर्मता-
विरहरूपता त्वनैकान्तिकस्यासम्भावितैव "सत्प्रति-
पक्षतायां चानवगम्यमानविशेषप्रतिपक्षप्रतिरुद्धतया
यत्साध्यनिश्चयाजनकत्वं हेतोः स प्रतिबन्धकसद्भावे
कार्याजनकत्वमितरकारणसाधारणो वस्तुभावः ।

टी० ॥ "इत्यमि"ति । विरुद्धे पक्षतदुन्वयोरपक्षज्ञादि
त्यर्थः ॥ "किं नामे"ति । अयं न साध्यव्याप्यः तदभावव्या-
प्यत्वादित्यमिद्वलिङ्गत्वमेवास्येत्यर्थः किन्तु लिङ्गमेव व्याप्ति-
विरहस्येति शेषः ॥ "हेतोरि"ति । कात्स्न्येन संबन्धस्य व्याप्तेः
यद्यपि व्यभिचारो भङ्ग एव तथाप्यनौपाधिकत्वं व्याप्तिव्या-
शयेनोक्तं तदेवाह- । "किं नामे"ति । यत्र व्यभिचारस्तत्रोपा-
धेरवश्यकतयानौपाधिकत्वं नास्तीति व्याप्तिभङ्गलिङ्गतेव व्य-
भिचारस्येत्यर्थः ॥ "यदि ही"ति । साध्यात्यन्ताभावसामाना-
धिकरस्यस्य साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरस्यरूपव्यभिचा-
रासम्भव इत्यर्थः ॥ "पक्षधर्मते"ति । शब्दोऽनित्यः सत्त्वादि-
तयादीनां पक्षधर्मतायाः सत्त्वादित्यर्थः ॥ "सत्प्रतिपक्षताया-

नि"ति । यद्यपि विरुद्धयोर्हेतोरैकत्र ठ्याप्तिभङ्ग आवश्यकस्तथापि^(१) तदनवगमदशायामन्योन्यप्रतिबन्धादेव^(२) नान्योन्यस्यानुमितिजनकत्वमिति न तत्र ठ्याप्तिविरहरूपता न वा तदुक्त्यावकतया दोषत्वमित्यर्थः ।

सू० "तस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपता^b संभावितैव^c बाधस्तु साधनवति पक्षे साध्याभावबोधनात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहावगमरूपः सामान्यतौनापाधिकसंबन्धरूपा हि व्याप्तिः साधनवति च पक्षे साध्यविरहो न सोपाधिता^d साध्याविरोधिस्वभावत्वात्तस्याः नाप्यसौ सामान्यतः साध्यसाधनसंबन्धस्य विरहरूपः ॥

टी० ॥ "तस्ये"ति । सत्प्रतिपक्षहेतोरित्यर्थः ॥ "असम्भावितैवे"ति । तस्यैव दशायामिति शेषः ॥ "बाधस्त्विति । जलहृदो बहिमान् धूमवत्त्वादित्यत्र स्वरूपासिद्धिसाङ्कर्यमभिप्रेत्याह- । "साधनवती"ति बहिरनुष्णः कृतकत्वादित्यादावित्यर्थः सर्वोपसंहारेण ठ्याप्तिग्रहो नतु विशेष्यब्रह्मावेव येन ठ्याप्तिभङ्गे दूषणं भवेत्तत्कृतक तदनुष्णमिति ठ्याप्तिर्हरिकस्याग्रहाद् बह्वैः साध्याभावप्रमादशया ठ्याप्तिभङ्गग्रहे बाधस्यैवोपजातयत्वं न तु ठ्याप्तिविरहस्य नदा दोषत्वं बाध एव ठ्याप्तिविरहनत्तरेण न सम्भवतीति तस्य ठ्याप्तिभङ्गोक्त्यावकत्वमत एवान्यस्योपाधेरलाप्ते पक्षेनरत्वमेव तत्रोपाधिः सोपाधित्वमेव च व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थः पक्षताविघटनपि बाधोदीच्य बाधकप्रमाणसद्भावे सन्देहसिवाधयिषयोरनुदयादिति भावः ॥ "साध्याविरोधी"ति । तस्याः सोपाधिनायाः साध्याविरोधिरूपत्वत्वात् साध्याभावरूपता उपाधेः साध्यव्यापकतया साध्यविरोधित्वादित्यर्थः अनु सामान्यतोपि व्याप्तिर्विशेषे बह्वै हेतोः साध्या-

(१) तदनवगमदशयासु=विरुद्धत्वानवगमदशयासु ।

(२) नान्योन्यस्यानुमिति जनकत्वम्=नान्योन्यस्य निरवयवाकारानुमिति जनकत्वम् ।

भावसानानाधिकारस्यप्रहाङ्गमेवेत्यत आह-। “मापी”ति । यत्कृतकं तदनुष्णमिति दृष्टान्ते घटादावविनाभावग्रहस्याप्रत्यूहत्वादित्यर्थः ॥

मू० “बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः संबन्धस्य दृष्टान्तावगतस्यानपलापात् बाधस्य किञ्चिद्विशेषविषयत्वात् ‘सामान्याकारपरिगृहीतस्य संबन्धस्य विशेषान्तरमादाय पर्यवसानाविरोधात्तस्माद्विशेषबाधेन सामान्यतः संबन्धस्य सोपधितानुमीयते ‘निरुपाधित्वे बाधानुपपत्तेः यथाह बाधाद्वोपाधिरुन्नीयते ऽन्यथा वेति न कश्चिद्विशेष इति ‘अन्यस्तु सत्प्रतिपक्षवद्बाधस्यापि प्रतिबन्धकत्वमेव तेन बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति हेतुरिति ठ्याप्तिपक्षधर्मतादोषमनालोच्यान्यथैव बाधस्य दोषत्वमित्याह ।

टी० ॥ एतदेवाह । “बाधे सत्यपी”ति ॥ “सामान्याकारे”ति । यद्यत्कृतकं तदनुष्णमिति यद्यपि बाधायां भग्नं तथापि यत्कृतकं तदनुष्णमिति सामानाधिकारस्यसात्रसमनमेवेत्यर्थः अतो बाधस्य व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वं न तु ठ्याप्तिभङ्गत्वेनोपिदुत्वनित्युपसंहरति-। “-स्माद्”ति । अत्रैव विपक्षे बाधकमाह-। “निरुपाधित्वमि”ति । हेतोः साध्यतदभावोभयसासानाधिकारस्यं नावच्छेदमेदं विनेत्यवच्छेदककल्पनायामन्यस्यावच्छेदकस्याभावात्पक्षेतरत्वमेवावच्छेदकं साध्यसानानाधिकारस्यावच्छेदक एवोपाधिरिति बाधेतस्यावश्यकत्वमन्यत्र तु त्वदुक्तव्याघातादिदोषात् पक्षेतरत्वस्योपाधित्वमित्यर्थः नतान्तरमाह-। “अन्यस्त्विति । साध्याभावप्रमा स्वरूपसत्येव साध्यधीप्रतिबन्धिकेति सत्प्रतिपक्षवत्प्रतिबन्धकतयैव दोषत्वं न ठ्याप्तिपक्षधर्मताविरहकूपतया न वा तदुक्तायकतयेत्यर्थः ॥

सू० "तस्माद्ब्रह्माप्तिपक्षधर्मताप्रमितित्वानां यत्र साक्षा-
देव विरहस्योद्भावनं तत्रासिद्धः यत्र तु ध्याप्त्यादि-
विरहलिङ्गोपन्यासः सत्प्रतिपक्षोपन्यासो वा तत्रा-
न्यो हेत्वाभासः * ननु सोपाधित्वादयोपि यतोवग-
म्यन्ते तत्कुतः पृथग्दूषणं न भवति अनैकान्तिक-
त्वादिवत् ? *—मैवम्, 'अनैकान्तिकत्वादेर्ध्याप्ति-
विरहबोधने लिङ्गभावनियमात् पृथगुपन्यासः सोपा-
धित्वादेस्तु प्रत्यक्षादपि प्रतीतेर्नतु लिङ्गभावनियतं
तत्र प्रतिपादकं किञ्चिदस्ति * नच वाच्यं

टी० ॥ उपसंहारनि- । "तस्मादि"ति । यद्यप्युद्भाव-
गर्भं नासिद्धत्वं तथापि तत्रास्तीति कृत्वोक्तम् ननु यदि ध्या-
प्त्यादिभङ्गलिङ्गानामप्यनैकान्तिकादीनां हेत्वाभामत्वं तदा
सोपाधित्वापक्षधर्मतयोरुन्नायकान्तरमप्यस्ति नहि प्रत्यक्षादा-
प्तोपदेशाच्चिङ्गान्तराद्वा न सोपाधित्वादिग्रहीतुं शक्यते इति
हेत्वाभासाधिक्यं प्रसक्तमिति शङ्कते- । "नन्वि"ति । यथानै-
कान्तिकत्वं विरुद्धत्वं साधितत्वं वा ध्याप्तिभङ्गत्वनियतं-
तथानान्यत्सोपाधित्वादिनियतं येन हेत्वाभामान्तरं भवेत् सो-
पाधित्वाद्याहकतासन्नेन प्रत्यक्षादीनां हेत्वाभामत्वं सम्भा-
ठयेतापि यदि ज्ञायमानं सत्तथा स्यादिति परिहरति- । "अ-
नैकान्तिकत्वादे"रिति । नन्वतीन्द्रियस्थले किञ्चिच्चिद् लिङ्गभा-
वेनैव सोपाधित्वोन्नायकमिति तद्धेत्वाभामान्तरं भवेन्नच तदपि
विद्वादि सोपाधित्वं नावश्यं सर्वत्र गमयतीति न हेत्वाभा-
सान्तरं तदानैकान्तिकत्वादिकमपि सर्वत्र ध्याप्तिभङ्गे लिङ्ग-
मिति क्वचिदनैकान्तिकत्वेन क्वचिद्विरुद्धत्वादिनापि तदुन्नायना-
दित्यत आह- । "नच वाच्यमि"ति । यथानैकान्तिकत्वं वि-
रुद्धत्वादिकं वा ध्याप्तिविरहध्याप्यतावच्छेदकं न तथा तच्चिद्वा-
दीनामनुगतमेकमवच्छेदकं येन तत्पृथक् स्यादित्यर्थः ॥

मू० यत्र लिङ्गा (१)त्सोपाधितादेः प्रतीतिरतीन्द्रियप्रभृ-
तिविषये तत्र लिङ्गं पृथगेव दूषणतयाभिधीयतां नह्य-
नैकान्तिकत्वादिकमपि सावंत्रिकं व्याप्तिविरह-
लिङ्गमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति * अनैका-
न्तिकत्वादिवत्तेषां लिङ्गानामैकरूप्येण निर्देष्टुम-
शक्यत्वात् पृथक् पृथगेवाभिधानमशक्यमपरिसङ्-
ख्येयत्वादिति "वक्ष्यामश्चाग्रं हेतुं तदनभिधानस्य
* नन्वनुचितमुच्यते व्याप्त्यादिविरहलिङ्गतयानैका-
न्तिकत्वादीनां पृथग्दूषणत्वमिति * (२) यतो व्या-
प्तपक्षधर्मतोपेतलिङ्गप्रमितिस्तद्वैकल्पान्न भवेत् (३)
यतश्च सा न भवति तदेव तस्यां दूषणं वक्तुं युक्त-
मिदमनुमित्युत्पत्तिकारणमिह नास्तीति ॥

टी०॥ ननु सोपाधित्वलिङ्गत्वमेव तेषामनुगमस्तु अन्यथा
ऽनैकान्तिकादीनामपि तत्र स्यादित्यत आह-। "वक्ष्यामश्चे"
ति । यद्यपि सोपाधित्वं व्याप्तिविरहान्नान्यत्तदुच्चायकत्वं चानै-
कान्तिकादीनां व्यवस्थापितमेव आदिपदग्राह्यापक्षधर्मत्वस्य
च सिषाधियवाया विरहस्य । प्रत्यक्षत्वमेवोपपादितमिति शङ्के-
यमस्थान एव तथापि सोपाधित्वं प्रमाणान्तरेणापि ग्रहीतुं
शक्यमिति तस्य उपपन्नमाशङ्कितं नन्वनैकान्तिकत्वादीनामनु-
मिनिदोषत्वं नास्ति तथाच हेत्वाभासत्वमपि न अनुमिति

(१) सोपाधितादेरित्यत्रादिना स्वरूपाविज्ञापादेस्वीकारः ।
सोपाधित्वादिकमभिद्धेः पृथग्दूषणं भवतुमर्हति हेतुदोषज्ञापकत्वादनैका-
न्तिकत्वादिवदन्यथा ऽनैकान्तिकत्वादेरपि पृथग्दोषत्वं न स्यादित्यर्थः ।
(२) व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गभूतानैकत्वादिदोषाणामनुमित्यनुत्पादप्रयो-
जकत्वात्कथमनुमितं पृथग्दूषणत्वमित्यत आह-यत इति । (३) अस्तु
लिङ्ग प्रमित्यभावस्यैवानुमित्यनुत्पादे प्रयोजकत्वमेतावता किंस्यादि-
त्यत आह-यतश्चेति-

सामग्रीत्रैकत्वस्यैव तद्वापत्वात्तुनामग्रीत्रैकत्वोच्चायकस्यानु-
निर्नातदोषत्वमतिप्रमङ्गादिति शङ्कते । ^{bi} नन्वात ॥

म० * (१) नच व्याप्तिपक्षधर्मते विहायान्यत्तदुत्पत्ति-
कारणमस्ति "व्यतिरेकोपदर्शनयोग्यं * (२) तस्मा-
दनुमितिदोषप्रतीतिकारणत्वमनैकान्तिकत्वादीनां
नतु साक्षाद्दोषत्वं ^b दोषप्रतिपादकतयापि च दोष-
त्वं साक्षाद्दोषमनुपजीव्याशक्याभिधानमिति प्रधा-
नदोषस्यैव दोषतयोद्भावनं युक्तं न सव्यभिचारत्वा-
दीनामिति सत्यमेतत् 'साक्षाद्दोषत्वं प्रतिबन्धकस्य
व्याप्त्यादिविरहस्य वा विरुद्धादीनां तु तत्प्रमाप-
कतया यद्यपि दोषपक्षनिक्षेपस्यापि विरुद्धत्वा-
दयो यद्दोषप्रतिपादकतयोक्तास्तदुद्भावनलाघवानु-
रोधाद्वाप्यादिविरहे तच्चोद्भाव्यमाने न हेतुर्गन्तुं
शक्यते ॥

टी० ॥ "व्यतिरेकं" नि । अनुमितिकारणान्तरस्य काला
देव्यतिरेकोपदर्शनयोग्यमित्यर्थः ॥ ननु दोषप्रतिपादकतयैव
दोषत्वमस्तु परस्परया यनुनिर्नातदोषत्वमस्मत्त्वादित्यत आह- ।
^{bi} दोषेति । एवं मति साक्षाद्दोषस्याभिद्वैरुद्धावमानन्तरमेव
तद्दोषत्वस्यापकत्वानैक निन्काद्युद्भावनप्रमङ्ग इत्यर्थः ॥ परिह-

(१) व्याप्तिपक्षधर्मतावदनेकान्तिकत्वाद्यभावोपि कारणम-
नुमितेरनोद्योत्यस्य द्यभाप्रदने कान्तिकत्वाद्यभावाभावोऽनेकान्तिकत्वादि-
रपि दुषकमित्यत आह- न चेति- यनेकान्तिकत्वाद्यभावस्य स्वयेपि व्यति-
रेको न दर्शयितुं शक्यते इति प्रत्यपक्षधर्मत्वप्रमितौ नस्य मनुमित्यनुत्प-
त्यदर्शनं ह्यव्यतिरेकत्वकारणत्वस्यैवमित्यर्थः । इति विद्यानागराः ।
व्याप्तिपक्षधर्मता इत्यस्येऽनुमितिं स्वत्वं व्याप्तिपक्षधर्मताग्रहाभवे
ऽनुमित्यभाव इत्यस्येवैव्यतिरेकदर्शनात्तयोः कारणत्वमाश्रयकमनैका-
न्तिकत्वाद्यभावस्यैव व्याप्तिपक्षधर्मताग्रहासत्त्वेन अनुमित्यनुत्पादादि-
त्यनैकान्तिकत्वादेन कारणत्वमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । (२) व्या-
प्त्यादिविरहस्याविरुद्धदोषत्वेऽनेकत्वाद्युद्भावनमनुचितमिति प्रतिपाद-
यितुमनुमितिदोषप्रत्यायकत्वमेवेति फलितमुत्तरं इति-तस्मादिति-

रति-। “साक्षादि”ति । अविद्वेत्तद्भावे कथमसिद्धिरिति तद्व्यवस्थापनाय पुनरनैकान्तिकाद्युद्भावनमावश्यकं तेन प्रथम-
मनैकान्तिकाद्युद्भावे तच्च स्वठयापकमसिद्धत्वं स्वत एवास्ति-
पतीति लाघवादनैकान्तिकत्वमेवोद्भावेतित्यर्थः । न चैवं सत्य-
मिद्वेत्तद्भावनमनवकाशम् अनैकान्तिकाद्युद्भावननैरपेक्षेण यत्रासि-
द्धत्वज्ञानं तत्र तदुद्भावनस्य सावकाशत्वादिति भावः * नच
निर्वाच्यामसिद्धिरनुद्भावे निर्वाङ्मनैकान्तिकाद्युद्भावनमप्राप्त-
कालमिति वाच्यम् * कथामप्रदायस्य तदुद्भावेनाप्राप्तकाल-
त्वात्तदनेकान्तिकाद्युद्भावेनासिद्धत्वज्ञानादेवानुमिति प्रति-
बन्धस्य सम्भवात् । अनैकान्तिकत्वादीनामप्यसाध्यकतालिङ्ग-
त्वात् तथा-। इदं शब्दस्यानैकान्तिकाद्युद्भावादेव सिद्धि रिति
त्याशयान् ॥

शू० अनैकान्तिकत्वादौ तद्भावेति व्याप्त्यादिविरहोऽर्था-
द्भ्रम्यते व्याप्त्यादिविरहव्यतिरेकेणानैकान्तिकत्वा-
देरनुपपन्नत्वात् यथा तस्माद्दीर्घोयमित्युक्ते सोऽस्मा-
द्भ्रम्यते इत्यर्थाद्भ्रम्यते नतु तत्र प्रतिपाद्यान्तरापेक्षा
तथेहापि निरग्नौ धूमांस्तीति प्रतिपादितेग्निनासौ
न व्याप्त इत्यर्थाद्भ्रम्यते नहि सम्भवत्यग्निना च
व्याप्तोऽनग्नौ चास्तीति अत एवानन्त्यादतीन्द्रि-
योपाध्यादिलिङ्गानां येषां पूर्वमनभिधानं समर्थितं
तेषामनभिधानेयमपि हेतुः तान्युपाधिलिङ्गानि नार्थ-
वशादुपाधि मनपेक्षाणि गमयन्ति येन तेषां व्या-
प्तिर्नावधारिता तं प्रति तत्प्रतिपादनमन्तरेणाप्र-
तिपादकत्वस्यापि सम्भवात् अनैकान्तिकत्वाद्यव-
गतौ तु व्याप्त्यादिविरहबोधनाय न प्रतिपादनी-
यान्तरापेक्षा कस्यचित् सचेतसः सम्भवतीति पूर्व-
पक्षसंक्षेपः एवमसिद्धलक्षणे व्यवस्थिते बाधोयम-
भिधीयते,

टी० ॥ नन्वनैकान्तिकाद्युद्भावनानन्तरमसिद्धयुद्भावनेनमस्तु
तथाच न लाघवमित्यत आह-। “अनैकान्तिकत्वादावि”ति ।
नक्षर्यायात्मप्यभिधीयते अर्थपौनरुक्त्यापत्तेः अत्रानुरूपं दृष्टा-
न्तमाह-। “यथे”ति । वक्ष्यामश्चात्रेति । यदुक्तं तत्र किञ्चि-
दाह-। “अत एवे”ति ॥ “अनपेक्षणी”नि । उपाधिलिङ्गत्वे-
नाप्रतिमंङ्गिनानीत्यर्थः तत्प्रतिसन्धानं च न ठयाप्यतावच्छेदक-
यः सन्तरंजेति भावः एतदेवाह-। “येने”ति । अनैकान्तिकत्वा-
दीनामसिद्धिठयाप्यतावच्छेदकरूपत्वस्योभयमिदुत्वादिति तदु-
द्भावनेमुपपन्नमित्याह-। “अनैकान्तिकत्वादी”ति ॥

सू० “एतेन कीदृशमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितमायुष्मता
भवति व्याप्तत्वपक्षधर्मताभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति
तावद्विरुद्धादिषु लक्षणं किं नास्ति किं वास्ति यदि
नास्ति तदा व्याप्तपक्षधर्मताभ्यां प्रमिता विरुद्ध-
त्वादयः प्राप्नुवन्ति अथास्ति तदा तेष्यमिदुभेदाः
प्राप्ताः अथैतस्मिँल्लक्षणे सन्त्यपि ते नासिद्धान्त-
र्भताः । तर्हि लक्षणमिदमतिव्यापकमापन्नम् * अथ
यत्र व्याप्तपक्षधर्मत्वाप्रमितत्वं साक्षादुद्भाव्यते तद-
सिद्धमित्युच्यते * तर्हि लक्षणान्तरमिदमुक्तं स्यात्
'न चेदमपि युक्तं यत्र^(१) व्याप्तविरहमात्रमुद्भाव्यते
तत्र व्याप्तपक्षधर्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितं
नोद्भाव्यते इति नासावसिद्धः स्यात् ॥ एवं सर्वत्रासि-
द्धविशेषमुदाहृत्य प्रसङ्गो विधातव्यः ॥

टी० ॥ हेत्वाभासानां व्युत्पादनेनापि नासिद्धलक्षण-
स्यातिठयाप्तिः परिहृतेष्याह-। “एतेने”नि ॥ “तर्ही”ति ।
उत्पादन्यत्रानैकान्तिकादिषु लक्षणगमनादित्यर्थः नन्वनैकान्ति-

(१) च यामो मित्रातनयादित्यादाषुपाध्युद्भावेन व्याप्तविर-
हमात्रं प्रतिपाद्यते नासावसिद्धस्यादितिस्वभावः ।

कादिषु व्याप्त्यादिभङ्गस्य साक्षादुद्भावनं नास्ति साक्षादुद्भावन-
व्याप्तपक्षधर्मनाप्रमिति विरहत्वस्यानिद्विलक्षणत्वेनाभिप्रेत-
त्वादिति शङ्कते-। “अथे”ति । तथाचोद्भावनगर्भं लक्षणान्तरं
प्रणयतस्तत्र प्रतिज्ञाहानिरिति परिहरति-। “तर्ही”ति । ननु
प्रतिज्ञाहानिः पुरुषदोषो ननु लक्षणान्तरदोष इत्यत आह-।
“न चेदमपी”ति । व्याप्तपक्षधर्मनाप्रमिति विरहाणां मि-
लितानामुद्भावनं लक्षणत्वेन विवक्षितं प्रतीकोद्भावनं वा आद्यं
परिहरति-। “यत्र”ति-। “एषमि”ति । यत्रापक्षधर्मत्वोद्भा-
वनमात्रं तत्रापि निमित्तानुद्भावनमाख्यासिद्धेयं वा प्रमिति-
विरहोद्भावनमात्रं लक्षणान्तरमाख्यासिद्धिरिति भावः ॥

मू० अथ प्रत्येकमिदं लक्षणं व्याप्त्यप्रमिततया साक्षा-
दुद्भावोऽसिद्धः पक्षधर्मतया ऽप्रमिततया चेति तर्ह्य-
न्योन्योदाहरणाव्याप्तिरित्यन्यापकत्वमुभयोः *अ-
थोभयोरप्यसिद्धविशेषलक्षणत्वादन्योन्यविषयाव्या-
पकता न दोषायेति मन्यसे ?*-न, सामान्यलक्षणे
निर्वक्तुमशक्ये कथमिदं विशेषलक्षणमपि घटेत्* अ-
थानुमितेरसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनं सामान्यल-
क्षणमस्तु ? * सैवम्, सत्प्रतिपक्षोद्भावनं तथेत्यति-
व्याप्तेः । भावरूपतया हेतुविशेषणे च निरुपाधि-
त्वव्यतिरेकोद्भावनाव्याप्तेः “स्वरूपासिद्धिः सर्वप्र-
माणसाधारणो दोष इति तदुद्भावनाव्याप्तेश्च *
अथोच्यते व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितत्वस्य
व्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यस्यते सोऽसिद्ध इति ?*-
इदमप्यलक्षणं अव्यापकत्वात् ॥

टी० ॥ द्वितीयमाशङ्क दूषयति-। “अथे”ति । तथा च
सुतरामव्याप्तिरित्यर्थः ॥ ननु तिमृणामभिद्वीनां विशेषलक्षणा-

न्येतानि तथाचाव्योन्यानुपग्रही युक्त एव न दोष इति शङ्कते-।
 “अथे”ति । सामान्यलक्षणज्ञानमन्तरेण विशेषलक्षणविज्ञानानु-
 दयात्सामान्यलक्षणमेव प्रथममुचितमिति परिहरति-। “सा-
 मान्ये”ति । मन्वनुमित्यसाधारणकारणविरहोद्भावनं यत्र सोऽ-
 मिदु इति सामान्यलक्षणमित्याह-।^१ “अथे”ति । अनुमितेरना-
 धारणो हेतुर्व्याप्तत्वं पक्षधर्मत्वं तत्प्रमितिश्च तद्विरहोद्भावन-
 मित्यर्थः ॥ अतएवप्रतिपक्षितत्वमप्यनुमितेरसाधारणो हेतुरिति
 तद्विरहोद्भावनेऽतिठ्यासिरित्याह-। “सत्प्रतिपक्षे”ति । अनुनि-
 त्यसाधारणभावभूतहेतुविरहोद्भावनं विवक्षितमन्तरेप्रतिपक्षितत्वं
 च न भावभूतमनो नातिठ्यासिरिति यदि नदा निरुपाधित्व-
 स्यानुमित्यसाधारणहेतोर्यत्रविरह उद्भावयते तत्र ठ्याप्यत्वामि-
 दुःखठ्यापितरिति शङ्कोत्तराभ्यामाह-।^२ “साधे”ति ॥^३ “स्वकूपा
 सिद्धिरिति । यद्यप्यनुमित्यसाधारणदोषोद्भावनं न लक्षणं येना-
 ठ्यासिः स्यात् तथाप्यनुमित्यसाधारणहेतुठ्यतिरेकोद्भावनमपि
 तत्रैवपर्यवस्यतीति तथोक्तम् ।^४ “अथेति । अनैकान्तिकादौ
 साक्षादनुमित्यसाधारणहेतुठ्यतिरेकोद्भावनं नास्ति किन्त्वने-
 कातिकत्वादिद्वारैति न तत्रातिठ्यासिरिति भावः । अत्र प्र-
 मितिठ्यतिरेकः पूर्वस्माद्देह इत्यप्ये ।

म० “यत्र ठ्याप्यत्वादिठ्यतिरेक उपन्यस्यते^५ तत्र वस्तुगत्या
 ठ्याप्यत्वप्रमितेर्व्यतिरेकोस्तु नाम नतूपन्यस्यतेपि
 प्रयोजनाभावात्, ठ्याप्यत्वादिठ्यतिरेकदर्शनादेवानुमाना-
 ङ्गवैकरूपात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानात्तस्मादत्र
 प्रमितत्वठ्यतिरेकोद्भावनं नास्तीत्यठ्यापकत्वं दोषः
 * ननु विशेषणाद्यभाषोपि वस्तुतो विशिष्टाभाव
 एवेति नोक्तदोषः * न “यदि विशेषणाद्यधिको-
 विशिष्टस्तदा तदभावभेदोपि स्यात् * अथ नाधिक-
 स्तदा विशेषणाभावान्नान्यस्य विशिष्टाभावतेति *
 विशेष्याभावस्यापि तथात्वे पृथक् पृथगेव विशि-

ष्टाभावाद्यस्तथोरित्यननुगम एव स्वार्थानुमित्यसि-
द्धाऽप्याप्तित्वाद्यनुद्भावनादिति ।

टी० ॥ ठयाप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रकारकप्रमाठयतिरेकोद्भावने
केवलठयाप्तत्वठयतिरेकोद्भावने केवलपक्षधर्मत्वठयतिरेकोद्भावने
वा नास्तीत्यत्राठयाप्तिरित्याह- । "यत्रे"ति । यद्यपि प्रमितत्व-
ठयतिरेकस्तत्रास्ति तथापि उद्भावनं तत्परः शब्दप्रयोगो वा
नास्तीत्याह- । "तत्र वस्तुगत्ये"ति ॥ ननु यथापि ठयाप्तिवि-
रहोद्भावनात् तत्रापि ठयाप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रकारकप्रमाठयतिरे-
कोद्भावनात्प्रत्येव विशेषणाभावेपि विशिष्टाभावसत्त्वादिति श-
ङ्कते- । "नन्वि"ति । विशिष्ट यत्तद्यदि विशेषणादितो भिन्नं
तदा प्रतियोगिभेदात्तदभावभेद इति विशेषणाभावोपन्यासेपि
न विशिष्टाभावोपन्यास इत्यठयाप्तितादक्षस्थणम अथ विशेषण-
विशेष्याभ्यामभिन्नं विशिष्टं तदा विशेषणाभावो यदि विशि-
ष्टाभावस्तदा विशेषणाभावोठयाप्तिरित्यननुगमः उभयाभावाभि-
धानेपि प्रत्येकाभावाव्याप्तिरिति स एव दोष इति परिहरति- ।
"यदी"ति ॥

मू० * "अथ ब्रूषे यत्र ठयाप्तित्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्धयतिरेकः
साक्षाच्छक्योपन्यासस्तदसिद्धं शक्योपन्यासत्वस्या-
नुपन्यस्तेपि सन्भवाज्जास्त्यठयापकतेति * नैतदपि
युक्तं, तथाहि 'शक्योपन्यासत्वं किं शक्यस्वरूपनि-
र्देशत्वमात्रमुत शक्यप्रमापणात्वं आद्येऽनैकान्तिका-
दावपि ठयाप्तिशून्यत्वं शक्यप्रतिज्ञं भवत्येव द्विती-
येपि यदि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थस्तदा प्रत्यक्षेण
प्रमाणीयत्वं ठयाप्तित्वपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्य-
क्षप्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षतावादिमते विरुद्धादाव-
प्यस्तीत्यतिठयाप्तिः अन्यमते न क्वचिदपीति सर्वा-
ठयाप्तिः * "अथ ठयाप्तित्वपक्षधर्मताविरहस्यापि प्रत्य-
क्षप्रमाणीयता विवक्षिता * सान युक्ता, उक्तलक्ष-

एवाक्यस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहानभिधायित्वात्
‘तद्विरहेऽपि तात्पर्याभ्युपगमे प्रत्येकसमुदितलक्षण-
ताविकल्पेनाव्यापकतापातात् ॥

टी० ॥ पूर्वदोषे सत्येव स्वार्थानुमित्यभिदुत्वमात्रमङ्ग-
हाय शङ्कते-। “अथ ब्रूवे” इति । साक्षादित्यनैकान्तिकादाव-
तिव्याप्तिवारणाय शक्योपन्यासेति स्वार्थानुमानासिद्ध्याप्तिवा-
रणाय उपन्यासयोग्यतायास्तत्रापि सत्त्वात् अत्र शक्योद्भावमत्वं
विरुद्धादावित्यव्यापकम् उद्भावनाहतायास्तत्राक्षतेः व्याप्तिपक्ष-
धर्मताप्रमितिर्विरहस्य प्रत्यक्षप्रमाणीयत्वं नैयायिकमते विरुद्धा-
दावनिव्यापकं भट्टमते चासंभव एव लक्षणदोष इत्याह-।^१ शक्यो-
पन्यासत्वमिति । भट्टमतेऽसम्भववारणाय शङ्कते-। “अथे”ति ।
व्याप्तिपक्षधर्मताविरहस्य तन्मतेऽपि प्रत्यक्षत्वा^(१)दित्यर्थः ॥ व्या-
प्तिपक्षधर्मताप्रमितिर्विरहान्तभावेण लक्षणे प्रमितिर्विरहान्त-
भावात्प्रत्यक्षकतया तदवस्थ एवानुभवो दोष इत्याह-। “उक्त-
लक्षणे”ति । ननु व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिर्विरह इत्यत्र द्वन्द्वम-
नाश्रयसादृशात्पत्यादिविरहोऽपि तात्पर्याविषय एवेत्यत आह-।
“तद्विरहेऽपि”ति । व्याप्तिविरहादीनां यदि प्रत्येकं लक्षणत्वं
तदा नदितरत्राव्याप्तिरथ तावतां विरहाणां मिलितमुद्भावनी-
यत्वेन विवक्षितं तदा प्रत्येकोद्भावनाव्याप्तिरित्यर्थः ॥

सू० (१) “अतीन्द्रियपक्षादिविरहे च विषये^१ तदभावाद्-
व्यापकतापत्तेः एतेन यदि लिङ्गानपेक्षत्वे साक्षादर्थः
सोऽपि निरस्तः * अथोच्यते यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्म-

(१) ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्प्रतियोगिकाभावस्यापि प्रत्यक्षत्वं बो-
द्धव्यं, यद्वा ज्ञानाभावस्याधिकरणप्रत्यक्षात्प्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षत्वम् । (२) अ-
तीन्द्रियपक्षेतिभावप्रधानतया निर्देशः । अतीन्द्रियपक्षत्वाद्यभावइत्यर्थः ।
आदिनातीन्द्रियव्याप्तिपरिग्रहः । अत्र विद्यासागराः । अनित्याः परमात्म-
सर्वगतत्वादिति यदा मीमांसकेन प्रयुज्यते तदा अतीन्द्रियपक्षधर्मत्ववि-
रहस्तथा वक्ष्यामि तत्र चतुर्वेदाभिन्नः ब्राह्मणप्रत्यक्षत्वादिप्रतीन्द्रियव्याप्ति-
विरह एतदुक्तं भवति अतीन्द्रियपक्षहेतवोः प्रत्यक्षप्रमाणीयत्वाभावात्प्रत्य-
क्षधर्मत्वपक्षधर्मत्वव्याप्तिरित्येके प्रत्यक्षप्रमाणीयत्वाभावाद्प्रत्यक्ष-
धर्मत्वप्रमितेः इतिरेकः प्रत्यक्षे च शक्योपन्यास इतीत्यभिदधते ।

त्वप्रमितेऽर्थतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया त-
त्प्रमापकस्य लिङ्गस्योपन्यासमन्तरेण शक्योद्भाव-
नस्तद्विद्विमिति ? * -॥

टी० ॥ सर्वसाधारण दोषान्तरमाह-। “अतीन्द्रिये”ति ॥
“तदभावादि”ति । प्रत्यक्षेण प्रमाणीयत्वाभावादित्यर्थः ॥
“एतेने”ति । विरुद्धाद्यतिव्यापकत्वेन प्रत्येकमित्यतिविकल्पेन
वेत्यर्थः ॥ अहमते प्रमितिविरहस्यानुपलब्धिगम्यतया लिङ्गान-
पेक्षत्वमन्येषां च प्रत्यक्षवेद्यतया च लिङ्गानपेक्षत्वं तुल्यमिति
भावः ॥ उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते-। “अथे”
ति । यत्र व्यापनत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेऽर्थतिरेको लिङ्गस्योपन्यास-
व्यतिरेकेण शक्याद्भावनस्तत्र हेतुस्तत्प्रमापकस्य प्रतिपाद-
नीयान्तरानपेक्षनयेति नचैवमतिव्याप्तिर्विरुद्धादौ विरुद्धत्वव-
द्यभिधारत्वादिलिङ्गोपन्यासात्तत्राव्याप्तिरतीन्द्रियपक्षधर्मत्वा-
दिविरहे^(१), तत्र^(२) पक्षादिविरहस्यैव लिङ्गान्तरापेक्षया तद-
वगमे सति व्यापत्यादिद्वयतिरेकावगमकलिङ्गानुपन्यासादित्यर्थः
(^३) यद्वा यत्र व्यापनत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेऽर्थतिरेकः प्रतिपादनीया-

(१) काञ्चनमयः पार्थिवपरमाणुर्नधत्तान् पार्थिवत्वात् पुष्पादि-
वदित्याद्यतीन्द्रियपरमाणादिपक्षकानुमाने पार्थिवत्वादिहेतौ काञ्चन-
मयत्वविशिष्टपार्थिवपरमाणात्मरूपपक्षधर्मत्वस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाऽऽवि-
धर्मिकत्वादित्यत्किञ्चिल्लिङ्गगम्यत्वमेव वाच्यम् तथा च निरुक्तलक्ष-
णाव्याप्तिरिति पूर्वपक्षग्रन्थाभिप्रायः । (२) न तत्र पक्षधर्मत्वव्यतिरेकस्य
याः किञ्चिदविद्विमितिर्धर्मिकत्वादिलिङ्गगम्यत्वं किन्तु पक्षतावच्छेदकोभूतका-
ञ्चनमयत्वविशिष्टपार्थिवपरमाणात्मकपक्षविरहस्यैव पार्थिवत्वादिदि-
त्किञ्चिल्लिङ्गगम्यत्वं तथाच पार्थिवपरमाणुः काञ्चनमयत्वाभाववान्
पार्थिवत्वाद् घटवदिति मयमतः काञ्चनमयत्वाभावविशिष्टं परमः परमात्म-
कपक्षविरहमनुमाय हेतोस्तद्विद्विमितिरेकोऽप्यदेवाऽऽवगम्यते इत्यर्थमात्रे
तस्मिन्हेतवन्तरं पुनर्नाभिधेयम् अथपौनरुक्त्यापातात् तथाच न लक्षणा-
ऽव्याप्तिरित्याह-तच्चेति । (३) नन्वतीन्द्रियपरमाणादिपक्षकानिरुक्तानु-
मित्यस्त्वतीन्द्रियपक्षविरहपक्षधर्मत्वविरहयोरुभयोरप्यतीन्द्रियत्वाऽविशेषेण
पक्षविरहस्यैव लिङ्गगम्यत्वं न पक्षधर्मत्वविरहस्येत्यत्र न किञ्चिद्विनि-
गमकमित्यस्वरक्षात्पक्षधर्मत्वादिव्यतिरेके लिङ्गान्तरापेक्षयाव्यतिरेकेऽ-
त्यव्याप्यवसपहाय पक्षधर्मत्वादित्यतिरेकावगमकलिङ्गे तदाह-यद्वेति ।

न्तरानपेक्षतया असत्प्रमाणकं लिङ्गं तदुपन्यासक्यतिरेकेणैति
संबन्धः विरुद्धा^(१)दौ प्रतिपाद्यान्तरानपेक्षविरुद्धत्वात्प्रमाणसा-
क्षातिव्याप्तिर्नवान्तीन्द्रियपक्षधर्मताद्विरुद्धादावव्याप्तिस्तद्विरुद्धस्य
प्रतिपाद्यान्तरानपेक्षत्वाद्ये न तस्य व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति
तस्याः प्रतिपादनीयत्वादित्यर्थः ॥

सू० "नैतदप्युपपन्नमतिव्यापकत्वात्" तथा हि विरुद्धा-
दावपि शक्यते तावद्विपक्षवृत्तिदण्डभूततर्काभावात्
सोपाधितावगन्तुं यदाह "यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति
सोऽप्रयोजक इति" तस्मात्तेषामप्येवंलक्षणयोगित्वा-
दसिद्धत्वप्रसङ्गः * "नच तादृशतर्काविषयत्वमपि प्र-
तिपादनीयान्तरानपेक्षतया व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमि-
तिविरहप्रमाणकलिङ्गभूतमेवेति वाच्यं ? *— तथा
सति विरुद्धत्वादिवत्तस्य हेत्वाभासान्तरत्वप्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ नैदं लक्षणमतिव्याप्तत्वादिनि परिहरति—
"ने"ति । विरुद्धादौ प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षविरुद्धत्वादिलि-
ङ्गेऽपन्यासेन व्याप्तत्वादिप्रमितिव्यतिरेकस्य शक्योद्भावनत्वे क-
थमतिव्याप्तिरित्यत आह । "तथा ही"ति । अनित्यः शब्दो
कृतकत्वादनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्यादिविरुद्धादौ विपक्ष-
बाधकतर्काभावादपि व्याप्तिविरहस्य शक्यावगमत्वादतिव्या-
प्तिरित्यर्थः ॥ विपक्षबाधकतर्काभावो विरुद्धत्वादिविरुद्धादिव्य-
तिरेकगमक इत्यत्रोदयनसंवादमाह— "यत्रे"ति । अनुकूलतर्कः
पक्षे स एव प्रतिकूलो विपक्षे स यत्र हेतुत्वाभिज्ञते नास्ति सोऽ-
प्रयोजको व्याप्तिरहित इत्यर्थः सकललक्षणसङ्गृहीतत्वाद्विरुद्धा-
देरसिद्धान्तभावः स्यादित्युपसंहरति— "तस्मादि"ति । विप-
क्षबाधकतर्कान्तरत्वं प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षव्याप्तिपक्षधर्म-
ताप्रमिति व्यतिरेकलिङ्गमुपन्यस्यते इति नातिव्याप्तिरित्यत
आह— "नचे"ति । कुतो न वाच्यमित्यत आह— "तथे"ति ॥
सू० * "अथोच्यते" तथोपन्यस्यमानं तदसिद्धं भवतु सा-

ननु च गोत्पारवत्त्वादिबद्धत्वात्कारणवत्त्वात् इत्येति किं नाम

टी० ॥ उपात्त्यादिभङ्गत्वादिबद्धत्वादिबन्धकारणवत्त्वात् इत्येति किं नाम
 त्वाभावात्परं यथाकथं तस्य विरुद्धादावभावात् (१) एवं सति
 विरुद्धेनेकात्मादेरन्तर्भावोपात्तात्तात्पर्यमिति प्रसङ्गो दीयाय विरु-
 द्धादेरविरुद्धत्वोपपत्तयेनाविरुद्धत्वस्यापि सत्त्वादिति शङ्कते-
 "अथे"ति । तुल्यायां (२) प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य विरुद्धादाव-
 विरुद्धत्वविरुद्धत्वादिबन्धव्यवहारोक्तिं प्रवृत्तिमिति सन्नेदादेव हेतवा-
 न्नासमेदव्यवस्थेत्यर्थः ॥ "अथे"ति । प्रागुक्तप्रकारपरामर्शस्त-
 र्तिं विरुद्धादिसंन्यासद्वयस्य आह- । "सोऽप्ये"ति । यत्र साध-
 कतर्काभावेन साध्यायिता गम्यते तद्विरुद्धं तदेव पुनः साध्यवि-
 रुद्धत्वादिना दूष्यमाणं विरुद्धादि भवतीत्यर्थः ॥ उपन्यासनेदेपि
 वस्तुन एकत्वात्कथं हेतवाभासव्यवस्थेत्यत आह- । "उप-
 न्यासे"ति । उपन्यासनेदेसाधिक एव हेतवाभासमेद इत्यर्थः
 अनौपाधिक एव भेदः कस्मात्कोऽप्ये हेतवाभासानामित्यत्र
 आह- । "नही"ति । जलमग्निं धूमवत्त्वादित्यत्र उपात्त्या-
 दिविरुद्धस्य साध्य विपरीतव्याप्तयेन नकारात्तथा मित्यः शब्द-
 र्थात्तत्त्वादित्यादावप्यतिवृत्ताङ्कुर्यादित्यर्थः एकमेवं चतुर्हा-
 त्तमुपपादयितुं परमुक्तेन पृच्छति- । "किमिति" ॥

सू० "प्रमाणप्रमेयभाववत् प्रकारान्तरासाङ्करमात्रमिति?*-
 तदप्ययुक्ताभिधानं, 'वक्तव्यं हि केन प्रकारेणावि-
 रुद्धत्वं भवति' न तावदुक्तलक्षणं तथा शक्योद्भावनं
 तस्य विरुद्धोचितप्रकारेणोपन्यस्यमानस्य संभवात्
 /सर्वथा निष्प्रकारकस्याविरुद्धधर्मिण उद्भावनस्या +

(१) 'उपात्त्यादिभङ्गत्वादिबद्धत्वादिबन्धकारणवत्त्वात् इत्येति किं नाम' इति शेषः ।

(२) अत्र 'तुल्यायामिति' युक्तं पाठमुत्पन्नम्, यथा वृत्तपाठे तु
 चक्रीर्षतावामिति पदसंख्यादृश्यं चक्रीर्षतायां तुल्यायां वृत्तानववर्षः
 कथञ्चिदुपवर्षादिति ।

शक्यत्वात् नच तथा शक्योद्भावनत्वमप्युद्भाव्यते
ऽसिद्धे येन प्रकारभेदव्यवस्थितिरनेन भवेत् ॥

टी० ॥ स्वारस्यमाह-। “प्रमाणे”ति । इन्द्रियादी प्रमा-
करणत्वेन प्रमाणत्वं तद्विषयत्वेन च प्रमेयत्वं व्यवह्रियते तद्-
दित्यर्थः । खयहनवादिनं प्रति प्रमाणप्रमेयवदिति कथं सिद्ध-
वदृष्टान्तमुदाहरसीति दूषयति-^१“तदपी”ति । किंच प्रकारास-
ङ्करमात्रमिति ब्रवतासिदुव्यवहारोचितप्रकारो वक्तव्यः स च
वक्तुमशक्य इत्यभिप्रेत्याह-। “वक्तव्यं ही”ति । यत्र च ठयाप्त-
त्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्धर्मतिरेको लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्यो-
द्भावनः सोऽसिद्ध इत्याशङ्काह-। “न तावदि”ति । कुत इत्यत
आह-। “तचे”ति । साध्यविरुद्धव्याप्तत्वादिप्रकारेणोपन्यस्य-
मानस्यापि तथानुमानेपि तथा शक्योद्भावनत्वमस्तीत्यतिठया-
प्तिरेवेत्यर्थः ॥ यत्र साध्यविपरीतठयाप्तत्वादिप्रकारो नास्ति
व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्धर्मतिरेकश्च लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण
शक्योद्भावनः सोऽसिद्धप्रकार इत्यत आह-। “नर्वे”ति । सर्वथा
विरुद्धादिप्रकारहीनस्यासिद्धधर्मिण उद्भावनस्य ऽठयाप्त्यादिप्र-
मिति व्यतिरेकोद्भावनस्याशक्यत्वात्कश्चिदसङ्करेपि सर्वत्रासा-
ङ्कर्याभावादित्यर्थः । यद्यपि विरुद्धव्यवहारोचितप्रकारादावपि
तथाशक्योद्भावनत्वमस्ति तथापि तन्नोद्भाव्यते यत्र तु तदुद्भाव्यते
सोऽसिद्ध इति व्यवस्थेत्यत आह-। “नचे”ति । स्वार्थानुमा-
नेसिद्धे ठयाप्तेरित्यर्थः ।

सू० * “नच शक्योद्भावनपदस्थाने उद्भाव्यमानत्वमिति
कृते निस्तारः ?*- “सोपाधिताद्युद्भावेन प्रमित्यभा-
वोद्भावनं व्यर्थत्वान्न क्रियत इति तदव्यापकत्वं प्रस-
ज्येत इति प्रागेवाक्तत्वादिति एतेनासिद्धः साध्य-
सम^(१) इति प्रत्युक्तं “यथाकथञ्चित्साध्यसाम्यस्य
सर्वसाधारणत्वात् ।

। यत्र सूत्रे बहुषु पुरुषकेषु तदुद्भावनस्येति पाठः, याङ्कर्यामप्ये-
तदर्थं ह्युद्भा यते तथैव प्रतीकधारणेनापि भाष्यं-“तदुद्भावनस्येति” इति ।

(१) साध्यसमत्वं च साध्यवत्साधनायत्वेन रूपेण ।

टी० ॥ तर्हि व्याप्तत्वपक्षधर्मप्रत्वमित्येव्यतिरेको यत्र लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेणोद्गाढ्यमानः सोऽविद्गु इति कृते निस्तारो विरुद्धादावनुद्गाढ्यमानत्वादिति^(१) समनन्तरोक्ताठ्याप्तिपक्षयत्न केवलातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते यस्तं प्रत्याह—
 “नचे”ति । कुतो न निस्तार इत्यत आह—^b“सोपाधी”ति । सोपाधित्वं व्याप्त्यभावः व्याप्तिविरुद्धपक्षधर्मताविरुद्धं नैवानुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्गाढ्यपर्यवसानाद्द्वेष्यात् प्रमित्यभाषो नोद्गाढ्य इति कृत्वा तस्य लक्षणस्याठ्यापकत्वं व्याप्त्यादिविरुद्धमात्रयोद्गाढ्यमानासिद्धं प्रत्यठ्यापकत्वं स्यादिति प्रागुक्तमित्यर्थः ॥ इदानीं सूत्र^(२)निसृतं लक्षणं निरस्यति—
 “एतेने”ति । साध्येन हेतोः साम्यं येन केन चिदाकारेण किं वा साम्यविशेष इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—^dयद्ये”ति । अस्तित्वज्ञेयत्वादिना साध्यसाम्यं विरुद्धादावपि तुल्यचित्यर्थः ॥ सू०“साम्यविशेषस्योक्तप्रकारपर्यवसानव्यतिरेकेणान्यस्यासम्भवात्^b लक्षणान्तरेषु चोक्तद्रूपणप्रकारा यथासम्भवमिह योजनीया इत्यलं विस्तरेण “अपि चासिद्धलक्षणविशेषेषु प्रमाणव्यवच्छेदकव्यतिरेकेण यद्वयवच्छेद्यं किं त—

टी० ॥ यथा साध्यं साध्येन व्याप्ततयो न प्रमितनेकत्वाद्यथा च पक्षधर्मतया न प्रमितं मन्दिग्धत्वादेवं रूपत्वमिहसाम्यं विवक्षितमिति द्वितीयमाशङ्काह—
 “साम्ये”ति । एवंविधसाम्यविशेषस्य व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां न प्रमित इत्युक्तप्रकारपर्यवसायित्वात्तस्य च खण्डितत्वादित्यर्थः ॥ अनिशितपक्षवृत्तिरसिद्ध इत्यादिलक्षणांतरे को दोषस्तत्राह—
 “लक्षणे”ति । व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमिति व्यतिरेकस्य तत्राप्य

(१) अनुद्गाढ्यमानत्वादिति केवलातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते— इति सम्बन्धः । अनुद्गाढ्यमानत्वात्=लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकस्याऽनुद्गाढ्यमानत्वादित्यर्थः (२) सूत्रम् “साध्योऽविधिः सध्यत्वात्साध्यसमः” इति न्यायवात्स्यायने प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निके एकोनपञ्चाशत्तमम् ।

वश्यं वक्तव्यत्वाद्बुद्धदोषः प्रादुर्भूयतेति यावत् किञ्चेदननि-
 श्चितत्वमप्रमितत्वमुत ज्ञातत्वमुत चन्द्रधत्वमाद्ये दत्तमे-
 वोत्तरं द्वितीये आन्त्यापि पक्षधर्मतया विदिते कोपाधिकादा-
 वध्यामिस्त्वनीये पक्षधर्मत्वादिविरहात्मना निश्चितचाक्षुषत्वा-
 दावध्यामिस्त्वर्थविशेषकविशेष्यासिद्धादौ चेत्यादि बहु वक्तुं
 शक्यमपि नोच्यते यद्यप्यगौरवमयादित्युपसंहरति— “इत्यन्मि”
 ति । विरुद्धवृत्तानामि प्रस्तावयति— “अपि चे”ति । उपास-
 त्वपक्षधर्मत्वप्रमितित्यतिरेके यत्र लिङ्गस्योपन्यासठ्यतिरेकेण
 शक्योद्भावनस्तदसिद्धमित्यादिलक्षणेषु व्यतिरेक इत्यन्तं विशे-
 षणप्रमाणव्यवच्छेदक^(१)तदतिरिक्तं विशेषकद्वयमस्ति तेन किं
 व्यावर्त्यं न किञ्चिद्विरुद्धादेरद्याप्यसिद्धत्वात् व्यावर्त्यमित्युक्तश-
 क्यत्वादितरेतराश्रयश्च विरुद्धादौ सिद्धे तद्व्यावर्त्यनेनासिद्धमि-
 द्दिरसिद्धसिद्धौ च तद्व्यावर्त्यविरुद्धादिसिद्धिरित्याक्षेपाभिप्रायः ॥

मू० “त्केनचिद्विरुद्धं केनचिदन्यदितिचेत् विरुद्धमेव
 किमुच्यते तथाहि साध्यविपरीतव्याप्तौ विरुद्ध
 इत्याहुः “तत्र साध्यव्यतिरेकेण हि व्याप्तिः का-
 त्स्वर्येण वानौपाधिका वा स्वाभाविका वा संबन्ध
 इत्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते ॥

टी० ॥ निमित्तवि पृष्ठं नत्वोत्तरं प्राहेतरः— “केनचिदि”

ति । लिङ्गस्योपन्यासठ्यतिरेकेणेति विशेषणेन विरुद्धं व्यव-
 च्छेद्यमनैकान्त्यादि च तुल्यत्वात् केनविच्छेद्योद्भावन इत्यने-
 नान्यदव्यापकत्वं स्वार्थानुमानासिद्धे इत्याशयः विरुद्धस्यैव
 निरुद्धसराणीमधिरोद्धुमनर्हतया परास्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—
 “विरुद्धमि”ति । विरुद्धानिरुक्तिमेव प्रतिपादयति— “तथा-
 ही”ति । साध्यस्य विपरीतोऽभावस्तद्विरुद्धो वा धर्मस्तेन
 व्याप्तौ विरुद्ध इत्याहुर्दयनादयः विषयव्याप्तत्वेन निश्चि-
 तो विरुद्धो हेतुभावात् इति वचनात् पक्षविपक्षयोरेव वर्त-
 मानो विरुद्ध इति भवककतो लक्षणस्याप्ययतो न भेदः

(१) प्रमाणव्यवच्छेदकम् = अनुमानात्मकप्रमाणस्य व्यवच्छेदकम् ।

विपर्ययाहचर्यमात्रमनेकान्तेष्वस्तानि तत्परामाय व्याप्तत्ववि-
शेषणं भङ्गं गणयति-। “तत्र”ति । लक्षणस्य व्ययविशेषणतां
वक्तुं व्याप्तिपदार्थं कथयति-। “साध्य”ति । साध्यव्यतिरेकेण
हेतोःशक्तिरित्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते
इति संबन्धः ॥ १. “कात्स्न्ये”ति । सार्वत्रिक इत्यर्थः सर्वे एते
प्रकारा अनुमानप्रस्तावे दर्शिताः आदिपदेन यत्र^(१) विपक्षे हेतो-
र्वृत्तौ बाधकमस्ति तयोः सहभावो गृह्यते ॥

स० “तथा सति च साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमे-
व विशेषणविशेषणयुक्तं विरुद्धत्वमित्युक्तं स्यात्” यथा
चैवं तदा साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव
हेतोरगमकत्वे समर्थमिति तन्मात्रमुद्भाव्यं वृथा
विशेषणप्रक्षेपः “तथाचानैकान्तिक एवायं स्यात् *
“ननु साध्यव्यतिरेकसंबन्धो यद्यपि विरुद्धानैकान्ति-
कयोर्द्वयोरप्यस्ति ।

टी० ॥ सहभाव एव व्याप्तिपदार्थं निरुचयनां का नाम
वस्तुस्तितिरित्यत्र आह । “तथे”ति । साध्याभावेन हेतोः अमा-
नाधिकरण्यं साहचर्यसम्बन्धेन विशेषणकात्स्न्यादिना युक्तो
व्याप्तिः स्यादित्यर्थः ॥ यदर्थमुपोद्घातः क्वस्तदिदानीं दर्श-
यति-। “यदे”ति । हेतोः साध्याभावसम्बन्धमात्रस्येवानुमा-
नाङ्गवैकल्पदोषप्रतिपादनमात्रार्थात्तस्मात्तन्मात्रमुद्भाव्यं नहि भ-
वति साध्याभावमहचरितः साध्याविनाभूतश्चेति ततः का-
त्स्न्येत्यादि विशेषणप्रक्षेपोमुखा यद्यपि व्याप्तिरित्युक्तं निर्वि-
शेषणमेव तथापि दृग्गीति वत्तदर्थनिर्वचनेन सविशेषणत्व तर्हि
साध्यस्य व्यतिरेकसहचरितो विरुद्ध इत्येतावन्मात्रं ब्रूमस्त-
त्राह-। “तथाचे”ति । पक्षत्रय वृत्तरसैकान्तिकस्यापि साध्य
व्यतिरेकसामानाधिकरण्यमस्तीति ततो भेदो न स्यादित्यर्थः ॥
अनैकान्तिके व्यतिरेकसामानाधिकरण्यं तन्मात्रस्य चागम-
कत्वे प्रयोजकत्वमुक्तमङ्गीकृत्य चोदयति-। “नन्वि”ति ।

(१) यत्र=ययोः साध्यहेत्वोर्मध्ये ।

म० "तथापि वस्तुगत्या स्वाभाविकोऽपि विरुद्धे 'एवेत्ये-
तावन्मात्रविवक्षया विरुद्धस्यानैकान्ताद्भेदोपन्या-
सः ? * - 'मैवं, दत्तोत्तरत्वात् 'वस्तुगत्या सन्नप्ययं
विशेषो नोद्भावनाहं इत्युपेक्षणीय इत्युक्तं 'तथाहि
नेदमस्य साधकमेतत्साध्यं प्रति विरुद्धत्वादित्यभि-
धीयमाने विरुद्धशब्दार्थनिरुक्तौ विशेषणाधिक्यस्यो-
क्तन्यायेन दुष्परिहरत्वात् 'अत एवानैकान्तिके स-
न्देहेन प्रत्यवस्थानं विरुद्धे तु व्यतिरेकनिश्चयेनेति
विशेषादनयोर्भेदोपन्यास इत्यप्यनवकाशम् ॥

टी० ॥ तर्हि विशेषणवैयर्थ्या नित्यपि न वचनीयं विरुद्ध-
स्यानैकान्ताद्भेदज्ञापकनयांतर्वर्तिन्या ठयाप्नेरुपन्यासादित्या-
ह । "तथापी"ति ॥ कलितमोह- । "इत्येतावदि"ति । अनु-
पयर्काशमन्निध्यधिको न वक्तव्यो ज्ञेयत्वादिबन्निग्रहापानादिति
परिहरति- । "मैवमि"ति । दत्तोत्तरत्वादिति हेतुरसिद्ध इत्यत
आह- । "वस्तिव"ति । व्यतिरेकमानानाधिकरण्यमेव हेतो-
रगमकत्वे समर्थमिति विशेषणप्रक्षेपोऽमुधेत्युक्तमित्यर्थः ॥ नित्यः
शब्दः कृतकत्वादात्मवदित्युक्ते कृतकत्व न नित्यत्वसाधकं
विरुद्धत्वादित्युपन्यासे कथं विशेषणवैयर्थ्या नित्यत आह- ।
"तथाही"ति । साध्यनिश्चयं विरुणद्धीति विरुद्ध इति वक्त-
व्यं व्याप्तिरपि सार्वत्रिकत्वादिविशिष्टसाहचर्यमित्युक्तन्यायेन
साहचर्यमोप्रत्यागमकत्वममर्थत्वेन विशेषणाधिक्यं दुष्परिह-
रमित्यर्थः उक्तमेव नीतिं भङ्गवन्तरेप्यनिदिशति- । "अतः"
इति । अनैकान्तिके साध्यव्यतिरेकेण ठयाप्तिरसन्देहेन प्रत्यव-
स्थानं विरुद्धे तु साध्यव्यतिरेकउपान्तव निश्चयेन प्रत्यवस्था-
ननिश्चयंरूपविशेषादनैकान्तविरुद्धयोर्भेदकथनं मत एव विशे-
षणवैयर्थ्यादेव निरवकाशमित्यर्थः अनैकान्तिको हि साधारणो

साधारणश्चेति द्विधा तत्र साधारणः साध्याभाववति पक्षे च साधारणत्वात्समानधर्मतया पक्षे साध्यमन्देहं करोति विरुद्धस्तु व्यतिरेकव्याप्ततया पक्षे साध्याभावनिश्चय करोतीति तयोर्भेद इति शङ्काकृत्तुऽभिप्रायः ।

मू० “अनुमितिहेतुव्यतिरेको हि अनुमितिहेतुश्चैको व्याप्तिः अतस्तदभावस्य दोषत्वात्तावन्मात्रं ज्ञाप्यं तच्च हेतुविपक्षसंबन्धोद्भावनमात्रादेव गम्यते तस्मादनुमितहेतुव्याप्तिप्रमितिव्यतिरेकबोधनाय संशये व्यतिरेकनिश्चये वा उद्भाष्यमानेपि कुतस्ताववेत्यत्र विपक्षसंबन्धमात्रनियततत्संबन्धाववश्योपन्यस्याविति विपक्षसंबन्धमात्रमेवास्तु व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वादुद्भाष्यं कृतमितराभ्यामिति ॥

टी० ॥ अत इतिपरामृष्टं विशेषणत्रैयर्थ्यं दर्शयति—
 “अनुमिती”ति अनुमितेर्यत्कारणं तदभावे हेतुदोष इत्यर्थः कस्तुत्यानुमितिहेतुर्यद्व्यतिरेको हेतुदोष इत्यत आह— “अनुमिती”ति । एको व्याप्तिरपरो हेतुः पक्षधर्मतेति यावत् ॥ ततः किमित्यत आह— “अत” इति । व्याप्तिव्यतिरेकस्य हेतुदोषत्वात्तन्मात्रमुद्भाष्यं तदेव हेतुं दूषयतीत्यर्थः व्याप्तिव्यतिरेकोद्भावनमेव हेतोर्विपक्षसंबन्धनियमानियमदर्शनाधीनमिति तदुपन्यास इत्यत आह— “तच्चे”ति । साध्याभावमहचरितः साध्यव्याप्तश्चेत्यमम्भवाद्विपक्षवृत्तित्वदर्शनेनैव व्याप्तिव्यतिरेको गम्यते इत्यर्थः । विपक्षमम्भन्यनियमाभ्यामपि व्याप्तिव्यतिरेकगम्यते इति तावेवोपन्यस्याविति विपरीतं किं न स्यादित्याशङ्कोपसंहरति— “तस्मादि”ति । तत्संबन्धमात्रमेवोद्भाष्यमस्तु कृतमलनितराभ्यां व्यतिरेकसंशयनिश्चयाभ्यामिति सम्बन्धः तदुपपादयति— “अनुमिती”ति । हेतुव्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकसंशयेनैकान्तिकव्यतिरेकनिश्चये विरुद्धो वेद्भाष्यमाने तावेव संशयनिश्चयौ कुत इति जिज्ञासायां विपक्षसंबन्धमात्रं विपक्ष-

निघतसम्बन्धश्चावश्योपन्यस्य इति कृत्वा विपक्षसम्बन्धमात्रस्य
ठयाग्नेस्तत्प्रमितेश्च ठयतिरेकस्य लिङ्गत्वात्तन्नात्रमुद्गाव्यमुप-
जीठयत्वाङ्गाघशाचचेत्यर्थः ॥

सू० "लकारभेदप्रयोगे तैस्तैर्लकारैः कालविशेषप्रतिपाद-
नवद्विभक्तिभिलिङ्गवद्बुद्ध्याङ्गापनवत्पर्वतोऽग्निमानि-
त्यादौ धर्म्यादिप्रतिपादनवच्च नेदं घटते 'तत्र तेषा-
मतात्पर्यविषयाणामपि 'पदप्रयोगे विशिष्टबोधने
वा अन्यथासिद्धानां यथा बोधनं तथा यद्यत्रापि व्या-
प्तेरतात्पर्यविषयत्वं तदानैकान्तिकसाधारण्यादेवा

टी० ॥ अभूद्भवति भविष्यतीति लुङ्गादिनकारभेदप्रयो-
गेऽविवक्षितोऽग्निभूतादिकालः प्रतीयते देवदत्तो ग्रामं गत इत्यादौ
पुङ्गिङ्गत्वादिगविवक्षितः प्रतीयते यथा वाग्निमान् पर्वत इत्यादा-
वविवक्षितधर्मिदृशान्नादि प्रतीयते तद्वद्विपक्षसम्बन्धमात्रोद्गावने
विवक्षितौ नियमानियमौ प्रतीयते इत्यत्र आह । "लकारे"ति ।

कालविशेषस्याविवक्षितत्व कालसम्बन्धमात्रस्य विवक्षितत्वा-
त्प्रथमादिविभक्तेः कर्त्तादिकारकमात्रप्रत्वालिङ्गादेरवविवक्षि-
तत्वमस्ति अग्निपर्वतसम्बन्धस्यैव विवक्षिततया प्रत्यक्षनिदु-
तया च धर्म्यादेरविवक्षितत्वमित्यर्थः कुतो न घटते इत्यत
आह । "तत्रे"ति । तत्र तेषामतात्पर्यविषयाणामन्यथासिद्धानां
बोधनं यथेति मयस्यः अन्यथासिद्धिं दर्शयति-। "पदेत्या"दि ।
पदानां लिङ्गाद्बोधकत्वस्वाभाठयाङ्गादेरन्यथासिद्धिः काला-
दिविशिष्टबोधने विशेषणतया कालादिविशेषस्यान्यथा सिद्धिरि-
त्यर्थः । तथा व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वमुन तात्पर्यविषयत्वमिति
विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह-। "तथे"ति । साधारण्यादेव न घटते
इति सम्बन्धः ठयतिरेकनियमस्यातात्पर्यविषयतया लक्ष्यलक्ष-
णत्वाभावाद्बुधतिरेकसामानाधिकार्यमात्रं लक्षणं स्यात्तदनैका-
न्तेष्यस्तीत्यतिठपास्रित्यर्थः ।

सू० "ऽन्यथोक्तदोषापरिहारादेवेति ^१अनैकान्तिकत्वं चानु-
द्भावयतानधिगच्छता च विरुद्धमशक्योद्भावनमशक्या-
वगमनं चेति ^२तदुपजीवित्वान्न पृथग्दूषणं ^३विशेष्य-
प्रतिपादनं विशेष्यावगमं च विना विशिष्टप्रतिपा-
दनस्य विशिष्टावगमस्य वाऽशक्यत्वात् एवमन्य-
त्रापि विशेषणस्याप्रयोजकता विशेषस्य सामर्थ्ये
स्वयमूहनीया ॥

टी० ॥ द्वितीयमपवादति-। "अन्यथे"ति । सम्बन्धनिय-
मस्य विवक्षितत्वे ष्यतिरेकसम्बन्धनात्रस्यागमकत्वप्रयोजकत्वे
सति विशेषणवैयर्थ्यादेवेत्यर्थः खण्डनान्तरमाह-। ^४अनैकान्ति-
कत्वमिति । विरुद्धोन्नैकान्तिकान्न पृथग्दूषणमिति सम्बन्धः
तत्र हेतु-। "तदि"ति । तस्याप्युपपादनायानैकान्तिकविसि-
त्वादि विरुद्धस्यानैकान्तिकोपजीवित्वेन यदुक्तं भवेत्तदेवासिद्धं
व्याप्तिमङ्गलिङ्गत्वाविशेषादित्यत आह-। "विशेष्ये"ति ।
विपक्षसम्बन्धस्य विशेषणं कात्स्न्यादिकत्स्नत्वादिविशिष्टविप-
क्षसम्बन्धप्रतिपादनादि विशेष्यभूतविपक्षसम्बन्धनात्रप्रतिपाद-
नादिठ्यातरेकेण नोपपद्यते विशेषणाविशेष्यप्रतिपादनाद्यधीनत्वा-
द्विपक्षसम्बन्धनात्र चानैकान्तिकमित्यर्थः विशेष्यांशस्य हेतोरगम-
कत्वे मनर्थत्वे सति विशेषणवैयर्थ्यं नन्यत्राप्यतिदिशति । "एव-
मि"ति ।

सू० तद्यथा इदमसाधकं साधारणानैकान्तिकत्वा-
दित्यत्र साधारणेति विशेषणे सपक्षविपक्षगतत्वा-
दित्यत्र सपक्षगतत्वे सतीत्युद्भाव्यमाने ^५एवमसाधा-
रणेपीति 'इदमसाधकं जातित्वादिति जातित्ववि-
वेचने स्वव्याघातकमुत्तरं जातिरिति स्वव्याघातक-
त्वस्यैव सर्वमसञ्ज्ञेयत्वादित्याद्यजातिजातिसाधा-
रणस्य दूषणसमर्थत्वेनोत्तराभिधाने इति "किञ्च
साध्यविपरीतेति ।

टी० ॥ तदुदाहरणेन विशदयति । “तदि”ति । शब्दो-
चित्यः प्रमेयत्वाद्दृष्टवदित्यत्र प्रमेयत्वमसाधकं साधारणानैका-
न्त्यादित्युक्तं साधारणविशेषणे सपक्षविपक्षतयावृत्तत्वादित्यत्र
विपक्षेतिविशेषणेऽप्रयोजकता द्रष्टव्येत्याह- । “एवमि”ति ।
विशेषणांशस्यैव समर्थत्वे विशेष्याप्रयोजकतापि द्रष्टव्येत्यभि-
प्रेत्याह- । “इदमि”ति । सर्वं सञ्ज्ञेयत्वादिति प्रथमप्रयोगे
द्रष्टान्ताभावान्साधकत्वेपि च जातिता सर्वमसञ्ज्ञेयत्वादि-
तिद्वितीयप्रयोगे हेतोरपि ज्ञेयतामस्त्वप्रमङ्गेन स्वव्याघातक-
त्वादादिपदेन नेदं साधकं हेतुत्वादित्यादिपरिग्रहः किं जाति-
त्वमिति जिज्ञासायां स्वव्याघातकरमुत्तरं जातिरिति विवेच-
नीयं तथाच जात्यजातिमाधारणस्य व्याघातकत्वस्यैव दृष्टव्य-
ममर्थत्वादुत्तरमिति विशेष्यस्याप्रयोजकता उत्तररूपे व्याघाते
जातित्वानङ्गीकारादुत्तरमित्यपि वक्तव्यमेव प्रमङ्गाद्द्रष्टव्यविशेष-
णत्वमन्यत्रातिदिश्य विरुद्धलक्षणखण्डनं प्रकृतमनुसरति- ।
“किञ्चे”ति ।

मू० ‘साध्योभावेत्यर्थं यदा अभावात्मैव साध्यः क्वचि-
द्भवितुमर्हति^(१) तत्र तद्विपरीतस्य भावत्वात्तदव्या-
पकत्वं लक्षणस्य नच विपरीतशब्दस्य विरोधिमा-
द्यार्थत्वेन भावाभावोभयव्याप्तिरिति वाच्यं महा-
नवस्थानं हि भावाभावयोर्विरोधोऽभ्युपेयते “अन-
वस्थानं च संसर्गनिषेधः स च भावाभावयोरन्यो-
न्यस्यानवस्थानमेव

टी० ॥ साध्यविपरीतव्याप्त इत्यत्र विपरीतपदेनाभावो
विवक्षित उत विरोधिमात्रमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह- ।
‘साध्ये’ति । अभाव इत्यर्थं आङ्गुल इति गुणे एकारे कृते असा-
वेत्यर्थे इति रूपं विवक्षिते इति शेषः न नित्यः शब्दः भावाना-
दित्वादित्यत्र नित्यत्वाभावे साध्ये तद्विपरीतेन नित्यत्वेन
भावरूपेण व्याप्तोयं विरुद्धो लक्षणेन च व्याप्यते इत्यव्याप्तिरिति

(१) केषुचित्पुस्तकेषु “भवितुमर्हति”-इत्यस्य स्थाने “भवति”-इति पठः ।

यावत् द्वितीयप्रपञ्चदति-। “नचे”ति । यत्र भावः साध्यस्तत्र तद्विपरीतोभावो यत्राभास्तत्र तद्विपरीतोभाव इति कुतो नोभयव्याप्तिर्विरुद्धमात्रार्थत्वे^(१) इत्यत आह-। “सहे”ति । भावाभावस्यैव विरोधत्वेऽन्यतरलपप्रसङ्गादित्यर्थः अस्तु ततः किमित्यत आह-। “अनवस्थानमि”ति । एकस्मिन्काले देशे च भावाभावयोरवस्थानं संसर्गस्तन्निषेधो नवस्थानमित्यर्थः संसर्गनिषेधः कीदृश इत्यत आह-। “स चे”ति । यत्र भावस्तत्र नाभावो यत्राभावस्तत्र न भाव इत्यन्योन्यस्यानवस्थानमेव संसर्गनिषेध इत्यर्थः ॥

मू० ‘परस्परप्रतिषेधरूपत्वात्तयोः’ तथाच सति भावाभावयोः स्वरूपस्यानुपसङ्ग्रहे प्रत्येकमव्याप्तिर्मिलितस्यासम्भव एवेति ‘वक्ष्यामश्च भावाभावयोर्विरोधनिरुक्तिनिराकरणमुपरिष्ठादिति “किञ्च व्याप्तपदेन लक्षणप्रविष्टेन किं व्यवच्छेद्यं अनैकान्तिकमिति चेत्किं तदनैकान्तिकमिति “तथाहि अनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यलक्षणं

टी० ॥ कुत इत्यत आह-। “परस्परे”ति । तथाच सति लक्षणस्य को दोष इत्यत आह-। “तथा चे”ति । भावाभावयोः स्वरूपास्वीकारेतयोरनवस्थानस्यैव लक्षणत्वस्वीकारे किं प्रत्येकं लक्षणमुत मिलितमाद्ये न्योन्योदाहरणाख्याप्तिर्द्वितीयेऽसम्भव इत्यर्थः भावाभावयोरनवस्थानं च यद्यपि तदुभयव्यतिरेकेण नास्ति तथाप्यङ्गीकृत्यैतदुक्तं भावाभावयोर्विरोधनिर्वचनस्य खण्ड्यमानत्वादपि लक्षणासिद्धिरित्याह-। “वक्ष्यामश्चे”ति । उत्तरवादापातनिकारश्चयति-। “किञ्चे”ति । विरुद्धलक्षणप्रविष्टेन व्याप्तपदेन किं व्यवच्छेद्यं न किञ्चिदिति क्षेपः प्रश्नो वा उत्तरप्रतिहारं शङ्कते-। “अनैकान्तिकमि”ति । असिद्धस्य सप्तमसादिवदव्यवच्छेद्यत्वादनैकान्तस्य सिद्धिर्वक्तव्या सा च लक्षणावसति लक्षणं पृच्छति-। “किमि”ति । आक्षेपाभिप्रायनाविष्करोति-। “तथाही”ति । एकस्मिन्नेव साध्ये

(२) विपरीतपक्षय विरुद्धमात्रार्थत्वे-इत्यर्थः ।

नियत एकान्तः न एकान्तो नैकान्त व्यभिचारश्च सम्बन्धानि-
यसः अनियतसाध्यसम्बन्धो नैकान्त इत्येतदलक्षणमनियतावत् ॥
म० "सव्यभिचारत्वं हि यदि विपक्षवृत्तिता 'तदानीं'
विरुद्धे प्रसङ्गः 'असाधारणानैकान्तिकाठ्यापत्तिश्च
'अथ सपक्षविपक्षगताभावता 'तदा साधारणोदा-
हरणाध्यापकत्वम् ॥

टी० ॥ किमिदं सव्यभिचारित्वं विपक्षवृत्तित्वमुत सपक्ष-
विपक्षगताभावता किं स्वित्तनपक्षविपक्षमाधानेति त्रिकल्प्य
प्रथममनुव्रदति - । "से"नि । दूषयति - । "तदानीमिति ।
शब्दो नित्यः कार्यत्वादित्यास्मिन् विरुद्धेपि 'विपक्षवृत्तित्वं
लक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः दोषान्तरमाह - । "असाधारणे"
ति । शब्दो नित्य आकाशविशेषगुणत्वादिन्याधारणानैका-
न्तिकाठ्यापत्तिस्तस्य विपक्षवृत्तित्वाभावात् नन्वनध्यवमित्य
हेत्वाभाषो नानैकान्तः साध्यासाधकः पक्षे वर्तमानो हेतुरनध्य-
वसित इति तल्लक्षणादिनि? - मैवम्, असाधकत्वमनुनित्यजन
कत्वं तद्व्याप्तिपक्षधर्मत्वनिश्चये मत्थेन उत तद्वाहे नाद्यः
असम्भवात्तद्धि सम्भवति व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चयं सव्यसाधक
इति अलिप्रसङ्गात् द्वितीयोऽभिद्वान्तर्भावः, व्याप्तिविरहाच्चेदसा-
धकत्वं तदा न एकान्तो नैकान्तिक इत्यन्वर्थमज्ञानसम्भवेऽप-
र्वमज्ञान्तरकरणमनुपपन्नं प्रमाणाभावाद्गौरवाच्च 'अस्यानैका-
न्तिकान्तर्भावेऽनुपसहार्थस्या(१) नैकान्तिकान्तर्भावाभावादनै-
कान्तिकादनध्यवसितः पृथक् स्वीकर्त्तव्यः? - इति चेन्न, समन-
न्तरमेव तस्याप्यन्तर्भावाभिधानात्तस्माद्भूषणेः कस्यप्यनादृत्या-
चार्योद्योतकरवाचस्पतिप्रभृतिभिरुक्तमेव स्वीकार्यमिति द्वितीयं
शङ्कते - । "अथे"ति । सपक्षविपक्षयोर्गतीभावेयस्य स तथोक्त-
स्तद्भावस्तत्ता सव्यभिचारत्वमिति सम्बन्धः निराकरोति - ।

(१) अनैकान्तिकान्तर्भावेऽनुपसहार्थं उपसहार्थो यो न
भवति तस्येत्यर्थः, परञ्जनइति यद्वा "अनैकान्तिकान्तर्भावानुपसहार्थ-
स्य" - इत्युचितः पाठः, तदर्थस्तु अनैकान्तिकान्तर्भावोऽनुपसहार्थः - अ-
वज्ञाहो यस्य तस्येति ।

“नदे”ति । शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादिति साधारणानैकान्तिकोदाहरणाव्यापकत्व लक्षणस्य पक्षत्रयवृत्तित्वात्तस्येत्यर्थः ॥

सू० “अथोच्यते सव्यभिचारत्वं हि सपक्षविपक्षसाधारणताभिप्रेता सा चान्वयेन साधारणस्य व्यतिरेकेणासाधारणस्यानैकान्तिकस्य सङ्ग्राहिका सपक्षविपक्षसाधारणता अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति विशेषवत्तया न विवक्षिता तत्साधारणासाधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः विवादाध्यासितं क्षणिकं मत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्यस्यापि सपक्षविपक्षग्रन्थत्वादेव सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन साम्यमिति विचार्यमेतद्व्याख्यानं

टी० ॥ तृतीयं शङ्कने । “अथे”ति । एवमपि कथमुभयसङ्ग्रह इत्यन आह—। “से”ति । अन्वयः सत्त्वं व्यतिरेकोऽसत्त्वं साधारणस्योभयत्र सत्त्वं समानमसाधारणस्यामत्त्वमित्यन्वयेन व्यतिरेकेण च सपक्षविपक्षसाधारणतोभयसङ्ग्राहिका ठयापिकेत्यर्थः अन्वयेन साधारणस्य चेद्विवक्षितमसाधारणाठयापि व्यतिरेकेण चेत् साधारणाठयापि रभयेन चेदुभयाठयारित्यत आह—। “सपक्षे”ति । लक्षणं ठयापकमिति शेषः हेतुं ठयाचष्टे—। “अन्वयेने”ति । विवादाध्यासितं सर्वं क्षणिकं मत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्यस्य कथं सङ्ग्रहस्तत्रान्वयव्यतिरेकयोरभावादित्यत आह—। “विवादे”ति । उपसंहारो ठयापिस्तद्विषय उपसंहार्यो दृष्टान्तः न न विद्यते यस्य भोयमनुपसंहार्यस्तस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन व्यतिरेकेण साम्यमिति तदुपसङ्ग्रहस्तत्र हेतुः—। “सपक्षे”ति । नहि सम्भवति सपक्षादिर्नास्ति तत्र गतो हेतुरित्यादिपदेन सर्वं शून्यं ज्ञेयत्वादित्यादिमङ्ग्रहः नचः खण्डपादिदृष्टान्त इति वाच्यं निरुपाख्यस्य भोपाख्यसाध्यहेत्वनाश्रयत्वादन्यथाश्रयामिद्विविधोपसङ्गादिति सपक्षविपक्षसाधारण्यं केवलव्यतिरेकिहेतोरप्यस्तीत्यतिठयापिः साध्या-

साधकत्वविशेषणे तदेव दूषणे ममर्थमुद्गाठयं ठयर्थं सपक्षेत्या-
दिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह-। "विचार्यन्ति"ति ॥

मू० "परमन्तु तावदापाततः 'तथापि व्यतिरेकेण 'सप-
क्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षव्यापके सद्धेतौ धूम-
विशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वं 'यदि त्वस्य दूष-
स्य परिहारार्थं सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्ति-
कमिति ब्रूषे तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वविपक्षसपक्ष-
साधारणता धूमानुमानादिगामिनी न भवतु नाम
'अन्वयेन तु सर्वमपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसप-
क्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं शब्दो न नित्यः
प्रत्यक्षग्राह्यत्वादित्यादि न सङ्गृह्णातीत्यव्याप्तिरि-

टी० ॥ अङ्गीकृत्याद्याह-। "परमि"ति । परं केवलमा-
पाततोऽस्त्विति सङ्गीकृत चेन्नक्षणमाख्यमित्याशङ्क्य किं सपक्ष-
विपक्षसाधारण्यमात्रं लक्षणमुन सर्वमपक्षविपक्षसाधारण्यमिति
विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह-। "तथापी"ति । गोपालघटिकाध्या-
सितधूमव्यावृत्त्यर्थं विशेषपदं धूमवत्त्वादिति सद्धेतुस्सपक्षविप-
क्षयोर्व्यतिरेकद्वारासाधारण इत्यनित्यापकत्वं तत्र हेतुमाह-।
"सपक्षे"ति । सपक्षैकदेशङ्गारावस्थाप्रिमिति तदप्रवृत्तेरित्यर्थः
आदिपदेन शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्त्वे मत्यस्मदादिबहिरिन्द्रिय-
ग्राह्यत्वात् घटवदित्यादिमङ्गग्रहं द्वितीयं कल्पं शङ्कते-।
"यदी"ति । सर्वमपक्षविपक्षसाधारणानैकान्तं सद्धेतोः सपक्षै-
कदेशवृत्तौ तदभाव इति तन्नित्यवृत्तिरित्यर्थः उक्तातिव्याप्तिपरि-
हारमङ्गीकृत्य दूषयति-। "तदे"ति । व्यतिरेकमात्रेण सपक्षवि-
पक्षसाधारणताधूमानुमानगामिनी न भवतीति कृत्वातिव्याप्ति-
माभूत्तामेत्यर्थः नचैतावता लक्षणं निरवद्यमव्यापकत्वादित्य-
ह-। "अन्वयेने"ति । शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षत्वात् घटवदिति सा-
धारणानैकान्तं न संगृह्णाति न व्याप्नोति सपक्षैकदेशे गुरुत्वादा-
वाकाशादौ चावृत्तेरित्यर्थः शब्दो नित्योऽललात्मत्वे सति

नामान्यवत्त्वादित्यादिरादिपदार्थः ।

सू० "त्येकं सन्धित्सतोपरं प्रव्यवते "अपिचान्वयव्यतिरेकाभ्यां "सर्वसपक्षविपक्षगतत्वाद्भ्रमानुमानादौ स एव प्रसङ्गः विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वात् / किञ्चमर्वसपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमितिवाक्ये यदि सर्वेति विपक्षस्यापि विशेषणं "तदा "विपक्षैकदेशवृत्तेः सापक्षव्यापिनः साधारणानैकान्तिकस्य त्रसरेणुः कार्यव्यवकः महत्वात्पटवदित्यादेरव्यापकमितं लक्षणम् ॥

टी० ॥ उ०सहरात्-। "इत्येकमिति । अनिठयाप्रिपरिहारमिच्छनस्तेपरं सर्वलक्षणव्याप्तिं प्रच्यवते इत्यर्थः सद्देतावनिठयाप्रिपरिहारभङ्गीकृत्याठयापकत्वमुक्तमिदानीमितिठयाप्रिपरि तदवस्थेत्याह-। "अपिचे"ति । धूमादौ स एव लक्षणा-निठयापकत्वप्रसङ्गस्तत्र हेतुः-। "सर्वे"ति । तत्रापि हेतुः-। "अन्वये"ति । धूमवत्त्वं हेतुर्विपक्ष व्यतिरेकेण सपक्षैकदेशं च तेनैव सपक्षैकदेशं पुनरन्वयेनेत्यव्यव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्ष-दिठयापकत्वमित्यर्थः व्यतिरेकेणैवान्वयेनैव वा सर्वसपक्षविपक्षसाधारणानैकान्तिक इति विवक्षितत्वात्तानिठयाप्रिरित्यत-आह-। "विशेषे"ति । विवक्षितत्वे चाठयाप्रिरित्यर्थः सर्वसपक्षेत्यादिलक्षणवाक्ये सर्वपद विपक्षस्यापि विशेषणमुन सपक्षस्यैवेति विकल्प्य प्रथममनुव्रदति-। "किचे"ति ॥ दूषयति-। "तदेति"ति । तदा साधारणस्यानैकान्तिकस्याव्यापकमितं लक्षणमिति सम्बन्धः सर्वेतिविशेषणाभावादिति दर्शयति-। "विपक्षेत्या"दि । उदाहरणमाह-। "त्रसरेणुरिति । अणुकमित्यर्थः कार्यमव्यवका यस्य स तथोक्तः कार्यस्य इत्यर्थः महत्त्वं हेतुः सपक्षे घटादौ सर्वत्र वर्तते विपक्षे परमाण्वादौ न वर्तते दिक्कालादौ वर्तते इति विपक्षैकदेशवृत्तिः परमाणुः स्वतो न्यूनपरिमाणारब्धः द्रव्यत्वात् घटवदित्यादिरादिपदार्थः ।

सू० "अथ सर्वेति न विपक्षस्य विशेषणं "तदा व्यतिरेक-

मादाय विपक्षसर्वसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्ये
 'तद्विपक्षैकदेशमात्रवृत्ती विरुद्धे' 'क्षितिर्नित्या साव-
 यवत्वादित्यादौ गतत्वादतिव्यापकमिति 'का चेयं
 वाचोयुक्तिः सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्यु-
 क्ते सर्वं सङ्गृह्यते अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति कथम-
 नुपसंहार्यस्यां 'सत्सपक्षविपक्षस्य सपक्षे चान्वयेन
 व्यतिरेकेण वा साधारण्यं स्यात्

टी० ॥ द्वितीयं शङ्कते-। "अथे"ति । अनिठ्यासिं दर्श-
 यितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवमित्यर्थे दर्शयति-। "तदे"ति ।
 व्यतिरेकमादाय विरुद्धे गतत्वादित्युपरिसम्बन्धनीयम् इदमनै-
 कान्तिकमित्युक्तं स्यादिति शेषः अस्तु का दोष इत्यत आह-।
 'एनदि"ति । उदाहरति-। "क्षितिरि"ति । सावयवत्वादिति-
 हेतुर्विपक्षे घटादौ वर्तते बुद्ध्यादौ च न वर्तते सपक्षे परमायवादी
 मत्वेन न वर्तते इति सर्वसपक्षविपक्षसाधारणत्वं विपक्षैकदेश-
 वृत्तिविरुद्धेस्तीत्यतिठ्यासिरित्यर्थः क्षितिर्नित्या कार्यद्रव्यापा-
 दानत्वादित्याद्युदाहार्यमिति दर्शयत्यादिपदेन सपक्षविपक्षसा-
 धारणमितिलक्षणस्य साधारणसाधारणादिमकलानैकान्तिक-
 ठयापकत्वमङ्गीकृत्यानिठयापकत्वमुक्तमिदानीं मावाग्भङ्गिरेवा-
 नुपपक्षेत्याह-। "का चे"ति । साधारणसाधारणानुपसंहार्यनि-
 त्यर्थः कानुपपत्तिरित्यत आह-। 'कथमि"ति । सपक्षविपक्ष-
 योरन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधारण्यमनुपसंहार्यस्यामन्भवीनि दर्श-
 यितुं तत्स्वरूपमाह-। "असदि"ति ॥

सू० "तयोरेवाभावात्" यदि सपक्षेविपक्षे च साधारणत्व-
 मुभयत्र स्वरूपानुगमे विवक्षितस्तदानीमसाधार-
 णानैकान्तिकासङ्ग्रहः "अथोभयस्मिन्नसत्त्वं तद्विव-
 क्षितं तदा सर्वाव्याप्तिः" तदसत्त्वस्यातद्गमत्वात्
 "अथ तदुभयगताभावप्रतियोगित्वं तदुभयसम्बन्धस्य
 योभावस्तदाश्रयत्वं वाभिर्मेतम् ।

टी० ॥ कथं वा न स्यादित्यत आह-। “तयोरिति । सपक्षविपक्षयोरेवाभावे तन्निष्ठो हेतुभावोऽभावो वा नहि प्रभातुं शक्यते भावाभावयोर्भावाधिकरणतया प्रनानियमोदित्यर्थः किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्व हेतोः सपक्षविपक्षयोरनुगम उत तदुभय-
त्रासत्त्वं किं वा तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनाहोस्त्वित्पक्ष-
विपक्षमन्वन्धाभावत्वमिति विकल्प्य प्रथममनुवदति-। “यदी”
ति । अठयाप्त्या दूषयति-। “तदे”ति । साधारणानैकान्तस्य
सपक्षविपक्षानुगमत्वाभावादठयाप्रित्यर्थः ॥ द्वितीयं शङ्कते-।
“अथे”ति । तत्सपक्षविपक्षसाधारणमित्यर्थः असम्भवेनैतदूष-
यति-। “तदे”ति । कुतः सर्वाठयाप्तिरित्यत आह-। “तदि”
ति । सपक्षविपक्षगतहेत्वभावस्य हेतुधर्मत्वाभावात्तसाधारण-
वत्त्वमभवात्सिद्धित्पर्थः तृतीयचतुर्थी कल्पानुद्भावयति ।
“अथे”ति । सपक्षविपक्षभ्यां हेतोः सम्बन्धस्तदुभयनिष्ठ इति
तदभावापि तदुभयाश्रय इत्यभावप्रतियोगित्वं सपक्षविपक्षाभ्यां
हेतुं सम्बन्धस्य योभावस्तदाश्रयत्व वा सपक्षविपक्षसाधारण्यं
विवक्षितमित्यनुषङ्गः ॥

००० “तदा साधारणोदाहरणाव्याप्तिः * अथ मन्यसे त-
दुभयसाधारण्यं नामैकस्मिन् याद्रूप्यं हेतोस्सत्त्व-
मन्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्नपि यतदुच्यते तथा-
सति नाव्यापकतादोष इति * मैवम्, मुख्यस्ता-
वद्वचनार्थो नोपपद्यते हेतोरैकरूप्यस्य सपक्षवि-
पक्षावाश्रय इति किं नामैकरूप्यवतो हेतोस्तावा-
श्रयाविति स्यात्तदा चासाधारणाव्याप्तिः तत्र
सपक्षे विपक्षे च हेतोरसत्त्वेन तदाश्रयत्वासंभवात् ॥

टी० ॥ इदमठयायकमित्याह-। “तदे”ति । साधारणानै-
कान्तस्य सपक्षविपक्षगतत्वादेव तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं
तत्सम्बन्धाभाववत्त्वं वा नास्तीत्यर्थः उक्तदोषपरिनिहीर्षया
पक्षान्तरं शङ्कते-। “अथे”ति । हेतोरैकस्मिन्सपक्षे विपक्षे वा
याद्रूप्यं यद्रूपत्वं मन्वन्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्सपक्षाद्दी

यन्नाम तत्सपक्षविपक्षमाधारणमुच्यत इत्यर्थः एव लक्षणशि-
क्षाया फलमाह-। “तथे”ति । सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं प्रति
यदाधिकरणत्वं सम्भयं प्रतीयते तद्विषयितमुत लक्षणया तादृ-
प्यवती हेतोस्तदाश्रयत्वं विवक्षितमिति विकल्प्य प्रथमं दूष-
यति । “सैवमि”ति । हेतोरैकरूप्य हेतुधर्मत्वात् तदन्यान
ष्टमित्यर्थः । तस्मात् द्वितीयः परिशिष्यत्वा इति प्रश्नपूर्वकमाह ।
“किमि”ति । अस्तु तथा वा कौदीप इत्यत आह- । “तदे”ति ।
कुत इत्यत आह-। “तत्रे”ति । तदासाधारणोदाहरणे इति
यावत् सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं नाम असाधारणस्यासत्त्वं तद-
तोहेतौर्न सपक्षादिनिष्ठत्वमित्यर्थः ॥

म० “तस्मात्सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिक-
त्वमित्यनुपपन्नमेव असत्त्वपक्षे हेतोस्तदाश्रयकत्वा-
नुपपत्त्या सपक्षे विपक्षे चेति सप्तमीनिदशस्यासङ्ग-
तत्वात्तदभावापेक्षया चाश्रयत्वस्योपपत्तौ हेतो-
स्तदाश्रयत्वे किमायात्तम् “आयातु वा किञ्चित्तथापि
साधारणोदाहरणेषु हेत्वभावापेक्षया सपक्षविपक्षयो-
र्माश्रयता सप्तम्यर्थः किन्तु हेत्वपेक्षयै वेत्यनेकार्थ-
पर्यवसायित्वे वाक्यस्य लक्षणाद्यापकतापत्तिरेव ॥

टी० ॥ सपक्षविपक्षमाधारणोनैकान्त इति लक्षणखरह्नं
निगमयति- । “तस्मादि”ति । संक्षेपविस्तराभ्यामुच्यमानं वस्तु
मन्दुष्टुद्विबुद्ध्याहं भवतीति कथितमेव हेतुं सङ्गिष्याह- । “अ-
सत्त्वे”ति । यद्यपि सपक्षादिमाधारणं तद्गतासत्त्वं (१) हेतोर्गि-
त्यसाधारणानैकान्तस्य हेतोः सपक्षादिनिष्ठत्वं नास्ति तथापि
तदभावस्य सपक्षाद्याश्रयत्वमस्तीत्यत आह- । “तदि”ति ।
तदाश्रयत्वस्य सपक्षादेः सम्भयं सत्त्वं हेतोः सपक्षादि-
निष्ठत्वे लक्षणप्राप्तये न किञ्चिच्चलभ्यते इत्यर्थः सपक्षादिनि-
ष्ठाभावं प्रति प्रतियोगित्वं हेतौर्लाभ इत्यत आह- । “आया-

(१) “तद्गतासत्त्वम्”-इत्यपि क्वचित्पाठः ।

त्वि'ति । यद्यपि सपक्षविपक्षगतामरत्वप्रतियोगित्वं हेतोर्वि-
शेषस्तथापि साधारणानैकान्तिस्यलेषु सपक्षविपक्षयोर्हेत्वभावा-
पेक्षया मप्रम्यर्थोऽधिकारणत्वं न भवति सपक्षविपक्षगामित्वादेव
नस्येत्यर्थः कस्तर्हि मप्रम्यर्थोऽधिकारणत्वं तत्रेत्यत आह-
'कत्व'ति । सपक्षविपक्षयोरैकरूप्य हेतोरनैकान्त्यमिति वा-
क्यं साधारणोदाहरणविवक्षायां सपक्षादौ सत्त्वमैकरूप्यभितरत्र
तदसत्त्वमेतावता प्रकृतलक्षणस्य को दोषस्तत्राह- 'इत्यनेके'ति ।

म० "किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं यदि सामान्यतो ल-
क्षणं साधारणासाधारणानैकान्तिकभेदद्वयसङ्ग्रहा-
र्थमुच्यते तदा सपक्षविपक्षयोरन्यत्वादिभिर्हेतोः सा-
धारण्यमस्त्यन्यत्रापीत्यतिव्याप्तिः * अथातिव्या-
प्तिपरिजिहीर्षयान्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षसा-
धारणमनैकान्तिकमित्युच्यते ? *-'तदान्वयव्यतिरे-
कयोः प्रत्येकमिलितत्व^(१) विकल्पानुपपत्त्याव्याप-
कत्वापातः स्यादेतत् स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रित-
सपक्षविपक्षत्वं । सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षित-

टी० ॥ सपक्षविपक्षयोः साधारणो हेतुरनैकान्तिक इत्येता-
वन्मत्रं लक्षणमुतान्वयादिना विशेषित इति विकल्प्य प्रथ-
मकल्पमनुषदति-। "किंचे'ति । अतिव्याप्त्यैतदपवदति-।
b"तदे'ति । धूमवत्त्वादिहेतोः सपक्षाद्यपेक्षयान्यत्रमरत्वज्ञेय-
त्वादिभिः रूपैः सपक्षविपक्षयोः साधारण्यमस्तीत्यतिव्याप्ति-
रित्यर्थः द्वितीयं कल्पमुत्थापयति-। "अथे'ति अन्वयेन सप-
क्षादिमाधारण्येऽसाधारणाव्याप्तिर्यतिरेकेण साधारण्यलक्ष-
णस्य साधारणाव्यापकता मिलिताभ्यामुभयाभ्यां साधारण्यस्य
सर्वाव्याप्ति^(२)रित्यभिसन्धाय दूषयति-। "तदे'ति । उक्ताव्या-
प्त्यसम्भवपरिहाराय प्रकारान्तरं शङ्कते-। "स्यादि'ति ।
स्वशब्देनानैकान्तिकाभिमतहेतुरुच्यते एवं च स्वाभावश्च स्व-

स्वाभावी तयोर्विरोधः स्वस्वाभावविरोधस्तस्याश्रयो स्वस्वा-
भावविरोधाश्रयो ताभ्यां^(१)माश्रितौ सपक्षविपक्षौ यस्य हेनोः स
तयोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वमनैकान्त्यमिति शेषः अभेदविरोधा-
श्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्व मर्षानुमानमाधारणमिति तद्व्या-
वृथये स्वेत्यादि विशेषेण सपक्षविपक्षमाधारणनैकान्त इत्युक्त-
लक्षणपरित्यागाद् द्वैतन्तरतेत्यन आह- । "सपक्षे"ति ।

म० "मेव नाद्याप्त्यतिव्याप्ती इति "तदप्यसत्" तथाहि
अस्तु तावत्सर्वपदविशेषणोपादानानुपादानपक्षो-
क्तदोषापातः 'सर्वशब्दोपदाने धूमानुमानादौ प्रस-
ङ्गश्च 'स्वस्वाभावविरोधशब्दार्थस्याप्येकस्यानुगत-
स्यासम्भवेन लक्षणानुगमाभावो दोषः 'तत्तदभाव-
योर्हि विरोधः ।

टी० ॥ लक्षणवाक्ये कुटिलिकास्वीकारफलमाह- । "ए-
वमि"ति । भावाभावविरोधस्याश्रयनिष्ठत्वाद्भावाभावद्वयमपि
विरोधाश्रयत्वेनैकं भवति तेन प्रत्येकमस्मिन्नस्मिन्ननुप-
पत्तिनाप्यतिव्याप्तिः सद्देव्यादौ सपक्षविपक्षयोरुक्तविरोधाश्रया-
श्रितत्वाभावादित्यर्थः स्वशब्देन व्यक्तिपरामर्शोऽव्याप्तिः सासा-
न्यपरामर्शोऽतिव्याप्तिः धूमादेः सपक्षविपक्षाभ्यामन्यत्वेन स्व
स्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादिनि दूषयति- । "त-
दि"ति । असत्त्वमेव प्रकारान्तरेणोपपादयति- । "तथाही"ति ।
सपक्षविपक्षयोर्विशेषणत्वेन सर्वपदमुपादीयते नच द्यौ विपक्षै-
कदेशगामिनं माधारणानैकान्तिकं न ठयाप्रोति द्वितीये ठयति-
रेकेणसपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षतयापके सद्देव्यादौ धूमवि-
शेषादौ गतत्वेनातिव्यापकमित्यर्थः भङ्गान्तरमाह- । "सर्व"

(१) सर्वाऽव्याप्तिः=साम्भवः ।

(२) ताभ्यां=स्वस्वाभावविरोधाश्रयाभ्यां भावाभावाभ्यामाश्रिता-
वालम्बितावित्यर्थः ।

ति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविवक्षगतत्वाद् धूमादौ स एव प्रसङ्गः विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वादित्यर्थः प्रागुक्तमेव दोषं स्मारयित्वा दोषान्तरं दर्शयति-। “स्वे”ति । असम्भवेनापीति सम्बन्धः कथं विरोधशब्दार्थस्यैक्यासम्भव इत्यत आह-। “नदि”ति । हेतुतदभावयोर्विरोधः महानवस्थानं भावाभावविरोधस्य महानवस्थानस्याङ्गीकारादित्यर्थः ॥

सू० सहानवस्थानमवस्थानं चावस्थानप्रतिषेधो “नच तद्भावस्थाभावस्वरूपादन्यत्”नचाभावस्थानवस्थानं भावस्वरूपादन्यत् किन्तु तदेव भावस्वरूपं “तत्र स्वस्वाभावविरोधाश्रय इत्यस्य नोर्थैक्यं किञ्चिन्मृ- ग्यमाणमवाप्यते स्वस्वाभावविरोधाश्रय इति वचनं विचारमर्हति स्वस्वाभावयोर्विरोधविशेषणतया आधेयकोटिनिवेशाद्विशेषणघटितमूर्त्तित्वाद्विशि- ष्टपदार्थस्य तदाधारत्वानुपपत्तेः ।

टी० ॥ एवं च विरोध एको न सम्भवतीति दर्शनाय तत्स्वरूपं दर्शयति-। “सहानवस्थानमि”ति । एकस्मिन् देशे काले च भावाभावयोः संगर्भावस्थानं तदभावोनवस्थानमित्यर्थः अस्तु ततः किमित्यत आह-। “नचे”ति । भावस्य तदभावेन सहानवस्थानमभावस्वरूपादन्यन्न सम्भवति यत्राभावस्तत्र भावो नास्तीत्येकार्थत्वादित्यर्थः एवमभावस्यापीत्याह-। “नचे”ति । अभावस्याप्यनवस्थानं भावस्वरूपात्तान्यत्किन्तु भावत्वरूपमेवाभावाभावस्य भावत्वादित्यर्थः उपसं- हरति-। “तत्रे”ति । स्वस्वभावाविरोधः स्वस्वभावावेव तथाच प्रत्येकमिलितविकल्पदोष इत्यर्थः स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्वं स्वस्वाभावयोरभ्युपगम्येतदुक्तं नच तत्सम्भवतीत्याह-। “स्वे”ति । स्वस्वाभावविशिष्टो विरोध उत विरोधाश्रयाश्रितसपक्षत्वादिलक्षणमुत स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधस्येतिविकल्प्य प्रथमे दूषणमाह-। “स्वे”ति । स्वस्वाभावयोस्तदाधारत्वानुपपत्तोरसम्भव इति सम्बन्धः तदुपपादन-

“विरोधेत्या” इति तत्रापि हेतुः “विरोधेपणे”ति । विशेषणपदार्थस्य विशेषणघटितसृष्टित्वात्म्यस्वाभावविशिष्टविरोधस्य स्वस्वाभावाश्रयत्वे स्वस्वाभावयोगेन सम्बन्धि स्यादित्यर्थः ॥

मू० “अतिव्यापकता च स्यात्” अन्वयमादाय मपक्षे व्यतिरेकमादाय विपक्षे वर्तमानस्याप्युक्तलक्षणोपेतत्वात् स्वस्वभावाविशेषितस्य तु विरोधस्याश्रयेभिधीयमाने सर्वानुमानव्यापकत्वमनैकान्तिकलक्षणस्थापतेत् * नच वाच्यं स्वस्वाभावोपलक्षितो विरोधोऽभिमतः तेन विशेषणपक्षोक्तदोषम्यानवकाशइति ? * यतः स्वस्वाभावाभ्यां विरोधमात्रं वा लक्ष्यते तद्व्यक्तिर्वा काचित् आदौ यदेव स्वस्वाभावाभ्यां लक्षितं विरोधमात्रं तदेवान्यत्रापीत्युक्तातिप्रसक्तिस्तदवश्यैव ॥

टी० ॥ न केवलमसम्बन्धोऽतिव्याप्तिरपीत्याह । “अनी”ति । अतिव्याप्तिमुपपादयति- । “अन्वयमिति”ति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यदे । मपक्षव्यापकस्यान्वययनिरैकाभ्यां स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादित्यर्थः द्वितीयं दर्शयति- । “स्वे”ति । अमेदविरोधाश्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सर्वानुमानसाधारणमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः स्वस्वभावाविशेषितस्य विरोधस्य सर्वानुमानव्यापकत्वमिति सम्बन्धः स्वस्वभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधोभिप्रेयते तेन विशेषणपक्षोक्तस्वस्ववृत्तिदोषो नेति तृतीयकल्पमाशङ्क्याह- । “नचे”ति । कुत इत्यत आह- । “यत”इति । यत इत्यस्य विरोधव्यक्त्यनात्मत्वादित्यनेनापरिमम्बन्धः हेतुपादानाय विकल्पयति- । “स्वे”ति । अवलक्षितविशेषं विरोधमासान्यमुपलक्ष्यते किं वा विरोधव्यक्तिरेव काचिदित्यर्थः कस्मिन्मति किं स्यादित्यत आह- । “आद्ये”इति । विरोधमात्रस्योपलक्षितस्य

लक्षणनिविष्टत्वात्तस्य चैक्यादन्यत्र धृ० नुानादावः विरोधा-
श्रयभेदाश्रितमपक्षविपक्षग- त्वेने। क्तातठयाप्तिरित्यथः ॥

मू० 'स्वस्वभावपदोपादानवैयर्थ्यं च 'अथ द्वितीयस्तदा
लक्षणाननुगमः 'एकस्य विरोधव्यक्तिविशेषस्यात्र
परिगृहीतस्यापरविरोधव्यक्त्यनात्मत्वात् 'अथ या-
वयेऽपेक्षिता विरोधव्यक्त्यस्ता उपलक्ष्यन्ते इत्यु-
च्यते 'किं नोपलक्ष्यन्ते तावत्यः 'किन्तु केनचिद-
नुगतेन रूपेण उक्तं प्रतिस्वं व्यावृत्तेनात्मा 'प्रथमे
तदेवोच्यतां किमुपलक्षणोपन्यासप्रयामेन नच तत्स-
म्भवति विरोधमात्रादेरतिप्रसङ्गकत्वात् 'प्रतिस्वं
व्यावृत्तेन व्यक्तीनामात्मनोपलक्ष्यत्वे तथैव तासां
लक्षणप्रवेश इति मिलितानां लक्षणत्वे सर्वाव्याप्तिः
प्रत्येकं लक्षणत्वे परस्परोदाहरणाव्याप्तिरिति ॥

टी०॥ अठ्याप्त्यतिठयाप्तिपरिहारकनत्वाभावात्स्वेत्या-
द्विशेषणस्य विशेषणाभिदु च लक्षणमित्याह- । "स्वे"ति ।
द्वितीय दूषयति- । "अथे"ति । अननुगमे हेतुमाह- । "एके"
ति । एकैव तावद्विरोधव्यक्तिर्लक्ष्यते तस्याः साधारणानैकान्ति-
काठ्याप्तिस्तद्गतत्वे चेतराठ्याप्तिरित्यर्थः 'विरोधमात्रं नोपल-
क्ष्यते नाप्येकैव विरोधव्यक्तिः किन्तु साधारणसाधारणकृत्स्ना-
नैकान्तिकोदाहरणेषु यावत्यो विरोधव्यक्तयोपेत्यन्ते तावत्यः
स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्ष्यन्ते तेन नोक्तदोष इति शङ्कते- ।
"अथे"ति । अङ्गकरोति- । "किमि"ति । उपलक्ष्यत्वं वेति
शेषः विवक्षितं दोषं दर्शयितुं विकल्पयति- । "क्रिया"त्या-
दिना । अपेक्षिता व्यक्तयः केनाचदनुगतरूपेण गृहीता लक्ष्यन्ते
इति प्रथममपाकरोति- । "प्रथमे" इति । व्यक्तानां प्रत्येकमु-
पलक्ष्यत्वे विशकलिनानामेव लक्षणे प्रवेशस्तथाच ता अपि याद
निर्मलता विवक्षितास्तदा क्वचिदपि लक्षणं न शङ्क्येन नक्ष्य-
नित्यत्वे साध्यं सपत्रस्य च द्रव्यत्वस्य च व्यभिचारे सपत्रतद-

भावयोर्द्रव्यत्वतदभावयोर्वा विरोध एकत्र सम्भवति प्रत्येक-
विवक्षाया चाठ्यामिरित्याह-। "प्रतिस्वमि"ति ।

सू० स्यादेतत् "सपक्षे एवविपक्षे एव च वर्तते न यः सोनैका-
न्निरु इति लक्षणमस्तु" तेन साधारणासाधारणा-
नैकान्तिकोदाहरणव्याप्तिर्भवतीति एतदप्यलक्षणं
सद्धेतौ धूमादावपि गतत्वात् न ह्यसौ विपक्षे एव
वर्तते सर्वथा तत्रावृत्तेः नापि सपक्षे एव विपक्षेपि
वर्तमानत्वात् * अथ पक्षवृत्तिरिति विशेषयसि *
तथापि सद्धेतोरपरित्यागः, पक्षवृत्तित्वादेव सपक्षे
एव वृत्तेरभावात् "असिद्धानैकान्तिकत्वसङ्कराव्या-
प्तितश्च * अथ पक्षव्यतिरिक्त इति सम्प्रक्षिपसि * ।

टी० ॥ "सपक्षे एवे"ति । सपक्षे एव वर्तते सद्धेतुविपक्षे
एव वर्तते विरुद्धस्तदुभयवच्छेदेवधारणद्वयविशिष्टव्यवच्छे-
दात्मिद् इत्यर्थः । "तेने"ति । नहि साधारण सपक्षे एव
वर्तते विपक्षे वर्तमानत्वात् असाधारणस्य सपक्षविपक्षोभय-
व्यावृत्तेस्ताद्रूप्यमित्युभयसंग्रह इत्यर्थः ॥ "पक्षवृत्तिरिति"ति ।
पक्षवृत्तिमन् य सपक्षमात्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थं सद्धेतावतिव्या-
प्तिरेव यत एव सद्धेतु पक्षवृत्तिरत एव च सपक्षे एव न वर्तते
इति भावः ॥ "असिद्धे"ति । शब्दोऽनित्यशब्दाक्षयत्वात् इत्यत्र
मासान्ये व्यभिचारिणि पक्षवृत्तित्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः ननु
पक्षव्यतिरिक्तं विपक्षे एव न वर्तते सपक्षे एव न वर्तते इत्युक्तं
पक्षपर्युदासैनावधारणे सद्धेतुः सपक्षे एव वर्तते इति कुतस्त-
त्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते-। "अथे"ति ।

सू० "तदानीं"मप्रसक्तव्यावर्तनमनुपपन्नं 'नहि पक्षा-
व्यतिरिक्तः सपक्षो विपक्षो वा सम्भवतीति सप-
क्षस्य विपक्षस्य च कुतश्चिदव्यावर्तकं विशेषणमे-
वेदं तयोः कथं घटेत * अथ पक्षव्यतिरिक्ते वर्त-

धान इति विशेषयसि ? *—‘तदानीमसाधारणाध्या-
प्तितर्नासौ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः ।’* अथ पक्षव्य-
तिरेकेणेति विशेषणमुपादत्से ? *—।

टी० ॥ पक्षव्यतिरिक्तत्व सपक्षस्य विपक्षस्य वा न विशे-
षण सम्भवति तयोः सर्वत्र पक्षव्यतिरिक्तत्वेन व्यभिचाराभा-
वात् नहि व्यभिचारमन्तरेण विशेषत्वमर्थवत् यथा लोहित-
स्तक्षक इति व्यभिचारे सत्येव विशेषणस्य सार्थकत्वं यथा
नोलमुत्पलमित्युत्पलत्वस्य रक्तोत्पलेनैव व्यभिचारादित्या-
ह—। “तदानीमि”ति । “अप्रसक्तव्यावर्तनमि”ति । नहि सप-
क्षविपक्षयोः पक्षान्मकत्वं प्रसक्तं येन तदनिरिक्तत्वेन, विशेषण-
मर्थ इत्यस्यादित्यर्थं यद्यपि पक्षोपि सपक्षो भवति यथाय देवदक्षा-
भिन्नः देवदत्तनिष्ठमकलधर्मवरवात् पूर्वद्रष्टृदेवदत्तवत् यथा वा
पृथिवीत्वेनेतरभेदमाधने घटादिरेव सपक्षत्वेन दृष्टान्तः तथा-
प्यवच्छेदभेदेन^(१) तत्रापि पक्षभिन्नत्वमिति भावः एतदेव विशे-
दयति—। “नही”ति । ननु यः पक्षमिच्छे वर्तमानः सपक्षविप-
क्षमात्रवृत्तिर्न भवतीति पक्षेपि वर्तमाने सद्भूतौ नातिव्याप्ति-
रिति शङ्कते—। “अथे”ति । पक्षमिच्छे वर्तमानत्वमसाधारणा-
नैकान्तिकाध्यापकमिति परिहरति—। “तदानीमि”ति । ननु
पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानमसाधारणानैकान्तिके न सम्भवति
तथापि पक्षव्यतिरेकेण यो हेतुः सपक्षे एव विपक्षे एव न वर्तते
इति हेतुविशेषणे कुतोऽव्याप्तियोजना पक्षान्तिरिक्तवृत्तिरस्य
नोपात्त सद्भूतुस्तु पक्षव्यतिरेकेण वर्तमानः सपक्षे एव वर्तते
तेन न तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते—। “अथे”ति । पक्षव्यति-
रेकेणेति यदि हेतौ तृतीया तथापि साधारणमङ्ग्रहः नहि
सपक्षविपक्षयोस्तु वृत्तिव्यापारेक पक्षव्यतिरेक. साधारणाध्या-
प्तिरप्यत्र द्रष्टव्या ॥

सू० “तदापि पक्षव्यतिरेकस्य पक्षविरहूपस्योपलक्षणा-
त्वं हेतुत्वं वा द्वयमपि पक्षमात्रवृत्तावसाधारणा-

(१) इदन्त्वपूर्वद्रष्टृवाद्यावच्छेदभेदेनेत्यर्थः ।

नैकान्तिके न सम्भवति पक्षविरहस्य तत्रासम्भवा-
देव निषेध्यविशेषणत्वे त्वस्य सद्भेदो गमनं स्यात्
'एतेन पक्षं विना पक्षमन्तरेणेत्याद्यक्षरैर्विशेषाभि-
धानमात्रमपास्तम् ।

टी० ॥ अथ पक्षव्यतिरेकेणेति लक्षणो^(१) तृतीया तथाप्य
साधारणाद्यस्मिरेव नहि तस्य पक्षविरहोस्ति येनाभावपल-
हयेतेति परिहरति—। “तदापी”ति । अथ पक्षव्यतिरेकेणेति
न सङ्ग्राह्यस्य^(२)विशेषणं येनासाधारणमङ्ग्रहः स्यादपि तु
निषेध्यस्य व्यञ्ज्यस्य विशेषणं तथाच पक्षव्यतिरेकेण वर्त-
मानः सपक्षे एव वर्तते सद्भेदोः विपक्षे एव वर्तते विरुद्धः तदु-
क्तयमत्र व्यञ्ज्यमिति तद्विशेषणमेव पक्षव्यतिरेकेणेत्यत आ-
ह—। “निषेध्ये”ति । एवमपि निषेध्यस्य सद्भेदोः पक्षव्यतिरे-
केण वर्तमानत्वमस्तु विशेषणं तथापि पक्षव्यतिरेकेण वर्तमा-
नोप्यसौ सपक्षमात्रवृत्तिर्न ज्ञवत्येव यतः पक्षेपि वर्ततेमावि-
त्यतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्यर्थः ॥ “एतेने”ति । सङ्ग्राह्यविशेष-
णत्वे ऽसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहः निषेध्यविशेषणत्वे तु सद्भे-
दोः सङ्ग्रहोपीति दोषद्वयेनेत्यर्थः ।

मू० * “अथ यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते तदा सपक्षे एव
विपक्षे एव वर्तते न यः सोनैकान्तिकः तथा सत्य-
साधारणस्यापि व्याप्तिः सद्भेदो चाप्रसक्तिरिति
मन्यसे ? *—तदा भ्रान्तोसि तराम् एवं हि सति
नोभयस्यापि सङ्ग्रहः असाधारणे तावद्यदि पक्ष-
व्यतिरिक्ते वर्तते इत्येतन्न सम्भवति तस्य पक्षमात्र-
वृत्तेः कदाचिदपि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तिसम्भावनानु-

(१) लक्षणे इत्यस्योपलक्षणे इत्यर्थः, “नहि तस्य पक्षविरहो-
स्ति येन (पक्षविरहेण) अभावपलहयेत”—इत्यग्रे प्रतिपादनात् ; लेख-
कप्रसादाद्विगलितं वाऽक्षरद्वयम् ।

२) सङ्ग्रहस्य अ = सद्भेदोः नैकान्तिकस्य ।

पपत्तेः साधारण्येपि निश्चितपक्षविपक्षवृत्तौ वदयर्थं न पश्यामः यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते इति 'न-हि निश्चितवृक्षभावायां शिंशपायां प्रयुज्यते यदि शिंशपावृक्षः स्यादिति तत्कस्य हेतोः

टी० ॥ ननु यद्यपि सद्भूतः सपक्षे एव न वर्तते किन्तु पक्षे-पीति तत्रातिव्याप्तिस्तथापि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः सपक्षे एव वर्तते असाधारणानैकान्तिकश्च यद्यपि पक्षव्यतिरिक्ते न वर्तते तथापि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानत्वं विशेषणं नोपादीयते येन तदसङ्ग्रहः स्यादपितु सम्भावनामात्रेणोद्गाठयते इति शङ्कते-। "अथे"ति एवं साधारणासाधारणानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यसङ्-ग्राहकमिदं लक्षणं भवेदसाधारणं तावत् पक्षव्यतिरिक्तवर्तमा-नता सम्भवनापदमपि कथं भवेत् सपक्षविपक्षव्यावृत्तस्यैवा-साधारणत्वात् साधारणानैकान्तिकस्तु सपक्षविपक्षवृत्तितयैव निश्चित इति पक्षातिरिक्तवृत्तितया सम्भावनापथं कथं स्यात् निश्चितसम्भावनाविरोधित्वादिति परिहरति-। "एवं सती"-ति । यदिपदप्रयोगाभावेन निश्चयस्य सम्भावनाविरोधित्व-मेव दर्शयति-। "नही"ति ।

सू० "संशयोपस्थापितात्कोटिद्वयादेकस्यां कोटौ तदाश्रये किञ्चिद्धर्मोपदर्शनार्थमारोप्यमाणायां यदीति प्रयु-ज्यते ननु निश्चिते एव वस्तुनि तस्मादसाधारणा-नैकान्तिकसङ्ग्रहाय यदीत्याद्युपात्तं तन्न साधार-णमपि समग्रहीत * 'अथ विपक्षे एव सपक्षे एव न वर्तते यो हेत्वाभासः सानैकान्तिक इति लक्षणं मन्यसे ? * -तदप्यनुपपन्नम्, 'अनैकान्तिकत्वमनि-श्चित्याग्रत एव हेत्वाभासत्वावधारणे तत एव हेतोरसाधकत्वं सिद्धमिति कृतं तदुपजीविनानैका-न्तिकत्वोपन्यासेन * अथाग्रतो हेत्वाभासत्वं नाव-

धार्यते ? *—तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वं. विशेष-
णस्य हेत्वाभासत्वस्यानवधारणात् * “अथ ब्रूषे
असिद्धविरुद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादन्यो हे-
त्वाभासेनैकान्तिक इति ? *—तदप्युक्तन्यायेनैव
निरस्तम् ।

टी० ॥ यत्रैव सम्भावना तत्रैव यदि पदप्रयोगो यत्र तु
निश्चयस्तत्र न तत्पदप्रयोग इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयस्य
सम्भावनाविरोधित्वमेवेति दर्शयति—। “सशयोपस्थापिता-
दि”ति । अमाधारणानैकान्तिके सपक्षविपक्षोभयठयावृत्तत्व-
निश्चयादेव न पक्षातिरिक्तवृत्तित्वमसम्भावना साधारणानैका-
न्तिके तु पक्षातिरिक्तवृत्तित्वनिश्चयादेव न मेति समुदायार्थः
ननु हेत्वाभासमत्वेन विशेषणीय लक्षणं तथाच कथं मद्भेतुसङ्ग्रा-
हकं स्यादिति शङ्कते—। “अथे”ति । हेत्वाभासत्वस्य प्रथमं
ज्ञाने तत एवाभासकत्वं सिद्धं तदज्ञाने तु तद्गर्भलक्षणमपि
दुरवधारणमेवेति परिहरति—। “अनैकान्तिकत्वमिति”ति । ननु
पक्षेषु हेत्वाभासेषु अतुर्भिकत्वं लक्षणमस्तु तच्च यद्यदि मद्भे-
तावप्यस्ति तथापि तद्व्याख्याय हेत्वाभासमत्वेन विशेषणीयमिति
शङ्कते—। “अथ ब्रूषे” इति । अत्रापि हेत्वाभासत्वग्रहदशाया-
मनुपपत्तिरेवेति परिहरति—। “उक्तन्यायेन”ति ॥

म० “किञ्च एवमप्यसिद्ध्यादिसङ्कीर्णस्यानैकान्तिकस्या-
सङ्ग्रहः स्यात् * ^१नच तदसिद्धादित्वादेवाहेतुर्भवि-
ष्यतीति वाच्यम् ?*—इतरानैकान्तिकवद्विपक्षगत-
त्वादिनाप्युद्भावे ऽदोषत्वप्रसङ्गात्^(१) *अथ मन्यसे
साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां विशिष्टा-
दन्यत्वं साधारणासाधारणानैकान्तिकत्वाप्तिसामा-
न्यलक्षणमस्तु ?*—मैवम्. “यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टा-

(१) “दोषत्वसम्भवात्” इति क्वचित्पुस्तके पाठः शोषि/बाधुरेव ।

दन्यत्वं तर्हि तस्य विशिष्टस्य विशेष्ये विशेषणे
चेदमस्तीत्यतिठयाप्तिः ।

टी० ॥ अमिद्वाद्यन्यत्वमसिद्धादिमङ्गीर्णानि ज्ञान्तिके नास्ती-
ति तत्राव्याप्तिमाह-। "किञ्चे"ति । ननु तत्रामिदुस्त्वादिकमेव
दोषोऽस्तु तथाच तस्यानैकान्तिकस्यामङ्ग्रहेपि न क्षतिरित्यत
आह-। "नचे"ति । असिद्धत्वाद्यस्फुरणदशायां विपक्षवृत्तित-
योपन्यस्यमानादपि तस्मादनुमितिप्रतिबन्धादनैकान्तिकत्वम-
वश्यं तस्यापीति तदपि तत्र सङ्ग्रहमेवेत्यर्थः ननु माधारण-
त्वामाधारणत्वधर्मद्वयं यत्र वर्तते तदन्यत्वमनैकान्तिः त्वं तथाच
तदुभयात्यन्ताभाववति सद्दुतेौ हेत्याभावात्तरे च नाति-
ठयाप्तिः यत्र ज्ञानैकान्तिकमाङ्ग्यं तस्यापि च सङ्ग्रह इति
शङ्कने-। "अथे"ति । माधारणत्वाभावात्तदव्यतिरेकद्वयं
विशेषणं तद्वाग्यं सद्दुतेतुविशेष्यस्त्वयोरपि व्यतिरेकद्वयविशिष्टा-
दन्यत्वमस्त्येव नहि विशेषणमात्रं विशिष्टं नापि विशेष्य-
मात्रं मथेति तदुभयातिठयाप्तिरिति परिहरति-। "यदी"ति ।
विशिष्टस्य यद्विशेषणं व्यतिरेकद्वयं यच्च विशेष्यं सद्दुतेतुस्वरूपं
तत्रापि तदन्यत्वमस्तीत्यर्थः ॥

सू० "यदि च व्यतिरेकद्वयवतोपलक्षणं तदोपलक्ष्यस्व-
रूपाणां यदि भेदेनैवोपलक्ष्यता तदा व्यतिरेकोप्य-
विशिष्टे तस्मिन्नस्ति नहि यदेवाविशिष्टं तन्मात्रं
विशिष्टं एव^(१) मभेदेनापि * भेदाभेदात्तदेवातदपि?

*-इति चेन्न अतदपीति प्रसङ्गतादवस्थ्यात् ।

टी० ॥ ननु व्यतिरेकद्वयेन सद्दुतेतुना च विशेषणविशेष्य-
भावो न विवक्षितो येन विशिष्टान्यत्वं विशेषणविशेष्ययोः
स्यादपि तपलक्षणोपलक्ष्यभावस्तथाच नातिठयाप्तिरिति शङ्कते-।
"यदी"ति । व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं सद्दुतेतुनां तदन्यत्व लक्ष-

(१) उपलक्ष्योपलक्षणयोरभेदपक्षेपि भेदवह्निषुमभेदमादायाह-
एवमिति, अतदपि तदेवेत्यन्वयः । उपलक्षणादन्यदपि उपलक्षणमेवेति
तदर्थः । तथाच नातिप्रसङ्गः ।

अनित्यर्थः तद्धिं मद्देनावतिव्याप्तिस्तदवस्थैव व्यतिरेकद्वयो-
पलक्षितत्वविशिष्टात्मद्वेतोरविशिष्टस्य मद्देनोरन्यत्वादिति परि-
हरति-। ^b“तदे”ति । भेदेनेत्युपलक्ष्योपलक्षणयोर्भेदेनेत्यर्थः ॥
“तदा व्यतिरेक” इति । तदन्यत्वमित्यर्थः अविशिष्टे केवले
तस्मिन्सद्देती ननु व्यतिरेकद्वयोपलक्षितान्यत्व कथं केवले इत्यत
आह-। ^d“नहीं”ति । ननु व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वविशिष्ट एव
केवलोपि तथाच तदन्यत्व तत्र कथं स्यादुपलक्ष्योपलक्षणभा-
वानुरोधाद्भेदोप्यस्तु तथाच यदेवाविशिष्टं तदेव विशिष्टम-
पीति शङ्कते-। “भेदाभेदादि”ति । भेदे मत्यभेदो भेदाभेदस्त-
स्मादित्यर्थः इन्द्रमनासे द्विवचनप्राप्तेः एकवद्भाषो वैकल्पिकः
भेदाभेदक्षेपि भेदपक्षमादाय विशिष्टान्यत्वमविशिष्टेस्तीति
नैवातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

सू० “ततोऽत्यन्तान्यत्वं लक्षणम् ? *-इति चेन्न, ‘असि-
द्ध्यादिसंकीर्णानैकान्तिकोदाहरणाव्यापनात् ‘स्वरू-
पाणां चा’नन्त्येन तत्प्रतियोगिकान्यत्वावधारण-
स्याशक्यता तेषामानन्त्यात् तन्मध्यपतितकतिप-
यान्यत्वे चान्यत्र कतिपये प्रसङ्गतादवस्थ्यात् ।

टी० ॥ ननु व्यतिरेकद्वयविशिष्टादत्यन्तभिन्नत्वं लक्षणं
तच्चाविशिष्टे सद्देती न गतमित्याह-। “तत” इति ॥ ^b“असि-
द्ध्यादी”ति । व्यतिरेकद्वयोपलक्षितादभिद्वादेः सङ्कीर्णानैकान्ति-
कस्यात्यन्तभेदाभावात्तदव्याप्तिरित्यर्थः यद्यपि सङ्कीर्णानैकान्ति-
कस्यात्यन्तभेदाभावात्तदव्याप्तिरित्यर्थः यद्यपि सङ्करस्थले व्यति-
रेकद्वयोपलक्षितत्वं विशिष्टत्वं वा न सम्भवति तत्र साधारण-
त्वासाधारणत्वयोरन्यतरस्यैव सम्भवात् तथापि तादृचावृत्तौप-
लक्ष्यतावच्छेदकभावादिदमुक्तं येष व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं
यास्य तेषामैकरूप्याभावात्तत्प्रतियोगिकान्यत्वमनैकान्तिके
दुर्ग्रहमित्याह-। “स्वरूपाणामि”ति । अशक्यत्वे हेतुमाह-।
^d“आनन्त्यादि”ति । सकलसङ्ख्याकैकरूप्याभावेन ताव-

ताननुपस्थितेरित्यर्थः नच बहुत्वमेव “तथा तदवच्छिन्नप्र-
तियोगिकाभावस्य सर्वहेत्वाभासनिवृत्तेनातिव्याप्टेरनैकान्ति-
कादिभिरात्वेन बहुत्वम् बहुत्वमिच्छतेनानैकान्तिकत्वं लक्षणी-
यमित्यन्योन्याश्रयाच्चेति भावः ॥ “तन्मध्ये”ति । अन्य-
त्वप्रतियोगिमध्यपतितकतिपयव्यक्तिभिरात्वं तत्रैव कतिपय-
व्यक्तिषु गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

सू० “उपलक्षणत्वे चाभयव्यतिरेकस्यान्यत्वप्रतियोगिको-
त्यप्रवेष्टेन तत्सङ्गृहीत^(१)व्यतिरेकपक्षतापाता^२देवं
चादृष्टवाणादिनापि गोत्वादेवम्भूताद्वाराणादिवि-
धाणित्वानुमानौचित्यापातात् ॥

टी० ॥ ननु साधारणत्वानाधारणत्वव्यतिरेकद्वयोपल-
क्षितत्वमेवानुगतमन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकमस्तु तथाच
नोक्तदोष इत्याशङ्क निराकरोति-। “उपलक्षणत्व”इति ।
व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं व्यतिरेकद्वये तावन्न सम्भवति अभे-
देनोपलक्ष्योपलक्षणभावाभावात् तथाच व्यतिरेकद्वयोपलक्षि-
तादन्यत्वं व्यतिरेकद्वयेति व्यापकं तथाच साधारणव्यतिरेको-
साधारणव्यतिरेकानैकान्तिकः स्यादन्यत्वं न्योन्याभावस्त-
त्प्रतियोगिकोटी चेद्व्यतिरेकद्वयं न प्रविष्टं^(२)तदा व्यतिरेक-
द्वयोपलक्षितान्यत्ववतो व्यतिरेकद्वयस्यानैकान्तिकलक्षणरूप-
व्यतिरेकिणः पक्षतापक्षिस्तत्राप्यनेन लक्षणेनेतरभेदः सिद्धो-
दित्यर्थः किञ्च यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टान्यत्वमनैकान्तिकल-
क्षणं तदा येन पुरुषेण सुरभिभिर्वा गोपदवाच्यं न दृष्टमस्ति
तस्य गोत्वेन गोपदवाच्यत्वेन हेतुना वा वागादेरपि विधा-
णित्वं सिद्धोत्तेन गोत्वस्याभासत्वेनाग्रहात् न हि गोत्वं साधा-

(१) तेन लक्षणेन सङ्गृहीतो यो व्यतिरेकः (=हरभेदरूपं साध्यं)
तदीया पक्षता इत्यादित्यर्थः ।

(२) व्यतिरेकद्वयस्यान्योन्याभावकोटिप्रविष्टत्वेहि स्वस्मिन्स्वभेदाभा-
वेन व्यतिरेकद्वयोपलक्षिताभ्यत्वं न इत्यादिति न प्रविष्टम्-इति विक-
ल्पावतारः ।

रणानैकान्तिकत्वेन गृहीतं वागादेरदर्शनेन तद्विपक्षत्वस्यानिश्च-
यात् नाप्यसाधारणतया शक्यत्वादे. सपक्षादठ्यावृत्ते न च वाधा-
देवायमहेतुः पक्षस्यादृष्टत्वेन^(१) साध्यासाधवत्तया उप्रमिते.
सपक्षवृत्तेर्विरुद्धत्वानममवादित्याह-। ^b“एव चे”ति । कंचित्तु
यद्यन्यत्वगर्भं लक्षणं म्यात्तदा वागत्वसुरभित्वात्यन्तभावद्वय-
विशिष्टान्यत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारणेन वागस्य विषाणित्वमपि
मिद्धोदित्यर्थ इत्याहुः ।

सू० “हेत्वाभासान्तरमप्येवं किं न समग्राहीति वासनायां
यदेवानयोरितरेभ्यो वैधर्म्यं वाच्यं तस्यैव लक्षणस्य
निर्वचनापत्तिरिति असिद्धत्वादिप्रकारादन्येन प्रका-
रेण हेत्वाभासानैकान्तिकइति चेत् ^b“वाच्यस्तर्हि स
प्रकारः कस्यान्यथा ‘ततस्ततोऽन्यत्वं ज्ञेयम् ॥

टी० ॥ यथा साधारणासाधारणौ द्वौ हेत्वाभासौ कथ-
ञ्चिदनुगतेन रूपेण लक्ष्येते तथा हेत्वाभासान्तरमप्यन्तर्भाव्या-
नैकान्तिकत्वं कथं न विरुक्तमित्याकाङ्क्षायां हेत्वाभासान्तरवै-
धर्म्यमनयोपेक्षाद्य संशयफलकत्वादि तदेव लक्षणमस्तु किम-
नेनेत्याह-। “हेत्वाभासान्तरमिति”ति । तथाच^(२)साधारणा-
साधारणयोरपि पृथगेव हेत्वाभासत्वमस्तु किं पंचधाविभागे-
नेति भावः ॥ ^b“वाच्य”इति । उक्ताना प्रकाराणा दूषितत्वा-
दित्यर्थः ॥ “ततस्तत”इति । अमिद्धविरुद्धादि प्रकारादित्यर्थः
तथाच येन प्रकारेणान्यत्व स एव लक्षणमस्तु किमनेनेति भावः

सू० “किंच एवं तर्ह्यसिद्धत्वादन्यदनैकान्तिकमिति कृत्वा
^bविरुद्धत्वादीनामनैकान्तिकत्वेनैव सङ्ग्रहे शक्ये
विरुद्धादिवद्रूपान्तरासङ्ग्रहयोः साधारणासाधार-
णयोरैव यदनेन प्रकारेण सङ्ग्रहमकार्षीस्तत्र नियतं

(१) अदृष्टत्वेन=पूर्वमनुभूतत्वेन, अनुभूतत्वं तु अनुमितिरूपेण एव ।

(२) तथाच=हेत्वाभासान्तरस्यासङ्ग्रहे च, तद्वत्साधारणासाधारण-
योरप्यसङ्ग्रहः स्यादित्यर्थः ।

रुचिरेव भवती नियन्त्री यदा चासिद्धादिव्यति-
रिक्ततयानैकान्तिकं लक्षणमिदं तदासिद्धादिभेदकं
प्रकारमनवगम्य तदन्यत्वमशक्यावधारणमिति तद-
भिधाने प्रसक्ते तदाश्रया ये दोषा दर्शितास्तैः
“स्मृतिव्यतिरिक्तत्वेऽक्तदोषैश्च निराकर्तव्योसि
‘साध्येनाव्याप्यत्वे सति तदभावाव्याप्तौनैकान्तिक
इत्यपि न साध्याविशिष्टेऽपि गतत्वात् ॥

टी० ॥ अत्रिद्वान्यत्वेन चतुर्णामैक्यं कथं न कृतमित्यनु-
द्योमे विरुद्धादीनां प्रातिस्विकः प्रकारो यथास्ति तथा साधार-
णानाधारणयोरेकं रूपं यद्यस्ति तदा तदेवाभिधीयतां किमनेन
लक्षणेनेत्याह-। “किञ्चे”ति ॥ ^b“विरुद्धादिवदि”ति । यथा
साध्याभावव्याप्यत्वं विरुद्धे । तथा साधारणासाधारणयोरुक्त-
प्रकारादन्यः प्रकारो नास्ति उक्तश्च दूषित एवेत्यर्थः किञ्चासि-
द्धादिभिन्नानैकान्तिक इति लक्षणमसिद्धत्वादिज्ञानसापेक्षं
तथाचासिद्धादिकं दूषितं यैर्दोषैस्तेऽप्यत्र लक्षणे स्युरित्याह-।
“यदा चे”ति ॥ ^d“स्मृती”ति । स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनुभवत्व-
मिति लक्षणे स्मृत्यन्यत्वं स्मृत्यन्तरेऽस्तीत्यादि लक्षणमत्र
सञ्चार्यमित्यर्थः ॥ ^c“साध्येने”ति । प्रथमविशेषणेन मह्येति निराक-
रणं द्वितीयेन विरुद्धस्य शब्देऽनित्यः अनित्यत्वादित्यत्र लक्षण-
मिदमतिव्यापकमभेदेन साध्यव्याप्यत्वाभावादिति भावः ॥

सू० “विशेषणीभूतसाध्याव्याप्यत्वावगमाच्च प्रायामिका-
व्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्या दूषणं स्यात् ^bविशेष-
णांशस्यैव वा साधकत्वसाधनसामर्थ्याद्व्यथविशे-
ष्यतापि ^cवस्तुगतिव्यापकवन्मात्रपर्यवसायिनि तद-
भाववन्मात्रपर्यवसायिनि वा तत्काल ^dसदिह्यमा-
नान्यतरव्यापकत्वे शब्देनित्यः श्रोत्रगुणत्वादित्या-
दावसाधारणेऽपि व्यावृत्तत्वाच्च वस्तुतः साध्याव्याप्ये

तत्कालेपि च सत्प्रतिपक्षतया अनिर्द्धारितसाध्या-
ठ्याप्तिके प्रकरणसमे गतत्वाच्च एतेनानैकांतिकः
सव्यभिचार इत्यप्युक्तं वेदितव्यं सव्यभिचारस्यो-
क्तप्रकाराधिकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ॥

टी० ॥ मन्वभेदेपि ठयाप्तिलक्षणमस्त्येवेत्यनुशयेन दोषा
न्तरमाह—। “विशेषणीभूते”ति । साध्याठयाप्यत्वमात्रस्यैवा-
सिद्धत्वस्य दूषणसामर्थ्यं तदभावाठयाप्यत्वस्याप्रयोजकत्वा-
दिति भावः असाधकतानुमाने उपर्यविशेष्यत्वं चेत्याह—।
“विशेषणांशस्ये”ति । सहेतौ दशाविशेषेऽसाधारणे विरुद्धे च
दशाविशेषेऽसाधारणेऽठयाप्तिरित्याह—। “वस्तुगती”ति ।
आदिपदादाकाशमनित्यमाकाशत्वादिषड्ग्रहः मन्वभयोः सा-
ध्यव्याप्यत्वं साध्याभावठयाप्यत्वं च यथासङ्गमस्त्येवेत्यसाधा-
रणता न सम्भवतीति कथमव्याप्तिरित्यत आह—। “सन्दिह्य-
माने”ति । अगृह्यमाणठयाप्तितया त्वयैव दशाविशेषे तदसाधा-
रणत्वठपक्षस्थापनादित्यर्थः श्रोत्रगुणत्वादिति श्रोत्रविशेषगुण-
त्वादित्यर्थः ॥ “वस्तुत”इति । यद्यपि साध्यव्याप्तत्वे सति
साध्याभावाठयाप्तत्वं ज्ञानगर्भं न लक्षणं येन सत्प्रतिपक्षेति-
ठयाप्तिः स्यात्तथापि दशाविशेषे ठयभिचारिणैव यत्र सत्प्रति-
पक्षत्वं तत्रातिठयाप्तिरित्यर्थः यद्वा साध्यव्याप्यत्वेनाज्ञायमानत्वे
साध्याभाववत्त्वेनायमानत्वं लक्षणमभिप्रेर्यैतदुक्तम् ।

सू० “अपिच उक्तलक्षणविशेषणेन प्रमात्यवच्छेदकादन्येन
किं व्यवच्छेद्यं केनचित्सत्प्रतिपक्षः केनचिदन्य इति
चेत्कः पुनः सत्प्रतिपक्षः यथाहि सत्प्रतिपक्षलक्षण-
मनुयुक्तो यद्याह समानबलेन बोधितसाध्यविपर्य-
यको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्ष इति तन्न तथाहि
किमिह बलं विवक्षितं सामर्थ्यामिति चेत्तत्कुत्र
कार्येऽभिमतं न तावत्सर्वस्मिन्कार्ये “सत्प्रतिपक्ष-
हेत्वोर्भिन्नविषयबुद्ध्यादिजनकतया सर्वकार्ये सम-

शक्तिताया असम्भवात् ^dनापि यत्र क्वचित्कार्यं प्रकृतं साध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्वप्रतिपादनादौ समर्थेन प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षताप्रसक्त्यासर्वहेतूनां शक्यप्रकारणसमहेत्वाभासत्वापत्तेः नापि पूर्वहेतुसाध्याभावबोधनरूपे कार्ये ॥

टी० ॥ पूर्वापरबहने सक्रमयितुं पीठमारचयति-। “अपि चे”ति ॥ समानं बलं यस्य तेन हेत्वन्तरेण बोधितः साध्यविपर्ययो यस्य स सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः ॥ सर्वस्तिन्निति । यद्यपि सर्वकार्यसामर्थ्यमेकस्यापि हेतोरसम्भवि किं पुनरुभयोस्तथापि यत्र यस्यैकस्य सामर्थ्यं तत्र सर्वत्र यस्य सामर्थ्यं तेन बोधिनसाध्यविपर्ययत्वमित्यर्थः कृतकत्वभावगतत्वयोः शब्दानित्यत्वनित्यत्वसाधकयोरेकत्र कार्यं सामर्थ्याभावेनासत्प्रतिपक्षत्वं स्यादित्याह-। “सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिति”ति । ननु तयोरपि प्रमेयत्वसाधने शक्तिरस्त्येव भवति हि शब्दः प्रमेयः भावगतत्वात्कृतकत्वाद्भेदेति प्रकृते कथं नामयोः सत्प्रतिपक्षत्वमित्यत आह-। “नापी”ति । एवं सति शब्दोऽनित्यः सत्त्वात् शब्दानित्यः कृतकत्वादिदत्तयोरपि स्फुटप्रतीयमानव्यभिचारविद्वृत्त्वयोर्भिः सत्प्रतिपक्षत्वं स्यात् द्वयोरपि प्रमेयत्वसिद्धौ समर्थत्वदित्यर्थः ॥

सू० “उत्तरहेतौरेवमसत्प्रतिपक्षत्वे स्वसाध्यसाधकत्वापत्तेः ^bप्रतिहेतोः ? * -इति चेन्न, “तत्र तत्प्रतिहेतोरसामर्थ्यादेव समशक्तिकत्वानुपपत्तेः “इत्यमेव न हेतुसाध्यस्य विपर्ययबोधनेपि * अथोच्यते स्वकीये स्वकीये प्रकृतसाध्ये यत्सामर्थ्यं पक्षसत्त्वविपक्षठ्यावृत्तत्वाबाधितत्वलक्षणं तत्सत्प्रतिपक्षहेत्वोस्तुल्यं तदभिप्रायेणेदं समवसत्त्वाभिधानं तेनेदमुक्तं भवति पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षठ्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वैस्तु-

ह्येन बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इति ?
*—नैतदपियुक्तं ॥

टी० ॥ “उत्तरहेतोरिति”ति । नहि पूर्वा हेतुः पूर्वहेतुसा-
ध्याभावबोधनसमर्थाद्येन प्रतिषद्ध उत्तरहेतुः साध्यं न साध्यंदि-
त्यर्थः ननु पूर्वोपर्यं न विवक्षितं किंतु प्रतिहेतुसाध्याभावबो-
धनं द्वयोरपि समं कार्यमिति द्वयोरपि सत्प्रतिपक्षत्वमित्याह—।
“प्रतिहेतोरिति”ति । तत्रापि हेत्वोः प्रतिस्वं विप्रान्तमेव पर-
स्परसाध्याभावबोधनं न तूभय साध्यमेकं कार्यमिति समवल-
त्वाभावेन द्वयोरसत्प्रतिपक्षत्वापत्तिरित्याह—। “तत्रे”ति ।
ननु हेतुसाध्यबोधनं^(१)द्वयोरपि कार्यं तुल्यमित्यत आह—।
“इत्यमेव”ति । हेतोर्यत्साध्यं तद्वोधनमपि निष्कमभिन्नं वेति
नोभयोस्तत्र सामर्थ्यमित्यर्थः ननु वलं पक्षसत्त्वादि यस्य तुल्यं
तद्वोधितसाध्यविपर्ययकत्वं लक्षणमस्तु तत्र यद्यपि विपक्षः
सपक्षो वा नोभयोरेकस्तथापि स्त्रीयस्त्रीयेति विशेष्यतानि-
त्याशङ्कते—। “अथे”ति ॥

सू० “प्रतीयमानभागासिद्धत्वेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिप-
क्षत्वप्रसङ्गात् कियत्यपि पक्षे सत्त्वेनास्य पक्षसत्त्वा-
भावात् “नचैष्ट्यमेव भागासिद्धेन सत्प्रतिपक्षत्वं
प्रतीयमानदोषान्तरेणापि तथा सति सत्प्रतिपक्ष-
त्वस्वेष्ट्यत्वापत्तेः हेत्वाभासान्तरत्वाविशेषात् *
“न च सवपक्षे इति कृते नायन्दोष ? *—इति वाच्यं,
यत्रैक एव पक्षः “प्रतिहेतौ तस्य सत्प्रतिपक्षस्याव्या-
पनात् “तत्र पक्षस्य सर्वशब्दार्थत्वाभावादेव सवप-

(१) अत्र हेतुसाध्यबोधनपदं भौतिकहेतुसाध्यविपर्ययबोध-
नपदार्थसमानार्थकं, स्वसाध्यसाधकस्यैव हेतोरपरहेतुसाध्यविपर्ययबो-
धकत्वात्, अतो न व्याख्यातव्यशेषवर्गवैयधिकारस्य पाठाशुद्धिर्वा
उभावबोधा ।

ज्ञसत्त्वाभावेनोक्तलक्षणानुपपत्तेः एतेन यावदित्यापि
पक्षविशेषणो दोष उक्तप्रायः ॥

टी० ॥ अज्ञायमानदशायां भागानिद्वेनापि सत्प्रतिप-
क्षतेत्यल आह-। “प्रतीयमाने”ति ननु भागानिद्वस्यापि भागा-
न्तरे साधकत्वेन सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यन आह-। “नचे”
ति । हेत्वाभासत्वाविशेषेण व्याप्तिवारित्वेन ज्ञातेनहि सत्प्र-
तिपक्षता तथा सति स्यात् भागानिद्वस्य भागान्तरेपिन साध-
कत्वं हेतुलक्षणायोगादित्यर्थः ननु पक्षमत्त्वमात्रं न विवक्षितं
किंतु सर्वपक्षमत्त्वमिति न भागानिद्वे प्रसङ्ग इत्यन आह-।
“नचे”ति । सर्वपदस्यानेकाशेषवाचकतया आकाशं नित्यं
विभुत्वात् आकाशमनित्यं विशेषगुणवत्त्वे सति महत्त्वादित्यादेः
सत्प्रतिपक्षता न स्यादित्यर्थः । “प्रतिहेतावि”ति । प्रतिहे-
त्वोरित्यर्थः तदेव विशदयति-। “तत्रे”ति ॥ एतेन”ति । सर्व-
पदव्याप्यत्वस्याप्यनेकाशेषवाचकत्वादित्यर्थः ॥

सू० “किञ्चान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा केवलव्य-
तिरेकिणश्चान्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे लक्षणा-
मिदं नास्ति सपक्षसत्तया तुल्यतायास्तत्राभावात् *
न च सपक्षसत्तया तुल्येनेति लक्षणे तदनुरोधान्न
कर्तव्यमेव * तथासति असाधारणनैकान्तिकतया
निश्चितेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात् * ‘नचान्वय-
व्यतिरेकिणैवान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकि-
णैव केवलव्यतिरेकिणः सत्प्रतिपक्षता न व्यत्यासे-
नापीति नियमोभ्युपगन्तु’ शक्यः ‘उभयोरप्यनवग-
म्यमानदोषान्तरत्वदशायामेकसम्बन्धिनी दोषस्या-
वश्यं भवितव्यैकतरस्य^(१) व्याप्यत्वपक्षधमत्वावगमो

(१) केषुचित्पुरतकेषु “कतरस्य”-इति पाठः ।

मे भ्रातिरिति^(१) बुद्धिमाधाय प्रतिपित्तु निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातु *

टी० ॥ पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षानसत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्त्वानि पक्षरूपपायन्वयव्यतिरेकिनात्रे केवलान्वयिनि विपक्षप्रसिद्ध्या विपक्षावृत्तित्वं नास्ति केवलव्यतिरेकिणि सपक्षवृत्तित्वं नास्ति तथाचैकरूपहीनतया हीनवलत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वं तत्र न स्यादित्याह-। “किञ्चेति । ननु सपक्षसत्त्वेनापि तीत्यं न विवक्षितं येन व्यतिरेकीहीनवलः स्यादित्यत आह-। “नचे”ति । तद्विवक्षयां निश्चितामाधारव्येपि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः ननु यावन्ति रूपाणि यस्य तस्य तावद्रूपसम्पन्नेनैव सत्प्रतिपक्षत्वमस्तु नतु व्यत्यासेनेत्यत आह-। “नचे”ति । केवलान्वयिनि केवलान्वयिनैवेत्याशङ्काया^(२) पूरणीयं व्यत्यासेनापि सत्प्रतिपक्षतायाः सम्भवाकार्यं नियम इत्याह-। “उभयोरिति”ति । एकसम्बन्धिनो दोषस्येत्यादि बुद्धिविषयस्योपवर्णनं भ्रान्तिरिति बुद्धिपाथायेति सम्भवावनामात्रे शोक्तं नत्वेतदावश्यकं कलरोत्र ठयाप्त इति जिज्ञासाफलकत्वात् सत्प्रतिपक्षस्य निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धकतायामेव तात्पर्यात् ॥

मू० “केवलव्यतिरेकियन्वयव्यतिरेकिणोन्वयव्यतिरेकिणि च केवलव्यतिरेकिणः^(३) प्रतिहेतोः समर्थत्वस्य दुरपवादात्वात्^१ एतदेव च सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वाभ्युपगमे मूलं यन्नाम व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिरस्मिन् सति न भवितुमर्हति * अथाभिधत्से पदासपदासत्त्वविपक्षाध्यावृत्त्याधितविषयत्व “योगिना बोधित-

(१) इति प्रतिपित्तु बुद्धिमाधाय (तस्य) निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुमिति सम्बन्धः । (२) आशङ्कायास्=केवलान्वयिनि केन सत्प्रतिपक्षत्वम् ?—इत्याशङ्कायास् । आशङ्कायां केवलान्वयिनि केवलान्वयिनैवेति पूरणीयमिति सम्बन्धः । (३) केवलव्यतिरेकिणाऽन्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणा च केवलव्यतिरेकिणः—इत्यपि बहुषु शब्देषु दूरयमानः पाठो युक्त एव ।

साध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति *, न, निरस्तप्राय-
त्वात् 'पहापदे सर्वशब्दविशेषणप्रक्षेपपक्षोक्तद्वयास्य
केवलव्यतिरेकव्यव्यापकत्वस्यापि भावात् ॥

टी० ॥ “केवलव्यतिरेकिणी”ति । केवलान्वयिनिव्यपि
व्यत्यासो योज्यः भ्रान्तिरिति बुद्धिनाथायेत्यंशमपहाय पर्यव-
सकं दूषकतामूलनाह-। “एतदेव चे”ति ॥ “अथाभिधत्स”
इति । तुल्यबलत्वगर्भलक्षणे किम्बलमिति जिज्ञासायां पूर्वं
पक्षसत्त्वाद्युक्तनिदानौ स्वतन्त्रमेव लक्षणान्तरमाशङ्कितमित्य-
पौनरुक्त्यं-। “योगिने”ति । योगित्वेन ज्ञायमानेनेत्यर्थः
अन्यथाऽसम्भवात् निरासप्रकारमेव स्फुटयति-। “पक्षपदे”इति ।
प्रक्षेपे यत्रैक एव पक्षः तत्र सत्प्रतिपक्षाठयासि रप्रक्षेपे भागासि-
द्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः केवलव्यतिरेकिणीत्युपल-
क्षणं केवलान्वयिनीत्यपि द्रष्टव्यम् अनयोः सपक्षसत्त्वविपक्षद्वया-
वृत्तिविरहस्य यथासम्भवनभीत्यादित्यर्थः ॥

म० “किंच सोपाधिकमसिद्धभेदं वदतां मते सोपाधितया
निश्चीयमानेपि सर्वं यथोक्तमिदं लक्षणमस्तीति
तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यात् * अथ ब्रूये ^bअसिद्धत्व-
विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वावाधितविषयत्वहीनेन बो-
धितसाध्यासत्वः प्रकरणसम इति * नैतदपि सुस्थम्,
'आपाततोस्फुरद्दोषेण वस्तुगत्या चासिद्ध्यादिदो-
षवता सत्प्रतिपक्षतास्वीकारात्तदव्यापकत्वात् “कि-
ञ्च विरुद्धार्थगोचरयोः सत्प्रतिपहाहेत्वोर्मध्येऽव-
श्यमन्यतरस्यासिद्ध्यादिदोषेण भवितव्य^(१)मन्यथा
धर्मिणो विरुद्धधर्माध्यासप्रसंगात् ॥

टी० ॥ “किंचे”ति । अनौपाधिकत्वं ठयासिरिति मते

(१) उभयोरपि षण्णाम्बुपक्षधर्मत्वाभ्यां नितरवात्सङ्गैतुतैवे
किंनस्यादित्यत आह-अन्यथेति-उभययोरपि सङ्गैतुत्वे नित्यानित्य-
त्वलक्षणाविरुद्धधर्मसम्बन्धाद्धर्मिभेदप्रसङ्गइत्यर्थः ।

सोपाधित्वमेव व्याप्तिविरहस्तथासोपाधिर्विपक्षसर्वबोकायक-
तया न दोषः किंतु व्याप्तिविरहरूपत्वयैव तथाच सोपाधित्वे-
नापि ज्ञायमानस्य प्रतिहेतोः पक्षसर्वमपक्षसर्वविपक्षठयावृत्त्य-
व्याधितत्वानि रूपाणि सन्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादि-
त्यर्थः एतदर्थमेवामिदुभेदं वदतामित्युक्तमुपाधेर्यभिचारीनाय-
कतापक्षे नायं दोषः तत्र विपक्षठयावृत्तेरभावादित्यर्थः ॥ “अ-
सिद्धत्वे”ति । सोपाधी तु नासिद्धत्वहीनत्वमिति न तेन सत्प्र-
तिपक्षत्वमिति भावः अठयापकत्वं लक्षणदोषमाह—“आपा-
तन”इति । आज्ञायमानामिद्व्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षे तद्धीन-
त्वं नास्तीति तत्राव्याप्तिरित्यर्थः लक्षणे सम्भवदोषमाह—
“किञ्चे”ति । मद्भूतुना सद्भूतुरेव सत्प्रतिपक्षिनो न भवति-
धर्मिणो विरुद्धैरूप्योपत्तेः (१) तथाचैकनरेखावश्यमाभासेन
भवितव्यमित्यमिद्व्यादिदोषहीनेन लक्षणमसम्भवीत्यर्थः ॥

मू० “तत्रैकस्य व्यवच्छिद्यदोषानिश्रयात् प्रतिहेताव-
प्यसिद्धत्वादिशङ्कायामापतितायामसिद्ध्यादिही-
नेनेति लक्षणांशस्यानिश्रयात् लक्षणास्य दुरवधा-
रणत्वं * “नच वाच्यं किमर्थं सत्प्रतिपक्षहेत्वोरन्य-
तरस्यासिद्ध्यादिकमवश्यमभ्युपेयं सत्प्रतिपक्षाताल-
हाणदोषदुष्टत्वादेव तयोर्न धर्मिणो विरुद्धधर्माध्य-
स्तत्वमापत्स्यते इति * (२) यतोऽवश्यं दुष्टे हेतौ
व्याप्तेः “पक्षधर्मतायावाऽभावेन भवितव्यं” तत्स-
त्ताभ्युपगमे साध्यसत्ताया अप्यभ्युपगमप्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ ननु द्वितीयहेतोरसिद्ध्यादिराहित्येपि सत्प्रतिप-
क्षता भवत्येवेति कथमसम्भव इत्यत आह—““तत्रैकस्ये”ति ।
तथापि द्वितीयस्यासिद्ध्यादिविरहित्वं दुर्ज्ञानमित्यसम्भव एव

(१) वर्यां नित्या ऽवयवत्वत्वे सति आवणत्वाच्छ्रवणवत्
वर्यां अनित्यासामान्यवत्त्वे सति आवणत्वात् ऽवनिवदित्यनयोः प्रतिहे-
त्वोरैकतरेखावश्यमसिद्धौ न भवितव्यमित्यर्थः । (२) कुतो न वाच्यमि-
त्यत आह—यत इति—

लक्षणादोष इत्यर्थः । ननु वस्तुद्वैरूप्यापत्तिभयेनैकतरस्याभास-
त्वमवश्यं वाच्यं तत्र च द्वयोः सत्प्रतिपक्षितत्वेनैव सिद्धमित्यसि-
द्धत्वादिसर्वमनावश्यकमित्यत आह—। ^b“नच वाच्यमि”ति ।
^c“पक्षधर्मताया वे”ति । शब्दोऽनित्यः सामान्यवशे सति चाक्षुष-
त्वादित्योदावित्यर्थः । ^d“तत्सत्ते”ति । व्याप्तिपक्षधर्मतोन्नय-
सत्त्वाभ्युपगम इत्यर्थः ॥

सू० * “बाधादीनामप्युपाधिरव्यापनादिद्वारा व्याप्त्या-
दिभङ्गे एव पर्यवसाना^bत्सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमा-
नोपि व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गो न विशिष्यैकस्मिन्
हेतौ निर्णेतुं शक्यः * अन्यतरस्मिन् व्याप्त्यादि-
भङ्गेनापि सत्प्रतिपक्षत्वस्योपपत्तोः^(१)अतो विशेष-
निवृत्तया तदुन्नयने स्थिते यदि साक्षादसावधार्यते
तदानीमसिद्धिः अथ लिङ्गेनोन्नीयते, तदा नैकान्ति-
कादेरन्यतमं दूषणं वस्तुगत्यास्ति सत्प्रतिपक्षे तत्क-
थमसिद्ध्यादन्यतमं नाभ्युपेयं तत्त

टी० ननु वाचे व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्नैकतरस्यापि भङ्गोऽप-
च न वस्तुसिद्धिरित्यत आह—। “बाधादीनामि”ति । वाचे
पक्षेतरत्वेोपाधेः आवश्यकत्वादुपाधौ चावश्यं व्यभिचारादित्यर्थः
नन्वेवं यत्र व्याप्तिपक्षधर्मतान्यतरभङ्गनिश्चयस्तेनहीनवलेन
सत्प्रतिपक्षः कथं स्यादित्यत आह—। ^b“सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीय-
मान”इति । स्यादेवं यदि विशेषनिवृत्तया दोषः स्फुरेत्त्वेव-
मित्यर्थः अनयोरन्यतरदुष्टं सत्प्रतिपक्षत्वादित्यविशेषेण दोष-
वशमात्रनिश्चये कुत्र तदिनि विशेषजिज्ञासायां यत्र लिङ्गानु-
सन्धानमन्तरेण व्याप्तिपक्षधर्मतयोरन्यतरभङ्गनिश्चयस्तत्रासिद्धिः
यत्र तु विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वादिना व्याप्तिपक्षधर्मतान्यतरभङ्ग-

(१) अस्तुविशेषेणैकोन्नयनं किमेतावता प्रस्तुते स्यादित्यत आह-
अत इति—अविशेषनिवृत्तयेति पदच्छेदः= । हेतुप्रतिहेतोरन्यतरमात्र-
निवृत्तया व्याप्त्यादिभङ्गेऽन्नयने स्थिते इत्यर्थः ।

ज्ञानं तत्रोपजीव्यत्वेन विरुद्धाद्यन्यतमस्य हेतवाभासत्वमिति-
वस्तुगतिकथनमात्रम् ।

मू० "तस्मात्तस्य दोषस्य कुत्र द्वयोर्मध्येस्तित्वमस्तीत्यन्य-
तरानिर्धारणे प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायां सत्यामसि-
द्ध्यादिहीने वेति लक्षणांशस्य दुरवधारणत्वं दुःप-
रिहरमेव ^६स्यादेतत् अस्तु लक्षणांशस्यासिद्ध्यादिही-
नत्वस्यानिश्चयः संशयोपि तदावस्ति तत्संशयेन श-
ङ्कितसत्प्रतिपक्षतादोषग्रस्तत्वादेवासाधकत्वे दूष्या-
नुमानस्य शङ्कितोपाधाविवसिद्धिशङ्का * नच
यामसिद्ध्याशङ्कामुपजीव्य सत्प्रतिपक्षताशङ्कादोषः
स्यात् सैव तदादोष इति ? *—वाच्यं असिद्ध्या-
दिशङ्काया एव तादृशप्रतिहेतुदर्शनमूलकतया तदु-
पजीवकत्वादिति मैवम् ॥

टी० ॥ ननु प्रथम^(१)मेव दुष्टमस्तु तथाप्यसिद्ध्यादिहीनेन
(२)शोधितसाध्यामत्वः सत्प्रतिपक्ष इति लक्षणं सुप्रमेवेत्यत
आह—। "तस्मादि"ति । यद्यपि द्वयोरपि परस्परं सत्प्रति-
पक्षत्वमेव अन्यथान्यतरस्यानुमापकत्वं स्यादिति द्वितीयानु-
माने तदवधारणत्वाभिधानमयोग्यं तथापि तेनैव रूपेण (३)ल-
क्षणकारणात्तथोक्तं नन्वसिद्ध्यादिहीनत्वानिश्चये तद्वर्गे सत्प्र-
तिपक्षत्वं ना निश्चीयतां सन्देहस्तु स्यादेव तथाच सन्दिश्य-
मानसत्प्रतिपक्षत्वमसाधकत्वसाधनसमर्थं हेतवाभासान्तरं सिद्ध-
मेवेति शङ्कते—। ^६"स्यादेतदि"ति । ननु सन्दिश्यमानसत्प्रतिपक्ष-
त्वमप्यसिद्ध्यादिदोषसन्देहाधीनमित्यसिद्ध्यादिदोषसन्देहाद-
साधकत्वं सिद्धं किं शङ्कितसत्प्रतिपक्षत्वेन हेतवाभासान्तरेण-
त्यत आह—। "नचे"ति । प्रतिहेतूपस्थितिं विना स्थापना-

(१) प्रथममित्यतोऽग्रे 'साधनमि'ति शेषः । (२) अत्र 'प्रतिहेतुना'
इति शेषः । (३) द्वितीयानुमानगताऽसिद्ध्यादिहीनेनैव रूपेणेत्यर्थः ।

हेतौ नासिद्ध्यादिसन्देह इति प्रतिपक्षस्यैवोपनीव्यत्वेन दोष-
त्वमित्यर्थः ॥

म० "यतः शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाप्येवं सत्प्रतिपक्षता
प्रसज्येत ^b* ननु भवत्वेवमपि तेन किं नाम भवेत्
"तस्यासिद्धतया हीनबलस्य सिद्ध्यादिमता पक्ष-
बाधं विधूय न किञ्चिदन्य ¹द्वाधादेव तर्हि न तेन
सत्प्रतिपक्षता ? *—इति चेन्न, "सन्दिह्यमानासिद्ध-
तया सत्प्रतिपक्षहेतोरपि तर्हि कथं परहेत्वसाधक-
त्वप्रसाधकत्वं भविष्यति ॥

टी० ॥ यथा प्रतिहेतून्मीतदोषवतापि सत्प्रतिपक्षत्वं तथा
स्वरमत एव यत्रोपाधिसन्देहस्तादृशेनापि सत्प्रतिपक्षत्वं स्या-
दित्याह—। "यतः" इति । ननु निश्चितोपाध्यादिदोषवता
सत्प्रतिपक्षो नेष्टयते सन्दिग्धदोषेण तिष्ठत्यत एवेत्याह—। ^b"न-
न्वि"ति । सन्दिग्धोपाधिरपि यत्र प्रतिहेतुरूपन्यस्यते तत्र
तस्य हीनबलत्वेन बलवता स्थापनानुमानेन बाध्यंति तत्साध्य-
विपरीत(१)प्रमाजननात्प्रतिहेतोः पक्षबाध एव स्यादित्याह—।
"तस्यासिद्धतये"ति । ननु तत्र बलवता स्थापनानुमानेन प्रति-
हेतोः साध्य बाधितं चेत्तदा शङ्कितोपाधिना सत्प्रतिपक्षत्वं
यदापादितं तन्न स्यादेवेति शङ्कने—। "बाधादेवे"ति । स्वार-
सिकसन्देहविषयोपाधिमता यथा न सत्प्रतिपक्षत्वं हीनबल-
त्वात्तथा प्रतिहेतूपस्थितिसन्दिह्यमानामिद्ध्यादिमतापि भवद-
भ्युपगतेन कथं सत्प्रतिपक्षता स्यात् दोषसन्देहस्य हीनबल-
वत्ताप्रयोजकस्योपयत्रापि तुल्यत्वात् तथा चेदमसाधकं सत्प्र-
तिपक्षत्वादितिहेतुना स्थापनानुमानस्यासाधकतासाधनं न
स्यादित्याह—। "सन्दिह्यमाने"ति ॥

म० हे"त्वाभासत्वाविशेषात् * ^bहेत्वाभासान्तरं न दोष-
संशयापादकमतो नैवम् ? *—इति चेन्न, "तर्हि यमु-

पाधिसुपादाय न्यूनबलतया बाध्यता त^(१)मादा-
यैव तथाविधोपाधेर्दोषसंशयसमत्वादेव ।

टी० ॥ ननु पाधिसन्देह एव हीनबलवत्ताप्रयोजको नत्व-
सिद्ध्यादिसन्देहोपि तथाच सन्दिग्धानामसिद्ध्यादिदोषवता
भवति सत्प्रतिपक्षत्वं नतु स्वामिकमन्देहविषयोपाधिसत्तेत्यत
आह-। “हेत्वाभासत्वाविशेषादि”ति । ननु येन दोषेण सोपा-
धित्वादिना त्वया हीनबलस्य सत्प्रतिपक्षत्वमापाद्यते स दोष-
संशयापादको न भवति प्रतिपक्षस्त्वनधोरन्यतरदुष्टमित्यकारेण
संशयापादक इति कथं न हेत्वाभास इत्याह-। “हेत्वाभासा-
न्तरमि”ति । स्वामिकमन्देहविषयो यत्रोपाधिस्तत्रापि तेना-
(^२)सिद्ध्यादिसन्देह आपादयितुं शक्यत एवेति न विशेष
इत्याह-। “तर्ही”ति । यद्वा अनाधिकतानुमितौ सत्प्रतिप-
क्षत्वं हेतुरभिद्वस्तद्धि दोषशून्येन प्रतिहेतुना बोधिनसाध्यवि-
पर्यत्य नचात्र दोषशून्यत्वमित्यत आह-। “सन्दिग्धानामे”ति ॥
“हेत्वाभासत्वे”ति । सन्दिग्धोपाधिवत्सत्प्रतिपक्षत्वस्यापि स-
न्दिग्धासिद्ध्या हेत्वाभासत्वाविशेषादित्यर्थः ॥ “हेत्वाभासा-
न्तरमि”ति । सन्दिग्धोपाधिरूप हेत्वाभासान्तरं न सत्प्रति-
पक्षत्वसन्देहापादकमधिकबलप्रथमहेत्वपेक्षया हीनबलत्वात्स-
त्प्रतिपक्षस्तु सत्प्रतिपक्षत्वरूपदोषमन्देहापादक इति सन्दि-
ग्धोप्यय दोषो भविष्यतीत्यर्थः ॥ “तर्ही”ति । उपाधिसन्दे-
हेन प्रत्यनुमानस्य सन्दिग्धासिद्धिदोषापादकत्वेन सत्प्रतिपक्ष-
सन्देहापादकत्वात् सत्प्रतिपक्षप्यनिद्विसन्देहस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥
मू० “किञ्च क्वचित्सत्प्रतिपक्षत्व निश्चयाभावे संशया-
नुपपत्तिः ^b * अयान्यथाकारंलक्षणमभिधत्से अस्मि-
द्धिविरोधव्यभिचारकालात्ययापदेशविरहितया प्र-
जीयमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः सप्रकर-
णसम इति ? *—एतदपि न विचारसहं^(३)केन तथा प्र-

(१) तस्य=त्वात्मानस्य । (२) तेन=उपाधिना ।

(३) विचारसहत्वं कथमित्यत आह-केनेति ।

तीयमानत्वमभिसत्तं किम्प्रत्यनुमानप्रयोक्त्या १ अथ-
प्रथमानुमानवादिना २ द्वाभ्यामपि वा ३ येन केन-
चिद्वा ४ न तावदाद्यः स्वयं दोषं जानतोपि दूष-
णान्तरापरिस्फूर्तो यद्यस्य^(१)दोषं न प्रति सन्धा-
स्यति तदानीमभीष्टमेवाप्यप्रतिसन्धास्यति तदा-
नीमन्यथापि ममास्फुरद्दोषान्तरस्य पराजयोनेन
कक्षान्तरारूढायाङ्गुथायां शाखान्तरं वा सङ्क्रमि-
तुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतोऽल्पप्रज्ञस्य
मयि वदत्यसत्यस्योपि निर्वहतीति लोके प्रकर्षप्र-
दर्शनार्थं कथमपि ग्रन्थकारादिभिरुक्तस्य वा तथा-
विधप्रतिहेतोर्निर्वाहार्थमन्यानुयुक्तस्य^(२)प्रौढप्रज्ञ-
स्य स्फुटदोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षकर-
दर्शनात् ।

टी० ॥ किञ्च सत्प्रतिपक्षत्वसन्देहोपि तथा स्याद्यदिस-
त्प्रतिपक्षत्वं क्वापि निश्चीयेत कोटिनिश्चयं विना संज्ञया-
नुपपत्तेः प्रकृते तूक्तरीत्या सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयो नास्त्वेवे-
त्याह- । “किञ्चे”ति । नन्वसिद्धत्वादिराहित्यं वास्तवं न
विवक्षितमपि तु तद्वत्तया प्रतीयमानत्वमात्रं तथा च नास-
म्भवो न वा दुरवधारणत्वमिति शङ्कते- । “अथे”ति । अवि-
द्वेषादिदोषवत्तया निश्चीयापि प्रतिहेतुवादिना सत्प्रतिपक्षकर-
णादठयापकतेत्याह- । “नतावदि”ति । यद्यस्येत्याद्यल्पप्रज्ञाभि-
प्रायवर्णनमपि वदतीत्यादिप्रौढप्रज्ञाभिप्रायवर्णनमयं दृष्टत्वेन
ज्ञायमानोपि हेतुस्त्वया निर्वाह्यतामित्यन्येनानुयुक्तस्येत्यर्थः ॥

(१) “यद्यस्य”-इत्यपि पुस्तकान्तरे प्रतीयमानः पाठः साधुरेव ।

(२) उद्वेगवदित्यापीत्यं भूतहेतुना सत्प्रतिपक्षोकरणं दृश्यते
इत्यत आह-प्रौढेति-प्रौढा प्रज्ञा यस्य च प्रौढप्रज्ञस्तस्येत्यर्थस्तथा च
प्रौढत्वं प्रज्ञाविशेषणं तच्च नव नवोन्मेषयास्तिप्रथमधिकपदार्थावगाहित्वं
वेति भावः ।

म० "तत्र परेण दोषानुद्भावेने जयस्यापि भावात् ^bकिञ्च प्रतीयमानता यदि निश्चीयमानता विवक्षिता तदानीमसम्भव एव यतो विरुद्धार्थयोरेकस्यावश्यं दोषः (१) च कस्यास्त्विति तदा निर्द्धारयितुमशक्यतया प्रतिहेतोवपि तत्संशयादप्यसम्भावना प्रतीयमानता 'तत्रोद्भावनसम्भावनां दूषयन्तोयदूष्याम' (२) स्तदेव दूषणमतिदेष्टव्यं नापि द्वितीयतृतीयचतुर्थाः (३) ^dपरबुद्धेरुत्तरधारणतया परस्यासिद्ध्यादिविरहित्वबुद्धिरत्र भविष्यतीत्यग्रेवधारयितुं प्रमाणाभावेनाशक्यत्वात् "कथं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय ठ्युत्पादयेत् / शङ्कान्तरं चात्र निरसिष्यामः ।

टी० ॥ एतादृशहेतोरुपन्यासफलमाह—। "तत्रे"ति । अनिदुघादिदोषरहिततया निश्चीयमानत्वं न सम्भवति सत्प्रतिपक्षस्थने द्वयोरपि दोषवत्तया सन्दिह्यमानत्वादित्याह—। "किञ्च"ति । अनिदुघादिदोषरहित्येन समाठयमानेन बोधितमाशयविपर्ययत्वमिति कृते प्रतिहेतोर्दोषरहित्यनभ्युपगम्य संभावनां निवर्त्य सत्प्रतिपक्ष (४) मुद्दरेदित्याह—। "तत्रोद्भावेने"ति ॥ ^d"परबुद्धेरिति । असिद्ध्यादिदोषरहितत्वेन सत्प्रयुक्तमानः प्रतिहेतुरभ्येन प्रत्येनठय इति ज्ञातुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ "कथं"ति । अनिदुघादिदोषरहितत्वेन त्वया प्रतीयमानोपनिधि ठ्युत्पादनमशक्यमित्यर्थः ॥ ननु स्वार्थानुमाने स्फुरितस्य प्रतिहेतोः स्वयमेवासिद्धिदोषरहितत्वेन प्रतीयमानत्वं सम्भवति किञ्च वस्तुगतया प्रतिसाधने दोषो नास्ति-

(१) च दोषोवादिप्रयुक्तहेतुनिष्ठतया निश्चीयत इत्यत आह-
च इति—। (२) वक्ष्यामः—“यद्युद्भावनकालात्पूर्वकालिकी सम्भावना विवक्षिता तदा तात्कालिकाऽनुद्भावनपक्षोक्त एव दोषोतिदेष्टव्यः”—
इत्यादि ग्रन्थेन । (३) वादिप्रयुक्तहेतोरेवप्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय कथं
तां ठ्युत्पादयेत्कथं वा नेषतथाह—परेति—परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे नेषर्थः ।
(४) उद्धरेत्—उद्धरेत् ।

यत्र तत्र तादृश्येन निश्चयः सम्भवति किञ्चानिद्व्यादिदोषर-
हितोयमिति शब्दादपि निश्चेतुं शक्यते इति तत्रैव सत्प्रतिपक्षः
सावकाशः स्यादित्यत आह- । "शङ्कास्तरमि"ति । प्रतीतेर्नि-
श्चयरूपत्वे सम्भावनारूपत्वे वा दोषतादवस्थादिति भावः ।

सू० एतेनासिद्धिबिरोधकालात्प्रयापदेशव्यभिचारवत्तया
व्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्तया वाऽगृह्यमाणेन बो-
धितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति निरस्तं "केन
वाऽगृह्यमाणत्वमिति निर्धक्तुमशक्यत्वात्^(१)" किंच
सर्वेषामेवैषां लक्षणानां धर्म्या^(२)दिग्राहकानुमान-
बाधितेपि गतत्वादतिथ्यापकत्वम् "एतेन स्वार्था-
नुमाने तदाभासेपि वा सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वमपो-
हम् * अथोच्यते अगृह्यमाणविशेषण बोधितसाध्य-
विपर्ययः प्रकरणसम इति ? * -अस्तु तत्केनागृह्य-
माणत्वमित्यादिविकल्पदोषाभिधानं

टी० ॥ एतेनेत्यस्यासिद्देश्यमेव दर्शयति- । "केने"ति ।
किञ्चेश्वरो न कर्ता शरीरत्वादित्यादि क्षितिः सकर्तृक
कार्यत्वादित्यादिना धर्मिग्राहकमानेनासिद्ध्यादिदोषरहित-
तया प्रतीयमानेन सत्प्रतिपक्षितं स्यात्तथा चातिथ्याप्तिरि-
त्याह- । "किञ्चेति । न चेष्टोपत्तिः तत्राधिकबलत्वेन बाधहे-
त्वाभासाभ्युपगमादिति भावः ॥ "एतेने"ति । धर्मिग्राहक-
मानबाधस्थलेतिथ्यापकत्वेनेत्यर्थः ॥

(१) उक्तलक्षणत्रयस्य साधारणं दूषणमाह-किञ्चेति-परमाणुः
वावयवः-संयोगित्वात्-घटवत्-हस्येतस्मिन्-अणुपरिमाणतारताम्यस्य-व-
चिद्विज्ञातम्-परिमाणतारतमभावत्वात्-महत्परिमाणतारतम्यवत्-इत्य-
नेन धर्मिग्राहकेण बाधितेपि गतत्वादतिथ्यापकत्वं धर्मिग्राहकप्रमाणस्यो-
पजीव्यत्वेन व्याप्तिपक्षधर्मवत्त्वस्वीकासद्रहितत्वेन ज्ञायमानत्वस्यासि-
द्ध्यादिरहिततया समानबलवत्त्वस्य लक्षणत्रयस्य भावादित्यर्थः- । इति-
विद्यावाग्वराः । (२) आदिपदेन सिद्ध्याहकसंग्रहः ।

मू० "यदि यः कश्चिद्विशेषो विशेषशब्देनाभिप्रेतस्तदा तदग्रहणं क्वचिदपि नास्तीति सर्वाध्याप्तिः * अथ हेतुदोषलक्षणो विशेषोभिमतः ? *—^bतदा धर्म्यादि-ग्राहकानुमानबाधितेपि गतत्वादतिव्यापकता अ-गृह्यमाणहेतुदोषरूपविशेषेण बोधितसाध्यविपर्यय-त्वात्तत्रापि तस्य] हेतुदोषस्याभावादेवागृह्यमाणवि-शेषत्वात् * "नचागृह्यमाणपरमार्थस्थितहेतुदोषरूप-विशेषेणेतिकृते निस्तारः * तथा सति सत्प्रतिहे-तुकः सत्प्रतिपक्षे हेतुर्न व्याप्येत 'परमार्थतस्तिष्ठ-तीति च दर्शनीयं नच ज्ञेयमिति महती प्रज्ञा ॥

टी० कृतकत्वप्रावणत्वयोरुपाधिद्वयविशेषग्रहवत् (१) सर्व-त्रविशेषग्रहसम्भवादगृह्यमाणस्य (३) यत्किञ्चिद्विशेषत्वसम्भवी-त्याह—। "यदीति" । ^b"तदा धर्म्यादी"ति । नहि तत्र हेतुदोषो गृह्यमाणो नापि तेन प्रत्यनुमानसाध्यविपर्ययो न बोध्यत इत्यर्थः ननु यदि तत्र दोषः स्यात्तदा तदगृह्यमाणत्वं भवेदित्यत आह—। "अगृह्यमाणे"ति । यत एव धर्मिग्राहकानुमानहेतुदोषो नास्त्यत एव तस्यागृह्यमाणत्वं विवक्षितमित्यर्थः ननु विद्यमा-नदोषस्यागृह्यमाणत्वं विवक्षितं नस्त्वविद्यमानस्येत्यत आह—। "नचे"ति । तथा सति निर्दोषप्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षे व्याप्तिरि-त्यर्थः किञ्च सत्प्रतिपक्षत्वं व्युत्पादयता दोषस्य विद्यमानत्वे सत्यगृह्यमाणत्वं वक्तव्यं तथा च विरोध इत्याह—। "परमार्थे"ति॥

मू० * "नचागृह्यमाणहेतुदोषहेतुगुणरूपविशेषेणेति विव-क्षिते निस्तारः * व्यतिरेकिणि अन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे हेतुगुणरूपो विशेषः सपहासत्वलक्षणो गृह्यते इति तद्व्यापकत्वापत्तेः ^b * अथागृह्यमा-

(१) कृतकत्वत्व प्रावणत्वत्व रूपोपाधिद्वयात्मक विशेषग्रहव-दित्यर्थः । (२) अगृह्यमाणयत्किञ्चिद्विशेषत्वमिति पाठस्तु युक्तः ।

ण्यप्यपि पक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपविशेषेणेति यदि क्रियते * तदा प्रष्टव्यं किमपेक्ष्य विशेषत्वमिदमिष्टं 'यदि यत्किञ्चिदपेक्ष्य तदा विशेषो गृह्यते सद्नुमानात्मके प्रतिहेताविति तत्राध्यापकत्वं * अथ प्रकृतं विरोधिनं हेतुमपेक्ष्य * तदा लक्षणवाक्यमीदृशं पर्यवस्यति ॥

टी० ॥ धर्मिग्राहकानात्राधस्थलेतिठ्याप्तिनिरासाय गुणस्यागृह्यमाणत्वमाशङ्क निराकरोति-। "नचे"ति । तत्र गुणस्य गृह्यमाणतया तत्रातिठ्याप्तिनिरासेऽपि सपक्षमस्वरूपगुणविशेषवतान्वयव्यतिरेकिणा व्यतिरेकिणि सत्प्रतिपक्षेऽप्यपि स्थित्यर्थः ॥
^b"अथे"ति । एवञ्च ठ्याप्तिपक्षधर्मतयोरभङ्गस्यैव ग्रहणात् धर्मिग्राहकानात्राधेतिठ्याप्तिर्न वा केवलव्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षाऽप्यपि स्थिति भावः ॥ "यदी"ति । शब्दोऽनित्यश्चास्तत्त्वादिस्त्वादिस्त्वादिभावस्तदपेक्षया गृह्यमाणविशेषेण श्रावणत्वादिना सत्प्रतिपक्षेऽप्यपि स्थित्यर्थः सद्नुमानात्मके इत्युपलक्षणं^(१) स्फुटहेतवाभावापेक्षया गृह्यमाणविशेषे^(२) सद्नुमानेऽपि दशाविशेषे सत्प्रतिपक्षेऽप्यपि स्थित्यपि द्रष्टव्यम् ।

म० "ठ्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो यस्य विशेषो न गृह्यते तेन बोधितो यदीयस्य साध्यस्य व्यतिरेकः स प्रकरणसम इति ईदृशमप्येतद्वाक्यं विचारमर्हति तथाहि व्याप्तिपक्षधर्मतेति मिलितस्य भङ्गाभङ्गपदसम्बन्धे विवक्षिते 'प्रत्येकोदाहरणातिव्याप्तिः ॥

टी० ॥ दूषणीयहेत्वपेक्षया व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपस्य विशेषस्य यत्राग्रहस्तेन बोधितमाध्यविपर्ययत्वं लक्षणमित्याह-

(१) उपलक्षणम्, अत्र सद्नुमानस्याप्युपलक्षणमित्यर्थः ॥

(२) 'सत्प्रतिपक्षीया ऽसद्नुमाने षति'-इति शेषः ।

“ठयाप्ती”ति । यदि ठयाप्तिपक्षधर्मतयोर्मिलितयोर्भङ्गे यत्र न गृह्यते इति विवक्षितं तदा शब्दोऽनित्यो जातिभवे सति चाक्षु-
पत्नादित्यनेनापि स्फुटस्वरूपासिद्धिमता सत्प्रतिपक्षः स्यात् एवं
शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यनेन स्फुटव्यभिचारेण सत्प्रतिपक्षः
स्यादेकत्र पक्षधर्मतामात्रभङ्गस्य ग्रहेपि मिलितभङ्गाग्रहात् अ-
न्यत्र ठयाप्तिभङ्गग्रहेपि पक्षधर्मत्वभङ्गाग्रहात् मिलितभङ्गाग्रह
इत्यगिठयाप्तिमाह - । “प्रत्येकोदाहरणे”ति । क्वचिद्व्याप्तिरिति
पाठः कथाञ्चदेव ठयाख्येयः यत्रकैकभङ्गमात्रं तत्रापि मिलितो-
भयभङ्गेस्त्येव नहि यत्रैकं नास्ति तत्र मिलितमस्ति तथाच यत्र
प्रतिहेतुप्रयोक्ता ठयाप्तिभङ्गे ज्ञाते पक्षधर्मतामात्रपुरस्कारेण पक्ष-
धर्मताभङ्गग्रहेपि ठयाप्तिमात्रपुरस्कारेण सत्प्रतिपक्षः क्रियते तत्र
प्रत्येकोदाहरणाठयाप्तिरेकभङ्गग्रहेपि मिलितभङ्गग्रहादिति ।

म० “तद्भङ्गाभङ्गरूप इत्यस्य च मिलितस्य विशेषपदसम्ब-
न्धेऽभिप्रेते सर्वथामम्भवितया सर्वाठ्याप्तिः । अपि-
चैवमप्यस्य वाक्यस्यार्थो वक्तव्यः ठ्याप्तिभङ्गरूपो
ठ्याप्त्यभङ्गरूपः पक्षधर्मताभङ्गरूपः पक्षधर्मत्वाभङ्ग-
रूपः प्रकृतहेतुतो विशेषेण न गृह्यते यस्य तेन बोधितो
यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः स प्रकरणममः तथा सति
परमाणुनिर्वचयवो विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभा-
वत्वात् व्योमवदित्युक्ते परमाणुः सावयवो मूर्त-
त्वात् घटवदिति प्रत्यनुमानेन प्रतिवाद्युक्तेन पर-
माणुधमिग्राहिणोप्यणुपरिमाणतरतमादिभावः क्व-
चिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वान्महत्परि-
माणतरतमादिभाववदित्यादेः ।

टी० ‘भङ्गाभङ्गे’ति । नहि भङ्गाभङ्गावेकत्र सम्भवति इति
सर्वाठ्याप्तिरित्यर्थः यद्यपि भङ्गाभङ्गयोरेकत्रासम्भवादेनाग्रहः
सम्भवति तथापि तादृशस्य विशेषस्यासम्भवाद्ग्रहणिरुपक-

त्वामस्मत्त्व इति भावः किञ्च त्वाम्प्रियत्तद्धर्मनयोर्भङ्गात्तद्धर्मयोर्वा
मिलितत्वं यदि न विवक्षितं तथापि दोष इत्याह-।^७ "अपि
चे"ति । सावयवत्वसाधकानुमानेन निरवयवत्वसाधकप्रथमानु-
मानवृत्ततीयमपि धर्मिग्राहकमानं सत्प्रतिपक्षितं स्यादित्यर्थः ।

सू० "सदनुमानतयेष्टस्य पक्षधर्मताबलेन तदीयनिरवयव-
त्वेपि प्रमाणातां गतस्य सत्प्रतिपक्षता स्यात् 'यश्चा-
स्य सदनुमानतां न मंस्यते तं प्रत्येवंप्रायाणि बहू-
न्युदाहरणानि सन्तीति तेषु प्रसङ्गः ।

टी० ॥ ननु नेदमनिष्टमित्यत्र आह-। "सदनुमानतये"
ति । ननु प्रथमानुमाने निरवयवत्वं माध्यं तद्विरुद्धसाधकतया-
द्वितीयानुमानं तस्यैव सत्प्रतिपक्षो नत्वस्तु परिमाणानामस्यधि
श्रान्तत्वसाधकस्य तृतीयानुमानस्यापीत्यत्र आह-। "पक्षधर्मते"
ति । यद्यपि तृतीयानुमाने बलवन्ति त्वयाप्येव भङ्गो विशेषो गृहीत
एवात एव द्वितीयानुमाने त्वाम्प्रियत्तद्धर्मोपि विशेषो गृहीतस्त-
थापि सत्प्रतिपक्षलक्षणान्नात्वेन त्वत्त्वत्वेन तस्य न स्यादिति
भावः ननु भङ्गो नानु परिमाणानामस्यधिप्रान्तिर्नोपपत्ते तेन वृत्ते
रेव निरवयवस्य महतीकृतीकारादिति तं प्रत्ययमानं प्रसङ्गो न
भवतीत्यत्र आह-। "यश्चे"ति । तन्मते आकाशं विभु तितः-
स्पर्शद्रव्यत्वात् आकाशं न विभु आत्मान्यविशेषगुणवत्त्वादि-
त्यनेन शब्दो भूतेन्द्रियवत्त्वात् आहर्द्रव्यत्वादित्यद्यु(१)राठायं
अत्र तृतीयानुमानस्य धर्मिग्राहकस्य येषमपर्यवमन्त्वादित्यर्थः ।

सू० * "नच सोपि तथास्तयेव * तस्य धर्मि सिद्धयर्थमु-
पजीवत्वेन बलवत्त्वात् 'तद्दृश्यवच्छेदार्थं' स प्रकृतः
प्रकरणसम इति कर्तव्यमिति चेतथाप्यनुपपत्तिः
अत्र हि यदि विशेषो यस्य न गृह्यते इति सम्बन्धः
तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यते इत्यर्थो विवक्षित-

(१) इत्यादिकमाकाशादिधर्मिग्राहकमानं सत्प्रतिपक्षितं स्या-
दित्याद्युदाहार्यमित्यर्थः ।

“स्तदा अव्यापकत्वं दोषः तथाहि यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्तादिभङ्गः सत्प्रतिपक्षदशायामगृह्यमाण^(१)स्तत्र नास्त्येतल्लक्षणं नहि तत्रव्याप्त्यादिभङ्गो विशेषः अपितु प्रकृतहेतुना सह साधारण एव * नन्वत्यन्तासतो व्याप्त्यादिभङ्गरूपस्य विशेषस्यापि तावत्तत्राग्रहणमस्ति तदादायैव लक्षणं तद्व्यापि भविष्यति तर्हि तत्र वादी स्वहेतुमाधारणं व्याप्त्यादिभङ्गादिदोषं जानन् प्रतिहेतुनिष्ठनया परस्योद्भावयति—

टी० ॥ नन्विष्टमेव तत्प्रतिपक्षत्वमन आह—। “न वे”ति । अधिककालत्वेन तत् सत्प्रतिपक्षतानङ्गीकारादित्यर्थः ॥
 ७ “नदूठयवच्छेदार्थमिति”ति । धर्मिग्राहकतृतीयाणुमानसत्प्रतिपक्षताप्रसङ्गवच्छेदार्थमित्यर्थः ॥ “प्रकृत”इति । तत्काले दूष्यत्वेनाभिमत इत्यर्थः यस्य विशेषो न गृह्यत इति लक्षणवाक्ये यस्य न गृह्यत इति वान्वयः यस्य विशेषो न गृह्यत इति वेति विकल्पश्चाद्य दूषयति । “नदे”ति । साधारणदोषवतोर्हेत्वोर्विशेष एव नास्ति अस्य तत्सम्बन्धतयाग्रहण स्यादिति तेन सत्प्रतिपक्षस्थलेऽव्याप्तिरित्यर्थः ननु विशेषाभावात्सुतरां तद्गतत्वेनाग्रहणमिति कथमव्याप्तिरित्याह—। “नन्वि”ति ॥

सू० “परश्च परिहर्तुं न शक्नोति तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षताऽस्तैव स्यात् यत उक्तरूपविशेषवत्तया तेनासौ न गृहीत उक्तरूपस्य समानतयैव तेन गृहीतत्वात् तथापि प्रतिहेतुवादिना तावद्विशेषवत्तयैव गृहीतस्तस्य तत्साधारणभावास्फुरणात् भ्रान्त्य’भ्रान्ति-

(१) सकलसंख्येती व्याप्त्यादिभङ्गत्वेनागृह्यमाण इत्यर्थः ननु विशेषवत्त्वेनाऽगृह्यमाण इत्यर्थोऽपि विशेषत्वैवाभावेन व्याचक्षते ।

साधारणस्य चात्र ग्रहणभावस्य विवक्षितत्वात् *—
इति चेन्न,

टी० ॥ स्थापनावादिना द्वयोरपि ठयाग्निभङ्गे ज्ञाते स-
त्यपि ठयाप्यत्वात्सिद्धमुद्गाठय प्रतिहेतुदूष्यते तदापि सत्प्रति-
पक्षानुच्छेदप्रसङ्गः; स्थापनावादिनो विशेषवत्तया ग्रहणाभावेन
लक्षणस्य तदानामपि मर्यादित्यतिठयाग्निमेव दूढयति—। “प-
रश्चे”ति । वाद्युक्तदोषपरिहारे पुनः प्रतिपक्षत्वं स्यादपि नतु
प्रतिवादिना तदपरिहारेपि तथाच तदानीं हीनबलतया नासौ
सत्प्रतिपक्षमर्यादुकलक्षणञ्च तथा स्यादित्यतिठयाग्निरेवेत्यर्थः ॥
६. “तेने”ति । स्थापनावादिनेत्यर्थः ननु विशेषतया(१)ग्रहणाभावो
यदि न वादिनस्तथापि प्रतिरोदिनः सोऽस्त्येवान्यथा स्थापना-
वाद्यनुमाने प्रतिवादी तं विशेषमुद्गावयेदेष तथाच नातिठया-
ग्निमित्याह—। “तथापी”ति । ननु प्रतिवादिनो विशेषरहितेपि
विशेषवत्तया ज्ञानं भ्रम इति न तल्लक्षणे तन्त्रमित्यत आह—।
“आन्तो”ति ॥

म० “प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेणागृह्यमाणतापक्षस्य प्रागेव नि-
रस्तत्वात् “किञ्च प्रतिहेतुवाद्यपि यदि साधारणतां
तस्य दोषस्य तदैव पश्येत्तदा का गतिः ‘यद्यसौ वा-
दिहेतार्वापि दोषं पश्येत्तदा तमुद्गावयेत्तथा सति
तत्रैव “कथासङ्क्रमः स्यात् * सत्प्रतिपक्षमुपेक्ष्य ?
* इति चेन्न, यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र दोषमेवं
‘मन्त्रयेत्’ यदि तदानीं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञातां

(१) यत्र विशेषतया ग्रहणं मौलिकविशेषतया ग्रहणपदार्थादि-
परीतं विशेषतयाऽग्रहणपदसमानार्थकं, तत्र परकीयहेतौ दोषविशेषस्य
ज्ञानमेव नतु विलक्षणत्वस्य ज्ञानं मूले तु विशेषग्रहणो विलक्षणत्ववचन-
स्तथा च यस्य वादिनः परकीयहेतौ दोषविशेषस्य ज्ञानमस्ति तस्यैव
स्वहेतौ दोष साधारण्यनिश्चयः यस्य तु प्रतिवादिनः परकीयहेतौ दोष-
व्यक्तिविशेषवत्ता ज्ञानं नास्ति न तस्य स्वहेतौ तत्साधारण्यनिश्चयो-
पीति न व्याख्यानव्याख्येययोर्विरोधः ।

विहाय दोषान्तरमुद्गावयामि तदापि प्रतिज्ञात्यागो
नाम भङ्गोऽधिकः ॥

टी० ॥ विशेषं ज्ञात्वापि प्रतिवादी दोषान्तरास्फुरणे भङ्गभीरुः प्रतिहेतुं प्रयुङ्क्ते एव स्वप्रौढिचिरुपापपिषया वेत्या-
देरुक्तत्वादित्याह- । “प्रतिहेतुवादी”ति । किञ्च यदास्थापनाया-
मपि वाद्युद्गावितं दोषं प्रतिवादी समाकलयेत् तदा तत्सम्ब-
न्धितया विशेषः केनापि न गृह्येत इति वाद्युद्गावितदोषदशाया-
मपि सत्प्रतिपक्षता स्यादिति सैवातिष्याप्तिरित्याह- । “कि-
ञ्चे”ति । स्थापनायां दोषस्फुरणे प्रतिवादी तमेवोद्गावयेत्तु
सत्प्रतिपक्षं कुर्यादित्याह- । “यद्यमावि”ति ॥ “कषासङ्कम”
इति । तत्रैव स्थापनावादी द्विमेदित्यर्थः प्रतिहेतुं प्रयोगा-
त्पूर्वं दोषान्तरज्ञाने तन्मात्रोद्गावनं स्यादपि तत्प्रयोगानन्तरं
दोषान्तरोद्गावने प्रतिज्ञातदोषपरित्यागात् प्रतिज्ञाहानिशङ्कया
न दोषान्तरमुद्गावयामि तस्यां रगायां स्यादिति वाप्तिरित्याह- ।
“सन्तर्षेदि”ति । सन्तर्षणास्वरूपमाह- । “यदि तदानीमि”ति ।

मू० * “अथ नोद्गावयामि * तथापि प्रतिज्ञातदोषानि-
र्वाहात् सम पराजयः तदेवं वृथा दोषान्तरण्युत्पा-
दनायायास इति परामृष्य स तूष्णीमास्ते तदा
'का गतिः * “अथ^(१)यस्य विशेष इत्युक्तलक्षण-
वाक्ये पदसम्बन्धस्तथाभिमतः ? *- तदा उक्तस्ता-
वद्दोषो दोषान्तरं च स्याद्दूषण्यभङ्गादेर्विरुद्धार्थहेत्वोः
(२)साधारणस्यासम्भवाद्द्विशेषपदेनाठ्यवच्छेदकेन सह
विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः ॥

टी० ॥ ननु दोषान्तरोद्गावने चेत्प्रतिज्ञाहानिशङ्का
तदा तदनुद्गावनमेवास्तु तत्राह- । “अथे”ति । वादिना
दूषितं स्वहेतुं यदि क्षमेत् प्रतिवादी तदा सत्प्रतिपक्षतैव

(१) अथोक्तलक्षणवाक्ये यस्य विशेष इति पदसम्बन्ध इत्यन्वयः ।

(२) विरुद्धार्थहेत्वोर्व्याप्यभङ्गादेः साधारणस्यासम्भवादिति सम्बन्धः ।

न स्याद्दीनबलत्वादिनि समकरणार्थं वाद्यनुमाने दोषमुद्गावये-
देवेत्यर्थः ॥ ^६“वृथे”ति । उद्गावनानुद्गावनपक्षयोः पराजय-
घ्नीठये दोषान्तरोद्गावनस्यायासमात्रफलकत्वमिति मौनमेव श्रेय
इत्यर्थः ॥ ^७“का गतिरिति”ति । अतिठयाग्निर्दुःखपरिहरेत्यर्थः ननु
यस्य विशेषो न गृह्यत इतिवाक्ये यत्संबन्धितया न गृह्यत,
इति सम्बन्धो मास्तु यस्येति पष्ठयंतस्य विशेष इत्यनेनैवान्वयः
स्यादित्याह—। ^८“अथे”ति ॥ ^९“उक्तस्तावदि”ति । यत्र वादिना
प्रतिवादिना वा विद्यमान एव विशेषो^(१) गृह्यते नतूद्गावयते
तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः दोषान्तरमाह—। ^{१०}“व्याप्ती”ति । यदि
विरुद्धान्तेहेत्वोर्भङ्गाभङ्गमाधारण्यं क्वचिदपि भवेत्तदा तदूठयाव-
र्तनाय विशेषपदं माथंक स्यात्तत्वेवमित्यर्थः ।

सू० * अथोच्यते व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहे-
त्वपेक्षविशेषवत्तयानुद्गावयमानेन बोधितो यदीय-
माध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः सत्प्रतिपक्ष ?*—इति
तदपि नोपपन्नं, ^{११}यदि परस्त्वदीयोयं प्रतिहेतुरित्थं
भङ्गव्याप्तिक इत्येवाभिधत्ते ननु सद्हेतुतोयं विशेष
इत्यपि ब्रूते आभासान्तरत्वव्युत्पादनादेव प्रति-
हेतोः सत्प्रतिपक्षताभङ्गात् तदापीत्थं सत्प्रतिपक्षता
न निवर्तेत तथा सति च प्रतीयमानासिद्ध्यादि-
नापि सत्प्रतिपक्षीकरणमिति साधु व्युत्पादितं
^{१२}सर्वानुमानानुकूलं स्यात् ॥

टी० ॥ ननु विशेषवत्त्वेनान्यतरस्य ग्रहणमस्तु तदुद्गाव-
नमपि न नियत तथाचोक्तविशेषवत्तयानुद्गावयमानेन बोधित-
साध्यविपर्ययत्वं लक्षणमस्ति^(२)नि शङ्कते—। ^{१३}“अथे”ति ।
यत्र ठयाग्निभङ्गमुद्गावयति सदीयहेत्वपेक्षया तत्र हेत्वपेक्षया तत्र

(१) अत्रापि पूर्ववद्विशेषणद्वयो दोषव्यक्तिविशेषवचनो ननुवि-
लक्षणत्ववचनः । (२) निरुक्तस्थले च स्थापनावादिना व्याप्तिभङ्ग
उद्भावित एव अतो नातिव्याप्तिरिति भावः ।

हेतौ विशेषोपनित्येन प्रकारेण नोद्भावयति तत्र सत्प्रतिप-
क्षता नावन्नास्ति विशेषवत्तयानुद्भावनालक्षणं तत्रापि गतमि-
त्यनिष्ठयासिद्धिनि परिह्वानि-। ^b“यदी”ति । नन्वस्तु तत्रापि
सत्प्रतिपक्षता को दोष इत्यत्र आह-। “तथा सती”ति ।
सोपहासमाह-। “सर्वानुमाने”नि । द्रष्टृदोषेणापि सत्प्रतिपक्ष-
करणे सकलानुमानोच्छेदः स्यादित्यर्थः ।

सू० “किञ्च कस्मिन्काले तथानुद्भाष्यमानत्प्रमपेक्षितं
यदि यदा प्रतिहेतूद्भावेन परहेतुं दूषयति प्रति-
वादी तस्मिन् काले नुद्भावनं तदा पश्चादुक्तेपि
प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालानुद्भावे ‘प्रतीकारो न कश्चि-
दिति सर्वहेत्वाभासैः सत्प्रतिपक्षीकरणमदुष्टमिति
‘गतमनुमानकथया “ * अथ प्रतिवादिनाभिहिते
यदा पुनर्वादिवचनाऽवसरः ?*-तदानुद्भावनमिष्टं
‘तर्हि तत्कथमग्रे प्रत्यनुमानवादिनावधारणीयमय-
मत्र विशेषदोषं नोद्भावयिष्यतीति ॥

टी० ॥ किञ्च यदि प्रतिहेतूपन्यासकाले दोषवत्तयानुद्भा-
वितं विवक्षितं तदा तदुपन्यासानन्तरं दोषोद्भावेनेपि सत्प्रति-
पक्षता स्यादेव प्रतिहेतूपन्यासकालीनानुद्भावनस्य लक्षणस्य
सत्त्वादित्याह-। “‘किञ्च’”ति ॥ ^b“प्रतीकार”इति । तदुक्त-
लक्षणाक्रान्तत्वेन दुष्टेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः ॥
“गतमि”ति । अतिस्फुटदोषेणापि सत्प्रतिपक्षश्चेत्तदा सदन-
मानानामपि सत्प्रतिपक्षत्वमित्यनुमानमात्रोच्छेद इत्यर्थः ननु
प्रतिहेतूपन्यासानन्तरकालीनं यत्र दोषवत्तयानुद्भावनं तेन बोधि-
तमाद्यपर्ययत्वं विवक्षितं तथाच नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते-।
“अथे”ति । अनद्यवसायात्तर्हि प्रतिहेतूपन्यास एव न स्यात्
को हि जानात्यसौ मदीयहेतौ दोषं नोद्भावयिष्यति भवतु वा
कथञ्चित्प्रतिहेतूपन्यासस्तथापीदममाद्यकं सत्प्रतिपक्षितत्वा-

दिति नोद्गाद्येत् मत्तु निपक्षत्वं स्युत्तरकालानुद्गाद्यमानवि-
शेषत्वं । अत्र प्रथमं निर्णेतुमशक्यमिति परिहरति - "तर्ही"ति ॥

सू० "दोषशून्यत्वात्स्वकीयस्य प्रतिहेतोः समर्थस्तथावधा-
रयितुमिति चे'दुक्तमत्र प्रतीतदोषेणापि सत्प्रति-
पक्षताकरणं सम्भवति । तत्र परेण दोषेनुद्गाविते
विजयश्च भवतीति "किञ्च विशेषदोषशून्यत्वमपि
स्वकीयहेतोः कथमयमवधारयेत्' विरुद्धार्थयोस्ताव-
द्धेतव्योरेकस्यावश्यं दोषेण भाव्यं । तत्र यथा तेन
स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपि तद्दृशने
तमेवाद्गावयेत् "को हि सचेता ।

टी० ॥ ननु स्वहेतौ दोषशून्यत्वं निश्चित्य प्रतिहेतुपन्या-
साध्यवसाया(१)ऽप्यथ नानुमानप्रयोगी स्यातामिति शङ्कते ।
'दोषे'ति । नहि पूर्वोक्तप्रमाणेण स्वयं प्रतीतदोष प्रति-
हेतं क्वपि न प्रयुञ्जीत वादीत्यानप्रसिद्धिं परिहृयति - । "उक्त-
मत्र"ति । ननु नादृश प्रतिहेतुप्रयोगी भङ्गव्यादनर्ह एवेत्यन-
आह - । "तत्र"ति । किञ्च दोषशून्यत्वावष्टम्भेनापि प्रतिहेतु-
पन्यासाध्यवसायासाधकतासाधनानुमानप्रयोगी न स्यातां
परत्वात्तत्र दोषमन्देहप्रोच्यस्य प्रतिपादनादित्याह - । "किञ्चे'
ति । मन्देहप्रोच्यमत्राह - । "विरुद्धार्थयोरिति ननु विपक्ष-
(२)हेतुदोषनिश्चयदेश स्वहेतौ न दोषमन्देह इत्यन आह - ।
'तत्र यथे'ति । ननु कथमय नियमो यत्परहेतुदोषदर्शने तदु-
द्गावनमाश्रयकं ननु प्रातिहेतुपन्यासावसर इत्यत आह - ।
"को ही"ति । स्यात्पतावादिप्रयुक्तं हेतौ दोषान्तरमभिध्यादि
दृष्ट्वा सत्प्रतिपक्षतामपरेण न स्तीति कथमय नियमो यावता
दापत्त्वार्थोपात्तत्प्रतिपक्षतामत्र कथं नोद्गावयेन्मैवं दोषा-
न्तरे पक्षधर्मतामात्रमुपदर्शनीयं सत्प्रतिपक्षं तु व्याप्तिरपीति

(१) 'प्रतिहेतुमुपन्यस्यगम्'-इत्याकारतः प्रतिहेतुपन्यासाध्यव-
सायः । (२) विपक्षहेतौ=विपरीतहेतौ, दोषस्य निश्चयवादित्वर्थः ।

गौरवमित्यर्थः यद्वा अस्फुरत्प्रतीकारेणापि (१) दोषेण सत्प्रतिपक्षस्य हीनबलत्वं चेत्कुर्यात् तदा नमैव भङ्गः स्यादित्यभिप्रायाद्दोषान्तरसंबोद्धावयेत् यद्वा प्रतिहेतुप्रयोगानन्तरं तेनासाध्यकतानुमानप्रयोगानन्तरं तदनु स्वपक्षस्थापनाप्रयोग इति प्रयामगौरवमित्यभिप्रायमन्धिरित्यर्थः ॥

मू० निश्चितं दोषमुपेक्ष्य सदोषस्य निर्दोषसाध्येन प्रत्यवतिष्ठते "तस्मात्सदोषेपि दोषमपश्यन्नयं न स्वेनादर्शनं दोषाभावे प्रमाणयितुमर्हतीति * "अथोच्यते व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषत्वेनानुद्धाव्यतया संभाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः प्रकरणसम * इति (२) नैतदपि सुस्थं, 'यद्युद्धावनकालात्पूर्वकालिकी संभाव—

टी० ॥ तस्मात् स्थापनाहेतौ दोषान्तरमपश्यत एव प्रतिहेतूपन्यास इति स्थिते यथा तत्र (३) स्वयं दोषादर्शनसदोषवत्तां व्यभिचरति तथा यथापि दोषशून्यत्वेनोपात्तोपि गृह्यमाणोप्ययं हेतुर्दोषान् स्यादिति संशयानेन दोषशून्यत्वावष्टम्भेन प्रतिहेतू न्यासः समाहितो न भवतीत्युपमर्हरति— "तस्मादि"ति । तथाचैतल्लक्षणानुसारेण प्रतिहेतुपक्षासाध्यवसायो न स्यादिति भावः ननु दोषवत्तयानुद्धावने यद्यपि न निश्चितं तथापि सम्भावनास्त्येव तथाच दोषवत्तया सम्भावितानुद्धावनेन प्रतिहेतुना बोधितसाध्यविपर्ययत्वं लक्षणमस्तु तथाच प्रतिहेतूपन्यासाध्यवसायाऽसाध्यकतासाध्यनं च द्वयमप्युपपन्नमेवेति शङ्कते— । "अथे"ति । प्रतिहेतूपन्यासा-

(१) न स्फुरति स्वहेतावपि प्रतीकारो यस्य सत्प्रतिपक्षदोषस्य तेन सत्प्रतिपक्षस्य हेत्वन्तरस्येत्यर्थः । (२) विरुद्धापक्षहेत्वेनैतद्दूषयति—नैतदपीति—वादिनेयोद्घावनकालस्तस्मात्पूर्वकालिकीसंभावनापिपक्षिता ?—१ किंस्वत्कालीना ?—२ यद्वा कालमात्रसम्बन्धिनी ?—३ इति विकल्पप्रथममनुवदति—यदीति—इति विद्यासागराः ।

(३) तत्र—स्थापनानुमानवादिहेतौ, स्वयं—स्थापनावादिना ।

तपूर्वमनुद्गावनसम्भावना चेद्विचक्षिता तदा प्रतिहेतूपन्यासा-
नन्तरं स्थापनावादिदूषितेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षता
स्यादेव लक्षणस्य तदानीमपि सत्त्वादित्याह— “यदी”ति ।
सू० ना विचक्षिता^(१) “तदा तात्कालिकानुद्गावनपक्षोक्त
एव दोषोतिदेष्टव्यः * ^(२)अथोद्गावनस्य योवसरो
भविष्यति तात्कालिकतया * तदा सत्प्रतिपक्षता-
व्युत्पादनकाले सा नास्तीति विशेषणाभावात्तल्ल-
णाभावः ^(३) * ^(४)अथोच्यते यावत्सम्भावनानुवर्तते
तावत्सत्प्रतिपक्षता ^(५)किं सम्भावनायाः कालनि-
यमगवेषणेन^(६) ?*— सैवम् ॥

टी० ॥ ननु प्रतिहेतूपन्यासानन्तरकालीनानुद्गावनसम्भा-
वना विचक्षिता तत्राह । “तदे”ति । यत्र स्थापनावादिना
प्रतिहेतौ दूषिते प्रतिवादी तदुद्देश्य मत्प्रतिपक्षत्वमेव पुनर्द्रष्ट-
यति तत्र दोषोद्गावनादेशानुद्गावनसम्भावनारूपविशेषणा-
भावात्सत्प्रतिपक्षलक्षणमठयापकं स्यादित्यर्थः यत् प्रतिहेतु-
पन्यासकाले तदुत्तरकालीनानुद्गावनसम्भावनारूपविशेषणाभा-
वाल्लक्षणमठयापकं स्यादिति कननिश्चितं तच्चित्तं ननु सत्-
प्रतिपक्षत्वद्रुढीकरणदशायां सत्प्रतिपक्षत्वैव न विचक्षिता येना-
ठयापिनः स्यात् किन्तु वादिदत्तदोषोद्वारेण निगनुयोजयानुयो-
गनिग्रहाद्वादिनोभङ्ग एव किं तदा सत्प्रतिपक्षता द्रुढीकरणेने-
त्याह— । “अथोच्यते” इति ॥

(१) प्र गुक्तानिश्चाप्तिद्वानुसन्धेयति परिहृति—तदेति पूर्वका-
लिकानुद्गावनासम्भावनानुद्गावयमानदोषो हेतावरास्तानि तेनापि सत्प्र-
तिपक्षतास्यादित्यर्थः । (२) अस्तु तर्हि द्वितीयोनिश्चयादिति शङ्कने-
अथेति—तात्कालिकतया नुद्गावयमानत्वविशेषणभावात् द्विगुणलक्षणस्य ता-
त्कालिके सत्प्रतिपक्षेऽपि प्रतिपक्षत्वार्थः । (३) कालमात्रव्यवहारीसम्भावना
विचक्षितेति तृतीय कल्पं शङ्कने—अथेति—प्रतिहेतौ दोषे निमित्ते सत्प्रतिप-
क्षता निवर्तते इति न्यायनियमः । किन्तु तन्निमित्तया दोषोद्गावयतीति
यावत्सम्भावनानुवृत्तिस्तावत्सत्प्रतिपक्षतानुवर्तते इति नेःकदोष इत्यर्थः ।
इतिविद्यमानाग्राचार्याः । (४) अतः पूर्वोक्तविकल्पदृष्टगमनवकाशदुष्ट-
मित्याह—किमिति । (५) अतिप्रसङ्गेनैवन्निरस्यति—सैवमिति ।

म० "एवं हि प्रतिहेतोर्दोषानुद्भाविते प्रत्युत निर्दोषत्वैव स्वीकृते दोषोद्भावनसम्भावनाया निवृत्तेः सत्प्रतिपक्षता व्यावर्त्तत तथाचेत्यङ्कारमेव वादी सत्प्रतिपक्षतां परिहरेत् इति साधु स्यात्सत्प्रतिहेतोः प्रतिक्षेपमकृत्वा स्वीकृत्यैव (१) तत्सत्प्रतिपक्षता प्रतिक्षेपतव्येति *नच स्वीकारादेव प्रतिहेतोः (२) पराजयः स्यात् * सत्प्रतिपक्षतापरिहारोपायतया स्वीकारस्य करणात् "स्वीकारे मति, सम्भावना-निवृत्त्या तल्लक्षणकस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्यापि निवृत्तेः तथा (३) स्वीकारोप्ययं परस्यानिष्ठार्थं मिद्धसाधने परकीयसाध्यस्वीकारवदुरुगुणाय स्वीकर्तुर्न दोषायेति ॥

टी० ॥ साधु प्रतिमाधनतया प्रयुक्तमिति वादिनाभिहिते दोषोद्भावनसम्भावना तावन्नवर्त्तते एव तथाच विशंपणाभावात्तदा न्नक्षणाभाव इत्याह । "एवमि"नि । ननु यत्र स्वानिष्टमेवं वादी स्वीकरोति तत्र नास्तु सत्प्रतिपक्षता किन्तः छिन्नमित्यत आह - । "तथाचेत्यनि"नि । यद्यपि यत्रैवं न स्वीकृत्योत्तरभावकाशः सत्प्रतिपक्षस्तथापि पूर्वदोषावृत्त-म्भेन एव सत्प्रतिपक्षप्रतीकारे जानानः कथन्न प्रतिकुर्याद-तिभावः नन्वेवं स्वदोषाङ्कारे सतानुज्ञया वादी पराजितः स्यादित्यत आह - । "नचे"नि । दोषपरिजिहीर्षयायनभ्युप-गमो न सतानुज्ञानापादयतीत्यर्थः स्वीकाराभिप्रायमाह - । "स्वीकारे मति"ती । ननु प्रतिमाधुत्वाभ्युपगमे क्वसाध्यं स्वानिष्टं सिद्धयेदित्यपरमितिष्ठत स्यादित्यनोक्तुपं दृष्टान्त-माह - । "मिद्धसाधन"इति ॥

(१) तदिति सामान्ये नपुंसकनिर्देशः, प्रतिहेतुस्वीकृत्यैवेत्यर्थः । यदा तत्रिष्टा सत्प्रतिपक्षता तत्सत्प्रतिपक्षनेत्यर्थः । केषुचित्पुस्तकेषु तु "स्वीकृत्यैव तस्य" इत्येव पाठः । (२) प्रतिहेतोः स्वीकारादेव इत्य-न्वयः । (३) तथा स्वीकारः=तेन रूपेण स्वीकारः, बहुषु पुस्तकेषु तु "तस्मान् स्वीकारः"-इति पाठः, सच पूर्वपाठापेक्ष्योत्तमतरः ।

सू० यदि च सत्प्रतिपक्षो वादिनोः समानप्रतिपक्षदर्शनजनितात्स्वहेतावाभासत्वसंशयात्तदा क्वचिदपि नास्ति सत्प्रतिपक्षता स्वहेतुपक्षपातेन परहेतावेव दोषः कश्चिदस्ति मया तु न गृह्यते इति ताभ्यां मन्यमानत्वात् यदाह निश्चितौ हि विवादं कुरुत इति ^b * अथौचित्यादावर्जितसंशयेन सत्प्रतिपक्षता स्यात् * तदा सर्वत्रैव वादे सर्वाभुमानानां सत्प्रतिपक्षता दुर्निवारा तद्यथा शब्दानित्यत्वानुमानेन बुद्धिमद्भिः शतशः शब्दनित्यत्ववादिजयात् शब्दनित्यत्वानुमानेन च प्राज्ञैः शतशः शब्दानित्यत्ववादिजयात् ॥

टी० लक्षण दूषयित्वा फलं दूषयति-“यदि चे”ति । प्रतिमाधनं दूष्या स्वमाधने हेत्वाभासत्वसंशयोत्र कल्पत्वेनाभिमत्तः स आशङ्क्य स्वपक्षपातेन स्वमाधनस्य निर्दोषत्वेनैव निर्णीतत्वात् संशयानुपपत्तेरित्यर्थः ननु विशेषदर्शनं तिरस्कृत्यापि तुल्यबलप्रतिमाधनदर्शनरूपदोषबलादन्योन्यस्य स्वहेतो संशयोवश्य भावीत्याह-। “अथे”ति । औचित्यादावर्जित आहार्य इति केचित्तत्र आहार्यमशयाभ्युपगमे प्रतिमाधनोपन्यासानर्थक्यस्यावश्याभ्युपगमप्रसङ्गात्^(१) अनित्यत्वसाधकानुमानस्य नित्यत्वसाधकानुमानं तदानीमनुपन्यस्यमानमपि सत्प्रतिपक्षः स्यात् संशयापादकत्वादित्याह-। “तदे”ति ॥

सू० “द्वयोः पक्षयोरनुमानेषु कतरद्वस्तुतः सदानुमानमिति ^b अर्हतो दोषसंशयस्य दुर्वारत्वादिति प्रकारभेदाभावाच्च न कालात्ययापदिष्टः पृथक् तद्यथा बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इत्यलक्षणं तथाहि

(१) अनाहार्यं संशयमुत्पाद्य निश्चयप्रतिबन्धार्थमेव प्रतिहेतुरुपन्यस्यते आहार्यसंशयश्च न निश्चयविरोधतः प्रतिहेतूपन्यासीनर्थक्यमिति भावः ।

बाधितविषयत्वं किं विवक्षितं न तावद्बलवता बोधितो विषयविपर्ययो यस्य तत्त्वं "यथाश्रुतस्य सत्प्रतिपक्षेपि गतत्वात्" तत्र प्रत्यनुमानस्य प्रथमानुमानविषयविपर्ययबोधकस्य पक्षधर्मतादिबलसम्भवात् * अथ बलवतेत्यधिकबलेनेति विवक्षितं * । तदापि केवलव्यतिरेकिणोन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे गतत्वाद्दित्यपकर्त्वं तत्रान्वयव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सपक्षसत्त्वलक्षणबलाधिक्यसंभवात् ।

टी० ॥ मन्देहमेवोपपादयति-। "द्वयोरि"ति ॥ "अहं-न" इति । तच्चित्तस्य प्राप्तस्येत्यर्थः साध्यविपर्ययबोधघटितसत्प्रतिपक्षान्तरभावः स्फुटः कालात्ययापदिष्टस्येति तत्खण्डनानन्तर कालात्ययापदिष्टखण्डनमुपक्रमते-। "प्रकारे"ति । हेतुभासान्तरभेदस्य प्रकारभेदस्याभावाद्दित्यर्थः ॥ "यथाश्रुतस्ये"ति । आवयंचित्तबलवत्त्वस्य^(१)त्यर्थः सत्प्रतिपक्षस्य प्रतिबन्धकत्वं नतु साध्यविपर्ययबोधकत्वं यद्यपि तथापि तुल्यबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वे सत्प्रतिपक्षसम्भित्यभिप्रेत्येनदुक्तं अतिव्याप्तितं स्फुटयति "तत्रे"ति ॥ "तदे"ति । यद्यपि व्यतिरेकिणि सपक्षसत्त्वाभावेपि ठयाप्तिसधर्मनारूपबलमान्यमिति नाधिकबलत्वमन्वयव्यतिरेकिणस्तथापि सपक्षसत्त्वादिकबलसभिप्रेत्येनदुक्तम् ।

मू० "किञ्चैवं प्रत्यक्षेणानुमानाभासबाधो न स्यात् प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नाभ्रान्तिज्ञानकरणात्वमात्रं बलमनुमानस्य तु पक्षधर्मत्वादि भूयिष्ठं बलमिति ^b * अथ मन्यसेऽनन्यथासिद्धत्वं बलं विवक्षित्वेदमुच्यते तेनानन्यथासिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकस्तत्त्वं बाधितविषयत्वमिति ?

(१) अविबोधितबलवत्त्वस्य = अनिर्णीतन्युनाधिकबलवत्त्वस्य ।

*मैवम्, 'तथापि हि वस्तुतो नन्यथा सिद्धेन (१) सत्-
प्रतिपक्षेपि गतत्वादतिव्यापकत्वं "किञ्चान्यथेत्य-
न्येन प्रकारान्तरेणेत्युच्यते अनन्यथेति चानन्येन
प्रकारेण 'यस्मादन्यत्वं तेनैवेत्यर्थः सम्पद्यते तथाच
वक्तव्यं किं तदन्यताप्रतियोगीति प्रामाण्यं तदिति
चेत् आहो दुर्वेदग्धी भवतः प्रमाण्येनेति वक्तव्ये
प्रामाण्याद्योन्यः स यो न भवति तेन प्रकारेण सिद्धः
उत्पन्नः प्रतीतो वा तेनेति ब्रूवाणस्य ।

टी० ॥ "किञ्चैवमि"ति । यद्यपि रूपवस्त्रादिकं यथायथं
नत्रापि बलमधिकं तथापि तदविवक्षयः मुक्तं ॥ "अथे"ति ।
नत्प्रतिपक्षन्यथान्यथा सिद्धेनैव साध्यविर्ययशो धनमनो नाति-
व्योमिरिति भावः यत्रानन्यथा सिद्धे एष प्रतिहेतुर्वस्तुनस्तत्रा-
निष्ठयामिमाह- "तथापी"ति । कुटिलोक्तिकत्व लक्षणदोष
माह- "किञ्चे"ति "यस्मादन्यत्वमि"ति । अन्यत्वं सप्र-
तियोगिकं तेन यथाघटादन्यः पटादिः अनन्यस्तु घट एव तथा
प्रामाण्यादन्यदप्रामाण्यमनन्यत्तु प्रामाण्यमेवेत्यर्थस्तथाच प्रामा-
ण्येन सिद्ध इति वक्तव्ये प्रामाण्यप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्
प्रतियोगिकान्योन्याभाववता सिद्ध इति महत्कौटिल्यमुक्तमि-
त्यर्थः इति ब्रूवाणस्याहो दुर्वेदग्धी भवत इति योजना ॥

सू० "तथापि प्रमाणेन बोधितविपर्ययो विषयो यस्य स
कान्नात्ययापदिष्ट इति न इदं रजतमिति शुक्तिं
विषयीकुर्वति प्रत्यक्षाभासे नेदं रजतमिति प्रमाणेन
बाध्यमानेपि हेत्वाभासविशेषलक्षणमिदङ्गच्छदात-
व्यापकत्वमापद्यते 'एवं बाध्यावषयिण्यामिच्छायाम-
पि गच्छेत् * प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्या-

(१) अनन्यथा सिद्धेन = सदनुमानेन ।

न्यथा भावः 'स हेतुः कालात्ययापदिष्ट ?'-इति चेन्न, यदि 'मुख्यार्थो हेतुशब्दः 'तदा हेत्वाभासत्व-
ध्याघातः 'अथामुख्यार्थः तदा कोस्यार्थः यत्रैष व्यवस्थाप्यते इति सोभिधातव्यः * 'प्रमाणेन बोधिते यदीय विषयस्य व्यतिरेकः स हेत्वाभासः कालात्य-
यापदिष्ट ? *'-इति चेन्न, यद्यग्रे हेत्वाभासत्वानि-
श्चयः तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम् * अथ काला-
त्ययापदिष्टत्वेन निरूपिते एव हेत्वाभासत्वस्य नि-
श्चयः * तदा तत एव दुर्गुत्वसिद्धेः कृतं ।

टी० ॥ ननुक्तिकौटिल्ये मत्स्यपि लक्षणमदुप्रमेयेत्यन
आह-। "तथापी"ति । प्रमाणेन बाधकज्ञानेन बोधनमाध्य-
विपर्यये अनेतिव्याप्तः अज्ञानस्य हेत्वाभासत्वायोगादिनि
भावः अज्ञानतायामिच्छोयामतिव्याप्तिनाह-। "पुत्रमि"ति ।
बाध्यं रजन्त्वादि विषयो यस्य इच्छायाः सा तथा नस्या-
मित्यर्थः ॥ "स हेतुः"ति । तथाच न अनेन वा तज्जनि-
तायामिच्छायामतिव्याप्तिस्तत्र हेतुत्वाभासादिनि भावः ॥
"मुख्यार्थ" इति । व्याप्तपक्षधर्मवचन इत्यर्थः न्यायावयव इति
नाथं. अर्थस्यैव हेतुहेत्वाभासत्वस्य विचारात् ॥ "तदेति ।
व्याप्तिपक्षधर्मनाविशिष्टस्य हेत्वाभासत्वं व्याहनमित्यर्थः ॥
"ये"ति । लाक्षणिकस्य हेतुशब्दस्य विविच्य विषयो वक्तव्य
इत्यर्थः पूर्वोक्तव्याघातपरिहाराय हेत्वाभासत्वेन विशेषणीय-
मित्याह-। "प्रमाणेने"ति ॥

सू० "पश्चात्प्रतीतिकस्य कालात्ययापदेशस्योपन्यासे-
नेति 'तदिदं त्वन्मते लक्षणमस्तु मावा भूत् सामु-
द्रिकप्रमाणेन पुनर्महदेतदलक्षणं कालात्ययापदेशस्य
येनास्य (१) नाम हेत्वाभासभेदपदभ्रंशः प्रासाधि *
'अथ ब्रूषे हेत्वाभासत्वं हेतुसदृशतया प्रतीयमानत्वं

न हेतुदोषवत्त्वम् ? *-इति मैवं, ^dहेतुना तुल्यता हि अहेतुत्वावगमं विना न शक्यमितिः सादृश्य-स्यभेदाधिष्ठानस्य तथैव प्रतीतेः 'अन्यथा हेतोरपि हेत्वाभासत्वापातात्' ततश्च हेतुरूपवैकल्पस्यावश्यं प्रत्येतद्व्यत्वेन प्रागुक्तदोषानिवृत्तिः * प्रमाणेन बोध्यमानो यदीय पक्षद्वयतिरेकः स कालात्यया-पदिष्ट ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ "पञ्चात्प्रतीतिकस्ये"ति । हेत्वाभासपक्षगर्भ-लक्षणव्यवस्थाप्यस्येत्यर्थः अनेन लक्षणेन कालात्ययापदिष्टो हेत्व भासादेव प्रख्यातिरिति महिःदमलक्षणमित्युग्रहमति-। "नदिदमि"ति । ननु हेतुसदृशत्व हेत्वाभासत्व नत्वनुमिति प्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं येन कालात्ययापदिष्टत्वज्ञाना-त्पूर्वमेवानुमिति प्रतिबन्धे किं तेनेति स्यादित्याह । "अथे"ति । तद्विन्नतत्रे सति तद्गतभयो धर्मवत्त्वं सादृश्य हेतुभिन्न-त्वज्ञानात्प्रत्येनव्यमिति न एव दोष इत्याह-। "हेतुने"ति । "अन्यथे"ति । यदि सादृश्य भेदगर्भं न स्यादित्यर्थः ॥ "नत-पक्षे"ति । हेतुभिन्नत्वं हेतुवैधर्म्यज्ञानाधीनमित्यर्थः ॥ "पक्ष-द्वयतिरेक" इति । तथाच हेत्वाभासपक्षप्रसंगदोषाभावः अन-तज्ज-येच्छयोश्च तानिदयाप्तस्तत्र पक्षद्वयतिरेकात् सादित्यर्थः त्रिपतीनप्रमायां सन्देहमिषाधिविषयोरभावान्न पक्षतेनि भावः यद्यपि साधे प्रमाणेन पक्षद्वयतिरेका न बोध्यते तथापि सम्भ-वाभिप्रायेणोक्तम् ।

स० "आश्रयासिद्धव्यापनात् * आश्रयासिद्धव्यतिरिक्त इति विशेषणीयम् ? *-इति चेन्न, ^bविशेषणाद्यसिद्ध्या-आश्रयासिद्धे न सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टोदाहर-

(१) येन=सामुद्रिकप्रम.येन, अस्य=कालात्ययापदिष्टस्य, नाम=प्रतिबन्धं, हेत्वाभासविशेषस्य पदात् स्थानात्प्र शः=च्युतिः, प्राणाधि । सामु-द्रिकयाश्चे कालात्ययापदेशपदस्याऽतिक्रान्तक लक्ष्यपदेश वाचित्वात् ।

णमेवं न व्याप्येत * प्रमाणेन बोध्यमानो यदीय-
साध्यस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट ? *-इति
चेन्न, "प्रत्यक्षाभासठ्यापनात् तत्रापि हि साध्यस्य
ज्ञाप्यरूपस्य व्यतिरेको बोध्यते एव * प्रमाणेन
बोध्यमानो यदीयस्य साध्यस्य व्यापकस्य व्यति-
रेकः स कालात्ययापदिष्ट ? *-इति चेन्न, 'प्रमाणेन
बोध्यमानाभावस्य प्रकृते हेतुव्यापकत्वासम्भवात् ॥

टी० ॥ "आश्रयामिद्वे"ति । यद्यपि गगनारविन्द सुर-
भीत्यादावाश्रयामिद्वे पक्षव्यतिरेको न प्रमाणबोध्यो^(१) न वा
मिदुमाधनस्थले पक्षव्यतिरेकः प्रमाणबोध्य^(२) तत्रापि प्रमा-
णेन (मिद्वी^(३)) प्रत्यां मन्देहासावात् पक्षताव्यतिरेक इत्येनाव-
तैव तथोक्तं ॥ "विशेषणाद्यमिद्वे"ति । मन्देहमिषाधविषयोः
पक्षविशेषणयोर्बाधे अमिद्विरिति तत्राश्रयामिद्वत्वं प्रवर्तमानि
तत्पक्षोर्बाधाघटयामिरित्यर्थः आश्रयामिद्वेः साध्यव्यतिरेकः
प्रमाणेन न बोध्यत इति न तत्रानिठयामिरिति शङ्कते- । "प्रमा-
णेन"ति । साध्यपदं ज्ञाप्यपरं चेत्तत्राह- "प्रत्यक्ष"ति ।
साध्यपदस्य व्यापकपरतामादाय शङ्कते- "प्रमाणेन"ति ।
कृतकत्वादिहेतुव्यापकत्वगनीकत्वादेः साध्यस्य न सम्भवतीति
हेतुमति पक्षे योबाधस्तत्राठयामिरित्याह- । "प्रमाणेन"ति ।

म० * "प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य प्रतिज्ञात-
स्याभावः स कालात्ययापदिष्ट ? *-इति चेन्न,
स्वार्थानुमाने कालात्ययापदिष्टस्यैवमठ्यापनात् तत्र
शब्दरूपस्य प्रतिज्ञानस्याभावात् 'शब्दस्य परा-

(१) न प्रमाणबोध्यः, पक्षतावच्छेदकगगनीयत्वव्यतिरेकस्यैव तत्र
साक्षात्प्रमाणबोध्यत्वादिति भावः । (२) न प्रमाणबोध्यः, पक्षतावच्छे-
दकसाध्यस्यैव व्यतिरेकस्यैव तत्रादिति भावः । प्रत्युताश्रयामिद्विस्व-
रूपासिद्ध्याकभयोः पक्षस्यैव स्वरूपसत्त्वात्प्रमाणबोध्यत्वम् । (३) विद्वि-
विति बाधस्याप्युपलक्षणं, तेनाद्योदाहरणमपि संगृहीतंभवति ।

र्थत्वात् * प्रमाणेन बोध्यमानो यदीय साध्यस्य
 "पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः स कोलात्ययापदिष्ट ?
 *—इति चेन्न, तथा भूतस्य पक्षाभासत्वाभ्युपगमेन
 मुख्यपक्षार्थत्वासम्भवात् पक्षाभासनिविष्टस्येति क्रि-
 यमाणेतु 'पूर्वं पक्षाभासत्वप्रतीतिपक्षयोः पूर्वं
 हेत्वाभासत्व प्रतिपक्षप्रतीतिपक्षोक्तदोषवत् दोषो
 द्रष्टव्यः पक्षत्वाभिमतानुभूतस्येति क्रियमाणे च
 प्रष्टव्यं किं पक्षत्वाभिमतत्वं ? पक्षतयाभ्युपगमान-
 त्वम् ? अथ पक्षतया प्रमितत्वं : उत पक्षतयाप्रती-
 तिमात्रत्वम् ? नाद्यः 'दूषकं प्रति तदसम्भवात् तेन
 बाध्यसाध्यस्य पक्षाभासतयैव प्रत्युताङ्गीकारात् ।

टी० ॥ यद्यपि बाधे हेतुत्वापकत्वं साध्यस्य न सम्भवति
 तथापि प्रतिज्ञात्वं भवत्येवेति तदादाय शङ्कते । "प्रमा-
 णेन"ति ॥ ^b"तत्र"ति । बाध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति लक्षणानुपपत्त्या
 दित्यर्थः मनु स्वार्थानुमाने प्रतिज्ञैव कथं नास्तीत्यत आद्य-
 "शङ्कते"ति । ^d"पक्षनिविष्टस्येति"ति । तथाच न स्वार्था-
 नुमानबाधाद्यपि स्तत्र प्रतिज्ञाविरहेऽपि पक्षसम्भवादिनि साधः
 क्विदपि बाधे पक्षतानास्तीति नवीश्यादिनिरित्याह । "तथा
 भूतस्ये"ति । पक्षाभासत्वप्रतीतिबाध्यादिद्वैवानुमानदूषणे
 बाधानवकाशादित्याह— । "पूर्वनि"ति ॥ "दूषकं प्रती"ति ।
 बाधमुद्गावयनं कास्त्वयं पक्षतां नाभ्युपगच्छतीत्यर्थः ॥ ^e"बा-
 ध्यसाध्यस्ये"ति बाध्य साध्यं यस्येत्यर्थः ।

सू० अनुमानवाद्यपेक्षयापि नियमाभावः सदानुमाना-
 स्फूर्ती मन्दप्रज्ञेन प्रज्ञाभिमानवता च मयि वदति
 स्फुटं दोषमपि को दूषयितुं शक्त इत्यभिप्रायेण
 यदृच्छया ज्ञातदोषस्यापि प्रयोगस्य सम्भवानु-
 मानवादिना पक्षत्वाङ्गीकारभावेन तथाभूतबाधिता-

नुमानाख्यापकमिदं लक्षणं स्यात्^१ * न च पक्षतयो-
पन्यग्भ्यमानत्वमङ्गीकारार्थ * इति युक्तं, 'तथा सति
स्वार्थानुमाने कालात्ययापदेशाव्याप्तिः नापि द्वि-
तीयः^२ पक्षत्वेन प्रमिते विषये कालात्ययापदेशा-
नवकाशात् नापि तृतीयः तदा ह्येवं लक्षणमिदं
सम्पद्यते प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्य 'पक्ष-
प्रतीतिविषयांशस्य व्यतिरेकः स कालात्ययाप-
दिष्ट इति ।

टी० ॥ ननु स्थापनावादिना स्वपक्षः पक्षत्वेनाभ्युपगम्य ।
एवेति नासम्भव इत्यत आह—। "अनुमाने"ति । यत्र प्रौढो
वादी बाधितमपि साध्यितुं प्रक्रमते तत्राठ्याप्तिरित्यर्थः अप-
क्षस्यापि पक्षतयोपन्यासः सम्भवतीति नाठ्याप्तिरित्यत आह ।
^१"नचे"ति । ^२"तथा सती"ति । तत्रोपन्यासो नास्तीति शत्रुः ॥
^३"पक्षत्वेन"ति । बाधरूपेण पक्षताविघटनप्रौढ्यादित्यर्थः ॥ "प-
क्षप्रतीतिविषयांशस्य"ति । पक्षप्रतीतिविषयस्य धर्मिणोऽंशो धर्मः
सिषाध्ययिषित इत्यर्थः ॥

मू० अस्य च वाक्यार्थस्य न कदाचिदपि सम्भवं पश्यामः
"यदा तावत्प्रमाणेन साध्यस्य व्यतिरेकबोधस्तदा
पक्षप्रतीतिर्नास्ति विशेषदर्शने भ्रमस्यानवकाशात्
^१ततश्च तदा पक्षप्रतीत्यभावेन तद्विषयत्वाभावात्
तद्विषयांशस्येति विशेषणाभावाधीना विशिष्टस्य
लक्षणात्मनोऽभावः 'यदा च प्रमाणेन साध्यव्यति-
रेकबोधनं नास्ति तदा "तस्यैव लक्षणभागस्याभा-
वाल्लक्षणाभाव इति "नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेन लक्षणेन
लक्ष्यं व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो भवान् ॥

टी० ॥ अत्र च प्रतीतिर्भ्रान्तिर्विचक्षिता प्रमाया दूषितत्वात्
यदा साध्याभावप्रमा तदा पक्षप्रतीतिर्भ्रान्तरूपा न सम्भवतीत्य-

सम्भवो लक्षणोच इत्याह-। “यदे”ति । यद्यपि नाध्यासा-
वप्रमा साध्यश्चन प्रतिबध्न नि ननु पक्षत्वश्चनमपि भिन्नविषय-
त्वात् तथापि सन्देहमिषाधयिषे विचयन्तो तद्वदितपक्षत्व
ज्ञानमपि विघट तदेवेति भावः तथेति लक्षणे का दोष इत्यत
आह । “त एवे”ति । तथाच साध्यासावप्रमाया पक्षप्रतीतिर-
भावानुद्गु इनकालत्पययादिपृलक्षणाभाव एवेत्यर्थः ननु साध्य
विपरीतप्रमाया पक्षप्रतीतिर्भा-तु नदसावदशभया स्यादेवेत्यत
आह - “गदे”ति ॥ “स्वैवे”ति । प्रमाणेन बोधित इत्यस्यैव
भागव्यत्यर्थं तथाच विशेषणद्वयविशिष्टस्य लक्षणस्य न कदापि
सम्भवित्याह । “नित्यमि”ति । अन्वयव्यवस्थितेन ठय-
वस्थितामरवेत ॥

म० * नच वैशेषिकप्रक्रियामाश्रित्य विनश्यदवस्थापि
पक्षप्रतीतिस्तत्काले सम्भावनीया * तदीयसाध्य-
व्यतिरेकावगमनिवर्त्तनीया हि सा तत् साध्यव्य-
तिरेकावगमश्च पूर्वमेव भूत इत्यवश्याभ्युपगमनसु
अन्यथा प्रमाणेन बोध्यमानत्वं कथं साध्यव्यति
रेकस्य तदावगम्येत ।

टी० ॥ ननु पक्षप्रतीत्यव्यवहितोत्तरक्षणे साध्यविपरीत-
प्रमा स्यादिति विशेषणविशेष्योभयभागठयवस्थितौ कथं ठयव-
स्थितामरव लक्षणं तद्वि विनश्यदवस्थेनापि ज्ञानेन यौगपद्य
नाङ्गीक्रियत इत्यत आह । “नचे”ति । दाधोद्भावनाकाले
हि साध्यव्यतिरेकस्य प्रमाणेन बोध्यमानत्वमवश्यमभ्युपेय
मन्यथातद्गर्भबाधानुद्भावनापत्ते (१) तथा च तदुत्तर पक्ष प्रती-
तिर्विचक्षिता सा च कथं विशेषदर्शने मति स्यादिति विनश्यदव-
स्थयापि तथा न यौगपद्यमित्यर्थं बाधावतारानन्तर पक्षप्रती-
तिर्विचक्षिता न तु वैपरीत्यमित्यत्र विनिगमकमाह । “अ-
व्यथे” । नियदि साध्यव्यतिरेकप्रमा पूर्व-वाला ना न विचक्षिता

(१) तद्व्यतिरेकगर्भबाधानुद्भावनापत्ते, च साध्यव्यतिरेको
गर्भे वश्य बाधस्य तस्य अनुद्भावनापत्तेरित्यर्थः ।

तदा बहुधादेः पक्षतयोपदर्शनकाले^(१) प्रमाणबोध्याभाववत्त्वं कथमुद्गठयेत् विशेषणीभूतस्य बाधस्य त्वया तदानीमनभ्युपगमादित्यर्थः यत् विनश्यदविनश्यदवस्थयोः क्षणमात्रं सहभावेऽपि नोद्भावकाले माहित्यमिति ठयाख्यानं तच्चिन्त्यं शङ्कोत्तगाभ्यामसंरूपशां दिति बोध्यमानत्वमिति वर्तमानतया निर्देशो विशेषणत्वलाभाय ।

सू० * न च वाच्यं प्रतीतिविषयत्वमिदं विशेषणं न भवति किन्तुपलक्षणम् उपलक्षणेन चासतापि व्यवच्छिन्नप्रतीतिरुपजन्यते यथा काकवन्तो देवदत्तगृहा इत्युपलक्षणीभूतया काकवत्तया देवदत्तगृहस्य व्यवहारकाले इति * "यतस्तत्रोपलक्ष्यो देवदत्तगृहस्य स्वाभाविको विशेषोस्ति व्यवहारकाले तेन काकवत्ताभावेऽपि तमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः न तु तत्राप्सत उपलक्षणास्य कारणात्वं अत्र तु व्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वे लक्षणास्यानुगमत्वम् अनुगतं च किञ्चिदुपलक्ष्यं न लक्ष्यामहे ।

टी० ॥ ननु माध्याठयतिरेकप्रमाणप्रतीत्योर्यदि न यौगपद्यं तथाऽप्यनन्तरत्वं^(२)मुपलक्षणमस्तु तस्य हि स्वांसत्त्वकालेऽपि व्यवर्तकत्वमित्याशङ्क्य परिहरति । "न च वाच्यमिति । काकवत्तया अभ्येति शेषः दाष्टान्तिके दृष्टान्तवैषम्यमाह-
"यत इति" । यथा तत्रोत्पत्त्यादिकमुपलक्ष्यतावच्छेदकमस्ति न तथा प्रकृते इदादेः प्रत्येकमुपलक्ष्यत्वेऽनुगम इत्यर्थः तमादाय उत्पत्त्यादिक विशेषमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः ठया वृत्तप्रतीतिः तथाऽपि शास्त्रस्यैव ठयावृत्तबोधकारणत्वमन्वयसतः

(१) बहुधा नुशोन्नव्यत्वादित्यादिस्यले बहुधादेः पक्षतयोपदर्शनकाले इत्यर्थः । (२) अत्र सूत्रेणैकवाक्यमार्थं "न भवति, तथाच पक्षप्रतीतिविषयत्वम्" इत्यध्याहृत्योपलक्षणमस्तिविति योज्यम् । यद्वा पक्षप्रतीतिलक्षणाविशेषणविशिष्टानन्तरत्वस्योपलक्षकत्वे व्यवस्थाये विशेषणोभूतपक्षप्रतीतेरमुपलक्षणत्वम् ।

काकस्येत्यर्थः काकमत्स्यकाले काकवन्तो देवदत्तगृहा इति वा-
क्येन्ययानुपपत्त्या काकपदस्योत्पत्तौ लक्षणा प्रत्यक्षकाले च का-
कपरिचापितोत्पत्त्यस्यैव विशिष्टप्रतीतिविषयत्वं नतु काक-
स्यापीति ज्ञातः ।

मू० अत उक्तमेव वाक्यार्थमादाय प्रवर्तमाने लक्षणा-
त्मके साधने विशेषणासिद्धिदुर्निवारा एतेन पूर्वं
शङ्कितस्य हेतुरित्यस्य प्रत्यक्षाभामध्यवच्छेदार्थमुपा-
त्तस्य स्थाने हेतुत्वाभिमत इत्येतादृशस्य करणं दूषि-
तप्रायम् * अथ ब्रूषे प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्य
स्याभावः स प्रत्यक्षाभासातिरिक्तः कालात्ययापदिष्ट
? *-इति नैतदपि सुस्थम्, शब्दोपमानाभाससाधा-
रण्यात्तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीर्यामिति चेदेत-
दपि विचार्यतां किं प्रत्यक्षाभासादिध्यतिरिक्तत्वं
प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित् उत स्वरूप-
भेदः अथवान्योन्याभावः न तावदाद्यः ।

टी० ॥ ननु प्रतीत्योर्षिषेणत्वोपलक्षणत्वयोरज्ञावे के-
दोष इत्यत आह । “अन” इति । प्रमाणबोधयमानपक्षप्र-
तीतिविषयांशक्यनिरेकत्वाद्यदा न्यापनानुमानस्यासाधकत्वम-
नुमेय तदा स्वरूपासिद्धिः स्यादित्यर्थः यद्वा बाधस्येतरभेदे साध्ये
लक्षणस्य बाधार्थस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ॥ ० “एतेन” ति ।
अभिमतिसंभ्युपगमः प्रमा वा श्रान्तिर्वैत्यादिविकल्पदोषेणेत्यर्थः
अत्रापि हेतुत्वेनाभ्युपगमो न प्रतिष्ठादिनः तेन हेतवः प्रामत्वे-
नैव वादिहेतोः अभ्युपगमात् नापि वादिनः प्रौढेन वादिना हेतवः-
ज्ञामत्वाभिमतैनापि न्यापनाकरणात् प्रमा चासम्भवाच्चिन्नैव
अहेतुत्वेन विशेषदर्शनानन्तरं हेतुत्वेन असा^(१) नवकाशादिनि-
ज्ञातः पूर्वं शङ्कते लक्षणे प्रत्यक्षाभासातिव्याप्तप्रारणाय तद-
न्यत्वेन विशेषणं शङ्कते- “अथे” ति ।

(१) अत्र “अपि” --शब्दमध्याहृत्य अमस्याप्यनवकाशादित्यर्थः ।

मू० "तद्वेदकस्य धर्मस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् नापि द्वि-
तीयः ^bस्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयि-
कत्वात् नापि तृतीयः 'व्यतिरिक्तत्वस्यान्योन्या-
भावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छे-
दकत्वानुपपत्तेः * ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्यो-
न्याभावरूपविशेषणमस्माभिर्निरूपितं ^dकिं नाम
प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं नच प्रत्यक्षाभासादयः
स्वात्मभ्य एव भिन्नाः तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्याव-
काशः अवगतमिदं त्वद्विवक्षितमेतदेव विचार्यते ॥

टी० ॥ "वेदकस्ये"ति । भेदो ऽऽऽऽ धर्मः कालात्यया-
पदेशस्य लक्षण प्रवेत्तत्वाद्यापि न निर्वर्ण्यदमित्यर्थः ॥ ^b"स्वरूप-
स्य"ति । स्वरूपभेदो द्वि प्राच्ये लक्षण भोत्राय । तदन्तरणापि
लक्षण परस्परं स्वरूप भेदोऽस्म्यतेतिनि लक्षणप्रणयगानर्थक्यांन-
त्यर्थः व्यतिरिक्तत्वमन्योन्याभावरूपमात्रं वा प्रत्यक्षाभासा-
दिप्रतियोगिकाऽन्योन्याभावत्वं वा आद्यदूषणम्-
"व्यतिरिक्तत्वस्ये"ति । अन्त्यमात्रदूषणम्-
"किं नाम"ति । प्रतियोगिबिजिह्वस्यान्योन्याभावस्य प्रतियोगिनो विशेषणस्या-
सत्त्वात्सत्त्वमितिप्रत्यक्षाभासादिते वाचितहेती तद्विज्ञप्ता-
न्योन्याभावस्याप्यसत्त्वात् एवेति सर्वकालात्प्रतियोगिदृष्टाव्याप्ति-
रित्यर्थः ॥

मू० किं प्रत्यक्षाभासादिभिर्विशेषितोन्योन्याभावस्त्व-
योच्यते उत तैरुपलक्षितः यं प्रत्यक्षाभासादिव्यप्र-
सक्तं मन्यसे आद्यस्तावन्न सम्भवति नहि प्रतियो-
गिरूपविशेषणसहितोभावः क्वचिदप्यस्ति ततस्ता-
दृशस्य विवक्षितत्वे सर्वाव्याप्तिः द्वितीये तु 'प्रत्यक्षा-
भासादिभिरुपलक्षणैर्यदुपलक्ष्यमन्योन्याभावस्य स्व-
रूपसैकं तत्प्रत्यक्षाभासादिषु बाधितानुमानेषु च

साधारणमिति क्वं नोक्तदोषप्रसङ्गः अन्यदस्तु
सदात्मकं विशेषणं प्रतियोगीत्वभावस्यासन्नेव तज्-
ज्ञानस्य विशेष्ये व्यावृत्तबुद्ध्याधानाविरोधात् वि-
शेषणं भवतीति चेत् * अयुक्तमेतत्,

टी० ॥ ननु प्रतियोगिनो न विशेषणत्वं येन घटान्यो-
न्याभाववति पटे घटाभावात्तदन्योन्याभावोपि न भवेदपि नूप-
लक्षणं तथाच नोक्तादोष इत्यत आह-। "प्रत्यक्षाभासादि-
भिरिति । प्रत्यक्षाभासादिकालात्ययापदिष्टयोरेक एवान्यो-
न्याभावः न यथा कालात्ययापदिष्टे तथा प्रत्यक्षाभासादावपी-
त्युक्त एव प्रसङ्गोऽनिठयापितरूप इत्यर्थः ननु देशतः कालतो
वा भवतीति प्रतियोगिनो विशेषणत्वमेव तथाच नोपलक्षण-
पक्षोक्तातिठयाभिर्दोष इत्याह-। "अन्यदस्त्विति । अन्य
द्रव्यगुणकर्मादि तथाच कालात्ययापदिष्टे प्रत्यक्षाभासान्तरेपि
तद्विशिष्टस्नदन्योन्याभावः स्यादेवेति न सर्वाठयाप्तिरिति भावः ।

सू० "विशिष्टं तावदभावस्य स्वरूपमिहोपात्तं तच्च वि-
शेष्यमात्रशरीरं न भवितुमर्हति तथा सति विशे-
ष्यस्वरूपमेवोच्यतां वृथा विशेषणपदोपन्यासः तदु-
पन्यासे चान्योन्याभाववत्त्वमात्रमुपन्यस्तं भवेत्तच्च
प्रत्यक्षाभासादेर्व्यवच्छेद्यस्य सङ्गाहकं ततश्च
विशेष्यादन्योन्याभावादधिकं किञ्चिद्द्रव्यं तद्वि-
शिष्टमुपन्यस्यतां 'सच यदि प्रतियोगी तदीयोभि-
धीयते नहि तस्याभावात्तदानीं विशिष्टाभावः
प्रसक्तः विशेष्यमात्रं परिशिष्टं तच्च केवलमतिप्र-
सक्त तस्माद्विशिष्टव्यवहारप्रवर्तनकाले विशेष्याति-
रिक्तं किञ्चिदनभ्युपेत्य विशिष्टसत्ता व्यवहर्तुं म-
शक्या अतः प्रतियोगी नाभावस्य विशेषणं भवि-
तुमर्हति उपलक्षणं तु स्यात्तत्र चोक्तमेव 'नचान्यो-

न्याभाव एको न भवति भिन्नप्रतियोगिनी द्वाव-
भावी तौ तथाच प्रतियोगिलक्षितं तत्स्वरूपमन्य-
देवेति सिद्धान्ताविरोधि, नच युक्तम् ॥

टी० ॥ विशेषज्ञानत्वेऽपि विशेष्यस्यान्योन्याभावात्प्रत्य-
क्षत्वाद्यदि लक्षणगमनमुपपादितं तदा विशेष्यमात्रवति प्रत्य-
क्षाभावादावपि लक्षणमतिव्यापकमित्याह— “विशिष्टं ताव-
दि”ति । अनूक्तं प्रतियोग्येव स्वज्ञानद्वारा व्यावृत्तबुद्धिं जनय-
द्विशेषणमित्यत आह— “स च यदी”ति । तर्हि विशेषणस्य
प्रतियोगिनोन्योन्याभावे^(१)देशतः, संसर्गाभावे च कालतोष्य-
भावाद्द्विशिष्टस्याऽन्योन्याभावस्याभावः प्रसक्त इत्यन्योन्या-
भावमात्रमवशिष्यते तत्रातिप्रसक्तिरुक्तैवेत्यर्थः ननु यदि प्रत्य-
क्षाभावादि कालात्ययापदिष्टयोरेक एवान्योन्याभावो भवेत्तदा
प्रत्यक्षाभावादन्योन्याभाववत्त्वं प्रत्यक्षाभावेऽपि स्यादित्यपि
प्रसक्तो भवेत्किं नाम प्रतियोगिभेदादन्योन्याभावभेदोपीत्यत
आह— “नचे”ति ॥

सू० “उभयं ह्यन्योन्याभावस्यैकात्मतया प्रतियोगि एका-
त्मतायाश्च भेदविरोध एव ततश्च येन रूपेण प्रति-
योगित्वं तेन रूपेण भेदानवकाशाद्भिन्नप्रतियोगिता
कुतोऽन्योन्याभावस्य येन रूपेण भिन्नता तेनान्यो-
न्याभावं प्रति प्रतियोगिता नास्ति वस्तुनोः^b *ननु
वस्तुतस्तयोरेकत्वाभावात्कथमेकतया प्रतियोगित्व-
मन्योन्याभावं प्रति घटते वस्तुनोः * यथा वस्तुनो
भूतलसंसर्गाभावेऽपि घटस्य भूतलसंसृष्टतया भूतल-
संसर्गाभावं प्रति,

टी० ॥ अभावद्वैतं न सिद्धान्ताविरोधि नवा युक्तमित्यु-

(१) अन्योन्याभावे (गुह्यमात्रे) विशेषणस्य प्रतियोगिनो देशनाऽभा-
वादित्यन्वयः । अयमर्थः— यो देशो घटीयऽन्योन्याभावेनोपपद्यते; च कदा-
चिदपि तादात्म्येन घटात्मकप्रतियोग्युपपद्यते न भवतीति । अन्योन्या-
भावस्य कालिकाव्याप्यवृत्तित्वाभावः तु ‘कालतोऽभावात्’— इति नोक्तम् ।

अयमुपपादयति-। ^a “उभय”मिति । घटपटतादात्म्यं प्र-
तियोगि वाक्यमन्योन्याभावे संगर्गाभावभेदकं तच्चात्यन्ता-
त्तदि^(१)ति तदात्मीभूती घटपटावेव प्रतियोगिनी तथाच तयो-
रेक्यात्क प्रतियोगिभेदो येनाभावभेदः । स्यात् किञ्च घटपटयोर्भे-
दोऽन्योन्याभावः सच उयासजयवृत्तिरेक एव वाक्यो भेदे प्रमाणा-
भावात् घटपटौ भिन्नावित्येकस्यैव भेदस्यान्योन्याभावात्पन
उभयविशेषणतया ज्ञानसम्भवे तद्भेदकल्पनाया प्रमाणाभाव इति
भावः ननु घटपटयोर्यद्वेषं स्यात्तदा प्रतियोगिभेदाभावादभाव-
भेदो न स्यात्तदेवत्वमस्मवीत्याह-। ^b “नन्वि”ति । यथा घटभूत-
लघोरसन्नपि संगर्गः प्रतियोगितावच्छेदकस्तथा तादात्म्यमपि
घटपटयोस्तथास्यात्तथाच तदात्म्यावच्छिन्नौ तावभिन्नाविति
कथं प्रतियोगिभेद इति दृष्टान्तेने। उपपादयति-। ^c “यथे”ति ।

मू० “तत्र यथान्यद् भूतल^(२)संसृष्टतया दृष्टं तथात्रापि
तावेव ^bसप्रकारभेदौ तदात्मानौ दृष्टौ ^cसोयं त्वद्-
र्शनाभिप्रायो नास्माकं निर्वाह्य इत्यास्तां विस्तरः
^dअपि च घटपटयोः स्वरूपभेदेन वैधर्म्यभेदेन घोभ-
यकोटीकृतयोरन्योन्याभावनिरूपणं भवति अत्र तु
प्रत्यक्षाभासादेः प्रत्यक्षाभासत्वादिनैककोटितास्तु
नाम यस्तु प्रत्यक्षाभासादिद्व्यतिरिक्ततया प्रतिपत्त-
व्यं तस्य केन रूपैकैककोटीकरणं न तावत् प्रति-
व्यक्तिभिन्नेन स्वरूपेण तेषामनन्ततया बुद्धिस्थीक-
तुं मशक्यत्वात् नापि यद्रूपतयोपात्तं विश्लेष्यं प्रत्य-
क्षाभासादिद्व्यतिरिक्तत्वेन विश्लेषणेन विश्लेषणीयं

(१) घटपटस्वरूपातिरेकेण घटपटतादात्म्यमसदित्यर्थः ।

(२) अन्वयितयेत्यर्थः ।

तद्रूपक्रोडीकृततयै^(१)वान्योन्याभावनिरूपणमिति युक्तं तस्य रूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसङ्ग्राहकतया कोटिद्वैतभङ्गापादकत्वेनान्योन्याभावनिरूपणविरोधान्तस्मात्स्वरूपभेदं वैधर्म्यभेदं वा कोटिद्वयव्यवस्थापकमप्रतिसन्धायान्योन्याभावनिरूपणमशक्यमिति स्थिते स्वरूपभेदपक्षस्येह

टी० ॥ ननु तत्र घटान्तरं न एव वा घटो भूतलसंस्तुष्टो दृष्टः प्रकृते तु घटपटौ न कदापि तदात्मानाविति वैषम्यमत आह—। “तत्रे”ति ॥ ६०० “सप्रकारभेदावि”ति । घटपटयोरपि प्रमेयत्वसम्बन्धद्रव्यत्वप्रकारभेदसहितस्त्वयापि तादात्म्यमभ्युपेयं नहि तत्प्रकारकृतोप्यनयोर्भेदस्तथाननुभवादिन्यर्थः ननु त्वानिर्लेखनीयत्वादिना कथमयं निरुक्तिग्रह इत्यत आह—। “नोयमि”ति । भवतु प्रतियोगिभेदादन्योन्याभावभेदस्तथापि प्रकृते न दृश्यं इत्याह—। “अपि चे”ति । यथा प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतियोगित्वावच्छेदकं तथा सकलकालान्त्ययापदिष्टमात्रनिष्टमधिकरणत्वावच्छेदकं किञ्चित् गृहीतमस्तीत्यर्थः, ननु प्रमाणेन बोधितस्य षष्ठिपर्ययकत्वं तादृशं रूपं निरुक्तमेव तथा स्यादित्यत आह । “नापी”ति । तस्य रूपस्य प्रत्यक्षाभासेपि सत्त्वात्कथमधिकरणत्वावच्छेदकत्वं स्यात्प्रतियोगवृत्तिधर्मस्यैव तथात्वाभ्युपगमादित्यर्थः ।

मू० “दृष्टित्वात् धर्मभेदः कश्चिद्रूपव्ययः नचासौ वक्तुं शक्यः शक्यत्वे वा तमादायव लक्षणव्यवस्थितिरस्तु कृतमन्योन्यव्यतिरिक्तत्वकुशुक्त्या तदनेनान्यत्राप्यतिप्रसक्त्युदाहरणान्यत्वेन व्यावर्त्तनं लक्षणावादिनो भग्नस्य शरणमस्त्वं निरसनीयम् अत एव भेदकान्तरं विना तद्व्यतिरिक्तत्वमेव दुर्निरूपमित्यभिप्रायेण तदादन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणं

(१) तद्रूपान्तभावेतिवेत्यर्थः ।

वैशेषिकहेतुं नैतदेवं येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे-
सति प्रमेयत्वादिति सत्प्रतिपक्षहेतूपन्यासादुपहस-
न्तिसन्त इति ॥

इति श्रीश्रीहर्षकृतखण्डने प्रमाणतदाभासखण्डनं नाम

प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

— — —

टी० ॥ “दूषितत्वादि”ति । तस्यानन्तत्वात्प्रत्यक्षात्मा-
समाधारणत्वाच्चेत्यर्थं ननु निरूपणीयः स कश्चिद्दुर्नायः
सकलकालात्प्रययापदिष्टमाधारण इत्यन आह— ^b“शक्यत्वे
वे”ति ॥ “वैशेषिकहेतुमि”ति । इतरभेदसाधकं लक्षणमि-
त्यर्थः ॥ उपहास्यतामाह— “नैतदेवमि”ति । गुण इतर-
भिन्न कर्माव्यत्वे मति सामान्यवशत्वे असति निर्गुणत्वात्
यत्नैव सन्नैवमित्यादि एव वैशेषिकेन प्रयुक्ते गुणो नैतरभिन्न.
प्रमेयत्वात् व्यभिचारि चेदिदं स्यात्तदा तत्तदन्यत्वेन विशेष्य-
मित्युपहसन्तीत्यर्थः ॥

इति प्रथमः परिच्छेदः ॥



खण्डनखण्डखाद्यम् ॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदः ।

मू० (१)* ननु यदि दुर्लभ्या हेत्वाभावास्तर्हि निग्रहस्थानानि प्रतिज्ञाहान्यादीनि "बाधकानि भविष्यन्ति * मैवं, ^b(२) का पुनः प्रतिज्ञाहानिः स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्यलक्षणं तथाहि । 'भटिति^(३) संव-
रणे निग्रहस्थानेषु गतत्वेन परद्रुषितेत्यपि विश्वे-
षीयत्वात् "किञ्च स्वीकृत्येत्यनेनाभीष्टमात्रं वाभि-
धीयते अस्तिरवेनेष्टं वा आद्ये 'केनचिद्रूपेणैष्टस्य
रूपान्तरेण परित्यागः क्व नाम नास्तीत्यतिव्याप्तः
स्वीकारपूर्वकोऽस्वीकारस्त्यागः * न च रूपान्तरेण
तत्र स्वीकारस्ततस्त्याग एवासी न भवतीति नाति-
प्रसङ्ग * इति चेन्न, "स्वीकारस्यापि त्यागपदार्था-
न्तर्भावे स्वीकृतेति व्यर्थं "तत्यागेपि च नाद्यद्वि-
तीयौ अस्तिरवेनेष्टस्य रूपान्तरेण सर्वत्रैवानिष्टत्व-
सम्भवात् ॥

टी० ॥ "बाधकानी"ति । अचैतबाधकानीत्यर्थः यद्वा
दिविचयकौतुकाबाधकानीत्यर्थं निग्रहस्थानेषु प्रतिज्ञाहानिः प्रा-
यस्यात्प्रथमं तामाक्षिपति- । ^b"का पुनरिति"ति । परित्यागमा-
त्रमपि-द्वान्तेपीत्यत अस्मिन्परित्याग इति तदप्यनूद्य त्यक्ते
परमनेतिव्यापीत्युक्तं स्वीकृतेति स्वीकारश्च विशिष्टाभिन्न

(१) प्रमाद्यतदाभासयोर्द्वैताबाधत्वेपि निग्रहस्थानान्यद्वैतबा-
धकानि भविष्यन्तीति शङ्कते-नन्विति ।

(२) { अङ्गीकृत्य खण्डनं पूर्वं प्रमाद्य तदभासयोः ।
निग्रहाणां निकेतानि क्रमशः खण्डय-ऽप्युन । }

वादिमतिवादिनेऽपामर्थ्यबोधकत्वं निग्रहस्थानपरिमिति वामान्यलक्षण-
स्य दुःखदावतिश्यामे विधेयलक्षणं दुष्पि-तु पृच्छति-केति-(३)याच्चादने ।

तोऽन्यथा शास्त्राभ्युपगमेन सामान्यतः भिद्धान्तस्याप्युक्तत्वात्
 नतपरित्यागेतिठ्यासिः स्यात् ॥ ० “कटिती”ति । नैयायिकेना-
 नित्यः शब्द इतिप्रतिज्ञातठ्ये प्रमादाकित्यः शब्द इति प्रति-
 ज्ञाय स्वयमेव त्यक्ते प्रतिज्ञाहानिस्तावन्न भवतीति तत्राति-
 ठ्यासिबारणार्थं परद्रुषितेति विशेष्यमित्यर्थः अस्तु तदपि विशे-
 ष्यमिति चेत्तर्हि लक्षणकर्तुर्हेत्वन्तरनिश्चयापत्तिः प्रथममविशिष्ट-
 स्वैवोक्तत्वात् विशेष्यखान्नसोर्वेपि दोषमाह- । “किञ्चे”ति ।
 “केनचिदि”ति गुणत्वेन इत्योक्तस्य शब्दस्य नैयायिकेन नित्य-
 त्वेन परित्यागे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः ननु नित्यत्वेन
 शब्दस्य नदा स्वीकार एव न जातोतस्तत्र परित्यागोपि नास्ती-
 ति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते- । “स्वीकारे”ति । परित्यागपदार्था-
 ल्पभूत एव चेत् पूर्वस्वीकारोपि तदा परित्याग इत्येवास्तु लक्षणं
 किं स्वीकारपदप्रक्षेपेणापीत्याह- । “स्वीकारस्ये”ति । स्वीक-
 तेति पदत्यागेपि विकल्पितौ पक्षौ न सम्भवन् इत्याह- । “त-
 र्यानेपि चे”ति । आद्यपक्षस्य दूषितत्वेपि दोषान्तरदानाय पुन-
 र्निषेधत्वेनोपपद्यते ॥ “रूपाकारेणे”ति । नित्यत्वादिनेत्यर्थः ॥

सू० “संयोगाद्यव्याप्यवृत्ततावादिपक्षे चैकस्यैव संयोग-
 स्यात्स्वित्त्वनास्तित्वाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् ॥ एवं
 च कालदेशादिभेदेन सर्वामत्वाभ्युपगमेतिप्रसङ्गो
 द्रष्टव्यः । तस्यैव च तदैव तत्रैव तेनैव तस्यैवेष्टत्वाऽनि-
 ष्टत्वे विवक्षिते अत्रेति चेत् “एवं तर्हि कालमभ्युप-
 गम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्न स्यात् “तत्र तदे-
 त्युक्तविशेषणस्यासम्भवात् नहि कालः काला-
 न्तरं स्वात्मानमेव बाध्यास्ते “काले तदेतिविशेष-
 णस्य (१) प्रतिक्षेपेन्यत्र च प्रक्षेपे लक्षणस्यैकताक्षतिः ॥

टी० ॥ स्वीकारपरित्यागयोरेकरूप्यावच्छेदेनापि विव-
 क्षायां दोषमाह- । “संयोगे”ति । देशकालभेदेनैकस्य स्वीकार-

परित्यागौ चातिप्रसङ्गकारित्याह ^b“एवं चे”ति । ननु देश-
कालपुरुषाद्यभेदेन स्वीकारपरित्यागौ विवक्षिताविति नाति-
प्रसङ्ग इत्याह-। ^d“तस्यैवे”ति । असम्भवदप्येतद्भ्युपगम्य दूष-
यति-। ^d“एवं तर्ही”ति । कालोस्तीति प्रतिज्ञाय कालो ना-
स्तीति ब्रुवन्नपि प्रतिज्ञाहान्या न निगृह्ये तेत्यर्थः अत्र हेतुमाह-।
“तत्रे”ति । तत्र काले तदेत्युक्तविशेषणाभावादित्यर्थः ॥

। “नही”ति । कालान्तस्याभावादात्मन्यध्यासस्यात्माश्रयदु-
ष्टत्वादित्यर्थः यद्यपि काले कालाभ्युपगमेपि न दोषः अभ्यु-
पगमस्य भ्रमनिश्चयनत्वेनाप्युपपत्तेः किञ्च तदेतिविशेषणस्य
कालाभ्युपगमपरिहाराश्रयत्वेन कालस्याधिकरणत्वे तात्पर्यं
नौ च कालतोभिन्नावेवेति न विरोधः किञ्च कालेपि कालो
वर्तते एव अन्यथा कालस्यावर्तमानत्वापत्तेः स्वावच्छिन्नकाल-
वृत्तित्वस्यैव कालस्य वर्तमानत्वात् तथापि तादृष्यनपि^(१)
खण्डनीयमेवेति भावः ननु काले प्रतिज्ञाहानिस्तदेतिविशेषणस्य-
पहायैव लक्षणीयेत्यत आह-। ^d“काले”इति ॥

म० “कालं प्रति च प्रतिज्ञाहानेरदोषत्वे तद्द्वन्द्वत्राप्यदो-
षत्वापातः ^bयदैव स्वीकारस्तदैवास्वीकारासिद्धेश्च
* तदेति तत्कथाकालो विवक्षित^(२) ?-इति चेन्न,
“तच्छब्दस्यै^(३) कव्यक्तिपरत्वे लक्षणाननुगमः वा-
दादित्वेन साम्ये कदाचिदपि तद्विपरीतवादान्त-
राकरणप्रसङ्गः । एवं तथैव तस्यैवेत्यादिपदस्य द्रष्ट-
व्यम् उक्तपदस्य चापसिद्धान्तव्यवच्छेदकस्य ।

टी० ॥ ननु कालनास्तिनाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिरेव न
भ्रमनीति नाठयाग्निरित्यत आह-। “कालं प्रति चे”ति ।
लक्षणोऽसम्भवदोषमाह-। ^b“यदैवे”ति । ननु यदा तदेति पदे

(१) “यदैव स्वीकारस्तदैवाऽस्वीकार”-इत्यनेन वा वर्तमान-
त्वखण्डनेन वा साधारणखण्डनकोट्या वा खण्डनीयमित्यर्थः ।

(२) विवक्षित इत्यत ऊर्ध्वं नैकलक्षणकालोभेनासम्भवस्यादिति
पुगणीयम् । (३) कथैकव्यक्तिपरत्वे-इत्यर्थः ।

नैकज्ञस्यपरे येनासम्भव स्यात् किन्त्वेककथावाच्यत्वः कस्यसा-
 ध्यानाभिधीयते इत्याह- । "तदेती"ति । एकमात्रकथापरत्वे
 तच्छब्दस्य कथान्तरप्रतिज्ञाहान्यनुपग्रह इत्याह- । ^d"तच्छ-
 ब्दस्ये"ति । मनु वादे स्वीकृतस्य वादे एव परिहारे प्रतिज्ञा-
 हानिरिति नानुगम इत्यन आह- "वादादित्येने"ति । वादा-
 न्तरस्वीकृतस्य वादान्तरे परिहारे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः
 कल्पविनयहप्रतिज्ञाहान्यनुपग्रहः तत्कथाप्रक्षेपेप्येवमूल्यां क-
 थापदप्रक्षेपेपि प्रतिज्ञाहानिर्दाषः स्यादिति भावः ॥ ^e"एवमि"
 ति । तथेति यदि प्रकारविशेषो विवक्षितस्तदा प्रकारान्तर-
 स्वीकारत्यागयोःनुपग्रहः प्रकारनामान्यं चेत्तदा किञ्चिदूपे-
 णाम्युपेतस्य रूपान्तरेण त्यागेपि हानिः स्यादित्यर्थः स्वीकृत-
 परिहारागमात्स्यैव दोषत्वेऽपिसिद्धान्तकथावर्तनार्थमुक्तविशेषण
 व्यर्थमित्यर्थः ॥

मू० "विरुद्धन्यायेनाममर्थविशेषणत्वम् एवं सर्वत्र निग्र-
 हस्थाने दृष्टव्यमिति सङ्क्षेपः ^bप्रतिज्ञाहान्यादीत्या-
 दिपदेनापि किं सङ्गृह्यते * प्रतिज्ञान्तरादि ? * इति-
 चेन्न, ऽप्रतिज्ञान्तरमेव निरूपयितुं न शक्यते तद्यथा
 'स्वोक्तस्य ^dपरदूषितस्य 'साध्यभागस्य' पूर्वानुक्त-
 विशेषणवतोभिधानं प्रतिज्ञान्तरमित्यलक्षणं तथा-
 हि ^eयत्र वादिना प्रथमं सविशेषणः प्रतिज्ञाभागो-
 भिहितः परेण च निर्विशेषणोक्तप्रान्त्या दूषितस्ततो
 वादी प्रथममभिहितं सविशेषणमेवोपन्यस्येदृशं म-
 योक्तं नतु निर्विशेषणमतो निरनुयोज्यानुयोगो
 भवत इति सदुत्तरमेव ब्रूते तत्रापि गतत्वादति-
 ठ्यापकमेतत् * ^hपूर्वानुक्तविशेषणत्वं तत्र नास्ति
 तत्कथमतिठ्याप्तिः ? *—इति चेन्न,

(१) विप्रतिपत्तिः=विपरीतप्रतिपत्तिः । (२) निग्रहस्यद-
 नयो =प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तर-सद्वहनयोर्द्वयस्यै ।

टी० ॥ “विरुद्धे”ति । माध्यमात्मानानाधिकरस्यमा-
त्रस्य दोषत्वे नियमांशवैपर्यवदित्यर्थः तत्रासाधकतासाधने
विशेषणवैपर्यमत्र त्वप्रतिपत्तिविप्रतिपर्योक्तव्यने इति भावः ॥
नियमस्यसङ्गयोः सङ्गतिमाह । “प्रतिज्ञाहान्यादी”ति ॥
कृत्तिसंख्येन पूर्वानुक्तविशेषणाभिधानेतिठ्यासिधारणाय-
ह-। “परदूषितस्ये”ति । उदासीनेन तादृशविशेषणपुरजेति
ठ्यासिधारणाय-। “स्वीकृत्ये”ति । हेत्वन्तरव्यवच्छेदायाह-।
माध्यमात्स्ये”ति । प्रयोज्यभागे विशेषणपूरणात् प्रतिज्ञान्तरं
प्रयोजकभागे तत्पुरजे च हेत्वन्तरमिति विभागात् अत्रु-वि-
शेषणत्वादिनं प्रति कदाचिदुक्तमप्यनूद्यत इति तद्वारणाय-।
“पूर्वानुक्त”ति । गूढाभिमान्यर्थात्-। “पत्रे”ति । यत्रो-
क्तमेव विशेषणं पुनः आवयति तत्रातिठ्यासिरित्यर्थः ॥ आश-
यनविद्वान् शङ्कते-। “पूर्वे”ति ।

म० (१) प्रथमोक्तेः प्रागभावस्य (२) पूर्वं स्थितत्वात् विशेष-
ण्योक्तिरपि तदा नासीदिति चेत् कमायातं तावता
विशेषणानुक्तव्यतिप्रसङ्गस्य (३) “विशेष्योक्तिराले *
विशेषणानुक्तिर्विचिता ? *-इति चेन्न, ‘एककतु-
काया वाचो युगपदमम्भवेन सर्वत्र (४) तथाभाव-
स्यैव भावात् * विशेष्योक्तेरन्तरकाले ? * इति
चेन्न, ‘नीलोत्पलमित्यादौ पूर्वनिपातिविशेषणे तद-
भावात् * विशेष्योक्तेरव्यवहितपूर्वकाले ? *-इति
चेन्न, उत्पलं नीलमित्यादौ तदभावात् * अव्य-
वहिते ? *-इति चेन्न, ‘बहुविशेषणके तदभावात् ।

टी० ॥ आशयमुद्घाटयति-। “प्रथमोक्तिर”ति । अनू-
द्यमानमपि विशेषणं प्रथमाभिधानात् पूर्वानुक्तमेवानीतिव्यर्थः

(१) प्रथमोक्तेरिति-। प्रागनुद्यमानेत्यपि अर्थम् (२) पूर्वं
स्थितत्वं तु-इतिव्यर्थः विशेषणोक्तेः । प्र क् स्थितत्वादित्यर्थः । (३) विशेष-
णानुक्त्या कृतव्यतिप्रसङ्गस्येत्यर्थः । (४) विशेष्योक्तिराले विशेष-
णानुक्तेरेव अस्वादित्यर्थः ।

गुहाभिधायिः शङ्किनाह-। ^b“विशेष्ये”ति ॥ यथाश्रुतं दूष-
यति-। “किमायातनि”ति । अनूद्यमानस्य विशेषणस्य पूर्व-
मनुक्त्या यः प्रसङ्गः कृतस्तत्र किमायातनित्यर्थः शङ्किता
स्वाभिसन्धिनाह-। “विशेष्ये”ति । अनूदितविशेषणस्य तु
न तदानुक्तिरित्यर्थः कालस्यैकोपाध्यवच्छिन्नतामादायाह-।
“एके”ति । विशेष्याभिधानकाले विशेषणाभिधानं न क्वापि
वचसः क्रमभावितात् तथाच विशेष्योक्तिकालानुक्तमेव विशे-
षणं सर्वत्रोच्यते इति विशेषणमात्राभिधाने एव प्रतिज्ञान्तरं
स्यादित्यर्थः ॥ /नीलोत्पलनि”ति विशेष्योक्त्यनन्तरानुक्तवि-
शेषणोक्तौ तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः विशेष्योक्तव्यवहितपूर्वका-
लानुक्तविशेषणोक्तावतिव्याप्तिनाह-। “उत्पलनि”ति । ननु
पूर्वत्वमुत्तरत्वं वा न विवक्षितं येनोक्तातिव्याप्तिः स्यादपित्व-
व्यवहितत्वमात्रमित्याह-। “अव्यवहिते”इति । एकविशेष-
णाभिधानापेक्षया बहुविशेषणके व्यवधानस्यावश्यकतया उक्ता-
तिव्याप्तिरित्याह-। “बहि”ति ।

सू० * “विशेषणाभिधानोचितकाले ?-इति चेन्न, ^bनाना-
विशेषणके विशेष्ये क्रमवृत्तित्वाद्वाचः क्रमेणाभि-
धीयमाने य एकविशेषणाभिधानकालः सोऽपरेषा-
मपि विशेषणाभिधानानां योग्यो भवत्येवेति तदा-
न्येषां क्रमभाविनामभावात्सैवातिव्याप्तिः * ‘सर्व-
स्मिन् योग्ये काले ?-इति चेन्न, “दूषणानन्तरका-
लस्य योग्यकालत्वाभ्युपगमेऽव्याप्तिः ‘दूषणपूर्वका-
लस्य तथाभिमतत्वे च दूषणानन्तरभाविन्या-
विशेषणोक्तिव्यक्तेः/स्तदानीमभावात् ‘पूर्ववदति-
व्याप्तिः ॥

टी० ॥ व्यवहितोपि कालो बहुविशेषणके विशेषणाभि-
धानोचित एवेति नातिव्याप्तिरित्याह-। “विशेषणे”ति ।
सुराभ नीलोत्पलं विक्राशिमनोहरमालोत्पलपीयमानसकरन्द-

विन्दुसन्धो हमित्यादावन्योन्यविशेषणोक्तिकालानुक्तान्योन्यविशेषणोक्तौ पुनः सैवातिठयाप्सरित्याह—^b“नामाविशेषणके”ति । विशेषणाभिधानयोग्ययावत् कालानुक्तविशेषणोक्तौ प्रतिज्ञान्तरं नाम्यत्रति शङ्कते ।^c“सर्वस्मिन्नि”ति । एव तर्हि दूषणोत्तरकालेपि विशेषणोक्तौ प्रतिज्ञान्तरं न स्यादित्याह—^d“दूषणे”ति । ननु दूषणोत्तरकालो निघडापादकतया न विशेषणोक्तियोग्यं किन्तु पूर्वकाल एवेत्यत आह—^e“दूषणपूर्वकालस्ये”ति । उक्तस्यैव विशेषणस्याश्रवणाद्वादिना दूषणे कृते पुनस्तद्विशेषणोक्तिर्या वैव दूषणपूर्वकालीना ऽप्यकिं भवति तथाच तस्यां दूषणपूर्वकालीनविशेषणोक्ता^(१)वनिठयाप्सरित्यर्थः ॥^f“नदानामि”ति । दूषणपूर्वकाले इत्यर्थः ॥^g“पूर्ववदि”ति । परेण निविशेषणभ्रमाद्दूषितस्थलवदित्यर्थः ॥

सू० * “सर्वस्यास्तस्यास्तज्जातीयाया विश्लेषणोत्तेरभावो विवक्षित ? *—इति चेन्न,^b व्यक्तीनामभावप्रतियोगिभूतानां सर्वासां पथक प्रमाणेन केनाप्यस्माद्दृशा प्रत्येतुमशक्यतया भावानिरूपणेन लक्षणस्याज्ञानादसिद्धिप्रसङ्गात् ‘सामान्यप्रत्यासत्त्या व्यक्तयः प्रतिभान्तीति च निरस्तमनुमानखण्डनासवरे “एतेन पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विश्लेषणं प्रक्षेप्तव्यमिति निरस्तम् ‘उत्तरकालवाच्यविशेषणकविशेष्यस्य प्रथममविशिष्टोक्तत्वसम्भवस्य दर्शितत्वात्^fकिञ्च प्रथममविशिष्टमुक्त्वा भवता यदि विशेषणमिदं प्रक्षिप्यते तदा भवतो हेत्वन्तरं स्यात्तथापि तदभावे वा^hममापि कुतः प्रतिज्ञान्तरम् ॥

टी० ॥^a“सर्वस्या” इति । प्रकृते विश्लेषणपूर्वकालीना विश्लेषणोत्तरस्त्येवेति नातिठयाप्सरित्यर्थः सकलविश्लेषणोक्तोत्पत्त्यभावस्य दुर्ग्रहणतया तद्गर्भलक्षणस्यापि दुर्निरूपणत्वमि-

(१) दूषणं पूर्वकालीनं वक्ष्या विश्लेषणोक्तेः वा तथा तस्यामित्यर्थः ।

त्याह-। ^b“इयक्तीनामि”ति । ननु विशेषवाक्तिव्यक्तवस्ताद्-
 प्येण मानान्यलक्षणया भावन्ते एवेति कथं प्रत्येतुमशक्या इत्यन
 आह । “नामान्ये”ति । ननु पूर्वमविशिष्टं लोकां परेषु तु
 न अनमित्यन्यत् तथाच कथं तत्रानिठयाप्तिरित्यन आह-।
^d“एतेने”ति । सत्पल नीलमित्यत्र पूर्वमविशिष्टस्यैवानिधान-
 मिति तत्रानिठयाप्तिरित्याह-। “उत्तरे”ति । लक्षणे प्रयोजकभागे
 विशेषवादिदं क्रमेण प्रतिपत्तो लक्षणवादिना एव हेत्वन्तरं निग्र-
 हस्था नभित्याह । ^f“विष्णु”ति ॥ “नमापी”ति । यद्यपि सखह-
 नवादिने प्र- ज्ञान्तरं नोद्गावित्तमास्त येनायानुगोणः स्यात्तथापि
 तमेव^(१) प्रति सिद्धात्तना प्रतिज्ञान्तरं व्यवस्थप्यते इत्यदोषः ॥

सू० * “अथ प्रथममेवेदं विशेषणमुपादाय ब्रवीषि ?

*- तथाप्यठ्याप्तिः ^bप्रथमं सविशेषणमुक्त्वा विशे-
 षणवैयर्थ्यभ्रमेश भट्टितिसंवरणान्निविशेषणे ऽभिहिते
 परेण दूषिते पुनः सविशेषणमभिदधतो नैवं प्रति-
 ज्ञान्तरं स्यादित्यठ्याप्तिः () “स्वपरमाध्यपूर्वप
 दानां विवेचने त्यक्ती पतनादठ्याप्तिश्च प्रकरणा-
 दिलभ्यतया प्रागनुक्त विशेषणस्य भ्रान्तपरदूषितस्य
 प्रकरणलभ्यविशेषणवत्तयानुव्रदतोपि सद्वादेतिप्रसङ्गः
 अनुक्तस्थाने चाप्रतिपादितकरणेषुपि दोषः परस्मि-
 न्नजातप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वानुपपत्तेः इत्यादि
 स्वयसूहनीयं प्रतिज्ञान्तरादीत्यादिपदेन किमिष्ट

(१) तं शाब्दिकं प्रत्येव सिद्धात्तना=निग्रः स्थानं दृश्युप-
 गन्ता, प्रतिज्ञान्तरं व्यवस्थप्यमानं त्वरन्वेति अर्थः । यदि प्रकृते सिद्धा-
 त्ते शाब्दिक एवेत्याहृत्तदा प्रतिशिद्धात्तना-इति पदविभागः
 कर्तव्यः । (२) यत्र प्रथमं पार्थिवपरमाशुद्धपरवगन्धस्पर्शा अनित्या
 इत्यभिधाय पुनरनित्यस्पर्शपरविशेषणवैयर्थ्यमाशुद्धय तूष्णं विशेषणम-
 नेव प्रकृते पार्थिवपरमाशुद्धपरवगन्धस्पर्शा इति तत्रैव वादिना
 दूषिते यत्पुनरनित्यस्पर्शपरविशेषणोपादं तत्प्रतिज्ञान्तरमिति तत्रा-
 तिज्ञान्तिवत्प्रथममविशिष्टोक्तस्येति विशेषवाभावादिभि भावः ।

* प्रतिज्ञाविरोधादि ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ ननु पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणमहितमेव
 मया लक्ष्यं प्रणीतमिति कुतो नन हेत्वन्तरमित्योक्तस्य व्या-
 प्तिसाह-। "अथे"ति । अथवाप्तमेव स्फुटयति । ^६"प्रथममि"
 ति । ^८"नैवमि"ति पूर्वमविशिष्टोक्तत्वस्य विशेषणस्याभा-
 वादित्यर्थः स्तोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशे-
 षणवतोभिधानमिति नक्षणे स्वपदं परपदं साध्यपदं पूर्वपदं
 च त्रिविध्यमात्रं त्रयस्त्रिविधं भवेति ननु ननु गो दोष
 इत्याह-। ^{१०}"स्वपरे"ति । अर्थात्क शब्दमधिकृत्य विपत्ति-
 पत्तौ शब्देऽनित्य इति प्रतिज्ञाया चवन्त्यात्मके सिद्धपाद्यनदे-
 शनाया चणोत्तमक इव पक्षीकृत इत्यत्रातिठ्याप्तिसिद्ध्याह-।
^{११}"प्रकाशादी"ति । सद्भावे समुचितत्वने-। ^{१२}"अनुक्ते"ति ।
 प्रकृते प्रकरणपरिग्रहानुया विज्ञापनं प्रतिपादित^(१)मेवेति नाति-
 ठ्याप्तिसिद्धयर्थः ॥ यत्र पर प्रकरणापत्तत्वं न प्रतिपद्यते तत्र
 प्रतिपादितत्वं नास्तीत्यतिठ्याप्तिसिद्ध्याह- ^{१३}"वाप्तिसिद्धि"
 ति । उक्तस्यापि विशेषणस्य यत्र परेण न श्रवणं तत्राप्यति-
 ठ्याप्तिसिद्धयर्थः अथ प्रतिपादनयोग्यता श्रवणाना तत्राह-
^{१४}"इत्यादी"ति । योग्यताविहास्य नेकः यितुमशक्यत्वादिनि
 भावः परोक्तदूषणाद्वाराय पूर्वानुक्तविशेषणवतः पूर्वोक्तस्य साध्य-
 नीयांशस्य प्रतिपादनं प्रतिज्ञान्तर इव-^(२)। साध्य-पूर्वं पदाना
 प्रकरणमभिधेयाहारादिना तत्तद्विशेषणानामर्थप्रतिपादकत्व-
 स्य सर्वसिद्धतया स्वहृत्तनिदमनशकाशमेव यद्यपि तथापि
 यथाकथांश्च^(३)स्वहृत्तनमन्यथा प्रकृतलक्षणत्वात् स्वहृत्तनिकस्यै
 वार्थविशेषप्रतिपत्तिने स्या^(४)।दि ।

मू० यत् "एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मथो व्याघातः साध्य-
 विपरीतव्यापत्तत्त्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञावि-

(१) प्रतिपादितम्=ज्ञापितम् । (२) स्वपरवाच्यत्ववादानः प्रागु यद्यथा-
 त्पनुषय सन्वयवनायम् । (३) यथा कथांश्च=सर्वविद्वात्तमपि तेषां
 निर्वक्तृमद्यत्वात्प्रतिप्रतिवेद्यर्थः । (४) न स्यत्-इत्यतोऽपि तथा च
 स्वहृत्तनार्थविशेषकानामाभावात्स्वहृत्तनमपि तत्र न स्यात्-इति शेषः ।

रोधः तदेतदलक्षणं तथाहि इह ^६भूतले घटो नास्ती-
त्यादावपि गतत्वेनातव्यापकमिदं 'वचनयोर्हि
ठ्याघातोऽन्योन्यविरुद्धार्थत्वं तच्चेहास्ति घटोस्ती-
त्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वान्नकारस्य च तन्निषेधक-
त्वात् * "नन्वयुक्तमिदमुच्यते नहि घटो नास्ती-
त्यत्र घटो विधीयते घटस्य निषेधोऽपि येन मियः
ठ्याघातः स्यात् किन्तु घटो निर्दिध्यते घटनिषेध
एव विधीयत इति यावत्तत्कुतो ठ्याहतिरिति
चेत् ? *—मैवम् ।

टी० ॥ "एके"ति । एकवक्तृकं यदेकं वाक्यं तदंशयोरि-
त्यर्थं समस्यापूरणादौ निम्नवक्तृकमप्येकं वाक्यं भवतीत्यस्य
उक्तमेकवक्तृकमिति कथारूपैकवाक्ये वादिप्रतिवादिवाक्येति-
ठ्याप्रतिवारणायोक्तमेकवक्तृकेति कथाबहिर्भूततद्वाक्येतिव्याप्ति-
वाङ्मयायोक्तमेकेति विरुद्धहेत्वाभासठपक्षच्छेदाय साध्येत्यादि
साध्याभासठ्याप्यत्रोद्भावनापेक्षमेव विरुद्धोद्भावनामिदं तु
न तथेत्यर्थः । "भूतले"इति । घट इति घट विधाय नास्तीति
तन्निषेधस्य तद्विरुद्धार्थत्वादन्यथाप्रतिष्ठित्यर्थं विरोधमेव स्फुट-
यति- । "वचनयोः"नि । घटतद्भाषयोरुभयोर्विधौ विरोधः
स्यादहं तु न तथा निषेधनात्रस्यैव विषेयत्वादिति शङ्कते- ।
"नन्वि"ति ॥

म० "घट इत्यस्य तावदंशस्य घटविधिबोधकत्वं नास्ती-
त्यस्यापि तत्प्रतिषेधार्थत्वं भवतापि मन्तव्यं ^६यदि
त्वेवं नाध्युपैषि तदा तयोरविरोधार्थतया घटश्चा-
पेक्षितनिषेधास्तित्वं च भूतलाश्रितं द्वयमस्य वाक्य-
स्य बोधनीयं स्यादिति तस्माद्विधिरूप एव घट
इति तत्प्रतिज्ञेय एव नेति "किमेतावेकवक्तृकवा-
क्यांशौ न भवतः परस्परविरुद्धार्थाभिधायकौ वा
न भवतः येन लक्षणमिदं भवतस्तत्र न गच्छेत् न

मिथो विरोधमात्रं मिथो व्याघातकत्वं किञ्चिदेक-
देशकालादौ परस्परविरुद्धवोरस्तित्त्वं * नच नास्ती-
त्यनेनैकदेशकालादौ विधिनिषेधौ वर्तमानौ वा-
ध्येते ? *—इति चेन्न, ^f उक्तोत्तरत्वात् ^g देशका-
लाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः किञ्च यद्येक-
देशादौ विरुद्धास्तित्त्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि ।

टी० ॥ नजयस्य घटेन सस्वस्व एव हि विरोधस्तथा-
प्रसिद्धेयतामन्तरेण विरोध एव न भासेतेत्याह-। “घट
इत्यस्ये”ति । विरोधभासानङ्गीकारे विपक्षे द्रष्टव्याह । “यदी”-
ति । अविरोधे हि घटनदभावी द्वावपि भूतले विहितौ स्याता-
मित्यर्थः तस्माद्विधिनिषेधयोश्चकघटपदमङ्गुपदयोर्विरोध एवे-
त्युपसहरति । “तस्मादि”ति । विशिष्टस्य लक्षणस्य प्रकृते चम्भवं
दर्शयति । “किमेतावि”ति । ननु घट इति विधिमात्रं (१) निषे-
धस्तस्य भूतले इति कथमिह विरोधो विधिनिषेधयोरेकदेशोऽवि-
धानादिति शङ्कते-। “न मिथ”इति-। “उक्तोत्तरत्वादि”ति ।
उक्तस्यैवाप्तोत्तरत्वादित्यर्थः तदेवाह-। ^g “देशं”ति । विरोध-
स्फुरणं तावदधिवादं तच्च देशकालाभेदनिबन्धनमित्यर्थः ॥

मू० “तदा विरुद्धशब्दस्तवायमन्य एव सामयिकार्थः
कश्चित्प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वा-
भ्युपगमशान्तेः * अथ प्रामाणिकं तत्राभ्युपैषि *
तदाऽप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क्व नाम
नास्तीत्यतिव्याप्तिः * अथमन्यसे पथा परेणाभि-
धीयेते अर्था तथा मिथो व्याघातकत्विति ब्रूमः
तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति ? *—न ^h कथमपि तत्र
प्रमाणप्रवृत्तौ विरोधभाषापरिभाषामात्रत्वापत्तेः

(१) विधिमात्रम्-वामान्वता कच क्वाचि विधानं, ननु निषेध-
त्वेव भूतले विधानम् ।

‘यथा परेषोक्तोर्थस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथो व्याघातकत्वमप्रमाय न वक्तुं शक्यं ।

टी० ॥ किञ्च त्वयोच्यते प्रकृते घटतदभावयोरेकदेशत्वं नास्तीति न विरोधस्तत्र तदुभयैकदेशवृत्तित्वं प्रमितं न वा भाद्ये तयोः सामानाधिकरण्यात् प्रमाणप्रवृत्तौ रूपरसवद्विरोध एवेत्याह । “तदे”ति ॥ द्वितीये त्वाह । ^b“सामानाधिकरणि”ति ॥ ननु माता बभूवेत्यादौ मातृत्वबन्ध्यात्वयोः सामानाधिकरण्य-निमित्तमप्यनानं विरुद्धमित्युच्यते ननु तदुभयसामानाधिकरण्य-मेतावना प्रतीयते इति शङ्कते । “अथे”ति । तदुभयसामाना-धिकरण्यं वाक्यविषयत्वेनापि यदि प्रमितं तदा प्रमितत्वात् विरोध इत्याह । “कथमपी”ति । वाक्यावच्छेदकत्वेनापीत्यर्थः एतदेवाह । “यथे”ति । यद्वा प्रकारान्तरेणापि प्रमितत्वमाह । “यथे”ति । यथा परेषोक्त इति हि सामानाधिकरण्यात् परे-णोक्तस्तथाच मिथो व्याघातकत्वमनयोऽनित्यनिधानं मिथो व्याघातकत्वमिति न स्यादित्यर्थः ।

म० * “प्रसज्यते मिथो व्याघातो न प्रसाध्यते ?”-इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसज्यितुमपि भवताऽश-क्यत्वात् * ‘मा प्रमायि अप्रमयैव तद्ब्यवहार’ * इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क्व नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्तते * ‘अनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसज्जनम् ?’ * -इति चेन्न, ‘प्रसज्जकस्य तद्द्वयस्यैकत्र स्थितिनियतताप्रमिता-वविरोधस्यानेव भावे चानापादकत्वस्यापत्तेः ॥

टी० ॥ ननु प्रसङ्गमात्रं व्याघातस्य क्रियते स च पराभ्यु-पगममात्रप्रयुक्त एव ननु तत्प्रमाप्रयुक्तः परस्याभ्युपगमोपि न प्रमिते एव त्वषये तदमानेपि तद्दर्शनादन्यथा आपाद्यबाधः (१)

(१) बह्वन्वभावादिनाऽऽपादकेनाऽऽपाद्यस्य भूमाभावादेः पर्वतादौ बाधो न स्यादित्यर्थः ।

क्वापि न स्यात्तथाच गतं तर्कमात्रेणेति शङ्कते- । “प्रसज्यते” इति । प्रसज्यमानस्य^(१) तत्र परं बाधस्तर्कगुणो ननु शार्वात्रिकः तथाच क्वचिदपि प्रसज्यनीयस्य प्रमितत्वं बाधवमभ्यथा प्रसज्यकप्रसज्यनीययोर्थाप्यग्रहे मूलशैथिल्यमेव तर्कस्य स्यादित्याह- ।
०. “क्वचिदपी”ति । पराम्युपगमनात्रादेव प्रसज्यः प्रवर्तते ज्ञानमात्रतन्त्रो हि व्यवहारो ननु प्रमात्रात्रतन्त्रः कथमभ्यथा शुक्तिरजततादात्म्यं विधेयत्वेन अस्मि निबिध्यत्वेन तद्वाचे ष्यवद्विधेतेत्याह- । “सा प्रमायो”ति । नैयायिकमते प्रमितमेव ष्यवद्विधयते मतान्तरमादाय चेदुच्यते तदाभासज्ञानं सर्वत्र सुलभमित्यप्रामाणिकं निधो ष्यापातकत्वं क्व नाम नास्तीति यदुक्तं तदेवावर्तत इत्यर्थः ननु ष्याहन्यमानयोरर्थयोः स्वस्वस्थाने प्रमितयोरेकत्र प्रसज्यनं क्रियते ननु प्रसज्यने तदुभयसामानाधिकरथ्यप्रमा तन्त्रमित्याह- । “अनेकत्र”ति । विरुद्धयोरेकैकसात्रप्रसज्यनं नानिष्टं मिलितोभयप्रसज्यनं च तद्द्वयाप्यधर्मग्रहाधीन तथाच नादृशठ्याप्यप्रमाया ष्यापकप्रमाप्रौढ्ये क्व विरोधस्तदप्रमितौ च नापादनमपीत्याह- । “प्रसज्यकस्ये”ति ।

मू० * “एकैकमठ्याप्याभ्यां पृथक् पृथक् तथापादनम् ? * - इति चेन्न, ^१एकैकमठ्याघातात् * अर्थाद्द्वयं स्यादिति चेत् ? * - ^२अर्थापिपर्यर्थत्वेनैवा^(३)ठ्याघातात् “अर्थादापादनं न साधनम् ? * - इति चेन्न, ^४मिथोविरोधित्वेन तर्काभासत्वापत्तेः “इष्टापादनाच्च ^५मिथोठ्याघातात् कथं तथा स्यादिति ? * - तन्न, ^६तद्द्वयधर्मकत्वाद्ठ्याघातापत्तेः धर्मिणिप्रमापेक्षायामठ्याघातात् ॥

टी० ॥ तदुभयं विरोधिद्वयं मिलितं नापाद्यं किन्तु

(१) प्रसज्यमानस्य = बहुभ्यभावादेः, तत्र = पर्वतादी, परं = केषलं, बाधस्तर्कगुणो, ननु शार्वात्रिकः = हृदादावपि बाधस्तर्कगुण इत्यर्थः ।

(२) अर्थापिस्मि प्रमाकसिद्धत्वे नैवेत्यर्थः ।

प्रत्येकमित्याह-। “एकैके”ति । तथाच व्याघातो नापादितः
 द्यादित्याह-। “ने”ति । एकैकापादनमेव निष्ठितापादनठ्या-
 घातापत्तिपर्यवसकमित्याह-। “अर्थादि”ति । एकैकापादने
 अर्थाच्चेद्वयाघातः सिद्धयेतदार्योपत्तिप्रमाणसिद्धतया विरो-
 धिनोः सामानाधिकरण्यास्य व्याघातरूपत्वाऽसम्भव इत्याह-।
 “अर्थापत्ती”ति । इयमर्थापत्तिर्न विरोधिद्वयसामानाधिकर-
 ण्यसाधिका किन्तु तदापीदिका तथाच न विरोधः प्रामाणिक
 इत्याह-। “अर्थादि”ति । अपाद्यतापि प्रमितस्यैवेति दोषे
 सत्येवाह-। “ने”ति । एकत्र सिधौ विरुद्धोपाप्यद्वयाभावाद्दु-
 मयापादनसम्भवि कथञ्चित्पराभ्युपगमसाधयत्नेनाप्यापादनं
 न सम्भवति तर्कोभासत्वात्तस्यापादनस्येत्यर्थः एकैकापादनं
 च नानिष्टमनोप्यसौ तर्कोभास इत्याह-। “इदं”ति । एकैका-
 पादनं विरुद्धोपापादनपर्यवसकमतः कथमिष्टापादनमित्याह-।
 “निय”इति । तर्था क थर्मि विरुद्धधर्मद्वयाभिज्ञतं द्यादित्यापा-
 दनं पर्यवसकं तच्च विरुद्धधर्मद्वयाभिज्ञतत्त्वप्रमितावेव स्यादिति
 त्वदभिसतठ्याघातस्याठ्याघातत्वमित्याह । “इदं”ति ॥

मू० * “एवमादीनां तु दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तवापि
 सर्वमिदं सुवचम् ? * इति चेन्न, तत्राप्यन्यत्र दोषो
 मयापाद्यते इति प्रतिवन्दिं गृह्यतः किं परपक्षे
 दोषादानमात्रं विवक्षितमुत यस्तत्र त्वया सामा-
 धिरभिधेयः स मयापीत्यभिप्रायात्स्वपक्षे समाधिः न
 तावदाद्यः ^dअप्रस्तुतत्वात् ‘परोक्तदोषानुद्धारे ताव-
 तैव कथाया^(१)स्तदर्थस्य वा पर्यवसानात् ।

टी० ॥ अनु विरोधव्याघातादिपदं यदि सार्थकं तदा
 तत्सर्वहनं तत्रानवकाशं निरर्थकं चेत्तदा त्वयैव सार्थकपदकदम्ब-
 यमिष्टयादारेण तदुक्तचारणमनुपपन्नं किञ्च प्रतीतो ठ्याघातः
 स्वल्पते अप्रमत्तो वा आद्योपि प्रमितोऽन्यथा वा प्रथमे सर्वहन-

(१) कथायाः-विनयवाक्यायाः, तदर्थ-अपवादात्मकवाक्यात् इत्यर्थः ।

ठयाघातः द्वितीये आन्तेरस्मान्निपूर्वकतया स्ववहनठयाघात एव
 तृतीयेपि स्ववहनठयाघातः न च्छाप्रतीयमानमेव दोषवत्तया ज्ञाप्यते
 अशक्यत्वादिति इहत्तरैयं प्रतिबन्धिरिति शङ्कते । “एवमि”-
 ति । इदानीं प्रतिबन्धिस्ववहनमुपक्रमते-। ^b“तत्रापी”ति ।
 प्रतिबन्धिकलं पृच्छति-। ^c“किंनि”ति । परपक्षे दोषाभिधान-
 मात्रं प्रतिबन्धिकलं तुल्यन्यायतया परोक्तदोषोद्गारे वेत्यर्थः ॥
^d“अप्रस्तुत्वादि”ति । परोक्त दोषमनुद्गत्य परस्मै दोषाभि-
 धानस्याप्राप्तकालत्वात् आकाङ्क्षितकालविपर्ययसकृत्पत्वादित्यर्थः
 अप्रस्तुतत्वमर्थान्तरत्वं तु प्रकृते न सक्रमवति प्रकृतदूषणाङ्ग-
 स्वैवाभिधानात् अन्यथावयवविपर्ययमवचननप्यर्थान्तरमेव स्यात्
 “परोक्ते”ति । परोक्तदोषानुद्गारे हि तेनेव निग्रहेण नियु-
 हीतो वादी कलान्तरप्रक्रमं नासादयत्येव तथाच वि-स्थया
 स्तावतैव पर्यवसानं जरूपस्य चादस्य चाहुं परपक्षदूषणं पर्य-
 वसानं स्वपक्षस्थापनरूपमहुं नवशिष्यते नच च वैतावदुक्ता इति
 जितमस्माभिस्तत्र प्रतिबन्धिग्रहणमात्रेणेत्यर्थः कथापदमिह-
 वितसहामात्रपरं

सू० निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः द्वितीये तु ^bच स्वा-
 भिधीयतां ^cका नोहानिः * ^dभवास्तावदभिधत्तां
 कस्तत्र समाधिः ततो मयाप्यभिधेयम् ? *-इति
 चेन्न, “मया तदभिधानस्य सास्त्रतमप्रस्तुतत्वात् नहि
 मया स्वपक्षसाधनं त्वया च दूषणं प्रकृते वक्तुमा-
 रब्धमस्ति किन्तु त्वया स्वपक्षो निर्वाह्यस्तदूषणं
 च मयाभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्तते ईदृशि
 च कथाविभागे मत्पक्षे समाधानाय मां पर्यनु-
 योक्तुं कुतोधिकारो भवतः * ^eअथ विशेषतस्त-
^fन्निष्टकृणे किं प्रयोजनमस्ति तावदेतादूषिचोदो
 परिहारो यतस्त्वयापि स्वपक्षे सौ स्वीकार्य इत्या-
 शयस्ते ? *-सोपि न युक्तः ।

टी० ॥ “निग्रहे”ति । नयोः कथातद्वर्तुयोर्निग्रहापरि-
 हारमात्रावधित्वादित्यर्थः ॥ “स एवे”ति । स्वपक्षसमाधिरे-
 वेत्यर्थः “का मोहानिरि”नि । प्रकृतदोषे त्वया समाहितेपि
 स्वसङ्गान्तरस्य मणोवनारणीयत्वात् समाधिरेव वा पुनराप्राप्ती-
 कश्चिन्मात्रत्वादित्यर्थः प्राथमिक(२)मसाध्यभिधानायासला-
 यवमेवापाततः प्रतिबन्धिकलमिति शङ्कते । ^d“भवानि”ति ।
 भवेदेवं यदि मम तदभिधानाधिकारः स्यात्तत्रैवमित्याह-
 “नये”ति । ननु तुल्य एवायं दोष इति प्रतिबन्दिहस्यं तथाच
 त्वया कथं न समाधेयमित्यत आह- । ^f“नही”ति । आकाङ्क्षा-
 क्रमेणैव कथायां साधनदूषणयोरभिधानमुचितं तथाच मम
 तद्वेषमसाधानं न स्थेयानुविधेयाकाङ्क्षितमित्यर्थः ननु प्रतिब-
 न्दिदानेन त्वयि मसाधानमात्रं विन्यस्य मया स्वदोषः समा-
 हितमात्र एव स्वपक्षपक्षपातेनापि तद्वेषसमाहितसायास्तवाव-
 द्यकत्वादित्याह- । ^g“अथे”ति ॥ ^h“तस्मिन्कृणे” इति । अस्या
 कथायामयं दोषस्तत्रैव समाधेयो न समाधीति निष्कृणे इत्यर्थः ॥

मू० “नहि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेपि
 तेन भवितव्यमित्यत्र प्रमाणमस्ति * “साम्यादे-
 वम् ? *—इति चेन्न, वैषम्यस्याभ्युपगमात् “यदि
 तद्गतमसाधारणं रूपमादाय मद्दर्शनं प्रतितन्त्रसि-
 द्धान्तं वा तत्रसमाधिः स्यादत्र च त्वत्पक्षे पदभा-
 वान्न स्यात्तथा सति साम्यमात्रात्कथं समाधिरसा-
 वत्रापीति निश्चेतुं शक्यते * “कोसौ तत्र विशेष ? *—
 इति चेन्न, मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्वा-
 दित्युक्तत्वात् * ⁱ“चोद्यसाम्यात्समाधिसाम्यम् ? *—
 इति चेन्न, दृष्यगतविशेषभावाभावविशेषितत्वा-
 दिनापि तद्वैषम्यसम्भवात् ॥

(१) प्राथमिकस्य त्वदुक्तस्य समाधेयसाधने कृते साया-
 वत्राप्यवधित्यर्थः ।

टी० ॥ यद्यथायोः प्रकृतदोषे समाधिर्नाम्यं स्यात्तदा स्या-
दप्येवं न त्वेवमित्याह-। “नही”ति । दोषसाम्यमेव समा-
धिर्नाम्यनाक्षिपतीत्याशङ्कते-। ^b“साम्यादि”ति । वैषम्यस्या-
वश्यकत्वेन बाधादाक्षेप एवायं न सम्भवतीत्याह-। “वैष-
म्यस्ये”ति । तदेषोपपादयति-। “यदो”ति । यथा पक्षेतरौ
उपाधौ स्वव्याघातकत्वेन दूष्ये बाधस्थले प्रतिबन्दिग्रहे तत्रा-
साधारणम्बाधोक्तीतं रूपमादाय (१) यथा वा ज्ञानायाथाप्यव-
क्षेनाश्वासप्रसङ्गे मीमांसकेन दोषे दत्ते तावत्प्रनाशवासप्रसङ्ग-
स्तुल्य इति प्रतिबन्दिग्रहे प्रनाशस्य स्वतन्त्रत्वं प्रतितन्त्रनिर्द्वा-
न्तमादाय समाधिर्विषमः एव सर्वत्रोक्तेपनित्यर्थः ननु तथापि
समाधिवैषम्यप्रयोजकविशेषोपदर्शनव्यग्रता नहती नवैवेत्याह-।
“कोसावि”ति । पूर्वं समाधिगतौ विशेष उक्तः सम्प्रति दूष्य-
गतं विशेषमभिधातुं शङ्कितमपि शङ्कते-। ^b“चोद्यसाम्यादि”
ति । चोद्यमेव न समान येन समाधिर्नाम्यनाक्षिप्येतेत्यर्थः ॥

मू० “यथा सदृशव्यवहारस्य सत्तास्वीकारकत्वे तुल्येपिस-
त्तायां सत्ताभ्युपगमेनवस्थया तदाश्रये च तदभा-
वेन ^bएवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति ^०किञ्च परो-
द्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्ध्या प्रत्य-
बतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः किं यदिदं दोषतया परे-
णोद्भावितं तददूषणमदूष्येपि गतत्वात् उत दूष-
णमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्वात् यथाहुः
“तत्रोभयोरित्यादि ।

टी० ॥ दूष्यगतं विशेषं दूष्टान्तेनोपपादयति-। “यथे”ति ।
सत्ताभाषनायोपन्यस्तः सदृशव्यवहारः सत्तायामनेकान्तिकत्वेन
दूष्यस्तत्रानवस्थाप्रसङ्गकत्वरहितत्वं विशेषस्तादृशः सदृशव-
हारः सत्ताश्रये घटादौ ननु सत्तायामपीत्यर्थः ॥ ^b“एवमि”ति ।
इहेतिबुद्धिः समवायस्यैव सत्तायामेव समवायान्तराभावात्

(१) असाधारणं बाधोक्तीतं रूपमादाय समाधिर्विषमः-इत्यन्वयः ।

अनेकालिनी तत्राप्यनापादकत्वं (१) दूष्यगता विशेषः यथा घटाभावविशिष्टबुद्धिभूतलेऽतिरिक्ताभावसाधिकाप्यभावेऽभावात्तत्राद्यने कुसुदा तत्राप्यभवस्यानापादकत्वमेव विशेष इत्याद्युक्तं प्रतिबन्धिग्रहणस्याभिप्रयविशेषनिदानी विकल्प्य दूषयति-। "विज्ञे"ति। परपक्षे दोषाभिधान वा समाधिसाम्यवेति पूर्वविकल्पितनिदानीमदूष्ये त्वत्पक्षे गतत्वात् दूषणमेवैतन्न भवति भवदिति वा नोद्भावनीयमिति विकल्प्यते इत्यपीनकस्य ॥ "यज्ञे"ति। "यज्ञो जयोः समो दोषः परिहारीपि तत्समः नैकः पर्यनुयोजयः स्वात्तादृश्यर्थविचारणे" इति महवर्तिरम् ।

सू० नाद्यः "यद्यत्रासिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोषत्वस्याशक्यपरिहारत्वात् परिहारे वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात् यद्येतद्दूषणं कथं तर्ह्यदूष्यत्वेन वादिनाङ्गीकृते प्रतिवन्दिस्थाने गतमिति चेत् यद्येतद्दूषणं "कथं" दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः 'नियामकाभावे तर्ह्येतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्यवसित इति चेदस्तु दोषसन्देहेपि भवदीयसाधनस्यासाधकत्वं सन्दिग्धासिद्धवत् किञ्च यल्लक्षणवतोस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यन्नापीति तत्राप्यसिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादित्येव प्रतिवन्दीदुरुत्तरा प्रतिवन्दिवादिनोपि नापि द्वितीयः ।

टी० ॥ "यदी"ति दूषणलक्षणयोगित्वे दूषणत्वप्रौढयादि तदर्थं तल्लक्षणाक्रान्तमध्येतद्दूषण चेत्तदा लक्षणमतिठयापकमलक्ष्यपि ग-त्वात् इत्याह-।^b"परिहारे"इति । अदूष्यत्वाभिनतगामित्वादिदं तावद्दूषणमेव लक्षणं चेदतिठयापकं तदा तदुपपादक लक्षणान्तरमेव लक्ष्यमिति शङ्कते-। "यदी"ति ॥

(१) अनापादकत्वम्, अतवस्यानापादकत्वमित्यर्थः ।

मिथो विरोधमात्रं मिथो व्याघातकत्वं किञ्चित्के-
देशकालादी परस्परविरुद्धवैरस्तित्वं * नच नास्ती-
त्यनेनैकदेशकालादी विधिनियेधौ वर्तमानौ वा-
ध्येते ? *—इति चेन्न, ^f उक्तोत्तरत्वात् ^g देशका-
लाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः किञ्च यद्येक-
देशादौ विरुद्धास्तित्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि ।

टी० ॥ नजयस्य घटेन सम्बन्ध एव हि विरोधस्तथै-
वप्रविशेयतामन्तरेण विरोध एव न भावेतेत्याह-। “घट
इत्यस्ये”ति । विरोधभानानङ्गीकारे विपक्षे दण्डमाह । “घटी”-
ति । अविरोधे हि घटनदभावी द्वावपि भूतले विहितौ स्याता-
मित्यर्थः तस्माद्विधिनियेधौ चकघटपदमजपदयोर्विरोध एवे-
त्युपमहरति । “तस्मादि”ति । विशिष्टस्य लक्षणस्य प्रकृते सम्बन्धं
दर्शयति । “किनेनावि”ति । ननु घट इति विधिनान्नं (१) निचे-
धस्तस्य भूतले इति कथमिह विरोधो विधिनियेधयोरेकदेशोऽवि-
धानादिति शङ्कते-। “न मिथ”इति- ^h “उक्तोत्तरत्वादि”ति ।
उक्तस्यैवाप्रोत्तरत्वादित्यर्थः तदेवाह-। ^g “देश”ति । विरोध-
स्फूर्णं नावद्विवादं तच्च देशकालाभेदनिबन्धनमित्यर्थः ॥

मू० “तदा विरुद्धशब्दस्तवायमन्य एव सामयिकार्थः
कश्चित्प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वा-
भ्युपगमशान्तेः * अथ प्रामाणिकं तत्राभ्युपैषि *
तदाऽ^hप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क्व नाम
नास्तीत्यतिव्याप्तिः * अथमन्यसे पथा परेषामि-
धीयेते अर्थो तथा मिथो व्याघातकाविति ब्रूमः
तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति ? *—न ^d कथमपि तत्र
प्रमाणप्रवृत्तौ विरोधभाषापरिभाषामात्रत्वापत्तेः

(१) विधिनान्य-वामाश्रितो यत्र क्वापि विधानं, ननु निवेधव-
त्येव भूतले विधानम् ।

‘यथा परेणोक्तोर्यस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथो व्याघातकत्वमप्रमाय न वक्तुं शक्यं ।

टी० ॥ किञ्च त्वयोच्यते प्रकृते घटतद्भाष्योरेकदेशत्वं नास्तीति न विरोधस्तत्र तदुभयैकदेशवृत्तित्वं प्रमितं न वा जायेतयोः सामानाधिकरण्यात् प्रमाणप्रवृत्तौ रूपरसवद्विरोध एवेत्याह -। “नदे”ति ॥ द्वितीये त्वाह । ^b“अप्रामाणिकमि”ति ॥ ननु साता षष्ठ्येत्यादौ सातृत्ववन्ध्यात्वयोः सामानाधिकरण्यात् नभिधीयमानं विकट्टमित्युच्यते नतु तदुभयसामानाधिकरण्यात्मेतावता प्रमीयते इति शङ्कते -। “अथे”ति । तदुभयसामानाधिकरण्यात् वाक्यविषयत्वेनापि यदि प्रमितं तदा प्रमितत्वात् विरोध इत्याह । “कथमपी”ति । वाक्यावच्छेदकत्वेनापीत्यर्थः एतदेवाह -। “यथे”ति । यद्वा प्रकारान्तरेणापि प्रमितत्वमाह -। “यथे”ति । यथा परेणोक्त इति द्वि सामानाधिकरण्यात् परेणोक्तस्तथाच मिथो व्याघातकत्वमनयोऽपि मिथो व्याघातकत्वाप्रमिती न स्यादित्यर्थः ।

म० * “प्रसज्यते मिथो व्याघातो न प्रमाध्यते” * इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसञ्जयितुमपि भवताऽशक्यत्वात् * सा प्रमायि अप्रमथैव तद्दृश्यवहारः * इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क्व नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्तते * “शनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसज्जनम् ? *—इति चेन्न, ‘प्रसञ्जकस्य तद्दृश्यस्यैकत्र स्थितिनियतताप्रमितावविरोधस्यानेवभावे चानापादकत्वस्यापत्तेः ॥

टी० ॥ ननु प्रसङ्गमात्रं व्याघातस्य क्रियते स च पराभ्युपगममात्रप्रयुक्त एव नतु तत्प्रसाप्रयुक्तः परस्याभ्युपगमोपि न प्रमिते एव । अप्ये तदभावेपि तद्दर्शनादन्यथा आपाद्यभाष्ये (१)

(१) बह्वन्वभावादिनाऽऽपादकेनाऽऽपाद्यस्य धूमाभावादेः पर्वतादौ बाधो न स्यादित्यर्थः ।

क्वापि न स्यात्तथाच गतं तर्कमात्रेणेति शङ्कते- । “प्रसज्यते” इति । प्रसज्यमानस्य(१)तत्र परं बाधस्तर्कगुणो नतु सार्वत्रिकः तथाच क्वचिदपि प्रसज्यनीयस्य प्रमितत्वं वाच्यमन्यथा प्रसज्यकप्रसज्यनीययोर्धर्मात्प्रत्यग्रहे मूलश्रीपितृयमेव तर्कस्य स्यादित्याह- । “क्वचिदपी”ति । पराभ्युपगममात्रादेव प्रसङ्गः प्रवर्तते ज्ञानमात्रतन्त्रो हि व्यग्रहारी नतु प्रमानात्रतन्त्रः कथमन्यथा शुक्तिरजतनादात्स्यं विधेयत्वेन अग्ने निषेचयत्वेन तद्वाचे ष्यवद्विधेतेत्याह- । “ना प्रमायी”ति । नैयायिकमते प्रमितमेव ष्यवद्विधयते मत्तान्तरमादाय चेदुच्यते तदाज्ञासञ्ज्ञानं सर्वत्र सुलभमित्यप्रामाणिकं निषीठ्याघातकत्वं क्व नापि नास्तीति यदुक्तं तदेवावर्तन इत्यर्थः नतु ष्याहस्यमानयोर्धर्मयोः स्वस्वस्थाने प्रमितयोरेकत्र प्रसङ्गनं क्रियते नतु प्रसङ्गने तदुभयसामानाधिकरस्यप्रमा तन्त्रमित्याह- । “अनेकत्रे”ति । विरुद्धयोरेकैकमात्रप्रसङ्गनं भागिष्ठं मिलितोभयप्रसङ्गनं च तद्वाच्यधर्मग्रहाधीनं तथाच तादृशठ्याप्यप्रमाया ष्यापकप्रमाश्रीठ्ये क्व विरोधस्तदप्रमितौ च भाषादनमपीत्याह- । “प्रसङ्गकस्ये”ति ।

म० * “एकैकमठ्याप्याभ्यां पृथक् पृथक् तथापादनम् ? * - इति चेन्न, “एकैकमठ्याघातात् * अर्थाद्द्वयं स्यादिति चेत् ? * - “अर्थापत्त्यर्थत्वेनैवा(२)ठ्याघातात् “अर्थादापादनं न साधनम् ? * - इति चेन्न, “मिथोविरोधित्वेन तर्काभासत्वापत्तेः “दृष्टापादनाच्च “* - मिथो ष्याघातात् कथं तथा स्यादिति ? * - तन्न, “तद्द्वयधर्मकत्वाद्ठ्याघातापत्तेः धर्मिणिप्रमायेक्षायासठ्याघातात् ॥

टी० ॥ तदुभयं विरोधिद्वयं मिलितं भाषाद्यं किन्तु

(१) प्रसज्यमानस्य=तद्व्यग्रहाभावादेः, तत्र=पर्वतादौ, परं = केषलं, बाधस्तर्कगुणो, नतु सार्वत्रिकः = इदादावपि बाधस्तर्कगुण इत्यर्थः ।

(२) अर्थापत्ति प्रमासिद्धत्वेनैवेत्यर्थः ।

प्रत्येकनिर्याह-। "एकैके"ति । तथाच व्याघातो नापादितः
 स्यादित्याह-। "ने"ति । एकैकापादनमेव मिथितापादनव्या-
 घातापत्तिपर्यवस्यन्नित्याह-। "अर्थादि"ति । एकैकापादने
 अर्थात्वेद्वयाघातः सिद्धयेतदार्थापत्तिप्रमाणनिवृत्तया विरो-
 धिनोः सामानाधिकरण्यास्य व्याघातरूपत्वाऽनभ्यस्त इत्याह-।
 "अर्थापत्ती"ति । इयमर्थापत्तिर्न विरोधिद्वयनामानाधिकर-
 णसाधिका किन्तु तदापीदिका तथाच न विरोधः प्रामाणिक
 इत्याह-। "अर्थादि"ति । अपाद्यतापि प्रमितस्यैवेति दोषे
 नत्येवाह-। "ने"ति । एकत्र सिधौ विरुद्धव्याप्यद्वयाभावाद्-
 भवापादनसम्भवे कथञ्चित्पराभ्युपगमनाप्रवलेनाप्योपादनं
 न सम्भवति तर्कानामन्वयस्यापादनस्यैत्यर्थः । एकैकापादनं
 च नानिष्टमपीप्यसौ तर्कानाम् इत्याह-। "इदं"ति । एकैका-
 पादनं विरुद्धव्यापादनपर्यवस्यन्नतः कथमिष्टापादनमित्याह-।
 "नित्य"इति । तस्यैक धर्मं विरुद्धधर्मद्वयान्निवृत्त स्यादित्यापा-
 दनं पर्यवस्यन्नं तच्च विरुद्धधर्मद्वयान्निवृत्तप्रामाण्येव स्यादिति
 त्वदभिनतव्याघातस्याव्याघातत्वमित्याह । "इदं"ति ॥

सू० * एवमादीनां तु दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तवापि
 सर्वमिदं सुवचम् ? * इति चेन्न, 'तत्राप्यन्यत्र दोषो
 मयापाद्यते इति प्रतिवन्दिं गृह्यतः किं परपक्षे
 दोषादानमात्रं विवक्षितमुत यस्तत्र त्वया सामा-
 धिरभिधेयः स मयापीत्यभिप्रायात्स्वपक्षे समाधिः न
 तावदाद्यः ^१अप्रस्तुतत्वात् 'परोक्तदीवानुद्धारे ताव-
 तैव कथाया^(१)स्तदर्थस्य वा पर्यवसानात् ।

टी० ॥ ननु विरोधव्याघातादिपदं यदि सार्थकं तदा
 तत्कथं न स्यात्तत्रात्र नित्यं चेत्तदा त्वयैव सार्थकपदकदम्ब
 समभिधेयादारेण तदुक्तकारणमनुपपन्नं किञ्च प्रतीतेः व्याघातः
 स्वल्पते अप्रमत्तो वा भावोपि प्रमितोऽन्यथा वा प्रथमे लघुचरि-

(१) कथायाः=नित्यव्याघातकथायाः, तदर्थस्य=तत्पदादात्मककथार्थस्य ।

ठपाद्यानः द्वितीये आन्तेरभ्यान्तिपूर्वकतया स्वहमठयाद्यात एव
 तृतीयेपि स्वहमठयाद्यातः न च प्रतीयमानमेव दोषवत्तया ज्ञाप्यते
 अशक्यत्वादिनि दुरुत्तरेयं प्रतिबन्धिरिति शङ्कते । “एवमि”-
 ति । इदानीं प्रतिबन्धस्वहमठमुपक्रमते-। “तत्रापी”ति ।
 प्रतिबन्धिकत्वं पृच्छति-। “किमि”ति । परपक्षे दोषाभिधान-
 मात्रं प्रतिबन्धिकत्वं तुल्यन्यायतया परोक्तदोषोद्धारो वेत्यर्थः ॥
 d. “अप्रस्तुत्वादि”ति । परोक्त दोषमनुद्गत्य परस्मै दोषाभि-
 धानस्याप्राप्तकालत्वात् आकाङ्क्षितकालविपर्ययानुरूपत्वादित्यर्थः
 अप्रस्तुतत्वमर्थान्तरत्वं तु प्रकृते न सम्भवति प्रकृतदूषणाङ्ग-
 स्यैवाभिधानात् अन्यथावयवविपर्ययानुरूपत्वमप्यर्थान्तरमेव स्यात्
 “परोक्ते”ति । परोक्तदोषोद्धारो हि तेनेव निग्रहेण निवृ-
 ष्णीतो वादी कक्षान्तरप्रक्रमं नामादयत्येव तथा न वि- स्वया
 स्नात्तैव पर्यवसानं जल्पस्य वादस्य नाहुं परपक्षदूषणं पर्य-
 वसानं स्वपक्षस्थापनरूपमहुं नवशिष्येण नय च वैतावदुक्ता इति
 जितमस्माभिस्तव प्रतिबन्धिग्रहणमात्रेणेत्यर्थः कथापदमिह-
 वितवहामात्रपरं

मू० “निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः द्वितीये तु ^१स स्वा-
 भिधीयतां का नोहानिः * “भवास्तावदभिधत्तां
 कस्तत्र समाधिः ततो मयाप्यभिधेयम् ? *-इति
 चेन्न, “मया तदभिधानस्य साम्प्रतमप्रस्तुतत्वाद्ब्रहि
 मया स्वपक्षसाधनं त्वया च दूषणं प्रकृते वक्तुमा-
 रब्धमस्ति किन्तु त्वया स्वपक्षो निर्वाहस्तद्वचनं
 च मयाभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्तते ईदृशि
 च कथाविभागे मत्पक्षे समाधानाय मां पर्यनु-
 बोक्तुं कुतोधिकारो भवतः * “अथ विज्ञेयस्त-
 १ निष्ठुक्त्वे किं प्रयोजनमस्ति तावदेतादृशिचोदो
 परिहारो यतस्त्वयापि स्वपक्षे सौ स्वीकार्य इत्या-
 शयस्ते ? *-द्योपि न युक्तः ।

टी० ॥ “निग्रहे”ति । तयोः कथातद्दुर्योगिग्रहापरि-
 हारनाभावधित्वादित्यर्थः ॥ “स एवे”ति । स्वपक्षसमाधिरे-
 वेत्यर्थः ॥ “का नोहानिरि”ति । प्रकृतदोषे त्वया समाहितेपि
 सबह्नान्तरस्य मयावतारणीयत्वात् समाधिरेव वा पुनराप्तानी-
 करिष्यमाणात्वादित्यर्थः प्राथमिक^(१)समाध्यभिधानायासला-
 चसंज्ञापानतः प्रतिबन्धिकलमिति शङ्कते । ^d“भवानि”ति ।
 भवेदेवं यदि मन तदभिधानाधिकारः स्यात्तत्रैवमित्याह—
 “नये”ति । ननु तुल्य एवायं दोष इति प्रतिबन्दिहस्यं तथाच
 त्वया कथं न समाधेयमित्यत आह— । “नही”ति । आकाङ्क्षा-
 क्रमेणैव कथायां माधनदूषणयोरभिधानमुचितं तथाच मन
 तदोषसमाधानं न स्थेयानुविधेयाकाङ्क्षितमित्यर्थः ननु प्रतिब-
 न्दिदानेन त्वयि समाधानभाव इत्यस्य मया स्वदोष. समा-
 हितत्वाय एव स्वपक्षपक्षपातेनापि तदोषसमाधित्वायास्तथाव-
 प्रयकत्वादित्याह । “अथे”ति ॥ “तन्निष्टकृणे” इति । अस्य
 कथायामयं दोषस्तत्रैव समाधेयो न समाधीति निष्टकृणे इत्यर्थः ॥

मू० नहि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेपि
 तेन भवितव्यमित्यत्र प्रमाणमस्ति * साम्यादे
 वम् ? * इति चेन्न, वैषम्यस्याभ्युपगमात् “यदि
 तद्गतसमाधारणं रूपमादाय मद्दर्शनं प्रति तन्नसि
 द्वान्तं वा तत्र समाधिः स्यादत्र च त्वत्पक्षे पदभा-
 वान्न स्यात्तथा सति साम्यमात्रात्कथं समाधिरसा-
 वत्रापीति निश्चेतुं शक्यते * कोसौ तत्र विशेष ? *
 इति चेन्न, मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्वा-
 दित्युक्तत्वात् * चोद्यसाम्यात्समाधिसाम्यम् ? *
 इति चेन्न, दृष्यगतविशेषभावाभावविशेषितत्वा-
 दिनापि तद्वैषम्यसम्भवात् ॥

(१) प्राथमिकस्य त्वदुक्तस्य समाधेर्यथाऽभिधाने कृते आया-
 वसाधवमित्यर्थः ।

टी० ॥ यद्यावयोः प्रकृतदोषे समाधिनाम्नं स्यात्तदा स्या-
दप्येवं न त्वेवमित्याह-। “नही”ति । दोषनाम्नमेव समा-
धिनाम्ननास्तिपतीत्याशङ्कते-। ^b“साम्यादि”ति । वैषम्यस्या-
वश्यकत्वेन बाधादाक्षेप एवायं न सम्भवतीत्याह-। “वैष-
म्यस्ये”ति । तदेवोपपादयति-। ^d“यदो”ति । यथा पक्षेतरै
उपाधौ स्वध्याघातकत्वेन दूष्ये बाधस्यले प्रतिबन्दिग्रहे तत्रा-
साधारणम्बाधोक्तीतं रूपमादाय (१)यथा वा ज्ञानायापार्य्यप-
क्षेनाश्वानप्रसङ्गं मीनांमकेन दोषे दत्ते तावप्यनाश्वामप्रसङ्ग-
स्तुल्य इति प्रतिबन्दिग्रहे प्रमाथस्य स्वतस्त्वं प्रतितन्त्रभिद्वा-
न्तमादाय समाधिर्विषमः एव सर्वत्रोक्तेपमित्यर्थः ननु तथापि
समाधिवैषम्यप्रयोजकविशेषोपदर्शनव्यग्रता महती नवैवेत्याह-।
“कोमावि”ति । पूर्वं समाधिगतो विशेष उक्तः सम्प्रति दूष्य-
गतं विशेषमभिधानुं शङ्कितमपि शङ्कते ।। “चोद्यसाम्यादि”
ति । चोद्यमेव न समान येन समाधिनाम्ननास्तिप्येतेत्यर्थः ॥

मू० “यथा सदूष्यवहारस्य सत्तास्वीकारकत्वे तुल्येपिस-
त्तायां सत्ताभ्युपगमेनवस्थया तदाश्रये च तदभा-
वेन ^bएवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति °किञ्च परो-
द्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्ध्या प्रत्य-
वतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः किं यदिदं दोषतया परे-
णोद्भावितं तददूषणमदूष्येपि गतत्वात् उत दूष-
णमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेप्तत्वात् यथाहुः
“तत्रोभयोरित्यादि ।

टी० ॥ दूष्यगतं विशेषं दूष्टान्तेनोपपादयति-। “यथे”ति ।
सत्ताभाषनायोपन्यस्तः सदूष्यवहारः सत्तायामनेकान्तिकत्वेन
दूष्यस्तत्रानवस्थाप्रसङ्गकत्वरहितत्वं विशेषस्तादृशः सदूष्यव-
हारः सत्ताश्रये घटादी ननु सत्तायामपीत्यर्थः ॥ ^b“एवमि”ति ।
इहेतिबुद्धिः समवायसाधिका समवाये समवायान्तराभावात्

(१) साधारणं बाधोक्तीतं रूपमादाय समाधिर्विषमः-इत्यन्वयः ।

प्रतीकान्तिकी तत्राप्यनापादकत्वं (१) दूष्यगतो विशेषः यथा घटाभावविशिष्टबुद्धिर्भूतलेऽतिरिक्ताभावसाधिकाप्यभावेऽभावात्तन्नाधने कुवदा तत्राप्यभवस्यानापादकत्वमेव विशेष इत्याद्यस्य प्रतिबन्दिदृश्यस्याभिप्रयविशेषनिदानो विकल्प्य दूषयति । ०“विज्ञे”ति । परपक्षे दोषाभिधानं वा समाधिसाक्यं वेति पूर्वविकल्पितनिदानोमदूष्ये तत्रपक्षे गतत्वात् दूषणमेवैतन्न भवति भवदपि वा नोद्भावनीयमिति विकल्प्यते इत्यपीनकत्वं ॥ ०“यत्रे”ति । “यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोपि तत्समः नैकः पर्यनुयाज्यः स्यात्तद्दृश्यर्थान्नारणे” इति भट्टवार्तिकम् ।

सू० नाद्यः “यद्यत्रासिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोषत्वस्याशक्यपरिहारत्वात् परिहारे वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात् “यद्येतद्दूषणं कथं तर्ह्यदूष्यत्वेन वादिनाङ्गीकृते प्रतिबन्दिस्थाने गतमिति चेत् यद्येतद्दूषणं “कथं” दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः नियामकाभावे तर्ह्येतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्यवसित इति चेदस्तु दोषसन्देहेपि भवदीयसाधनस्यानाधकत्वं सन्दिग्धासिद्धवत् किञ्च यल्लक्षणवतोस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यथापीति तत्राप्यसिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादित्येव प्रतिबन्दीदुरुत्तरा प्रतिबन्दिवादिनोपि नापि द्वितीयः ।

टी० ॥ “यदी”ति दूषणलक्षणयोगित्वे दूषणत्वप्रतीक्यादि तपसः तल्लक्षणकाल्पित्तददूषण चेत्तदा लक्षणमतिठयापकमल-
हः । ग तर्वा न्या - b“परिहारे” इति अदूष्यत्वाभिमत-
मित्यत्र दिदं तत्र दूषणमेव लक्षणं चेदतिठयापकं तदा तदु-
पप . क लक्षणान्तमेव वक्तव्यमिति शङ्कते- । ०“यदी”ति ॥

(१) अनापादकत्वम्, अनावधानावात्कत्वमित्यर्थः ।

d. "कथमिति"ति । लक्षणान्तरप्रणयनमशक्यमिति भावः ॥ अदृश्ये गतत्वाद्दोषत्वं दोषलक्षणोपपन्नत्वाच्च दोषत्वमिति सत्प्रतिपक्षतया सन्देह इत्याह- । "नियामके"ति । अप्रादोषत्वेभ्यः प्रापीद् दूषण न स्यादित्यपरां प्रतिबन्दिनापाद्यति- । f. "किञ्चे"ति ।

मू० "तथाहि उभयवादिस्मृतादृष्यत्वं धूमानुमानादिकं यदि प्रतिबन्दीकरोति^(१) परस्तदा तद्दर्शने^(२) न्यत्र^(३) क्वचिदप्येतद्विध्यादिकं नोद्भावनीयं परसाधनेषु तस्यैव धूमानुमानादेः प्रतिबन्ध्या भयादित्येषा मयापि सुग्रहैव तं प्रतिप्रतिबन्ध्याऽपि शक्यते एव पठितुं यत्रोभयोः समो दोष इत्यादि * ^bअथ यं विशेषमादायप्रतिबन्दी स्यात्तन्मात्रस्यानुद्भावनं न तु सामान्यत एव ? *-इति चेन्न, तत्र विशेषे प्रतिबन्ध्या त्याजितदुष्टत्वे गतत्वात्तल्लक्षणमेव नेति स्यात् ^dविशिष्य तद्विशेषत्याजने च तादृशस्य लक्षणस्यासिद्धिरेव स्यादिति कृतं प्रतिबन्ध्या ॥

टी० ॥ "तथाही"ति । उद्भाठयमानोयं दोषः सदनुमानास्कन्दतीति भवेन दोषानुद्भावनं चेत्तदा तस्य काप्युद्भावनं न स्यात्तदानीमपि सदनुमानास्कन्दभयन्य विद्यमानत्वात् इत्यपराप्रतिबन्धिः प्रतिबन्धिवादिनं प्रतीत्यर्थः दोषः सदनुमानं नास्कन्दत्येव किंतु पराभ्युपगमरीत्या दोषश्चेदयं स्यात्तदा सदनुमानमप्याकुलयेदिति प्रतिबन्धिग्रहणमित्याह- । ^b"अथे"ति । यं दोषं पुरस्कृत्य प्रतिबन्धिः स चेन्न दोषस्तदा तद्दोषलक्षणमनिठयापकमलक्ष्येऽपि गतत्वादित्याह- । "ने"ति । ननु प्रतिबन्धिग्रहणस्य जायमभिप्राये। यदयं दोष एव न भवति

(१) प्रतिबन्दीकरोति=दृष्यायं करोति । (२) तद्दर्शने तच्छास्त्रे । (३) अन्यत्र परसाधनेषु (असिद्धहेत्वाभासेषु) क्वचिदप्येतद्विध्यादिकं नोद्भावनीयमित्यर्थः ।

किन्तु यद्यं दोषः स्यादादा तथापि स्यादित्यस्य प्रकृते यो दोषो दीयते तत्र दोषलक्षणमेव न गतमित्यभिप्रायस्तदा दोषलक्षणविरह एवाभिधीयतां किं प्रतिबन्धोत्याह—। ^a“विभिन्ने”ति । अतिद्वयादिनामान्यलक्षणमेव तथा विशेषणीयं येनातिठयानिर्न स्यादित्यर्थ इति केचित् ॥

सू० * “अथ सद्व्यनमात्राभ्युपगताद्व्यत्वं किञ्चित्पदाथं प्रतिबन्दीकरोति ^(१) तदैतदुक्तं तेन स्यादिह नेदं दूषणं वक्तव्यमभिधानेऽनयैव युक्त्या तवेष्टमङ्गप्रसङ्गात् ? *—इति तत्र, ‘इदमिह दूषणं वक्तव्यमनभिधानेस्यैवानिष्टस्य परसिषाधयिषितस्य सिद्धिप्रसङ्गात् इत्यभिधानानुकूलाया अपि प्रतिबन्ध्याः सम्भवात् * “नन्वेवमेवास्तु तथाचाभिधाने नऽभिधाने षोभयतः पाशाप्रतिबन्दीरञ्जुर्भवत एव दुर्निधारा स्यात् ? *—मैवम् ।

टी० ॥ ननु प्रपञ्चानिष्यात्वमात्रं ठयावहारिकत्वं यदि प्रतिबन्दीकरोति ^(१) तदा तदापादितदोषस्यादोषत्वठणवस्थापनं न प्रतिबन्ध्यादिनोभिमतं येन लक्षणमतिठयापकं स्यादपितु दोषत्वव्यवस्थापनमेवेत्यत आह—। ^a“अथे”ति ॥ ^b“तेने”ति । प्रतिबन्दीवादिनेत्यर्थः ॥ ^c“इदमिहे”ति । भेदः पारमार्थिको ठयावहारिकत्वादित्यत्र यदि वेदान्तिनास्वरूपानिद्विर्वाचयानदा प्रपञ्चानिष्या ठयावहारिकत्वादित्यपि स्वरूपानिद्वयादुष्टमेव स्यादिति यदि प्रतिबन्दीवादिनोभिमतं तदा प्रतिबन्दीपरिहाराय वेदान्तिनाप्यपरा प्रतिबन्धः करणीया तद्यथा यदि ठयावहारिकत्वं मया नानिद्वयादुषणीयं तदा भेदस्य त्वदिष्टं पारमार्थिकत्वं सिद्धोदित्यवश्यं मया दोषोयमुद्गाठय इत्यर्थः ^d“नन्वि”ति । यदि दोषत्वं ब्रवीषि तदा तत्रना-

(१) प्रतिबन्दीकरोति—दूषणीयं करोति ।

धनमप्यनेन दोषेण दुष्टं स्यात् नचेद्द्वीषि तदा मत्सिवाधयि-
षितं सिद्धो दित्यभिधानानभिधानयोस्तथैव सङ्कटप्रवेश इत्यर्थः ॥

मू० "मिथो विरुद्धायाः प्रतिबन्धास्तर्काभासत्वात् मिथो
विरोधस्य तर्कदूषणत्वात् सत्प्रतिपक्षानुमानवद्दू-
योरपि परस्पर"प्रतिक्षेपेणैवोपक्षीणत्वादिति न्याय-
द्वितीयाध्यायप्रथमाह्निक^(१)सूत्रे प्रमेयताय तुला-
प्रामाण्यवदित्यत्रापादितदूष्टान्ताभावसकस्यदोषसा-
भ्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्तुमाचार्यः
समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमादभ्युपगतं तावद्भवता-
स्मत्पक्षे दूष्टान्तो नास्तीतिभ्रुवन्नद्योतकरो यत्रोभ-
योरित्यादिवदतो भट्टस्य प्रतिभटो कर्तव्यः ॥

टी० ॥ "मिथ"इति । अभिधानानभिधानाभ्यां दोषो
नयि त्वया यदापाद्यते सेयं तनीया प्रतिबन्दिः साच न सम्भ-
वति मिथो विरुद्धाभ्यां धर्माभ्यामेकस्यापाद्यापादानं तर्का-
भासो यत इत्यर्थः कथं तर्काभासोयमित्यत आह-। ^b"मिथ"
इति ॥ "सत्प्रतिपक्षे"ति । यद्यभिधानपक्षे दोषस्तदानभिधा-
नपक्षे दोषो न सम्भवती^(२)त्युभाभ्यां दोषापादनद्वयस्य मिथः
प्रतिबन्धादनुपपत्तिरित्यर्थः ॥ "उपक्षीणत्वादि"ति । परस्पर
प्रतिबन्धेन स्वस्वकारणतत्वादित्यर्थः ननु यत्रोभयोः समो
दोषः इत्यभिदधतो महाचार्यस्य प्रतिबन्धाभ्युपगमस्तत्प्रति-
बन्दिस्वरहण विरुद्ध इत्यत आह-। "न्यायं"ति । महाचा-
र्यविरोधेषुद्योतकराचार्यस्य प्रतिबन्दिस्वरहणमभ्युपगमोस्तथे-
वेति तदनुरोध एव समापीत्यर्थः ॥

मू० "तत्किं प्रतिबन्धादिदूषणं न भवत्येव * नन्वेवं
भवतोपसिद्धान्तः स्यादिति चेत् ? * -^bतर्हि दर्श-

(१) बोद्धव्यं- (२) "यदि चानभिधानपक्षे दोषस्तदाऽभिधा-
नपक्षे न सम्भवति"-इतिशेषः पूरणीयः, कथञ्चिद्विगलितो वा शेषः ।

यापसिद्धान्तस्य लक्षणं प्रकृतसम्बद्धतया, 'वाङ्मा-
त्रेणापसिद्धान्ते भवतः किमिति नापसिद्धान्तः
स्यात् * सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः
प्रतिबन्धादि भवता सिद्धान्तत्वेनाभिप्रेतं ^dममेदं +
दर्शनभाश्रित्याभिधेयमिति भवता दर्शनविशेषस्या-
भ्युपेतत्वात् दर्शनस्य च तत्तत्पदार्थस्वीकारात्म-
कत्वात् तेषु च पदार्थेषु प्रतिबन्दीदूषणत्वादेः प्रवि-
ष्टत्वात् ? *-इति चेन्न, लक्षणमेव तावदिदमपसि-
द्धान्तस्य नोपपद्यते मत्सिद्धान्तविपरीतमभ्युपग-
च्छतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ।

टी० ॥ ननु स्थाने स्थाने शङ्कराचार्यप्रभृतिभिः प्रतिब-
न्दिदभ्युपगतेर्वात तदनभ्युपगमे तवापसिद्धान्त इत्यपसिद्धान्त-
त्वग्रहणाय प्रस्तौति - "तात्कनि"ति ॥ "तर्ही"ति । लक्षणा-
धीनप्रतिपत्तिकत्वाद्ग्रहणस्येति भावः प्रकृतसम्बन्धितया लक्षणं
दर्शयेत्यर्थः ननु किं लक्षणोपदर्शनेन यतः प्रसिद्ध एवापसिद्धान्त
इत्यत आह - "वाङ्मात्रेण"ति । अत्रयवस्थितापसिद्धान्ता
पादसं सर्वत्रसुलभमित्यर्थः ननु कथामुपक्रममाणेन नया प्रति-
बन्दिः सिद्धान्तत्वेन नाभ्युपगता येन तदनभ्युपगमादपसि-
द्धान्तः स्यादित्यत आह । ^d"ममेदं"ति । अभ्युपगतप्र-
तिबन्दिदोषत्वशास्त्राभ्युपगम एव कथोपक्रमे प्रतिबन्दिदभ्युप-
गम इत्यर्थः यदीदं लक्षणं तदा मत्सिद्धान्तस्य प्रपञ्चनिश्चयात्त्वस्य
विपरीतमभ्युपगच्छतो नैयायिकादेरपसिद्धान्तापत्तिरित्याह -
"लक्षणनि"ति ॥

म० * स्वसिद्धान्तस्तथापेक्षित ? *-इति चेन्न, ^bविशे-
षणपरणमन्तरेण तदलाभात् अन्यथा सर्वत्र विशे-
षणोपादानवैयर्थ्यम् एवमभ्युपगमे भवत एवेयमप-

(†) "ममेदं" -इति क्वाचित्कः पाठः ।

सिद्धान्तकृत्या "निवृत्त्यापत्तेः त्वत्सिद्धान्ते शतशो हेत्वादी विशेषणोपादानदर्शनात् परसिद्धान्तहेतूनां चानुपात्तविशेषणानामनैकान्तिकी कृत्य त्वच्छास्त्रे बहुशो दूषितत्वात् प्रथमं स्वशब्दविशेषणमनुपादाय दूषणभयेनेदानीं तत्करणे च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्यानं भवतः हेत्वन्तरं हि प्रथममविशेषणं साधकभागमभिधाय पश्चाद्विशेषणवत्तद्वचनं 'किञ्चैवं लक्षणमभिधानस्य भवतोऽप्राप्तकालतापातः अप्राप्तकालीवयवविपर्यास इति लक्ष्यमाभिधाय हि लक्षणाभिधानं युक्तं च भवता विपर्यासः कृतः ॥

टी० "तथापेक्षित" इति । यद्विपरीताभ्युपगमेनापसिद्धान्त इत्यर्थः ॥ ^b "विशेषणे"ति । स्वपदमन्तर्भाऽय यल्लक्षणं कृत तलस्तदलाभादित्यर्थः ॥ ननु सामान्यपदस्य विशेषे तात्पर्यात्सिद्धान्तपदं स्वसिद्धान्तपरमतो नोक्तदोष इत्यत आह-
^c "अन्यथे"ति । एवं सति विशेषणं क्वापि न दीयेतेति भावः ॥
^d "निवृत्त्यापत्तेरिति"ति । ठयावृत्त्यापत्तेरित्यर्थः । स्वशास्त्रे विशेषणपूरणात्परकीयहेत्वादी च विशेषणमन्तरेणोपन्यस्ते त्वया दूषणाभिधानात् विशेषणपूरणस्य त्वत्सिद्धान्तत्वादित्यर्थः 'किञ्चैवमिति । लक्ष्यं पक्षमुपन्यस्य तत्रैतदभेदाद्यं लक्षणस्य हेतोरभिधानमित्यस्य विपर्यासस्त्वया कृत इत्यप्राप्तकालस्ते निग्रहस्यानमित्यर्थः ॥

मू० ^(१) "एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तेपातात् *
^b यस्तु प्रथमत एव स्वविशेषणमुपादत्ते तं प्रत्यनु-

(१) हेत्वभिधानपूर्वं पश्चात्प्रतिष्ठावचनमित्येवमेवे'पन्यासक्रम-
 त्वाद्धोक्त दोषद्वयत आह-एवमिति-मतिष्ठाहेतूनादाहरणे।वनयनिगमना-
 शययथाः क्रमेणोपन्यसनीया इति भवच्छास्त्रेऽङ्गीकारादित्यर्थः ।

पात्तविशेषणपक्षाभिहितो दोषो वक्तव्यः 'मदीयो हि सिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव मम' अत्र वाक्येऽभ्युपगमपदप्रवणादभ्युपगन्ता लभ्यते तस्य यः स्वकीयः स स्वशब्दार्थः पर्यवस्यति ? * -इति चेन्न, 'समाप्यभ्युपगन्तृत्वान्मयापि हि किञ्चिदभ्युपगम्यते एव * विपरीताभ्युपगन्तापेक्षित ? * इति चेन्न, अविशेषात् * सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता विपरीताभ्युपगन्ता ? * -इति चेन्न, तथाप्यविशेषात् समापि त्वत्सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तत्वात् * स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता तथाभिमत ? * -इति चेन्न,

टी० ॥ "एवमेवे"ति । हेत्वभिधानानन्तरमेव प्रतिज्ञा-
सिद्धान्तमिति क्रमश्चेत्तदपेक्षानीमभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः ॥ नन्वेता-
वनापसिद्धान्तव्यवहारेण न सृजन् स्वयंपुरणेन तल्लक्षणनिर्वाहादि-
त्यत आह- । ^a"यस्त्व"ति स्वैनिविशेषणस्य प्रक्षेपेपि वेदा-
न्तिसिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतो नैयायिकादेरपसिद्धान्तप्रस-
ङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः ॥ तदेवोपपादयति - । "मदीयोही"ति ।
अभ्युपगन्ता स्वपदवाक्यो नच परदर्शनसिद्धान्तस्य परीभ्युप-
गन्तव्येन तद्विपरीताभ्युपगमे परस्यपसिद्धान्तः स्यादित्याह- ।
^b"अत्र"ति । एतावतापि तत्सिद्धान्ताभ्युपगन्तृत्वं(१) न
लभ्यते किन्तु अभ्युपगन्तृत्वमात्रं तथाच सदोषस्तदवस्थ एवे-
त्याह- । "नमे"ति । अविशेषादिति समापि यत्किञ्चिद्विपरी-
ताभ्युपगन्तृत्वादित्यर्थः ॥ / "तथापी"ति । सिद्धान्तस्याविशे-
षितस्यैवोपादानादित्यर्थः ॥

मू० "नूनमतिप्राज्ञो सि(२)यतः ^bस्वपदमभ्युपगन्त्वा विशे-
षयितुं प्रवृत्तो भ्युपगन्तारमेव स्वपदद्वाराविशेषयसि

(१) इतरसिद्धान्तविपक्षतया विशेषरूपेण तदेकसिद्धान्तव्यवहारे-
भ्युपगन्तृत्वमित्यर्थः । (२) प्रज्ञामतीत्यवर्त्तक इत्यर्थः ।

परस्परान्नया^(१)न्नविभेषि स्वपदेपि साधारण्यप्रत्य-
वस्थानं परोक्तं पुनस्तद्व्यस्यमेवेति च न प्रतिस-
न्धत्से^(२) * यस्य यः सिद्धान्तस्तेन तत्परित्या-
गोपसिद्धान्तस्तदीय इति चेत् ? *-मैवम्, यस्य यः
सिद्धान्त इति "पुरुषव्यक्तिविशेषसिद्धान्तव्यक्तिवि-
शेषपरत्वेऽसाधारण्यादव्यापकत्वं लक्षणदोषः यस्ये-
तिसिद्धान्तसंबन्धिनः इत्यर्थे तेनेति च सिद्धान्त-
संबन्धिनेत्यर्थे च भवतोऽपसिद्धान्तात् "तथाहि
सिद्धान्तसंबन्धिना सम यः सिद्धान्तस्तस्य सिद्धान्ता-
न्तरसम्बन्धिना भवता त्यागोस्त्येव * ^(३) त्याग
एव तस्य नास्ति मया परिगृहीतविषयत्वात्त्या-
गस्य ? *-इति चेन्न,

टी० "नूनमि"ति । स्वपदार्थः साधारणो साभूदित्यभ्यु-
पगन्ता तद्विशेषकत्वेनोपात्तस्तस्यापि साधारण्यं स्वपदेनापाक-
रोषि चेतदान्द्योन्याश्रय इत्यर्थः । एतावतापि नाक्तदोषोद्धार
इत्याह-। ^b"स्वपदेपी"ति । "यस्ये"ति । मया न नैयायिकस्य
स्वकीयसिद्धान्तविपरीताभ्युपगमादेवापसिद्धान्तो ननु परसि-
द्धान्तविपरीताभ्युपगमादपीत्यर्थः । यत्पदस्य व्यक्तिसात्रपरत्वे
ऽननुगमः साधारणत्वे पुनः पूर्वोक्तदोष इत्याह-। ^d"पुरुषे"ति ।
यत्पदस्य साधारणपरतायां दोष व्युत्पादपति-। "तथाही"
ति ॥ ^f"त्याग एवे"ति । मया नैयायिकेन भवदीयसिद्धान्तस्य
त्याग एव नास्तीत्यर्थः ।

(१) अयमाशयः । अभ्युपगमननियमसिद्धौ स्वपदार्थनियम-
सिद्धिस्वपदार्थनियमसिद्धौ आभ्युपगमननियमसिद्धिरित्यन्योन्या-
श्रयः । (२) स्वपदं परित्यज्य कस्मिंश्चित्द्विशेषकप्रक्षेपेण
शङ्कते-यस्य य इति- (३) त्यागशब्दत्वेनातिप्रसङ्गपरिहारं शोद-
यति-त्याग एवेति-

म० "यदि त्यागोऽस्वीकारस्तदा न परिगृहीतविषयता-
नियमः^(१) * ^bअथ स्वीकृतस्यास्वीकारः ? *-तदा
मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारो भवत्येव तथेति
विशेषो नास्ति^(२) * 'अथ तेनैव स्वीकृतस्य तेनै-
वास्वीकारः * सोपि न 'तेनेति स्वीकर्त्तृत्वर्यं म-
मापि स्वीकर्त्तृत्वेन मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वी-
कारे तथापिसिद्धान्तापातोः * 'एकेनैकस्य स्वीकृत-
स्यास्वीकारोपसिद्धान्तः ? *-इति चेन्न, केनेति
यद्येकमङ्गुयायोगिनेति तदा मम यथैकसङ्गुयायोगित्वं
तथा तवापीति स एवापसिद्धान्तापातः * 'अथैके-
नेत्यभिन्नेनेति ? * -"तदापि स्वस्मादभिन्नत्वं तव
च मम च समानम् अन्यस्मादभिन्नत्वं न मम न
तवेत्यपसिद्धान्तविषयोऽच्छेदः ॥

टी० ॥ ^(३)अस्वीकारोऽस्वीकारस्य त्यागपर्यायत्वे परिगृहीत-
विषयत्व नास्तीत्याह । "यदी"नि । यद्यपि परिगृहीतविष-
यत्वं त्यागस्येत्यभिधानः नन्तरमय विरुद्धोऽनुपपन्नस्तथाप्यभि-
प्रायदाह्यर्थं विकल्पो द्रष्टव्यः ॥ ^bअथे"ति । प्रकृते तु स्वया
स्वीकृतस्य मयाऽस्वीकार इति नापसिद्धान्तापातः इत्यर्थः ॥
तत्पदस्य स्वीकारकर्त्तृमात्रपरत्वे न एव द्वाव इत्याह- । "तेने-
ती"ति ॥ "एकेन"ति स्वीकारास्वीकारकर्त्तृवैक्यं विवक्षितमि-
त्यर्थः ॥ एकपदये^(४) एकसङ्गुयायोगित्वं चेत्तदा स एव दोष इत्याह- ।

(१) पुनःपि प्रथमकल्पनिरासः शङ्कने-अथेति (२) अथपि
तत्पदप्रयोगेण एकपदमङ्गीकृत्यपुनरशङ्कने-अथेति । (३) अथ स्वीकृ-
तस्यास्वीकारस्त्यागोऽस्वीकारमात्रं वा । नाद्यः । व्याघात् । नापि द्विती-
यत्पदात्-अस्वीकारमः-अथेति- (४) एकमपि-एकपदस्याऽस्वीपि ।
एकपदसङ्गुयायोगित्वम् = एकपदसङ्गुयावस्त्वम् ।

० 'ने'ति स्वीकारास्वीकारकर्त्रभिदो विवक्षित इति न पूर्वदोष इत्याह-। १ 'अथे'ति । स्वाभेदविवक्षार्थां पूर्वदोषतादवस्थयं(१) पराभेद विवक्षायामसम्भवलक्षणदोषः तद्वि कश्चित्परस्माद्-भिन्नो भवतीत्याह-। १ 'तदापी'ति ॥

मू० * "अथ स्वीकर्तुं स्वीकर्तृतो न भिन्नत्वं ? *-तदा-
ऽयमर्थः स्यात् स्वीकर्तृतो न भिन्नेन एकस्य स्वीकृ-
तस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्तस्तथाच स एव भवतीऽप-
सिद्धान्तः ^bमया यदीयाङ्गीकारः किञ्चित्स्वीकर्तुं-
रभिन्नस्य भवतस्तदीयास्वीकर्तृत्वात् "एतेनैकस्यैकेन
स्वीकारास्वीकारापसिद्धान्त इत्यपास्तं ^dमिलि-
तयोरपसिद्धान्तापातात् * अथ तत्स्वीक-
र्तुरेव तदस्वीकर्तु रभिन्नत्वमेकशब्देनाभिमतं ? *- ॥

टी० ॥ ननु स्वीकर्तृप्रतियोगिकभेदात्यन्ताभाषवता यो
ऽस्वीकारस्तुल्यविषयकः सोऽपसिद्धान्त इति शङ्कते-। "अथे"
ति । प्रपञ्चान्यत्वस्वीकर्तृप्रतियोगिकभेदात्यन्ताभाषवता भवता
प्रपञ्चनिष्ठ्यात्वास्वीकारोऽपसिद्धान्तः स्यादत्रापि स्वीकर्तृतोभिन्न
एवास्वीकर्तृो विषयः प्रपञ्चोऽप्येक एवेत्याह । ^b"अथे"ति । यद-
ङ्गीकारो यस्य विषयस्य प्रपञ्चनिष्ठ्यात्वादेरङ्गीकार इत्यर्थः ॥
० "एतेने"ति । स्वीकारास्वीकारकर्त्रोः कर्मण(१)श्चैक्यं यत्रे(२)ति
शङ्कार्थः ॥ एकत्वमङ्गुयायोगित्वविवक्षादाये सत्येव दोषान्तर-
नाह-। ^d"मिलितयोरिति । एकेन मया भवता च कस्यचिद्वि-
षयस्य स्वीकारः कस्यचिद्वास्वीकार एक एवापसिद्धान्त सम्भयोः
स्यादित्यर्थः । विषयैक्यविवक्षायामपि प्रकारभेदान्निमित्त्य स्वी-
कारास्वीकारावेकेन सम्भवत एवेति भावः । यद्वा विष-
यःभेदः सम्भवदित्येव पूर्वशङ्का तेन तद्विवक्षया शङ्कान्तरनाह-।
० "अथे"ति ॥

(१) कर्मणः=स्वीकारविषयस्य । (२) "तत्रापसिद्धान्तः"-इति
शेषः ।

मू० "तदापि यदि स्वीकारविषयाभिन्नत्वं तच्छब्देनो-
च्यते ऽस्वीकारविषयस्य तदा स्वीकर्त्तन्तरस्वीकार-
विषयस्य भवता किञ्चित्स्वीकर्त्तभिन्नेनास्वीकार-
विषयतया स्वीकारविषयाभिन्नत्वस्वीकारेण भवतो-
ऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्घारत्वात् * ^bएकेन स्वीकर्त्ता
नतु भिन्नेन स्वीकारास्वीकारौ विवक्षितौ ? * - इति
चेन्न, 'एकेन स्वीकर्त्तयेतदेव विवेचयन् भूयस्तदा-
कर्षन्नभिहितदूषणगणाठ्यावृत्त्यापत्त्या कथं न
घनाघनसमय^(१)समाग' मोदीयमानतरलतरङ्गिणी-
वेणजलविवर्त्तनिर्वर्त्तितावर्त्तचक्रचङ्क्रम्यमाणतृण-
कदम्बविडम्बनामनुभविष्यसि * स्वीकृत्यास्वीकारः
स ? * - इति चेन्न,

टी० ॥ "तदे"ति । स्वीकर्त्तन्तरस्य वेदान्तिनः स्वीकार-
विषय प्रपञ्चमिष्यात् तस्य स्वीकर्त्तन्तराभिन्नं भवता यो स्वी-
कारः सोपभिदान्तः स्यादित्यर्थः ॥ नन्वत्रापि स्वीकारास्वी-
कारी भिन्नकर्त्तृकावेष पर्यवसन्ती समानकर्त्ता को च विवक्षिता-
विति नोक्तदोष इत्याह । ^b"एकेने"ति ॥ एकेनेत्येकमङ्गुष्यायो-
गिनेत्युक्तदोषनादवस्थ्यमेवेत्युपहसन्नाह - । "एकेने"ति । तदा-
कथं दूषणविशेषणैरेव विशेषयन् दूषणगणाठ्यावृत्तदूषणगण-
प्रत्यासक्तिः कथं न विडम्बनामनुभविष्यसीति कथयेत्यन्वयः ।
"मोदीयमाने"ति दैवादिकस्येङ् गतावितिधातोरात्मनेपदिनो
रूप वेणुः प्रवाहः जलविवर्त्तौ भूयस्तया जलपरिणामस्तेन
निर्वर्त्तितो निष्पादित आवर्त्तम्भसां भ्रमिस्तस्य चक्र समूहः
तत्र चङ्क्रम्यमाणस्य घर्णमानस्य तृणसमूहस्य वा विडम्बना
विकल्पना तावित्यर्थः ॥

मू० "कार्यविवेचनेनोक्तवाधापातात् अस्वीकृत्य स्वीकारे
च तदभावापत्तेः । किञ्च सिद्धान्तपरित्यक्तरी

यदपसिद्धान्तोद्भावनं तत् किं स्वीकृतदर्शनानुमता-
पसिद्धान्तदूषणभावे वादिनि उतानेवम्भूते ^dआद्यो
पर्वसिद्धान्तवदपसिद्धान्तेऽप्यनेन व्युत्थातुं शक्यते
तत्र किं वक्तव्यं * 'न तावन्न वक्तव्यमेव किञ्चित्पू-
र्वसिद्धान्तत्यागादेवापसिद्धान्तेन निगृहीतत्वादिति-
युक्तम् ? * - अपसिद्धान्ते तत्परिहारस्य^(१) तद्दूष-
णत्वान्यतरासिद्धेस्तेनाभिहितत्वात् ।

टी० ॥ “कार्ये”ति । क्ताप्रत्ययस्याप्येककर्त्तृकत्वमर्थः ।
नत्र चैकपददोषतादवश्यमित्यर्थः ॥ ^b“अस्वीकृत्ये”ति । प्रपञ्च-
मिथ्यात्वस्यास्वीकृतस्य नैयायिकेन स्वीकारोऽपसिद्धान्तो न
स्यात् क्ताप्रत्ययेन स्वीकारपूर्वकास्वीकारस्यैवाभिधानादित्यर्थः ॥
ननु सिद्धान्तपरित्याग एवापसिद्धान्तः मद्योभयथापन्न इति स्वीकृ-
त्यास्वीकारे अस्वीकृत्य स्वीकारे वेत्यत आह—। “किञ्चे”ति ।
यद्दर्शनमाश्रित्य कथायां प्रवर्तते तद्दर्शनं स्वीकृतापसिद्धान्त-
दोषभावमुत नेति विकल्पार्थः ॥ “आद्ये” इति । सिद्धान्तं
त्यजता तेन यद्यपसिद्धान्तस्य दोषत्वमपि त्याज्यं तदा तस्मै
किं वाक्यमित्यर्थः ॥ “न तावदि”ति । सूत्रमारणस्यानर्हत्वा-
दित्यर्थः । ^f“अपसिद्धान्ते” इति । येन नियमेण सूत्रस्तत्र
विप्रतिपक्षश्चेत्तदा न सूत्र एवेत्यर्थः ॥

सू० “अन्यथा स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुद्भाव्यैव कथां विच्छि-
न्दानो विजयेत परासिद्धिपरिहारं नापेक्षेत इत्यन-
सिद्धावप्यसिद्धिमुद्भाव्य परं पराजित्याप्रत्यूहं गृहान्
प्रतिष्ठेत * ^bनिगृहीतस्य तस्यापरमभिधानमनाद-
रणीयमेवेति चेन्न ? * - “अन्यतरासिद्ध्या नियमपरि-
हारस्यैव तेनाभिधीयमानत्वात्” तथाऽप्यनादरणेऽन-

(१) तत्परिहारस्य तेनाऽभिहितत्वादित्युक्तव्यः । तद्दूषणत्व-
त्यत्र तदिति पदं वचसिपुस्तके नास्ति ।

सिद्धावसिद्धिसुद्धाख्यपराभिधीयमानमसिद्धिपरिहा-
रमनादृत्य विजयेतैवेत्युक्तम् * अथ मन्यसे मध्य-
स्थेनैतद्विचारणीयं किमनसिद्धावसिद्धिरनेनोक्ता अ-
नपसिद्धान्ते चापसिद्धान्तः एतद्विचार्य्य तेनैव जय-
पराजयाववधारणीयौ एतदर्थमेव मध्यस्थोपस्थापन-
मिति ? * तर्हि वादिना साधने प्रयुक्ते दुष्टमेत-
दित्यभिधायैव प्रतिवादिना निवर्तनीयं मध्यस्थस्तु
परमार्थतो दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तस्य साधनस्य विचार्यं
जयपराजयाववधारयिष्यति सोऽयं प्रसूय निर्वृत्ती-
भूतपिकदम्पत्यपत्य^(१) पोषणकृतमहायासवायसठय-
सनमासादयिष्यति मध्यस्थोवराकः तावकदुःपरा-
मशंप्रकर्षण ।

टी० ॥ “अन्यथे”ति । यदि परोद्धावितदोषे परविप्रतिप-
त्तिर्न निरसनीयेत्यर्थः । परासिद्धिपरिहार परेषु क्रियमाणमसि-
द्धिपरिहारम् । अनसिद्धौ परोद्धावितानसिद्धिशून्ये ॥ “निगृहीत-
स्य”ति । अपसिद्धान्तेन निग्रहेण निगृहीतस्यापसिद्धान्ते विप्र-
तिपत्तिवचनं नादरणीयमित्यर्थः । अपसिद्धान्तपरिहाराय तस्य
तत्र विप्रतिपत्तिरतोऽवशमादरणीयेत्याह— । “अन्यतरे”ति ।
पूर्वोक्तमेव विपक्षे दृष्टं स्मारयति— । “तथापी”ति । उद्धावि-
तदोषपरिहारं क्वापि नोद्धावयितापेक्षेतेत्यर्थः ॥ “अथे”ति ।
उद्धावितदोषस्य समीचीनत्वे स्थापनावादिनस्तदसमीचीनत्वे
निरनुयोजयानुयोगेन दूषणवादिनोभङ्गमेव मध्यस्थो व्यवस्थाप-
येत् तूद्धावितदोषे वादिविप्रतिपत्तिर्वादिना गवेषणीयेत्यर्थः ॥
तर्हि वादी विशिष्ट्य दोषमपि नोद्धावयेत्त्रापि मध्यस्थस्यैव
दोषविशेषविचारणाश्रमः स्यादित्युपसंहरति— । “तर्हि”ति ।
सू० * अथाक्यते “संप्रतिविप्रतिपद्यतां नामापसिद्धान्ते-

(१) अपेक्षेत् = आदरेत् ।

प्यसौ किमेतावता पूर्वस्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभा-
वस्य दर्शनस्य तावत्तेन स्वीकरणमकारि तदेवादा-
यापसिद्धान्तस्योपन्यासो युक्तः इति ? * —मैत्रसु,
यदीदानींतन्यननुमतिरस्य नाद्रियते अस्यामुप-
जातायामपि प्राक्तनानुमतिमादायैव दूषणप्रवृत्तिः
तदापसिद्धान्तस्यापि कुतोवकाशः स^(२)हि पूर्वम-
नुमतस्येदानीमननुमतिमाश्रित्यैव प्रवर्तते नान्यथा
“तस्मात्स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावमपि वादिनं
प्रति विप्रतिपत्तिकाले साधनीयमपसिद्धान्तस्य
दोषत्वमिति । “द्वितीयानवकाशः ।

टी० ॥ सामान्यतोप्यनङ्गीकृततद्दोषभावस्यैव तत्र विम-
तिरूपा देया येन तु तद्दोषभावः सामान्यतोभ्युपगम्यन्तस्यापि
कथाकालीना तद्दोषविप्रतिपत्तिश्चेदादरणीया तदा क्वचिदपि
दोषत्ववस्थितिर्न स्यात् को हि परापादिते दोषे न विप्रति-
पत्त्यते इत्याशङ्कते-। “सम्प्रती”ति । पूर्वस्वीकृतास्वीकार-
साम्येप्यपसिद्धान्त आद्रियते अपसिद्धान्तवशात् पत्तिः कथा-
कालीना कथं नाद्रियेतेत्याह-। ^b“यदी”ति । साप्याद्रियतां
किं तेनेत्यत आह । ^c“तस्मादि”ति । तथाच कथाकालेऽपसि-
द्धान्तस्य दोषत्वं व्यवस्थापनीयं तन्नोक्तक्रमेणाशङ्क्यमित्यर्थः ॥
^d “द्वितीयानवकाशः” इति व दनैव आपसिद्धान्तस्य दोषत्वं
व्यवस्थापनीयं न तु नान्यत्वे हि नान्यत्पस्ये द्वितीयस्यान-
वकाश इत्यर्थः ।

सू “यस्य तु सौगतादेमते ऽपसिद्धान्तो न दूषणं तं प्रति
साधनीयमवश्यमेवास्य दूषणत्वं * ^bनच वाच्यं योपि
सिद्धान्ते विप्रतिपत्तिं करोति तं प्रति व्याघात

(१) पिकदरपती स्वापत्वं प्रकृत्य काकापत्यमपचार्य तत्स्थाने
तं निधाय काकेन स्वापत्वं योदवतः । (२) सः=अपसिद्धान्तः ।

एवापादनीयः ? *—दर्शनविशेषं स्वीकुर्वता प्रथमं^(१)
तद्दर्शनान्तर्निवेशिनः प्रतिबन्दीदूषणात्वादेस्तेन
स्वीकारात् पश्चात्तस्यैवास्वीकारस्तावेतौ स्वीकारा-
स्वीकारावेकेनैकस्य व्याहताविति ।

टी० ॥ तदेवाह— “यस्येति । यथा सौगतं प्रति वादि-
नैव तद्दोषत्वं व्यक्तत्वात् न तु मध्यस्थेनेत्यर्थः यद्वाऽपसिद्धान्ते
विप्रतिपन्नं प्रत्यपसिद्धान्तस्य द्वितीयस्यानवकाश इत्यर्थः ।
तद्दोषत्वस्य तं प्रत्ययव्यवस्थितत्वात् ॥ ननु कथायां कथकेन
दोषत्वं यदि व्यक्तत्वात् तदा कथैव न पर्यवस्येदित्यत
आह— “यस्य त्वि”ति । अनभ्युपगतापसिद्धान्तदोषत्वं
सौगतं प्रति कथावदपि तद्दोषत्वस्यापनस्य व्यावहारिकत्वा-
दित्यर्थः । यद्वा तदानेवभूतं प्रतीति यो द्वितीयो विकल्पः
तस्यानवकाश इत्यर्थः ॥ कुतः इत्यत आह— “यस्य त्वि”ति
तुशब्दो हेत्यर्थः । साधनीयदोषभावस्यापसिद्धान्तस्य तं प्रत्यु-
द्भावनमनुचितमेव यत इत्यर्थः ॥ नन्वपसिद्धान्ते विप्रतिपन्नं
प्रत्यपसिद्धान्तान्तरं नोद्भाष्यं येन तद्दोषभावस्यान्यतरापसिद्-
धत्वं स्यादपि तु व्याघात उद्भाष्य इत्यत आह— “नचे”ति ।
व्याघातं स्फुटयति दर्शनेति प्रतिबन्दीदूषणादेरित्येतद्गुण-
संविज्ञानबहुव्रीहिणापसिद्धान्त एवाभिहितस्तेनापसिद्धान्तस्य
स्वीकृतस्यास्वीकारो लभ्यते यद्वा प्रथमापसिद्धान्तसाम्यदर्श-
नाय प्रतिबन्द्यादेरित्युक्तम् ।

स० “यद्ययमपसिद्धान्तात्मैव व्याघातस्तदाऽपसिद्धान्त-
दूषणात्वे विप्रतिपन्नस्य विप्रतिपत्तिमव्युद्देश्य नभि-
धातुं शक्यः * अथ दूषणान्तरमयं व्याघातोपसि-
द्धान्तमनुपजीव्य सम्भाव्यमानोद्भावनः ? *—तदा

(१) केचिच्चत्पुत्र ११० मूले “प्रतिबन्दीदूषणात्वादेः—इति पाठः ।

प्रथमसिद्ध्यस्य स्वीकृतत्वादिनेन च वः ।

सावंत्रिकापसिद्धान्तोदाहरणेष्वयमेवास्तु किमपसि-
द्धान्तस्य दूषणताङ्गीकारेण ^६किञ्च एवमपसिद्धान्ते
उद्भाविते पश्चात्तद्विप्रतिपत्तावुपजातायामपसिद्धान्त-
मुपेक्ष्य व्याघातलक्षणस्यास्य दोषान्तरस्याभिधाने
प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः प्रतिज्ञाहानिः 'स्वीकृतोक्तत्याग
इति ^८एवं प्रथमं किञ्चित् दूषणमुक्त्वा तत्परिहा-
रिणः दूषणान्तराभिधाने न प्रतिज्ञाहानिरिति गतं
प्रतिज्ञाहान्यादिभिर्निग्रहैः ।

टी० ॥ व्याघातो यद्यपसिद्धान्त एव तदा तत्र विप्रति-
पन्नं प्रति तद्दूषणानगर्हतेव दूषणान्तरं चेत्तदाऽपसिद्धान्त एव
पृथक् निग्रहस्यान न स्यात्तस्यलक्षणत्वादित्याह-। "यद्यप
नि"ति । व्याघातस्य दोषान्तरत्वपक्षे दोषान्तरमाह ^६किञ्चेति
दूषणहानेरपि प्रतिज्ञाहानिपदेन सङ्गृहीतत्वादित्यर्थः दूषणहा-
निमाधारणं प्रतिज्ञाहानिलक्षणमाह-। "स्वीकृतोक्ते"ति ॥
नन्वेवं प्रतिज्ञातं यद्यपसिद्धान्त एवात्र दोषस्तथाच तत्र ठ्युत्थितं
प्रति व्याघातोद्भावनं कथं प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यत आह-।
^८"एवमि"ति । तत्परिहारिणस्तं दोषं त्यजतस्तन्निर्वाहमकुर्वत
इति यावत् "तत्परिहारिणी"ति क्वचित्पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः ।
स्वीकृतोक्तत्यागे सत्यपि यदि न प्रतिज्ञाहानिस्तदा क्वचिद्-
प्यय दोषो न भवेदित्यर्थः । आदि पदात् प्रतिज्ञान्तरादि-
परिग्रहः ।

सू० * "प्राक् प्रतिज्ञातदोषनिर्वाहार्थमेव निग्रहान्तरकथ-
नात् नैव दोषः ? *—इति चेन्न, ^(१) ^६पूर्वनिग्रहप-
रिहारमकृतवति तेनैव पराजिते निग्रहान्तरोपन्या-

(१) पूर्वोद्भाविते निग्रहे परिहृते व्याघातनिग्रहोद्भावनमुतापरि-
हृत एव नाद्यः प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः द्वितीयच्छेदमाह- नेति-

सस्यायुक्तत्वादिति (१) * 'नचानेन भयेन भवता
ठ्याघात एवाभिधातव्यः प्रथमं नापसिद्धान्त इति
वाच्यम् ? *—अपसिद्धान्तवैयर्थ्यप्रसङ्गात् "सर्वत्राप-
सिद्धान्तोदाहरणे ठ्याघाताभिधानस्यैव मङ्गीकर्त्त-
व्यः वा 'नहि क्वचिच्छक्यतेवधारयितुं मयापसिद्धान्ते
उद्भाविते नायं तत्र विप्रतिपत्स्यते इति ।

टी० ॥ ननुद्भावितापसिद्धान्तनिर्वाह एव ठ्याघातोद्भा-
वनेन क्रियते तथा च कथं प्रतिष्ठाहानिरित्याह - "प्राग्"ति ॥
"पूर्व"ति । पूर्वनिग्रहोपसिद्धः तस्तत्परिहारमकृतवति दोषा-
न्तरानवकाशात् नहि सृतीपि नायंते इत्यर्थः । क्वचित्परिहार-
मकृतवतीति (२) पाठः । तत्र प्रथमोद्भावितापसिद्धान्तरूपनिग्रह-
स्थानपरिहारः तत्र ठ्युत्थानेनान्यतरागिद्धान्तिना कृतः तत्परि-
हारमपसिद्धान्तदोषत्वठ्यवस्थापनमकृतवति वा । नि निःसु-
धीन्यानुयोगेन पराजिते निग्रहस्थानान्तास्य ठ्याघातस्य च
उपन्यासः स न युक्तः पराजितत्रादिकर्त्तृक उपन्यासो न युक्त
इत्यर्थः ॥ "नचे"ति । अपसिद्धान्तदोषत्वे ठ्युत्थित प्रति
दोषत्वठ्यवस्थापनभयेनेत्यर्थः एव सत्यपसिद्धान्तः क्वापि लठधा-
वकाशो न भवेत्सर्वत्र ठ्याघातस्यैवोद्भावनीयत्वादिति तद्दोष-
त्वठ्युत्पादनवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः ॥ एतदेवाह— "सर्वत्र"ति ॥
ननु यत्रच नापसिद्धान्तदोषत्वे विप्रतिपत्स्यते तत्रैवाय लठधा-
वकाशः स्यादित्यत आह— "नही"ति ॥

सू० * नन्वस्त्वेवं विप्रतिपन्नं प्रत्यपसिद्धान्तस्य दूष-

(१) अयुक्तत्वं चात्राकृतपरिहारे पूर्वनिग्रहे निग्रहान्तरोद्भावेन-
नोद्भावयितुरेवनिग्रहान्तापस्या बोध्यमिति भावः ।

(२) पूर्वनिग्रहपरिहारपरिहारमकृतवतीति पाठ इत्यर्थः ।

स्वर्त्वं प्रसाधनीयमिति ? *-(^१)मैवं, ^bयेनाप्यस्वी-
कारदण्डेन तस्वीकारविष्यसि तदन्तङ्गीकारस्वापि
सम्भवात् उक्तं च सौगतैः “नहि शास्त्राश्रया वादा
भवन्ती”ति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणमिति
^d“रिक्तस्य अन्तोर्जातस्य गुणदाषमपश्यतः विलब्धा
वत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहा इति ।

टी० ॥ ननु यथा सौगतं प्रत्यपसिद्धान्तस्य दोषत्वं तदैव
ठयवस्थाप्रतीयं तथान्यनप्यपसिद्धान्तव्युत्थितं प्रतीत्याह- ।
^a“नन्वि”ति । ननु यत्किञ्चिद्दिष्टान्तरमुपन्यस्यापिद्धान्तो ठय-
वस्थाप्यस्तत्रापि तद्व्युत्थितमस्मत्वादित्याह- । ^b“येनापी”ति ।
अपसिद्धान्तस्यादोषत्वे सौगनानुमतिमाह-- । ^c“नही”ति ।
कथायां यथास्फुरणं वक्तव्यं कलाक्रमेण ननु शास्त्रानुरोधस्तथा
चापसिद्धान्तो निग्रहस्य कथाकारणसम्यग्ज्ञानाभावस्याधिकरण-
मुक्तायकं न भवतीत्यर्थः ॥ ^d“रिक्तस्ये”ति । न खल्वयं सि-
द्धान्तनादायैव कश्चिज्जायते येनास्यायं सिद्धान्त इति नियमः
स्यात् न वा गुणदोषविचारविधुरेण जन्मानुपदं स्वेच्छया
सिद्धान्तः परिगृहीतो नवा ज्ञातमात्राय केनचिन्नियामकेन
सिद्धान्ता विलभ्यन्ते तथायं सिद्धान्तस्तथायं सिद्धान्त इति
तथाच सिद्धान्तो न कस्यापि येन तत्प्रतीतोऽपसिद्धान्तः स्यादि-
त्यर्थः । सिद्धान्तविषयग्रहा इति रूपकं (^२) यथा विषयो
प्रासादिः रात्रादिना विलभ्यते तथा न सिद्धान्तोपीत्यर्थः ॥

मू० “अत्र कश्चिदाह शास्त्रमनाश्रित्य कथारम्भानुप-
पत्तिः यदा हि ज्ञानभङ्गसाधनप्रयोक्ता ^bअस्फुटिमता
स्थिरवादिना सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्यते तदा

(१) दूषणत्वेन तदङ्गीकृतव्याघातादिदण्डेनापसिद्धान्तस्य तत्रया
दूषणत्वं प्रसाधनीयं तदपि न सम्भवति पूर्व सिद्धान्तबदव्याघातद-
ण्डदूषणत्वादपि व्युत्थानसम्भवादिति परिहरति-मेवमिति-इति तु वि-
द्यावागराः (२) रूपकम्-रूपकालङ्कारः ।

‘किं कुर्यात्’^d* प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्गावयेत् ?
 *—इति चेत्, ‘एवं तर्हि विप्रतिपत्त्यपनुगुणप्रमेयान्तर-
 रथ्यतिक्रममप्युद्गावयेदेव अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यात-
 क्रममप्युपेक्षेत न खलु तत्तदनुगुणव्यतिक्रमयोर्वि-
 रोधापत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः’^e* नचैकपुरुषार्थानु-
 गुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातव्युत्पादनादन्य-
 च्छास्त्रं नाम *

टी० ॥ नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति वादिनं
 सौगतं प्रति परिशिष्टे^(१) यदुक्तमुदयनाचार्यचरणैस्तदाह—
 “अत्र कश्चिदि”ति ॥ ^b“अरूपसिंघते”ति । दोषान्तररूपरुण-
 रहितेन ॥ “किं कुर्यादि”ति । अपमिद्वान्तं तिरस्कृत्य किम-
 न्यद्दुयादित्यर्थः ॥ ननु स्थैर्यपक्षं गृहीत्वा कथायां प्रवृत्तः सण-
 मङ्गलङ्गीकुर्वन् प्राथमिकविप्रतिपत्तिविरोधेनैव निग्रहीतुं शक्यते
 नापमिद्वान्तेनेति शङ्कते- । “प्रथमे”ति । स्थैर्याभ्युपगमविरो-
 धनित्यर्थः । यदि नत्कालीनस्थैर्याभ्युपगमविरोधो दोषस्तदा
 स्थैर्यमाधनोपयुक्तप्रमेयान्तररथ्यतिक्रमोपि दोष एवाविशेषा-
 दित्याह— । “एवमि”ति । स्थैर्यवत् स्थैर्यमाधकप्रत्यभिज्ञान-
 प्राणाश्रयमपि तदभ्युपगमविषय एवेति भावः । ननु भवत्वेवं-
 तथार्थं नहि शास्त्राश्रया वादा इत्यत्र किमुक्तं भवेदित्यत
 आह । “नचे”ति । एक. पुरुषार्थः स्वर्गोपवर्गो वा तदनुगुणं
 तदुपयुक्तमङ्गाङ्गिभावापन्नं यत्पदार्थजातं तद्व्युत्पादनात्तद्व्यु-
 त्पादकादन्यादित्यर्थः । कर्त्तारि ल्युट् प्रत्ययान्तो व्युत्पादन-
 शब्दः करणव्युत्पन्नो वा यथा जीमासायां स्वर्गः पुरुषार्थस्त-
 दङ्गमपूर्वं तदङ्गं च यागादि तद्व्युत्पादनमेवमान्विशिष्या^(२)न-
 पवगः पुरुषार्थस्तदङ्गाङ्गिभावापन्नं प्रमाद्यप्रमेयसंशयादीति ॥
 सू० ‘तस्मात् सणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणायोहादिसम-

(१) परिशिष्टे—परिशिष्टनामके ग्रन्थे । (२) आश्विनिशब्दात्—ग्याये ।

स्तस्वीकारः तदेकपरिहारे वा समस्ततदनुगुणपरि-
हार इति परमेश्वरोपि नान्यथा करणे क्षमः^b * नच
समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देना-
भिधातुमुचितं * तदैव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात्^c परि-
षदनपेक्षितत्वाच्च^d * नच तद्व्यतिक्रमोद्भावनाय
समस्ततदनुगुणोहः परस्परशास्त्रमनाश्रित्य शक्यः *
‘नच तदनुगुणव्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिप-
त्तिजयावित्यकामेनापि तत्रादधिकारप्रवृत्तां शास्त्र-
मेवाश्रयणीयम् ? * -इति ।

टी० ॥ किमतो यद्येवमित्यत आह-। “तस्मादि”ति ।
तथाच तात्कालिकविप्रतिपत्तिविषय परित्यागवत्तदनुगुणसम-
स्तपरिहारोपि दोष इत्यर्थः । एवं च शास्त्रमाश्रित्यैव कथेति
तदुक्त^(१)समस्तपदार्थातिक्रमस्य दोषत्वमाह-। “नचे”ति ॥
“परिषदि”ति । त्रिप्रतिपत्तिविषयसाधनदूषणाभिधानमात्रे
परिषदाकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ ननु तदनुगुणा अपि पदार्थाः कथाकाले
स्वयमुक्तीयतां वादिना किं परस्परं वादिनोः स्वस्वशास्त्रा-
श्रयणमन आह-। “नचे”ति । ननु तदनुगुणव्यतिक्रमोपि
नोद्भाष्यतामन आह-। “नचे”ति ॥

मू० “तदेतदपेक्षलं, किं तदनुगुणं प्रमेयान्तरं यदनभ्युप-
गमे विरोधमुद्भावयेदित्युच्यते द्वयमभ्युपगम्यं सम्भ-
वति एकं तावद्यदनभ्युपगमे कथैव प्रवतयितुमशक्या
यथा प्रमाणादि सर्वकथकसिद्धम्, इतरत्तुप्रतिदर्श-
नसिद्धं किञ्चिद्व्याया क्षणभङ्गेश्वरादि तत्र यदि प्रथम-
मनुपगम्यैव कथाप्रवृत्तिरिति तस्वीकारे पश्चा-

तदनुष्ठीकारेपसिद्धान्तः तन्न (१) स्वध्याघातकत्वेन
तस्य (२) भवद्भिरेव जातित्वाङ्गीकारात् ॥

टी० ॥ तदिदमाचार्यमतं खण्डयति-। "तदेतदि"ति ।
मर्वतन्त्रनिद्धान्तो हि प्रमाणं धर्मादिवत्तदनुष्ठीयगमेत्यपसि-
द्धान्तो न भवेत् किन्तु जात्युत्तरमेव स्यात् प्रमाणाद्यनुष्ठीयगमे
स्वपक्षमाधकानुमानप्रयोगो व्याहृतः धर्म्यनुष्ठीयगमे च कुत्र
धर्मिणि स्वहेतुं प्रयुञ्जीतान्ततोमाधकतासाधकानुमानमपि प्र-
माणमेव तत्रापि च धर्म्यपेक्षैवेति स्वध्याघातकत्वाज्जात्युत्तरमे-
तदित्यर्थः । यद्यपि नैतज्जात्युत्तरं प्रमाणं नास्ति धर्मा वा
नास्तीत्येतावन्मात्राभिधानस्य चतुर्विंशतौ जातिष्वनन्तर्भा-
वात् तथापि प्रमाणं नास्तीतिवाक्यमात्मानमपि शब्दरूपं
प्रमाणं व्याहृत्येवेति जातिनामान्यलक्षणाक्रान्ततया आक-
र्षितगलत्वेनाभ्युपगतायामनुपपत्तिमन्वायां जातावनन्तर्भाव एव
अत एव तत्र महाविद्यानुमानानामन्तभावः ॥ एव धर्मा नास्ती-
तिवाक्यमात्मानमेव धर्मिभूतं व्याहन्तीति जात्युत्तरमेव

सू० "जातेश्च निरनुयोऽयानुयोगे निवेशात्(३)नापि
द्वितीयः दर्शनभेदनियतं हि क्षणभङ्गादि यत्कथार-
म्भेभ्युपगन्तव्यं तत्कं "तदभ्युपगमस्य प्रकृतसा-
ध्यापोहाद्युपायता(४)उत तन्नान्तरीयकतया न
प्रथमः क्षणभङ्गसाधनप्रस्तावेऽपोहादिपरित्यजतः
सौगतस्यापसिद्धान्ताभावापत्तेः तदभ्युपगमस्य तद-
नुपायत्वात् " * अन्वोन्याभ्युपगमोपायत्वे चा-

(१) सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध प्रमाणाद्यनुष्ठीयगमेत्यपसिद्धान्तो न भवेत्
किन्तु जात्युत्तरमेवेत्याह-स्वेति- (२) प्रमाणाद्यनुष्ठीयगमस्येत्यर्थः ।

(३) अत्र "नापिसिद्धान्तत्वम्"-इति पुराणीयम्-।

(४) अपोहलक्षणप्रकृतसाध्याभ्युपायत्वर्थः ।

न्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव न स्यात्^(१) विचारे
सति प्रमाणिकत्वप्रतीती तदभ्युपगमः तदभ्युपगमे
च विचार इति 'अभ्युपगतोपायत्यागविषय एवा-
पसिद्धान्तो नान्यत्र ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ ननु जातेरपि निग्रहस्थानतयापसिद्धान्ते एव
निग्रहे तदन्तर्भावोक्तिवत्त्वत् आह—। ^a“जातेरिति”ति ॥ ^b“तद-
भ्युपगमस्ये”ति । क्षणभङ्गाभ्युपगमापोहयोरुपायोपेयभावो वा
क्षणभङ्गाभ्युपगमापोहयोऽर्याऽप्यठयापकभावो वेति विकल्पार्थः ।
तस्मान्तरीयकं यस्येति बहुव्रीहि ॥ ^c“न प्रथम”इति । क्षणभ-
ङ्गाभ्युपगमस्वोपायत्वं यद्यपोहे साध्ये तदा क्षणभङ्गं साधयतः
सौगतस्यापोहत्यागोपसिद्धान्तो न भवेत् अपोहाभ्युपगमस्य
क्षणभङ्गासाधकत्वादित्यर्थः । क्षणभङ्गापोहाभ्युपगमबोरन्यो-
पसिद्धानुपायतायां दोषमाह—। ^d“अन्योन्ये”ति । नन्वन्योन्य-
विचारेन्योन्याभ्युपगमापेक्षाया अन्योन्याश्रयो नतु स्वस्वसूत्र-
कारवचनप्राभाश्यादभ्युपगमे तथाच तादृशत्यागे स्यादेवाप-
सिद्धान्त इत्याह—। ^e“अभ्युपगते”ति ॥

मू० “यो हि यदुपायस्तमभ्युपगमस्य विचारः प्रवर्तयितव्य
इत्येतत्कुतः ^bतस्योपायतया तेन विचारः प्रवर्तते
इत्येव युक्तं नतु तदभ्युपगमोपि तावता तदुपायः
स्यात्तस्य च तदभ्युपगमस्य च पृथक्कारणात्तदभ्यु-
पगमे प्रमाणास्योपदर्शयितुमशक्यत्वात् ^cतस्यत्वेपि
वा तत्र स्वाभ्युपगमः किमित्यभ्युपेयो वैयर्थ्या ^dदुपा-
यत्वादेव परस्य तथाप्रतीत्युपपत्तेः * अथोच्यते—

(१) अथ “अन्योन्याश्रयात्”—इति हेतुः दुरतीतः । स्ववि-
त्पुस्तके त्वन्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव स्यादिति सादृशत्वं त्वन्योन्य-
विचारस्य—अन्योन्याश्रयत्वार्थेऽभ्युपगमेव ।

टी० ॥ स्वरूपगत एवोपायत्वं तदभ्युपगमोपि पृथगु-
पायो येन कथावसरे तदभ्युपगमः प्रयोजकः स्यादित्याह-।
“यो ही”ति ॥ ननु तदभ्युपगमोप्युपाय एवेत्यत आह-।
“तस्ये”ति ॥ नन्वभ्युपगमस्याप्युपायत्वं षडवस्थाप्यं यत्र
तत्र तदभ्युपगमेपनिद्धान्तः स्यादित्यत आह-। “शक्यत्वे”
इति । तत्रापि सूत्रकाराभ्युपगम एव तथास्यात्तथाच कथा-
काले तदभ्युपगमस्तत्र न तन्त्रमित्यर्थः । तथाच तदस्वीकारे
पश्चात्तदभ्युपगमोपनिद्धान्त इति लक्षणं तत्र न गतमेवेति
भावः ॥ ननु^(१) तस्योपायत्वं कथाकाले तदभ्युपगमन्तरेण कथं
परो बोधनीय इति तदा तदभ्युपगम आवश्यक इत्यत आह-।
“उपायत्वादेवे”ति । तत्कालीनतदभ्युपगमन्तरेणापि परस्य
तदुपायत्वं प्रतीतिमन्तरेण इत्यर्थः ॥

सू० “उपेयमुपायेन साधयतोपेयवदुपायस्यापि सत्त्वम
भ्युपगन्तव्यमिति पश्चात्तदभ्युपगमेपसिद्धान्तो-
पन्यासः सावकाशः ? *—^१ असत् उपायत्वानुपपत्तेः
‘तद्युपायत्वेनोपन्यसना^(१)त्तत्सत्त्वाभ्युपगमस्तस्य
साक्षादश्रुतोप्यसत्त्वेनाभ्युपगम्यमानस्योपायत्वस्वी-
कारानुपपत्त्या कल्पनीयः कल्पितेन तेन अय-
माण^(२)तत्सत्त्वानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोभि-
धेयः^३ एवं च सति सत्त्वानभ्युपगमे एवो^(४)पाय-
त्वानुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणमुच्यतामुपजीव्यत्वात्तदु-
पन्यासमन्तरेणा^(५)श्रूयमाणतदीयाभ्युपगमस्य दर्श-

(१) ननु कथाकाले तदभ्युपगमन्तरेण तस्योपायत्वं (प्रति)
परः कथं बोधनीय इत्यश्वयः । (२) तद्युपायत्वेनोपन्यसनास्तस्य
साक्षादश्रुतोपि तदभ्युपगमः कल्पनीय इत्यश्वयः । (३) श्रूय-
माणत्वेत्यादभ्युपगमपदात्तेनाश्वयः । (४) स्वकारः प्रसङ्ग इत्यस्या-
मन्तरे दूषणः उपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्ग इवेति । (५) तदुपन्यासमन्त-
रेण, उपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्गस्यनुपपत्तिपन्थासमन्तरेणेत्यर्थः ।

यितुमशक्यत्वात् कृतं तदुपजीविना पश्चात्तनेनाप-
सिद्धान्तेन अत एव न द्वितीयः तन्नान्तरीयकाभ्यु-
पगमो हि तत्सत्तानभ्युपगमे साध्यस्थाभावापत्या-
नुमन्तव्यः तथाच १३६ तद्दूषणमस्त्वनभ्युपगमे
कृतं १३७ तथाभ्युपगमं परिकल्प्य १३८ तेनानभ्युपगमविरो-
धादपसिद्धान्तोपन्यासेनेति १३९ एवं निग्रहान्तरखण्ड-
नसूहनीयम् ॥

इति श्रीश्रीहर्षमिश्रविरचितानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डन-
खाद्ये निग्रहानिरुक्तिर्द्वितीयः परिच्छेदः ॥

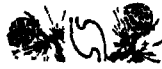
—:०:—

टी० ॥ ननुपायत्वान्यथानुपपत्त्या कथाकाले चादिनस्त-
दभ्युपगमः कल्पनीयस्तथाच पश्चात्तदनङ्गीकारे स्यादेवापनि-
द्धान्तस्तच्च निग्रहस्थानान्तरं माङ्कर्याभावादित्याशङ्कते । “उ-
पेयनि”ति । १३६ “अत” इति । सत्त्वेनानभ्युपगममानस्येत्यर्थः ॥
१३७ “तर्ही”ति । अश्रूयमाणः कथाकालीनस्तदुपायत्वाभ्युपगम उप-
यत्वाभ्यथानुपपत्त्या कल्पनीयस्तदुपायत्वानभ्युपगमे चापनि-
द्धान्तो निग्रहो भवेत् तथाचानभ्युपगमेन तदुपायत्वभङ्गलक्ष्य-
मेवानिष्टमापाद्यतां किमपसिद्धान्तोपन्यासेनेत्यर्थः । अनभ्युप-
गमः श्रूयमाणोभ्युपगमश्च कल्पनीय इति तयोरभ्युपगमान-
भ्युपगमयोर्विरोधोपसिद्धान्तस्तथाच सत्त्वानभ्युपगमात्तदुपाय-
त्वज्ञातिरित्येव दूषणमुचितमित्याह— “एवं चे”ति । उपजी-
व्यत्वमेवाह— “तदुपन्यासनि”ति ॥ तन्नान्तरीयकतया वेति
यद्विकल्पितं तद्दूषयति— १३८ “अत एवे”ति । यदि क्षणभङ्गनता
नाभ्युपेयते त्वया तदा तद्दूषाप्यस्या १३९ पोहस्यैव सिद्धिर्न स्यादिति

(१) वा=क्षणभङ्गवत्ता व्याख्या यस्यापोहस्य तस्यैव सिद्धिः प्रमि-
तिर्न स्यात् तथा चाऽप्रमितस्य भव्याऽपोहलक्षणस्य व्यापकस्य निवृत्त्याऽ-
भावापत्त्या तद्दूषाप्यस्य क्षणभङ्गस्याप्यभावापत्तिरेव स्यादित्यर्थः ।
अधिकं तु न तद्वानिरिति श्यायादयोऽभिधास्यमानवात्वाभावापत्तेरपि
दूषणत्वं न विवक्ष्यम् ।

ठयापकनिवृत्तयाठयाप्यनिवृत्तिरेव दोषो नत्वपसिद्धान्त इत्यर्थः ।
 “सिद्धे”ति । साध्याभावापत्तिरेवेत्यर्थः तथेति साध्याभावाप-
 त्तेत्यर्थः ॥ “तेने”ति । कल्पिताभ्युपगमेन सहेत्यर्थः । यद्यसौ
 अत्रभङ्गं नाङ्गीकुर्यात्तदापोहलक्षणं साध्यमेव न सिद्धोदिति क्षण-
 भङ्गाभ्युपगमेन कल्पितेन तदनभ्युपगमविरोधोपसिद्धान्तः स्या-
 तथाच साध्यानुपपत्तिरेव दोषोस्तु किमपसिद्धान्तेनेति भावः ॥
 “एवमिति”ति । सामान्यशब्दानां यत्किञ्चिद्विशेषमादाय पर्य-
 वसानात्सर्वनामपदानां चाविशेषकत्वाद्द्व्याप्त्यतिष्ठयाप्त्यस-
 म्भवा यथास्यमूर्त्नीया इत्यर्थः ॥

इति श्रीसहजसाद्यटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥



खण्डनखण्डखाद्यम् ॥

अथ तृतीयः परिच्छेदः ।

—:0:—

मू० ^(१) अथ यान्यवलम्ब्य बहुलं वाग्व्यवहारास्तीषां सर्वनाम्नामर्थः कथं निर्वाच्यः तथाहि ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रतिवक्तव्यः ^(२) किंशब्दो-यमाक्षेपार्थो वा कुत्सितार्थो वा । ^(३) वितर्कार्थो वा ^(४) प्रश्नार्थो वा स्यात्तत्र यदि प्रथमः पञ्चस्तदेश्वर-सद्भावे नास्ति प्रमाणमित्युक्तं स्यात्तथा च न प्रति-ज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिरिति हेत्वादिकं किञ्चिद्वाच्यं तच्च भवता नाभ्यधायि तस्मान्न्यमत्वं दोषः अत एव न द्वितीयः ईश्वरसद्भावे कुत्सितं प्रमाणमित्य-स्यापि प्रतिज्ञामात्रत्वात् अपिच साध्यसाधकत्वाद्वा तत्कुत्स्यते भवतान्यथा वा / अन्यथा चेदलं तदुद्भा-वनया साध्यसिद्धेरप्रत्युहत्वात् नापि प्रथमः प्रमाणं च साध्यासाधकं चेति व्याघातात् * गौखीयं प्रमा-णशब्द ? * इति चे ^(३) न,

(१) { अवाक्यत्वप्रपञ्चेन निग्रहसङ्गनाहृतः ।
किरोपरसाधुनाऽद्वैते प्रश्नशब्देन वाच्यते ॥ १ ॥ }

(२) "कुत्सिते वाग्वाक्षेपे तथा प्रश्नवितर्कयोः ।

किं शब्दं प्रवृत्तिसंज्ञादेवमर्थं चतुष्टये"

इति पद्ये किमोर्थंचतुष्टयवाचकत्वदर्शनात्—कीदृशार्थकोयं भवत्प्रश्न-निश्चितः किं शब्द इति पृच्छन्प्रश्ननिराणः विकल्पते किं शब्दोपमिति—

(३) यद्यपि वाचिनीये किं शब्दः सर्वनाम्नामन्वयस्तथापि विक्रममणना-क्रमसङ्घटय तत्रवाच्यत्वोपवर्जनं, व्याकरणात्तरमनुसृत्य वेति प्येषम् ।

टी० ॥ ननु यत् तत्सर्वनामपदनहिम्नैव तत्तद्विशेषलाभे
 लक्षणानां दूषणानि न प्रसज्यन्त इत्यत आह-। “अथे”ति ।
 सर्वनाम्नामाद्यस्य^(१) किंशब्दस्य तावदर्थं खण्डयति-। ^b“किं-
 शब्द” इति । आक्षेपो निषेधस्तदर्थः यथा तत्र किं नमनेन ना
 वाहीत्यर्थः कुत्सितार्थो निन्दार्थः यथा “न किं सखा साधु न
 शास्ति यो नृपं हितान्न यः संश्रुते स किंप्रभुरि”त्यादौ ॥
 “वितर्कार्थ” इति । यथा वितर्के किं किमुत चेत्यमरः यथा
 “किमिन्दुः किं पद्मं किमु मुकुरविम्बं किमु मुखं किमज्जे किं
 मीनो किमु मदनबाणी किमु दूशावि”त्यादि ॥ ^d“प्रमाणार्थ”
 इति । यथा “का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा मदस्यागमकारणं
 ते” इत्यादि यद्यपीश्वरसद्भावे प्रमाणं नास्तीति न प्रमाणा
 न्निन्तु विप्रतिपत्तिमात्रं तथाच प्रमाणमीश्वरवादिनाभिधेय
 तर्थापि प्रमाणापरत्वे दोष उक्तः ॥ “अत एवेति । न्यूननिग्र-
 हापादकत्वादेवेत्यर्थः ॥ ^f“अन्यथे”ति । कुत्सितादपि प्रमा-
 णात् नाधर्मिद्विश्वेत्तदा कुत्सितत्वेद्भावनसकलमित्यर्थः ।

मू० प्रमाणात्वयोगिनि यद्ययं प्रमाणशब्दप्रयोगस्तदा
 गौणत्वव्याघातः ‘मुख्यत्वात्’ * अथ प्रमाणाभासे
 तदाऽलं तदुद्भावनया * ईश्वरसद्भावे यः प्रमाणा-
 भासः स कुत्सित इत्यत्र परस्यापि सम्प्रतिपन्नत्वात्
 ईश्वरसद्भावे इति विशेषोपादानं च व्यर्थं स्यात्
 अन्यत्रापि विषये प्रमाणाभासः कुत्सित एव साध्या-
 साधकत्वात् अतो नापि तृतीयः तथा सति हि
 वितर्कस्य पक्षान्तरसापेक्षत्वेन पक्षान्तरमपि निर्व-
 चनीयमिति ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणमुतान्य-
 दिति स्यात् तच्च भवता नान्यथापि ततो न्यू-
 नत्वं दोषः ॥

(१) प्रमाणात्ववतिगौण्यं प्रमाणशब्द उत प्रमाणात्वपुत्र्ये प्रमा-
 णाभास इति विकल्प्य परिहरति-नेति-

टी० ॥ "प्रमाणत्वयोगिनीति । यद्यप्यलक्ष्यस्वार्थलक्षणा
शक्यमाधारणीभवत्येव यथा छत्रिणी यान्तीत्यादी तद्यप्येक-
सार्थगन्तव्यादिकमेव शक्यलक्ष्यमाधारणं तत्र लक्ष्यं नतु छत्रिणः
छत्रित्वेन रूपेणोपस्थितिः । प्रमाणत्वं प्रमाणपदप्रवृत्तिनिमित्तं
तादृष्येण प्रमाणपदं चेत्प्रमाणपरं तदा गौणत्वहानिरित्यर्थः ॥
b "नुरूपत्वादि"ति । शक्यतावच्छेदकेन रूपेण शक्योपस्थाप-
नादित्यर्थः ॥ c "अथ प्रमाणाभासे"इति । अत्र प्रमाणशब्द-
प्रयोग इत्यनुषङ्गः ॥ d "ईश्वरे"ति । अन्यत्रापि प्रमाणाभा-
सस्य कुत्सितत्वादित्यर्थः ॥ e "अतः"इति । विनकी हि सन्देहः
सच विरुद्धनानाकोटिको भवति तथाच कोट्यन्तरानुल्लेखात्
न्यूनत्वमित्यर्थः । यद्यपि कथावयवव्यायावयवहान्या न्यूनत्वं
भवति अत्र च न तथा किन्तु सन्देहकोट्यन्तःस्योल्लेखाभावः
पर तथापि संशयपरं वचनमेव विरुद्धनानाकोट्यनुल्लेखात् पर्यव-
स्येदिति भावः ॥

म० नापि चतुर्थः प्रश्नार्थात् खलु किंशब्दा त्कस्यचि-
त्पदार्थस्य जिज्ञास्यमानता प्रतीयते सा चेह प्रमा-
णपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविषयिणी प्रतीयते
यद्विषयश्च प्रश्नस्तदुत्तरवादिनाभिधेयं तदयं प्रश्न
ईश्वरसद्भावे प्रमाणसामान्यविषयस्तद्विशेषविषयो
वाभिधेयः आद्यश्चेदीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्त-
रमापद्येन याद्विषयो हि प्रश्नस्तदभिधेयं प्रमाण-
सामान्यविषयश्च प्रश्नः तच्च प्रमाणशब्देनाभिहि-
तमेव अथ द्वितीयः तथापीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्ये-
वोत्तरमापद्येत ।

टी० ॥ "कस्यचिद्"त्यादि । प्रमाणसामान्यजिज्ञासायां
प्रमाणनित्येवोत्तरं तद्विशेषजिज्ञासायामपि प्रमाणनित्येवोत्तरं
प्रश्नवाक्यस्यप्रमाणपदस्य विशेषरत्वं चेदुत्तरवाक्यस्य प्रमाण-
पदस्यापि तत्परत्वौचित्यादित्यर्थः । यद्यपि जिज्ञासा ज्ञातु-

निष्ठा सा च येन प्रष्टुमिच्छते तादृशमुत्तरं वाच्यम् अन्वयो-
 क्तस्यैव स्यात् यद्योक्तमात्रान् पृष्टः केदारानाहेति तथाच "किं
 प्रमाणमि"ति प्रश्ने प्रमाणमित्युत्तरमनुन्मत्तस्यानुचितमेव नहि
 प्रष्टा प्रमाणसामान्यमेव न जानाति तथा नति जानिच्छेत्ततः
 किं प्रमाणमिति प्रश्ने प्रत्यक्षमनुमानं शब्दो वा विशिष्य तस्य
 दर्शनीयं तथाच प्रमाणमित्युत्तरं ददन्नपेक्षिताभिधानेनाऽभव-
 चेयवचनः स्यात् । किञ्च किंशब्दोपनासेपार्श्वो वा कुत्सितार्थोवि-
 (१)ति चतुःकोटिके प्रश्ने प्रश्नवाक्यानुवादनात्रकोत्तरमित्यु-
 क्तव्यापि किं वाच्यं विकल्पकोटिकेकतरकोटिपरिग्रहमन्तरेण
 न मन निष्ठाभाविच्छेद् इति चेत् तर्हि प्रकृतेषु तुल्यम् एवं
 सति कक्षेव न वर्द्धतेति चेत्तुल्यं । तथाचेरुचरे किं प्रमाणमिति
 पृष्टः क्षितिः सकर्मका कार्यत्वात् घटवदित्यादिप्रकारेण विशे-
 षमनुपदर्शयन्नर्थांतरेण निश्चये तैव तथाप्युपात्ततः प्रश्नकण्ड-
 निदिद् वादिष्यामोहनाय महत्त्वमेवेति तात्पर्यम् ।

मू० * "यथा प्रश्नवाक्ये प्रमाणशब्दा विशेषपरः तथो-
 त्तरवाक्ये कोसौ विशेष ? *--इति चेन्न, पूर्ववदुत्त-
 रात् "अस्यापि प्रश्नस्य विशेषो विषयः किंशब्दस्य
 विशेषशब्देन सामानाधिकरण्यात्तथाच सति विशेष
 इत्येवोत्तरं स्यात् * स्यादेतत् विशेषशब्देन न
 विशेषमात्रमनिर्द्धारितमात्रं विषयितं किन्त्वसाधा-
 रणी व्यक्तिः तत्र विशेषशब्दस्य तात्पर्यं तस्मात्का-
 सावसाधारणी प्रमाणव्यक्तिरिति प्रश्नार्थः तत्र
 तादृश्याः प्रमाणव्यक्तेरभिधानमुत्तरं युक्तं नैवविधाः
 प्रलापा ? *--इति नैतदेवं, यतोत्रापि विशेष इत्ये-
 वोत्तरं यथा प्रश्नवाक्यगतस्य विशेषशब्दस्य सर्वतो
 ध्यावृत्तस्वरूपायां प्रमाणव्यक्तौ तात्पर्यं तथोत्तर-
 वाक्यस्थितस्यापि एवं च सति यत्र विषये भवदी-

(१) "चित्तकार्थो वा प्रश्नार्थो वा"--इति शेषः ।

यस्य प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्यं तदेवास्माकमुत्तरवाक्येन प्रतिपादितमिति युक्तमुक्तम् ।

टी० ॥ ननु प्रमाणविशेषप्रश्नश्चेत्तदा प्रमाणसामाभ्येनोत्तरं कथमित्यत आह-। ^a“यथे”ति ॥ ^b“कोनावि”ति । ईश्वरनङ्गादे कः प्रमाणविशेषइति प्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ^c“पूर्व-वदि”ति । प्रश्नवाक्यस्यैव तद्विशेषपरत्ववदित्यर्थः तथाच प्रमाणविशेष इत्येवोत्तरमस्माकमित्यर्थः तदेवोपपादयति-। ^d“अस्यापी”ति ॥ ननु विशेषेपि प्रश्नो ऽर्थात्विशेषाभिप्रायकस्तथाच विशेष इत्युत्तरं कथं सङ्गतं स्यादित्याशङ्कते-। ^e“स्यादेतदि”ति । अनाधारणी कर्त्तव्यतापि प्रश्नवाक्यस्य विशेषपदेनाभिधेया चेत्तदोत्तरवाक्यस्यविशेषपदमपि तत्परं स्यादविशेषादित्याह-। ^f“यत्”इति ।

म० * “अथ मन्यसे ^bकिमिह प्रमाणमिति पृच्छतोयमभिप्रायः अत्रार्थेनुमानं प्रमाणमितरद्वेति ? *—तत्राप्यनुमानमित्युत्तरमस्माकं * किं तदनुमानमिति चेत् ? *—अथमपि प्रश्नोनुमानमात्रविषय उत तद्विशेषविषयइति विकल्प्य प्रमाणप्रश्नवदुत्तरं वाच्यमिति अत्र च सङ्ग्रहश्लोकी ^c“यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्तया । वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनापि तथैव वाचा स तथाविधोर्थः ॥ ^dप्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो ‘वाचानयैवैष भवेन्निरुक्तः । ^eइदं त्वयाप्यास्थितमेतथैव गिरा स्वपृच्छा विषयस्य वक्तव्या” ॥

टी० ॥ मन्वीश्वरेनुमानं प्रमाणमन्यद्वेत्येवनाकार एव प्रश्नः कर्त्तव्य इत्याह-। ^a“अथे”ति ॥ ^b“किमिह प्रमाणमिति पृच्छत”इति । प्रमाणं प्रष्टुमुद्यतस्येत्यर्थः ॥ ^c“यथाविधमिति । यं प्रकारं प्रमाणत्वादिगुणैश्च प्रश्नवाक्यं प्रवर्तते तमेव प्रकारमादायोत्तरवाक्यमपि प्रवर्तनीयमित्यर्थः ॥ मन्वनेनोत्तरेण प्रष्टु-

जिज्ञाना कथं विच्छिद्यतामित्यत आह-। d“प्रश्नस्ये”ति ।
अविषयमादायोस्तरे सत्त्ववितुरेवार्थान्तरं स्वादित्यर्थः ॥
एतदेवाह-। “वाचे”ति ॥ ननु नामान्तरादपि प्रश्नो विशेष-
वपारस्येषां विशेषमभिधानस्य भवति सत्त्वमेतदनादेयं
स्वादित्यत आह-। f“इदमि”ति । स्वपृच्छाविषयस्य वक्ता
स्वपृच्छाविषयमभिधानेन त्वया एतयैव गिर प्रश्नलक्षणयैव
गिरा इदमभिधेयमास्थितं स्वीकृतमित्यर्थः तथाच मयापि
कथं नास्थेयमिति भावः ।

म० “प्रश्नार्थाच्च किञ्चिदज्ञानासाविषयताऽर्थस्य प्रती-
यते जिज्ञासा च ज्ञातुमिच्छा इच्छा चाज्ञाते न
सम्भवति अतिप्रसङ्गात् तस्मादीश्वरविषयं प्रमाणं
ज्ञातुमिच्छता तत्र स्वज्ञानमिच्छाकारणीभूतं वक्त-
व्यं तद्व्याभूतार्थं वा स्यादव्याभूतार्थं वा यथार्थं
चेत्तेनैव ज्ञानेन स्वकीयो विषयः प्रमाणमुपस्थाप्यते
विषये प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण तदीययथार्थत्वस्य वक्तु-
मशक्यत्वात् तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरस-
द्भावः उपास्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोस्माकमी-
श्वरसिद्धिमनोरथः अथायथार्थं तत्तस्मिन्नप्यथार्थ-
ज्ञानविषये यद्यस्माभिरप्ययथार्थमेव ज्ञानमुत्पाद-
नीयामिति भवतः पृच्छतो वाञ्छितं तदा केय स्वा-
धीनेऽर्थे परापेक्षा भवानेवायथार्थज्ञानोत्पादनकु-
शलो यथैकं तत्र मिथ्याज्ञानमजीजनत्तथापरम-
प्युत्पादयतु वयं पुनर्यथार्थज्ञानस्योत्पादयितारो
मिथ्याज्ञाने सर्वथैवाकृतिनः किमिह नियुज्येमहि *
अथ मदीयस्यायथार्थज्ञानस्य यो विषयः स मदी-
ययथार्थज्ञानविषयो भवता क्रियतामिति ? *-त्व-
दीयं वाञ्छितं तदा व्याघातादीदृश्यर्थं भवतः

प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना शुक्तिका रजतात्मत्वेन मम यथा-
र्थज्ञानविषयो भवत्वित्येतदर्थं प्रेक्षावात् कथङ्कारं
प्रपतेत येन रूपेणायथार्थज्ञानविषयत्वं तेन रूपेण
यथार्थज्ञानविषयत्वे उयाचातात् ॥

टी० ॥ प्रकारान्तरेण प्रश्नस्वरूपमुपक्रमते-। “प्रश्ना-
र्थादि”ति । ज्ञाते एव जिज्ञासा तथाच ज्ञानार्थं प्रश्नानुपपत्तिः
यश्च ज्ञानं प्रमाणाविषयकं तदास्ति तद्यदि यथार्थं तदा प्रमाणं
प्रमितमेव तथाभूद्यथार्थं तदा वस्तुगत्या ईश्वरे प्रमाणं
नास्ति तत्र त्वया प्रमाणगोचरमयथार्थमेव ज्ञानं ज्ञाधीयता
मिति विपरीतकलक एवायं प्रश्नः यद्विशेष्यकं यत्प्रकारकं
मयायथार्थज्ञानं तद्विशेष्यकं तत्प्रकारकमेव मम यथार्थज्ञानं
क्रियनामिति च न नश्यत्येवेति प्रचक्षते ॥

सू० * अथ मन्यसे स्वसिद्धान्तमनुकन्धानेन भवता यथा-
र्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयमतस्तदर्थं भवाननुयुज्यते ? *
-इति मैवम्, ईश्वरसद्भावविषयो भवता प्रमाणा-
भासः प्रमाणतया भ्रान्त्या प्रतीतस्तस्य प्रमाणात्व-
मस्माभिव्युत्पादनीयमिति नास्माकमीदृशः सि-
द्धान्तः प्रत्युतेश्वरसद्भावविषयं यत् प्रमाणं भवता
प्रमाणाभासत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतमस्ति तत् प्रमा-
णनीयमिति * स्या^(१)न्मतमीश्वरसद्भावविषयस्य
प्रमाणस्य भवता ज्ञापनमात्रं क्रियतामित्यभिमतं
पृच्छतामस्माकं न तु प्रमाणेनाप्रमाणेन वेति विशे-
षोप्यभिमत ? -इति न, “ज्ञापनमात्रस्याप्रमाण-

(१) मतसिद्धान्तयोरविशेषात् “विद्वान्म इत्यनुपपन्नोऽयम्”-
इति प्रमाणतयाङ्कुरस्याख्यानानुलोपेन पाठोपरिकः कौरिचम् “स्वात्म-
तम्”-इति पाठो मूले प्रसिद्ध इति नश्यत्येते । यद्वा इत्येवमं कृत्वा
“इवादेतादृशं तव मतं तथापीश्वरसद्भावविषयस्य”-इत्यादि यद्वाप-
रतया कथं सिद्ध्यन्तीति योजनावः ।

ज्ञानमादावाद्युक्तमनुष्यजनीयं * स्वादेतत् वेवमीश्व-
रसद्भावविषयकप्रमाणाप्रतीतिरस्माकमुत्पन्ना वा व्य-
भिचारिणी सत्त्वा वेति संशयोऽस्माकं तेनैक पक्षनि-
र्द्धारणाधीनं यदिदं दूषणमवादि भवता तन्निरव-
काशमिति * नैतदस्ति, एवं हि तस्यां प्रतीती
यथार्थत्वाप्यथार्थत्वसंशये तस्याः प्रतीतिर्गोचरो यत्प्र-
माणं तस्यापि योसौ विषय ईश्वरसद्भावस्तत्र सर्वत्रैव
संशयानस्य भवतः प्रमोयं नतु विप्रतिपन्नस्येति स्या-

टी० ॥ यद्यपि तथैश्वर प्रमाणदाह्यं मनो नपि प्रमा तत्र अन्य-
नामिति प्रकटुः प्रिप्रायवर्णनामन्तरमीश्वरसद्भावविषय इत्याद्य-
मन्वदुत्तरं तथापि तात्पर्यगत्या कथञ्चिद्दूषणं (१) नतु प्रमाण-
नीयमित्यत्र विद्वान्त इत्यनुष्यजनीयं । “ज्ञापनमात्रस्ये”ति ।
यद्यप्यप्रमाणादाय ज्ञापनमित्यत्राऽधितुरेकानिष्टं तथापि
अत्रत्युक्तयैव नत्समप्रतीत्ये । दृष्टं प्रज्ञावासानुगतक इत्यर्थः ॥
एतदेवम् - “तत्रे”ति ॥ ‘तेने’ति । यथार्थं पक्षे ईश्वरनिर्दि-
रवथार्थं पक्षे ईश्वर गोचरा पथार्थं ज्ञानोत्पादनशक्तिस्तत्रैवेत्यदि
दूषण निरवकाशमित्यर्थः ॥

सू० “तथाच स्वीकृत शिष्यभावं प्रसादय चिरं चरन्तु-
श्रूषाभिरस्मान् खेत्स्यामस्ते संशयमिति विप्रतिपन्ना
एववायमाहार्यः संशयोऽस्माकमिति चेत्तर्ह्यवधृतै-
ककोऽय एव वयं कार्यानुरोधात्तु संशयमालम्बामहे

(१) “ईश्वरसद्भावविषये वेदाः प्रमाणाभावः”-इति, “अनु-
मानादिकमेव तत्र मानम्”-इति वा य ईश्वरसद्भावविषयः स्वानुभवो
भवता प्रमाणाभावोपि नतु प्रमाणात्तया प्रतीतवत्त्व प्रमाणात्वं नास्मा-
भिर्व्युत्पादनीयं किन्तु वेदानां प्रमाणात्त्वमेव व्युत्पादनीयमित्यर्थः ।
यद्वा यो वेदादिः प्रमाणाभावत्वेन कपेक प्रमाणात्तौ ज्ञानान्तरं प्रमा-
णात्वं न व्युत्पादनीयं किन्तु प्रमाणे प्रमाणात्त्वमकारका भवदीश्वरप्रतीति-
रेव प्रमाणात्वात् तेनाप्यर्थतस्तदेव विदूषयतीति भावः ।

इत्युक्तं स्यात् एवं तद्धिं तदेव कीट्यवधारणं भवतां
यथार्थमयथायं वेति विकल्पोक्तयुक्तया दूष्यं
एतेनाऽनध्यवसायेन तदस्माभिः प्रतिपन्नमित्यपि
निरस्तं वेदितव्यं व्यभिचारिविषयं वा तदिति विक-
ल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात् परस्परविरोधे हि न
प्रकारान्तरस्थितिरितिन्यायात् ^६एवमीश्वराभिस-
न्ध्यादौ तत्तत्स्थानस्थं सर्वनामान्तरखण्डनं द्रष्टव्यम् ॥
इति श्रीश्रीहर्षमिश्रकृतानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डनखाद्ये
सर्वनामार्थानिरुक्तिस्तृतीयः परिच्छेदः ॥

—:०:—

टी० ॥ ^६“अनध्यवसायेने”ति । अनध्यवसायाख्यं वैशे-
विकाभिमतमविद्याप्रभेदोऽनाधारणधर्माजन्यं ज्ञानं तत्रापि पूर्वं
एव विकल्पः यद्यपि प्रमाणं किञ्चिदपीश्वरं न गोचरयतीत्य-
स्माकं पक्षः किञ्चित्प्रमाणमीश्वरं गोचरयतीति त्वत्पक्षस्तत्र
पक्षद्वये किं तत्प्रमाणं यदीश्वरं विषयीकरोति अत्र च भव-
द्विकल्पजालस्य नावकाशः तत्र यद्यथा प्रमाणमुपदर्शनीयं
तन्मया खण्डनीयमिति नचेश्वरः प्रमितो नवेति विकल्पावम-
रोत्रापीति वाच्यम् अद्वैते किं प्रमाणमिति खण्डनेन पौनर-
क्त्यापानात् सर्वनामखण्डनेनोपक्रान्तेनाऽसंस्पृशोक्तेति तथापि
वादिव्यासाहनापानतो भवत्यत्रानेन विकल्पशालेनेति भावः ॥
ननु सर्वनामखण्डनमुपक्रम्य किं गच्छन्नात्र खण्डनं न्यूनमत
आह— ^६“एवमि”ति ईश्वराभिमत्यग्रन्थे सर्वनामखण्डनं कन-
मेवात्रातिदिश्यत इति न न्यूनतेति भावः ॥

इति तृतीयः परिच्छेदः ॥



खण्डनखण्डखाद्यम् ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

—:0:—

म० (१) "ननु तथापि भावात्मके तस्मिन्नीश्वरे विधायकं किञ्चित्प्रमाणं वक्तव्यं^(२)मिति चेत् किं पुनर्भावत्वं *विधित्वमिति ? *—चेन्न, ^३पर्यायाप्रज्ञात् *स्वरूपसत्त्वमिति ? *—चेन्न, 'अभावस्यापि तथाभावात् "प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनाननुगतत्वापत्तेश्च *अस्तीति प्रतीतिविषयत्वम् ? *—इति चेन्न, अभावो घटास्यास्तीतिप्रतीति सम्भवेनाभावस्यापि 'तथात्वप्रसङ्गात् 'नास्तीतिप्रतीतिविषयत्वेपि घटादेर्भावत्वानिवृत्तेः ॥

टी० ॥ भावत्वस्य गहनं पूर्वखण्डनेन सङ्गमयितुमाह—।
 "नन्वि"ति । विधित्वमिति यदि भावत्वपर्यायस्तत्राह—।
 "पर्याये"ति । अथ विधिसुखप्रत्ययवेद्यत्वं तदग्रे दूष्यं स्वरूपसत्त्व यदि सत्तासंबन्धस्तदाग्रे दूष्यं स्वरूपमेव सत्त्वं चेत्त्राह ।
 "अभावस्यापी"ति ॥ तत्रैव दोषान्तरमाह—। "प्रतिस्वमिति ।
 प्रनि वयस्कीत्यर्थः । "तथात्वप्रसङ्गादि"ति । भावत्वप्रसङ्गादित्यर्थः किञ्चास्तीतिप्रतीतिविषयत्व यदि भावत्वं तदा घटाभावो नास्तीत्यनेन प्रकारेणानुभूयमानस्य घटस्य भावत्वं निवर्त्तत नचैवमतोस्तीतिप्रतीतिविषयत्वमेव न भावत्वमित्याह नास्तीति यद्वास्तातिप्रतीतिविषयत्वमेव चेद्भावत्वं तदा नास्तीतिप्रतीतिविषयत्वमभावत्व वाक्यं तच्च न सम्भवति

(१) { प्रमाणादिपदार्था ये तार्किकादिप्रकल्पिताः । }
 { तेषामवच्छिन्ना वाच परिच्छेदे प्रकीर्यन्ते ॥ }

(२) यद्यपि न पार्थक्ये ईश्वरत्वज्ञानेप्रमाणं प्रदुं तथापि भावत्वात्स्य विधायक प्रमाणसम्भवेनाविच्छेदविधायकप्रमाणं वाक्यमिति सम-
 यपक्येति ॥

घटाभावो नास्तीतिभावस्यापि ताद्रूप्येण प्रतीतेरित्याह—
/“नास्ती”ति । यद्वा घटोस्ति घटो नास्तीत्युभयत्रापि घटस्य
प्रतीयमानत्वेनास्तीतिप्रतीतिविषयत्वमभावत्वं^(१) कथं न नि-
रुक्तमित्याह— “नास्ती”ति । केचित्तु “तर्हि नास्तीतिप्रत्यया-
विषयत्वे सत्यस्तीति प्रतीतिविषयत्वं भावत्वमित्याशङ्कासम्भ-
वीदं लक्षणमित्याह नास्तीत्या”भास^(२)माहुः ॥

म० “अस्तीति चार्थो वा शब्दो वा विवक्षितः नाद्यः
तस्यानिरुक्तेः * सत्ता तदर्थ ? *—इति चेन्न, समा-
न्यादीनां तदभावादभावत्वापत्तेः स्वरूपसर्वं च
निरस्तं नापि द्वितीयः “अभावोऽस्तीति प्रतीतेरुक्त-
त्वात् वर्तते इत्याद्याकारेण च प्रतीयमानस्याभा-
वत्वप्रसङ्गात् * सौप्यस्तिपर्याय ? *—इति चेन्न,
‘उभयसंधारणैकार्थनिर्वचनमन्तरेण पर्यायत्वस्य प्र-
तिपादयितुमशक्यत्वात् “यत्रैकस्यास्तिपदप्रयोगस्त-
त्रैवापरस्य वर्तते इति प्रयोगात् * सामान्येन ताव-
त्पर्यायत्वं शक्याधिगमम् ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ “अस्तीति चे”ति । अस्त्यर्थस्य सत्तादेः प्रती-
तिविवक्षितास्तीतिशब्दोर्लेखिनी प्रतीतिर्था विवक्षितेति विर-
लपार्थः ॥ ^b“तस्ये”ति । अस्तिशब्दार्थस्येत्यर्थः सत्तावत्त्वं प्रा-
वृत्तं सामान्यादौ नास्तीत्याह— “ने”ति ॥ ^d“अभावोस्ती”ति ।
अस्तिशब्दोर्लेखिप्रतीतिविषयत्व^(३)मभावेतिठयापत्तं लक्षणनि-
त्युक्तत्वादित्यर्थः । अस्तीतिशब्दोर्लेखस्य तन्त्रत्वे दूषणान्त-
रनाह— “वर्तते” इति । यद्यपि वर्तते इत्युल्लेखेपि कदाचि-
दस्तीत्युल्लेखोस्त्येष तावतैव तत्रापि लक्षणं मतं तथाप्युल्लेखो

(१) पुस्तकागतरे “भावत्वमि”ति पाठः । तत्र नास्तीति प्रतीति-
विषयत्वमिति पदच्छेदः । (२) चाभावम्=अर्थाभावम् । (३) अस्ति-
शब्दोर्लेखि प्रतीतिविषयत्वं लक्षणमभावेऽति व्याप्तिमित्यन्वयः ।

वस्तुस्वरूपनिरुक्ती न तन्त्र^(१)मित्येवंपरो ग्रन्थः f "उभये"नि ।
अनिकप्रवृत्तिनिमित्तानां पदानां पर्यायत्वाद् न च तस्मास्तीति
न पर्यायत्वमित्यर्थः ययोरेकत्रार्थे प्रयोगस्तावेत्र पर्याये नतु
प्रवृत्तिनिमित्ताभेदापि तत्र तन्त्रमिति शङ्कते-। g "यत्रे"ति ॥

म० प्रमेयाभिधेयादिशब्दानाम् "तथात्वेप्यपर्यायत्वात्
यत्रेत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तार्थत्वे च त इवचनप्रसङ्गस्त-
दवस्थः स एवार्थो^(२)भावत्वमुच्यतां किं शब्दोत्प्ले-
खगवेषणया * 'अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वम् ?
* इति चेन्न, "व्यवच्छेद्यासम्भवेन परपदवैयर्थ्यात्
'भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधात्मकत्वस्वीकाराच्च *
'तथापि भावे' नास्तीत्यभावप्रतिपत्तिवद्भावा ना-
स्तीतिभावस्याप्रतीतिः' * इति चेन्न,

टी० ॥ "तथात्वेपी"ति । एरुधर्मिवाचकत्वेदीत्यर्थः ॥ "ननु
यत्रेति । धर्मिमात्रं नोक्त येनातिप्रसङ्ग स्यादपितु प्रवृत्तिनि-
मित्तमेव तथोक्त भवति हि घटकलक्षणपदयोरभिन्न प्रवृत्तिनि-
मित्त वाच्य नतु प्रमेयाभिधेययो^(३)रपि प्रमाविषयत्वाभिधान-
विषयत्त्रयोः प्रवृत्तिनिमित्तयार्थेदादित्याशङ्काह-। b "यत्रे"ति ॥
c "अपरे"ति । अभावस्य अस्तिवद्भावात्मकतया तद्व्यव-
च्छेद इत्यर्थः प्रतिषेधात्मकं यत्तत्परप्रतिषेधात्मकमेव भवति
नतु स्वप्रतिषेधात्मकमपीति व्यवच्छेद्याभावात्परपदवैयर्थ्यमि-
त्याह-। "व्यवच्छेद्ये"ति तस्यैवाप्रतिषेधात्मकत्वमेव लक्षण-
मस्तु किं परपदेनेत्याशङ्कासम्भवं तत्र दोषमाह-। "भावाभा-
वयोरे"ति । नस्वभावोनास्तीत्याकारा याद् भावप्रतीतिः
स्यात्तदा प्रतिषेधात्मकत्वं भावस्यापि भवेदित्यसम्भवः स्यात्-
तवेवमित्याह-। f "तथापि"नि ।

(१) "न तन्त्रमि"ति प्रतिज्ञायाम् 'शुक्ली रजतोत्प्लेखेपि तत्त्वज्ञ-
भावादि'ति हेतुप्रवृत्त्यर्थः । (२) "स एवार्थः" इत्यतः प्र. क् "एकत्व-
वा" इत्यधिकः पाठः केचुनित्पुस्तकेषु दृश्यते तथाऽयुक्तत्वात्त्रिजिह-
वेक्षणीयः । (३) प्रमेयाभिधेययोः प्रमेयाभिधेयपदयोर्इत्यर्थः ।

सू० ^a तावतापि लक्षणानिरुक्तेः * ^bअपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वम् *—इति चेन्न, 'चक्षुरादि-भिर्भावत्वाग्रहणप्रसङ्गात् नहि प्रतीयमानत्वं चक्षुरादिग्राह्यम् ^dअभावोनास्तीति प्रतीतेर्निर्विषयत्व-प्रसङ्गाच्च 'नहीयं भावविषया भवत्पक्षे परनिषेध-मुखेन प्रतीयमानत्वात् नाप्यभावविषयैव तन्निषेधार्थ-त्वात् * ^f नैव' प्रतीतिरेव स्यात् ? *—इति चेन्न, ^eशाब्द्याः प्रतीतेः सम्भवात् ।

टी० ॥ एनादृशप्रतीतिविरहेपि स्वाभावाप्रतिषेधात्मकत्व-वस्तुभिर्दुःखं भावस्यैव सम्भवस्तदस्य एवेत्याह—। ^a 'ता-वतापी'ति ॥ ननु परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानादभावादपर-प्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्व भावस्य विशेषः स एव लक्षणानि-कथं लक्षणानिरुक्तिरित्याह—। ^b 'अपरे'ति । प्रतीतेश्चक्षुरवे-द्यत्वेन तदुदितं भावत्वमपि चक्षुरवेद्यं स्यादित्याह—। ^c 'च-क्षुर'ति । यदि परप्रतिषेधमुखेनाप्रतीयमानत्व भावत्वं भवे-त्तदा दोषान्तरमाह—। ^d 'अभाव'इति । निर्विषयत्वमेवोपपा-दयति—। ^e 'नही'ति । भावेषु सर्वेषु विधिसम्बन्ध एव प्रत्ययो ननु निषेधमुखोपीति शङ्कते—। ^f 'नैवनि'ति । आकाङ्क्षादिम-हिम्ना शब्दादेतादृशी प्रतीतिः स्यादेवेत्याह । ^e 'शाब्द्या'इति ।

सू० आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः प्रतिस्वं संसर्गबोधनात्
^a "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" *
प्रत्यक्षप्रतीते^bस्तथा विवक्षितत्वा^(१)दयं न दोष ?
—इति चेन्न, 'सर्वस्य भावस्य प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात् *
शेखरपक्षे सर्वं प्रत्यक्षम् ? *—इति चेन्न, 'तेन तेषा-
मपरप्रतिषेधात्मकतया ग्रहणे प्रमाणाभावात् *

(१) "अभावो नास्तीति प्रतीतेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गश्च"—इति वि-
ज्ञान्युक्तमाक्षिप्य समावृत्ते—यद्यपीत्यादिना ।

तेषां विधिरूपतया तथैव ग्रहणम् ? *- इति चेन्न,
विधिरूपत्वस्यानवधारणात् * 'यदपरप्रतिषेधा-
त्मकतया शब्देनापि बोध्यते तत्तावद्भावरूपम् ?
*-इति चेन्न, 'परपदवैयर्थ्यात् ।

टी० ॥ ननु विषय एव न कश्चित्तादृशो यत्र शब्दोपि
प्रतीतिं जनयेदित्यत आह-। "अत्यन्ते"ति । यद्यप्य(१)सत्-
रूयानिवादिनं प्रति प्रतीतेर्निर्विषयत्वापादनं न दोषः अन्येषां
मते योग्यताविरहात् प्रतीतिरियं न शब्दादपि अन्यथाख्या-
तिश्चेत्तदा मन्नेव विषयस्तथापि खरहृन्नान्तरावष्टम्भेनेदमुक्तं ॥
b'तथे'ति । अपरप्रतिषेधमस्त्वस्येत्यर्थः । अतीन्द्रियभावा-
ठयापिनमाह-। "सर्वस्ये"ति ॥ d'तेने"ति । ईश्वरेण परमा-
रवादीनामपरप्रतिषेधमस्त्वेन प्रतीयमानत्वं ननु परप्रतिषेधम-
स्त्वेनेत्पत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥ ईश्वरस्यातीन्द्रियेषु विधित्वे-
नैव ज्ञानमिति नाठयाम्परित्याह-। "तेषामि"ति । विधित्वं
भावत्वमेव पर्यवस्येत्तच्चानिरूपितमेवेत्याह-। "विधी"ति
नन्वतीन्द्रिये भावे यद्यप्यपरप्रतिषेधात्मकतया प्रत्यक्षेण न
ज्ञानं तथापि शब्देन तादृशी प्रतीतिरस्त्येवेत्याह-। "यदी"ति ।
अत्रापि पूर्ववत् परपदवैयर्थ्याभित्याह-। "परे"ति ।

मू० "तस्यागोप्यचाक्षुषादित्वापत्तेः * ^bसुरभिचन्दनमि-
त्यादाविवान्योपनीतभगवत्तत्रचाक्षुषत्वं भविष्यति ?
*-इति चेन्न, तस्याविधिविषयेण विशिष्टाया बुद्धे-
र्विषयविशेषणताग्रहे स्वाश्रयोऽशतः स्यात् तेनोपल-
क्षितायास्तथात्वे चाभावविशिष्टभावग्रहार्थस्याभाव-
स्य तत्त्वापत्तेः तेन 'यदेवंविधं तद् भावरूपमिति च
ब्रुवतैवं विभत्वात् भावत्वमन्वद्वाप्यम् ॥

(१) "तथाविधत्वात्" -इति क्वाचित्कस्यपपाठः ।

टी० ॥ ननु परपदस्यागेनेव लक्षणमस्तिवत्यत आह—।
 “तस्याग” इति । प्रतीतिगर्भभावत्वस्याचाक्षुषत्वापत्तिरित्यर्थः
 ननुपनीतमेव प्रतीयमानत्वं चक्षुषापि दृष्टानामित्याह—। ^b“सु-
 रभी” इति । विषयविशिष्टा प्रतीतिरूपनीता सती विशेषणं भव-
 तीति विषयांशे विषयवृत्तावशान् आत्मनाश्रयः अचोपनीतायां
 प्रतीतौ विषय उपलक्षणं प्रतीतिश्च पुनर्विषयेऽप्युपलक्षणं तदा
 विशिष्टस्य तद्विशिष्टाश्रयतायानात्मनाश्रयो न भवति किंतु घटाभा-
 वबद्धनलनिप्रतीत्या विषयीक्रियमाणस्याभावस्यापि भावत्वं
 स्यात् प्रतिषेधानात्मकतया वा भूतलप्रतीतिस्तया भावस्याप्यु-
 पलक्षितत्वादिप्याह—। “तथाविधे” इति । प्रतीतौ वा विषय
 उपलक्षणं तथापि स एव दोषः ग्रहार्थस्याभावस्येति पाठे ग्रह-
 स्यार्थो विषयो योऽभावस्तस्येत्यर्थः दोषान्तरमाह—। ^d“यदेवं-
 विधमि” इति । यत्परप्रतिषेधानात्मकतया प्रतीयमानं तद्भाव-
 स्वरूपमिति । त्वयोच्यते तथाच लक्षणात्त्वत्वावच्छेदकं भाव-
 त्वमन्यदेव त्वया वक्तव्यं तच्च दुर्वचमित्यर्थः ।

सू० “अभेदे च यदेवंविधं तद्भावरूपमिति नियमानुपपत्तेः
^bअस्योपलक्षणत्वे चोपलक्ष्यत्वस्यान्यस्य वाच्यत्वात्
 अस्यैव भावार्थत्वे वाऽभावो नास्तीति प्रतीयमानस्य
 भावस्य भावत्वाभावप्रसङ्गात् “भिन्नं च भावत्वं न
 सन्भवति षट्पदार्थव्यतिरेकप्रसङ्गादिति यच्च कि-
 ञ्चिद्भावत्वं तत्स्वात्मन्यस्ति नो वा अस्ति चेत्स्वा-
 त्मनि वृत्तिविरोधः नास्तिचेत्स्वस्यान्यप्रतिषेध-
 मुखेनाप्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्ग इति ।

टी० ॥ अथ लक्षणस्य लक्ष्यतावच्छेदककृपाभेदेनेव मन्यते
 तदा लक्षणलक्ष्यतावच्छेदकयोरीं नियमः सनठवापिस्तदनुपपत्तिः
 अभेदे ठयाप्यभावात् नवति पृथिवीत्वगन्धस्पर्शयोः समनि-
 यमो भिन्नयोर्नत्वभिन्नयोरेत्याह—। “अभेदे चे” इति ॥ ननु
 यल्लक्षणत्वेन दर्शितं तदुपलक्षणं नचोपलक्षणेनापि नियमोक्ती-

क्रियते येनाभेदे ननुपपत्तिः स्यादित्यत आह—। “अस्ये”ति ।
 यज्ञस्यत्वेनाक्त सचेदुपलक्षण तथापि भावत्वमुपलक्ष्यतावच्छे-
 दकमन्वदेव अक्तव्य • स्युपलक्ष्यतावच्छेदक भवतीत्यर्थः भवतु
 वा लक्ष्यतावच्छेदकमेव रूपं लक्षणं तथापि प्रतिबंधानात्मक-
 तया प्रतीयमानत्व लक्षणमव्यापकमित्याह—। “अस्ये”ति ।
 अभावे। नास्तीति भा- स्यापि परप्रति- विधमुखेन प्रतीयमानत्वा-
 दादित्यर्थः ननु लक्षणभिन्नमेव भावत्व किं ह्यस्यादित्यत आह—।
 “भिन्न चे”ति । विकल्पितप्रकारभिन्नत्वे तस्य सत्प्रमपदार्थ-
 त्वापत्तिरित्यर्थः ॥ “स्वस्ये”ति । अपरप्रतिविधमुखेन^(१) प्रती-
 यमाने भावत्वे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः । ननु यद्यपि भावत्व
 स्वरूपं^(२) न । संस्यन्वत्त्वमेव तच्च सत्तायां मत्सु^(३) च घटादिदृ-
 विशिष्ट सामान्यादिदृष्ट्येकार्थसमवायेन समवाये च स्वह्यसं-
 न्येनैवं सर्वत्रेति नाठयात्त्यतिव्याप्ती लक्षण तु सत्तासंबन्धो-
 विषयत्व तस्य चाक्षुषत्वेऽपि न दोषः नहि लक्षणलक्षणयोरेक्या
 ह्यत्वनिवृत्त सत्तासंबन्धवत्त्वेपि सत्तासंबन्धवत्त्वमन्वदेव तच्च नदे
 वाच्यद्वेति न दोषः प्रमेयत्वे प्रमेयत्ववत् तथापि मशाखण्ड
 नाभिप्रायोऽप्यपि भावः ।

म० * 'नन्वेवमीश्वरे प्रमाणानुपदर्शनात्तदभाव स्वाप-
 द्याते इति चेत् ? * -अभावत्वं किमभिधीयते * निषे-
 धात्मकत्वमिति चेत् ? * तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं
 तदा भावेऽप्यस्ति भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्पर-
 प्रतिक्षेपात्मकत्वस्वीकारात् * “अथाभावत्वमेव ?
 * -तदा न निवृत्तः पर्यनुयोगः 'एतेन विषेधमुखेन
 प्रतीयमानत्वमिति निरस्तम् * भावविरोधत्वम् ?
 * -इति चेन्न, सर्वभावविरोधित्वं वा तद्विशेषवि-
 रोधित्वं वा नाद्याः अविद्धेः ।

(१) अपरप्रतिविधमुखेन—परप्रतिविधेऽनात्मकत्वेनेत्यर्थ इति न
 न्यायानुसंगः स्वस्येयोर्वैयधिकारवत् । (२) “लक्ष्यतावच्छेदकम्”—इति ।
 शेषः । (३) मत्सु—मत्तावत्सु ।

टी० ॥ अभावत्वस्वरूपाय सङ्गतिङ्करोति-। “नञ्चेव-
नि”ति । यद्यपि प्रमाणापुपदर्शनमात्रेण नाप्तावधयेवचानं
तथापि सङ्गतिमात्रार्थमेतदुक्तम् । ^b“अथाप्तावत्वमेवे”ति ।
प्रतिषेधात्मकत्वमित्यपुषल्लुकार्यं । ^c“एतेने”ति । निषेधशब्देना-
भावाभिधाने पर्यनुयोगानिवृत्तिः प्रतिक्षेपाभिधाने च नावे-
ऽतिव्याप्तिरिति पूर्वोक्तदोषेणेत्यर्थः अभावोनास्तीतिप्रतीत्या
निषेधमुखेन भावस्यापि प्रतीयमानत्वादित्यर्थः ।

सू० “नहि घटाभावो भूतलादि विरुणद्धि नापि द्वितीयः
^bभावानामपि केषाञ्चित्तथाभावात् * अथ सहान-
वस्थानं विरोधो विवक्षितः स भावानां नास्ति ?
*-इति चेन्न, गोत्वाऽऽश्वत्वादी तस्यापि भावात् *
एकविधावन्यनिषेधः ^dस ? *-इति चेन्न, भेदे भाव-
भेदयोरेव प्रसङ्गात् ^f* एकविधिरेवान्यनिषेधः स ?
*-इति चेन्न, निषेधस्याभावात्तत्वे भावात्तत्वे वा-
सिद्धेः * नास्तीतिप्रतीयमानत्वम् ? *-इति चेन्न,
घटाभावो नास्तीति घटस्य तथाप्रतीयमानतया
^gऽभावत्वापत्तेः ॥

टी० ॥ “नही”ति । सहानवस्थानं प्रतियोग्यनुयोगि-
भावो वा विरोधो वाच्यस्तदुभयं च घटाभावस्य भूतलादिता
न सन्नतीत्यर्थः ॥ ^b“भावानामि”ति । उत्तरसंयोगेन कर्मणो
विभागस्य च ब्रह्मघातकविरोधदर्शनादतिठयाप्तिरित्यर्थः ^c“त-
स्यापी”ति । सहानवस्थानस्यापीत्यर्थः ॥ ^d“स” इति । विरोध
इत्यर्थः नीलविधौ पीतानिषेधोस्तीति तत्रातिठयाप्तिरित्याह-
^e“भेदे” इति । नीलपीतयोर्न परस्परप्रतिषेधात्मकत्वं किंतु
परस्परविरुद्धताप्यत्वमात्रमेतौ नातिठयाप्तिरिति शङ्कते-
^f“एके”ति । निषेधपदं पद्यभावात्तत्वं तदा तदनिरूपणादेवा-
सिद्धिरथ भावार्थकं तथाप्यनिद्धिर्नहि निषेधपदं भावनभिषत्तं

वृत्त्यर्थः भावार्थत्वे एकविधिर्नापरनिवेशोपि तु विधिरिवेत्य^(१)-
निद्विरित्यप्याहुः ॥ ७ "अभावत्वापत्तेरिति । अभावलक्षणस्य
भावेतिठपापत्तेरित्यर्थः यद्वा लक्षणस्य लक्ष्यभावच्छेदकधर्म-
व्याप्यत्वेन भावेच्छेदकत्वं गतं तदा तस्याभावत्वापत्तेरित्यर्थः ॥

सू० "अस्तीतिभावत्वनिरुक्तौ यदुक्तं दूषणं तदापत्तेश्च *
प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वम् ? *—इति चेन्न,
प्रतियोगिनः परार्थत्वेतिप्रसङ्गात् विरोध्यर्थत्वे तद-
निरुक्तेः 'असदर्थत्वे न जर्थस्यासिद्धेः अतीतानागत-
ज्ञानादौ विषयादिनातिप्रसङ्गात् यच्च किञ्चिद्भा-
वस्य लक्षणमुच्यते स भावोभावो वा नाद्यः भाव-
स्याभोधानाश्रितत्वात् "विषयिधर्मण च कथमपि
तथात्वे तन्निर्वाच्यं स्यात् ॥

टी० ॥ "अस्ती"ति । अस्तीतिप्रतीयमानत्वं भावत्वम
नास्ति शब्दार्थो वा विवक्षितस्त्वच्छब्दोल्लेखमात्र वा आद्येऽग्नि-
द्विरित्येऽतिप्रसङ्गः किंवाभावस्य प्रतीतिगमत्वे तदचासुत्वत्वा-
द्यापत्तेरित्यादिदूषणमत्राप्युच्यमित्यर्थः ॥ "प्रतियोगिन" इति ।
परनिरूपणाधीनानरूपणत्वं ब्रह्मयोगादावनिव्यापकं विरो-
धिन्निरूपणाधीननिरूपणत्वं च विरोधानिरुक्त्य दुर्ग्रहमित्यर्थः ॥
"असदि"ति । असन्निरूपणाधीननिरूपणत्वं च ज्ञानसंयोगादौ
नास्ति तत्र मत एव विषयस्य संयोगिनश्च निरूपकत्वादभा-
वस्य त्वमतो घटादेर्निरूपकत्वं तदमत्वं देशत कालतो वेति
यदि तदा न जर्थोभाव एव वाच्यः सचाद्याप्यनिरूपित एव
त्यर्थः क्वचिन्नार्थस्येति पाठः तत्रापि न जर्थस्येत्यर्थः ॥ "वि-
षयी"ति । प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिर्विषयीधर्मो भाव एवाभावेपि
वर्तत इति यदि तदा च विषयीधर्मः क्वचिन्नर्वाच्यः स्यादित्यर्थः ॥

सू० * अन्यदेव तद्वत् ? *—इति चेन्न, 'तद्वदभावस्याभा-
वत्वे स्ववृत्तेर्भावत्वे च व्याघातात् न द्वितीयः

(१) इति शब्दस्त्वस्मादित्यर्थे । तन्नालक्षणस्याऽसिद्धिरित्यर्थः ।

^dतस्यात्मनि वृत्तौ विरोधापत्तेः प्रवृत्तावध्यापकत्व-
प्रसङ्गादिति * प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव यत्प्रतिभाति
सोभाव ? *—इति चेन्न, प्रतिक्षेपानिरुक्ती प्रतिक्षे-
प्यानिरुक्तेः विशिष्टशब्दार्थश्च निर्वचनीयः स्यात्
तत्र विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्न-
मभिन्नं वा नाद्यः ।

टी० ॥ “अन्यदेवे”नि । तद्वद्विषयिधर्मवदेव किञ्चिद्वा-
वरूपप्रभावलक्षणं स्यादित्यर्थं तद्वद् अभाववत् षट्पदार्थोति-
रिक्तमन्यदेव लक्षणमभावस्येत्यर्थ इत्यन्ये ॥ ^b“तद्वदभाव-
स्ये”नि । तद्वान् लक्षणवान् योऽभावस्तस्येत्यर्थः लक्षणविशि-
ष्टोप्यभावो यद्यभाव एव तदा तत्रापि तल्लक्षणं चाप्यस्मिन्नि
तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंगत आत्माश्रय इति भावः ॥
“भावत्वे” इति । लक्षणविशिष्टोप्यभावो भाव इति वाक्य-
मेव व्याहृतं नहि भावोऽभावो भवतीत्यर्थः ॥ ^d“तस्ये”ति ।
अभावस्य यल्लक्षणं तदभावात्मकमेव यदि तदा तत्रापि तल्लक्ष-
णाङ्गीकारे स्ववृत्तित्वमङ्गीकारे चाठ्याप्तिरित्यर्थः प्रतिक्षे-
प्येति । निषेधविशिष्ट एवभावो भवति हि घटाभावः
पटाभाव इत्यादिप्रतीतिरिति शङ्कार्थः प्रतिषेधप्रतियोगी हि
प्रतिषेध्यः प्रतिषेध एवाद्यापि न निरूपित इत्यर्थः यद्यपि
सत्तात्यन्ताभावत्वमभावत्वं सत्तात्यन्ताभाव एक एवेति तद्-
नुगतधर्मज्ञानं विनाप्याकाशादिवद्गृहीतुं शक्यते एव सामा-
न्यादौ च सत्तावस्वमेकार्थमवस्थायादिति न तत्रातिठ्याप्तिः
नच सत्तात्यन्ताभावेठ्याप्तिस्तत्रापि तद्वद्वेः नहि सत्तावानपि
सत्ता तत्रापि सत्तैव नास्तीत्यभिप्रायः^(१)विशिष्टस्ववदनेन लक्ष-

(१) अस्तु वा यथा त्वं चित्प्रतिक्षेप्यस्य निरुक्तिर्विशिष्टश-
ब्दार्थं स्वातिर्वचनीय इति विशिष्टानिर्वचनीयता प्रयच्छेन विशिष्ट-
स्ववदनसङ्गादाविशिष्टपदसम्भिन्नं लक्षणमनुचितमित्यभिप्रेतवाह-विशि-
ष्टस्ववदनेनेति—

समाप्तमेव खविद्धत स्यादित्यभिप्रेत्य विशिष्टं खण्डयति-।
/“तत्रे”ति ।

सू० “दण्डपुरुषसंबन्धमन्तरेण ^bदण्डिनोन्यस्याप्रतीतेः
दण्डिनमानयेत्युक्ते तदानयनप्रसङ्गाच्च * ^cतत्सम्ब-
न्धेनापलक्षितत्वात्तथा ? *-इति चेन्न, “अत द्रुत
उपलक्ष्यत्वेतिप्रसङ्गात् ‘तद्रुतश्चान्यत्वात् * /स-
म्बन्धो हेतुः स च तदधिकरण एव ? *-इति चेन्न,
टी० ॥ अतिरिक्तं विशिष्टमनुपलक्ष्यबाधितमित्याह-।

a“दण्डे”ति । व्यवहाराविषयत्वात्पि तत्रास्तीत्याह-। ^b“दण्डि-
नमि”ति । दण्डपुरुषसम्बन्धातिरिक्तं किमपि तत्र न व्यवहृ-
यत इति भावः ननु दण्डपुरुषयोः सम्बन्धेन विशिष्टमुपलक्ष-
तमतो विशिष्टे प्रतीतिव्यवहारौ भवतौ दण्डपुरुषाद्यादायैव
भवत इत्याह-। “तत्संबन्धेने”ति । तद्विशिष्टं तथा व्यवहा-
रविषयः तथाच विशेषण विशेष्ये अपि व्यवहारविषयाविति
भावः विशेषणविशेष्याभ्यां बिनाकृत विशिष्टमुपलक्ष्यं ताभ्यां
विशिष्टं वा आद्यं दूषयति-। “अतद्रुत” इति तद्विनाकृत-
स्योपलक्ष्यत्वे दण्डिनमानयेत्युक्ते कुरदलिनमानयेत्यतिप्रसङ्ग
इत्यर्थः ॥ अन्त्य दूषयति-। “तद्रुत” इति । दण्डपुरुषवि-
शिष्टं चेदुपलक्ष्य तदा विशिष्टस्यान्यत्वेन दण्डपुरुषयोरानय-
नाभावप्रसङ्गस्तदवस्था एवेत्यर्थः । /“सम्बन्ध” इति । विशि-
ष्टमाघटकः सम्बन्धः स च विशेषणविशेष्योभ्यामत्र इति विशिष्टे
प्रतीतिव्यवहारौ विशेषणविशेष्ययोरपि भवत इत्यर्थः ॥

सू० “संबन्धात्तदधिकरणसंबन्धान्यत्वापत्तेरिति नैष पन्थाः
* ‘तत्सम्बन्धिनि तद्रुतवहार ? *-इति चेन्न, ‘तस्यापि
विशिष्टत्वेनान्यत्वापत्तौ व्यवहारविषयगतविशेषस्य
वक्तमशक्यत्वात् “सर्वं परम्पराकल्पनायामप्यनव-
स्थामात्रं नतु व्यवहार्यगतौ विशेषः कश्चित् द्वि-
तीये तु प्रत्येकं दण्डिव्यवहारप्रसङ्गो विशेषाभावात्

न ते प्रत्येकं दृशिष्टपदार्थाः किन्तु मिलिताइति चेत्
इति किं ते च मेलकं चाभिधीयते उत तेभ्योन्य
एव कश्चित् श्राव्यो प्रत्येकं च एव प्रसङ्गः मेलके-
त्यधिकः ॥

टी० ॥ “संबन्धादि”ति । केवलात्संबन्धात्तदधिकरण-
संबन्धो विशिष्ट इति नस्याप्यन्यत्वापत्तिरित्यर्थः तथाच संबन्धस्य
केवलस्य विशेषणविशेष्ये भाग्यो ननु तदधिकरणस्य विशि-
ष्टस्यापीति संबन्धोऽपि विशेषणविशेष्यगोचरव्यवहारं प्रति न
तन्त्रमित्यर्थः । यद्वा^(१) “संबन्ध” इति । विशिष्टव्यवहारजन-
कस्य संबन्धस्य दृष्टपुरुषोवाश्रयाविति नत्रापि व्यवहार इत्यर्थः ।
‘संबन्धादि’ति । केवल. संबन्धोपि न विशिष्टव्यवहारहेतुः
किन्तु तदधिकरणदृष्टादिविशिष्टः सचान्य एवेति दृष्टादी
नानयनाद्यन्वय इत्यर्थः एष विशेषणविशेष्यादन्यद्विशिष्टमिति
पन्था न भवतीत्यर्थः । “तत्संबन्धिनी”ति । विशिष्टं यद्य-
प्यन्यत्वापि विशेषणविशेष्यसंबन्धेव तथाच विशिष्टे व्यव-
हारस्तदुभयगोचरः स्यादित्यर्थः ॥ “तस्यापी”ति । विशिष्टमात्र
न दृष्टपुरुषसंबन्धि किं तु दृष्टपुरुषीयत्वविशिष्टं तच्चान्य-
देवेति नैतदपि व्यवहारनियामकमित्यर्थः ननु पुरुषीयत्ववि-
शिष्टमपि यद्विशिष्टं तदपि परम्परया पुरुषसंबन्धेवेति स्यादेव ।
पुरुषे आनयनादिव्यवहार इत्यत आह— “एवमिति”ति ।
पुरुषीयत्वेनापि विशेषणेन विशिष्टमात्रं न विशिष्टं किंतु वि-
शिष्टविशेष एव तत्रतत्रापित्यनवस्थयत्यर्थः ॥ दृष्टपुरुषसंबन्ध
एव यदि विशिष्टं तदाह— “द्वितीय” इति ते च मेलकं चेति
सर्वेषां विशिष्टव्यवहारापत्तिरित्याह— । “आद्य” इति ।

मू० “द्वितीयस्तु प्रतीतिव्यवहारविरोधात्पूर्ववदेव निर-
स्तः * एकज्ञानरूढो वा ऽविरलनानाज्ञानारूढो वा

(१) “संबन्धो हेतुः” -इत्यत आरभ्य पूर्वोदात्तपदयोरेवास्त-
त्त्वाद्-वहेति ।

अनेकरच संबन्धश्च संबन्धश्च विशिष्टपदार्थः ?*-
इति चेन्न, 'घटपटाविति बुद्धावारूढौ घटपटौ
संबन्धश्च घटपटरूपो विशिष्टः स्यात् 'घटत्वपट-
त्वतत्संबन्धानां तत्बुद्धावारूढानामभ्युपगमेन संब-
न्धस्यापि तद्बुद्धारोहाभ्युपगमप्रौढ्यात् । अन्यथा
घटत्वविशिष्टरूपो घटः पटत्वविशिष्टरूपश्च पटः
कथमभ्युपगन्तव्यस्तत्र 'न च घटपटावित्यपि विशि-
ष्टमेव स्वतन्त्रयोर्घटपटयोः परस्परासंबन्धद्वयोस्तत्र
व्यवहरणात् न पुनर्यथा दण्डी पुरषस्तथा घटी-
पटः पटीघट इति वा तत्र व्यवहारः ॥

टी० ॥ "द्वितीयस्तित्र"ति । तेभ्योधिकं चेन्नेक(१)मि-
त्यर्थः । "पूर्ववदि"ति । विशिष्टस्य भिन्नत्वपक्षे यदूषणं तदि-
हापीत्यर्थः ॥ "अधिरले"ति । भक्तज्ञातीयज्ञानान्तरितज्ञान-
धारारूढ इत्यर्थः । तथाचैतज्ज्ञानविषयत्वावच्छिन्ना दण्डपुरुष-
संबन्धा एव विशिष्टपदार्थ इति न प्रत्येकं विशिष्टव्यवहार-
प्रसङ्गो न वा तदुभयगोचरव्यवहारानुपपत्तिरिति भावः । एवं
च सति समूहात्मबन्धनारूढौ घटपटौ द्वावप्येकं विशिष्टं स्या-
दित्याह-। "घटपटावि"ति । ननु घटपटाविति बुद्धेः संबन्ध-
विषयता नास्तीत्यत आह-। "घटत्वे"ति । समूहात्मबन्धनस्य
घटत्वपटत्वसमवायविषयकत्वादित्यर्थः अन्यथा विशिष्टप्रती-
तिरेव न स्यादित्याह-। "अन्यथे"ति । ननु तदुभयं विशि-
ष्टमेवास्तिवत्यत आह-। "अन्योन्योपलक्षमानाभावात् तदुभयं
विशिष्टमित्यर्थः ।

सू० "नचैकज्ञानारूढतैव तयोर्न मन्तव्या यतो घटपटा-
विति द्वित्वं तयोस्तद्द्वयानवमाहिता कथं विज्ञा-
नेनावगाह्येतेति प्रत्वभिज्ञाप्रस्तावोक्तान् दोषाना-

(१) ऐक्यम्=विशिष्टमित्यर्थः ।

ह्यास्थामः अत एवाविरलनानाज्ञानारूढतापि विशिष्टता निरवकाशा * 'अथाप्रकाशमानासंबन्धोनेक एकबुद्धगारूढस्तथा नचैवं घटपटौ तत्कथमुक्तदोषापत्तिः ? * -इति चेन्न, 'अप्रकाशमानोसंबन्धो ययोरित्ययमर्थो विशकलित इति घटत्वपटत्वव्यस्त्यादिवैशिष्ट्यमपि भज्येताविशेषात् * 'अथ धर्मधर्मिसंबन्धाः स्वतन्त्रा एवैकबुद्धगारूढास्तथा नच घटपटौ धर्मधर्मिरूपावित्यनतिप्रसङ्ग ? * -इति चेन्न, 'धर्मत्वस्यैकस्य दण्डादिगुणादिसाधारणस्य वक्तव्यत्वापातात् ॥

टी० ॥ ०० नचेति । एकज्ञानाविषयत्वे द्वित्वमुभयगतं न प्रतीयेत यथा प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृत्यनुभवरूपत्वे तत्ताविशिष्टे ज्ञानाविशिष्टयोरभेदे न केनापि ग्रहीतुं शक्यः स्यादिति भयेन द्वयोरेकज्ञानविषयत्वमङ्गीक्रियते तथेहापीत्यर्थः ॥ ७० 'अत एवे'ति । स्वतन्त्रयोर्विशिष्टत्वप्रसङ्गादेवेत्यर्थः ॥ ननु घटपटौ कथं विशिष्टे स्याद्यतस्तयोरसम्बन्ध एव प्रकाशते दण्डपुरुषौ ननु तथेत्योशङ्कते - 'अथे'ति । असम्बन्धाविषयकैरज्ञानारूढयोर्विशिष्टत्वे घटपटयोः स्वस्वजातिवैशिष्ट्यमपि न स्यात् यतो विशकलितयोर्घटपटयोः घटत्वपटत्वयोस्तस्मिन् ज्ञानेऽसम्बन्धस्यैव प्रकाशमानत्वादिति परिहरति - 'अप्रकाशमाने'ति ॥ ननु धर्मो धर्मोऽदुभयमसम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थो घटपटौ न धर्मधर्मिभावापन्नाविति नानिप्रसङ्ग इति शङ्कते - 'अथे'ति । धर्मत्वमेकमनुगतं नास्तीतिरूपकप्रतीती लक्षणं दुष्यंहित्याह - 'धर्मत्वस्ये'ति ॥

म० 'सोप्येष्टय इति चेत् इष्यतां परं तस्यापि बालुकावद्विशकलितस्योपगन्तव्यत्वेन 'धर्म्यैव किं न धर्मः स्यात् * तथा प्रतीत्यभावात् स्यात् ? * -इति चेन्न, 'त्वदुक्तैकप्रतीत्यारोहस्यस्याविशेषात्प्रतीतिरपि तथा

किं न स्यात् * मास्तु धर्मत्वमनुगतं तत्तद्रूपादि-
पदार्थस्वरूपमेव तथा विचित्रं यत्तदेव धर्मिणा संब-
न्धेन च सममेकबुद्धरूपारूढं विशिष्टं नान्यत् ?
*-इति चेन्न, /तेषां स्वरूपाणां भेदेन नानाभूतेषु वि-
शिष्टेष्वनुगता विशिष्टबुद्धिर्न स्यात् /संबन्धमपि च
तर्हि विलुम्पैवं स्वभावादेव रूपादिकं तथाधि-
पमाधत्तां ।

टी० ॥ “सोपी”ति । धर्मत्वलक्षण एको धर्मः प्रमेयत्वा-
दिष्यदेष्टव्य इत्यर्थः । एवं मति धर्मत्वस्य केवलान्वयित्वेन
क्वापि धर्मधर्मिभावस्य ठयवस्था न स्यात् अठयवस्थितत्वमेव
बालुकावद्विशकनितत्वं वैशिष्ट्या निरुक्त्या धर्मधर्मिभावस्य
विशकनितत्वम अठयवस्थामेवाह- । “धर्म्येवे”ति । प्राधान्येन
प्रतीयमानो धर्मधर्मस्तूपमर्जनतया प्रतीयमान इति प्रतीति-
कृत एव विशेष इत्याह- । “तथे”ति । तथाप्रतीतिरेवापद्य-
तानित्याह- । “त्वदुक्ते”ति । उभयोरेकप्रतीत्यारोहाविशे-
षादिति भावः धर्मित्वं विशेषणत्वपर्यवसन्नं विशेषणत्वं च
विशिष्टत्वनिर्वाह्यं चेत्तद्धर्मत्वमनुगतं मास्तु किंतु वस्तुनामेव
रूपरसादीनामयं स्वभावविशेषो तद्दृटादिना धर्मिणा समवाया-
दिना च संबन्धेन सहैकबुद्ध्या विशिष्टं भवतीत्याशङ्कते- ।
“मास्तु”ति । एवं तर्हि रूपादीनामेवम्भतानामनुगतानामेव
विशिष्टत्वे विशिष्टाकारानुगतप्रतीतिर्न रूपादिति परिहरति- ।
/“तेषामि”ति । दोषान्तरमाह- । “संबन्धमि”ति विलुम्प
निरस्कुर्वित्यर्थः यथा रूपाद्य एकबुद्ध्यारूढा विशिष्टयवहार-
भाजनं भवन्ति” तथा समवायादिसंबन्धव्यवहारोपि तैरेवास-
म्बद्धैरस्तु कृतं संबन्धेनेत्यर्थः ॥

स० “एवमपि किं न स्यादिति चेत्, /तर्हि वराको धर्म्यपि
विसृज्यतां यथा विना संबन्धं विशिष्टबुद्धी रूपा-
दिस्वभावसामर्थ्यात्समर्पिता तथा विना धर्मिणम-

प्यस्त्विति जितं जैनेः * स्यादप्येवं यदि शुक्ल इत्येतावन्मात्राद्येव प्रतीयेत किंतु शुक्लः शङ्कु इत्यादिना प्रत्ययेन सामानाधिकरण्याल्लेखिना धर्म्यप्यानीयत ? *—इति चेन्न, “शङ्कुत्वजातेरुपाधेर्वा रूपादेरविरलतादृगवस्थितस्य वा स्वरूपवैलक्षण्यमेव तत्पदेभिषिच्यतां येन विनाप्यधिकरणं सामानाधिकरण्यव्यवहारः स्यात् किंच नैतावन्मात्रं बुद्धिमादाय तदर्थगतवैचित्र्यान्तरखण्डने बुद्धिरेव-स्वकारणसामर्थ्यात्तथोत्थिता तत्तद्व्यवहारप्रसवित्री स्वीक्रियतां कृतमर्थव्यसनेन ॥

टी० ॥ भट्टमतं शङ्कुते-। “एवमि”ति । सम्बन्धश्चेत्तिर-
कृतस्वभा धर्म्यपि तिरस्क्रयतामिति धर्ममात्रमतद्वयार्थात्तरूपं
विशिष्टज्ञाने भासन इति वादिभिर्वाद्भिर्जितमित्याह-। “नहीं”
ति ॥ ननु गौरियमित्यादिप्रत्यये तथात्वेपि शुक्लः शङ्कु इत्या-
दिधोस्तु धर्मिणमुल्लिखन्ती कथं तत्र प्रमाणं न स्यादित्याह-।
“स्यादपी”ति । शङ्कुत्वजातिरेव रूपेण महैकज्ञाने सातमाना
सामानाधिकरण्यव्यवहारं करोति यद्वा धर्मवैलक्षण्यमेव धर्मिप-
देभिषिच्यतां किं धर्मिणेत्याह-। “शङ्कुत्वे”ति । दृषणान्तरमाह-।
“किञ्चे”ति । नैतावन्मात्रं न विशिष्टविलोपधर्मिणिलोपमात्रं
बुद्धिमादायापितु मकलायंत्रिलोप एव बुद्धिमादायेत्यर्थः ॥

म० “तस्मात् “प्रत्येनव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसामि-
कम् । धियं निवेश्य लुम्पद्भयो भङ्गं साह्वेव यच्छति”
यसु केनचिद्भावस्य स्थाने तन्मात्रधीरभिषिक्ता
तत्तस्य परमुचितं “गुरुर्धियमभावस्य^(१)स्थाने
स्थानेभिषिक्तवान् । प्रसिद्ध एव लोकेस्मिन् बुद्ध-
बन्धुः प्रभाकरः” अपिच एकबुद्धयारूढोऽनेकरथ

(१) स्थाने-इत्यस्ययं युक्तमित्यस्मिन्नर्थे-।

सम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थ इति पक्षे योयमेवंरूपवै-
लक्षण्यभाग विशिष्ट इति कथ्यते सोप्येवं विशिष्टो-
विशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यमानो ज्ञानमन्तर्भावैव
स्यादिति तत्र तत्रापि ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्था
क्वचिदप्यनिवेशे तस्याभावादविशिष्टत्वे शेषस्या-
मूलमवैशिष्ट्यापातः ॥

टी० ॥ विशिष्टखगहनं कक्षाक्रमेण प्रपञ्चनिष्पात्त्वे पर्यव-
सन्नं तथाच तत्सत्त्ववादिनो भङ्ग एवेत्युपसंहरति । — “तस्मादि”
ति । प्रत्येतदयवैचित्र्ये तावत्ताद्रूप्येणोल्लेख एव साक्षी स चेदु-
ल्लेखो बुद्धिवैचित्र्यमात्रेण समाहितस्तदा स एव साक्षी प्रप-
ञ्चसत्यत्ववादिभ्यो भङ्गं प्रयच्छतीत्यर्थः तावन्मात्रबुद्धयधीन
एवाऽभावोल्लेख इति वादिनं प्रभाकरमुपहसति— “गुरुरि”-
ति । अभासस्य स्थाने धियसन्निविक्रवान् गुरुस्तत्स्थाने समु-
चितं बुद्धबन्धुः प्रभाकर इति लोके प्रसिद्ध एव यतः बुद्धोप्य-
मात्रं पदार्थान्तरं नाङ्गीकरोति प्रभाकरोपि तथेति सिद्धान्तमा-
स्यादेवं बन्धुभाव इत्यर्थः गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुत-
श्च नः इत्यत्र तथा प्रसिद्धिरिति भावः किंच विशिष्टस्य बुद्धि-
घटितं यल्लक्षणं तल्लक्षणविशिष्टमविशिष्टेभ्यो विशिष्टं तयाव-
र्तनीयं ज्ञानान्तरमेतादृशं निवेश्य चेत्तदाऽनवस्था ज्ञानान्तरं
चेत्क्वचिद्गत्वा नानुमरणीयं तदा तल्लक्षणविशिष्टं न भवे-
दिति मूलपर्यन्तं विशिष्टहानिरित्याह । — “अपि चे”ति ॥
सू० ‘तद्योग्यस्तथेति’ चेतर्हि योग्यतापि तद्विशेषणं ‘बा-
लुकादिददलयातिप्रसञ्जिकैवेत्युक्तमावतंते । ‘एव-
मेकमिति ज्ञानमित्यारूढमित्यादिद्वारैरपि द्रष्टव्यं
तथाहि “अविविष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्वि-
शेत् । तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्याद्वा मूलाविशिष्टे”ति

विशिष्टनिरासेन सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानीति मन्तव्यं यथा गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादि इतोपि गुणाश्रयो द्रव्यमित्यसङ्गतं । तथाहि "कथमेतल्लक्षण-सम्बधारणीयं सङ्कारूपगुणवत्तया रूपादेरपि प्रतीतेः भ्रान्तिरसाविति चेत्पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरिति वक्तव्यं तत्र बाधकाभावादिति चेत्तुल्यं गुणस्य गुण-वत्तायां बाधकमस्माभिरवश्यं वक्तव्यम् । * निर्गुणा गुणा इति सिद्धान्तात् ? *-इति चेन्न, 'रूपादेर्गुण-त्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्

टी० ततोऽग्रे ज्ञानान्तरयोग्यतामात्रघटितमेव विशिष्टं स्यादिति नानवस्था न वा मूलपर्यन्तं विशिष्टहानिः योग्यतायाः सर्वत्र सत्त्वादित्याशङ्कते-। "तदि"ति । तद्योग्यताया अपि वैशिष्ट्यं तत्र विशिष्टे ज्ञेय चेत्तदा सैवानवस्था न ज्ञेयं चेत्तदा शेषामिद्वया सर्ववैशिष्ट्यामिद्विगितिपरिहरति-। "तही"ति । "बालुकावदि"ति । वैशिष्ट्यस्याद्याप्यमिद्वेरिति भावः लक्षणवैशिष्ट्यद्वारकं दोषमभिधाय तदीयतद्विशेषणवैशिष्ट्य-द्वारकमाह-। "एवमि"ति । "अविशिष्टादि"ति । अविशिष्टा-त्पदार्थाद्विशिष्टस्य यद्वैशिष्ट्यं तयावृत्तधीः सा चेत्तद्विशिष्ट-धाराधीना तदाऽनवस्था न चेत् शेषामिद्वया सर्वामिद्विरित्यर्थः । विशिष्टखण्डनप्रयोजनमनुवदन्नेव खण्डनान्तरमङ्गतिमाह-। "विशिष्टे"ति ॥ "इतोपीति । वैशिष्ट्यखण्डनरूपलक्षणानु-पपत्तिसमुच्चयः । "कथमि"ति । रूपादीनामपि गुणाश्रयत्व-दर्शनाद्द्रव्यमाश्रयित्तया कथमेतद्वधारणीयमित्यर्थः ॥ "रूपा-देरि"ति । गुणत्वव्यवस्थापकानतिप्रसक्तधर्माभावादित्यर्थः गु-णाकारानुगतमतिश्च न सर्वमाधारणीति भावः ॥

मू० * सामान्यवानगुण इत्यादितल्लक्षणयोगात्तन्निरवय इति सिद्धान्तात् ?*-इति चेन्न, 'अगुण इति लक्षणांश-स्याद्याध्यासिद्धेः सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमान-

त्वात् * भ्रान्तिरसौ" ?*-इति चेन्न, परस्परश्रयसङ्गात् ^dसङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्भ्रान्तिस्त्वे गुणलक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च बाधेन भ्रान्तिव्यवस्थापनं * न च हेत्वन्तराद्रूपादेर्गुणत्वसिद्धौ बाधकमिद्धिः * दृष्टान्तस्वापि सङ्ख्यायोगिप्रत्ययाक्रान्तत्वेन प्रसक्तद्रव्यकोटिप्रवेशितया गुणत्वेनासिद्धेः * ^eसङ्ख्यायाः सङ्ख्यावत्त्वेनवस्थाप्रसङ्गान्निःसङ्ख्यत्वव्यवस्थितौ दृष्टान्तत्वं भविष्यति ?*-इति चेन्न, पृथक्त्वेनापि तस्याः सम्भावितद्रव्यकोटिप्रवेशत्वात् ॥

टी० ॥ "मानान्यत्रानि"ति । सामान्यवत्त्वे सत्यगुणत्वमेव द्रव्यस्यापकमित्यर्थः ॥ कर्मण्यनिठयामौ सन्ध्यामेवाह- । ^b"अगुण" इति । अगुणत्ववत्त्वमिदं सरूपादीनां गुणानां तत्र सत्त्वादित्यर्थः दोषान्तराभिधानाय पुनः शङ्कने । "भ्रान्तिरिति । अन्योन्याश्रयमेव विशदयति । ^c"सङ्खे"ति ॥ "बाधेने"ति । निगुणेषु गुणेषु सङ्गादिप्रतीनिर्बाधितविषयेत्यर्थः ॥ ननु रूपादयो गुणाः सामान्यवत्त्वे सत्यधलनात्मकत्वात् शब्दवदिति रूपादीनां गुणत्वं सेत्स्यति तथाच गुणवत्त्वप्रतीतेर्भ्रान्तवर्षिरिति नान्योन्याश्रय इत्यन आह । ^d"नचे"ति । शब्दस्यापि दृष्टान्तस्य सङ्कारूपगुणवत्त्वेन द्रव्यत्वमिदुक्तगुणत्ववत्त्वमिद्धेरित्यर्थः । ननु सङ्खेवात्र दृष्टान्तोस्तु नहि सङ्गापि सङ्गावती येन तस्या अपि द्रव्यत्व भवेदित्याह- । ^e"सङ्गाया"इति । सङ्गायामनयन्याभयात्मङ्गाभावतिष्ठ पृथक् तु तत्र वर्तन एव तावता तस्यामपि द्रव्यत्वापत्तौ न दृष्टान्तत्वमित्याह- । ^f"ने"ति ॥

सू० "एवं पृथक्त्वस्यापि सङ्ख्यावत्तयेति जातीतरानाश्रयोऽकर्मरूपो गुण इत्यपि न, ^gजातिव्यापनात् * जातिमात्राश्रय इत्यर्थः ? *-इति चेन्न, ^dअभावाश्रयतया सर्वाव्यापनात् * जातिमात्रमाश्रय ?*-

इति चेन्न, 'उपाधीनामपि तदाश्रितत्वात् * नौपा-
धीनामाश्रयोरूपादिः' किन्तु कथमपि संबन्धी ताव-
तैवानुमानादिमवृत्तिः ? *-इति चेन्न, 'उपाधिसं-
बन्धं प्रत्यक्ष्याश्रयत्वस्य मन्तंछ्यत्वात् ।' अन्यथा
यदि किञ्चिद्रूपमत्र नेष्यते तदा सामान्यविशेषा-
नुमानं तत्र न स्यात् । व्यधिकरणयोगंम्यगमकभा-
वानभ्युपगमात् तस्माद्यदेतदेव लक्षणं तत्तावान्न
जातिरूपं तदिदं यदि रूपादौ नास्ति तदानी-
मस्ति यद्यस्ति तदा नास्तीति चित्रेण लगित्युक्ते
न लगति मालगेत्युक्ते लगतीति । प्रवल्हिकामनु-
करोति

टी० ॥ तर्हि पृथक्कनस्तु दृष्टान्त इत्यत आह-। "एव-
मि"ति ॥ ^b"जातिव्यापनादिति । जातावपि जातिभिन्नकथ-
नानाश्रयत्वमकर्मत्वं चेत्यर्थः ॥ "जातिमात्रे"ति । जातिश्च
न तथेत्यर्थः । एवं च सत्यसम्भव एव रूपादीनामपि रसत्वा-
द्यभावाश्रयत्वादित्याह-। ^d"अभावे"ति ॥ "उपाधीनामि"ति ।
प्रमेयत्वानिश्चयेत्वादीनामित्यर्थः । उपाधयो न रूपादौ
समवयन्तीति न तदाश्रय इत्यर्थः ॥ तर्हि रूपादिकं प्रमेय-
निश्चयेत्वादित्यादि कथं नदनुमानं स्यादपक्षधर्मत्वादित्यत
आह-। ^f"किन्तु"ति ॥ ^g"उपाधी"ति । तथाच जाति-
मात्रभावाश्रयत्वमसम्भवीत्यर्थः ॥ ^h"अन्ये"ति । चक्षुर्मात्रव-
हिरिन्द्रियस्याश्रयत्वादिना रूपत्वादिकमपि नानुमीयेत समा-
नाधिकरणयोरेव साध्यसाधनयोगंम्यगमकतावाभ्युपगमादि-
त्यर्थः यदि जातिमात्रभावाश्रयत्वं लक्षणं तत्र रूपादौ न
स्वीकर्तव्यं । तदा जाति-मात्रभावाश्रयत्वं लक्षणं नविष्यति अन्यथा
लक्षणरूपापाधिसत्त्वादेव तल्लक्षणं द्रष्टं भवेदित्यर्थः ॥ प्रव-
ल्हिका प्रहेङ्गिका

सू० अपिच गुणाश्रयो द्रव्यमित्यत्र कर्त्ताश्रयार्थः * सम-
वाय ? *-इति चेन्न, "गुणत्वादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गा-
द्गुणावच्छिन्नस्य समवायस्य गुणत्वेपि विश्रान्त-
त्वात् । * ^१गुणः समवेतो यत्र स गुणसमवायीति
विवक्षितम् ? *-इति चेन्न, ^२यत्रेत्यस्याधिकरणार्थ-
स्याद्याप्यनिरूपणेन तेनैव तद्द्रव्याकारानुपपत्तेः *
इहेतिप्रत्ययहेतुराधार ? *-इति चेन्न, इह शब्दे
पीतिमेति प्रत्ययाच्छब्दस्य पीतिमाधिकरणत्वप्रस-
ङ्गात् * ^३भ्रान्तिरसौ यथार्थश्च प्रत्ययोत्र विवक्षित ?
*-इति चेन्न, ^४तदर्थसत्त्वनिरूपणायतिरेकेण तद-
प्रमाणत्वस्य बोद्धुमशक्यत्वात् नचाद्यापीहेतिप्र-
त्ययस्यार्थः प्रतीतो यत्प्रतियोगिकमसत्त्वं तत्र
निरूप्यते / पीतत्वं प्रतियोगी तत्र क्वचित्सिद्धम् ?
*-इवेति ^५चेन्न, तस्य प्रमितत्वादेवासत्त्वानुपपत्तेः ॥

टी० ॥ ^६"गुणत्वादेरिति"ति । गुणनिरूपितः समवाये । यथा
द्रव्ये तथा गुणत्वजातावपीत्यर्थः गुण इति गुणत्वे च न गुणः
समवेत इति न तत्रातिशयः। प्रित्यर्थः कुत्र गुणः समवेत इति
नाद्यापि सिद्धमित्याह-। ^७"यत्रे"ति । यद्वा गुणाधिकरणत्वं
द्रव्यत्वमित्यनेने।क्तं स्यात्तथाचाधिकरणमेव दुर्वचमित्याह-।
^८"यत्रे"ति ॥ ^९"भ्रान्तिरिति"ति । इहेतिप्रमाहेतुराधार इति लक्षणं
विवक्षितमित्यर्थः विषयबाधगम्यं भ्रमत्वं विषयबाधश्च न
ठयवस्थित इत्याह । ^{१०}"ने"ति । शब्दे पीतिमेत्यत्र पीतिना-
विषयस्त्वद्बाधश्च तदमर्थं तथाचाऽस्याः प्रतीतेर्भ्रमत्वमेवे-
त्याह-। ^{११}"पीतत्वमिति"ति । पीतत्वं प्रमितं चेत्तदा तदसत्त्वं
नामान्यतो वक्तुं न शक्यत इत्याह-। ^{१२}"ने"ति ।

सू० * तस्य "तत्राप्रमितत्वम् ? *-इति चेन्न, ^{१३}तत्रेत्या-
धारत्वानिरूपणादिति ^{१४}एतेन समवायिकारणं द्रव्य-

मित्यपि लक्षणं निरस्तं ^dकथं निर्णेतव्यमिदं सम-
वायिकारणमिदं नेति रूपादौ घटादौ च सङ्ख्या-
समवायिकारणत्वयुक्तेस्तुल्यत्वात्सङ्ख्यैव तु रूपादौ
नास्तीति चेद्घटादौ कथमस्ति प्रत्ययस्योभयत्र
तुल्यत्वादित्युक्तमनुषङ्गनीयं * द्रव्य एव सङ्ख्यास्वी-
कारे तत्संबन्धाद्गुणेपि तद्व्यवहारोपपत्तौ कल्प-
नालाघवाद्गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार ? *-इति चेन्न,
विपरीतमेव कुतो न स्यात् सत्तासामान्याद्यपि च
गुणादौ किमर्थमङ्गीक्रियते । द्रव्यद्वारैव तत्र तद्व्य-
वहारोपपत्तेः ननु ^hसामान्यार्थ एव कः तथाहि
अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यमित्यलक्षणं सामग्र्या
सर्वकार्योत्पत्तौ स्यात्तदेकदेशान्तरैश्च व्यभिचारात् ॥

टी० ॥ यद्यपि सामान्यतस्तदसत्त्वं नास्ति तथापि
शङ्केऽधिकरणेस्त्येवेत्याह-। ^a“तत्रे”ति । तत्रेत्याधारणमेवो-
च्यते तच्च दुर्बलमेवेत्याह-। ^b“ने”ति । ^c“एतेने”ति । रूपादा-
वनिठयापकत्वेनेत्यर्थः । रूपादीनामपि समवायिकारणत्वा-
दिति भावः एतदेवाह-। ^d“कथमि”ति । रूपादौ नङ्गैकार्थस-
मवायाधीनः सङ्ख्याप्रत्ययो नतु समवायाधीन इत्याह-।
^e“द्रव्य एवे”ति । रूपादिममवेनयैव संख्यया परम्परासंबन्धेन
द्रव्येपि सङ्ख्याप्रत्ययः स्यादित्याह-। ^f“विपरीतमि”ति । सङ्ख-
द्विरपि सत्ताकार्यं समवायादिना स्यादिति रूपादौ सत्तापि
नाङ्गीक्रियतामित्याह-। ^g“सत्ते”ति ॥ ^h“सामान्यार्थ” इति ।
सामान्यशब्दार्थ इत्यर्थः । सामान्यरूपो धार्य इत्यर्थः । अ-
तप्रत्ययो भिन्नेष्वेकाकारप्रत्ययः नामग्र्येति तत्कारणत्वसाध-
नावष्टम्भेनोक्तं-। ⁱ“तये”ति । सामग्र्येत्यर्थः ॥

मू० “असाधारणविशेषणात् * ^bअनन्यजातीयप्रयोजक-
त्वं च ^cतत् । ? *-इति चेन्न, ^dस्वसामग्र्यामपि प्रस-

ज्ञतादवस्थ्यात् । ^१भेदप्रतिपत्त्यादावपि प्रयोजक-
त्वाद् । * ^२एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वम् ? *—इति
चेन्न, स्वसामग्र्यामप्यस्याः प्रमाणत्वात् * ^३एतदेक-
प्रमाणकत्वम् ? *—इति चेन्न, ^४अर्थक्रियाभेदादेरपि
तत्र प्रमाणत्वात् * ^५एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वम् ? *—
इति चेन्न, ^६तद्विशिष्टस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ अनुवृत्तप्रत्ययानाधारणकारणं सामान्यमिति लक्षणं
शङ्कते—। ^१“असाधारणे”ति । असाधारणत्वेन विशेषणात् ॥
^२“तदि”ति । तल्लक्षणमित्यर्थः ॥ एतदेव विवृणोति—। ^३“अन-
न्ये”ति । आत्मनस्तत्संयोगप्रभृतीनामन्यजातीयमपि कार्यं
प्रति प्रयोजकत्वं सामान्यस्य त्वनुवृत्तप्रत्ययनाशं प्रतीत्यर्थः ।
^४“स्वसामग्र्यामि”ति । असाधारणत्वादित्यर्थः । अनन्यजा-
तीयप्रयोजकत्वस्य सामान्येऽप्यसंभव इत्याह—। ^५“भेदे”ति ।
सामान्ये हि वैधर्म्यं तच्च भेदप्रत्ययमपि प्रति कारणभेदेत्यर्थः ।
^६“एतदि”ति । अनुवृत्तप्रतिपत्तिः प्रमाणं यस्य तत्सामान्यमि-
त्यर्थः । अनुगतमनिः स्वसामग्र्यामपि प्रमाणमिति तत्रानिर्व्या-
प्तिरित्यर्थः । ^७“एतदेके”ति । सामग्र्यामन्यदपि प्रमाणमिति
भावः ॥ ^८“अर्थक्रिये”ति । कार्यभेदस्यानाकस्मिकत्वाद्पि
कारणगमनियतजातिभेदकल्पनमित्यर्थः ॥ ^९“एतत्प्रतिपत्ती”
ति । अनुवृत्तप्रत्यय एव प्रमा यत्रेत्यर्थः । ^{१०}“तद्विशिष्टे”ति ।
सामान्यविशिष्टवत्त्वावपि तदेकप्रमाणकत्वमिति तत्रातिव्याप्ति-
रिति भावः ॥ जातिवैशिष्ट्यांशे च तदेक प्रमाणकत्वमावश्यक-
मिति भावः ।

सू० * ^१तदवच्छिन्नप्रमांशप्रमाणकत्वम् ? * इति चेन्न, ^२तद-
सिद्ध्यैवासिद्धेः * ^३इयं प्रतीतिर्येन विना नोप-
पद्यते^(१) तत्सामान्यम् ? *—इति चेन्न, ^४कारणान्त-

(१) नोत्पद्यते—इति बहुषु पुल्लिङ्गेषु द्वयमानः पाठोऽप्यपाठ एव
जातिवत्त्वादेव प्रतीतिरनुगतत्वेऽनुत्पन्नत्वविरोधादिति भावः ।

राक्षामपि तथात्वादिति अनुवृत्तं सामान्यमित्य-
प्यलक्षणं किमिदमनुवृत्तत्वं नाम * 'अनेकाश्रित-
त्वम्' ? * -इति चेन्न, अवयविना संयोगादिभिश्च
व्यभिचारात् * नित्यत्वे सति ? * -इति चेन्न, समवा-
येन व्यभिचारात् अत एव न बहुवृत्तित्वमपि ^h * असं-
बन्धत्वे सति ? * -इति चेन्न, अणुभिर्व्यभिचारात् *
/ नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यम् ? * -इति चेन्न,
विकल्पासहत्वात् एतल्लक्षणं नित्यमनित्यं वा स्यात्
नाद्यः 'स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् ॥

टी० ॥ "तदवच्छिन्नप्रमाशे"ति । व्यक्तवैशिष्ट्यस्य च न
कार्यंशप्रमाविषयत्वं विषयभेदेन ज्ञानेऽप्यंशभेदादित्यर्थः । जाति-
सिद्धौ तदंशप्रमासिद्धयैज्जातिरेव लक्षणाभावात् सिद्धेत्याह ।
^b "ने"ति । अनुगतप्रत्ययान्ययानुपपत्तिप्रमाणकत्वं लक्षणं शङ्कते-
० "इयमि"ति । आत्मनस्तत्संयोगादावतिठ्याप्तिमाह- । "का-
रणात्तरे"ति । "अनेकाश्रितत्वमि"ति । स्वाश्रयान्योन्याभाव-
समानाधिकरणत्वमित्यर्थः । ठ्यासज्यवृत्तिसर्वपदार्थातिठ्याप्ति-
माह- । "अवयवी"ति । "समवायेने"ति । तस्यापि संबन्धि-
द्वयवृत्तित्वादित्यर्थः ॥ ^h "असंबन्धत्वे"इति । नित्यत्वेसंबन्धत्वे
सत्यनेकाश्रितत्वमित्यर्थः । ⁱ "अणुमिरि"ति । संयोगवृत्त्या
परमाणुनामनेकदिगवच्छेदेन वृत्तेरित्यर्थः ॥ ^j "नित्यत्वे"इति ।
समवायैल्लक्षणा वृत्तिर्विचक्षितेति न परमाणावतिठ्याप्तिरि-
त्यर्थः । ^k "स्वात्मनी"ति । नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपं
लक्षणं यदि नित्यं तदा नित्यत्वांशेपि नित्यत्ववृत्तिरित्यंशत
आत्मश्रय इत्यर्थः ॥

म० " विशिष्टप्रविष्टमपि हि नित्यत्वं नित्यत्वमेव नापि
द्वितीयः ^b सामान्यस्य समवायस्य च नित्यत्वाभावप्र-
सङ्गात् 'आत्मत्वाद्वा व्यक्त्यभावाद्यत्तस्यापि विशि-

घृणाभावस्यासंभवात्^d तस्य च कदाचिदसत्त्वानङ्गीकारे
तदनित्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् 'तद्ग्राहणश्च
प्रत्ययस्यैककालिकस्य मिथ्यात्वेऽविशेषात्सार्धका-
लिकस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वथा तदसत्त्वापत्तेः ।

टी० ॥ ननु नित्यत्वे नित्यत्वं न वर्तते येनात्माश्रयः
स्यादपि तु नित्यत्वविशिष्टे इत्यत आह-। "विशिष्टे"ति ॥
^b"सामान्यस्ये"ति । अनेकमस्यैतत्त्वस्य लक्षणस्यानित्यत्वं सा-
मान्यानित्यत्वात् भवेत्तन्मन्वीयानित्यत्वाद्वा उभयं च न त्व-
येष्यते इति तद्वृत्तितं लक्षणमपि कथमनित्यं स्यादित्यर्थः । न-
न्वनेकवृत्तित्वमित्यत्रानेकवृत्तिरपि विशिष्टघटिकेति तदनित्य-
त्वात्तलक्षणमनित्यं स्यादित्यत आह-। "आत्मत्वादावि"ति ।
आत्मनां व्यक्तीनामपि नित्यत्वादित्यर्थः ननु सामान्यतद्वृत्ति-
तत्त्वमन्वीयानां प्रत्येकं नित्यत्वेपि विशिष्टं यत्लक्षणस्वरूपं
नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वं तदेवानित्यमस्तु को दोष इत्यत
आह-। "तस्ये"ति । तस्य विशिष्टस्यानित्यत्वं तदा स्याद्यदि
कदाचित्तदसत्त्वं स्यात् तवेवमित्यर्थः ॥ ननु तस्य कदाचिदस-
त्त्वमेवास्तु को दोष इत्यत आह-। "तद्ग्राहण"इति । यदा
लक्षणं नास्ति तदा लक्षणविशिष्टलक्षणग्रहणश्चेद्व्यनस्तदा सर्वत्रैव
अत्र एव स्यादिति लक्षणस्य नित्यमसत्त्वमेव पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥

सू० "एकस्य च सत्यत्वेऽविशेषात्सर्वसत्यतायां कदा-
चिदपि तदसत्त्वं नास्तीति*^b एकदा तत्संबन्धेन
तदुपलक्षितस्यान्यदापि विद्यमानत्वान्तथात्वम्?*-
इति चेन्न, 'तादृशोपलक्ष्यासम्भवाद् व्यक्तीनां भेदा-
दित्यनित्यत्वानुपपत्तिरेवे'ति । एतेन नित्यत्व-
मन्यत्रापि प्रतिवचनीयं 'केचानेन लक्षणोऽव्यव-
च्छिद्यन्ते * विशेषादय ?*-इति चेन्न, विशेषा एव
केऽभिधीयन्ते तत्र नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्ते एव
ये ते विशेषा इत्यलक्षणम् ॥

टी० ॥ ननु लक्षणविशिष्टलक्षणप्रत्ययस्तत्सर्वकाले सत्य एवेति कथं सर्वकालिकं लक्षणसत्त्वमत आह—। “एकस्ये”ति तर्हि विषयावाधात् सर्वतत्प्रत्यययापार्यं लक्षणं सर्वकालस्थि-
तीतिकथनमित्यं स्यादित्यर्थः ॥ ननु लक्षणं स्वाकालेपि लक्ष्य-
मुपलक्षयतीति तदापि तद्विशिष्टप्रत्ययः सत्य एवेति शङ्कते—।
० “एकदे”ति । सामान्यानां बहुनामेकरूपाभावात्तल्लक्षणेन किम-
वच्छिन्नं लक्ष्यमुपलक्षितं स्यादित्याह—। “ने”मि । “व्यक्ती-
नामि”ति । लक्षणा सामान्यानामित्यर्थः तथाच लक्षणस्यानि-
त्यत्वानुपपत्तिरित्याह—। “इती”ति ॥ “एतेने”ति । आका-
शादीनां नित्यत्वं यदि नित्यं तदात्माश्रयः । अनित्यं चेत्तदा-
काशस्याप्यनित्यत्वमेव स्यादिति सर्वनित्यत्वं खण्डनीयनि-
त्यर्थः “नित्यत्वव्यतिष्ठितं लक्षणान्तरमप्येवं खण्ड्यमित्यर्थः”
इत्यन्ये आगामिखण्डनं सामान्यखण्डनेन सङ्गमयति—। १ “केचा-
नेने”ति । नित्येऽवेवेत्यन्ययोगठयवच्छेदेन द्रव्यगुणकर्षणां षडव-
च्छेदः तेषामनित्येऽवपि वृत्तोः द्रव्येऽवेवेत्यन्ययोगठयवच्छेदेन
सामान्यानां षडवच्छेदः तेषामद्रव्येऽवपि वृत्तोः वर्तते एवेत्ययो-
गठयवच्छेदेन ज्ञानसुखादीनां षडवच्छेदः तेषां स्वासत्त्वकाले
वृत्तोरयोगोपीत्यर्थः ॥ ननु गुणादीनां सामान्यादीनां नित्ये-
ऽवेवेत्यनेन षडवच्छेदात् किं पदान्तरेण नहि गुणा नित्येऽवेव
वर्तन्ते न वा सामान्यानि तथाच गुणत्वेन सामान्यत्वेन च
ताद्रूप्ये^(१)सर्वगुणमानान्यवच्छेदः सिद्ध एवेति चेन्न नित्य-
त्वस्य धर्मस्य व्यवच्छेदार्यं “द्रव्येऽवेवे”ति करणात्

म “आत्मत्वादिना षडभिचारात् * ^bनित्यान्तरेऽसत्त्वान्न
तत्सर्वत्र नित्ये वर्तते विशेषास्तु नैवं नित्ये वर्तन्ते
एवेति नियमात् ? *—इति चेन्न, “प्रतिविशेषम-
व्याप्त्याऽलक्षणात्वात् * ^dयज्जातीया स्वमिति
लक्षणार्थ ? *—इति चेन्न, जातेरनङ्गीकारात् * जा-

तीत्येवमात्पदात् उपाधिरेव तथा विवक्षित ? *—
इति चेन्न, 'तस्येतरव्यावृत्तस्याधिगतौ व्यर्थं तदुप-
जीविलक्षणमिदं तत एव विजातीयव्यावृत्तिप्रतीतेः
इतरव्यावृत्तस्य चानधिगतौ लक्षणस्य दुरवधारण-
त्वापत्तेः इतरव्यावृत्ततया तज्जातीयत्वस्याप्रतीतेः॥

टी० ॥ ताद्रूप्येण वृत्त्यविवक्षायां दोषः^(१)माह—। “आत्म-
त्वादी”ति । ननु नित्येष्टवेव द्रव्येषु वृत्तोरयोगो वर्तते एवेत्ये-
वकारेण व्यवच्छिद्यते तथाचाशाशादावर्तमानेनात्मत्वादिना
कथं व्यवभियार इत्याह—। “नित्यान्तरे”ति । प्रतिस्वं विभ्रा
णविशेषाठयान्तिरेवं मतीत्याह—। “प्रती”ति ॥ ननु विशेष-
त्वावच्छिन्नानां न नित्ये द्रव्ये वृत्तोरयोग इति शङ्कते—। “वज्जा-
तीया”इति । यावद्विशेषवृत्तिरुपाधिर्न कश्चित्सह इत्याह—।
“तस्ये”ति ॥ / “तज्जातीयत्वस्ये”ति । यावद्विशेषनिष्ठोपाधे-
रित्यर्थः ॥

मू० * भवतु “स एवोपाधिर्लक्षणम् ?*—इति चेन्न, तस्या-
निरुक्ते * यतो नित्यद्रव्यव्यक्तिषु विश्वव्यापत्तधी-
र्योगिनां स विशेष ?*—इति चेन्न, स्वरूपधर्मव्य-
क्तिभेदेष्वपि प्रसङ्गात् अन्यथा कार्यद्रव्यगुणादिव्य-
क्तिषु स तेषां कुतः स्यात्तास्विव वैधर्म्यान्तरस्य
नित्येष्वपि सम्भवात् “विशेषवद्विशेषासम्भवेन ल-
क्ष्यासिद्धिरिति अथ विशेषादिभ्यो विशेषलक्षणा-
देर्भेदे कथं तत्र तत्रैव तैर्विशेषादिव्यवहारः क्रियतां
नान्यत्र * संबन्धो नियामक ?—इति चेन्न, संबन्ध-
स्यापि संबन्धो नियामकत्वेनवस्थापातात् ।

टी० ॥ “स एवे”ति । यद्वच्छेदेन विशेषार्जा नित्यद्र-
व्यवृत्तित्वं यावन्नित्यर्थः । स्वरूपेति भेदपदं नित्येकारण्येति वा

(१) दोषमाह—सम्भवे एवेति विशेषव्यवहारा दोषमाह इत्यर्थः ।

ठयावृत्तबुद्धिः तेषां योनिनामतीन्द्रियकार्यव्यक्तिगुणव्यक्तिबु
 विशेषपदार्थाभावात् योनिनां ठयावृत्तबुद्धिर्बन्धीना तत्राति-
 व्याप्तिरित्यर्थः ॥ ^b“तास्त्विति । नुगादिठपक्तिव्यत्यर्थः ॥
^c“नित्येऽशपी”ति । दृश्येऽवत्यस्य विशेषणं । ^d“विशेषवदि-
 ति । यथा विशेषपदार्थे विशेषान्तरमन्तरेणैव ठयावृत्तधीस्तथा
 तदाशयेपि स्यादित्यन्यथा सिद्धया विशेषपदार्थे एव न सिद्धी-
 दित्यर्थः । सम्बन्धस्य वृत्तमन्तरमितुं पीठमारचयति-। ^e“अवे-
 ति । विशेषादीनां पदार्थाणां विशेषलक्षणानि निजानि तद्यथा
 किं लक्षणं कस्य स्यात्तथाच केन लक्षणेन कुत्रेतरठयावृत्तिव्यव-
 हारी स्यातामित्यर्थः यत्र लक्ष्ये यल्लक्षणं सम्बद्धं तत्र तेन तौ
 स्यातामित्याह-। ^f“सम्बन्ध”इति । सम्बन्धस्यापि तदीयत्वे
 संबन्धान्तरं चेन्नियामक स्यात्तदामवस्थेत्याह-। ^g“ने”ति ॥

सू०^१अन्यथा त्वनियमात्तदनिरुक्तेश्च तथाहि कः संबन्धश-
 ष्टार्थः समवायादय इति चेत्सत्यं किन्तु ^bकेन
 निमित्तेनेति हि प्रश्नवाक्यतात्पर्यं प्रतिस्वं ठयावृ-
 रोव संयोगत्वादिनान्येन वा आद्ये नुगतव्यवहा-
 रानुपपत्तिप्रसङ्गः ^dअस्ति चासाविन्द्रियार्थसन्निक-
 र्षोत्पन्नादिप्रत्यक्षं नित्या प्राप्तिः समवाय इत्यादि
 नच द्वितीयः ^fतस्यैकस्यासंभवात् * ^gनियामकत्वं
 तत् ? *—इति चेत्, ^hस्वभावस्यापि भवता नियाम-
 कत्वाङ्गीकारात्तत्रासौ संबन्धः * ⁱतथाविधः सोपि
 संबन्ध एव ? *—इति चेत्,

टी० ॥ ननु संबन्धेपि संबन्धान्तरं नामुपेयं येनानवस्था
 स्यादित्याशङ्क्याह-। ^a“अन्यथे”ति । ^b“केने”ति । सम्बन्धवद्-
 प्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नोपनित्यर्थः । यथाकाशादिपदवत्प्रवृत्तिनि-
 मित्तमन्तरेणैव सम्बन्धवद्प्रवृत्तिस्तत्राह-। ^c“अनुगते”ति । ननु
 ना भूदनुगतप्रत्यय इत्यत आह-। ^d“अस्ति चे”ति । नकिञ्च-
 र्थपदेन संयोगसमवायादीनामनियाममेकं प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेण

न स्यादित्यर्थः ॥ “नित्येति प्राप्तिपदेन संबोधनवाच्ययो-
 र्छात्रे संयोगव्यावर्तनाय नित्येति । विशेषणं न घटेतेत्यर्थः ॥
 “तस्ये”ति । अनुगतकल्पस्येत्यर्थः । १“नियामकत्वमिति”ति ।
 अतिप्रसङ्गनिवर्तकत्वमित्यर्थः ॥ २“स्वभावस्यापी”ति । ज्ञाना-
 वसनवाद्यादिविशिष्टप्रतीती स्वभावस्यापि नियामकत्वस्वीका-
 रादित्यर्थः । “नचासौ सम्बन्ध”इति । सम्बन्धलक्षणं तत्राति-
 ठ्यापकमिति भावः । “तथाविध”इति । नियामकः स्वभावः
 संबन्ध एवेति नातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥

सू० “त्वया सर्वस्वभावनियतृताया अवश्याभ्युपगन्तव्य-
 त्वेन नियामकनिरुक्तिलभ्यसत्त्वाद्यधिकांशासाम-
 र्यापत्तोः नियम्यस्य च स्वस्यानतिप्रसङ्गेन निया-
 मकत्ववाच्योयुक्तधनुपपत्तोः अतिप्रसक्तत्वे च तस्यैव
 नियामकत्वात् अतिप्रसक्तेन नियमायोगात् भूत्वा
 नियमकरणे च प्रागनियतत्वापत्तोः एवमन्येनापि
 अन्यनियमेन्यदपि हि यदि पूर्वं घटादिरूपेणानि-
 यतमेव घटादि करोति तदा पटाद्यपि तथा कुर्यात् ॥

टी० ॥ “तस्ये”ति । सर्वस्वभावाश्रयेणियन्तारस्तदा
 नियमनियतपूर्वतत्त्वमिति या नियामकपदनिरुक्तिस्तत्र सत्त्व-
 मेवास्तु नियामकत्वं तदादिसूनमधिकं यद्विशेषणं तद्वैयर्थ्याप-
 तेठ्यावर्तकत्वादित्यर्थः सत्त्वादित्यतद्गुणसविज्ञानो बहुव्रीहः ॥

३“नियमस्य चे”ति । स्वभावेन यन्नियम्यं तदनतिप्रसक्तं यदि
 तदा नियामकत्वं व्यवच्छिन्नतया बोधकत्वं न सम्भवति स्वय-
 एव व्यवच्छिन्नत्वादित्यर्थः ॥ ४“अतिप्रसक्तत्वं” इति । निय-
 म्यनतिप्रसक्तं चेत्तदा नियामकमपि तदेवेत्यतिप्रसक्तस्य निया-
 मकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । यत्तु नियामकं तदुत्पत्तं सक्रियम-
 येदनुत्पन्नमेव वा आद्ये आह । ५“भूत्वे”ति । स्वमेव हि निया-
 मकं नियम्यं चेति स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वमनियतं स्यादित्यर्थः ।
 तथास्त्वे वा पश्चादपि कथंनियतं स्यादित्यर्थः । एवस्य स्वं

प्रति नियामकत्वानुपपत्तिमुक्ता कारकस्य कार्ये प्रति नियाम-
कत्वानुपपत्तिमाह—“पूर्वान”ति । द्रवहाद्यादिकारकं यद्य-
चटमेव घटीकरोति तदा पटमपि घटीकुर्यादित्यर्थः ॥

सू० * न घटादित्वे नियामकत्वस्य किन्तु घटादेः
कालविशेषयोगे ? *—इति चेन्न, यदि नासी घटादेः
कालविशेषयोगिता नियतेष्यते तदा पटादिकाल-
विशेष योगमपि तथा कुर्यात्तस्मात् “यदि कुर्या-
दसत्कालानियतं नियतं परः तत्स्यादतिप्रसक्तत्वम-
न्यथा चानियन्तृतेति” ‘कार्यकारणयोः कालभेदा-
न्नियम्यनियामकत्वोपगमे उत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वनियमः
किं न स्यादित्यविनिगम्यत्वापत्तिः ^f“प्राचोत्तरस्य
नियमः प्राच एव न तेन किं ^gअनाद्यनन्तयोर्नैवं
विनिगन्ता प्रवाहयोरिति” ॥

टी० ॥ कारकस्य घटं प्रति नियामकत्वं न ब्रूमः किन्तु
कालयोगं प्रतीति शक्यते—। “न घटादित्व इति । कालविशे-
षयोगो पटीय एव नियम्यश्चेत्तदा घटनियामतैवेति पूर्वदोष
एव । अथ घटमनन्तर्भाव्यकालविशेषयोगमात्रं नियम्यं तदा
पटकालविशेषयोगमपि नियमयेदविशेषादित्याह—। ^b“ने”ति ।
इत्यनेनार्थं कारिकया संसृज्जाति—। “यदी”ति । परी हेतुः का-
लानियतमतमद्यदि कालनियतं कुर्यात्तदाऽऽस्याविशेषाद्द्रवहः
पटमपि कालनियतं कुर्यादित्यतिप्रसक्तः । ^d“अन्यथे”ति ।
सकवे घटादिः कालविशेषनियतश्चेत्किञ्चयते तदा द्रवहादेर्नि-
यामकत्वमेव भवेत्त घटादेस्ताद्रूप्याविशेषादित्यर्थः । दोषा-
न्तरमाह—। “कार्ये”ति कारकं नियामकं कार्यं च नियम्यमिति
भिन्नकालत्वाविशेषात् स्यात्प्रत्युतवैपरीत्यमेव स्यादित्यर्थः ॥
इत्यनेनार्थं संसृज्जाति—। ^f“प्राचे”ति । पूर्वोत्तरस्य नियमनं
चेत्तदोत्तरैव पूर्वस्य नियमनं किञ्चस्थात् ननु पीर्वापर्यमेव
नियामकवित्त्वत्त आह—। ^g“अनादी”ति । अनादी प्रवाहे पीर्वा-

पर्यन्तं चारुत्वात्तीवकार्यं ज्ञातीययोरनियतमित्यर्थः चरनकार्य-
स्वीकारत्वानियमो ना भूदित्यनन्तत्वमप्युक्तं ॥

मू० "अभूत्वा च कारणे व्याघातात् । ^bसंबन्धिनश्चाधा-
रत्वात् संबन्धस्याधेयत्वात् तस्वैव तदाधारत्वानुप-
पत्तेः न हि बुद्धितोपि नटवदुः स्वस्वसंबन्धमासह्य
नृत्वति नाप्यन्वस्यासौ संबन्धः त्ववैव तथानभ्यु-
पगमात् ^dस्वभावादेवायमीदृश इति हि स्वभाववा-
दस्तत्र परस्य नियमनाभावात् कथं परः संबन्धी
सङ्गच्छेत यच्च किञ्चित्संबन्धत्वमभिधीयते तत्सम-
वायेपि स्वीकार्यम् । नच 'समवायाधारत्वं द्रव्या-
दिषट्कस्य सम्भवति ॥

टी० ॥ द्वितीयं पक्षमाशङ्काम्- । "अभूत्वे"ति । असतो
नियानकत्वं व्याहृतमेव नियमनियतपूर्वसर्वस्य नियामक-
त्वादित्यर्थः । स्वभावसंबन्धे दूषणात्तरनाह- । "संबन्धिनः"
इति । नहि तदेव तेनैव तद्वदिति सम्भवति आधाराधेयभा-
वस्य भेदगर्भत्वादित्यर्थः ॥ असम्भवमेव दर्शयति- । "नही"ति ।
अनभ्युपगममेवाह- । "स्वभावादि"ति । यद्यपि घटाभावभूत-
लयोरन्योन्यं संबन्धत्वं तथाच घटाभावस्य भूतत्वं संबन्धः
भूतलस्य च घटाभावः संबन्धः इति संबन्ध संबन्धिनोर्भेद एव
भूतलस्य संबन्धः कथनभाव इत्यत्र स्वभाव एवोत्तरं सपश्चि-
हप्रत्ययस्य संबन्धान्तरेण दर्शनात् । यद्वा विशिष्टप्रत्ययजनकत्व
यस्य स्वस्य ज्ञातेो धर्मः स एव संबन्धस्तत्जनकत्वमेव कथन-
स्येत्यत्र तु स्वभावेनेवोत्तरं तथापि संबन्धस्य रहननात्रे तात्पर्यं- ।
"समवायाधारत्वमि"ति । समवाय आधारे यस्येतेष्वर्थः ॥

मू० "नचोपाधिभावात्स्यात्, तत्संयोगसमवायासम्भवात्
^bस्वभावसंबन्धस्य च निरसत्वात् । नचासावभा-
वोपि, प्रतिबेध्यमतिथोगिभावभेदाभिधानप्रसङ्गात्

सप्तपदार्थोपरिसमाप्तं च जगत् । परस्परविरो-
धेन तल्लक्षणस्य व्यवस्थापनादिति ॥

टी० ॥ ननु प्रमेयत्वादिबहुपाधिरेव कश्चित्सम्बन्धत्वं
समवाये वर्ततामत आह-। “नचे”ति । उपाधेरपि संयोगल-
क्षणस्य समवायलक्षणस्य^(१) वा तत्र वृत्तिर्न सम्भवतीत्यर्थः ॥
ननु स्वभावसम्बन्धेनैव च उपाधिस्तत्र वर्ततामत आह-।
b“स्वभावे”ति ॥ ननु समवाये भावरूपो धर्मः सम्बन्धत्वं ना
वर्ततामव एवासावस्त्वित्यत आह । “नचे”ति । “अज्ञाव”
इति नज्यदस्य निषेधयो यः प्रतियोगी भावस्तदभिधानप्रसङ्गा-
दित्यर्थः ॥ प्रतिषेधप्रतियोगिपदयोः पर्यायत्वेपि प्रतिषेध्य-
पदं वस्तुपरं प्रतियोगिपदं वाच्यत्वरपरनित्यन्ये स्वार्थिकणि-
जन्तप्रतिषेधपदे क्ताप्रत्ययेन प्रतिषेधं कृत्वा यः प्रतियोगी-
त्यर्थ इत्यपरे प्रतिषेध्यं प्रतिषेधाधिकरण^(२)नित्यप्याहुः । ननु
पदार्थान्तरमेव संबन्धत्वं स्यादित्यत आह-। “सप्तपदार्थो”ति ।
एतदेव कुत इत्यत आह-। “परस्पर”ति । तत्सगुणं निर्गुण
वा सगुणं चेद्द्रव्यमेव निर्गुणमपि सामान्यवक्तिः सामान्यं वा
सामान्यवद्वा, सामान्यवदपि चलात्मकमन्यवा भूतं वा आद्ये
कमेव अन्त्ये गुण एव निःसामान्यमप्यसमवेतं समवेतं वा आद्ये
समवायः अन्त्येऽप्येकसमवेतमेकसमवेतं वा आद्ये सामान्यं
अन्त्ये विशेष एवेति पठेव भावाः सप्तमश्चभाव इत्यर्थः ॥
“परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः । नैकतापि विरुद्धा-
नामुक्तिनात्रविरोधः”इति न्यायादित्यर्थः ॥

सू० “यदपि नियम्याद्भिन्नं नियामकं यदपि कथं तदेव
नियमयति नान्यदिति तदाधारत्वादिति चेत्कः
पुनराधारार्थः * यत्र स्थीयते तत् ? *—इति चेन्न,
यत्रेति सप्तम्यर्थस्यापि विवेचनीयत्वात् * इहेति

(१) “सम्बन्धत्वं”-इति शेषः । अधिकरणे चेत्ता वृत्त्यो ।

(२) प्रतिषेधाधिकरणम्=प्रतिषेधानुबोधि ।

प्रत्ययविषय ? *—इति चेन्न, ^bतत्रेति प्रत्ययविषय-
स्यानाधारत्वप्रसङ्गात् ^cकिञ्च प्रत्ययविशेषाधिगमो
विषयविशेषाधिगमात् विषयस्य च विशेषाधिगमः
प्रत्ययविशेषादिति व्यक्तमन्योन्याश्रयः * ^dसमवा-
यी ? *—इति चेन्न, ^eशशे शृङ्गाभावः कुण्डे वदर-
मित्याद्यव्याप्तेः * गौण^fस्तत्र प्रयोग ? *—इति
चेन्न, एतावन्मात्रं प्रत्ययश्च भ्रान्त इत्यपि वक्तव्य-
मवशिष्यते भवतः ओमिति चेदप्य^gविपरीतमेव
कुतो न स्यात् ^hशशे विषाणं नास्तीति च यदि
विषाणाभावाधिकरणत्वप्रतीतिभ्रान्ता शृङ्गस्य तर्हि
शशोधिकरणं स्याद्भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्यान्य-
तरविधिपर्यवसायित्वेनाभ्युपगमात् * पतनप्रतिब-
न्धकमधिकरणम् ? *—इति चेन्न, अवयविनं गुणा-
दिकं च प्रति तदभावात् * अद्यवहिताधः स्थि-
तम् ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ आधारत्वखरहनं प्रस्तीति—। “यदपी”ति ।
आधारत्वमेव सप्तम्यर्थ इत्यर्थः ॥ “तत्रे”ति । तच्छब्दापेक्षता
इदं शब्दस्यान्यार्थत्वादित्यर्थः प्रत्यय एव कथं तथेत्यनुयोगे
विषयवैलक्षण्यं नियामकं स्यात्तत्र च प्रत्ययवैलक्षण्यमित्य-
न्योन्याश्रय इत्याह—। “किञ्चे”ति । “समवायी”ति । समवा-
यित्वमाधारत्वमित्यर्थः । संबन्धान्तरेणाधारत्वेऽव्याप्तिरित्याह—।
“शश”इति ॥ “तत्रे”ति । समवायलक्षणां वृत्तिमन्तरेण यत्रा-
धारत्वप्रतीतिरित्यर्थः ॥ विपरीतमिति कुण्डे वदरमित्यादि-
प्रतीतिः प्रमास्तु पटे शौक्लिकमित्यादिप्रतीतिरेव भ्रमः स्यादि-
त्यर्थः । दूषणान्तरमाह—। “शश”इति । अवयविपतनं नाव-
यवाः प्रतिबन्धन्ति तथा सत्यवयवी कदाचिदपि न पतेन्न वा

गुणपतनं गुणी प्रतिब्रजति गुणानां गुरुत्वानाधारतयाऽपत-
नचर्मकत्वादिति तदुभयं प्रत्याधारत्वं न भवेदित्याह-
॥“अवयविनानि”ति । अंशवादीनां पटाद्याधारत्ववारणायाठ्य-
वहितेति ॥

सू० “गुणाद्यपेक्षया गुणवदादेरधः स्थितत्वे प्रमाणाभा-
वात् । अविशेषेण वा^१वयविगुणादीनामवयवाधा-
रत्वप्रसङ्गात् ऊर्ध्वस्थितस्य च संयोगिनः संयोगं
प्रति तदभावात् ^२सूत्राऽवलम्बितद्रव्यादौ च बहुलं
व्यभिचारात् *यद्येकोधिकरणार्थो नोपपद्यते तर्ह्य-
क्षशब्दार्थवद्भिन्न एवास्तु ? *-इति चेन्न, ^३आश्रया-
सिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात् * ^४सोऽपि स्वीकार्य ? *-इति
चेन्न, ^५असिद्ध्यादिविषयपरिगणनस्य व्यवहारहेतो-
रन्यथाभावप्रसङ्गात् क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात्
क्वचिन्नाभावं समवायं च हेतुं प्रति तदसम्भवात्
^६एकस्य च तेषामुपसङ्गाहकस्य वक्तुमशक्यत्वात्
बहव एवाश्रयशब्दार्थाः आश्रयासिद्ध्यादयोऽपि पृथक्
पृथगेव बहवः असिद्धिभेदपरिगणनग्रन्थोप्य-

टी० ॥ गुणगुणिनोरौत्तराधर्मस्य नियन्तुमशक्यत्वनि-
त्याह- ॥“गुणादीति ॥ ॥“अवयविगुणादीनानि”ति । अवय-
विनां ये गुणादयस्तेषामठ्यवधानाविशेषादवयवा अप्याधाराः
स्युरित्यतिठ्याप्तिरित्यर्थः कुपहे वदरसंयोगस्यापि वदरनाधारे
न स्यादधः स्थितत्वाभावादित्याह- ॥“ऊर्ध्वेति । अधः स्थितेऽपि
सूत्रबद्धे द्रव्ये सूत्रस्याधारत्वप्रतीत्या तत्राठ्याप्तिरित्याह-
॥“सूत्रे”ति । सत्पत्तये स्थितये अतये वा षट्शेनापेक्ष्यते तदेव तदा-
धार इति नानार्थ एवायमाधारशब्द इत्याह- ॥“यदी”ति ।
आश्रयासिद्ध्यादेराश्रय नानात्वेन भेदः स्यादित्याह । ॥“आश्र-
ये”ति । आदिपदाद्व्यभिचारादिपरिग्रहः व्यभिचारेऽपि साध्या-

भावसामानाधिकरथ्यनित्यत्राप्यधिकरणशब्दस्य नानार्थत्वादिति भावः आश्रयासिद्धिभेदेऽपि कार्य इत्याह-। ^a“सोपी”ति । आश्रयानिद्धिभेदा एव सिद्धवस्तदाऽसिद्धिप्रयत्नोत्पादकं शास्त्रं विरुद्धेतेत्याह-। ^b“असिद्धीति । आश्रयानिद्धिभेदमेव प्रसूयति-। ^c“कश्चिदिति । आश्रयत्वस्यानुगतस्याभावादित्याह-। ^d“एकस्य चे”ति ॥

म० “न्यथाकारं बोधदर्शनात् ? *-इति चेन्न, ^bतथापीह कुण्डे वदरमित्यत्र क आधाराथ इति वक्तव्यं न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वं ‘सहैव कुण्डेन पतति वदरे तदभावात् नापि संयोगित्वं ^aवैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात् * संयोगित्वे सत्यधः स्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ ? *-इति चेन्न, तस्मिन्सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलिपटलादौ तदधिकरणप्रतीत्यनुत्पत्त्या प्रत्युत चरणतले धूलित्वेव प्रतीत्याऽऽधारत्वप्रतीती द्यभिचारित्वेन / प्रकृतेपि तथा स्वीकारानुपपत्तेः * “न सार्वात्रिकोयमाधारार्थः किन्तु क्वाचित्को नानारूपाधारत्ववादिपक्ष ? *-इति चेन्न, ^bभवत्वन्यत्रान्यस्याधारार्थत्वं तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यते अनाधारत्वप्रतीतिविषयेपि गतत्वादित्युक्तेः ।

टी० ॥ ^a“अन्यथाकारमि”ति । ठयाप्रत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितत्वस्यानुगतस्याश्रयभेदेपि सुवचत्वात्सर्वेषामेवाश्रयानां पक्षत्वेनोपसङ्गप्रहादित्यर्थः ॥ बाधो दोषः । ^b“तथापी”ति । आश्रयार्थो विशिष्य निर्वाक्यमशक्य इत्यर्थः ॥ ^c“सहैवे”ति । यद्यपि कुण्डादधः पतनं तथापि कुण्डप्रतिबद्धमेव तथापि तदाकाशदेशात्पतनं न प्रतिबध्नातीत्यर्थः ॥ ^d“वैपरीत्ये”ति । दधनेऽपि कुण्डाधारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ^e“तस्मिन्नि”ति । अथःस्थितत्वे सत्यपि धूलिपटलस्याधेयत्वमेव न त्वाधार-

त्वमित्यर्थः । अन्यत्रेत्यस्य विशेष्यं “धूलीपटलादावि”ति ॥
 f“प्रकृतेषी”ति । विशिष्यापि यज्ञज्ञानमुपक्रान्तं तदप्यतिठयाप-
 कमेवेत्यर्थः । संयोगवृत्त्याप्याधारत्वं नानैवेति शङ्कते-। g“ने”-
 ति । तत्रापि यद्विशेषलक्षणं कृतं तदेव धूलीपटलादाविठयापक-
 निनि परिहरति-। h“भवतिव”ति । अनाधारप्रतीतिविषये
 धूलीपटलादावित्यर्थः ॥

म० * a“आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सति ? *-इति
 चेन्न, करतलस्थित तूलराश्यादौ तदसम्भवात्
 b“अन्यस्य च तत्राधारार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात् c“अधः
 शब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात् d“पतनाभिमुखदि-
 गवस्थितत्वम् ? *-इति चेन्न, पतनार्थस्य गमना-
 धिकम्याधः शब्दार्थव्यतिरेकेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्
 अत एवाधः शब्दार्थदुर्वचनत्वमधिगम्याद्वैतवादिना
 गुरुणा शिष्याय खण्डनमुपाचक्षणेन भगवता परा-
 शरेणाभिहितम् “अधः शब्दनिगद्यं किं किञ्चो-
 र्ध्वमभिधीयते” * / पृथिव्यभिमुखा दिग्धः शब्दार्थ ?
 *-इति चेन्न, gऊर्ध्वशब्दार्थस्यापि पृथिव्यभिमुखा
 दिक् तदपेक्षया साध ? *-इति चेन्न, iयदपेक्षयेति
 किं यमवधीकृत्येति विवक्षितमुत यदीयाभिमुख्य-
 ठयवस्थितेति ॥

टी० ॥ a“आधेये”ति । धूलिस्तु चरणापेक्षयाल्पपरिमाणेति
 भावः ॥ b“करतले”ति । प्रचयाख्यसंयोगेन करापेक्षया तूलक-
 पिण्डे महत्स्वारम्भादिति भावः ॥ ननु तत्रापि पृथगेवाधारत्वं
 स्यादित्यत आह-। “अन्यस्ये”ति । अठयवहिताधः स्थित-
 मिति यदुक्तं तत्राह-। d“अध”इति । यदभिमुखं कलादि पतति
 तदधः शब्दार्थ इत्याह-। “पतने”ति । अधः संयोगकलिका
 क्रिया पतनमित्यन्योन्याश्रय इत्याह-। f“पतने”ति । गुरुणा

आभुषा शिष्यस्य यत्खरहनं कृतं तदुपाचसाजेन तदुपाख्यानं
 कुर्वता परशरेणेत्यर्थः । ^a“पृथिवी”ति । उपरि स्थितं पदार्थ-
 नपेत्य या पृथिव्यभिमुखा दिक् साऽधः शब्दार्थ इत्यर्थः ॥
^b“ऊर्ध्वे”ति । आभिमुर्यमुन्नयत्राप्यविशिष्टमित्यर्थः । मार्तण्ड-
 नखरहलापेक्षया पृथिव्यभिमुखा दिक् तदपेक्षयैवाध इति शङ्कते-
 “यदि”ति । ^j“यदपेक्षये”ति । अवधित्वमात्रे आऽपेक्षा अभि-
 मुख्ये वा अपेक्षेति विकल्पार्थः ।

मू० आद्ये पृथिव्यूर्ध्वस्थितं यदर्थमवधीकृत्य योर्ध्वं
 दिगिति भवद्भिर्यवह्रियते सापि पृथिव्यभिमुखी
 भवतीति साप्यधः स्यात् अत एव न द्वितीयापि *
 * यस्यां दिशि क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति
 सा दिग्ध ? *-इति चेन्न, कूपादौ मध्यगतस्य तिर्य-
 ग्दोलायमानस्य क्रिया पतनं स्यात् तद्गत्याक्रान्ता
 च तिर्यग्धः स्यात् * पृथिवीमवधीकृत्यं चान्यं
 पदार्थमवधीकृत्य यो मध्य इति देशो व्यवह्रियते स
 पृथिवीव्यतिरिक्ततद्व्यपेक्षयाध ?*-इति चेन्न,

टी० ॥ “आद्य” इति । पृथिव्या उपरि गिरिस्तमवधी-
 कृत्योर्ध्वस्य मार्तण्डनखरहलाप्यधः शब्दार्थत्वं स्यादित्यर्थ
 आभिमुर्यस्य साधारण्यादवधेस्वाक्रापि सत्त्वादित्यर्थः ॥ ^b“अत
 एवे”ति । आभिमुर्यस्योर्ध्वः साधारणत्वादिति भावः ॥
 “यस्यां दिशि”ति । यया क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति
 सा क्रिया पतनमिति तात्पर्यार्थः (१) यस्यां दिशीत्वध इति च
 कथं चिदुपलक्षणतयोक्तम् अत एव पतनलक्षणातिव्याप्तिरि-
 त्वाद्-। “कूपादादि”ति । कूपे घर्षमानस्य विहङ्गमादेः क्रिया
 पतनं स्यादित्यर्थः ॥ “तद्गत्ये”ति । सा चासौ गतिश्चेति
 तद्गतिः तस्य दोलायमानविहङ्गमादेर्गतिर्वा तद्गतिरित्यर्थः पत-

(१) वादिग्धः पदार्थ इति शब्दार्थं त्रिविधत्वादुपेत्य तात्पर्यार्थं
 एवोपवर्धितः ।

नलक्षणया क्रियया यत्र संयोगो अन्यते तस्यैवाधः शब्दार्थत्वा-
दिति भावः ॥ पृथिवीमार्तखड्गवद्वलान्तरालदेशो मार्तखडापेक्ष-
याध इत्याह—। f“पृथिवीनि”ति ॥

मू० पृथिव्यामेव तदध्यवहारापत्तेः पृथिवीं पदार्थान्तरं
चापेक्ष्य मध्यत्वस्य विवक्षितस्याधः शब्दार्थप्रदर्शन-
मन्तरेण निर्वक्तुमशक्यत्वात् । पृथिव्यपेक्षयोर्ध्वम-
परापेक्षया चाधः तत्र तयोर्मध्यमित्येव निरुच्यते
मध्यत्वम् अन्यथा तिर्यगतिप्रसङ्गात् । तद्यथा पृथि-
व्यपेक्षया पूर्वमपरापेक्षया च पश्चिमं तयोर्मध्यमु-
च्यते प्रतीपदिगवस्थितयोः परस्परापेक्षया प्रतीप-
दिक्खड्गरेमकवहारात् * अथान्यः कश्चिदाधारा-
र्थोस्तु प्रतीतिसिद्धत्वात् प्रतीतेश्चैवमनन्योपपाद्य-
त्वात् ? *—मैवम् ॥

टी० ॥ “पृथिव्यामि”ति । पृथिव्याः पृथिवीमार्तखडा-
पेक्षयान्तरालत्वाभावान्मार्तखडापेक्षया पृथिव्यधो न स्यादित्यर्थः ।
पृथिव्यपेक्षया नागलोको नाधः स्यात्पृथिव्यतिरिक्तत्वेनावधे-
विंशेषितत्वादिति वार्थः । b“पृथिवीनि”ति । पृथिव्या ऊर्ध्वं
मार्तखडस्य बाधो मध्यनिति मध्यत्वज्ञानमथो ज्ञानाधीनमथो-
ज्ञानं च मध्यत्वज्ञानाधीननित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ॥ एतदे-
वाह—। c“पृथिवी”ति । अन्यथा तिर्यग्देशोपि मध्यः स्यात्
यद्यथस्तन्निरूपकं प्रकृते न स्यादित्याह—। d“अन्यथे”ति । तदेव
उच्युत्पादयति । “तद्यथे”ति ॥ f“परस्परे”ति । विरुद्धयोर्दिशो-
रन्तराले मध्यत्ववहारादित्यर्थः g“प्रतीपदिगवस्थितयोरिति”ति ।
स्फुटार्थं निरूपकनात्राभिधानं अधःपदार्थानिरुक्त्या उच्यवहि-
ताधः स्थितत्वमाधारत्वं मास्तु यदतिरिक्तमेव किञ्चित्स्यादि-
त्याह—। h“अथे”ति । इहेतिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कल्पनीय-
निति ज्ञातः ॥

मू० "तद्व्यनित्यं वा स्यान्नित्यं वा नाद्यः ।^१ तदभावे
 आधारप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । गोत्वादिनित्यत्वव्या-
 यसान्येप्यस्यानित्यत्वे तेषामप्यनित्यत्वापाताच्च
 नापि द्वितीयः तादृशमप्यनुगतमनुगतं वा स्यात्
 द्वितीये त्वनुगताधारप्रतीत्यसम्भवः ।^२ सङ्केतग्रहा-
 शक्यत्वं च । प्रथमे 'सामान्यवदाश्रयापरित्यागि
 वा स्यात्तत्तस्यागि वा आद्ये यदेव तदाधारतया
 प्रतीतं तत्तदाधेयं न स्यात् द्वितीये च यदि निया-
 मकमन्तरेण तत्स्वाश्रयं भजति च त्यजति च तद-
 नियमानुपपत्त्या । सर्वदा तद्भजनत्यजनोचितप्रत्य-
 यव्यवहारप्रसङ्गः ॥

टी० ॥ "तद्व्यति" । यत्कल्पनीयमाधारत्वमित्यर्थः ॥
^१ "तदभावे" इति । तदभावकाले इत्यर्थः ॥ "गोत्वादी"ति ।
 एकगोव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरनिष्ठतया प्रतीयमानत्व प्राक्प-
 श्चाच्च प्रतीयमानत्वं गोत्वस्य नित्यत्वमन्तरेणानुपपद्यमानमि-
 त्यय न्यायोस्तथाधारत्वेपि तुल्यः न चेदाधारत्व नित्यं न
 नाधयेद्गोत्वमपि नित्यं न साधयेदित्यर्थः । यद्वा आधारत्वस्या-
 नित्यत्वे गोत्वमपि नित्यं न स्यादाधारमन्तरेण तस्यानिरूप-
 णादित्यर्थः ॥ "सङ्केते"ति । व्यक्तीनां आनन्त्यव्यभिचा-
 राभ्यानाधारपदशक्तिग्रहे न स्यादित्यर्थः ॥ "यदेव तदि"-
 ति । आधाराधेयभावापन्नयोः पीठपरियोर्नियमेनाधाराधेयभा-
 वौ न प्रतीयते पीठस्याधेयतादशायामप्याधारत्वपरित्याग-
 प्रसङ्गादित्यर्थः । यत्तु ठयारूपानं द्रव्याधारः पुरुषो दोलाद्याश्रये
 न स्यादिति तदनादेयं द्रव्याधारदशायामपि दोलाधेयत्वसम्भ-
 वात् ॥ "सर्वदे"ति । आधारत्वस्य स्वाश्रयपरित्यागेनाधार-
 त्वप्रतीतिर्भवेत् चाधारत्वप्रतीतिरित्येक वस्तु सर्वदा विरुद्धप्र-
 तीतिद्वयालिङ्गितं स्यादित्यर्थः ।

मू० * अथ तस्याग्रयभजनत्यजनयोर्नियामकवस्ति तर्हि
 "स वक्तव्यः सोऽपि कल्पयिष्यते ऽन्वयाधारप्रतीत्य-
 नुपपत्तेः ? *—इति चेत्, ^bतत्परिकल्पने मदेव भजने
 नियामकं स एवाधारोऽस्तु कृतं पूर्वपरिकल्पनेनेति *
 अस्त्वेवमेव ? *—इति चेत्, ^dतस्यापि स्वाग्रयभ-
 जनत्यजननियामकस्यावश्यं वाच्यत्वे तस्यापि चैवं
 वैयर्थ्यमित्यधिकापरिकल्पने नियमानुपपत्तिरधि-
 कपरिकल्पने च पूर्ववैयर्थ्यप्रसङ्ग इति 'दुरुत्तरं व्य-
 सनमापद्येत ॥

टी० ॥ "स वक्तव्य" इति । तादृशं न किञ्चिदस्तीति
 भावः ॥ ^b"तत्परिकल्पने" इति । आधारत्वविशिष्टप्रतीतेरन्व-
 देव यद्भिं प्रयोगकमिति किमाधारत्वेनेत्यर्थः ॥ "अस्तु" इति ।
 सजननियामकमेवाधारत्वस्थानेऽस्ति विषयतामित्यर्थः । सजननि-
 यामकमाधारत्वाभिठयल्लोक चर्मान्तरं मदेवाभिठयकिविरोधि ।
 चर्मान्तरं त्यजननियामकमित्यर्थः । त्यजननियामकं च तिन शक-
 मिति ठवाक्यात्मनादेवम् । नित्यत्वपक्षस्यात्र दूषयत्वात् ॥ ^d"त-
 स्यापि" इति । सजननियामकस्यापीत्यर्थः । तत्रापि तदपि वा-
 ऽन्यागिवेति विकल्पमस्त्विति भावः ॥ "दुरुत्तरम्" इति ।
 पूर्वं प्रति यन्नियामकं तेनेव तद्वैयर्थ्यं क्वापि विप्रामो न स्यात् ।
 उपकीठयोपकीठकभावोऽपि न नियामकः । आधारत्वस्यानुत्पा-
 दादेवोत्पत्ती नोपकीठयत्वं चानुपकीठयत्वेनान्यथासिद्धेः स-
 म्भवादिति भावः ॥

मू० * "परस्परस्य परस्परस्य नियामकत्वम् ? *—इति
 चेत् ^bअन्योन्याश्रयिणी तौ द्वावपि परस्परकथक-
 भावत्ववस्थया मुन्थीकुरु ततो दास्यामस्तवोत्तरम्
 *जात्वादयोऽपि तद्ये वमनुपपन्ना ? *—इति चेत्, ^dतु-
 नेऽपि वक्तव्यम् । यदि कोऽपि परः शृणोति तदा महद-

निष्ठमस्माकं प्रकाशीकृतं स्यात् । किञ्च यत्तदाधारत्वं
तत्साधारमनाधारं वा? अन्येक्य^(१) विशिष्टप्रत्ययं
कुर्वाद्भिषेषाभावात् । आद्ये तदाधारत्वं वाच्यम् ।
स्वरूपमेव तस्य तादृशं येन स्वयं सत्ता स्वात्मनि
सत्ताप्रत्ययकारिणी सत्तान्तरमन्तरेण यथा यथेद-
मपि विनैवाधारत्वान्तरं स्वाधारप्रत्ययकारि ?*-
इति चेन्न, भ्रान्तित्वप्रसङ्गात् । यथा विना रजतत्वं
तत्प्रत्ययो भ्रान्तिस्तथैव स्यात् । उपपाद्यश्चायमर्थो
भेदखण्डनप्रस्तावे इत्युपरम्यते * १ विनाप्याधारा-
धेयभावं स्वभावसंबन्धेन नियामकत्व भविष्यति ।
यथा विषयविषयिभावेनार्थज्ञानयोः ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ जनस्यस्यापरीहारायाह । ^a“परस्परे”ति । एव
सत्यन्योन्याश्रयो दोषः क्वापि न स्यादित्याह- ^b“अन्योन्ये”
इति । आधारत्वखण्डनं जात्युपप्लवकमित्याह-। ^c“जात्याद-
य” इति । इष्टापत्तिमाह । ^d“नाश्चैर”ति । सर्वपदार्थखण्डनप्र-
सङ्गस्य जातिखण्डननिष्ठमेवेति भावः ॥ ^e“तदाधारत्वमि”ति -
आधारत्वविशेषे वर्तमानमाधारत्व साधारं भवेत्तथा च तदा-
धारत्वं वाच्यमित्यर्थः ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोषमाह-। ^f“भ्रान्-
तित्वे”ति । विषयविषयिभावखण्डनं प्रस्तौति-। ^g“विने”ति ।

सू० स्वभावसंबन्धस्य निरस्तत्वात् यमुदाहरति च विष-
यविषयिभावं नोऽपि निवृत्तं न शक्यते । तथाहि-
कः पुनर्ज्ञानादेर्घटादिना विषयविषयिभावः * प्रका-
शस्य सतस्तदीयताभावरूपः स्वभावविशेष ? *-इति
चेन्न, “इच्छादिविषयाध्यापनात् * ^bविषयिण ?* इति
चेन्न, ^c“तत्त्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् । किञ्च ^dस्वभावः

स्वधर्मो वा स्वात्मा वा तस्य विवक्षितः 'साद्यो
ज्ञानत्वादिकं वा साधारणमसौ तत्तद्घटज्ञानादि-
नियतो वा कश्चित् साद्यो साधारण्यान् विशेष-
तस्तदीयतामात्ररूपत्वसम्भवः द्वितीये तु "प्रतिविषयं
व्यावृत्तज्ञानधर्मस्वीकारे वचनभङ्गिभेदेन साकारता-
स्वीकारः ॥

टी० ॥ प्रकाशस्य सत इत्यभावसमवाययोर्भाववर्तनाय
"इच्छे"ति । अस्याः प्रकाशत्वाभावादिपर्ययः ॥ "विषयिण"
इति । प्रकाशस्येति स्थाने "विषयिण" इति कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥
"नस्वस्ये"ति । विषयित्वेनैव विषयित्वनिरूपणे आत्माश्रय
इत्यर्थः ॥ स्वस्य भावो स्व वा स्वभाव इति समासद्वयाश्रयणेन
विकल्पयति-; "स्वभाव" इति ॥ "साद्यो" इति । ज्ञानत्वं वा
तत्तद्घटादिज्ञानत्वं वा धर्म इति विकल्पार्थः ॥ "साधार-
ण्यादि"ति । ज्ञानत्वमेव यदि विषयित्वं तदा तस्य साधो-
रव्यावृत्तविषयकमपि ज्ञानं घटविषयकं स्यादित्यर्थः ॥ "प्रति-
विषयि"ति । घटज्ञानत्वं चेद्विषयित्वं तदा घटस्यापि ज्ञाना
कारप्रविष्टतया योगाचारमतप्रवेश इत्यर्थः ॥

सू० किञ्च * नासौ धर्म उपधेयान्तराधीनः ? * -विषयीभू-
तघटाद्यतिरिक्तोपाधिप्रतीत्यपेक्षाप्रसङ्गात् * 'नच
घटादिरेव तथा * असंबन्धात् 'तथापि तथात्वे चा-
तिप्रसङ्गात् 'नापि जातिरूपः, क्वचिद् घटमात्रपट-
मात्रज्ञानगततया पृथग्व्यवस्थितौ सत्त्वां घटपट-
विषयैकज्ञाने सह व्यवस्थित्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् ।
'प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमे विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः ॥

टी० ॥ किञ्च घटज्ञानत्व स्वस्य (') धर्मस्तदीयत्वं यत्तदुपा-
धिरूपं जातिरूपं वा उपाधिरेव उपधाधेयमन्यद्वा घटादिकमेव

वा? आद्यं दूषयति । “नासावि”ति । यथा पुरुषे दक्षिणत्वज्ञानं दक्षिणत्वोपाधेयपरतन्त्रं तथा प्रकृतेऽपि घटज्ञानमुपाधेयान्तरपर-
तन्त्रज्ञानं स्यादित्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह- । “नचे”ति । घट-
ज्ञानत्वलक्षणोपाधी घट एव हेतुः । अस्तदा यथा दक्षिणत्वोपा-
धेयेन पुरुषस्य संयोगः संबन्धस्तथा ज्ञानस्य नास्तीत्यर्थः ।
विषयविषयिभावस्य चाद्याप्यनिरूपणादिनि श्रावः ॥ ८०८-
थापी”ति । उपाधेयोप धिनतोः संबन्ध विनाऽऽप्युपाधेयवच्छेद-
कत्वेऽदक्षिणत्वमपि दक्षिणत्वमवच्छिद्यदित्यर्थः । तृतीयमाशङ्क्यं
निराकरोति । “नापी”ति । घटज्ञानत्वपटज्ञानत्वे जानी
तदुभयसमूहात्मने सङ्कीर्णं स्यातामित्यर्थः ॥ ननु जातिसङ्का-
येन नानाविषयकं ज्ञानमेव नाभ्युपेयमित्यत आह- । “प्रति
विषयनि”ति । तच्च विशेषणविशेष्योभयविषयकं विशिष्टज्ञानमपि
न स्यादित्यर्थः ।

सू० “एवंभूतविचित्रजात्यभ्युगमे प्रत्येकोचितव्यहारस्या-
प्वभावप्रसङ्गात् * अथ जातिसङ्करोऽपीष्यते(१) ?
तथापि स एव विशेषो घटज्ञानत्वादिरस्त्विति
विषयासिद्धिः * अथ विषयेणापि संबन्धप्रतिभासा-
त् सोऽपीष्यते *-न, १ तस्यैव संबन्धस्य विचार्यमाश-
त्वात् * “स एवासी ? *-इति चेन्न, २ तद्वैक्याज्ज्ञाना-
र्थसाधारणविषयप्रतीत्यापत्तेः * संयोगप्रतीतिवत् ।
३ विषयित्वं तत्र(२) अर्थं तु विषयत्वमन्यत् ? *-इति
चेन्न ॥

(१) उपाधिकत्वं जातिकत्वं वा उपाधित्वेऽप्युपाधेयत्वमवच्छिद्य घटा-
दिकमेव वा-इत्यवच्छिद्यत्वात् घटादिकमेव वेति पक्षद्वयं निराकृत्य जाति-
कत्वं वेति तृतीयं पक्षं निराकारे इत्यर्थः ।

(२) निर्दुष्टत्वादिति शेषः ।

(३) तत्र=ज्ञाने ।

टी० ॥ ननु नीलत्वादिभिरा यथा चित्रत्वं पृथगेव जाति-
त्वात् नानाविधयज्ञाने चित्रत्वमेव घटज्ञानत्व भिरा जाति-
त्वादित्यत आह-। “एवभूते”ति । अतस्तेऽभिधिकल्पक-
त्वापि नानाविधयत्वेन चित्रत्वापत्तौ घटज्ञानत्वादिष्ववहारः
क्वपि न स्यादित्यर्थः ॥ ननु गुणगतजातो जातिमङ्गुरो न दोष
इत्याह । ^६“अथे”ति । तर्हि घटज्ञानत्वघटज्ञानत्वादिजाती-
नामेव ज्ञानठपावर्तकत्वे विषयानिद्विरेवेत्यर्थः ॥ ननु विषया-
सत्त्वे घटस्य ज्ञानमित्येव कथं स्यादित्याह-। “अथे”ति ।
घट्यर्थ एव विचार्यत इत्याह-। ^७“तस्यैवे”ति । ननु विषय-
विषयिभावे एव घट्यर्थेस्तत्र किं विचारणीयमित्याह-। “अ
एवे”ति । तर्हि सयोगवदेक एवाचौ ठ्यामजयवृत्तिसंबन्ध इत्यु-
भयं विषयविषयश्च स्यादित्याह-। ^८“तदैक्यादि”ति । ननु
ज्ञानमात्रनिष्ठ एवाय सम्बन्धो विषयित्वात्स्यस्तदन्वयेन च
विषयगतं विषयत्व तत्र चेत्प्रयत्नोभयं निरूपकमात्रं न त्वधिक-
णमपीत्याह-। ^९“विषयत्वानि”ति ।

म० ^{१०}सैव हि ज्ञानता स्यात् सा च निराकरिष्यते ^{११}द्विती-
ये च स्वात्मा घटपट्यत्कीनामिव घटपटज्ञान-
त्यत्कीनां ठ्यावृत्त इति तत्तद्विषयभानगोचरानुगता-
कारबुद्धिव्यवहार-प्रसङ्गः । किञ्च तदीयता ज्ञानस्य
स्वभाव इति वचनं विचारमर्हति तदिति तद्विषय-
परामर्शः संबन्धिता च ह्यप्रत्ययार्थः तदेतदन्योन्य-
विशिष्टमुभयं ज्ञानस्य स्वभाव इति ब्रुवाणेन वि-
षया विज्ञानस्य स्वभाव इत्युक्तं भवतीति साधु वि-
ज्ञानवादनिराकरणमकरणोपसंहरणमकार ^{१२}* । सं-
बन्धमात्रं ज्ञानस्य स्वभावे । न तु विषय इत्याशय ?
^{१३}*-इति चेन्न, ^{१४}“विशेषानुपादाने संबन्धमात्रमिदं सर्व-
स्यैव स्यात् यतो न तावन्न कस्यचित् संबन्धस्वरू-
पतात्प्रसङ्गात् नापि नियतस्य ॥

टी० ॥ “सैव ही”ति । अनुगतं यद्विषयत्वं तामेव महो
 ज्ञाततामाह सा च निरनमीयैवेत्यर्थः ॥ ^६“द्वितीये”इति । एवं
 च तद्भावरूपेति कर्मधारयपक्षे इत्यर्थः ॥ घटज्ञानाकारघटज्ञा-
 नाकारानुगतप्रत्ययाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः । तदीयत्वं घटीयत्वं
 ज्ञानस्य स्वभावः स्वरूपमित्युक्ते घटोऽपि ज्ञातस्वभावा-
 न्तर्गत एवेति विज्ञानवादिना योगाचारस्य निराकरणमा-
 र्मतत्त्वविवेके यदुपसङ्गतं “प्रकाशस्य सतस्तदीयत्वमेव विष-
 यित्वमि”ति तद्विज्ञानवादपर्यवसन्नमेवेत्यर्थः । ननु घटीयत्वं
 ज्ञानस्येत्यनयोक्त्या घटसंबन्धुत्वं ज्ञानस्यायाति ननु घटत्वम-
 पीति न विज्ञानवादप्रवेश इति शङ्कते-। “संबन्धे”ति । संब-
 ंधोऽपि संबन्धिनं विषयनादायैव ज्ञानस्य स्वभावो भवेदित्या-
 ह-। “त्रिशेषे”ति । ननु संबन्धः कथं संबन्धिनियत इत्यत
 आह-। “यत्”इति । कस्यापि चेन्न स्यात् तदा संबन्ध एव न
 स्यादित्यर्थः ॥

सू० “तादात्म्यापत्तेरुक्तत्वात् 'नियामकासम्भवाच्च* 'का-
 रणं नियामकम् ? *-इति चेन्न, तेन नियामकेन किं
 भवति 'तदीयत्वं' तस्य संबन्धस्येति चेत्तदेव तदी-
 यत्वं ज्ञानस्वभावभूतसंबन्धस्वरूपप्रविष्टं उत सहि-
 भूतं धर्मान्तरम्? यदि प्रथमः तच्छब्दार्थोऽपि तर्हि
 स्वरूपप्रविष्ट इति / विषयज्ञानयोः स एवाभेदप्रसङ्गः
 द्वितीये च तस्य धर्मान्तरस्य विषयेणाभेदः १ तच्छ-
 ब्दार्थस्य विषयस्य विज्ञेयस्य तदीयशब्दार्थविशि-
 ष्टरूपे प्रविष्टस्य स्वकृतधर्मान्तरस्वभावतया निरुक्त-
 त्वात् ^२अस्त्यसौ धर्मा विषयान्निन्न एवेति चेत् ॥

टी० ॥ ननु भवतु नियतस्यैव कस्यचिदित्यत आह-
 “तादात्म्ये”ति । दोषान्तरमाह-। ^३“नियामके”ति । घटी-
 यमेव घटज्ञानमित्यत्र नियामकाभाव इत्यर्थः ॥ ननु घटीयत्वे

घटेन्द्रियसन्निकर्षणत्वमेव नियामकमित्याह—। ‘कारणमि’ति ॥
 “तदीयत्वमि”ति । घटज्ञानं घटीयं क्रियते इत्यर्थः ॥ “तदी-
 वे”ति । ज्ञानस्वभावभूतो यः संबन्धस्तत्स्वरूपप्रविष्ट इत्यर्थः ॥
 तदीयत्वस्य ज्ञानस्वरूपप्रविष्टत्वे दोषमाह—। “विषयज्ञानयो-
 रि”ति । धर्मान्तरं चेतदीयत्वं तदा तच्छाब्दार्थं विषयो धर्मा-
 न्तरस्वरूपं भवेदित्याह—। “तच्छाब्दार्थस्ये”ति ॥ “अस्त-
 सावि”ति । तदीयत्वं धर्मा विषयाभिकोऽस्तु तावतापि विषयो
 ज्ञानं चेत्येतावदेवायात तच्चास्मदभिमतमेवेत्यर्थः ।

मू० ० तथापि किमसौ स्वीकृतेन स्वभावसंबन्धेन संबद्धो
 न वा? न चेत् तद्विज्ञानं न कस्याचित्संबन्धि स्यात्। संब-
 द्धश्चेत्तत्किं संबन्धान्तरेणाहोस्वित् स्वभावसंबन्धेनै-
 वासौ ज्ञानात्मकसंबन्धसंबन्धीयः?। आद्ये तत्राप्येवं
 प्रसङ्गो यस्य भयेन स्वभावसंबन्धः स्वीकृतः सा तदवस्थै-
 वानवस्था । द्वितीयश्चेत् ज्ञानात्मकसंबन्धीय इत्यत्र
 विशिष्टस्वरूपे ज्ञानमपि विशेषणं प्रविष्टमिति ^bपूर्वोः
 क्तन्यायेना ^aधुनोक्तन्यायेन च ज्ञानस्यैकस्यैव ^dद्वय-
 मपि स्वात्मेति वाग्भङ्गिभेदमात्रेण ^cज्ञानगोचरयो
 रभेदस्वीकार इति । एतेनान्यत्रापि स्वभावसंबन्धः
 प्रत्याख्यातव्यः । ज्ञानफलाधारत्वं विषयत्वम् ।

टी० ॥ ० “तथापी”ति । तदीयत्वं यदुर्मान्तरं तद्विषय-
 पर्यवसकं स्वभावसंबन्धश्च ज्ञानमेव^(१) तच्चोभयं संबद्धं न वा?।
 आद्ये तत्रापि संबन्धान्तरापेक्षायासन्नवस्था अस्त्ये ज्ञानं वा
 कस्यापि तदिति घटव्यवहारादिकं न प्रवर्तयेत् प्रवर्तयद्वा न
 सर्वत्रैव प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ ^b“पूर्वोक्ते”ति । ज्ञानस्य घटीयत्व-
 स्वभावत्वे ज्ञानघटयोरभेदापादकेनेत्यर्थः । ० “अधुने”ति ।
 तदीयत्वं धर्मान्तरं तच्च विचार्यमाणं विषयस्वरूपं तेन सह
 पुनर्ज्ञानरूप स्वभाव एव संबन्ध इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ^dद्वय-

(१) एवो भावः स्वभाव इति पूर्वोक्तरीत्या ।

नि"ति । घटो घटीयत्वं चेत्यर्थः ॥ ० "ज्ञाननोचरवोति"ति ।
ज्ञानविषययोरित्यर्थः ॥ / "एतेने"ति । घटकल्पनमकारोऽपि
घटीयः स्वभावसंबन्धेन चेतदा घटोऽपि समकालप्रविष्ट एव
भिक्षेन संबन्धेन चेतदा तत्र तत्रापि संबन्धापेक्षायामनवस्थे-
त्यादिनेत्यर्थः ॥

मू० "तद्वत्त्वं च विषयित्वमित्यपि दुष्टम् । तथाहि-। ज्ञानी
यं फलं ज्ञातता वा व्यवहारो वा स्यात् आद्योऽतीता-
नागतधीभ्रमाद्यर्था व्याप्तिः नच तत्रैव फलजनने
किं नियामकमिति प्रयोजकमनुगतं शक्यनिर्वचनं
तथात्वे वा "तदेव विषयत्वमस्तु व्यवहारश्च यदि
'कराकर्षणादिः स न सार्वत्रिकः नान्तरीयकरचा-
न्यभापीत्यतिव्यापकं "यदीच्छादिस्मदाधारत्वमा-
त्मन इति घटाद्यव्याप्तिः । तद्विषयत्वं च तद्विष-
यत्वमेवापेक्षते ।

टी० ॥ "तद्वत्त्वमिति"ति । ज्ञानीयकमजनकत्वमित्यर्थः ॥
"अतीति"ति । अतीतानागतयोरमनोभ्रमविषये चामति
ज्ञानेन ज्ञानताधानाभावात्तेषां विषयत्व न स्यादित्यर्थः ॥
० "नचे"ति । घटज्ञानेन घटे ज्ञातता जन्यते न तु घटेऽपीत्यत्र
नियामकं नास्तीत्यर्थः ॥ ० "तदेवे"ति । नियतज्ञातताधाने
यदेव नियामकमित्यर्थः ॥ ० "करा र्षणादिरि"ति । जयमानय
नादिरित्यर्थः । / "न सार्वत्रिक"इति । गुणादी तादृशो व्यव-
हारो नास्ति दूष्येऽपि न सर्वत्रेत्यर्थः ॥ ० "नान्तरीयक"इति ।
महाज्ञानयनव्यवहारस्तत्प्रभागे घटोऽपि न च मखिनात्र गोच-
रस्य ज्ञानस्य प्रमाऽपि विषय इत्यर्थः । ॥ "यदी"ति । इच्छा-
रूपज्ञानकलाधारत्वमात्मन एवेति सर्वज्ञानानामात्मैव विषयो
सर्वेक घटादिरित्यर्थः । ज्ञानजन्येच्छाविषयत्वमेव तज्जन्यव्य-
वहारविषयत्वं चेतदात्माश्रय इत्याह । "तद्विषयत्वमिति"ति ।
इच्छाविषयत्वेऽपि ज्ञानविषयत्वस्यैव तत्रत्व इति भाव ॥

सू० "यश्चोपेक्षां नाम व्यवहारं नानुमनुते तन्मते कथं
 नोपेक्षाप्रेक्षामुपेक्षते ^१हानादिव्यवहारज्ञानानामेव
 च कथं न निर्विषयत्वं प्रसज्यते*अथ सर्वत्र
 हानादिव्यवहारोपगमः* तदा व्यवहारज्ञानयोरनु-
 परम एव स्यात् । एतेन तत्संबद्धव्यवहारानुकूलस्व-
 भावं यद्विज्ञानं तत्तस्य विषयस्तद्रूपं विषयित्वमिति
 तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्त्तते * ^२अथोच्यते य
 एत्रार्थो तस्यां संविदि भामते तद्वेद्यः "स पृथङ्कृति-
 वेद्यावेद्यास्य लक्षणम्*इत्येतदपि न विद्मः, यस्यां
 संविदीति किं संविदधिकरणम्, अथ विषयः, अथ
 संबन्धिमात्रम्? । नाद्यः ।

टी० ॥ ^१"यश्चे"ति । उपेक्षा उदास्यमात्रं प्रवृत्तिनिवृत्ति-
 विलक्षणः प्रयत्नो वा तत्र य उदास्यमात्रमुपेक्षां मन्यते स वादी
 उपेक्षाप्रेक्षामुपेक्षाज्ञान^(१)मुपेक्षते सविषयकत्वं तस्य कथं तन्मते
 भविष्यति ज्ञानेन तत्र व्यवहाराजननादित्यर्थः । दोषान्तरमाह ।
^२"हानादी"ति । हानोपपादानज्ञानेनापि हानोपपादानादिमत-
 व्यवहाराजननादित्यर्थः । तत्रापि व्यवहारान्तरजननेऽनवस्था-
 ऽनन्वयश्चेत्याह- । ^३"तदे"ति । प्रतिबद्धो नियतः । प्र-वे-च्यन
 इत्यारभ्यैव परवातिकं चेत्तदा शङ्का न स्यादिति तद्विहायैव
 परमतमाशङ्कते- । ^४"यश्चे"ति ॥ ^५"स पृथङ्कृते"ति । ज्ञानाङ्गी-
 न वेद्यस्तथा च स्वामिनां वेद्यं स्वमिज्जमवेद्यमित्यर्थः । यद्वा स
 वेद्यवेदकभावो न पृथगित्यर्थः । संविदीत्यधिकरणसप्तमी वा संब-
 न्धमात्रविलक्षण्यैव वा सप्तमीति विकल्पार्थः ।

सू० "घटादेस्तदधिकरणत्वानुपगमेनाव्यापनात् । ^६यथा
 निर्वचनीयज्ञानत्वात्प्रतिव्याप्तेश्च । ^७द्वितीयश्चाद्या-

(१) उपेक्षाज्ञानम्-उपेक्षाबुद्ध्या जायमानं घटपटादिविषयकं
 ज्ञानमित्यर्थः ।

प्यनिरूपितः कथंनिरूपकः स्वात् ^१विपरीत्यापाताच्च ।
 तृतीयश्चातिव्यापकः कारणादेरपि तत्संबन्धित्वात्
 ज्ञानान्तरेण च भासमानत्वात्*तयैव संविदा भास-
 मानत्वम् ? *-इति चेन्न, भासमानत्वस्यैव निरूप्य-
 माणत्वात् । *यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः
 प्रकाशत एव ? *-इति चे / न्न, प्रकाशमानताया
 एव निरूप्यमाणत्वात् ^१ सामान्यतो विषयत्वे भिद्धे
 विश्लेषतो विषयत्वाभिधानमिदम् ? *-इति चेन्न,
^१ सर्वथा विश्लेषानुपपत्तिद्वारा सामान्यानुपपत्तौ य-
 द्विषयप्रमात्वस्यापि सन्दिग्धत्वात् ॥

टी० ॥ “घटादेरि”ति । घटादिविषयो न स्यादित्यर्थः ॥
 “यथे”ति । यद्यपि ज्ञानत्यमप्यनिर्घचनीयमेव तथापि ज्ञा-
 नत्वमेव सर्वसंविद्विषयः स्यात् । तदधिकरणत्वादित्यर्थः ॥ “द्वि-
 तीय”इति । विषयविषयिभाव इत्यर्थः । “विपरीत्ये”ति । विष-
 यविषयिभावस्याठयवस्थिततया संबिदेव विषयो घट एव वि-
 षयो स्यादित्यर्थः ॥ “यस्यामि”ति । यन्निरूपणाधीननिरूपणं
 ज्ञानं स विषय इत्यर्थः । एतदपि विषयविषयिभावनिरूपणा-
 धीननिरूपणाधीननिरूपणमेवेत्यात्माश्रय एवेत्याह- । / “ने”ति ।
 ननु विषयत्वमात्रे न केवांचिद्विभक्तिः घटविषयत्वादिकं च तदा-
 न्निमित्तमेव सेत्स्यति नहि निर्विशेषं सामान्यं नामेति ॥ ^१ “सामा-
 न्यत”इति । यावद्विश्लेषबाधे सामान्यमपि बाधितमेव तथा च
 नहि निर्विशेषं सामान्यं नामेति विपरीतमेवेत्याह- । ^१ “सर्वथे”-
 ति । सामान्यतोऽपि यद्विषयत्वं तद्घटादिणो ज्ञानस्य प्रमात्वं
 सन्दिग्धमित्यर्थः ॥

सू० * ज्ञानाकारार्पणज्ञमो हेतुरेव विषय ? *-इति
 चेन्न, ^१ ज्ञाकार एव केनार्पित इति विनिगन्तुमशक्य-
 त्वात् ‘नज्ञाकारस्ततो विज्ञानरूपादन्यः तथाच त-
 थोत्पन्नानि कारणानि प्रत्येकमेव समर्थानीति कथं

तेषु विशेषं विनिगमिष्यति । यद्यपि सकलवचनार्थहे-
त्वनुविधानमस्ति तथापि स्फुटं तावद् घटस्यानुवि-
धानमिति * तदेव तदाकारप्रयोजकमिष्यते ?* इति
चेन्न, समस्तकारणतदनुविधानवद् घटानुविधानस्य
प्रामाणिकत्वाविशेषेण किं स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्यां
स्यात् * “स्फुटानुविधानमाहावैव विषयानरुक्तिं कु-
र्म”*-इति चेन्न, “सर्वहेत्वनुविधानस्य न्यायतः स्फु-
टत्वात् * दृश्यमानमनुविधानं वक्ष्य?*-इति चेन्न,
/दत्तोत्तरत्वात् * दृश्यमानैव च विषयत्वानिर्वच-
नान्न शक्योपदर्शनेति ज्ञानकमत्वम् * इत्यपि न ॥

टी० ॥ साकारवादिमते विषयत्वलक्षणं शङ्कते-। “ज्ञा-
नाकारे”ति । यद्वादिष्यावर्तनाय ज्ञानाकारेत्यादिविशेषणं
बहुना ज्ञानहेतूनां मध्ये कस्याकारार्पणत्वमिति संदिग्धमि-
त्याह-। ०“ने”ति । एतदेव स्फुटयति-। “नही”ति । यद्यप्या-
कारस्य ज्ञानभेदोऽपि विनिगमनं शक्यैव तथाऽपि तत्सिद्धान्ता-
नुसारादिमुक्तं “स्फुटानुविधानमिति । पटसाक्षात्कारे घ-
टान्वयव्यतिरेकानुविधानं स्फुटमित्यर्थः ॥ “सर्वे”ति । युक्ति-
सिद्धत्वं स्फुटत्वं सर्वहेतुसाधारणमेवेत्यर्थः ॥ / “दत्तोत्तरत्वादि”
ति । दृशिश्चेज्ज्ञानवचनस्तदा सर्वहेतुसाधारणमेवेत्यर्थः । वा-
स्तुवज्ञानपरश्चेत् तदा गन्धमादीनां विषयत्वं न स्यादित्यर्थः ।
यद्वा दत्तोत्तरत्वमेवाह-। ०“दृश्यमानतैव चे”ति । आत्माशय
इत्यर्थः ॥

म० “ज्ञानेन कर्मणः संबन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात् तन्निरु-
क्तिभङ्गश्चेद्वराभिसन्धी ज्ञाततावादे द्रष्टव्यः । विना
सम्बन्धान्तरं यद्विशेषणं ज्ञानं स विषयस्तेन विना
सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यं विषयः “विशेष्यं चेदं
यद्विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं यदूर्तं धर्मं गृह्णातीति ।
अत्रोच्यते । यदूर्तं धर्मं गृह्णातीत्येतावन्मात्रमेव वा

विवक्षितं गृह्यात्येवेति वा ? आद्ये दण्डस्यापि वि-
श्लेषत्वापातः । तद्वृत्तस्यापि सफवादे धर्मस्य ग्रहणात् ।
नापरः । भवति हि व्यभिचारिणो धूमस्याविच्छि-
न्नमूलत्वादिविशेषणं तद्विशिष्टं च तत्त्वान्तरम् । न
च विशेषस्य धर्मं व्यभिचारितां गृह्णाति ।

टी० ॥ “ज्ञानेने”ति । ज्ञानस्य कर्मत्वमिति वक्ष्यते ॥
ज्ञानकर्मत्वमिति ज्ञानक्रियां प्रति कारकत्वमतीतानागतादौ ना-
स्ति, शब्दानुमित्योश्च निर्विषयत्वापत्तिः तयोर्विषयप्रत्ययत्वा-
त् । ईश्वरप्रमाया अज्ञान्यत्वेन चाविषयत्वापत्तिः । परसमवेतक्रि-
याफलशालित्वं च विषयस्य व्यवहारलक्षणेन ज्ञानकलेन चेत तस्य
दूषितत्वादिप्रतिप्रत्याह- । “तन्निरुक्ती”ति । विना सम्बन्धा-
न्तरमित्यात्मने घटज्ञानविषयत्वव्यवहारमाह, पर्यवसितमर्थमाह- ।
“नेने”ति । विशेष्यसामान्यस्य लक्षणमाह- । “विशेष्यमि”
ति । विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं कर्तृभूतं यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्यर्थः ।
दण्डो पुरुषः पुरुषत्वं गृह्णाति न तु दण्डत्वमनो दण्डो विशेषणं
पुरुषो विशेष्यः तथा ज्ञानो घट इत्यत्रापीत्यर्थः । यत्किञ्चिद्दुर्-
ग्रहणं वा विवक्षितं सकलधर्मग्रहणं वेति विकल्पयति- । “यद्ग-
तमि”ति । विशिष्टं यत्त्वान्तरं तद्वृत्तस्यापि धर्मं सफवादि गृह्णा-
त्येवेति दण्डस्यापि विशेष्यत्वं स्पष्टित्यर्थः । केवलस्य धूमस्य
विशेष्यस्य व्यभिचारित्वं धर्मत्वं च विशिष्टो धूमो न गृह्णातीति
भोगवि विशेष्यो न स्यादित्याह / “भवति ही”ति ॥

मू० * “अथोद्धाविरतगतिविशिष्टस्य विच्छिन्नमूलता विश्ले-
षणं न च तथभूतस्य व्यभिचारिता धर्म इत्यु-
च्यते * मैवं, प्रथमविशिष्टः किं व्यभिचारी न वा
आद्ये ^१स एव दोषः द्वितीये विशेषणान्तरं ^२वैय-
र्थ्यं “प्रथमविशिष्टे एव च तद्दोषावसरः” * अथ
यद्दुर्मविशिष्टस्य विशेषणं तद्दुर्मं गृह्णाति न सर्वं न च
व्यभिचारिता विशिष्टस्य तानि विशेषणानि? *-

इति चे'न्न, तत्किं न धूममात्रं व्यभिचारि तत्रच
व्यभिचारिता विशिष्टस्यैव तानि * तथाऽभवत्
व्यभिचारिता तद्विशेषणं परं सा न विशेष्यकोटिः ! *
इति चेन्न,

टी० ॥ नन्वविच्छिन्नमूलत्वं धूममात्रस्य न विशेष्यं
किन्तुद्बोधिरतगतिविशिष्टस्य तच्च न व्यभिचारीत्याह—। “अ
वे”ति । ०. “सपदे”ति । प्रथमविशेषणविशिष्टस्य व्यभिचारित्वं
द्वितीयविशेषणावशिष्टं न गृह्णातीति तद्विशेष्यं न भवेदि-
त्यर्थः ॥ ०. “वैयर्थ्यमि”ति । व्यभिचाराकारकत्वादित्यर्थः ।
विज्ञाविच्छिन्नमूलत्वस्यैव विशेषणस्य धूमो व्यभिचारी विशे-
ष्या न स्यात् तद्वृत्तस्य व्यभिचारित्वस्य तद्विशिष्टेनाग्रहा-
दित्याह । ०. “प्रथमे”ति । नन् धूमत्वविशिष्टो धूमो विशेष-
णेन विशेष्यते न तु व्यभिचा-त्विशिशिष्टोऽपीति ने कटोप इति
शङ्कते । ०. “रुचे”ति । चस्तुगत्या तत्र व्यभिचा-त्विनप्यस्तीति
व्यभिचारित्वविशिष्टं एव धूमो विशेष्यः । अन्यथा विशेषणवै-
यर्थ्यमेवेत्याह । ०. “तात्कमि”ति । नन्वविच्छिन्नमूलेः धूम इत्यु-
च्यते नच विच्छिन्नमूलो व्यभिचारी धूम इति । तथाच विशे-
ष्यताविच्छिन्नो यो धर्मस्त गृह्णात्येव विशिष्टमिति शङ्कते—।
०. “भवत्विति”ति ॥

सू० “अद्यापि विशेष्याज्ञानात् । किञ्च तद्विशेषणमिति
तत्संबन्धिमात्रं वा विशेषणतया वा संबन्धिः? आ-
द्योऽतिप्रसङ्गः द्वितीये तु तथैवान्योन्याश्रयादि ।
किञ्च विशेष्यत्वलक्षणो यस्तद्रूपो धर्मस्तं गृह्णाति
नवा ? आद्योऽतिव्याप्तः । द्वितीये गृह्णात्येवेति
'नियमो सिद्धः । किञ्च मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र
भवति मत्समवायस्य ज्ञानं विशेषणं तत्संबन्ध-
मन्तरेणैव नच विषयः ॥

टी० ॥ तद्वि विशेष्यताबच्छेदके चर्मा विवक्षित इत्यु-

भवते तत्राह— a“अद्यापी”ति ॥ b“अतिप्रसङ्ग”इति । उपल-
 लभ्योपरसङ्गकथोरपि विशेषणत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ c“तथैवे”ति ।
 यथा विषयित्वलक्षणे तथा विशेषणत्वलक्षणयोऽपि । यतो विशेष-
 णत्वज्ञानाधीनं विशेषणतया सम्बन्धित्वज्ञानं तदधीनं च
 विशेषणत्वज्ञानमित्यन्योन्याश्रयः । तत्रापि(१)विशेषणतया संब-
 धित्वज्ञानापेक्षायामनवस्था विशेषणत्वज्ञानाधीनमेव तत्-
 ज्ञानमित्यात्मश्रयोऽप्यादिपद्याह्यः ॥ d“अनिठयासिरि”ति ।
 विगिष्टस्यापि विशेष्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ e“नियम”इति । मकल-
 धर्मप्राहित्वं प्रवृत्तित्यर्थः f“मत्समवाय”इति । मत्समवा-
 यस्य संबन्धान्तरमन्तरेण घटज्ञानं विशेषणं भवति न तु घटज्ञा-
 नस्य मत्समवायोऽपि विषय इत्यर्थः ॥

सू० * “नच गुणगुण्यादिविशेषणविशेष्यभावे यः संबन्धा-
 न्तरमन्तरेणेत्युक्त्या व्यवच्छेद्यतां नीतः स एवार्थं
 समवाय इति कथं न व्यवच्छेद्यतां प्रतिपस्त्यते ।
 बन्धोऽत्र तस्यैव विशेषणविशेष्यभावत्वादान्तरत्वा-
 सिद्धिरिति । तस्मात्संबन्धमन्तरेण ज्ञानं विशेषणं
 यस्येत्युक्तम् तत्र ज्ञानं संबन्धमनपेक्ष्य स्वभावत एव
 यथार्थस्य विशेषणं यथा समवायस्यापीति न कश्चि-
 द्विशेष इति साधुक्तम् । मत्समवाये ज्ञानस्ये(१)-
 त्यत्र ज्ञानविषयता समवायस्यापि स्यादिति ज्ञाना-
 भावे प्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ ननु संबन्धान्तरमन्तरेण यद्विशेषणं ज्ञानं स विषय
 इति लक्षणे गुणि आत्मने ज्ञानं गुणः समवायेन विशेषणमत
 स्तद्व्यावर्तनाय संबन्धान्तरमन्तरेणैति कृतम् । तथाच मत्समवा-

(१) तत्रापि = विशेषणतया सम्बन्धित्वज्ञानेऽपीत्यर्थः ।

(२) ज्ञानस्य = घटपटादिविषयकज्ञानश्रेयर्थस्तेन समवायवि-
 षयकज्ञानविषयताया समवाये तस्यैऽपि तदतिरिक्तघटादिविषयकज्ञा-
 नविषयतायाः संबन्धाद्येऽनावाक्य दीर्घः ।

यो ज्ञानस्येत्यत्र समवायाधीन एव विशेषकविशेषभाव इति न तत्र प्रसङ्ग इत्यत आह—। “नचे”ति । संबन्धात्तरनित्यत्र विशेषणविशेष्यभावात् संबन्धादन्तरत्वं विवक्षितम् । प्रकृतेऽपि सत्त्वपि समवाये विशेषकविशेष्यभावापन्न एवेति तद्वत्त्वं एवातिप्रसङ्ग इत्याह—। ^b“यत्”इति । किञ्चायं समवाय इत्यत्रापि समवाये विशेषो न स्यादिति भावः ॥ उक्तदोषमुपसंहरति—। “तस्माद्”ति । मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र संबन्धं विनैव ज्ञान विशेषकनित्यतिप्रसङ्गस्तद्वत्त्वं इत्यर्थः ॥

सू० * “नच तत्र स एव समवायः संबन्धः * अत्रापि विशेषकविशेष्यभावस्यैव संबन्धत्वात् * ^bनासौ संबन्धिनेऽन्यस्तादृशश्च व्यवच्छिद्यते ? *—इति चेत् । न, समवायेऽपि तुल्यत्वात् । *^dसंयोगसमवायी व्यवच्छिद्यते ? *—इति चेत् । न, ज्ञानाभावे तथाऽपि प्रसङ्गात् *^fन तत्र ज्ञानं विशेषणं किन्तुपलक्षणम् ? *—इति चेत् । न, ^hअतीतानागतयोरविषयत्वापत्तेः ॥

टी० ॥ ननु तथापि प्रकृते संबन्धं विनैवेति नास्ति यतः स्वरूपसंबन्धोऽप्यत्र समवाय एवेत्यत आह—। “नचे”ति । नहि ⁽¹⁾लक्षणविद् कुत्रापि न मत यतो घट इत्यादावपि विशेषकविशेष्यभावस्य संबन्धस्य तद्वत्त्वादिपर्यः सवन्धिभिन्नसंबन्धं विनैति विवक्षितमतो नामरूपवीदं लक्षणमित्याह—। “नामावि”ति । नहि मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्रापि समवायो न मत्संबन्धिभिन्न इत्यतिव्याप्तिस्तद्वत्त्वेवेत्याह—। “ने”ति । ननु संबन्धं विनैति संबन्धत्वेन प्रसिद्धयोः संयोगसमवाययोरेव व्यवच्छेदः प्रकृते च समवाय एव स्वरूपसंबन्धत्वात्मापन्न इति नोक्तदोष इत्याह—। “संयोगे”ति ॥ “तथापी”ति । ज्ञानं

(१) नहि विशेषकविशेष्यभावादेः स्वरूपसंबन्धत्वापि समवायस्वरूपत्वाङ्गीकारे इत्यर्थः ।

योगभावयोः संयोगनमवायाभावात् घटज्ञानस्य ज्ञानाभावोऽपि
विषयः ३ यादित्यर्थः सर्वत्राभावे प्रतियोगिन उपलक्षणत्वादिति-
(^१)त्याह - १. न तत्रेति ॥ ११ "प्रतीते"ति । तत्र विशेष्याभा-
वादेव ज्ञानस्य विशेषणत्वानुपपत्तिरित्यर्थः ॥

सू० *भावे चिन्तेयम् ? *-इति चेत् । न, ^१अभावस्यावि-
षयत्वापातात् । 'ज्ञानादन्यज्ज्ञानीयं च यत्कारणा-
दि तत्रापि प्रसङ्गादिति किं विस्तरेण । * ^२नच-
ज्ञानाकारतायां गोचरस्य नास्त्येव ज्ञानगोचरयोर्भे-
दः । 'प्रतीतिविरोधात् । भेदमनिच्छता च स
प्रतिषेद्धमप्यनर्ह इति । ^३वक्तव्यस्तर्हि कोऽसौ भेदा
नाम स हि स्वरूपं वा स्यादि-

टी० ॥ "भावे चिन्तेयमिति । यद्यप्यनीनानागतयो-
र्भावयोरेव दोष उक्तस्तथापि यत्र ज्ञानं व्यावर्तकं स भाव-
विषय इति लक्षणमभिप्रेत्याह- । ^४"अभावस्ये"ति । ज्ञानीयं
कारणं च ज्ञानाद्यपि घटज्ञानविषयः स्यादुक्तलक्षणमत्वादित्याह- ।
"ज्ञानादन्यदि"ति । ज्ञानीयं कारणं व्यवसायोऽप्यनुव्यवसा-
यस्य तत्र विषयत्वमस्त्येवेति नातिप्रसङ्ग इत्यत आह-
(^१) "ज्ञानादन्यदि"ति । कारणादीत्यादियदात् ज्ञानवाचक-
पदानां मह्यग्रहः । तेषामपि ज्ञानेन सह स्वरूपसम्बन्धात् । ननु
ज्ञानादन्यदिति विशेषणमेवानुपपन्नं तेषां ज्ञानात्मकत्वात्
ज्ञानविषयघोरभेदादित्यत आह- । ^२"नचे"ति । गोचरस्य
विषयस्य ज्ञानाकारतायां ज्ञानविषययोर्भेद एव नास्त्यर्थः ।
तथा च ज्ञानाभिप्रायमेव विषयत्वमिति भावः (^३) इत्यन्ये ।
"प्रतीति"ति । ज्ञानविषययोर्भेदस्य मार्तन्त्रीमत्त्वादित्यर्थः ।
ननु भेदश्चेत्कास्ति (^४) तदा प्रतीतिभ्रम एव स्यात् इत्यत आह ।

(१) इति-अथे वक्ष्यमाण दोषोद्धारमरहेत्यर्थः ।

(२) नचे-उक्तमित्यर्थः । (३) जीव्यानिकापेक्षया (४) मन्मते-
इति शेषः ।

f“भेदमि”ति । साकाराद्यादिमतेन भेदस्यहनमुपपन्नते ।
g“वक्तव्य”इति ॥

सू० अतरेतराभावो वा bधर्मान्तरं वा? । नाद्यः । ‘भिन्ने-
ऽभिन्नप्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात् । भ्रान्त्याऽपि धर्मिस्व-
रूपावगाहनात् । अन्यथा कस्याभेद स भ्रान्तिरु-
ल्लिखेत्—^d* ननु (‘)निःसंबन्धित्वेन व्यवस्थितेषु
तरुदात्मभृतिषु नानाधारोऽन्य एवावयवधारोप्यते ।
येषु चारोप्यते ते ते भेदेनैव भ्रान्ति । किन्त्वनार-
ब्धावयवेषु तेष्वारब्धावयवितया विभ्रम्यते ? ।
*-मैवं, तेषां प्राग(‘)नुदाहरणीकृतत्वात् । ‘अ-
तस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभामार्थानां दूष्टा-
न्तत्त्वनेष्टत्वात् । तथापि धर्मान्तरारोपाभ्युपगमे
तदात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः । नचैवम-
प्येष्टव्यमेव । gतथापि स्वरूपभेदग्रहे तत्राभेदस्य(‘)
धर्मस्याप्यशक्यारोपत्वात् । नापि द्वितीयः ॥

टी० ॥ “इतरतरे”ति । भेदनं भेद इति व्युत्पत्तिमा-
लम्बित्यर्थः । b“धर्मान्तरमि”ति । भिद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तिमा-
लम्बित्यर्थः ॥ c“भिन्नं” इति । रजनभिकं शुक्त्यादी रजताभेद-
ग्रहो न स्यात् । विशेषदर्शनादित्यर्थः । d“नन्वि”ति । निःसंब-
न्धितया व्यवस्थितेषु परस्परोदासीनेष्वित्यर्थः । एतस्यैव विव-
रजनमारब्धावयवविधिति । तथा चारब्धावयवित्यारोपो न भेद-
ग्रहविरोधीनि न अन्नुपपत्तिरित्यर्थः । मैत्रं स एवायं चैत्र
इत्येतादृशप्रानुपपत्तिरुक्तत्वाह— । e“अतस्मिन्मि”ति ॥ ननु

(१) ननु भेदस्य एव तत्र न भवति येन भेदग्रहणपरिपक्वी
वद्यात् किन्त्वनारब्धावयवित्यादेर्धर्मरुपारोप इति शङ्कते—नन्विति ।
(२) प्राक्—‘भिन्नेऽभिन्नप्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात् इत्यवयवहितपूर्वमेव ।
(३) यभेदस्य—नादात्म्यस्य ॥

तत्राद्यमेदी नारोप्यते येन मेदग्रहस्तत्परिपन्थी स्यादपि तु
 चैत्रनेत्रयोस्तादात्म्यमित्यत आह—। “तत्रापी”ति । तथा च
 नाय चैत्र इति विशेषदर्शनं तादात्म्यमारोपितं निषिध्यते ततो
 यां धियमन्योन्याभावविषयामुपैषि तयऽत्यन्ताभाव एव चेद्विष-
 यीकृतस्तदाऽन्योन्याभावेऽतिरिक्ते प्रमाद्य नास्त्यत्यर्थः । दोषा-
 न्तरमाह—। १ “तथापी”ति । तादात्म्यारोपोऽप्यनुपपन्न एव
 तत्रैत्यर्थः ॥

सू० ^aप्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । ^bप्रतियोगित्वेनाप्र-
 तीतावाधकरणप्रतीतिः अधि ऋणस्वभावत्वेनास्मृ-
 तौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतः क्वेतरै-
 राश्रय? *-इति चेत् । मैवं, 'एवं हि सति कुम्भः पटो न
 भवतीत्यत्र यथैव तस्याभावस्य प्रतियोगितया पटो
 निषिध्यते तथा कुम्भोऽपीति सोऽपि कुम्भात्मतया
 निषिद्धः प्रमज्यते । ^dवस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भप्र-
 तियोगिकत्वेऽपि कुम्भस्यापटत्वनिरूपणकाले कुम्भ-
 प्रतियोगिता नापेक्ष्यते किन्त्राश्रयतैवेति कुम्भाप्र-
 तिज्ञेपः पटस्य तु प्रतियोगितैवापेक्ष्यते न त्वाश्रय-
 तेति कुम्भस्यत् पटस्यापि न सङ्ग्रहापत्तिः । यद्य-
 प्यन्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिकता तथाप्यन्या
 कुम्भाश्रयताऽन्या च पटाश्रयताऽन्या कुम्भप्रतियो-
 गिकताऽन्या च पटप्रतियोगिकता तेना-

टी० ॥ ^a“प्रतीताविति”ति । प्रतियोगित्वेन शून्यमाद्येन
 प्रतियोगिनाऽन्योन्याभावनिरूपणं प्रतियोगित्वं चाभावनिरहा-
 त्पत्वनित्यन्योन्यापेक्षायामन्योन्याश्रय इत्यर्थः । प्रतियोगित्वेन
 प्रतीतिर्न तन्त्र किन्तु प्रतियोगिप्रतीतिरिति न परस्परश्रय
 इत्याह—। ^b“प्रतियोगित्वेने”ति । ^c“एव हा”ति । प्रतियोगिनः
 प्रतियोगित्वेन भाग न चेत्तत्र तदा घटः पटो न भवतीत्यत्र

नञ्प्रत्ययेऽधिधीवेनेव स्यादित्युभयं प्रतियोगि भवेदित्यर्थः । नञ्-
धारेण एवान्योन्याभाव इति मनसाश्रित्येदमुक्तमित्येके । अन्वो-
न्याश्रय द्रव्यिणुं प्रतियोगित्वेन ज्ञानमन्योन्याभावाधिकारपक्षे
नन्तमाह-। "वस्तुन" इति । यस्य प्रतियोगित्वं स्फुरति
तस्य प्रतिक्षेपो यस्याधिकरणत्व स्फुरति न तस्यापीत्यवश्यं
शक्तयं तथाचान्योन्याश्रय एवेत्यर्थः । यद्वा वस्तुन इत्यारभ्य
विशेषादिनि पञ्चतमाशङ्काग्रन्थ एव । वस्तुनो यद्यपीत्यत एवा-
ऽऽशङ्का द्रव्या ।

मू० "न्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिकत्वे चोभयाश्रितत्वे
च नोभयोरपि सङ्ग्रहप्रतिक्षेपविरोधापत्तिः *प्रति-
योगित्वस्यानुयोगिनी भेदोपजीवनेऽन्योन्याश्रयः अ-
नुपमजीवने च स्वस्मादपि भेदग्रहापत्तिः प्रसज्यते ।
* यतः स्मर्यमाणस्य प्रतियोगितानुभूयमानस्य चाश्र-
तेत्येतावन्मात्र एवाक्ते स्वस्मादपि भेदग्रहानाप-
त्तिः । * न चैवं स एवायमित्यत्रापि भेदग्रहप्रसङ्गः ।
वास्तवतस्त्वास्तवाभ्यां विशेषात् । ? *—इति चे-
न्मैवं, तथाहि—किमधिकरणप्रतीतिरधिकरणतया
प्रतीतिरुत वस्तुगत्याधिकरणस्य स्वरूपेण विवक्षि-
ता? आद्ये किमियमाधिकरणतया घटादेः प्रतीति-
स्तस्य कारणं स्यात् न तावदन्योन्याभावाधिकरणतया
दण्डाप्रतीतौ दण्डाधिकरणताया इव तदप्रतीतौ
तदधिकरणतायाः प्रत्येतुं पूर्वमशक्यत्वात् "विशि-
ष्टप्रतीत्या विशेषणस्यावश्योल्लेख्यत्वात् "विशिष्टस्य
च विशेषणघटितमूर्तित्वात् ॥

टी० ॥ "अन्योन्याभावस्ये"ति, । एकस्येवेति शेषः ।
तस्यैवेकस्य चत्वारो धर्मा पटाश्रयत्वं घटाश्रयत्वं पटप्रति-
योगित्वं घटप्रतियोगित्वं च । तत्र स्मर्यमाणो निवेद्य एवानुसू-

यमानस्त्वोन्नय एवेति उपवस्थायां क्लोभयनिवेद्यत्त्वमुन्नयस्य
 चात्रप्रत्यं भावेतेत्यर्थः ॥ ननु स एवायमित्यत्रापि समर्चनाजस्य
 कर्ता विशिष्टस्यानुभवमाने इदन्ताविशिष्टे भेदः प्रतीयेतेत्यत
 शाह-। ^६“नचे”ति । तदग्रं भेदस्यापि वास्तवस्य प्रयोक्तृ-
 त्वादित्यर्थः । अधिकरणत्वेन प्रतीतिराधेयपरतन्त्रेत्यान्योन्या-
 भावस्याधेयस्य ग्रहं विनाधिकारखत्वेन प्रतीतिरेव न स्यादिति
 स एवान्योन्याश्रयः । ^७“विशिष्टे”ति । अन्योन्याभावाधि-
 करणत्वे यद्विशिष्टे तस्यान्योन्याभावस्य विशेषणस्य स्फुरणं
 विना स्फुरणानुपपत्तेरित्यर्थः । अत्र हेतुनाह । ^८“विशि-
 ष्टस्येति ॥

सू० *नापि यस्य कस्यचिदधिकरणतया प्रतीतिस्तत्का-
 रणम् । * यत्र भिन्ने भेदभ्रमस्तत्र धर्मिणः सत्त्वाधा-
 रतया प्रतीतावपि तदनुपपत्तेः न तन्मात्रादुत्पत्तिः
 अपि तु प्रतियोगिस्मृतिसहितात् । * “वा च तदा
 नास्तीति तदनुपपत्तिः” इति चेन्न, “प्रतियोगि-
 स्मृतिरपि किं प्रतियोगितया स्मृतिः, उत वस्तुगत्या
 प्रतियोगिनः स्वरूपेणेति विकल्प्यत्वात् । आद्यो
 क्रिमन्योन्याभावप्रतियोगितया यस्य कस्यचित् प्र-
 तियोगितया वा? । नाद्यः । अन्योन्याभावाप्रतीतौ
 तदनुपपत्तेः । पूर्ववत् नापि द्वितीयः ॥

टी० ॥ तन्वन्योन्याभावाधिकारखत्वेन ग्रहे न तन्त्रं
 किन्त्वधिकरणत्वमात्रेणेति नान्योन्याश्रय इत्यत आह-।
^९“नापी”ति । एव नति सत्तायां यच्छ्रमाणायां शुक्ली रजताभे-
 दग्रहकालेऽपि रजतभेदग्रहः स्यादित्यर्थः । ^{१०}“ना चे”ति । प्रति-
 योगिस्मृतिरित्यर्थः ॥ ^{११}“तदे”ति । अनुभूयमानादौपकाले इत्यर्थः ।
 केचित् प्रत्यभिज्ञाने स्मृतिर्न हेतुः किंतु पूर्वानुभव एव संस्का-
 रद्वारेति प्रातयोगिस्मरत् तत्र नास्तीति उपाचक्षुः । तन्मदम् ।
 स्मृतेरेव तत्र हेतुत्वात् तद्यत्पयिनयन्चे त्वानात् आन्तप्रत्य-

भिन्नान्ने स्मर्यमाणान्तेऽपान्तरे वा यद्यप्येवमप्यन्योन्याभावप्र-
ह्लापतिस्तथाऽपि परिहारात्तरमाह—। “प्रतियोगी”—ति ॥
“पूर्ववदि”ति । यथान्योन्याभावग्रहे तदधिकरणत्वं दुर्येहं
नया तदग्रहे तत्प्रतियोगित्वमपीत्यर्थः ॥

सू० “यस्य वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमविषयीकृतस्य
स्वदेशेतरदेशादावसत्त्वेन प्रतीयमानत्वे स्वाभाव-
प्रतियोगितया प्रतितावन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्तेः
प्रतियोग्यनुभूतिः सा न स्मृतिः? *-इति चेत् । न,
‘स्मृतित्वस्याप्रयोजकत्वात् । “अन्यथाऽनुभूयमान-
योरन्योन्याभावाप्रतीतिप्रसङ्गात् । ‘अत्रान्तराले
स्मृतिकल्पनया नान्योन्यात्मानावित्यनुभवबाधित-
या प्रयोजकत्वेऽपि वा स्मृतित्वस्य ॥

टी० ॥ “यस्ये”ति । वशिष्वाध्यामिदं रजतं नास्तीति
संस्मरणभावप्रतियोगितया गृह्यमाणस्य रजतस्य तादात्म्यारो-
पदर्शायां भवदुक्त्वाभ्योन्याभावग्रहणसामग्रीवत्त्वेऽपि तदनुपपत्ते-
रित्यर्थः ॥ b“वे”ति । देशान्तराभावप्रतियोगितया प्रतानिदि-
त्यर्थः । प्रतियोगिने रजतस्य तादृश्येण स्मरणसामग्री तदा
नास्तीति भावः ॥ अनुभूतेरप्येतादृश्यास्त्वयान्योन्याभावग्रह
हेतुत्वेनावश्यं मन्तव्यत्वादित्यभिप्रेत्याह—। “स्मृतित्वस्ये”-
ति । एतदेवाह—। “अन्यथे”ति । ननु तत्राप्यन्योन्याभावग्र-
हान्यथानुपपत्त्या स्मृतिः कल्पनीयेत्यत्र आह—। “अत्रे”ति ।
नान्योन्यात्मानावित्यनुभवबाधितयाऽप्यन्तराले स्मृतिकल्प-
नया स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वे वेति योजना । यद्वा स्मृतिकल्पनया
इत्यत्रालमिति शेषः । प्रतियोगिज्ञानमात्रस्यैव तत्त्वत्वात् ।
प्रयोजकत्वे वेत्यास्याभ्युपगमवादेऽपि न एव ॥

सू० “योऽनौ तत्र नासीत् सायमिति स्मर्यमाणाभावप्रति-
योगिकत्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमणो-
ल्लिख्यमानस्याऽन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्त्या * दोषा-

भाषोऽपि हेतुः उभ्रमोदाहरणे नास्ति ? *-इति चेत् ।
 न, पूर्वदृष्टे स्मृतिमतः ततो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवान-
 न्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टाद्भिन्नमभिन्नं वेत्यनिरूपितस्यापि
 सम्भवेन तत्रैतरेतराभावबुद्ध्यपत्तेः । * बुध्यते एव
 ? *-इति चेत् । न, °पश्चात्तत्संशयदर्शनात् । ^d *वि-
 शेषधीरपि तत्र हेतुः ? *-इति चेत् । न, विशेषत्वस्या-
 न्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात् । एतेन
 वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिः सहकारी-
 त्यपि ऋदुदस्तम् । वेदितव्यं वस्तुगत्याऽधिकरणस्य
 स्वरूपेण प्रतीतिः सहकारिणीत्यपि ॥

टी० ॥ °“योग्यावि”ति । विश्वनाथमयहये ये नासीत्
 स एवायं चैत्र इति चैत्रे प्रत्यभिजानतोऽपि तदुक्तसामग्रीसत्त्वे-
 प्यन्योन्याभावप्रतीतिर्नादेनीत्यर्थः ॥ °“पूर्वे”ति । गेहनिष्ठाभा-
 तप्रतियोगितया पूर्वदृष्टं घटं स्मरतो घटान्तरानुभवकाले तदु-
 क्तसामग्री त्वभिचारान्त्यन्योन्याभावग्रहणित्यर्थः । यद्यप्यग्रे
 संशयदर्शनेन दोषस्तत्र नास्तीति वक्तुमशक्यं तथापि तत्काले
 दोषवत्त्वप्रमाऽपि नास्तीत्यर्थः । बुद्ध्युत एवान्योन्याभाव इति
 शेषः । °“पश्चाद्”ति । मेदग्रहे तत्संशयो न स्यादित्यर्थः ॥
^d °“विशेषधीरिति”ति । अमे च विशेषदर्शनं नास्तीत्यर्थः । विशेषे
 हि त्वावर्तको अमे उच्यते व्यावर्तकत्वं च स्वविशेषे तदित-
 रान्योन्याभाववत्त्वधीजनकत्वमिति स एवान्योन्याभाव इत्यर्थः ॥
 °“एतेने”ति । प्रतियोगित्वेन ज्ञान न सन्त्वं हिन्तु प्रतियोगिनः
 स्मरणमात्रमन्योन्याभावग्रहकारणमिति निरस्तमित्यर्थः ।
 वस्तु सद्यधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिरित्यपीत्यत्रापि ऋदुद-
 स्तमिति योजयम् ॥

सू० °भिन्नस्याभिन्नतया वृत्तादेः प्रतीवमानस्यान्योन्याभा-
 ववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात् । °नापि तृतीयः । अभावस्य
 निर्दुर्लभकतापत्ते तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्व-

स्वाध्वभावरूपत्वेन निर्द्धर्मकतया धर्मलक्षणान्धीन्य-
भेदविरहिण्यैकद्वयापत्तेः--^१ अभावे धर्माभावा-
त्स्वरूपमेव भेदः ? *--इति चेत् । न, योऽसौ भेदः तस्य
स्वात्मा स किं कस्मादपि भेदः उत निष्प्रतियो-
गिक एव ? न तावन्निष्प्रतियोगिक एव । ^२प्रमाणा-
भावेनासत्त्वप्रसङ्गात् । योऽसौ भेदव्यवहारोऽस्ति स
कस्मादपि ननु नीलव्यवहारवन्निष्प्रतियोगिकः ।
^३स च निष्प्रतियोगिको नोपपद्यते । निष्प्रतियोगि-
कोऽपि वा ^४यद्यप्यं सप्रतियोगिकव्यवहारं करोति
तदा प्रतियोगिनियमो न स्यादिति ॥

एतेनेत्यादिदेश्यमाह- । “भिक्षस्ये”ति । चैत्रं नैत्रतया
प्रत्यभिज्ञानतस्त्वंदुभयान्येन्याभावयदणप्रसङ्गस्तदवस्य एवे-
त्यर्थः । वैधर्म्यभेदं खयहयनि- । “नापीति । अभावे वैधर्म्या-
भावात् सर्वाभेदप्रसङ्ग इत्यर्थः । वैधर्म्यं विनाऽपि स्वरूपभेदेनैवा-
भावे भिद्यते इत्याह । “स्वरूपमि”ति । निष्प्रतियोगिकश्च
भेदश्चेति विरुद्धमित्याह- । “प्रमाणे”ति । एतदेवाह- । “यो-
सावि”ति । तथा च व्यवहाराभावेन व्यवहारोऽप्याभाव इत्यर्थः ॥
ननु नीलादिव्यवहारवद् भेदव्यवहारोऽपि निष्प्रतियोगिकः
स्यादित्यन आह । “नस्वि”ति । “सचे”ति । भेद इत्यर्थः ॥
यदि भेदो निष्प्रतियोगिकः स्यात् तदा नीलवन्निष्प्रतियोगिक-
स्तद्व्यवहारः सम्भाष्येतापि न त्वेवमित्यर्थः । ननु निष्प्रति-
योगिक एव भेदः स्वाभाव्यात् प्रतियोगिकभेदव्यवहारं कुर्या-
दित्यन आह- । “यदी”ति ॥

सू० “स्वस्मादपि भेदव्यवहारं कुर्यात् । स्वस्मात् कथं
भेदः सम्भवतीति चेत् तत्किं भिन्नाद्भेदः ? । नन्वेव-
मनवस्था स्यात् । नापि प्रथमः । वक्तव्यं हि तद्यस्मा
दसौ भेदः न तावत्सर्वस्मात्स्वात्मनोऽपि भेदप्रस-

ज्ञा 'त्रापि घटादे / घंटादिना सह तस्यावध्यवधिम-
द्भावो योऽसौ स ह्यर्थान्तरं वा स्यात्स्वरूपमेव वा?।
आद्ये 'तस्यापि भेदावधित्वेन तत्राप्येवमेवानुयोगे
यद्यो तदेवोत्तरमनवस्था स्यात् । *अथतत्र स्वरूपमेव
तर्हि प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किान्नबन्धन इति
प्रथमत एव स्वरूपं वाच्यम् * ॥

टी० ॥ अनियममेवाह-। "स्वरूमादयो"ति ॥ 'नभवे-
धमि"ति । येन भेदेनासौ भिन्नः सोऽपि भेदान्तरेण भिन्नो भवे-
दित्यनवस्थेत्यर्थः । स्वरूपभेदस्य सप्रतियोगिकत्वे दोषमाह ।
'"वक्तव्यं ही"ति ॥ d"असावि"ति । अभाव इत्यर्थः ॥ ननु
घटादेर्भावादभाव स्वरूपभेदात्मा स्यादित्यत आह । "ना-
पी"ति । पञ्चम्यावधित्व घटादेः प्रतीयते स्वरूपभेदश्चावधि-
मान् भवति हि घटाद्भिन्नस्तदभाव इति तत्रावध्यवधिमद्भावे
योऽप्रथेघंटाद्वधिमतश्चाभावात् मवन्त्यान्तरं वा स्यादुभयस्य
रूपं वेति विकल्पयति । "घटादिने"ति ॥ "तस्यागो"ति ।
अवध्यवधिमद्भावात्मा यः संबन्धे। घटतदभावभिन्नस्तस्माद्-
प्यभावे। भिन्नो वाप्यस्तत्राप्यन्य एवावध्यवधिमद्भाव स्यात्-
तोऽपि भेद एवाभावस्य । अवध्यवधिमद्भावात्स्वरूपानुसंग्याद-
नवस्थेत्यर्थः ॥ ननु घटतदभावयोरेव व्यवधिमद्भावो भिन्न
एवास्तु तत्रापि योऽवधित्वप्रत्ययः स स्वरूपसंबन्धाधीन एवेति
भानवस्थेति शङ्कते-। "अथे"ति ॥

मू० "तदपि न, तथाहि 'यदि घटादिभिः साद्धं मवध्य-
वधिमद्भावसम्बन्धोऽस्य स्वरूपं प्रतियोगिना साद्धं त-
ह्य भावस्याऽस्य निषेधनिषेधभावलक्षणः संबन्धः स्व-
रूपं न स्यात् स्वरूपस्यैकत्वात् अनयोश्च संबन्धयो-
र्भिन्नत्वात् । "नहि यदेव प्रतियोगिनः साकाशात्
भिन्नत्वं तदेव तन्निषेधत्वमिति सम्भवति । ततो

ठ्यतिरिक्तत्वस्यानिषेध्यसाधारणत्वान्निषेद्यनिषेध-
भावस्य नियतवस्त्वपेक्षत्वादिति 'एवं च कार्य-
कारणभावाद्दौ स्वभावसंबन्धान्तरेऽपि वाच्यम् ॥

टी० ननु प्रथमोऽप्यव्यवधिभङ्गावः स्वरूपमेव घटतद्
भावयोः स्यादित्यत आह—। "तदपि ने"ति । अस्ति प्रति-
योग्यभावयोरव्यवधिभङ्गावोऽस्ति च निषेध्यनिषेधलक्षणसंब-
न्धस्तदुभयं च प्रतियोग्यभावस्य स्वरूपमेव तथा चैकस्य स्वरूप
द्वयात्मकत्वमनङ्गवीत्याह । "यद्दो"ति । ननु द्वावपि संबन्धा-
ः भिन्नी स्यातां तत्कुतो विरोध इत्यत आह । "अनयोश्चे"ति
भेदमेवोपपादयति । "नही"ति । घटाभावो हि निषेधात्मा
घटमात्रस्य, भेदात्मा तु पटादेरपीति कथमनयोः संबन्धयो-
र्वियं स्यादित्यर्थः । ठ्यतिरिक्तत्वस्य भेदस्यानिषेध्यसाधारणत्वात्
अनिषेध्येन पटादिना साधारणत्वात् ॥ "एवमि"ति । कार्य-
कारणभावो दण्डघटयोः स्वरूपमव्यवधिभङ्गावोऽपि तथेत्येक-
स्यैवाभयस्वरूपात्मकत्व स्यादित्यर्थः ॥

सू० "ऊहनीयश्चान्यत्रापि स्वरूपभेदे एष दोषः । किञ्च
धर्मान्तरंभेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः ? । किं घट-
त्वादय एव भेद, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चि-
द्धर्मः ? । आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः ।
भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात् । न च घटत्वादयस्तथा ।
पटाद्यनपेक्ष्य तेषां प्रतीतेः । "यदा पटाद्यपेक्षया
प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्ति" इति चेत् । न,
प्रतीतो कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यम् । किं घटत्वादेः,
उत तद्धर्मस्य कस्यचित् ? । आद्ये पटाद्यपेक्षामन्त-
रेण घटत्वप्रतीत्यनुपपत्तिप्रसङ्गः । "न हि यदन्त-
रेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम", "वन्धादाविधा-
वान्तरजातिभेदे कारणभेदस्य चरितार्थयितुमश-

कथत्वात् । साक्षात्कारित्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः ।

टी० ॥ पृथक्कादिनिरूपणे योऽवध्यवधिमङ्गावस्तत्रायं दोष उक्तः । यदि च घटादिरपि स्वरूपभेद इष्यते तत्राप्ययं दोष ऊहनीय इत्याह—। “ऊहनीय” इति । अत्र केषाञ्चिदपि^(१) उपाख्यानम्—। ^b “यदे”ति । निरूपकप्रकारभेदादेकस्यैव सप्रतियोगिकत्वं निष्प्रतियोगिकत्वं च स्यादित्यर्थः । घटत्वनिरूपणे पटापेक्षा चेत्तदा पटज्ञानमन्तरेण कदापि घटत्वनिरूपणं न स्यादित्याह—। ^c “आद्य”इति । ^d “नहीं”ति । उच्यभिचारेण कारणतैव न स्यादित्यर्थः ॥ ननु विजातीयमेव तदुत्पत्तज्ञान यत्र पटापेक्षा । न हि जा-भेदाभ्युत्पत्तेः कारण उच्यभिचरति । तृणारविमतिकारणनादर्शनादित्याह—। “वन्स्यादावि”ति । भनूपलम्पसाधे मत्स्यपि दोषान्तरमाह—। ^f “माज्ञादि”ति ॥

सू० “जात्योः परापरसङ्करमिच्छता^(१)मपि मते पञ्चम्यावधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन समन्वितात् घटत्वस्यावधिघटितत्वे तथैव परं प्रतीत्यापत्तेः ^b*तद्धर्मस्य तथात्वम् ? *-इति चेत् । न, तथाहि—न द्वितीयः । ^d स एव सापेक्षप्रतीतिर्भेदो नतु घटत्वादिः ‘घटत्वादेश्च स भेदः स्यात्तद्धर्मत्वाद्धटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतं’ कथं च भिन्नैरनुगतभेदव्यवहारः स्यात्तथापि ॥

टी० ॥ ननु गुणगतजातौ परापरभावानुपपत्तिर्न दोष इत्यत आह । “जात्योर”ति । ज्ञानवैजात्याभ्युत्पत्तेः उच्यते तत्रभावावधिभावो^(१) यदा घटत्वेनान्वियत् तदा स्वरूपसंज्ञस्य एव तस्यान्वया वक्तव्य इति घटत्वस्वरूपसवधिघटित

(१) अथव्यवधे नस्य=अपपरिहार इत्यर्थः । (२) अत्रिभू पटापरासङ्करमिच्छतामिति पाठः । (३) अवधिभावेऽवधित्य पटादि नष्टं यदा स्वावधिनिरूपितत्वसंबन्धेन घटत्वसङ्घेन वैयर्थ्यभेदानाऽवधादिगर्थः ।

भवेत् तथा च सर्वदा तादृश्यैव तत्प्रतीतिः स्यादित्यर्थः ॥ ननु
घटत्वगतो धर्मः कश्चिद्वैधित्वघटिते न तु घटत्वमित्याह- ।
b“तदुर्मन्वे”ति । एवं नत्युक्त धर्मस्य कस्यचिदिति यद्विकल्पितं
तत्रैवानुप्रवेश इति तदेव दुष्टमित्याह- । “न द्वितीय” इति ॥
d“न एवे”ति । घटत्ववृत्तिधर्म एवेत्यर्थः । दूषणान्तरमाह- ।
e“घटत्वादेरि”ति । न घटादेरित्यर्थः ॥ घटे भेदाभिधानमुपक्रा-
न्तं घटत्वे तदभिधानमसङ्गतमित्यर्थः ॥ न हि घटत्ववृत्तिरपि
धर्मो घटवृत्तिर्येन घटभेदः स्यादित्यर्थः ॥ किंच घटत्वघटत्वप्र-
त्येकवृत्तिधर्माद्या भेदत्वे कथं भेदाकारानुगतप्रत्यय इत्याह- ।
f“कथं चे”ति । यद्वा भेदनाश्र(१)मभिप्रेत्यैतदुक्तम् ॥

सू० अथा सति वा किं न तैरेव तदादिष्यवहारोऽपि
स्यात् । bनापि द्वितीयः । अनभ्युपगमात्सप्तपदा-
र्यानामनन्तर्भावप्रसङ्गात्स्वात्मनिवृत्त्वृत्तिभ्याम-
नुपपत्तेश्च । ईदृशां बोधाध्यालीढवैचित्र्याणां
जात्या समर्थने सर्वोपाध्युपधानानां जात्यैव समर्थनं
स्यात् । f ननु घटत्वादय एव भेदः ॥

टी० ॥ ननु भिन्नैरेवानुगतप्रत्ययः स्यादित्यत आह- ।
a“तथा सती”ति । एवं सति जातिमात्रापलाप इत्यर्थः ॥ उक्त
भेदे नामान्य एव कश्चिदुर्मन् इति यद्विकल्पितं तद् दूषयति-
b“जापीति ॥ c“अनभ्युपगमादि”ति । इत्येतराभावस्य दूषित-
त्वादिति भावः । तस्य भेदारूपधर्मस्य स्वाश्रयादिभ्यांऽपि
तेनैव भेदेन भेदा भेदान्तरेण वा ? आद्ये स्ववृत्तित्वा द्वितीयं तत्र-
नवस्थेत्याह- । d“स्वात्मनी”ति ॥ ननु जातिरेवास्तु काचि
द् इत्यत आह । e“ईदृशां चे”ति । प्रतियोग्यधिकरणादि-
रूपोपाधिघटितवैचित्र्यस्य भेदस्य जातिप्रत्ये प्रमाविषयत्वमपि
जातिरूपमेव स्यादित्युपाधिसामोच्छेद इत्यर्थः । प्रमेयत्वादीना-
मुपाधीनां जातित्वे जात्यादिवृत्तित्वं बाधकमिहापि तुल्यमिति
भावः ॥ शङ्कितमपि दोषान्तराभिधानाय शङ्कते- । f“नन्वे”ति ॥

(१) भेदमाश्रयस्वरूप वृत्तत्वादिकम् ।

सू० ०* घटत्वादिज्ञानविशेषेऽपि प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद् विचित्रव्यवहारोपपत्तिः ? *-इति चेन्न,
 ०व्यवहारस्यत्वार्थं वास्तवार्थगतविशेषस्य वश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वे तथैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः अनन्तभेदपरम्पराम्युपगमे च क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात् तद्युगपञ्ज्ञेयतायामनन्तस्वसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयापि ग्रहणमम्भवादिना सर्वत्रप्रामाण्यान्तारवासात् सर्वप्रतीतिनियमानङ्गीकारे चाऽतीतसत्त्वे प्रमाणाभावात् ॥

टी० ॥ नन्वेव घटत्वादि गृह्यमाणं भेदत्वैव नदा गृह्यते तथाच प्रतीतिवैलक्षण्यं कापि न स्यादित्यत आह-
 ०“घटत्वादिज्ञाने”ति । यद्वा पूर्वमविशिष्टं घटत्वादिभेद इति शङ्कितमिदानीं तु प्रतियोगिनिरूप्यत्वविशिष्टं घटत्वादिकं भेद इति शङ्कते इत्यपौरुषेण तदेव दोषान्तरमाह- ०“व्यवहारे”ति । विषयं विना सत्यो व्यवहारो न भवतीति, ॥ टत्व-पटत्वादिकमपि भिन्नतया व्यवह्रियत इति सर्वत्रानुगतो भेदो वाच्यश्चेत्तदा तथापि को भेद इति पर्यनुयोगस्तदवश्य एवेत्यर्थः ॥ अनन्तभेदा यदि क्रमेण ज्ञेयास्तदैकवस्तुभेदपरम्परानुसरणे भेदप्रतीतिर्न पर्यवस्येदित्यर्थः ॥ अथैकदैव सर्वं भेदा ग्राह्यास्तदा सर्वेषां भेदानां भेदत्वेन स्वसदृशतया किं केन भिन्नं कस्य भेदो नया गृहीत इदमस्माद्भिन्नं न वेत्यादिसंशयाच्चपर्ययोः सर्वत्र वैलक्ष्येन भेदज्ञानप्रमाण्यान्तारवासात् स्यादित्यर्थः ॥ ननु त्रिषतुरा एव भेदा गृह्यन्ते नतु तत्परम्पराकाः सर्वे इत्यत आह- ०“सर्वे”ति अगृहीतभेदस्य स्वाश्रयभेदे मूलपर्यन्तमभेदः स्यादित्यर्थः ॥

सू० ०जिज्ञासायां तस्य तस्यापि ज्ञेयत्वे तद्गृहीनां भेदबुद्धित्वात् तदर्थं त्वनुगतस्यानुपपत्त्या तेष्वेकजात्याद्यभ्युपगमे तद्भेदेऽपि तदङ्गीकारे परम्पराश्रयि-

भावप्रसङ्गात् । ^bएवं च सत्तादीनामानन्त्यस्वीकारे द्रष्टव्यम् । किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वे चावधिभूतपटत्वादिभाषेणप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत्पटत्वस्यापि भेदपरुस्य भेदावधिप्रतिपत्तिभाषेणतयावधेश्च घटत्वादित्वेन घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायां^(१)मन्योन्त्याश्रयप्रसङ्गः । *भेदरूपत्वे घटत्वादेरवधिप्रतीत्यपेक्षा न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ स्वरूपमात्रेण चावधित्वं तत्कुत एवम् ? *-इति चेत् । न, ^dभेदस्वरूपता यदि तस्य स्वात्मैव तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम् ॥

उ० ॥ ननु तदानीमग्रहीतोऽपि भेदः क्रमेण गृहीतव्य इति न मूलपर्यन्तमभेद इत्याह- । "जिज्ञासायामि"ति । भेदजिज्ञासायामपि वा भेदबुद्धिधारा तत्रानुगतो यो भेदो विषयस्तत्रानुगमिका यदि ज्ञानिस्तदा भाऽपि स्वाश्रयभिर्भाति स्वरूपादाद्यैश्च अनुगमिका स्यादिति शैवाश्रयस्यादाश्रित्यपि तत्र स्यादित्यर्थः ॥ ^b'एवमि"ति । सत्तायामपि न्द्रुद्भुद्भुत्तुरोऽपि सत्तान्तरस्वीकारे सर्वासा सत्ताना क्रमेण वा युगपद्भाने दोषोऽप्य वाच्य इत्यर्थः । घटत्वपटत्वत्र द्वे अपि भेदौ परस्परवाचकौ परस्परज्ञानाधीनज्ञाने स्यातामित्यर्थः । घटत्वेन तज्ज्ञाने पटत्वेन च ज्ञाने नान्योन्यापेक्षेत्याह- । ^c'भेदे"ति । पटत्वस्वरूपमेव च्छेदस्तदा तत्प्रतीताववश्यमवध्यपेक्षेत्याह- । ^d'भेदस्वरूपते"ति ॥

सू० ^a* अथ धर्मान्तरं तदा ^bस एव भेदोऽस्तु कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया अस्तु स एव धर्मान्तरं भेदः ? *-इति चेन्न, द्रष्टव्यत्वात् । ^dअथापि स्वरूपादित्रयमिदं भेद इति कथं मङ्गलकते तत्र व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनु-

गताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तत्वसिद्धौ प्रमा-
णात्वं व्यवहारात्, सामान्यविशेषैरेव परसामान्य-
बुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्करुपनाऽनुपपत्तेः । किञ्च
भेदे भेदान्तरमस्ति न वा ? आद्ये अनवस्था द्वितीये
तदभावएव स्यात् । तद्धर्मिण्येव (१) तत्प्रवेशात् ।
*भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहा-
रमयं करोति सतेव सद्द्वयवहारम् ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ घटत्वस्वरूपमेव न भेदत्व किंतु तद्वृत्तिधर्मात्-
रभेदेत्याह । a "अथे"ति : तद्धिं घटत्ववृत्तिधर्मात्तरादेव भेद
व्यवहारोऽस्तिरित्याह- । b "न एवे"ति ॥ c "द्वयत्वादि"ति ।
दूषितत्वाच्चैतर्थापि द्रष्टव्यम्, अ-गान्याश्रयादिदोषेणेति भावः ॥
किञ्च स्वक-गान्योन्वाभावत्रैधर्म्येऽप्यनुग-भेदबुद्धियंद्यनुगतनिमित्त-
तत्कारणैरेव तदा क्वापि न सामान्यं सिद्धौ तद्व्यतिरेकेणाऽनु-
गतधीदशनेन व्यवहारो दित्याह । d "अथापी"ति । प्रत्ये-
कभेदवृत्तिधर्माधीनैव भेदाः सागानुगतिश्चेत्तदा घटत्वव्यवहारादि
नैव द्रष्टव्यासागानुगत-प्रत्ययोऽस्तु किं तेनेत्याह- । e "सामान्ये"-
ति । इतरैतराभावत्रैधर्म्ये भेदावधिकृत्याह । f "किञ्चे"ति ॥

सू० "यदि स्वस्मादपि स्वयं भिन्नो न स भेद इति स्वस्मादि-
त्यवधेयावधिभावस्वरूपः स्वयं भेदोऽन्यस्माच्च स्वस्य
तदास्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगिकत्वेन स्वाश्रयत्वेन
चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः किं नाङ्गीक्रियते
विरोधाभावात् । * स्वीक्रिये वाप्येवं यदि प्रतीति-
व्यवहारो वा स्यात् ? *-इति चेन्न, अस्त्यपि (२)
शब्दाभावादेस्तथाप्रतीतिराभासशब्दव्यवहारश्च *
सत्यौ प्रतीतिव्यवहारौ स्वीकारकारणम् । न च तौ
स्वात्मन एव स्वस्माद्भेदविषयी स्त ? *-इति चेन्न,

(१) स्वधर्मिणि घटत्वघटादौ स्वस्य प्रवेशादित्यर्थः । (२) शब्दाभावादे-
रत्यस्ति तथा प्रतिलिखितव्यम् । अविशब्दस्वरूपार्थः वाऽस्त्येवेति ।

स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिरचेत्यपि तर्हि न सत्या प्रतीतिः सम्भवति न वा व्यवहारः तत्कथमित्थमङ्गीकुरुषे । * ननु च वयं स्वाधिकरणं स्वाधिर्धैत्यभ्युपगच्छामः किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारे वा स्वीकृते यौ बुद्धिर्भव्यवहारावुपपद्यते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम ? -इति चेत् न ॥

टी० ॥ स्वस्माद्भिन्न एवायं स्वस्य भेद इति पक्षस्या अवधिर्धैत्यं पदस्या च धर्मित्वमेकस्य प्रतीयमानमविरुद्धं चेत्तदा स्वस्माद्भिन्नत्वमेव स्वस्य किं न स्यादित्याह - a "यदी"ति । स्वभिन्नत्वेन न किञ्चित् प्रतीयते न वा व्यवह्रियते इति कथं तथा स्यादित्याह । b "स्वीक्रिये"ति । स्वस्माद्भिन्नोऽयं घट इत्याद्यादीरितशब्दादेनादृशी प्रतीतिर्धैत्यवहारश्चास्त्येव । "अत्यन्तसम्यापि स्यैव ज्ञानं शब्दः करीतिहि"ति न्यायादिति शङ्कते - c "अस्त्ययी"ति । स एव स्वस्माद्भेदे भेदश्च स्वस्यैत्यपि बाधि-मेधेत्यर्थः । स्वस्मिन् कर्तमान एव भेदः परस्मात् स्वात्मानं भिन्तीति ब्रूम इति शङ्कते । d "ननु न वयमि"ति ॥

सू० "तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र धर्मान्तरं विनोत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात् यस्य च स्वभावस्य बलेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात् 'यथा सत्यरजते रजतप्रतीतिः रजतत्वादुत्पन्नान्यत्र विना रजतत्वं जायमाना भ्रान्ता भवति यस्य च सामर्थ्यात् सा तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते * "तत्र रजतत्वं नास्ति अत्र तु धर्मरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनम् ? -इति चेत् न, 'भिन्नप्रतीतिविशिष्टविषयाभेदतदाश्रयोभयवस्तुविषयान्यत्र यादृशी सत्याङ्गीकृता ततो जात्याप्यन्यूनार्था

इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे तदा
यक्रेणापि भ्रान्तत्वं दुर्वारम्, अथाङ्गीकुरुषे अनव-
स्थाप्रसङ्गः ॥

टी० ॥ अव्यय भिन्नत्वप्रतीतिः स्वनिष्ठभेदवैशिष्ट्याधीना ।
भेदे तु भिन्नत्वप्रतीतिस्तद्व्यतिरेकेण भवन्ती भ्रान्तैव स्यादि-
त्याह-। "तर्ही"ति । ननु दोषमन्तरेण कथं भ्रम इत्यत आह-
॥ "यस्ये"ति । कश्चिद्विषय एव दोषो यथा तमसीत्यर्थः । विष-
यबाधे भ्रमत्वे विषयस्य च दोषत्वे दृष्टान्तमाह-। "यस्ये"ति ।
तत्र विषयबाधोऽत्र तु विषयो भेदोऽस्त्येव तथा च कश्चिं कथं
भ्रमः स्यादिति शङ्कते-। "तत्र"ति । मति भेदे प्रतीतिमात्र-
मस्तु भिन्नत्वप्रतीतिस्तु भेदे भेदान्तमन्तरेण भवन्ती भ्रान्तैव
स्यादित्याह-। "भिन्ने"ति । न हि स्त स्वतन्त्रैव विशिष्टमिति
भावः । भेदान्तर वैशिष्ट्ये त्वाह-। "नस्ये"ति ॥

सू० "अथ तदुभयविषयव्यतिरेकेणैवात्र सा सत्या अन्यत्र
तर्हि ततोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यन्तं पल-
वेन । "यत्तु सत्त्वेत्युक्तं त 'कटकगवोदाहरण' नु-
हरति यतः सत्ताप्यमुना दूषणेनास्माभिः खण्ड-
नीया यत्युत्तरभिधीयते किमेतेन भेदखण्डनवादि-
भिरभिहितं भवति किं भेदज्ञानमेव नास्ति सदपि
वा, नित्यमनित्यमपि, वा निर्हेतुकं सहैतुकमपि, वा
निर्विषयं सविषयमपि, वा बाध्यमानविषयं वा ? ।
तत्र प्रथमः ॥

टी० ॥ "तदुभये"ति । भेदतदाश्रयत्वं मुभयमित्यर्थः ।
भेदमन्तरेणैव विशिष्टप्रतीतिश्चेत् सत्या तदा भेदे मति तद्विशि-
ष्टप्रतीतिर्निष्पन्ना स्यात् सत्यत्वप्रयोगकविषयवैषम्यादित्याह-।
॥ "अन्यत्रे"ति । सत्तेव सद्भाव्यवहारमिति यदुदाहृतं तत्राह-।
॥ "यत्किं"ति ॥ "कटकगवे"ति । यथा कटकं बहु गीर्वाण्यनर
उत्पन्नादाय विद्ववति विद्ववद्भिः सद् तथामुना सबहजेन

विद्वन्ना भेदेन ननापि विद्वद्विषयतीत्यर्थः यद्वा यथा कटके
गौरपमार्यनाणापि पुनस्-यैवायाति तथा बहुयः खरिहतापि
नत्ता पुनस्तदाहरणत्वेनाघातीत्यर्थः । भेदखड्गने यदुदयनाचार्यैः
नमादित तत्खड्गनाय शङ्कते-। “यदि”ति । भेदशाहिकां
नामयीं खड्गवाङ्गः खड्गमवादिभिः किमभिहितमित्यर्थः ॥

सू० “सर्वतो विरोधादनन्तरः द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरो-
धादुपेक्षणीयः । तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः । चतुर्थस्तु
भेदोल्लेखादेव त्याज्यः । पञ्चमस्तु चिन्त्यते किमे-
तेष्वन्यतमोऽस्य विषयः तदन्वो वा ? द्वितीये कि-
मेताभिर्याधकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते एवं हि
चौरापराधेन कथं क्तमयं माण्डव्यनिग्रहः स्यादथा-
न्यतमात्मा न (१) तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति
तत्त्वं तदाऽनवस्थाभयात्तदधिकः प्रवाहस्त्यज्यताम् ॥

टी० ॥ “सर्वत” इति । अग्रतीतस्य भेदस्य निषेद्धु मशब्-
त्वाद्भवति भेदज्ञाने भेदो नास्तीति शब्दप्रयोगठयाघातात् भेदशा-
हिका सामयी नास्तीति (२) तत्परिच्छेदमन्तरेण निषेधानुपपत्ते ।
भेदवादिन प्रति वाक्यस्य सार्थकत्वे तत्वादिस्वापरिचयात्
पदानां भेदेन ज्ञानमन्तरेण वाक्यप्रयोगाभावात् भेदवाद्युपेक्षया
स्वस्य भेदग्रहमन्तरेण कथोपक्रमाभावात् साधनीयदूषणीययो-
र्भेदज्ञानमन्तरेण कथायामप्रवृत्तेः साधनदूषणभेदग्रहमन्तरेण
नत्प्रयोगानुपपत्तेः । माचकवाच्यप्रमाणभेदग्रहं विना कथाया-
मप्रवेशात् भेदस्य निषेध्यत्वेनापि ज्ञानमन्तरेण निषेधानुपपत्ते-
रिति सर्वतो विरोध इत्यर्थः ॥ ^b “सुषुप्ती”ति । ज्ञानाभा-
वकालस्य सुषुप्तिस्वादित्यर्थः ॥ ^c “विरोधादि”ति । अनि-
त्यत्वस्य नहेतुकत्वेन ठयाप्तित्वादित्यर्थः ॥ ^d “भेदोद्धे-

(१) क्वाचित्पुनको नेति नास्ति ।

(२) भेदशाहिका सामयी नास्तीति निषेधानुपपत्तेरित्यश्वयः ।

ज्ञा^०दिति । उल्लिख्यमानस्यैव विषयत्वादित्यर्थः ॥ ^०“एनेदिव”-
ति । स्वरूपान्योन्याभावावैधर्म्येदित्यर्थः ॥ ^f“किमि”ति ।
अन्यस्यदहनेऽपि भेदो न खण्डित इत्यर्थः ॥ ^g“मं हं”ति ।
धारः पलायित एव मा[॥]इत्यस्तु मः^०षिः शूलना^०पे पन इति
बद्धेदोऽपि न दूषयितुं परितोऽन्यत् दूषितमित्यर्थः ॥ ^h“यना
त्तरमि”ति । वैधर्म्यमित्यर्थः ॥

मू० ^aतस्य तु कुतस्तयागः न ह्यनवस्था प्रतिभासमान-
मर्थं निवर्तयति किं तु प्रवाहं परिहारयति गन्धे
गन्धान्तरवत् । अथेतरैतरभावमेव भेदज्ञानमाल-
म्बते तथापि^(१) ^bक्वात्माश्रयः तेन हि भेदे ज्ञा-
नमेव न स्यात् अस्ति चेत्ततो हेत्वन्तरमाश्रयेत्
न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तते ।
‘अविद्यावशादिति चे’ ^cत्किं चातः । न ह्यविद्ये-
त्येवात्मयनिवृत्तिः तथा सति घटादयोऽपि कुला-
लादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः ‘अथात्माश्रयादि-
दोषोपहततया न तत्तस्यैव कारणमतो यतः कुत-
श्चिन्नस्य जन्म तच्च दुर्निरूपम् । अतोऽविद्येत्यु-
च्यत इति विचारार्थः नास्ति तर्हि विवादः ॥

टी० ॥ ^a‘तस्य त्वि’ति । अनुभूयमानस्येत्यर्थः । ^b‘क्वे’-
ति । इतरैतराभावप्रतियोगित्वेन ज्ञानमितरैतराभावग्रहकारणं
चेत् तदात्माश्रय इति यदुक्तं तन्न । भवति इतरैतराभावज्ञानेन
त्वदप्युपगतेन स्वं प्रति कारणान्तरस्याक्षेपादित्यर्थः ॥ ^c“अ-
विद्ये”ति । अविद्या भेदग्रहे कारणमित्यर्थः । अविद्यावशादपि
नवत्कारणसापेक्षभेदेत्याह— । ^d“किञ्चान”इति । अविद्यावशा-

(१) उच्यतेपुस्तके तथापीत्यस्य रक्षाने तदापीति पाठः ।

देव घटादंगोऽपि स्युत्तया च द्रष्टृकारणभावा अपि द्रव्यादये
न कारण स्युरित्यर्थः । तदेव कारणं भेदज्ञानं प्रति घटादिकं
च दुर्वचमित्यविद्यात इत्युक्तं न त्वविद्या कारणत्वेनाभ्युपगता
मयेत्याशङ्कते- "अथे"ति । भेदज्ञानं तावद्भेदविषयकं भेदहे-
तुकं चेति वचनभङ्गिभेदेन स्वयंऽपि स्वीकृतमित्यर्थः ॥

सू० "नच तदपि दुर्निरूपं, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीताव-
धिकरणस्वभावत्वेनाधिकरणप्रतीतिः अधिकरण-
स्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्चेत्तरेतराभाव-
ग्रहणकारणमिति निरूपणात् ॥ * अथ स्वरूपमेव
भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वं * तथापि 'सहप्र-
योग एवानुपपन्नः पारहीयतां भेदेन तु किमपराद्धं
सोऽपि दृश्यत इति चेत् सत्यम् । 'नैमित्तिकस्तु स्यान्न
स्वरूपतः । न हि घटमानय घटमवलोकयेत्यादौ
भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते व्याख्यायां तु सूक्ष्म-
बोधनार्थं घटः कुम्भ इति वत्सहप्रयोगोऽपि न दोषः
'तथापि कः परमार्थः ।

टी० ॥ "न चै"ति । अधिकरणग्रहणं प्रतियोगिस्मरणं च
भेदग्रहणकारणं न त्वधिकरणत्वेन प्रतियोगित्वेद् वा तदुभयज्ञानं
कारणं येनान्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः ॥ स्मृतिरिभ्युपलक्षणसमु-
बोधोऽपि कृत्रिमप्रयोगकः नच वि व्रान्तरा स्मृतिकल्पनमित्यर्थः ॥
'सहप्रयोग' इति । घटस्वरूपं भेद इति सहप्रयोगः । यद्वा
घटो निम्न इति सहप्रयोगः । घटस्य भेद इति तु राहोः शिर
इति बहुवचनम् । "नैमित्तिक" इति । सञ्ज्ञापरिचायननिमित्त-
कः यथा पिकः कोकिल इति पर्यायान्तरसहप्रयोग इत्यर्थः ॥
d' 'तथापी'ति । भेदपदस्य नानार्थत्वापत्तेरित्यर्थः ॥

मू० "यथायत्नं त्रयमपि घटस्य हि घटाद्यात्मना प्रती-
तिः अपटाद्यात्मना च प्रतीतिः ततो वैशिष्ट्यप्र-
तीतिश्चेत्यनुभवसिद्धं तत्राभावस्य "प्रथममात्रम-
भावान्तरभावात् सामान्यादिषु त्रिषु 'द्वयं धर्मान्त-
राभावात् द्रव्यादिषु त्रयं त्रयस्यापि तत्र सम्भवात् ॥
भवति हि पटोऽयं न घटः तन्तुमयश्चेति । गन्धो-
ज्यं न रूपं सुरभिश्चेति ॥

टी० ॥ "यथायत्नमिति"ति । पूर्वोक्तव्युत्पत्तिः त्रयमाश्रित्य
नामार्थे एवायं भेदशब्द इत्यर्थः ॥ यद्वा द्रव्यगुणकर्मसु त्रयमपि
सामान्यविशेषसमवायाभावेषु स्वरूपभेदमात्र(१)नित्यर्थः ॥ यद्वा
सर्वत्र भेदत्रयमेव यथायत्नं तु सामायावशात् द्रव्यहणमित्यर्थः ॥
क्रमेणाभावत्रयप्रतीतिः प्रमाणयति । "घटस्य ही"ति । घटा-
देरित्यर्थः । तेन घटाद्यात्मनस्त्यविरोधः ॥ "वैशिष्ट्यप्रतीति-
रिति"ति । वैधर्म्यप्रतीतिरित्यर्थः । "प्रथममात्रमिति"ति । स्वरू-
पभेदमात्रमित्यर्थः । एतन्न सुप्रतिपदत(२)योक्तम् । अभावेऽपि
करणाप्रतियोगिरूपवैधर्म्यमस्मात् ॥ "द्वयमिति"ति । स्वरूपभेदेत-
रेतराभावरूपमित्यर्थः ॥ यद्यपि सामान्ये सामान्यान्तराभावेऽपि
व्यक्तिरेव वैधर्म्यावज्ञेयसमवाययोऽप्याश्रयो वा निरूपकान्तरं
वा यथायत्नं वैधर्म्यं नस्ति तथापि तत्र सामान्यज्ञावमात्रवि-
षयभेदमुक्तं पटोऽयमिति स्वरूपभेदग्रहप्रकारः न घट इत्यन्यो-
न्याभावग्रहस्य तन्तुमय इति वैधर्म्यस्य द्रव्ये त्रयमुक्त्वा गुणे-
ष्याह— । "गन्धोऽयमिति"ति ॥

(१) स्वरूपभेदमात्रमिति—स्वरूपभेदोभयमाश्रित्यर्थः ।

(२) सुप्रतिपदतया—स्फुटतया वस्तुतस्त्वभावे वैधर्म्यभेदोऽपि
स्मोत्सवन्तरे—सामान्येति ।

सू० "गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चैत १ लक्षणं तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः इतरैतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः वैधर्म्यस्य तु 'विरोधः' २ स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिगिति । अत्रोच्यते । तथाहि—'यत्तावत्पृष्ठं किमेतेष्वन्यतमात्मास्य विषयस्तदन्यो वेति तन्निर्वचनवादिनि शोभेत नास्मानु प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां चासद्वसत्त्वाभ्यां वान्येनापि वा धर्मैश्च येन निरूप्यमाणोऽन्वयेन च व्यतिरेकेण वा बाध्यतामेति तेन सर्वैरानिर्वचनीय इति ब्रूमः । एतच्च न केवलं भेदस्यापि तर्हि जगत एवानिर्वचनीयवादश्चायं यथा तयोदितं प्राक् । यदप्युक्तमयान्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवदित्यन्तम् । तदपि न साधु । यथा युक्त्यैकस्वीकारस्तथैव प्रवाहस्वीकारस्य दुर्वारत्वात् ॥

टी० ॥ कर्मख्याह—'गतिरियमि' ति । प्रत्येतद्व्यस्य प्रतीतिरेव लक्षणं सुप्रतिपदमिति क्रमेण तदाह—'लक्षणं त्रि' ति ॥ "विरोध" इति । विरुद्धधर्मप्रतीतिरित्यर्थः । सहानवस्थानं विरोध इत्याह—'स चे' ति । यद्वा प्रतीतिपदेन प्रत्येतदवमेवोक्तं तेन प्रतियोगिमनानाधिकरणो भाव इतीतरैतराभावलक्षणमित्यर्थः । निर्वचनाय प्रअ एवानिर्वचनवादिनि न घटते तथाच किमेतेनेत्यादिप्रश्नानुपपत्तिमाह—'यत्तावदि' ति ॥ १ "यथा युक्त्ये" ति । भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रार्थनिकभेदवत्त्रापि (१) तत्प्रतीतिरिति तदन्यथानुपपत्तिविशिष्टेत्यर्थः ॥

सू० "तत्र यदि प्रवाहस्वीकारे तस्या असाधकत्वं स्वीक्रियते एकस्वीकारेऽपि स्यात् । अविशिष्टलक्षणत्वात् ।

(१) तत्रापि = द्वितियोऽपि ।

^bअत एव प्रतिभासमानत्वादेकस्वीकार इत्यप्युक्त-
म् । 'एकप्रतिभासिकाया युक्तेः सर्वसाधारण्यात् । ^dनहि
प्रत्यक्षादेव जायमानः प्रतिभासः प्रमाणं नानुमाना-
देरित्यत्र युक्तिरभ्युपगमो वा तत्र । ^eन वानवस्था
प्रसञ्जिका युक्तिरनुमानादेरन्या नाम । ^fतर्कस्यापि
व्याप्तिसमत्वं ॥

टी० ॥ प्रवाहे तस्या युक्तेराभासत्वे प्रथमोऽपि भेदे न
स्यात् साधकाभावादित्याह- । "तत्रे" ति । ननु प्राथमिके भेदे
युक्तिर्न प्रमाणं किन्तु प्रत्यक्षमेवेत्यत आह- । ^b"अत एव"ति ।
प्रत्यक्षमाभासं मन्यमानाय स्वया युक्तिरवश्यं चाध्या सा च
साधारणीत्याह- । "एके"ति । ननु द्वितीयादिभेदगोचरं प्रत्य-
क्षमाभासतयापि खन्दिष्यमानं नास्नीत्यन आह- । ^d"नही"ति ।
ननु भेदप्रवाहे युक्तिरपि नास्नीत्यत आह- । "नचे" ति ।
भेदे भेदान्तरानभ्युपगमे तस्य स्वाश्रयाभेदे भेदस्वरूपमेव त-
स्मादिति तत्र तत्रावश्यं भेद इत्यनवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनु-
मानमेवेत्यर्थः । ननु तर्क एवानवस्थाप्रसञ्जिको नानुमानमन
आह- । ^f"तर्कस्यापी"ति । तथाच तर्केणापि सिद्धान् प्रवाहो
व्याप्तिसमत्वादेव सेत्स्यनीत्यर्थः । तर्केऽपि विपर्ययावसानमेव मूल
तच्चानुमानमेवेति कार्यं ॥

सू० "सर्वं चानुमानच्छायामापद्य दूषणमपि प्रवर्तते इति
भवत एव व्युत्पादनम् । ^bअतोऽनवस्थाप्रसञ्जिकाया
युक्तेर्दोषो वा वक्तव्यः त्यक्तव्यो वा स्वपक्षः । प्रवाह-
स्वीकारवदेकस्वीकारे नाऽनवस्थेति चेत् तत्किमन-
वस्थाभावविशिष्टायास्तस्या युक्तेः साधकत्वं मन्य-
से ! । एवं तर्हि द्वितीयमात्रस्वीकारेऽपि नानवस्थेति
द्वितीयस्वीकारप्रसङ्गः । उमिति चेत् परार्द्धं पर्यन्त-
वाहस्वीकारं को वारयिता ? । नैतावन्मात्रेण तुष्यति
भवान् परार्द्धादिप्यधिकमेकादिकं किं नाभ्युपगम्यते

इत्यपि भवता वक्तव्यमेव तथाच वैधानवस्थेति चेत् । सत्यम् । तस्यास्तु भयात्कीदृशमभ्युपगम्यतामिति निपुणं मन्त्रयावहे । द्रव्यादिकं परित्यज्यतामिति चेत् ।^d एकस्मिन्नाम कीदृशोऽनुग्रहः येनानवस्था-प्रवाहनिवेशाविशेषेऽपि द्रव्यादिकमुपेक्षितमेकं तु रक्षितम् । द्वितीयमादायानवस्थेति चेत् । द्वितीये यदि भवतोऽनुग्रहः स्यात् ॥

टी० ॥ भवतु वा तर्कोऽनवस्थाप्रसङ्गकस्तथाप्यनुमानच्छा-यापक एव स प्रयोज्य इत्याह-। “‘सर्वमि’ ति । असिद्धादि-कमपीत्यर्थः । तथाच भेदेऽपि भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिर्यद्यना-मासा तदानवस्थैत्र यदि चाभासा तदा प्राथमिकोऽपि भेदो न सिद्धोदित्याह-^b “अत” इति । नन्वनवस्थादोषादेव प्रवाहो न सेत्स्यतीत्याह-। “‘प्रवाहे’ ति । यथा द्वितीयो भेदोऽनवस्था-मूलत्वेन त्यज्यते तथा प्रथमोऽपि त्यज्यतामविशेषादित्याह-।^d “एकस्मिन्नि” ति ।

सू० “तृतीयमादायानवस्थेत्यभिधाय सोऽपि रक्षितः स्यात् । तावेतौ भवतो रागद्वेषौ निःश्रेयसाय यत-मानस्य मानसमास्कन्दमानो न कल्याणोदकीं तर्कयामि ।^b गन्धे गन्धान्तरप्रसञ्जिका च न युक्ति-रस्ति ।^c तदस्तित्वे का नो हानिः ।^d तस्या अप्यस्मा-भिः खण्डनीयत्वात् । यदप्यथेतरेत्यादिति निरूपणा-दित्यन्तं ‘तदप्युक्तम् । तथाहि-इतरैतराभावज्ञानं भेदव्यवहारहेतुं मन्यते यस्तस्य पक्षो नोपपन्न आ-त्माश्रयप्रसङ्गादित्येवं प्रुवाणस्य न किञ्चिद्वाधकमुक्तं स्यात् ।^f प्रतियोगिरूपत्वेनेत्यादिसमाधानं च प्रागेव दूषितम् । अथ स्वरूपमेवेत्यादि न दोष इत्यन्तं यदुक्तं तदप्यस्मदनुक्तदोषदूषणमित्युपेक्षितम् । यदपि

तत्रापि के इत्यादि तिर्यक् चेत्यन्तं तदपि गर्तव-
र्त्तिगोधामांसविभजनव्यायमनुहरति । पञ्चत्रयस्या-
प्युक्तयुक्तया आच्छादितस्य दर्शयितुमशक्यत्वेन त-
द्विभागव्यवस्थितेरनवसरनिरस्तत्वात् ॥

टी० ॥ यथा द्वितीयस्तथा तृतीयश्चतुर्थोऽपीति क्रमेणैके
कमात्राभ्युपगमे द्वितीयवसानवस्थेत्याह—। “तृतीयमि”
ति ॥ ^b“गन्धे” इति । नहि गन्धे गन्धविशिष्टप्रतीतिर्यदन्य-
थानुपपत्त्या गन्धेऽपि गन्धः स्यान्न वा? । तदनभ्युपगमे प्रथमोऽपि
गन्धे न स्यादित्यर्थः । अनवस्थया गन्धोऽपि वा सा सिद्धा
त्वित्याह—। “तदस्तित्व” इति । ^d“तस्या अपी”ति । गन्ध-
माधिकाया युक्तेरित्यर्थः । अथेत्यादिनिरूपणादित्यन्तेनेतरेत-
राभावाद्यहसानयोपर्यवमायिका युक्तिरुक्ता तां स्वहयति—।
“तदप्ययुक्तमि” ति । एनावताप्यात्माश्रयपरिहारो न कृत
इत्यर्थः । ननु यदि प्रतियोगित्वेन प्रतियोगिज्ञानं तन्त्रं स्यात्त-
दात्माश्रयः स्यान्नत्वेवनित्यत आह—। ^f“प्रतियोगी” ति ।
एवं सति निषेधनिषेधसाङ्कर्यं स्यादित्यादिना दूषितत्वादि-
त्यर्थः ॥

म० “यच्च स्वरूपभेदस्य लक्षणमुक्तं ताद्रूप्येणाप्रतीती
प्रतीतिरिति तदप्यवद्यम् । ^bयदेकमेव वस्तु भ्रान्त्या
भिन्नमिति प्रतीयते तत्र “ताद्रूप्येणैकरूपतया प्रती-
तिर्नास्ति अस्ति च प्रतीतिः । नच स्वरूपभेद
इत्यतिव्याप्तिः । ताद्रूप्येणेत्यस्य धर्मान्तररूपभे-
दसङ्कीर्णोदाहरणार्थत्वात् । प्रतीतिरभ्रान्ता विव-
क्षिता ?*—इति चेन्न, ^dस्वरूपप्रतीतेस्तत्राप्यभ्रा-
न्तत्वात् । यच्च स्वरूपमात्रेण प्रतीयते वस्तु न
ताद्रूप्येण । न च नानात्मतया वस्तुगत्या
चैकमेव तत्रापि स्वरूपलक्षणो भेदः स्यात् ॥

टी० ॥ स्वरूपभेदे सहप्रयोगानुपपत्तिर्न नयोक्ता येन

मदप्रतिपक्षयनुरोधेन समाहिता किञ्चु दोषान्तरमुक्तं तत्र
समाहितमित्याह— “यच्च”ति । “यदेकमेव”ति । यत्र चन्द्र-
द्वयधीःस्ति तत्रैकस्यापरात्मतया प्रतीतिर्नास्ति । अतस्ताद्रूप्ये-
णाप्रतीतौ प्रतीतिरस्ति ननु द्वित्वेन प्रतीयमानस्य स्वरूपभे-
दाऽस्तीत्यर्थः । ताद्रूप्येणेत्यस्य विवरणमेकरूपतयेति । ननु
ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्येव तत्र नास्तीति कथमतिठयाप्तिरित्यत
आह— “ताद्रूप्येणेत्यस्ये”ति । धर्मान्तररूपो यो भेद इतर-
तराभवात्मा वैधर्म्यात्मा च तदङ्गीर्णादाहणं ताद्रूप्येणाप्र-
तीतावित्यस्यार्थः । तथा च यस्यान्योन्याभावो वैधर्म्यं वा यत्र
तत्र ताद्रूप्येणाप्रतीतिर्विब्रजिता सा (१) च चन्द्रद्वयदर्शने
प्यस्ति । नहि तत्र चन्द्रयोरेकान्याभावो वैधर्म्यं वेति भावः ॥
“स्वरूपप्रतीतिरिति । चन्द्रादिस्वरूपप्रतीतेरित्यर्थः । नैकरू-
पतया न वा नामारूपतया यत्प्रतीयते तत्र लक्षणगमनादति-
व्यप्तित्याह “यच्च”ति ॥

मू० “नास्त्येवेदृशमुदाहरणम् । ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यामेक-
स्यावश्यं प्रतीते(२)रित चेत् । प्रतीतिकलहानवका-
शात् (३) भवति हि यस्वयो दृष्टं तत्किमेकनेकं वा
इत्यनुयुक्तौ नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो
वा स्वरूपमात्रं तु प्रतीत्याहमुदासीनाऽभूवमित्य-
भिधत्त इति । * ननु तदपि स्वरूपं भेद एव क-
स्मादपि तत्कथमुक्तदोषावतार ? *-इति “मैवम्,
एवं ताद्रूप्येणाप्रतीताविति ध्येयं स्यात् । प्रतीति-
मात्रलक्षणं वक्तव्यं “यत्प्रमेयं तत्कस्मादप्यवश्यं
भिन्नमित्येव कस्यैव स्वस्माद्देवप्रसङ्गनिराकरणार्थ-
मपि ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्युक्तं “तच्च खण्डितमिति

(१) सा=प्रतियोगिभूता । (२) “तद्विरुद्धाभ्युपगमे च प्रतीति-
विरोध” इति शेषः । (३) प्रतीतिकलहानवकाशात्=प्रतीतिविरोधा-
नवकाशात् ॥

* ताद्रूप्य^(१)मन्यरूपत्वं विवक्षितम् ? *—इति चेन्न,
तदा^(२)हि तदानुपस्थापितपरामर्शवदन्यत्वस्य स्वरू-
पभेदत्वे आत्माश्रयः ॥

टी० ताद्रूप्याताद्रूप्योरन्यारप्रकारेण प्रतीतिप्रौढ्य-
मालम्ब्याह—। “नास्ती”ति । ताद्रूपी प्रतीतिमुपपादयति—।
० “भवति ही”ति । स्वरूपेण प्रतीती ताद्रूप्याताद्रूप्यप्रकार-
योरभावादित्यर्थः ॥ ननु उद्वेगमपि तत्रास्तीति चेत् नानिठया-
प्रितिरित्याह—। “नन्वि”ति । सर्वप्रतीतिविषये स्वरूपभेदस्य
उद्वेगस्य मत्वात्तद्विरविशेषणवैयर्थ्यमित्याह—। “नैवमि”ति ।
एतदेवोपपादयति—। “यदि”ति । ननु ताद्रूप्येण प्रतीता-
विति यदि न कर्तव्यं तदा स्वस्मादपि स्वस्य स्वरूपभेदो
भवेदित्याह—। “कस्यैव”ति । ० “तच्छे”ति । यत्र ताद्रूप्य
ताद्रूप्यभ्यां न प्रतीतिः किन्तु स्वरूपप्रतीतिमात्रं तत्रापि
स्वरूपभेदोपपादित्यनेन खगिडनमित्यर्थः ॥ ० “तदा ही”ति ।
तच्छेदोपपादित्यर्थः । तदानुपस्थितस्यैव स्वस्य परामर्श
वशात्माश्रयस्यो स्वरूपभेदानाधोममेव स्वरूपभेदानभि-
त्यात्माश्रयत्वम् । अन्यशब्दस्य^(३)स्वरूपभेदार्थत्वात् ॥

म० “सर्वस्वरूपानां लक्ष्यत्वात् अन्योन्याभावत्वे चाऽ-
न्योन्याश्रयः वैधर्म्यं च चक्रकम्” * यदपीतरेतरा-
भावस्य लक्षणमसाधितः समानाधिकरणो निषे-
धप्रत्यय * इति तद्रूप्यशोभनम् । ‘समानाधिकरण-
इत्यादिभाषायाः कथमऽपि तात्पर्यगवेषणेऽपि समा-
नाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययविषयो न्योन्याभाव
इति तात्पर्यपर्यवसाने समानाधिकरण इति ॥

(१) ताद्रूप्यम्—स्वरूपभेदान्यरूपत्वम् । (२) तदा = तच्छेदेने-
त्यर्थः । तदेति शब्दात्तत्रं भाषाध्वनिद्वयम् । तदा (परामृष्टया)
ऽन्यत्वस्य स्वरूपभेदत्वे-इत्यर्थः । (३) अन्यशब्दोऽन्योन्याभावप्रती-
तिविषयत्वेन स्वरूपभेदस्य वाचकः ।

टी० तर्हि स्वरूपभेदान्तरज्ञानाधीनं स्वरूपभेदज्ञानान्त-
रमेवास्तु तथाच नात्माश्रय इत्यत आह-। “सर्वे”ति । ननु
तच्छब्देन्यपरोऽन्यश्चान्योन्याभावप्रतियोगीति नात्माश्रय
इत्यत आह-। ^b“अन्योन्ये”ति । तर्ह्यन्योन्यभावग्रहाधीनः
स्वरूपभेदग्रहस्तदधीनश्चान्योन्याभावग्रह इत्यन्योन्याश्रय
इत्यर्थः । नन्व यश्चदान्यपरोऽन्यश्च तद्विधर्मैति नात्माश्रया-
न्योन्याश्रयावित्यत आह-। “वैधर्म्येति चे”ति । वैधर्म्यग्र-
हाधीनः स्वरूपभेदग्रहस्तदधीनश्चान्योन्याभावग्रहस्तदधीनं
च पुनर्वैधर्म्यज्ञान तथाच चक्रवैधर्म्यं हि तदन्योन्याभावस-
मानाधिकरणधर्मश्रवमित्यर्थः । निषेधप्रत्ययस्य सामानाधिक-
रव्यं केनेति वाच्यम् । प्रतियोगिना चेत् तदा प्रत्यय आत्मनि
प्रतियोगी च घटादिरन्यत्रेति भाषेयमनादेयेत्याह-। “यद्-
पी”ति । तात्पर्यमाह-। “सामानाधिकरण”इति ॥

सू० “किं तुल्याश्रय, उतैकाश्रयः, उत ^bतादात्म्यप्रतियो-
गिकः, उताधिकरणीभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषण-
विशेष्यभावव्यस्थितपदाभिधेयः, उतान्यदेव?। तत्र न
प्रथमः । तुहिनमयूखे प्रियमुखे च न दूषणकणस्यापि
सम्भव इति प्रत्ययस्यापि दर्शनात् । * ^dतत्र मुख-
चन्द्रयोरन्योन्याभावोऽस्ति? *-इ^(१)ति चेन्न,

टी० सामानाधिकरव्यं विकल्पयति-। “किमि”ति ।
तुल्य आश्रयो यस्याभावस्य सोऽन्योन्याभाव इत्यर्थः । अपदार्थ-
नपि तात्पर्यगतिमालम्ब्य विकल्पयति-। ^b“तादात्म्ये”ति ।
शाब्दं सामानाधिकरव्यमनिश्रेत्याह-। “अधिकरणीभूते”ति ।
अधिकरणवाचिना शब्देन घटादिशब्देन विशेषणविशेष्यभाव-
व्यवस्थितं यकज्ज्दं तदभिधेयो योऽभावः सोऽन्योन्याभाव
इत्यर्थः । तुहिनेति भवति घटः घटो न भवतीति घटान्योन्या-

(१) अत्र अपि घटोऽऽद्याहर्तव्यः । लक्ष्यीभूत इति च शेषः ।

भाववान् घट इत्यर्थः । लुहिनमयूखप्रियामुखे^(१) तुल्ये दूषणकणा-
त्यन्ताभावस्याप्यधिकरणे इति तत्रानिठयाप्तिरित्यर्थः । यदि
तत्रान्योन्याभावो न भवेत्तदातिठयाप्तिर्न त्वेवमित्याह । “तत्रे”
ति । परिहरति-नेति । तत्प्रत्ययस्य यो विषयः सोऽन्योन्या-
भाव इति लक्षणं तत्प्रत्ययविषये मुख्यचन्द्रवर्तिकलङ्करीपात्य-
न्ताभावेऽपि गतमित्यतिठयाप्तिरेवेत्यर्थः । यद्वा ननु यत्रायं
प्रत्ययस्तत्र शीतभयखयोरन्योन्याभावोऽस्तीति^(२) नातिठयाप्ति-
रित्याह-। “तत्रे”ति ॥

म० “तस्य^(३) सत्त्वेऽप्युक्तप्रत्ययस्य तदविषयत्वात् *मास्तु
तद्विषयः लक्षणं त्वस्यैत^(४) तच्च तदविषयत्वेऽपि न
दुष्टम् ? -इति चेन्न, कीदृशं तद्धीदं लक्षणम् । ‘न
तावत्समानाधिकरणो यो निषेधः तत्प्रत्ययो यस्तस्य
यो विषयः सोऽन्योन्याभाव इति । नापि ‘स स्वा-
न्योन्याभाव इति । नापि यत्र सामानाधिकरणो
भेदप्रत्ययस्तत्र योऽस्ति सोऽन्योन्याभाव इत्य^(५)
स्तु । /तद्धर्मस्य सर्वस्यान्योन्याभावत्वापातात् ॥

टी० ॥ “तस्ये”ति । एतत्प्रत्ययप्रतीयमानत्व तत्र नास्ती-
त्यर्थः ॥ ननु लक्ष्यलक्षणयोर्विषयविषयिभाषमन्तरेणापि ठयावत्तं
कत्वसम्भव इत्याह-। “मास्तित्व”ति ॥ “न तावद्दि”ति ।
प्रियामुखशीतभययूखयोर्षो दूषणकणात्यन्ताभावस्तत्रानिठयाप्ते-
रित्यर्थः-। “स एवे”ति । सामानाधिकरणप्रत्यय एवेत्यर्थः ।
प्रत्ययस्यान्योन्याभावे लक्ष्ये वृत्त्यभावेन^(६) लक्षणत्वानुपपत्तेरि-
त्यर्थः । यद्वा सामानाधिकरणनिषेधप्रत्ययविषय एवेत्यर्थः । संस-

(१) प्रथमाविभक्तिद्विवचनमेतत् । (२) यत्र दूषणकणाऽत्यन्ताभा-
वोऽपि लक्ष्यभूतोऽस्तीति नातिठयाप्तिरित्यर्थः । (३) तस्य-नद्वयोभूता-
ऽन्योन्याभावस्य । उक्तप्रत्ययस्य = दूषणकणात्यन्ताभावप्रत्ययस्य । (४)
अन्योन्याभावस्यैव चैतल्लक्षणमित्यर्थः । (५) ‘अस्तित्वतो’त्यन्वयः ।
(६) लक्ष्ये वृत्तित्वाभावस्तदात्मवृत्तित्वात्तस्य ज्ञातव्यः

नाभावस्तु उपधिकारकनिषेधप्रत्ययत्रिषयोऽतीत्यर्थः । समानाधिकारक(१)पदार्थविकल्पानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ “नापी”ति । समानाधिकारकनिषेधप्रत्ययसमानाधिकारणेऽज्ञावोऽन्योन्याभाव इत्यपि नैत्यर्थः ॥ / “तद्गर्भे”ति । चट्टाद्यन्योन्याभावाधिकारकानां पटादीनां ये धर्मास्तेऽत्रतिठयाप्तिरित्यर्थः । आरम्भे च ये धर्माः प्रत्ययसमानाधिकारणास्तत्रातिठयाप्तिरिति वार्थः, प्रत्ययत्वोदात्तातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥

स० “समानाधिकारणपदवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेनैकमुदाहरणमादाय द्वितीयोऽपि निरस्तः । नापि तृतीयः । तादात्म्यप्रतिमन्धानव्यतिरेकेण तत्प्रतियोगित्वस्य प्रत्येतुमशक्यतया तन्निर्वचनप्रसङ्गात् । तच्च शक्यम् । तथा हि- “तदेकत्वं वा भेदाभावो वा स्वरूपत्वसम्भावितम् । तस्य भेदत्वोपगमात् । तस्मिन् दृष्टेऽपि तन्न वेति तादात्म्यसंशयानवकाशापत्तेः । आद्योऽपि सङ्ख्याविशेषो वा धर्मान्तरं वा ? ॥

टी०॥ एवं सत्यतयताभावाद्यच्छेदे तदर्थादीयमानसमानाधिकारणपदवैयर्थ्यनित्याह- । “समानाधिकारणे”ति । उतैकाग्र्य इति पक्षं दूषयति- । “एतेने”ति । प्रियामुखशीतमयूखो द्वाबुदाहृतौ यो तयोरेकमुदाहरणं प्रियामुखं शीतमयूखो वा तदादायेत्यर्थः । तथा च प्रियामुखे दूषकयो नास्तीत्यत्यन्ताभावेऽतिठयाप्तिरित्यर्थः । उत तादात्म्यप्रतियोगिक इति विकल्पितं पक्षं दूषयति- । “नापी”ति । यद्यपि समानाधिकारणपदस्य नाप्यर्थः सम्भवति तथापि परविकल्पान्नात्रेण विकल्पः तादात्म्यस्य दुर्बलतया तत्प्रतियोगित्वं दुर्निरूपमित्यर्थः ॥ “तद्”ति । तादात्म्यनित्यर्थः ॥ “स्वरूपत्वं”ति । परेऽस्वरूपस्य भेदसंभ्युपगम्यते तेन तादात्म्यत्वेन सम्भवदपि न तद्विकल्पितमित्यर्थः । तादात्म्यं न स्वरूपमित्यत्रोपपत्त्यन्तरमाह- । / “त-

(१) निति प्रतिज्ञायां हेतुमाह-उच्यतेति ।

स्मिन्नि"ति । स्वरूपे दूष्टे तादात्म्ये संग्रयो न स्याद्यदि स्वरूप-
पनेव तादात्म्यं स्यादित्यर्थः ॥ १० "भाद्ये" इति । एकारं स्वरूपं
तत्रेत्यर्थः ।

सू० नाद्यः । गुणादौ तदभावप्रसङ्गात् । ^१प्रथमज्ञाने कार्य-
^२द्रव्यस्यैकस्यापि स्वातादात्म्यप्रसङ्गात् ^३वैशेषिक-
मतव्युत्थाने चै 'कत्वे तदभावप्रसङ्गात् । उपाधिभि-
न्नावलम्बि च तादात्म्यं कथं स्वरूपमात्रावलम्बिनै-
कीकृतुं शक्यम् । ^४विचित्रप्रतिपत्तिकत्वात् ॥

टी० ॥ ^५"गुणादावि"ति । गुणे गुणस्य सङ्ख्यायास्त्वया-
नन्युपनमादित्यर्थः ॥ ^६"प्रथमे"ति । ज्ञानगुणो भाव इति
त्वया स्वीकारात् प्रथमज्ञानं सङ्ख्यायास्तत्राभावात् ॥ ^७"द्रव्यस्ये"ति
तादात्म्यं न स्यादित्यर्थः । ननु वैशेषिकस्य प्रक्रियेयं यद्गुणे
गुणो न वर्तते क्षणगुणो भावइति न त्वस्माकं पीति नोक्त-
दोष इत्यत आह— ^८"वैशेषिके"ति । व्युत्थानं विप्रतिपत्तिः ॥
^९"एकत्वे" इति । आत्मात्रयत्नयेनैकत्वे त्वयैकत्वं नामुपेय-
मिति तत्र तादात्म्यं न स्यादित्यर्थः ॥ ननु तदेकत्वं यदि तत्र
वर्तते तदात्मात्रयः सजातीयैकत्वप्रवाहाङ्गीकारे चानवस्था किन्तु
भिन्नाभिन्नोपाधिघटितमेकत्वं तदेकत्वेषु वर्ततां तदेव च तेषां
तादात्म्यमिति नोक्तदोष इत्यत आह— ^{१०}"उपाधी"ति । ताव-
तामुपाधीनामेकपदेनोपसङ्ग्रहीतुमशक्यानामसङ्ग्रहे लक्षण-
मिदं तादात्म्यस्य दुरुपपादनमेव स्यादित्यर्थः ॥ ननु तेऽप्युपाधय
एकत्वपदेनैवोच्यतां को दोष इत्यत आह— ^{११}"विचित्रे"ति ।
एकप्रकारिकया हि प्रतिपत्त्या ये विषयीक्रियन्ते घटादयस्ते
घटादिपदेन सङ्गृहीतुं शक्यन्ते प्रकृते च तदभाव इत्यर्थः ॥

सू० "नापि द्वितीयः । तस्यापि धर्मान्तरापेक्षयानवस्था-
नात् । अनपेक्षयां स्वातादात्म्यप्रसङ्गात् । ^{१२}नापि
द्वितीयः । सहि भेदस्याभावो भवन्नप्यन्योन्याभा-
वस्यैव स्यादन्योन्याभावस्य तत्प्रतिक्षेपात्मकत्वात् ।

तेनाप्यन्योन्याभावप्रतिक्षेपात्मना भवितव्यं परस्पर-
प्रतिक्षेवात्मकत्वात् निषेधनिषेधयोः तथाच सत्य-
न्योन्याभावप्रतीतिमन्तरेण तन्निरूपणमशक्यं निषे-
धप्रतीतिसापेक्षत्वाद्भिषेधबुद्धेरित्यन्योन्याश्रयः ।
नापि तुरीयः । "निर्घटं भूतलमित्यत्रापि प्रसङ्गात् ।
नापि पञ्चमः ॥

टी० ॥ धर्मान्तरं वेति पक्षं दूषयति-। "नापी"ति ।
यदुर्मान्तरमेकत्वं घटतादात्म्यं तत्र यदि धर्मान्तरमभ्युपगम्यते
नदानवस्था यदि न तत्र धर्मान्तरं तदा तत्र स्वतादात्म्यमेव
न स्यादित्यर्थः । मूलविकल्पे भेदाभावे वेति पक्षं दूषयति-।
"नापी"ति । तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावस्तादात्म्यं च भेदा-
भाव इत्यन्योन्याभावाभावरपर्यवसन्न^(१) एवेत्यन्योन्याभावेनैव
तन्निरूपणमित्यात्माश्रयस्तादात्म्यमान्तरालिकं विवक्षित्वा-
न्योन्याश्रय इत्याह । "स ही"ति । उनाधिकरणीभूतपदार्थ-
वाचिशब्दविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेय इति विकल्पं दूष-
यति-। "नापी"ति । "निर्घटमि"ति । अत्रापि निर्घटभूत-
लयाविशेषणविशेष्यवाचिनी पदे निर्घटभूतलपदे विशेषणवि-
शेष्यभावापत्ते एव तद्वाच्यत्वं दुर्वागमिति संसर्गाभावेऽतिव्या-
प्तिरित्यर्थः । अन्यदेवेति पक्षं हि दूषयति-। "नापि पञ्चम"इति॥
म० "समानाधिकरण इति प्रतियोगिसमानाधिकरणयो
विवक्षितः तादृशश्च निषेधोऽन्योन्याभावः तत्प्रत्य-
यश्च तल्लक्षणमित्यस्याप्युक्तत्वात् भावासमाना-
धिकरणस्यान्योन्याभावस्य कुम्भः पटत्वं न भवती-
त्यादेरुच्यपानात् । तज्जातीयतथात्वं च यं विवे-
षमन्योन्याभावे गतमादाय स्यात् तदेव लक्षणी-

(१) भेदाभाव इति शेषः । तथाचान्योन्याभावापेक्षावातात्मत्वः ।

भवनसमर्थ^(१)मुपजीव्यमानस्य लक्षणस्योपन्या-
सं प्रत्यादिशति । नच तदपि सम्भवति, अन्योन्या-
भावसंसर्गाभावभेदखण्डनप्रस्तावे निरस्तात् । प्रका-
रान्तरस्य चासम्भवात् ॥

टी० ॥ यद्यपि समानाधिकरणपदार्थविकल्पे^(१)तद्विशिष्य
तदनिरुक्तः पञ्चमविकल्पपर्यवसानं तथापि तदादायैक^(२)दूष-
यति-। “समानाधिकरण”इति । पटत्वस्यान्योन्याभावप्रति-
योगिनः कुम्भावृत्तित्वात् समानाधिकरण्याभावाद्वाव्याप्तिरि-
त्यर्थः ॥ ननु यद्यप्यन्योन्याभावो न प्रतियोगिसमानाधिक-
रणस्तथाप्यन्योन्याभावजातीयं किञ्चित्तथा भवत्येव । यथा
भूतलं घटो न भवतीत्यादि । तथाच कथमव्याप्तिरित्यत आह-
“तज्जातीयतथात्वं चे”ति । अन्योन्याभावजातीयत्वमेकमुप-
ग्राहमन्तरेण दुर्निरूपमित्यर्थः ॥ ननु तादात्म्यावच्छिन्नप्रतिया-
गिकाभावत्वादिनैकजातयं स्यादित्यत आह । “अन्योन्या-
भावे”ति ।

मू०*नच पटः पटत्वं न भवतीत्ययमेवाऽभावः घटः पटत्वं
न भवतीत्येक एव एवं प्रतियोग्यैक्येन मयाऽत्रा-
भ्युपगमादिति क्वचित्प्रतियोगिसमानदेशत्वाल्लक्ष-
णसिद्धिरिति* वाच्यम् । तथापि प्रतियोग्यैक्येन तद-
त्यन्ताभावैक्यापत्तेः तादात्म्यवत्संयोगस्यापि द्वि-
सृत्वाविशेषादतिव्याप्तेः कालभेदेन च प्रागभावा-
देरपि प्रतियोगिसमानाधिकरणतयाऽतिव्याप्तेः ॥

टी० ॥ ननु य एव पटे पटत्वान्योन्याभावःप्रतियोगिस-
मानाधिकरणः स एवेतरस्मिन्नपि पटत्वान्योन्याभाव इति
कथं लक्षणमव्यापक मित्याशङ्क्य निराकरोति-। “नचे”ति ।

(१) नदेव लक्षणोभवनसमर्थं प्रत्यादिशतीत्यन्वयः । (२) उतान्य-
देवेत्यस्मिन्नविकल्पे इत्यर्थः । (३) तद्=विशेषकपम् ।

यद्यपि प्रतियोगिकत्वाद्दृष्टपटनिष्ठयोः पटत्वान्बोध्यमानावयो-
रभेदस्तदा घटसंसर्गाभावान्योन्याभावायोरप्यभेद एव स्यादि-
त्यर्थः । नन्वन्योन्याभावे घटपटतादात्म्यं द्विहो धर्मः प्रति-
योगी तद्वच्छेदको वा न त्वेवं संसर्गाभावे इति तयोर्भेद
इत्यत आह-। ^b “तादात्म्यवदि”ति । संयोगस्य संसर्गस्ये-
त्यर्थः । तत्रापि^(१) संसर्गस्तथेति भावः । यद्वा न्योन्याभावे द्वयं
प्रतियोगि संसर्गाभावे तु न तथेति वैषम्यमित्यत आह-।
^c “तादात्म्यवदि”ति । तत्रापि संसर्गावच्छेदकतया द्वयं
प्रतियोगीति भावः । प्रतियोगिसमानाधिकरत्वे सयोगात्य-
न्ताभावेऽतिव्याप्तपरोऽयं ग्रन्थः कालभेदेन प्रतियोगिसमा-
नाधिकरत्वं प्रागभावप्रध्वंसयोरतिव्यापकमित्याह-। “काल-
भेदेने”ति ॥

सू० ^a कालैक्येन विशेषणे च तदन्तोन्वयतिरेकाऽऽव्या-
प्तेरिति । यदपि धर्मान्तरस्य लक्षणमवादि वैध-
र्म्यस्य विरोधः स चैकधर्म्यसमावेश इति तदप्यु-
द्धान्तमनसो भाषितम् । ^b तथाहि प्रमाणप्रमेययो-
र्भेदोऽस्ति न वा !। ^c न चे ^d तदभिधानस्य पर्याय-
त्वप्रसङ्गः किम्प्रमाणा बुद्धिरित्युक्ते बुद्धेर्विष-
येणोत्तरप्रसङ्गश्च । ^f नापि प्रथमः । स हि ^g न ताव-
त् स्वरूपलक्षणः । तुलादिद्रव्यस्यैकस्याप्युभयभावद-
र्शनात् ॥

टी० ॥ प्रतियोगिसमानकालीनत्वे विशेषणे कालान्यो-
न्याभावाव्याप्तिरित्याह-। ^a “कालैक्येने”ति । न हि कालस-
मानकालीनः कालस्यान्योन्याभावः । काले कालानावादित्यर्थः ।
प्रमाणत्वप्रमेयत्वयोरैकधर्म्यसमावेशयोःपि वैधर्म्यं त्वया वा-
च्यमिति तल्लक्षणं तत्राऽऽव्यापकमिति^(१) आह-। ^b “तथा
ही”ति ॥ ननु तयोर्न वैधर्म्यं तत्कुतोऽऽव्याप्तिरित्याशङ्कते-।

(१) तत्रापि = संसर्गाभावेऽपि ।

(२) यद्यथास्तमेव दृश्यितुमत एवाहेत्यर्थः ।

० "नचे"ति । तर्हि प्रमाणप्रमेयपदयोः पर्यायत्वमित्याह—
 d "तदभिधानश्चे"ति । पर्यायत्वे दोषान्तरमाह— ० "किं प्र-
 माणिके"ति । प्रमाणप्रमेयेषोत्तरं स्यादित्यर्थः । f "नापि
 प्रयत्न"इति । प्रमाणप्रमेययोर्भेदपक्षोऽपि न घटत इत्यर्थः ।
 भेदप्रयेऽप्यनुपपत्तिमाह— १ "न तावदि"ति । स्वरूपभेदे
 यदेव प्रमाणं तत्प्रमेयं न स्यादित्यर्थः ॥

सू० ० अत एव नान्योन्याभावोऽपि । धर्मान्तरं तु तयो-
 र्भेदः परिशिष्यते यतोऽन्येन रूपेण तत्प्रमाणम-
 न्येन च तदेव प्रमेयमित्युच्यते । तथा च सत्येकध-
 र्म्यसमावेशो लक्षणव्यापकं ^b सोऽयं "प्रमेया च
 तुलाप्रामाण्यवदि"ति पारमर्षमपि परामर्शं व्यस्मा-
 र्शीदित्यास्तां विस्तरः * ० ननु भेदप्रतिपत्तेस्ता-
 वत् प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणं वक्तव्यं
 तत्र यस्येन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतीतिहेतोर्द्वितीय-
 स्वंबन्धी ^d स एव भेदोऽस्तु, न उक्तवाधकैर्बाधि-
 तायाः प्रतीतिरर्थेन्द्रियसन्निकर्षकारणत्वाभावा-
 दिति । किञ्च तत्कारणत्वमेव ^f पूर्वभावित्वम् ? *—
 इति चेन्न । चिरा ^g नन्वयध्वस्तानामपि कारणत्व-
 स्मि *—इति चेन्न ।

टी० ॥ स्वरूपभेदाभावेऽन्योन्याभावोऽपि न स्यादित्या-
 ह— ० "अत एवेति । नैयायिकमुपहसति— १ "सोयमि"
 ति । द्वितीयाध्याये प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवदिति सूत्रं तदु-
 मयनिमित्तसमावेशोपदर्शकं त्वया त्रिसृत्तमित्यर्थः । कारणता-
 सबहमावतारं सङ्गमपितुं पीठकमारभयति— ० "नन्वि"ति ।
 भेदसाक्षात्कारविषय एवेत्यर्थः । तथा च नान्योन्याभावादिवि-
 कल्पपावकाश्च इति ज्ञावः ॥ ० "उक्ते"ति । तत्प्रतीतिविषयस-
 बहममेव बहुशः कृतमिति न प्रतीतिरर्थत्रन्येत्यर्थः । अर्थकार-
 णत्वाभावादिति बहुव्रीहिः ॥ f "पूर्वभावित्वमि"ति । पूर्ववर्ति-

त्वमित्यर्थः । चिरकवस्तस्य यागादेः कारणत्वमिष्टमेवेति विशि-
नहि-। १ "जनस्ये"ति । यागादेरन्वयोऽपूर्वादिर्थाकारः ॥
h "कठयवहिते"ति । चिरध्वस्तानां व्यवहितत्वाकारातिव्या-
प्तिरिति भावः ॥

सू० ^a ठयापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात् * ^b ठयापारेण
न व्यवधानम् ? *--इति चेन्न, ^c कारणकारणस्यापि
कारणत्वप्रसङ्गात् ^d * कारणस्यातद्व्यापारत्वान्नै-
वम् ? *--इति चेन्न, ^e विना विशेषोक्तिं तस्य
दुर्विवेकत्वात् * ^f यद्विना यद्यन्न जनयति तत्तस्य
तत्रावान्तरठयापारः ? *--इति चेन्न, ^g सहकारि-
णामप्यवान्तरठयापारत्वप्रसङ्गात् ^h * अन्यम् ?
*--इति चेन्न, ⁱ तथापि कारणत्वाव्यवस्थितौ वि-
शेषोक्तेरश(')क्तः ॥

टी० ॥ ^a "ठयापारस्यैवे"ति । ननु यागादेर्योपारिषो-
पीत्यर्थः ॥ ^b "ठयापारेणे"ति । स्वाङ्गन (२) प्यव्यवधायक-
निति न्यायादिनि भावः ॥ ^c "कारणे"ति । अन्यथासि-
द्दस्यापि कुलालपित्रादेरित्यर्थः । कुलालः कुलालपितुर्न ठयापार
इति न तत्पितुः कारणत्वमित्याह-। ^d "कारणस्ये"ति । कार-
णकारणस्य कारणं ठयापारो न भवति यागादेस्तु कारणमेवा-
पूर्वं ठयापार इत्यत्र नियामकं नास्तीत्याह-। ^e "विने"ति ।
ठयापारस्य दुर्विवेकत्वादित्यर्थः । ठयापारविशेषायाह-। ^f "य-
द्विने"ति । कुलालस्तु पुत्रमन्तरेणापि जनयति ननु यागोऽपूर्व-
मित्यर्थः ॥ ^g "सहकारिणामिति । नहि चकं विना द्यदो
घटं जनयतीत्यर्थः ॥ ^h "जन्यनिति । तज्जन्यत्वे इति तज्जन्य-
जनकमित्यर्थः । तज्जन्यत्वं तत्कारणकमित्यात्मान्त्रय इत्याह-।
; "तथापी"ति ॥

(१) अतिप्रसक्तैरित्यपि क्वाचित्कः पाठः ।

(२) एवं यागस्तमङ्गमपूर्वम् ।

सू० ° कथमपि वा विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्य-
हेतुत्वप्रसङ्गात् * ° अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वम् ?
*--इति चेन्न । वक्तव्यं हि ° कस्मादन्येन प्रका-
रेण विनाका च सिद्धिरिति । यदि ° कार्यादन्येन प्र-
कारेण न निष्पत्तिस्तदाऽसिद्धत्वम् । नहि कार्येण
कारणस्योत्पादनं ° नापि कार्यादन्येन प्रकारेण
न ज्ञप्तिः प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः । न खलु
सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः । ° नापि कार-
णत्वाद्द्वयतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिः (१) ज्ञ-
प्तिर्वा । ° ज्ञप्तावात्माश्रयात् । अन्यथापि ॥

टी० ॥ ननु तज्जन्मत्वं तदुत्पाद्यत्वं न तु तत्कारणक-
त्वमिति नात्माश्रय इत्यत आह- । ° "कथमपी"ति । अठ्य-
वहितपूर्वभावित्वं सर्वकार्योपेक्षया गगनस्येति तत्रातिव्याप्ति-
रित्यर्थः ॥ ननु शब्दं प्रति कारणत्वे गृहीते कार्यान्तरं प्रत्या-
काशस्य पूर्ववर्ति त्वं गृह्यते इति तत्र तदन्यथासिद्धत्वात्कार-
णमित्याह- । ° "अनन्ये"ति । अन्यत्वस्य नप्रतियोगिकत्व-
नियमात् सिद्धेश्चोत्पत्तिज्ञप्तिसाधारणत्वात् ° चोऽयं पृच्छ-
ति- । ° "कस्मादि"ति । सन्नहितत्वेन कार्यपि दम्बत्वप्रति-
योगितया शङ्कते- । ° "कार्यादि"ति । ननु . . . कारणं न
जन्मते यद्यपि तथापि ज्ञाप्यते इति कार्यार्थं न ज्ञप्तिः स्या-
देवानन्वयानिदुं कारणमित्यत आह- । ° "नापी"ति । न हि
नियमतः कार्यादेव कारणज्ञप्तिरित्यर्थः । कारणत्वमेवाभ्य-
रक्षप्रतियोगीति शङ्कते- । ° "नापी"ति । कारणत्वेनैव कार-
णत्वज्ञप्तावात्माश्रयमाह- । ° "ज्ञप्तावि"ति । दण्डत्वादिनापि
कारणस्य दण्डादेर्ज्ञप्तिरित्याह- "अन्यथापी"ति ॥

सू० तदुपगमात् * "व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वमिष्टम् ? *
-इति चेन्न, । उक्तदोषानिवृत्तेः । "कारणत्वात्पूर्वमु-
त्पत्तिश्चाप्त्योरक्षयिकवादिभिरभ्युपगमात् * ^dअध्य-
वहितपूर्वतया कदाचित्तदपि कारणमेव तत्पूर्वतर-
मपि (१) कस्याश्चिद्दृश्यत्त्वेनेवम्भावेऽपि तज्जातीय-
यतया तथाभाषित्वविवक्षिततया व्यक्तित्वमिष्टारा-
प्रयोजकत्वात् ! *-इति चेन्न,

टी० ॥ तदुपगमात् चाप्त्युपगमात् । "व्यतिरिक्तत्वमि"-
ति । अनन्यथासिद्धमित्यकारणत्वव्यतिरेकेण सिद्धमित्यर्थः ॥
^b"उक्तेति । अकारणत्वव्यतिरेकेणेति । कारणत्वेनेत्यर्थपर्यवसाने
पुनरात्माश्रयादित्यर्थः ॥ ^c"कारणत्वादि"ति । पूर्वक्षणमात्रनि-
यतं हि कारणत्वं स्वैर्यपक्षे तत्पूर्वं नास्तीति तदाऽकारणव्यति-
रेकेण सिद्धिरनुपपत्तेत्यर्थः । ननु कार्योत्पत्त्यव्यवहितपूर्वपक्षवृत्त-
तामात्रे स्थिरमपि कारणमेव पूर्वमिति तदाऽप्यकारणत्वव्यति-
रेकेणैव तत्सिद्धिर्या च कारणव्यक्तिरुत्पत्तिविनष्टकार्योत्पत्ति-
पूर्वक्षणे सती न भवत्येव तत्रापि तादृशव्यक्तिजातीयत्वेनैव
कारणत्वमिति न व्यभिचारीऽपीति शङ्कते- । ^d"अध्यवहिते"ति ।
तत्पूर्वतरमपि कारणमेव कदाचिदव्यवहितपूर्वक्षणवर्ति तथेत्य-
न्वयः ॥

सू० "कार्यान्तरेऽपि गगनादेरतथाभावस्य विनिगन्तुमश-
त्वात् ^b*कालदेशव्यापकतया अन्यथासिद्धस्थितिः !
*-इति चेन्न । ^cतथा सति शब्दादौ गगनादेरकार-
णत्वप्रसङ्गात् । ^dएतेनानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानु-
विधायित्वमपि निरस्तम् । "गगनादेर्व्यतिरेकाभावा-
दकारणत्वप्रसङ्गश्चाधिकः * /व्यापारवत्त्वं कारण-
त्वम् ? *-इति चेन्न । तद्धि व्यापारसमवायित्वं

(१) तत्पूर्वतरमपि कारणमेव कदाचिदव्यवहितपूर्वतयेत्यन्वयः ।

ठ्यापारजनकत्वं वा ?। नाद्यः १यागादेरकारकत्वप्र-
सङ्गात् । नोत्तरः । ^aतस्यैव निरूप्यमाणात्वात् ॥

टी० ॥ ^a“कार्यान्तरेऽपी”ति । शब्दादन्यतोऽपि घटादावि-
त्यर्थः । अतथाभावस्य । अकारकत्वस्येत्यर्थः । गगनादेः स्वकार्याद-
न्यथाऽप्यवहितपूर्वसतया कारकत्वं दुर्वारमिति भावः ॥ ननु
गगनादीनां घटादिपूर्वसत्त्वे सत्त्वं व्यापकत्वमित्यतः प्रयुक्तमिति
नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते-। ^b“कालदेशे”ति । एवं सति स्वका-
र्यमपि प्रति तत्कारणं न स्यादुक्तप्रकारेणान्यथासिद्धत्वादिति
परिहरति-। ^c“तथा सती”ति ॥ ^d“एतेने”ति । अनन्यथासि-
द्धत्वस्यवहनेनेत्यर्थः । अतिदिष्टाद्दोषान्तरमाह-। “गगनादे-
रिति । नित्यत्वव्यापकत्वाभ्यां देशतः कालतो वा व्यतिरेका-
भावात् स्वकार्यमपि प्रति गगनादेः कारणत्वं न स्यादित्यर्थः ॥
लक्षणान्तरं शङ्कते-। ^e“ठ्यापारत्वमिति”ति ॥ ^f“यागादेरिति”ति ।
यागस्य चेच्छाविशेषरूपा^(१)पूर्वरूपठ्यापारसमवायित्वप्रसङ्ग
इत्यर्थः ॥ ^g“तस्यैवे”ति । अनकस्यैवेत्यर्थः ॥

सू० “नित्यसत्त्वात्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वम् ? *-
इति चेन्न, ^bनिवारकपदावयवस्य प्रत्ययस्य कारण-
निर्वचनं विनाऽनिरूप्यमाणार्थत्वात् । “अन्यतरत्वस्य
चैकस्य निरुक्त्यशक्तेः *^dयदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वं
सत्त्वप्रसङ्गः, तत्तस्य कारणं तद्भवश्च कारणत्वम् ?*-
इति चेन्न । भावस्य विनाशित्वानभ्युपगमे तथा
प्रसङ्गेनातिव्यापकत्वात् ॥

टी० ॥ कार्यस्य नित्यसत्त्वं नित्यावयवं वा प्रसङ्गमान
येन निवार्यते तत्कारणमिति । शङ्कते-। ^a“नित्ये”ति । नि-
वारकं हि निवृत्तिजनकं तच्चाद्याप्यनिरूपितं तेनैव तन्निरूपणे
आत्मनाश्रय इति परिहरति-। ^b“निवारके”ति । अवयवस्यैक-
देशस्य करणाधिकरणयोश्चेति विधीयमानस्य क्युट्प्रत्य-

(१) यागस्य हि देवतोद्देशकत्वस्यनित्यत्वंसबह्प्रसङ्गविशेषकोऽन्वयः

यस्येत्यर्थः । अन्यतरत्वं यद्यनिर्होरितैकत्वं तदा ऽनिर्होरणगमै
लक्षणमसिद्धम् । अथ तदुक्तयान्योन्यत्वं तदान्योन्याभावसद्वहेनेन
तद्गर्भलक्षणसद्वहेनेन वा गतार्थमित्याह— । “अन्यतरत्वंस्ये”ति ।
४ “वदनभ्युपगमे”इति । कारखानभ्युपगमे हि कार्यस्य स्वो-
त्पत्तिकालात् पूर्वं सत्त्वं प्रसज्येतेत्यर्थः । यद्यप्यसत्त्वनपि प्रसज्यने
तेषु नियमाभावात् पूर्वंसत्त्वप्रसङ्गो न भवति तथापि यदि
सदिदं सकारणकं न स्यात्तदा पूर्वं सत्त्वं स्यादिति प्रसङ्गो
द्रष्टव्यः । यदि भावो विनाशी न स्यात्तदा (१) पूर्वं सत्त्वा-
दिति तद्विनाशोऽपि तदापादकत्वात्कारणं स्यादिति परिह-
रति— । “भावस्ये”ति । विनाशित्वानभ्युपगमेन पूर्वंसत्त्वमा-
पादयितुं न शक्यते ष्वंशे ष्यभिचारादत उक्तम्— । “भाव-
स्ये”ति ॥

मू० “तत्पूर्वस्थितत्वेन च विशेषणे सहभावनियतस्या-
भावेऽपि प्रसङ्गः १ तथात्वोपगमेतत्सामग्र्यामपि
प्रसङ्गः २ तस्या अपि तथात्वोपगमे कार्यद्वयैक्यप्रसङ्गः
३ असाधारण्यं च ३

ट० ॥ ननु पूर्ववर्तिनो यस्यानभ्युपगमः पूर्वंसत्त्वमापा-
दयति तत्कारणम् । ष्वंसत्तु कार्यपूर्ववर्ती न भवतीति न तत्र
कारणत्वप्रसङ्ग इत्यत आह— । “ तत्पूर्वस्थितत्वेने”ति । एवं
सति कार्यपूर्वसत्त्वे सति कार्यपूर्वसत्त्वापादकानभ्युपगममविष-
यत्वं कारणत्वमित्युक्तं स्यात् । तथाच पाकस्थले यदि रूपप्राग-
भावे न स्यात्तदा रसोऽपि पूर्ववर्ती स्यादिति रसपूर्वसत्त्वापा-
दकरूपप्रागभावानभ्युपगममविषयरूपप्रागभावस्यापि रसकार-
णत्वं स्यादित्यर्थः ॥ ननु रसे रूपप्रागभावः कारणं भवतु को
दोष इत्यत आह— । ४ “तथात्वोपगम”इति । एवं सत्सुक्तभ्या-
येन रसं प्रति रूपसामग्र्या अपि कारणत्वं स्यादित्यर्थः ॥
ननु रसे रूपसामग्री पाकस्थले तु कारणमित्यत आह— ।
“तस्या जपी”ति । एवं सत्यनिकसानग्रीकत्वे रूपरसबोर-

भेदापत्तिः सामग्रीभेदस्यैव कार्यभेदप्रयोजकत्वात्तदभेदे षोडश
न स्यादित्यर्थः । यदनभ्युपगम इत्यादिलक्षणे दोषान्तरमाह-
। "असाधारण्यं चे"ति । यत्पदार्थाननुगमे नानुगम इत्यर्थः ॥

मू) "विशेषापेक्षित्वेऽतिव्याप्ति रविशेषे भाविपूर्वा-
र्यविकल्पावकाशश्च * "नियतप्राग्भाषित्वम् ? *--
इति चेन्न । ^d अवश्यम्भावस्य नियमार्थत्वे गगनादेः
सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वादवयवरूपादे-
श्चावयवितद्रथादिषु कारणत्वप्रसङ्गात् । 'अनीपा-
धिकत्वं नियमार्थ इति चे' देवं ह्यनीपाधिकः
पूर्वभावो हेतुत्वमित्युक्तं भवति । तथा च पिपीलि-
कोत्थानादेवृष्ट्यादौ जनकत्वप्रसङ्गः ॥

टी० ॥ ननु यदनभ्युपगमे घटपूर्वसत्ताप्रसङ्गस्तद्वृत्तकार-
णमिति लक्षणमप्यननुगतमेवेत्यत आह- । "विशेषापेक्षित्वे"
इति । लक्षणस्य विशेषमात्रपरत्वे इत्यर्थः । एवं नति रूपपूर्व-
सत्तापादकानभ्युपगमविषयत्वं घटरूपकारणत्वं रसकारणोऽपि
तत्र गतमित्यतिव्याप्तिः, घटस्योभयकारणस्योभयत्राविशेषाद्वा
शेवलक्षणस्यैव त्वानिमेतत्वादिति भावः ॥ ननु पूर्वसत्तापा-
दकानभ्युपगमविषयत्वं कारणत्वं सामान्यत एव विवक्षितं
तथा च नाननुगमी न वाऽतिव्याप्तिरित्यत आह- । "वि-
शेषे"इति । सामान्याविवक्षा चेत्तदा भावी वक्ष्यमाणो यः
पूर्वपदार्थविकल्पः तस्यावकाशः, तथा च लक्षणस्य^(१) पूर्वपदा-
र्थानिहतया लक्षणं दुर्यहनिति भावः । लक्षणान्तरं शङ्कते-
। "नियते"ति । नियमः पूर्ववर्तितामात्रं वा कार्येण सहावि-
नाभावो वा । आद्यं दूषयति- । ^d "अवश्यम्भावस्ये"ति ।
"अनीपाधिकत्वमिति"ति ॥ ^f "एवमिति । पिपीलिकाज्वह-
सञ्चारस्य वृत्तानुमापकतयाऽनीपाधिकसंज्ञन्त्याभ्युपगमा-
दित्यर्थः ॥

सू० "सहभाविसामग्र्या वा न प्राधि पूर्वभावो नियतः,
किन्तु वृष्टेः परं भाव ? *-इति चेन्न, "प्राग्रपाशा-
मेव नियतत्वात् * 'तानि कारणमेव ?*-इति चेन्न ।
निदानप्राग्रपक्षाङ्गप्रसङ्गात् पूर्वार्थश्च वक्तव्यः *
पूर्वकालसंबन्धित्वं पूर्वत्वम् ? *-इति चेन्न, "का-
लस्याहेतुत्वप्रसङ्गात् 'तस्यापि किं पूर्वत्वमिति च
विवेचनीयत्वात् ॥

टी० ॥ "सहभावी"ति । रूपसहभाविनो रवस्य वा
सामग्री साऽपि रूपकारकं स्यात् अनौपाधिकत्वादित्यर्थः ॥ ४ "न
प्राची"ति । प्राधि प्राक्कालवर्तिनि पिपीलिकावृक्षद्वारे चरः
भावनिश्चयो नास्ति । न हि यत्र वृष्टिस्तत्र चरं होऽस्त्येषापि तु त-
दन्तरं वृष्टिभवत्येवेत्यानन्तर्यनिश्चयः । ८ "परमि"ति । पूर्वभा-
वनिश्चय एव विवक्षितो न स्वनौपाधिकत्वमित्यर्थः ॥ ८ "प्राग्र-
पे"ति । रोगलिङ्गानां प्राग्रपाशां निदानसिद्धत्वेन चरकाद्युक्ता-
नामतिशयापकता स्यादित्यर्थः । ९ कं हि- । "निदानं पूर्वकृपाणि
रूपाद्युपशमस्तथा । संप्राप्तिश्चेति रोगाणां पक्ष्या ज्ञाननि-
वृत्ते" ॥ रोगकारणानामित्यपव्याख्यायाम् । वैद्यकविरचयत् ॥
८ "तानी"ति । पूर्वकृपाणीत्यर्थः ॥ ९ "निदाने"ति । तथा च पक्ष्या
विभान्मयाशात इति भावः ॥ १० "पूर्वकाले"ति । यद्यपि पूर्व-
भावित्वमिति पूर्वकालभावित्वमेवेति तत्रापि पूर्वत्वमात्रं
संबन्धयितुमेतदुक्तम् । ४ "कालस्ये"ति । न हि कालः कालसंबन्धी-
त्यर्थः ॥ ५ "तस्यापी"ति । कालस्यापीत्यर्थः ॥

सू० "अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वं तस्य पूर्वत्वम् ? *-इति
चेन्न, अतीत इति निष्ठान्तस्य पूर्वकालवाचिनो
विवेचनीयत्वात् *परत्वापरत्वयोर्गुणयोर्मध्ये यत्प-
रत्वं तत्पूर्वत्वमुच्यते ? *-इति चेन्न । "कालादौ गु-
णादौ च तदनङ्गीकारात्तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्, 'त-

स्मिन्नेव च तदभावात् । साक्षात्कारिज्ञानादावपि तस्याकारणत्वमसङ्गात् । * सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वञ्च ? *-इति चेन्न । एकदेशत्वस्यानिर्वचनत्वात् अथवात्वमदेशत्वादीनां सामग्र्यामसम्भवात् ॥

टी० ॥ ० "अतीते"ति । अतीता ये सूर्यस्येन्द्रादयः उपाधयस्तदवच्छिन्नत्वमेव कालस्य पूर्वत्वमित्यर्थः ॥ ० "अतीत"-इति । अतीतत्वं हि पूर्वकालीनविषयत्वमित्यात्मानय इत्यर्थः । परत्वं गुणविशेष एव पूर्वत्वमिति शङ्कते- । ० "परत्वे"ति । तस्य भूतगुणत्वेन कालावृत्तितया तेषां पूर्वत्वामसम्भवादित्याह- । ० "कालादावि"ति । परत्वे परत्वाभावात् पूर्वत्वानुपपत्त्या कारणत्वं न स्यादित्याह- । ० "तस्मिन्नेवे"ति । ननु परत्वापरत्वद्वित्वद्विपुषत्त्वादीनामकारणत्वमेवोक्तं वैशेषिकशास्त्रे इति तदकारणत्वं नानिष्टमित्यत आह- । ० "साक्षादि"ति । ज्ञानेतरकार्योपेक्षया तदकारणत्वमुक्तं । न तु ज्ञानेऽपीत्यर्थः । आदिपदात्सुखदुःखपरिग्रहः । तथाचात्मधर्मेतरकार्योपेक्षया तदकारणत्वाभिधानं द्रष्टव्यं भवति हि मम प्रिया परापरा वेति सुखदुःखे ॥ ० "अथवात्वमे"ति । द्रव्यासम्भाविकारणस्यावयवत्वात् संयोगविशेषावच्छेदकस्य प्रदेशत्वात्तयोश्च सामग्र्यामभावादित्यर्थः ॥

म० ० "सकलकारणकलापसमवधानस्यैव च मेलकार्यत्वात्ते- नैव तन्निर्वचनत्वात् * 'यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्री ? *-इति चेन्न । 'विभागानन्तरं संयोगनाशास्त्वोत्पत्तौ विभागस्यापि सामग्रीत्वमसङ्गात् * एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य पट इत्यादि का- यकारणभावो नाम संबन्धः 'कोऽपि ? *-इति चेन्न । 'तदा अविशेषेण कार्यकारणसाङ्गोर्यापत्तेः । कार्यकारणविशेषितत्वात् भेदे तयोः पृथक् निर्वाच्यत्वा- चत्तेः * 'कारणत्वं धर्मः कोऽपि * ?-इति चेन्न । ॥ तत्सङ्गावे प्रमाद्यस्य वाच्यत्वात् ।

टी० ॥ आत्माश्रयमप्याह—। “सकले”ति । कारणमेव कारणनिर्व्वचनादित्यर्थः । आत्माश्रयपरिहारात् कारणसंहिर्भावेन सामयी शङ्कते—। “यदनन्तरमि”ति । अकारणे चरमकारणे चातिष्ठयास्तिनाह—। “विभागे”ति ॥ “कोऽपी”ति । संयोगस-
नवायमिहो विशिष्टयानिर्वाच्य इत्यर्थः ॥ “तदे”ति । संश्रयस्य द्विष्टतया कार्यमेव कारणं किं न स्यादित्यर्थः ॥ ननु कार्यसंब-
न्धित्वं कारणत्वं कारणसंबन्धित्वं च कार्यत्वमिति न साङ्कर्यमत
आह—। “कार्यकारणे”ति । यद्वा ननु कार्येण विशेषितात् संब-
न्धात् कारणविशेषिताऽसावस्य एवेति न तयोः साङ्कर्यमित्यत
आह—। “कार्यकारणे”ति ॥ ननु भावत्वाभावत्वादिवत् कारण-
त्वमपि कश्चिद्दुर्मेः सिद्धः किं तल्लक्षणोपन्यासग्रहेणेति शङ्कते—।
१ “कारणत्वमि”ति । अनुगतमतिसात्तिकेऽपि विशेषव्यवहारा-
धानाय प्रमाणं पृच्छति—। “तत्सद्भाव”इति ॥

सू० * क्वचित्प्रत्यक्षः स क्वचिद्दृष्टानुमेय ? *—इति चेन्न । किं
हि प्रति कारणत्वं प्रत्यक्षमुल्लिखेन्न तावद्दन्तिलुठि-
तकार्यम ‘प्रतीतेः, अन्वयव्यतिरेकादेर्ब्रह्मकस्य च
विशेषं प्रत्येव सम्भवात् । “नापि सामान्यतो घटादि
प्रत्येव”विशेषतो घटाद्यनुत्पत्त्यापत्तेः । तावन्मात्रा-
द्विशेषोत्पत्तेर्विशेषेषु विनिगमना न स्यात् । प्रति
विशेषं चोत्पत्तेः प्रागवर्तमानत्वादसन्निकर्षादध्व-
क्षविषयतानुपपत्तेः ॥

टी० ॥ “क्वचिदि”ति । दशहादी प्रत्यक्षं परमाश्रयादा-
वनुमेयमित्यर्थः । दशहादी कारणत्वं प्रत्यक्षमुल्लिखत् घटकारण-
त्वप्रकारकं वा स्यात्कारणत्वप्रकारकं वा स्यात् । द्वितीयं दूष-
यति—। “अनिलुठिते”ति । अनिर्णीतकार्यविशेषकारणत्वे प्रती-
तिव्यवहारयोरभाव एवेत्यर्थः । अत्र हेतुः भाह—। “अप्रतीते-
रि”ति ॥ ननु दशहादी घटत्वसामान्यावच्छिन्नकार्यकरत्वं

प्रत्यक्षत्वस्य स्यात्तत्र चाप्यवच्छेदितरेकौ प्रभवत एवेत्यत आह—
 ८ “नापी”ति । इत्थं क्वति दृक्कादेर्घटसामान्यमेव स्यात् । ननु
 घटविशेषः सामान्यकारणत्वं एव प्रमासप्रवृत्तेः विशेषे तदभा-
 वादित्यर्थः ॥ ननु ज्ञानागमपि विशेषोपरकमिति सामान्य-
 कारणादेव विशेषोत्पत्तिरपि स्वादित्याशङ्क्याह— । “तावन्मा-
 त्रादि”ति । उत्पत्तस्यमानविशेष एतद्दृक्कत्वमिति विनिश्चयना
 न स्यात् । तथाच तदर्थं प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः ॥ ननु ज्ञाना
 न्यतो न कारणत्वं प्राज्ञानपि तु प्रतिविशेषमित्याशङ्क्याह— ।
 “प्रतिविशेषनि”ति । तच्चात्पत्तस्यमानविशेषकारणत्वमप्यसं-
 न स्यात् । न हि तदा तद्वर्तमानमवर्तमानविशेषघटितत्वेनैव
 तस्यावर्तमानत्वाद्द्वर्तमानस्यैवाप्यनविषयत्वादित्यर्थः ॥

मू० “कार्यसत्त्वकालश्च सामग्र्यभावान्न तज्जननकाल इति
 तदानीं तज्जननविशिष्टता कथमप्यज्ञा स्यात् ॥ प्राक्
 तद्ग्रहणेन च संस्कारसाचिध्यस्याप्यसम्भवान् एवं
 च क्वचिदपि हेतुत्वे साक्षात्कारासम्भेन किं मूल-
 ष्याप्तिग्रहात्तत्रानुमापि स्यात्प्रतिबन्दी चानिर्व-
 चनीयवादिनि न स्थाने * कादाचित्कत्वानुपपत्त्या
 तद्ग्रह ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ ननु यदा यत्कार्यमुत्पद्यते तदा तद्वर्तितं कार-
 णत्वं वर्तमानत्वात् प्रत्यक्षं स्वादित्याशङ्क्याह— । “कार्यसत्त्वका-
 ला”इति । कार्योत्पत्त्यनन्तरं च प्राग्भावस्याभावाद्दृक्कस्यापि
 सामग्री विनाकृतस्य न जनकत्वमिति कथमप्यज्ञता तस्य
 स्वादित्यर्थः ॥ ननु प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशवत् संस्कारोप-
 कारणत्वं प्रत्यक्षं तत्र स्वादित्याशङ्क्याह— । “प्राग्”ति । उत्प-
 त्तस्यमानविशेषं प्रति दृक्कारणत्वस्याननुभूततया संस्कारावि-
 षयत्वादित्यर्थः । ननु कारणत्वमनुमेयं स्वादित्यत आह— । “पु-
 षनि”ति ।

अनुमानमपि प्रत्यक्षोपपत्त्या (१) निति तदभावात्तस्याप्यभाव इत्य-
र्थः ॥ ननु कारणत्वग्रहणान्तरेण परप्रतिपक्षार्थं तथापि वा-
क्यव्यहारी वा तोयपानादी प्रवृत्तिर्वा कथं स्यादित्यत आ-
ह— ^d “प्रतिबन्धी”ति । न स्याने नोचितेत्यर्थः । प्रतिबन्धि-
स्वरहनस्य कृतत्वादिति भावः ॥ अर्थापत्तिं कारणत्वे शङ्कते—
^e “कादाचित्कत्वेने”ति ॥

सू० “वैयधिकरण्यात् ^b कथमपि सामानाधिकरण्ये तदुप-
पादकस्योपपायवदनुपपत्तावविशेषाद्विश्रान्तेर्ना-
नादित्वेनापि शक्योपपादना वैयधिकरण्येऽप्युपपा-
द्यासंबन्धश्चेदनियमः संबन्धश्चेद्विश्रान्तिरिति ॥

टी० ॥ यदि कारणत्वं न स्यात्तदा कार्याणां कादाचित्क-
त्व न स्यादित्यर्थापत्तिरुपपाद्य कादानित्कठपथिकरणस्योपपा-
दकस्य कारणत्वस्य कल्पनायां कथं प्रभवेत् । अस्यथा देवदत्ती-
यग्रहासत्त्वे न यद्यदक्षरिःसखमपि कल्पनीयं स्यादित्या-
ह— ^a “वैयधिकरण्यादि”ति । ननु कार्यं यत्कादाचित्कत्व
धर्मः स कार्यस्य सकारणत्वं सामानाधिकरणमेवास्तिपतीत्याश-
ङ्क्याह— ^b “कथमि”ति । एवं सकारणत्वमपि स्वकीयं सकार-
णत्वं सामानाधिकरणमास्तिपेदित्यनवस्था । नहि परस्तत्रानुप-
पत्तिं न ज्ञयात् कार्येण कारणमाक्षेप्यं तेन तेनापीति वानवस्था ।
नच तत्रानादित्वं परिहारस्तत्रापि प्रमाणस्य वाच्यत्वात्
बीजाङ्कुरादिदर्शनात्तदन्यथानुपपत्तिश्च नानादित्वे प्रमाणम् ।
कार्यकारणभावानुपपत्तेरेवमपाद्यमानत्वादिति भावः । वैयधिक-
रण्ये दोषान्तरमाह— ^d “वैयधिकरण्येऽपी”ति । उपपाद्योपपा-
दकयोः संबन्धेऽर्थापत्तिरनुपपत्त्या अर्थापत्त्याभानानवकाशात्संब-
न्धश्च तयोः संबन्धान्तरनियत एव । अन्यथा पुरनरविशेषादर्था-
पत्त्याभासानवकाश एवेति संबन्धाविभ्राम एवेत्यर्थः । अवैयधि-
करण्येऽपीत्यकारप्रश्लेषे च केचिद् व्याचक्षते संबन्धासंबन्धाविक-
ल्पस्तत्रापि लुप्त एव ।

(१) क्वचित् प्रत्यक्षत्वमिति पाठः ।

सू० एतेन 'शक्तिः कारणात्वमित्यपि निरस्तम् । किञ्च प्रत्यक्षप्रमिती विषयस्यापि सात्त्विकर्षव्यापारकस्य कारणातया स्ववृत्त्यापत्तेः 'अन्यथाऽक्षस्यापि कारणात्वं न स्यात् 'अनुविधानाविशेषाद्विषयाविशेषिताक्षसंनिकर्षस्य तथात्वेऽत्यापत्तेः 'क्वचित्कारणाकारणात्वविवादस्य चानुच्छेद्यत्वापत्तेः ॥

टी० नीमांसक्रमते दोषमाह-। "शक्तिरिति । तत्रापि प्रमाणाभाव एव उच्यते । अत्र दभ्युपगमाच्च न तत्राध्यक्षं तदभावाच्च तन्मूलकव्याप्तियद्वाभावान्नःनुमानम् । न चार्थापत्तिकर्षादेषादित्यर्थः । कारणात्वमभ्युपेत्य दोषान्तरमाह-। ^b 'किञ्चे'ति । कारणात्वं स्वमन्त्रिकर्षद्वारा^(१) प्रत्यक्षकारणं वाच्यमिति कारणत्वेऽपि कारणत्व वाच्यं तद्यदि स्वात्मिकं तथापि प्रत्यक्षे विषयतया कारणं तदवश्यं वाच्यमित्यर्थः । सन्निकर्षेणैवान्यथासिद्धी दशमाह-। "अन्यथे"ति ॥ "अनुविधाने"ति । अन्यथापत्तिरेकतौल्यादित्यर्थः ॥ ननु मन्त्रिकर्षमात्रं कारणं न तु मन्त्रिकर्षप्रतियोग्यतां कारणात्वस्याध्यक्षत्वेऽपि न कारणात्वमत आह-। "विषये"ति । एवं सति यत्किञ्चित्त्वेऽसन्निकर्षादेव प्रत्यक्षमुत्पद्येतेत्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । कारणात्वप्रत्यक्षत्वे दोषान्तरमाह-। "क्वचिदि"ति । प्रत्यक्षेण तन्निर्णयान्निर्णये च विवादानवकाशात् अवकाशे चानुच्छेद्यत्वापत्तेरित्यर्थः ॥

सू० "एकेन तस्य दृष्टेरपरेण चादृष्टेः तल्लक्षणस्य च नियतपूर्वभावित्वादेः कथने कथितदोषापत्तेः ^b विना च तच्चिन्हाद्भ्रमसन्दोहौ तत्र किं दर्शनादुच्छेद्यौ 'अक्षेण हेतुधर्मिणि दृष्टेऽपि तददृष्ट्या ^a यदभ्युपगमाऽक्षसहकारी वाच्यः 'तदर्थेन सिद्धेन हेतुधियोर्ध्वस्वे सम्भवति 'तदन्यार्थकल्पनागौरव कुतो बलात्सिद्धयेत् ।

(१) सन्निकर्षद्वारा = सन्निकर्षचटकारणेनेत्यर्थः ।

टी० ॥ ननु कारकत्वस्यानुगमादेव विवाद उच्छेत्स्यत
 इत्यत आह—^a“क्षेत्रे”ति । येन कारणत्वं दृष्टं तेनाहृष्टका-
 रकत्ववादिन प्रत्यक्षानुमानार्थं नियमपूर्ववर्तित्वादि यल्लिङ्गमु-
 पादेयं तत्सर्वं खण्डनमेवेत्यनुमायकलिङ्गाभावादेव न विवा-
 दोच्छेदमुक्त्वा स्वारमिकभ्रममंशयानुच्छेदनाह—।^b“विनाये”-
 ति । विशेषदर्शनमन्तरेण न सममंशययोर्निवृत्तिर्विशेषश्च
 नियतपूर्ववर्तित्वादिचिन्हभूत तच्च दूषितमेवेत्यर्थः । दृष्टेऽ-
 पि कारकत्व तत्र उपसृक्त्याह तत्राह व्यञ्जकं च तस्य यद्यस्ति
 तद् तदेव कारकत्वपदे तिष्ठता कि कारकत्वाङ्गीकारेवेत्याह—।
^c“अक्षेत्रे”ति । हेतुकयो धर्मो हेतुधर्मो दृष्टादिः तददृष्ट्या-
 कारकत्वाददृष्ट्या ॥ ^d“यद्युपगम”इति योऽभ्युपगम्यमान
 इत्यर्थः ॥ ^e“तदर्थेनेति । अभ्युपगमविषयेण कारकत्वव्यञ्जक
 मृतेनेत्यर्थः ॥ ^f“हेतुधिय”इति । हेतुत्वविशिष्टधिय इत्यर्थः ॥
^g“तदन्ये”ति । व्यञ्जकादन्यो योऽर्थः कारकत्वं तत्कल्पनागौ-
 रवं कुतो बलात्सिद्धयेत् कथमभ्युपगम्येतेत्यर्थः ॥

सू० * वस्यान्वयानुविधानादेरनुमेयहेतुत्वे व्योमादावनु-
 पपत्तेः ^b* तदन्वत्वसिद्धिः ? *—इति चेन्न, ‘अ-
 न्वीन्याश्रयापत्तेः । प्रत्यक्षवाच्यस्मिन् विषये सिद्धेऽ-
 न्वच्च दृष्टान्तेन तदनुमानं तत्सिद्धौ च प्रत्यक्षस्या-
 न्यविषयतासिद्धिः ^d तस्य चानागन्तुकत्वे प्रागपि
 तत्सत्त्वादस्तीति प्रतिषत्करोतीति प्रमापातः
 आगन्तुकत्वे च तदुपपत्तेः प्राक् कारणत्वं क्वापि न
 स्यात् ^e याप्यरजतत्वे घटाद्यपि किं न तथा स्यात्
 व्यावृत्तेषु तेष्वनुगताी च सर्वं प्रति सर्वकारकत्व प्र-
 सङ्गात् ॥

टी० ॥ ननु व्यञ्जकत्वं क्वचिदन्वयव्यतिरेकित्वं क्वचिच्च
 व्योमादिकारकत्वानुगोचरेण चर्चिंशाहकं प्रमाजनिनि उपसृक्तान
 अनुमेयपि उपसृक्तं कारकत्वानुगतमवश्यं कल्पनीयमिति शङ्कते—।

“तस्ये”ति । अनुमेवहेतुत्वे इति बहुव्रीहिः (१) ॥ ७ “तदन्य-
त्वसिद्धिरिति । उद्यञ्जकापेक्षया कारणत्वस्याप्यत्वसिद्धिरित्यर्थः ।
यदि प्रत्यक्षस्य कारणत्वं विषयः स्यात्तदा तद्दूढटाकृतेन
उद्येमादावपि उद्यञ्जकातिरिक्तं कारणत्वमनुमेयं तत्र यदि
कारणत्वमनुमेयं तदा प्रत्यक्षस्यापि उद्यञ्जकभिरकारणत्व-
विषयत्वसिद्धिरित्यन्योन्याशय इति परिहरति-। “अन्यो-
न्वे”ति । दोषान्तरमाह-। d “तस्य चे”ति । कारणत्वं
दृग्हादी यदि नित्यं तदा सर्वदा करोतीति नतिः स्यात् अनि-
त्यत्वे तु तदुत्पत्तेः पूर्वं कारणत्वं न स्यात् तथाच तदुत्प-
त्तिरपि (१) न स्यादित्यर्थः । ननु कारणत्वमनित्यमपि न
जायते एवेत्यत आह-। e “तथापी”ति । दोषान्तरमाह-।
f “उयाकृतेष्विति”ति । घटादिकारणेषु दृग्हादिष्वेकमनुगत-
कारणत्वं चेत्तदा दृग्हादेः सकलकार्यकारणत्वापत्तिः । नहि गीः
कश्चित्प्रत्यगौरित्यर्थः ॥

सू० * “प्रतिकार्यव्यक्ति तत्पृथक् ? *—इति चेन्न, b सा-
धारणस्यापि तद्गतस्य स्वरूपस्य घटादिकारणा-
त्मतयानुवृत्तौ घटकारणत्वस्यापि स्तम्भकारणत्वा-
पत्तेः c * कारणत्वमात्रेण तदनुगतं रूपं न घट-
कारणत्वादिना ? *—इति चेन्न, d घटादिविशेषानु-
पहितकारणत्वमात्रस्य किं प्रतीत्य निर्देयस्य स-
द्भावे प्रमाणाभावात् e अन्यथा यदि किञ्चित्प्रति-
कारणे सामान्यतः कारणत्वं नाम धर्मः स्यात्तदा
तस्या एव व्यक्ते किञ्चित्प्रत्यकारणत्वादकारणत्व-
मपि रूपं तत्र स्यादित्यनपेक्षितविशेषकारणत्वा-
ध्यासाद्देनैकमात्रमेवोच्छ्रियोत् ॥

टी० ॥ कारणत्वं घटादिप्रत्येकनिरूपितमेवेत्वाशङ्कते-।

(१) अनुमेवः हेतुता येनेति बहुव्रीहिरित्यर्थः ।

(२) तद्दुत्पत्तिः = कारणत्वव्योत्पत्तिरित्यर्थः ।

“प्रतिकार्यठयकी”ति । अनुगतप्रतीतिसाधिकमनुगतं यत्कारणत्वं तद्यदि घटादिप्रतियोगिकत्वविप्राप्तमेव तदा घटकारणमेव घटादिकारणं स्यादित्याह—^b“साधारणस्यापी”ति—। ननु कारणत्वमभ्यदन्त्यस्य घटकारणत्वमिति सामान्यविशेषरूपतया घटकारणमेव सास्रभादिकारणं कथं स्यादिति शङ्कते । “कारणत्वे”ति । कारणपदार्थः न प्रतियोगिक एव प्रतीवत इति निष्प्रतियोगिककारणत्वमासाध्यमप्राणिकमेवेति परिहरति—।^d“घटादां”ति कारत्वमासाध्याङ्गीकारे द्रव्यमाह—। “अन्यथे”ति । क र्यविशेषोपहितकारणत्वमेव यदि कारणत्वं तदा कार्यविशेषे तदकारणत्वमपीति कारणत्वाकारणत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्स्वतोऽपि द्रव्यो भिन्नः स्यादित्यर्थः ॥

सू० “ किञ्च कार्यठयक्तेः कारणमस्ति न वा ? । न चन्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गः । अस्ति चेत्किं तत्कारणम् ? ।^{b*} ठयक्तिविशेष ? *—इति चेन्न, ‘पूर्वादिभावस्य सास्रभादिसाधारणत्वात्तां कार्यठयक्तिं प्रति तस्याः किं तत्कारणत्वं’ * स्वरूपमेव ? *—इति चेन्न, तस्य ध्यावृत्तत्वात् ‘तस्य^(१) तत्कारणात्मत्वे चात्तदात्मनं तत्कारणत्वविरोधात्’ तत्कारणत्वस्य च समवाय्यसमवयिनिमित्तभूतानेकव्यक्तिसाधारण्यात्^h अनेकस्य चैकानुगतबुद्धिव्यवहारनिमित्तत्वे गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात् ॥

टी० ॥ ननु घटस्य कारणमस्ति न वा ? । अन्त्ये नित्यं सत्त्वसत्त्वत्वं वा हेतोरन्यस्यानपेक्षत्वादिति नित्यमपेक्षासत्त्वान्यतरप्रसङ्गः । यदि च घटठयक्तेः कारणमस्ति तदा तत्स्वरूपं यत्कथमित्याह—। “ किञ्च ”ति । न तु द्रव्यादिव्यक्तिविशेष एव घटठयक्तिकारणमिति शङ्कते—।^b“ठयक्तिविशेष इति । मवतु व्यक्तिविशेष एव कारणं तथापि तस्या द्रव्यादिठयक्तिविशेषस्य

घटठयत्किविशेषं प्रति किं कारकत्वमिति पृच्छति-। "पूर्वादि-
भावस्ये"ति । तद्घटयत्किपूर्वसत्त्वमात्रं रासभादावतिठयाप्तमिति
तद्वाच्यमित्यर्थः ॥ ननु द्रव्यादिस्वरूपमेव तदिति शङ्कते-।
"स्वरूपेति । तद्द्रव्यस्वरूपं चैतदा चक्रस्वरूपं घटठयत्किकारणं
न स्यादिति परिहरति-। "तस्ये"ति ॥ f "अतदात्मनामि"ति ।
अवहात्पननां चक्रात्मनामित्यर्थः ॥ नन्वेकमेवैककार्यकारणमित्या-
शङ्कस्याह-। त"त्कारणस्ये"ति । ननु प्रतिस्वं व्यावृत्तमेव
द्रव्यादिस्वरूपं घटकारणत्वानुगतव्यवहारं कुर्यादित्याशङ्क्या-
ह-। g "अनेकस्य चे"ति । एवं सति गवाकारानुगतमतिरपि
व्यक्तिभिरेव स्यात् किं गोस्त्रेनेत्यर्थः ॥

सू० * नियतपूर्वभावित्वम् ? *-इति चेन्न, b व्याप्य-
र्थस्य नियमस्यैकस्य सर्वत्र व्यक्तावसम्भवात् पूर्व-
मात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात् * तज्जातीयं प्रति नि-
यततज्जातीयत्वम् ? *-इति चेन्न, d तस्य तज्जा-
तीयव्यवत्पन्तरसाधारण्यात् * नियततज्जातीयत्वे
सति तत्पूर्वत्वम् ? *-इति चेन्न, f तत्समानका-
लोत्पत्तिककार्यव्याप्तशतसाधारण्यात् g तथाभ्युप-
गमे चैकसमवायादिनामे सर्वतत्कार्यनाशप्रसङ्गः ॥

टी० ॥ ननु घटनियतपूर्वभावित्वमेव रासभादिठयावृत्त
घटकारकत्वमिति शङ्कते-। a "नियते"ति । पुरुषघटव्यक्तिनि-
रूपितनियमस्य तत्कारणठयत्किषु निरूपयितुमशक्यत्वात्सामा-
न्यद्रव्यावच्छेदेनैव नियमनिरूपणादिति परिहरति-। b "व्या-
प्यर्थस्ये"ति ॥ ननु घटत्वावच्छिन्नकार्यं प्रति द्रव्यादीनां
निघतपूर्ववर्तित्वं सुप्रहमेवेति शङ्कते-। c "यज्जातीयमि"ति ।
एवं सत्येकघटठयत्किकारकत्वमपरघटठयत्किाखेऽपि गतमिति
ठयत्किविशेषकारणत्वाभिधानाय प्रवृत्तस्तज्जातीयकारणत्व-
मात्रमभिधत्तसद्वहसंबद्धमिति परिहरति । d "तस्ये"ति
घटनियतपूर्ववर्तित्वात्जातीयत्वे सति नद्घटपूर्ववर्तित्वं तद्घट-

कारणत्व न च घटान्तरकारणेषु व्यक्तियोग्यपूर्वसर्वव्यति
नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते-। ° “नियते”ति । एकस्मिन् घटे
जायमाने यत्र शतं घटा जायन्ते तत्रोक्तपनेकघटकारणत्वानप-
रघटकारणे ननमित्यतिप्रसङ्ग एवेति परिहरति-। / “तत्स-
माने”ति । नन्वेकं कपालं भवतु समानकालीनमानाघटकारणं
को दोष इत्यत आह-। ° “तथे”ति । आदिपदाद्यसमवायि-
कारणसङ्घः ॥

मू० ° तत्कालतज्जातीयमवसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जा-
तीयोत्पत्तौ सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुतया प्रत्येक-
मित्तसामग्रीत्वविकल्पेन कार्यव्यवस्थभेदप्रतिव्य-
क्तिस्वरूपभेदयोरन्यतरप्रसङ्गरथ ^b समवायित्वं प्र-
त्यपि साधर्म्यानुवधायिनि नियमेत्यापत्तेः ° उद्यावृ-
तत्त्वे चानियमात् * ^d नियततज्जातीयत्वे सति
तत्सादेश्यम् ? * इति चेन्न, ° समवायिदेशापेक्षया
कार्यकारणयोः सादेश्यनियमानभ्युपगमात् / संयो-
गिदेशापेक्षया गुणादावसम्भवात् ॥

टी० ॥ मनानकालोत्पत्तिकमानाघटसामग्रीणामनेकत्वे

एकोऽपि घटोऽनेकः स्यादेकत्वे चानेकोऽप्येकः स्यादित्याह-
° “तत्कालतज्जातीये”ति । इदानीं समवायिकारणं विशिष्य
सबहयति-। ^b “समवायित्वमि”ति । घटं प्रति तन्तुत्वेन सम-
वायिकारणत्वे सर्वेषां तन्तूनामेकघटसमवायित्वापत्तिः तत्राथ
किञ्चित्तन्तुनाशे सर्वघटनाशः स्यादित्यर्थः । तत्तन्तुत्वेन तु
कारणत्वं दुर्ग्रहमित्याह-। ° “उद्यावृत्तत्वे” इति । अनियमादि-
यमग्रहाभावात्मानान्प्रावच्छेदेनैव तत्तद्ग्रहादिति भावः । ननु
यत्पटसमानदेशे यः तन्तुः स तत्पटसमवायिकारणमिति
शङ्कते-। ^d “नियतेति” तन्तुपटयोरेकतांशे वृत्तौ सादेश्यं स्यात्-
चेव स्वभाभ्युपगम्यते इति परिहरति-। ° “समवायी”ति ।
ननु समवायेन सबन्धेनाप्यवावयविनीः सादेश्यं न भ्रमः

किन्तु संयोगेन तथा च तन्मुद्रयोर्भूतत्वे सादेश्यं सम्भवत्येवे
त्याशङ्क्याह—। “संयोगी”ति । एवं सति गुणकर्मणोः
समवायिकारणासङ्ग्रहः तयोस्संयोगाभावादित्यर्थः ॥

मू० “यथाकथञ्चित्सादेश्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वाद् ^bदृ-
ष्टादेर्भिन्नदेशस्यापि कारणात्वोपगमे सर्वं प्रति सर्व-
कार्यसामग्र्याः कारणात्वापाता ‘पूर्वभावनियमादे-
स्तुल्यत्वात् ^dअनुगते च रूपेन्वयव्यतिरेकसम्भवात्
व्यक्तिगतसामान्ययोरेव कार्यत्वकारणात्वा-पत्तेः ^eत-
द्रूपसामान्ययोरन्वयव्यतिरेकादिनियमः व्यक्तयो-
श्च कार्यकारणतेति लक्ष्यलक्षणभाववैयधिकरण्यात् ॥

टी० ॥ नन्वथयथावयविनोरिव गुणगुणनोरपि कथञ्चि-
त्सादेश्यमस्त्येवेत्याशङ्क्याह—। “यथाकथञ्चिद्”ति । किञ्च
त्वयाऽदृष्टादीनां भिन्नदेशानामपि निघनपूर्ववर्तिजातीयत्वेन
कारणत्वमभ्युपगम्यते इति सर्वत्र सर्वं कारणं स्यादित्याह—।
“अदृष्टादेरिति । ‘पूर्वभावे’ति । कारणभीवर्तिदशहस्य
पाटलीपुत्रीयपटनातीयपूर्ववर्तिस्त्वेन कारणात्वं स्यात्सादेश्य-
त्वस्य त्वयैव तिरस्कृतत्वादित्यर्थः । किञ्च दशहठर्षिकघटव्यक्तयोः
कार्यकारणभावो न स्यादेव पूर्ववर्तितानियमस्य सामान्य-
द्वयमात्रविश्राण्तत्वादित्याह—। ^d“अनुगते”इति । ननु नि-
र्विशेषं न सामान्यमिति सामान्यावच्छेदेनापि व्यक्तीनामेव
कारणत्वं पर्यवसन्नमित्याशङ्क्याह—। “तद्गते”ति । सामा-
न्ययोर्नियतपूर्वापर्यलक्षणं कार्यकारणभावलक्षणं दशहठटादौ
लक्ष्ये नास्तीति वैयधिकरणत्वानित्यर्थः ॥

मू० “सामान्याकारेण प्रविष्टां व्यक्तिमादायान्वयव्यति-
रेके विश्लेषस्याकारणत्वं ^bसामान्याकारेण च पूर्व-
कार्यत्वं ^cद्रव्यसामग्र्यां वृक्षसामग्र्यां शिंशपासामग्र्या
च पृथगव्यक्तिजननापातः ^dपृथगेव तासां सामग्री-

त्वात् सर्वासां च व्यक्तिं प्रत्येक जनकत्वात् द्रव्य-
त्वादीनामजन्यत्वात् ॥

टी० ननु तथापि घटजालीयनियतपूर्ववर्तिस्त्वमेव कार-
णत्वं प्रमाखेन सामान्यस्य परिच्छेद्यमिति विशेष्योरपि कार्य-
कारणभावः स्यादेव विशेषगर्भत्वात् सामान्यस्येत्याशङ्क्यह-
० "सामान्याकारणे"ति । एवं सति विशेषः (१) कारणं न स्या-
देव कारणलाघाहप्रमाखस्य विशिष्टे एव प्रकृतेः सामान्यवि-
शिष्टं स्वत्वन्तमेव कारणं तत्र दण्डादित्यर्थः ॥ ० "सामा-
न्याकारणे"ति । पूर्वमत एव कार्यत्वं स्यादिति सत्कार्यवादा-
पत्तिरथवा पूर्वमन एव घटस्य भाविदेवकार्यत्वं स्या(२)दित्यर्थः ।
किञ्च द्रव्य वृक्षः शिशपेतिनामानाधिकारस्यप्रत्ययो न स्यात्सा-
मग्रीत्रयेण कार्यत्रयजननमस्त्वत्वादित्याह- । "द्रव्यसामग्र्ये"-
ति । अत्र हेतुनाह- । "एवमेवे"ति । ननु सामग्रीत्रयेण वृक्ष-
त्वशिशपात्वादिधर्मत्रयं पृथगेव क्रियते व्यक्तित्वनिवृत्त्येत्याश-
ङ्क्यह- । "सर्वानामि"ति । सामान्यत्रयमजन्यमेव तेन तदभेदे
नापाद्यते किन्तु व्यक्तिभेद एव नामग्रीभेदादापाद्यत इत्यर्थः ॥

मू० *शिशपासामग्रा वृक्षसामग्रीसहिताया एव साम-
ग्रीभावान्न पृथक् शिशपाव्यक्तिः ? *-इति चेन्न,
वृक्षसामग्रा शिशपासामग्रीमतीत्यापि शालताला-
देवृक्षस्य जननात् पृथक्त्वा वृक्षव्यक्तिजननापत्तेः
*सापि शिशपासामग्रीतन्मिलितजनिकेति न
व्यक्तिभेद ? *-इति चेन्न, "शिशपार्थातिरिक्तवृक्षा-
र्थाभावापत्तेः वृक्षशिशपासामग्रोरेकीभूतयोर्जनना-
विशेषा वृक्षसामग्री च वृक्षजनन एव कथं क्वचि-
च्छिशपासामग्रीं क्वचिन्मालसामग्रीमपेक्षत इति
स्यात् ।

(१) विशेषः-विशेष्यविशेष इत्यर्थः । यदा विशेष इत्यवयव स्थाने
विशेष्य इत्येव सर्वत्र याठ उच्यते ।

(२) स्यात्, तथापि द्रव्यत्वधर्माऽज्ञानत्वादिति भावः ।

टी० ॥ ननु शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीभिलितैव जनि-
केति शिंशपा कथं वृक्षमिजा स्यादित्याशङ्कते-। “शिंशपे”ति ।
शिंशपा सामग्रीसाहित्यनियम इति परिहरति-। ^० ‘वृक्षसाम-
ग्री’ति ॥ ननु तत्रालादौ शिंशपासामग्रीमन्तरेणापि वृक्षसा-
मग्री भवतु किं तेन प्रकृते वृक्षनामपिता शिंशपासामग्रीमादायै-
वेति कथं व्यक्तिभेदः स्यादिति शङ्कते-। ^० ‘सामी’ति । सा शिं-
शपासामग्री वृक्षसामग्रीसाहित्यनियता चेत्तदा वृक्षसामान्यसा-
मग्रीतोऽपि प्रकृते वृक्षसामग्री तत्राभिन्नैव वाच्यता तदा तदेकवृ-
क्षगतं वृक्षत्वं शिंशपात्वं चाभिन्नमेव स्यात्तत्र वृक्षसामग्रीः
सामान्यसामग्रीत्वभावादिति परिहरति-। ^० “शिंशपार्थे”ति ।
किञ्च शिंशपातमालसामग्रीभिलिता वृक्षनामान्यनामग्रीप्येका
कथं तिष्ठेद्येन शिंशपातमालयोर्द्वयोरपि वृक्षत्वाविशेषः स्या-
दित्याह-। ^० “वृक्षसामग्री चे”ति ॥

मू० एकस्य वृक्षलक्षणस्य कार्यस्य सामग्रीभेदे स्वरूपभे-
दापातात् ^० अनुगतायाश्च वृक्षसामग्रीत्वे पृथक्पृथक्-
व्यक्तेः पृथक् शिंशपादिव्यक्तेरुत्पत्त्यापत्तेरित्यादि
स्वयमूहनीयं, नियमे च प्राक्कालतयाभिधीयमानै
प्रागित्यस्य व्यवच्छेदो वर्तमानभविष्यत्कालौ प्रा-
क्कालश्च व्यवच्छेदको विवेचनीयः । नच तद्वि-
वेचनं शक्यं * वर्तमानादिबुद्ध्य एव स्वविषयवै-
चित्र्ये प्रमाणम् ? *-इति चेन्न, तथाहि वर्तमाना-
दिबुद्धेरेव को विषयः कालविशेष इति चेत्कालस्य
विशेषः स्वाभाविक औपाधिको वा ? । नाहः ।
कालस्य भवद्भिरेकत्वाभ्युपगमात् ॥

टी० ॥ ननु भवतु वृक्षसामग्री अपि विशेषसामग्रीद्वयभे-
देन भेदः को दोष इत्यत आह-। ^० “एकस्ये”ति । विशेषद्व-
यसामग्रीतः सामान्यसामग्री भिन्नैवेत्यत आह-। ^० “अनुगता

या"इति । तथा सति विशेषद्वयातिरिक्त एकरूपं कार्यमनुभू-
येतेत्यर्थः । प्राक्कालीनतायां कारणस्य नियम उक्तस्तत्र पूर्वप-
दार्थं स्वबुद्धयति- । "नियमे चे"ति । तदगिरुक्ती तद्दृश्यवच्छे-
द्याप्रतीती विशेषकमकल स्याल्लक्षणं च दुरवधारणमापद्यतेति
भावः ॥ ननु विषयवैचित्र्याधीननित्यतीतत्वेन प्रतीयमान
एव कालः पूर्वकाल इति सुवचनमेवैतदित्याह- । "वर्त्तमाना-
दिप्रतीतिविषयमेव न विद्म इति सोऽवश्यं निर्वाच्य इत्याह- ।
"ने"ति ॥

सू० ० य एव च कालो वर्त्तमान इति प्रतीयते स एव
पूर्वं भावीति पश्चाद्भूत इति च न प्रतीयेत *
त्रिविधस्वभाव एवासी ? *--इति चेन्न, भेद-
प्रसङ्गात् ' व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च " यदेव वर्त्तते
इति प्रत्ययस्तदैव वृत्तो वनिष्यते इति प्रत्ययः
स्यात् ' द्वितीयश्चेदुपाधिरभिधीयतां * सूर्यादिक्रि-
यासंबन्धभेदः स ? *--इति चेन्न, भूतभविष्यतो-
रपि क्रियासंबन्धप्रत्ययस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् ? य
एव दिवसः सूर्यगतिविशेषावच्छिन्नो वर्त्तते इति
प्रतीतः स एव हि तदवच्छिन्नो वृत्त इत्यवगम्यते
वत्सर्वाङ्गति च । नहि निर्विशेषस्य कालस्य तदती-
तत्वं वा किन्तुपाधिविशेषेणैवावच्छिन्नस्य ॥

टी० ॥ एकत्वाभ्युपगमे दोषमाह- । "य एवेति ।
एकस्य विरुद्धत्रैविध्यानुपपत्तिरित्यर्थः । ननु स्वभाव एवास्य
प्रतीतिवलाप्रविध इति न विरोध इति गृह्यते- । "प्रवि-
धे"ति । एकस्य विरुद्धस्वाभाटयानुपपत्तिं रिति परिहरति । नेनि ।
दोषान्तरमाह- । "उच्यते"ति । तदेव दर्शयति- । "यदे
वे"ति । वर्त्तमान एवानीतत्वादिनापि भासेतेत्यव्यवस्थितिः
स्यादित्यर्थः । औपाधिकतवे दोषमाह- । "द्वितीय"इति । वक्त-

नामरक्षणार्थं प्रतिनियतस्वो(१)पाचेरभावात्साधारणेन चोपा-
धिना नियतप्रतीतिप्रयोगोऽनुपपत्तिरित्याह-। "भूतमवि-
द्यतोरपी"ति । भूतमविद्यतोरप्यनौपाधिकत्वमित्याह-। "य
एवे"ति ॥

मू० "येनैवासी पर्वे दिनान्तराद्ध्यवच्छिन्नो वर्त्तत इति
प्रतीतस्तेनैवोपाधिना तत एव द्यवच्छिन्नो वृत्त
इति वर्त्तस्यत इति च कदाचिज्ज्ञायते * ननु
सत्यमेतत्परं यदा तदुपाधिसंबन्धोऽस्य स्वरूपेणाव-
तिष्ठमानस्तदा वर्त्तमानप्रत्ययो यदा स एवविनष्टो
भवति तदा भूतप्रत्ययो यदानागतस्तदा भविष्य-
त्प्रत्यय इति * नैतस्ति, यद्यच लटो विवक्षितोर्थः
तदा तज्ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानोपायत्वमित्यात्माश्रया-
नवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गः "विनष्टादिशब्दाश्चातीता-
दिपर्यायाः तेषां सर्वेषामेवार्थं निरूप्यमाणे तन्म-
ध्यपतितमेकं शब्दं प्रयुज्य तन्निरुक्तिं कुर्वाणः श्ला-
घनीयमज्ञो मातापितृमानसि * क्रियावच्छिन्नः का
लो वर्त्तमानः तत्प्रागभावाच्छिन्नभूतः तत्प्रध्वं-
सावच्छिन्नो भविष्यन् ? *-इति प्रः । अतीताना-
गतप्रतीतिकालोऽपि क्रियावच्छि- प्रतीयत इति
वर्त्तमानप्रत्ययप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात् ।

टी० ॥ वर्त्तमानोपाचेरनियत एवोपाधिभूतमविद्यतोर-
पीत्याह-। "येनैवे"ति । तथाच वर्त्तमानमुद्दिरेवातीतादिवु-
द्धिरपि स्यात्तदुपाधयवच्छेदरूपविषयाविशेषादित्यर्थः । ननुपा-
चेरेकत्वेपि तद्वर्त्तमानातीतानागतसर्वैः प्रत्ययवैचित्र्यं स्यादिति
शङ्कते । "नन्वि"ति ॥ "नैतदि"ति । स्वरूपेणावतिष्ठमान इति
शानच्स्त्वानिमे लट इत्यर्थः । यदि तेनैव वर्त्तमानेन तन्निरूपणं
तदात्माश्रयो वर्त्तमानाकारेण चेतदानवस्थेत्यर्थः । आत्माश्रया-

(१) निवमस्य = असाधारणस्य ।

स्वरमाह—^d“विनष्टा”दीति । विनष्टो ज्ञानीत एवोच्यते तथा-
 चात्माश्रय इत्यर्थः । वर्तमानादिष्ववहादोपाधिभेदं प्रति नियत-
 नाह—। “क्रिये”ति । कालस्थैक्यादेकस्थैव क्रियातत्प्रागभाव-
 तत्प्रवृत्तंसावच्छेदसम्भवे वैचिक्यानुपपत्तिरिति परिहरणम् । घटा
 क्रियापदेन क्रियामाश्रमिधीयते तथाच क्रियाप्रागभावावच्छि-
 षोऽपि^(१) किञ्चित्क्रियावच्छिन्नो भवत्येवेति नैतत्कृतमपि वैचि-
 क्यमित्यर्थः ॥

मू० “क्रियानवच्छिन्नस्य तत्प्रागभावप्रध्वंसभावावच्छेदा-
 नुपपत्तेः प्रागभावश्च प्रागर्यानिरुक्तौ कथं तदुर-
 धिगमः प्रध्वंसस्यापि प्रागभावात्कथं विश्लेषो व-
 क्तव्यः * अभावो विनाशी प्रागभाव उत्पत्तिमान्
 प्रध्वंस इत्यनयोर्विशेष ? *-इति चेन्न, “को हि
 प्रागभावस्य विनाशो येन विनाशीत्युच्यते । यदि
 प्रतियोगिभूतो घटादिः प्रध्वंसस्यापि प्रागभावव-
 त्प्रतियोगीति सोऽपि विनाशी प्राप्यः उत्पत्तिमांश्च
 प्रध्वंस इत्युत्पत्तिपदार्यो विवेचनीयः । यद्यसावसतः
 सत्त्वं तच्च सामान्यं तदाऽभावेऽसम्भव एव । अथ
 स्वरूपसत्त्वं तदा प्रागभावेऽपि प्रसङ्गः/तस्यापि कदा-
 चिदुपत्त्वा तत्पूर्वममनः पश्चात्सत्त्वं विवक्षितम् ? *-
 इति चेन्न, पूर्वदानीं पश्चादर्थस्यैवानिरूपणात्/एतेन
 कारणावच्छिन्नं सत्त्वमुत्पत्ति रित्यपिनिरस्तम् ॥

टी० ॥ तदेवाह—। “क्रियानवच्छिन्नस्ये”ति । प्राक्काल
 एव निरूप्यते प्राक्कालवस्थभाव इत्यात्माश्रय इत्याह—।^b“प्रा-
 गभावश्चे”ति । प्रध्वंसोपि प्रागभावादभिन्न एवेति भूतमवि-
 च्यतेर्नोपाधिवैचिक्यमित्याह—। “प्रध्वंसस्यापी”ति । विना-
 शीति विनाशवान् विनाशश्च प्रतियोग्येव प्रागभावस्यैव प्रध्वं-

(१) क्रियाप्रागभाववच्छिन्न इत्युपलक्षणं क्रियाध्वंसावच्छिन्नोऽपी-
 त्यपि ज्ञयम् ।

सस्यापि समतियोगिनोत्वमेव विनागित्वमित्याह—^d“को ही”
ति । “तच्च सामान्यमि”ति । नत्तेत्यर्थः ॥^e“तस्यापी”ति । उत्त-
रकाले सत एव पूर्वकाले सरवादित्यर्थः ।^f“पूर्वमसत”इति ।
प्रागभावस्य तु पूर्वं स्वरूपभरत्वमेवेत्यर्थः ।^h“एतेने”ति । प्राग-
भावे कारणावच्छेदाभावाकोत्पत्तिरित्यर्थः ।

मू० “पूर्वापरनिर्वचनमन्तरेण कारणार्थानिर्वचनादस्तु
तावदतीतानागतयोर्न्यायातया निरुक्तिः * यत्क्रि-
यावच्छिन्नो यः कालः स तत्क्रियापेक्षया वर्तमानो
न त्वन्यापेक्षया ? *-इति चेन्न, तदपेक्षयेति कोर्यः
^bकिं तदुपधानेन उत तदवधिकतयोत तत्प्रतियोगि-
कतया उत तेन प्रकारेणेत्येव? । नाद्यः ‘तदुपाध्यव-
च्छिन्नस्यातीतानागतप्रतिपत्तिविषयत्वमपि त-
स्येत्यसकृदुक्तत्वात्’नापि द्वितीयः । अस्मादयं दीर्घ
इतिवदस्मादयं वर्तते इत्यवध्यपेक्षामन्तरेण प्रती-
यमानत्वात्सर्वदेव च त्रिविधावध्यपेक्षयासीदस्ति
भविष्यतीति प्रत्ययाद्यवस्थाप्रसङ्गात् ॥

टी० ॥ अतिदेश्यं दृश्यति—^a“पूर्वं”ति । अपरेति स-
म्प्राप्तापातं कार्यं पूर्ववर्तित्वं का णत्वं कार्यत्वं चापरकालव-
र्तित्वमिति परस्परयोपरकालस्यापि कारणत्वनिष्पत्त्वमिति
तात्पर्यम् । न त्वन्यापेक्षयेति । न स्वानवच्छेदकापेक्षयेत्यर्थः ॥
^b“किमि”ति । क्रियाया उपाधित्वमवधित्वं प्रतियोगित्वं
वेति विकल्पार्थः तत्क्रियोपहितस्यैवातीतत्वमनागतत्वं चेत्य-
विशेषः । कालस्यैकत्वादित्याह—^c“उपाध्यवच्छिन्नस्ये”ति ।
क्रियाया अवधित्वे दोषमाह—^d“नापी”ति । किञ्च यथाव-
धिर्वर्तमानत्वे तथा तत्प्रागभावप्रत्ययं भाववधी भूतविषयतो-
रपि स्यातां तैश्चावधिनिरेक एव कालस्तत्प्रत्ययविषयः
स्यात्तदा वर्तत इतिवत्तद्देवासीद्भविष्यतीत्यपि प्रत्ययः स्यादित्य-
व्यवस्था भवेदित्याह—^e“सर्वदेव”ति ॥

सू० "अत एव न तृतीयः । नापि चतुर्थः । ^१अतीतानागत-
प्रतीतिकाले क्रियावच्छेदप्रकारेण वर्तमानप्रत्यय-
विषयत्वप्रसङ्गात् * 'नासी क्रियावच्छेदलक्षणः प्र-
कारोऽतीतानागतकाले वर्तते ? * -इति चेन्न, "वर्त-
मानताया अद्याप्यनिरूपणेन वर्तते इति उक्त्वा वि-
शेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् * तत्क्रियाकाले तत्क्रि-
यावच्छिन्नः कालो वर्तमान ? * -इति चेन्न,

टी० ॥ "अत एवे"ति । अथाप्रतीत्यभाषादेवेत्यर्थः । ननु
अवश्येव तस्यायं वर्तमानः कालः तस्यायनतीत इत्यादिप्रतीतिः
पृष्ठा प्रतियोगित्वस्यैवाभिधानादिनि चेन्न । घटो वर्तत इत्यादि
न स्यात् । त्रिंशु क्रियाया एव प्रतियोगित्वे घटादेःपि वर्तमा-
नत्वे प्राच्ये क्रियानात्र एव (१) प्रतियोगित्वं कुरेदिति भावः ।
एवं क्रियायाः प्रकारत्वेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ^२"अतीतानागते"नि ।
अतीतानागतया च क्रियावच्छिन्नः स एव काल इति तयो-
रपि वर्तमानत्वेन भाग स्यादित्यर्थः । यदा क्रियावच्छेदः प्रकारो
वर्तमानस्तदा तथाप्रत्ययं करोति तदतीतत्वादिदशायां च न
स वर्तमान इति न तादृच्येण प्रतीतिरिति शङ्कते । "नासा
वि"ति । यदि वर्तमानत्वं परिच्छिन्न(२) स्यात्तदा क्रियाव-
च्छेदः प्रकारो यदा वर्तते इत्युक्त्यातीतानागतयोर्विशेषः
प्रतीयेत तदेवाद्यापि न परिच्छिन्नमिति परिहरति- । "ने"
ति । तत्क्रियावच्छिन्नः कालः इत्युक्ते अतीतादावपि प्रसङ्ग
इत्यन उक्तं तत्क्रियाकाले इति ॥

सू० "कालस्य कालाश्रयतया निरूपणासम्भवात्कालान्त-
रस्यानभ्युपगमान्तस्यैव कालस्य तदाश्रयत्वे व्यक्तमा-
त्माश्रयत्वापत्तेः* "स्यादेतत् । ग्राहकविज्ञानविषयो
ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्तमानः वर्तमानो-
पाधिप्रागभावावच्छिन्नश्च पूर्वस्तत्प्रध्वंसाभावव-

(१) क्वचित् क्रियाया एवेति पाठः (२) परिच्छिन्नम्-यवधुतश्च ।

चिद्वन्नस्थानागतः प्रागभावप्रध्वंसयोश्च स्वाभाविकमेव भेदमादाय व्यवस्था प्राग्यवस्थाहेतुरभावः प्रागभाव इति स्वभावभूतस्यैव विशेषस्य कार्यमादाय लक्षणमनागतव्यवस्थानिदानभावः प्रध्वंस इति च प्रध्वंसस्य ? *-इति । मैवं,

टी० ॥ “कालस्य कालाश्रयतये”ति । यद्यपीदानीं काल इति प्रतीत्यनुरोधात्कालेपि । कालः न चात्माश्रयतया यद्यपि न स्वरूपे तस्य तथाप्युपाधिविशिष्टे केवलः केवले चोपाधिविशिष्ट इति सम्भवत्येव काले कालः । किञ्च स्थूलेपाध्यवच्छेदेन सूक्ष्मेपाध्यवच्छेदः कालः सम्भवत्येव भवति हि दिवा मुहूर्त्तमित्पाद्याविधां तथापि तत्राप्यस्तीतादिविशेषको प्रयोगो (१) नास्तीति भावः । वर्तमानविषयकज्ञानाश्रयः कालो वर्तमानः एवं तदतीतत्वाद्यपि निर्वाच्यमिति शङ्कते-। ^b“स्यादेतदि”ति । ननु प्रागभावप्रध्वंसावेव दुर्बचावित्यत आह-। “प्रागभावप्रध्वंसयोरिति । व्यवस्थानलक्षणं कार्यमादापेत्यर्थः । यद्वा कार्यपदेन प्रतियोगीत्युच्यते तथाच प्रतियोगिजनको ऽभावः प्रागभाव इत्यर्थः ॥

सू० ॥ ज्ञानाऽस्वप्रकाशतापक्षे स्वोपहितस्य स्वयं ग्रहणानुपपत्तेः कथं वर्तमानताग्रहः ज्ञानान्तरेण च तथाग्रहे वर्तमानतावभासाङ्गीकारे तदासीं दृष्टो मयेति प्रत्ययस्य तदासीं मया दृश्यत इत्याकारतापत्तिः अत एव स्वप्रकाशपक्षेऽप्यनिस्तारः ^bयावानर्थः स्वप्रकाशे वर्तमानतयोक्तस्तावत एव परेण ग्रहणे व्यभिचारात्स्वप्रकाशतायाश्चाधिक्येऽपि विषये विशेषाभावात् ^d* त्वरूपमेव विशेषः ? *-इति चेन्न,

(१) अस्तीतादिभ्यो वर्तमानस्य विशेषकोऽयं भेदकोऽप्योगः सदकारो नास्तीत्यर्थः । अस्तीतादिकालेतिप्रवृत्तवारणमेतावतापि न भवतीति भावः ।

टी० ॥ ^a“ज्ञाने”ति । वर्तमानताग्राहकं ज्ञान स्वप्रकाशमस्वप्रकाशं वा ? । अन्त्ये वर्तमानत्वग्रहो न स्यादेव तस्य ज्ञानघटितत्वात् वर्तमानताघटकज्ञानानन्तरमुत्पत्तेनापि ज्ञानेन यदि वर्तमानताघटस्तदा दृष्टं तन्मयेत्यत्रापि दृश्यते तन्मयेत्याकारः स्यात् तदपगमेपि तथा तद्ग्रहस्येष्ट्यमाणत्वादि-त्यर्थः । ^b“यावानर्थे”इति । ग्राहकज्ञानविषयो ग्राहकाज्ञानाग्रयश्चैक एव कालोतीतादिसाधारण इति सैवावयवस्या । किञ्च पठेणाप्यतीतत्वादिग्राहकेणापि ज्ञानेनायमेवार्थो गृह्यत इति तस्य वर्तमानग्राहकता नास्तीति उच्यभिचार इत्यर्थः । ननु स्वप्रकाशात्मकज्ञानविषयत्वे सति तादृशज्ञानाग्रयत्वं विवक्षितमिति नोक्तदोष इत्याशङ्कते—। “स्वप्रकाशताया”इति । एतावताप्यतीतादिवैलक्षण्यमनिरुक्तमेवेत्यर्थः । ननु स्वेनेव विषयीक्रियमाणं तज्ज्ञानं वर्तमानत्वप्रत्ययं करोति नान्येनेत्यतीतादीकः प्रसङ्ग इति शङ्कते—। ^d“स्वरूपमेवे”ति ।

सू० “तस्यानुगमाननुगमाभ्यामनुपपत्तेः प्राक्प्रध्वंसभाव-
योश्च स्वरूपतो विश्लेषेऽपि ^hकतरो भूतव्यवहारस्य
कतरश्चानागतव्यवहारस्योपाधिरित्यनुयुक्ते कार्य-
भेदजनकतया च तन्निरुक्तावुत्तरे पूर्वप्रत्युक्तां पूर्व-
तापरतानिरुक्तं विना जन्यजनकत्याज्ञानमिति ^hउं-
पाधिभेदाच्च कालभेदे योऽप्येकतयाभिमतः कालः
सोपि चन्द्रसूर्यक्रियाद्यसङ्ख्योपाधिभेदसम्भवेन नाना
स्यात्तत्रायमेवोपाधिर्नायमिति चाविनियम्यत्वा-
त्प्रतिज्ञास्वभावभेदवादिपक्षे च नानाक्षणेषु वर्त-
मानत्वादिव्यवहारायमुपाध्यनुसर्णावश्यम्भावेना-
क्तोपाधिदोषग्रसस्यैवापातादिति ^{b*} ननु तथापि
तावद्विषयभेदेनावश्यं भवितव्यं ^hप्रतीतिभेदस्य दुर-
पहवत्वा-

टी० ॥ चैवज्ञानस्य स्व उद्वाच्यत्वे चैत्रस्य वर्तमानताप्रत्य-
यो न स्यादिति परिहरन्ति-। २० "तस्ये"ति ॥ २१ "कतर"इति ।
लक्षणमन्तरेण तत्त्वग्रहमेवे(१)त्यर्थः । "कार्यभेदे"ति । पूर्वपरचा-
द्रूपव्याहरणलक्षणकार्यभेदः यथापरभावनिवृत्तिमन्तरेण शक्यग्रह
एवेत्यर्थः । उपाधयः । सर्वादि(२)स्यन्दा बहव इति तमुपहितस्यै-
कदेशे बहुत्वप्रसङ्ग इत्याह-। २२ "उपाधी"ति । नन्वेकेन केन-
चिदुपाधिनापहितत्वे नैकमानात्प्रतिरूपत आह-। २३ "तत्रे"ति ।
ननु प्रतिलक्षणकालस्वरूपभेदाधीनमेव वर्तमानादिकथयहारवे-
दित्यं स्यादत आह-। २४ "प्रतिज्ञा"नि । संशयसंबन्धन प्रती-
ति-। २५ "ननु तथापी"ति ॥ २६ "प्रतीतिभेदस्ये"ति । प्रतीति-
भेदवैलक्षण्यस्येत्यर्थः । विषयभेदमन्तरेण सर्वाः प्रतीतय एका-
काराः स्युरिति भावः

सू० दतः "सामान्यतः सिद्धौ विशेषतो विवेचनाशक्ती
भेदे संशय एवास्ताम् ? *-इति चेन्न, संशयस्यापि
निर्वक्तुमशक्यत्वात् तथापि संशयस्य निश्चयात्कि-
मुपाधिकृतेो विशेषः उत जातिकृतः ? । आद्ये किं^६
विषयविशेषेणोपाधिना उत 'कारणविशेषेण उता-
न्येनैव केनचि*संबन्धिना कृतः न तस्यानिर्वचनात्
* उभयकोटिविषयः संशय*इति चेन्न, कोटिद्वयस-
मुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वप्रसङ्गत् । * प्रतीतिरेव-
नैव(१)म् ? *-इति चेन्न, भेदाभेदप्रतीतीनां शाब्द-
स्वप्नादिप्रतीतीनां च तादृशासम्भवात् । *समुच्च-
यप्रकाशे कोटयोरविरोधः प्रकाशते संशयेत् विरोध
? *-चेन्न, पीतः शङ्ख इत्यादिषु पीतत्वशङ्खत्वदे-
भिर्नानाश्रयतानियमं विरोधं जानतोपि प्रत्ययात् ॥

(१) अतएवग्रहमेव, तन्नु अग्रःमेवेति वा पाठः ।

(२) सर्वादिपदेन चन्द्रादयः ।

(३) एकस्मिन् धर्मिणीति शेषः ।

टी० ॥ “सामान्यत” इति । प्रतीतिभेदात्प्रधानुपपत्त्या
विषयभेदः सामान्यतः सिद्धोऽपि स्वरूपाभ्योन्याभाकवैषम्याणां
प्रत्येकमनुपपत्तौ तत्र सन्देह इत्यर्थः । यद्वा विषयभेदो घटा-
दिरेव निर्वक्तुमशक्य इति सन्देह इत्यर्थः ॥ ६६ “विषयविशेष-
ेषु”ति । विरोधिनः काटिह्यदिनेत्यर्थः ॥ “कारणविशेषणे”
ति । समानधर्मज्ञानादिनेत्यर्थः । स्थानरयं पुरुषश्चेत्यत्राति-
व्याप्तिमाह— । ६७ “कोटिद्वये”ति ॥ “भेदाभेदे”ति । भिन्नो यम-
भिक्षश्चेति मते तादृशप्रतीतसम्भवात् भिन्नो यमभिक्षश्चेति
शाब्दप्रतीतेस्सम्भवादित्यर्थः । “अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थ-
शब्दः करोति ही”ति न्यायादिति भावः । विरोधिविषयत्वं
लक्षणमाशङ्कते— । “समुच्चये”ति ॥

सू० * “तथापि तस्यां बुद्धौ न भ्रमते विरोध ? *—इति
चेन्न, कथमेवमिति प्रकाशेऽपि तत्प्रकाशात् तयो-
रेकाग्रययोर्विरोधप्रतीतेरवश्योपेयत्वात् * “मिथ्या-
धियस्ता इति ? *—चेन्न, संशयस्यापि भवद्भिरत-
त्त्वबुद्धितयाङ्गीकारात् तत्त्वातत्त्वबुद्धयोश्च तद्वि-
षयत्वेन विशेषाभावात् । नहि मिथ्या रजतबुद्धौ
रजतबुद्धिरेव न भवति । अथवस्थितकोटिद्वयविषयसं-
शय इति चेत्, केयमव्यवस्थितता पाक्षिकतेति चेत्,
न पर्याय पृच्छसोपितु किं कोटिद्वयस्वरूपमेव उत
कोटिद्वयस्य धर्मः कश्चिदाद्यं कोटिद्वयनिश्चयेन
सहाविशेषस्तदवस्थः द्वितीये यद्य “सौ केनचित्प्र-
माणेन सिद्धः ॥

टी० ॥ पीतत्वशङ्कान्वयोर्द्यपि वास्तवो विरोधस्तथापि
पीतः शङ्क इति प्रतीतो न भ्रमते इति नातिव्याप्तिरित्याह— ।
“नयापी”ति । कथमयं शङ्क, पीत इत्यर्थं संशयस्यापि पीतः
शङ्क इति निश्चयदर्शनादित्याह— । “कथमि”ति । ननु कथ-
मेवमिति पृथगेव विरोधज्ञानमित्यत्र भाह— । “तयोरि”ति ।

शङ्कत्वपीतत्वयोरित्यर्थः ॥ ननु विरोधे भासमाने नानाको-
टिकं प्रमारूपं ज्ञानं संशयः शङ्कत्वपीतत्वसमुच्चयज्ञानं न तथे-
त्याह-। ^a“मिदये”ति । लक्षणमिदमस्मिन्नि सशयस्यापि प्रमा-
त्वादित्याह-। ^b“ने”ति । ननु तद्वस्तुद्वित्वेन लक्षणं विशेष-
णीयं येनासुभ्रवः स्यादपि तु वस्तुस्यतिस्तादृशोत्याह-
। ^c“तत्रे”ति । विरोधकोटिद्वयविषयकत्वस्माद्विशेषादित्यर्थः ॥
^d“कठयवस्थिते”ति । समुच्चयस्तु विरोधविषयकापि कठय-
स्थितकोटिक इति भावः ॥ ^e“अभावि”ति अठयवस्थितेत्यर्थः ।

सू० “तदा तस्यैव कोटिद्वयाश्रिततद्गुणविषयस्य संश-
यत्वप्रसङ्गेन प्रमाणात्वव्याघातः । अथ कस्य चित्प्र-
माणस्य नासौ विषयः नास्ति तर्हि विषयकृतो
विशेषः एतेनान्योपि यः कश्चिद्विषयविशेषः स्या-
णुतदभावपुरुषतदभावादिरूपोभिधीयते सोऽपि नि-
रस्तो वेदितव्यः अत्यन्ता ‘सत एव च तस्य प्रति-
भासे जितं जिनैरसत्ख्यातिवादिभिः क्वचित्सतश्चे-
न्न त्रैव प्रसङ्गः नापि द्वितीयः कारणविशेषो हि
विशिष्य सामग्री स्यात्तदेकदेशो वा ? । नाद्यः तस्या
अप्रत्यक्षत्वे तदुपहितस्य प्रत्यः सोऽवगमानुपपत्तेः ।

टी० ॥ ^a“तदे”ति । अव्यवस्थितत्वं विषयीकुर्वत प्रमा-
णमठयवस्थितविषयतयासंशयः स्यादेवेत्यर्थः । ^b“नास्ती”ति ।
विषयविशेषस्याव्यवस्थितत्वासिद्धेरित्यर्थः ॥ ^c“एतेने”ति ।
प्रमाणासिद्धत्वासिद्धत्वविकल्पेनेत्यर्थः यद्यपि स्यात्पुरुषत्व-
तदभावानां प्रत्येकं प्रमितत्वेनैकत्र दोषवशादारोपः सम्भवति
स एव च संशयस्तथापि विजिघटं न प्रमितमित्यर्थः । ननु तत्र
प्रमितत्वं अतन्प्रमित्यन आह-। ^d“मत”इति । अत्यन्तानद्वि-
षयत्वमेव तर्हि संशयस्य स्यादित्यर्थः ॥ ^e“तत्रैवे”ति । येन
प्रमाणेन तद्ग्रहणं वाच्यं तस्यैव सशयत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । कारा
णोपधानेन संशयस्य टैलत्वयं निरस्यति-। ^f“नापी”ति ॥

*“तस्या” इति । दृष्टादृष्टकारणरूपरूपायास्त्वान्मया उपधाव-
कत्वे संशयः क्वापि माननप्रत्यक्षविषयो न स्यादित्यर्थः ॥

मू० “न च तस्या अनुमेयत्वं लिङ्गानुभवात्, ^६कार्यवि-
शेष एव लिङ्गम् ? *—इति चेन्न, ‘कार्यगतस्यैव विशेष-
णस्य चिन्त्यमानस्याद्याप्यप्राप्तेः’ जातिभेदस्य दूष-
णोपत्त्वात् । नापि द्वितीयः। दृश्यस्य तदेकदेशस्य सा-
धारणधर्मदर्शनादेर्विशेषद्वयस्मरणादेश्च साधारण-
धर्मविशेषद्वयज्ञान प्रत्यक्षादावपि हेतुत्वेन साधार-
ण्यत् अदृश्ये च तस्मिन्लिङ्गाभावात् तेन कार्य
विशेषजात्याधानस्य निरस्यत्वात् १ तस्या अविषय-
त्वेनानुठयवमायसाक्षिककार्यगतविशेषिभवेनाऽसा-
मर्थ्यात् ॥

टी० ॥ नञ्चतुमानोपहिता संशयसामग्रीसंशयानुव्यवसा-
यविषयः स्यादित्यत आह । “नचे”ति ॥ ^६“कार्यविशेष” इति ।
संशयरूप इत्यर्थः । ज्ञानान्तरापेक्षया संशयस्य सञ्ज्ञाभेदकाभावेन
तद्विषयामिद्वैरित्याह—। ^६“कार्य”ति । ननु संशयत्वज्ञानिरेव
कार्यविशेषिका स्यादित्यत आह—। “जाती”ति । आदिपद-
याच्य धर्मिज्ञानविशेषादर्शनादि ॥ ^६“साधारणे”ति । साधार-
णधर्मज्ञानस्य कोटिस्मरणस्य धर्मिज्ञानस्य च यस्मानसं प्रत्यक्ष
तस्यादि जन्यतया तत्रातिव्याप्त्यर्थः १ “तेने”ति । तेनाती-
न्द्रियकारणोपनायकमित्यपि नेत्यर्थः । तस्यां जातावनुपलम्भ-
बाधनाह—। “तस्या” इति । जातिश्चेददृश्येन कारणेन संशये
काविदाधेया तदा योग्यव्यक्तिवृत्तितया सा योग्या स्यात्क-
चैवमित्यर्थः ॥

मू० “नापि तृतीयः । तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ^६नच द्वि-
तीयः धर्मिस्वरूपादेरपि तद्विषयतया संशयित-
स्वप्रसङ्गात् न चैवं न ह्ययं स्यात्पूर्वा पुरुषो वेति सं-

शये सतीदमा परामुष्यमाणस्योद्धृतत्वशालिने धर्मि-
णः स्वरूपसत्त्वेपि स्वरूपमेव भवति न वेति तद्द्र-
ष्टुरभिमानो व्यवहारो वा किन्नाम तत्र । किमि-
ति चेत्, 'एकस्यैव ज्ञानस्य निश्चयत्वसंशयत्वजा-
तिसङ्करः * / स प्रामाण्याप्रामाण्यवद्भविष्यति ? * -
इति चेन्न, अत एव हि तयोरपि जातित्वानङ्गीकारः
किन्नाम ।

टी० ॥ येनकेनचिदुगाधिनेति शङ्कितं पक्षं दूषयति-
"जापि तृतीय" इति । जातिविशेषं दूषयति-। "नच द्विती"।
य" इति । संशयत्वजातेर्बाह्यवृत्ततया धर्म्यशेति सन्दिग्धत्व
स्यादित्यर्थः ॥ ननु धर्म्यशेपि संशयः स्यात्तदायं धर्मो न वा
स्वरूपमिदं न वेति तदाकारस्यादित्यर्थः । प्रत्युत धर्म्यशे
निश्चयत्वमेवाह-। "किं नामे"ति ॥ "एकस्यैवे"ति । यद्य-
प्यनुभवत्वमाज्ञात्वादिना परापरभावानुपपन्नानित्यत्वं न
जातिस्त्वयापि उपाधिरपि निश्चयत्वं संशयविरोधिज्ञानत्वमेव
वाक्यं तच्च कथं संशयवृत्ति स्यादिति भावः ॥ नन्वमभेदेन
०थैकत्वं प्रमात्वमप्रमात्वं च यथा तथा निश्चयत्वसंशयत्वे
स्यातामित्याह-। f "स" इति । जातिसङ्कर इत्यर्थः ॥

सू० ० तथाभूताऽतथाभूतार्थतालक्षणोपाधिद्वयरूपता-
स्वीकार एव तयोः ० यदा च संशयत्वलक्षणजा-
तिद्वयसम्भवं तद्विज्ञानमास्थियते तदा कञ्चिद्वि-
षयमपेक्ष्य संशयत्वं किञ्चिदपेक्ष्य निश्चयत्वमित्या-
पेक्षिकी जातिव्यवस्थितिरित्यपूर्वः पन्थाः ० ईदृ-
शस्य पथः पान्थेनापि भवता किं नियामक्रमभि-
धेवं येन धर्मिणि तस्य निश्चयत्व व्यवतिष्ठते वि-
शेषद्वये च संशयत्वं विशेषदर्शनादर्शने इति चेत्
तर्हि भवति स्यात्तोः स्यात्तुत्वं पुरुषत्वं पुरुषस्य

विशेषः प्रतीयते चासाविति विशेषदर्शनात्तत्रापि
निश्चयप्रज्ञः ॥

टी० " तथाभूते' ति । सत्यानुभवत्वात्सत्यानुभवत्वालक्ष-
कमुपाधिद्वयमित्यर्थः । ननु तथाप्यत्रच्छेदेनेदैनैकत्र वृत्तिर्निश्च-
यत्वसंशयत्वयोस्त्वयात्संयोगतद्भाववदित्यत आह— "तद्यदा
चे'ति । तर्हि धर्म्यपेक्षया निश्चयत्वं कोटिद्वयापेक्षया संशय-
त्वमिति ज्ञातेः सापेक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ नन्वन्यत्र यथा त-
थात् संशयत्वसम्भवे त्ववस्थितिरुभयोरनुभूयत एवेत्यत-
आह— " हेतुशून्ये'ति धर्म्यंशे निश्चयत्वं कोटिद्वये च तस्य
संशयत्वमत्र यदि किञ्चिद्विधानक स्यात्तदानुभवोऽप्ययत्नस्यसा-
मिदुस्त्वयात् तत्रेवमित्यर्थः ॥ ननु कोटिद्वये विशेषादर्शनात्सं-
शयो धर्मिणि विशेषदर्शनात्निश्चय इत्याह— " विशेषे'ति ।
स्याणुपुरुषयोः स्याणुत्वपुरुषत्वे विशेषेण दृश्येते इति तत्रापि
निश्चय एवायं स्यादित्यह— " तर्हीति ॥

मू० " संशयात्पूर्वं नास्ति विशेषदर्शनमिति युक्तः त-
त्रापि संशय ? *—इति चेन्न, धर्मिधियः पूर्वं
तर्हि कथं तद्रूपविशेषदर्शनं स्यात् " संशयकाले
चास्ति विशेषदर्शनमित्यनन्तरं तर्हि संशया न न-
वृत्तिप्रसङ्गोपि युक्त एव * " तदीयविषयाद्विशेषा'
द्वयतिरिक्तस्य विशेषस्य दर्शनं विवक्षितम् ? *—
इति चेन्न, " स्याणुर्वा पुरुषो वेति संशयानन्तरं
दारुमयो मांसमयो वायमिति संशयो नोपपद्यते
तदुभयत्वातिरिक्तयोः स्याणुत्वपुरुषत्वयोर्विशेषयोः
पूर्वज्ञानेनोल्लिखितत्वात् * अन्यतरविशेषदर्शनं सं-
शयप्रतिरोधकं संशयेन तन्मथोरुपदर्शनमतो नोक्त-
दोषप्रसङ्ग * इति चेत्, तर्हि स्याणुः पुरुषश्चेति

कुतोऽपि विभ्रमे जाते दास्यमयो वा भास्यमयो / वेति
संशयप्रतिरोधो न स्यात्

टी० ॥ ननु संशय तदुभयनिश्चयत्वमापद्येत तदा
तस्मात्पूर्वं तदुभयविशेषदर्शनं स्यात् त्वेवमित्याह—। “सश-
यादि”ति । धर्मिदयपि विशेषदर्शनं सशयात्पूर्वं नास्तीति
तदंशेऽपि निश्चये न स्यादित्याह—। “धर्मिधिय”इति ।
दूषणान्तरमाह—। “संशयकाले”इति । प्रथमसंशयरूपविशेष-
दर्शनात्संशयधारावाहिकज्ञानं न स्यादित्यर्थः । ननु तत्संशयमा-
रभत कोटिद्वयं भतिरिक्तविशेषदर्शनेन तत्संशयप्रतिबन्धकं
प्रकृते तु न लयेत्याह—। “तदीये”ति । तर्हि यद्विशेषद्वय-
विषयकः प्राथमिकः संशयस्तदतिरिक्तद्विशेषद्वयविषयकस्तत्र
धर्मिषि न स्यादित्याह—। “स्यात्पूर्वं”ति ॥ / “कुतोपी”ति ।
शब्दाभासादेरपीत्यर्थः ॥ ननु विशेषानिश्चयः संशयप्रतिबन्धकः
स च प्रकृते नास्तीत्याह ।—

म० पूर्वज्ञानेन विशेषद्वयोपदर्शनस्य कृतत्वात् * । वि-
शेषदर्शनं हि विशेषानिश्चया विवक्षितो न तु विशेष-
ज्ञानमात्रं येन संशयोपनीतादापि विशेषात्संशयप्र-
तिरोधः प्रसज्येतेति चेत् ?—मैवं, संशयेन या-
द्युपदर्शितौ विशेषौ तत्र न संशयस्य निश्चयत्वमिति
व्यवस्थायां सिद्धायामुपदर्शितनियामकसिद्धिर्भवति
सिद्धे वा ऽस्मिन्नियामके संशयस्य विशेषद्वयं प्रति
निश्चयत्वं नास्तीति सिद्धयेदित्यन्योन्याश्रयापत्तेः।
को वारयिता? । * स्यादेतत् । संशयज्ञानस्य धर्मिवि-
षयत्वेभ्युपगम्यमानेऽद्ध्वंशसमापद्येत तच्च तदनभ्यु-
पगमे एव निवर्तते तेन धर्मिज्ञानं निश्चयात्मकम-
न्यदेव स्यात्पूर्वं पुरुषो वेति चान्यदेव संशयज्ञानमि-
त्यभ्युपैष्याम इति चेत् ?—मैवम्, एकधर्मिसंबन्धो-
पनयनव्यतिरेकेण स्यात्पूर्वपुरुषत्वयोर्विरोध एव

नास्तीति स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येतदेव न स्यात् । न हि
ब्रह्म कस्यचित्स्थानुत्त्वेन यस्यकस्यचित्पुरुषत्वं वि-
रुध्यते । एकधर्मिसंबन्धमनन्तर्भाष्य विरोधे जगति
तयोरन्योन्यस्य व्यतिरिक्ततोरसत्त्वमेव प्रसज्येत ॥

“विशेषे”ति । मशयस्यनिश्चयाद् भेदे सति संशयोपस्था-
त्रितादपि विशेषाक संशयबाध इति स्यात्स एत तु नाद्यापि
निद्रु इत्याह- । b. “संशयेन यावि”ति । नियामकनिद्रुरिति वि-
शेषानिश्चयत्वस्य सहायप्रतिबन्धकत्वेन मवदुकनियामकस्य
मिद्धुरित्यर्थः । तथाच संशयज्ञा .स्य निश्चयायकत्वनिद्रौ भवदु-
क्तनियामकत्वनिद्रुस्तत्तिमद्रौ च संशयत्वे व्यवस्थिते निश्चयत्व-
सिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ।

म० “तस्य धर्मणो वा पुरुषत्वनिश्चयाद्यथा संशयो नि-
वर्तते नेत्पद्यते वा तथा स्वात्मनः पुरुषत्वनिर्णया-
त्संशयो निवर्तते नेत्पद्येत वा विशेषाभावाद्यथायं
इष्टुर्न स्वशरीरविषयः संशयः तथैव पुरोवर्तिवि-
षयोऽपि नाभौ कथं वेदमर्थेन सामानाधिकरण्या-
भिमानः योयमूर्ध्वताधर्मा स किं स्याणुरुत पुरुष
इति कस्माद्वा प्रत्यभिज्ञानादयोप्येकं ज्ञानमङ्गीकृता
इत्युच्छिन्नः विशिष्टविज्ञानसंकथा मंजातश्च गौरप्रवः
पुरुष इतिवद्विशकलितो विज्ञानसंसार इत्यास्तां
विस्तराभिनिवेशः * नन्वस्ति तावदयं स्थाणुर्वा
पुरुषो वेति परस्परविरुद्धार्थाविगाही प्रत्ययः स
स्वविषयं तथाभूतमुपस्यारयिष्यति * न, उक्त-
बाधकैः सर्वप्रकारखण्डने परिशेषामम्भवात् । यच्च
स्वरूपमादाय विरुद्धार्थत्वमभिधीयते तदपि निर्वक्तं
न शक्यते । तथाहि भावतदभावयोः को विरोधः *
सहानवस्थानम् ? *-इति चेन्न, देस्यभेदेन सहाप्यव-

स्थानात् * देशाभेदेन ? *-इति चेन्न, 'संयोगाद्या-
व्यापकत्वं यद्यभ्युपैषि तथाप्यनुपपत्तिः । प्रकारभेदेन
तथा भावस्याभ्युपगमात् * तस्य पक्षे एकेन प्रका-
रेणैकस्मिन् सहानवस्थानं विरोधः, संयोगाद्याव्या-
पकत्वानभ्युपगन्तृपक्षे च देशाभेदेन सहानवस्थानं—

टी० ॥ शङ्कते - । "नस्ये"ति । पक्ष संयोगादेः स्वाभावस्य
मादेश्याङ्गीकारपक्षे पक्षे धर्मिणि वा । ननु येन संयोगादीना-
मव्याप्यवृत्तित्वेनाभ्युपगम्यते तन्नते एकेन प्रकारेणेति उपर्य-
मत आह- । ४ "संयोगादी"ति ॥

सू० स ? *-इति चेन्न, तद्धि तदुभयावस्थानसाहित्यनि-
षेधा वा तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यं वा स्यात् ।
आद्योऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्व तदुभयावस्थानसाहि-
त्यस्य क्वचिदप्यप्रमितेः शशविषाणनिषेधादेश्च
'शशके विषाणनिषेधादिरूपत्वाङ्गीकारेण प्रसिद्धप्र-
तियोगिकत्वाभ्युपगमात् यदाहैके वस्तुनः प्रति-
योगितेति अन्यश्च लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्सादृशेव
निषिध्यते इति । द्वितीये तु तदुभयावस्थानसाहि-
त्यस्वीकार एव स्यात्तदुभयनिषेधयोस्तदुभयतयैवा-
ङ्गीकारात् *परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोध ? *-इति
चेन्न, तद्धि

टी० ॥ न इति । विरोध इत्यर्थः । तद्गीति । सहानवस्था
नमित्यर्थ । तदुभयानवस्थानसाहित्यमप्रसिद्धत्वात्किञ्चेद्दु मशक्य-
मित्याह । "अप्रसिद्धं"ति । ननु शशविषाणं नास्तीति वच-
नाद्यथा प्रसिद्धमेव विषाणं निषिध्यते तथा प्रकृतेऽपि स्याद-
त्यत आह- । ४ "शशे"ति । तत्र गवादिविषाणं प्रसिद्धमेवाधि-
करणे निषिध्यते तत्र व्यधिकरणमेव शशीयत्वं तद्गोमादौ
प्रसिद्धं प्रतियोगिभावच्छेदकमिति नाप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वमि-

त्पर्यः । ननु क एवमाह यदप्रसिद्धं तत्र निश्चितत्वेऽन आह—
 “यदाहे”ति । एक इति । अभावविरहात्मस्य वस्तुनः प्रतियो-
 गितेति कुसुमाञ्जलाबुदयनः । अन्य इति । प्रमाणादीकाया वाच-
 स्पतिरित्यर्थः । ६६धरूपं ज्ञातस्वरूपम् । तादृगिति । यथाप्र-
 मितमित्यर्थः । द्वितीये इति । तदुभयावस्थाननिषेधो हि तदु-
 भयपर्यवसन्न एव घटाभावनिषेधस्य घटत्वाघटत्वनिषेधस्य च
 घटाभावरूपत्वादित्यर्थः ॥

म० परस्परप्रतिक्षेपं प्रति 'कारणत्वं वा तदा तदात्म्यं वा ?
 न प्रथमः । प्रमाणाभावेन तथाविधतत्कार्यानङ्गी-
 कारात् । न द्वितीयः । प्रतिक्षेपशब्दार्थन्योभयानुगत-
 स्थानिर्वचनात्-यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वं निय-
 मेन यत्स विरोधस्तयोः ? *—इति चेन्न, सत्त्वाम-
 त्वयोरेकापराश्रयत्वे वैधधिकरण्यात् सन्वधस्य तद्-
 ध्यतिरेकत्वे एकसत्त्वस्यैव चापरासत्त्वात्मकतया
 वचनार्थप्रसङ्गेन पीनरुक्तधाद्यापातात् ॥

टी० ॥ ननु भावेनाभावः प्रतिलिप्यते अभावेन च भाव
 इति परस्परप्रतिक्षेपकत्वमेव तयोर्विरोध इति आह—। “प-
 परस्परदे”ति । प्रतिक्षेपक इति कर्त्तरि क इति प्रत्ययविभक्त्या-
 यामाह—। ६ “कारणत्वं वे”ति । स्वार्थं क प्रत्ययविभक्त्यामा
 ह—। तादात्म्यमेति । प्रमाणाभावेनेति । नहि घटेन स्वाभावलु-
 क्षणं कार्यं जन्यते न वा तदभावेन घटलक्षणमित्यर्थः । न
 द्वितीय इति । प्रतिक्षेपशब्दोऽभावार्थश्चेत्तदा “भावस्तदर्थो न
 स्यात् भावार्थश्चेत्तदाऽभावार्थो न स्यादित्यर्थः । यत्रैकस्येति ।
 यत्र भावस्य सत्त्वं न तत्राभावस्य तथाच न परस्परपक्षया भा-
 वानाधिक-व्यमित्यर्थः । घटाकाशत्वस्य घटाश्रयत्वं तदा भावा-
 श्रयत्वस्य तदभावाश्रयतया यत्र तत्रैति सामानाधिकरण्यादि-
 र्याह—येत्येत्याह—। “सत्त्वामत्वयोरिति ननु घटतदभाव-
 स्वरूपसत्त्वानसत्त्वे न विवक्षिते येन वैधधिकरणं स्यादपि तु यत्र
 भूतभादावेकस्य संबन्धस्तत्रापरस्य तदभावस्य नवन्व इति विव-

ज्ञितमिन्प्राशङ्क्याह-। "सबन्धस्य तदुच्यतिरेकत्वे" इति ॥
 म० यत्र घटाभाव इत्यत्र खल्वयमर्थो यन्नाम यस्याधेय-
 तया संबन्धी घटाभावस्तत्र घटो नास्तीत्वस्याप्य-
 यमर्थः तस्याधेयतया संबन्धी घटाभाव इति यत्र
 घट इत्यस्य कार्यः यस्याधेयतया संबन्धी घटः
 तत्र घटाभावो नास्तीति कार्यः तस्याधेयतया
 संबन्धी घटाभावसंबन्धनिषेधः घटाभावसंबन्धस्य
 घटाभावत्मकतया घटाभावनिषेद्यापि घटात्मकते-
 नि "तस्मात्तस्याधेयतया संबन्धी घट इत्येवार्थं अतो
 घटतदभावयोर्भेदं मनसिकृत्यापि न विप्रतिपत्तय-
 मिति * यत्रैकस्यावस्थानं तत्रैकस्यैवेति नियमा-
 भिप्रायेण न पौनरुक्त्यादिः ? *-इति चेन्न, निय-
 मस्य यत्किञ्चिदन्यथवच्छेदकत्वेऽसिद्धत्वापातात् ॥

टी० ॥ तर्हि घटस्य सत्त्वमेव तदभावात्सत्त्वमिति यत्र
 घटसत्त्व तत्र घटानसत्त्वमित्ययमर्थः पर्यवस्येत् । तथाच पौनरु-
 क्त्यादेकस्यैव विरोध इति प्रतियोगिनोभिधानेऽपरानभिधा-
 नमित्येवाव्याप्तिरित्यर्थः । पौनरुक्त्यमेव व्याख्याय स्फुटवति
 यत्र घटाभाव इति । पौनरुक्त्यं व्याख्यायाठयास्मिन्पुनसंहरति-।
 ५ "तस्मादि"ति । यद्यपि घटतदभावयोर्भेदो मनसि वर्तते
 तेनापि तदुच्यतिरेकत्वरूपमनेन लक्षण्येन प्रतिपत्तयं न
 बोद्धव्यमेकस्यैव विरोधप्रतियोगिनोभिधानादित्यर्थः । ननु
 विशेषश्चेन्न पौनरुक्त्यमिति यत्रैकस्यासत्त्वं तत्रैकस्य सत्त्व-
 मिति द्वितीयं वाक्यं नियमपरमिति नोक्तदोष इति शङ्कते-।
 १ " यत्रैकस्ये"ति । तत्रैकस्यैवेत्येवकारस्यायोग्यवच्छेदार्थस्य
 घटादि वत्किञ्चिदन्ययोग्यवच्छेदश्चेदर्थस्तदा विरोध एव
 न सिद्धयेकवाप्रतिपाद्येतेत्यर्थः । अनिदुत्वापातो लक्षणस्यास-
 त्ववित्त्वं वा नहि यत्र भूतले कपाले वा घटस्तत्र तत्तद्वर्णा-
 दिकमपीति येनाव्ययोग्यवच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥

म० "विरोधिष्यवच्छेदकत्वस्य च विरोधानिर्वचनेऽनिर्वचनात् *^aअभावपक्षे भावव्यवच्छेदे भावपक्षे चाभावव्यवच्छेदे नियमार्थः ? *—इति चैत्र, "एकरूपानभिधानेऽनुगतविरोधानिर्वचनात्^d किंच भावाभावव्यवच्छेदयोरभावभावविधानातिरिक्तयोरनभ्युपगमे पुनरपि च यत्र भावस्तत्राभावोयत्राभावस्तत्र भाव इत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरभेदादिति पौनरुक्त्याधिकफलाभाव एव * 'स्यादेतत् भावाभावयोः स्वरूपमेव नचैयं सत्यविरुद्धतापत्तिः यथा सत्ता भावरूपैव सती स्वात्मनि सदिति भवितृष्यवहारं करोति तथा भावाभावौ विरोधात्मानावेव स्वात्मनि विरुद्धरूप भवितृष्यवहारं कुर्वाने कस्यैतौ विरोध इति चानुयोगे स्वाश्रयस्येत्युत्तरं, किं तत्र विरोधफलमिति प्रश्ने भेदव्यवस्थानमित्यभिधेयम् ॥

टी० ॥ नन्वन्यमात्रं न व्यवच्छेद्यं येनासंभवस्स्यादपितु विरोधिनाऽन्यस्माद् व्यवच्छेदेऽभिमत इति तथाह—
 "विरोधी"ति । ननु विरोधित्वेनान्यपदार्थनिवचने दोषः स्यादिह तु तत्रैकस्यैवेत्येकपदेनाभावविवक्षायां भावव्यवच्छेद इति नोक्तदोष इति शङ्कते—^b "अभावपक्ष" इति । सकृदुच्चरितात्सकृदर्थप्रतिपत्तिरित्येकपदस्यैकमात्रपरत्वेनानुगमे दोष इति परिहरति—^c "एकरूपे"ति । किंच यत्रैकस्यैवेत्यन्यथायत्र यत्र घटस्तत्र घट एव न तदभाव इति घटाभावनिषेधे घटविधिरेव स्यादिति तदेव पौनरुक्त्य स्यादित्याह—^d "किंच"ति । ननु भावाभावयोर्धर्मं न विरोधः किंतु तावेव विरुद्धानुभाविति व्यग्रहाराह च भावाभावयोरेवेत्याह—^e "स्यादेतदि"ति ॥

मू० यदाहा "यमेव ति भेदाभेदहेतुर्वा यद्वि विरुद्धधर्मा-
ध्यासः कारणभेदश्चेति तदेतदनुपपन्नमेतयोर्विरो-
धत्वं प्रत्येकं वा स्यान्मिलतयोर्वा ? । नाद्यः । प्रत्ये-
कमेवाश्रयैकत्वभङ्गप्रसङ्गात् * नै कत्वाभावो भेदोऽ-
भिमतः किंत्वन्धोन्याश्रयापेक्षभेदरूपधर्मवस्वम् ? *
इति चेन्न, "तस्याभावात् * कालत्वभेदेनैकस्य भा-
वाभावाश्रयत्वाभ्युपगमात्तदभेद ? * -इति चेन्न, (१)
तदभेदस्य स्वाभाविकस्य विवक्षितत्वविशेषणवैय-
र्थ्यात् / एकोपाध्यवच्छिन्नस्य विवक्षितत्वे कालभेदा-
भिमतोऽपि संभवात् ॥

टी० ॥ भवितुष्ववधारं धर्मिव्यवहारं दर्शितं विरोध-
फले परसमतिमाह- । "अयमेव हि भेद" इति-विरोध एव
विरुद्ध इत्याह- । ७ "विरुद्धधर्मोऽप्याम" इति । विरुद्धौ धर्मौ
भावाभावौ गौत्वानोत्वरूपौ वा तदध्यायस्तदध्ययस्यामि-
त्यर्थः । प्रत्येकमेवेति । ननु विरुद्धधर्मोऽध्यासेन एकत्वभङ्गो नाम
भवति किंतु विरुद्धयोर्द्वयोराश्रयभेद इति शङ्कते- । "नै कत्वे"-
ति । अन्धोन्याश्रयभेदोऽपि पाकरकघटादीं नास्तीत्याह- ।
"तस्याभावादि"ति । रक्तत्वाभावस्त एव घटस्य रक्तत्वं द-
र्शनेनाश्रयभेदस्य भावादित्यर्थः । ननु कालभेदेन विरुद्धै धर्मौ
नाश्रयभेदो मताविति नियम इति शङ्कते- । "काले"ति । तद-
भेदस्येति । यदि कालभेदो भवेत्तदा (१) तदुपावर्त्तनार्थं कालभे-
देनेति विशेषणमर्थवत्त्वात्कत्वमितिः । नन्वेकोपाध्यवच्छिन्ने
एकस्मिन्नापि काले भावाभावाश्रयभेदाविति शङ्कते- । "एको-
पाधी"ति । एकदिनावच्छेदेनैकत्रैव भूतले घटतदभावात्स्मरणा-
त्तादृशोरपि नाश्रयभेदकत्वमित्यर्थः । कालभेदाभिमतः प्रहरमु-
हूर्त्तादिस्तत्रापि संभवादाश्रयभेद इत्यर्थः ।

(१) याश्रयभेदत्वावर्त्तनार्थम् ।

(२) काल भेदस्य ।

सू० "भिन्नोपाध्यवच्छिन्नत्वेऽस्य विवक्षितत्व ऽसम्भवात्
असहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नस्य वांक्षितत्वे स-
हृत्वस्यैव कालरूपत्वेन तत्रापि कालाभेदविकल्पा-
नुवृत्त्यापत्तेः मिलितत्वं चानयोरेकदेशत्वं वाभिस-
तमेककालत्वं वा एकप्रकारेण वृत्तिर्वा वृत्तिप्रकारा-
न्यैकोपाध्यवच्छेदो वा ? । नाद्यः भावात्यन्ताभावयो-
स्तदभावात् । न द्वितीयः । भावस्य प्रध्वंसप्रागभावाभ्यां
तदनुपपत्तेः । न तृतीयः । संयोगाद्यव्याप्यवृत्तित्वावा-
दिपक्षे गगनादौ संयोगभावाभावयोस्तदभावात् ॥

टी० ॥ भिन्नोपाध्यनवच्छिन्ने काले मात्राभावो भेदाग्रय-
भेदकौ तत्रा । "भिन्नागधी"ति अग्रहेति । असहृत्व हि
सहृत्वप्रतियोगिनिरूप्यं न त्वं चैककालीनत्व चेत्तदानिप्रसङ्गः
एकोपाध्यवच्छिन्न कालीनत्व चेत्तदोक्तदोषापत्तिरित्यर्थः । मिलि-
ती भावाभावौ विरोध इति पक्ष दूषयति- "मिलितत्व
मि"ति । एकप्रकारेणेति । एकावच्छेदेनेत्यर्थः । वृत्तीति । वृत्तिप्रकारः
शास्त्रामूलादिः तद्विन्नोपाध्यवच्छिन्नत्वमित्यर्थः । तदभावादिति ।
एकदेशत्वाभावादित्यर्थः । तथाच तयोर्निमित्तत्वाभावद्विरोधो न
स्यादिति भावः । तदनुपपत्तेरिति । विरोधानुपपत्तेरित्यर्थः । तद-
भावादिति । एकावच्छेदेन वृत्त्यभावाद्विरोधानापत्तेरित्यर्थः । ग-
गनादावप्यवच्छेदभेदेनैव संयोगनदभाववृत्त्यभ्युपगमादिति भावः ॥

सू० अत्रव्याप्यवृत्तिधर्मानभ्युपगन्तृपक्षे भावाभावयोर्वृत्तौ प्र-
कारान्तराभावे प्रमाणाभावात् । नापि चतुर्थः । स हि
यदि निर्देष्टुं शक्यते तदापि भावप्रागभावयोर्ना-
विप्रध्वंसयोर्वैकदानभ्युपगमेन (१) तद्विशेषितयोर-
प्येकदावश्यमनभ्युपगन्तव्यतया कदा विरोधस्य त-

(१) चट्टिशोपेतो चट्टशोभादिः प्रागभावविशेषितश्च तत्तद्व्यवस्था ।
दिस्तयो रित्यर्थः ।

दाश्रयतेति वस्तुमशक्यत्वात् "किञ्च भावप्रागभावयो-
र्यदि तथाभावो ऽभ्युपगम्यते तदाश्रयभेदप्रसङ्गः
^bअभावान्तरेऽपि सावकाशत्वात् न परस्परप्रतिक्षे-
पात्मकत्वं च परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं हि भावा-
त्यन्ताभावयोरेव अथवाभ्युपगम्यते ।

टी० ॥ अथाप्यवृत्तीति । येनाप्याप्यावृत्तित्वं संयोगा-
दीनां नाभ्युपगम्यते तेन भावाद्ययोरवच्छेदोऽसौदान्तमर्त्वे तन्नि-
वृत्तिरपि नाभ्युपगम्यते तद्भावान्निमित्तत्वं तयोऽन स्यादिति
तद्वृत्तितोऽपि विरोधो न स्यादित्यर्थः । सहीनि । वृत्तिप्रकारादन्य
एक उपाधिभावोऽप्रामाणिक एव यदि च केचित्तदुपाधयो वा-
क्यास्तदा प्रतियोगिना सह प्रागभावाप्रध्वंसयोरनिमित्तत्वं संभ-
वतीति तयोरविरोधः स्यादित्यर्थः । तदाश्रयमिति । प्रतियोगिना
सह प्रागभावप्रध्वंसः श्रयतेत्यर्थः । किञ्च घटतत्प्रागभावयो(१)र्वि-
रुद्धाश्रयत्वेन कपालमपि स्वस्माद्धिद्यं तस्याह - "किञ्चेति । किञ्च
घटतत्प्रध्वंसप्रागभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमपि विरोधो
न संभवति । नहि घटः स्वप्रागभावमात्रं प्रतिक्षिपति ध्वंसस्या-
पि प्रतिक्षेपात् । नापि ध्वंसमात्रम् । प्रागभावस्यापि प्रतिक्षेपात् ।
नच तत्प्रागभावो घटमात्रं प्रतिक्षिपति । तत्प्रध्वंसस्यापि प्रति-
क्षेपात् । एवम(२)न्यत्रापीत्याह - ^b"अभावान्तर' मिति ॥

मू० "तदा भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोश्चाविरोधाप-
त्तिः * ^bतत्तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधो न तु तत्तदस-
त्त्वविशेषयोः ?* -इति 'चेन्न, विशेषस्य तथाप्यविरो-
धात्कदापि सहावस्थितियोग्यतापत्तेः ^dनियमेन त-
थात्वे च विरोधव्याघातान्मात्रशब्देन च यदि वि-

(१) विरोधाश्रयत्वेनेति पाठमुचितं अन्ये-वन्ना विरुद्धाश्रयता-
मुपादायेत्यर्थः ।

(२) अन्यत्र-ध्वंसत्वेना नतिर्न हि ध्वंसो घटमात्रं प्रतिक्षिपति प्रा-
गभावस्यापि प्रतिक्षेपादिति ।

शेषशून्यत्वमसत्त्वस्योच्यते तदा तदनभ्युपगम एव प्रमाणाभावात् । न हि निर्विशेषासत्त्वमात्रसद्भावे प्रमाणाभिधातुं शक्यते । अथ मात्रशब्दोपादानं सत्यपि विशेषे ऽसत्त्वस्य साधारणरूपपुरस्कारेण विरोधव्यवस्थितिप्रदर्शनार्थं तदाभावप्रध्वसयोस्तादृगेव दोषापत्तिः ।

टी० ॥ प्रतियोगिप्रागभावायोः प्रतियोगिप्रचवंशयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं नभ्युपगमे दण्ड आह— “तदाभावे”ति । ननु घटप्रागभावयोरनं विरोधेऽपि तु घटतदभावयोरैवेति परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं नपि तादृश्येति शङ्कते— । ४ “तत्तदन्वयमात्रयो”रिति । एवं नपि घटतत्प्रागभावयोर्विरोधो न स्यादेककालसमावेशेऽपि स्यदिति परिहरति— । “ने”ति । ननु घटतत्प्रागभावयोरनं स्वभावाद्यदेनी विरोधं विनापि सह न भवति इत्याशङ्क्य— । ५ “निषेधेन”ति । एवं सति विरोध एव तयोः पर्यवसन्न इत्यर्थः । सत्त्वासत्त्वमात्रयोरित्यत्र मात्रपदार्थविकल्पयति— । “मात्रशब्देने”ति । अभावत्वसामान्यस्य निर्विशेषत्वं वा मात्रार्थो विशेषविवक्षितत्वं वा ? यदाद्यः तदा विशेषपुरस्कारेण घटतत्प्रागभावयोरविरोधे समावेशः स्यादेवेत्यर्थः ॥

म० * “प्रध्वंसादौ विशेषे सामान्यरूपस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात्तदादायैव विशेषे विरोधपर्यवसानात् भावाभावयोर्विरोधानभ्युपगमे तवाप्यनिष्ठापत्तिरिति चेत्, केयमापत्तिस्तर्कभेद इति चेत् “अथ कस्तर्कः अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं च स्वीकारार्हताबोधनम्?—इति चेन्न, अठ्याप्तेः । अस्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि संभावना नाम तर्कः ॥

टी० ॥ तर्कसङ्गमं सङ्गतिं कुर्वाण एव विशेषं शङ्कते— । “प्रध्वंसादावि”ति । सामान्ययोरेव विरोधो विशेषव्यवस्थितिः—

पर्यवसायी सामान्यस्य विशेषनियतत्वादिति कथं तयोरवि-
रोधः । किञ्च त्वयापि भावाभावयोर्विरोधश्चेन्नाभ्युपगम्यते
तदाऽनिष्टमापतेदित्यर्थः । केचित्तु प्रध्वमादावित्यादिपदग्रन्थोप-
पादकतया ठयाप्यते भावाभयोरित्यादियन्थमग्रिणशङ्कागा-
मिनं तर्कस्तु सर्वशङ्कानिवारणपटीयान्विजयत इति सिद्धान्ति-
नामभिमानस्तमेवकिराकर्तुं तत्पदार्थस्यहनानन्तरं तर्कस्य-
वहनं प्रस्तौति-। ७७ "अथे"ति । अभ्युपगतेति अभ्युपगते। ठयाप्यो-
येन वादिना तं प्रति ठयाप्यकप्रसङ्गनमित्यर्थः । अनुमित्वावति-
ठयाप्यंति निराधिकारिभुस्तत्प्रसङ्गने विवेकमाह-। ७८ प्रसङ्गनमित ।
नहि धूमेन बह्वभावा बोध्यते किंतु बहिरैव बोध्यते इति
नानुमित्वावतिठयाप्यिरिति भावः । अत्र संभावनातर्कादिष्वठया-
प्यिमाह-। ७९ "अठयाप्येति"ति ॥

म० "तद्यथा यदि जलं सहकारिभिः संपत्स्यस्यते तदा मे
तृषं शमयिष्यतीति" इष्टापादनेऽपि गतत्वाच्च * अ-
नभ्युपगतव्यापकमित्यपि ? *-इति चेन्न, तथा भूत-
मपि प्रत्यठयाप्याद्द्वयापकप्रसङ्गने गतत्वात् * ठया-
प्येनेत्यपि कायम् ? *-इति चेन्न, विकल्पासहत्वात्किं
परमार्थतो ठयाप्यठयापकभावव्यवस्थितयोः स्वरूपे-
णोष्टानिष्टत्वमुत ठयाप्यठयापकयोर्भावेन तत् ? नाद्यः ।

टी० ॥ संभावनां विवृणोति "तद्यथे"ति । उदन्योपशमो
व्यापको जलस्य सहकारिसंपत्तिः पानरूपा ठयाप्यात्तर्केन तु कश्चि
त्प्रति तदा प्रतिपाद्यते इति प्रसङ्गत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । ननु
तर्कमात्रमिह न लक्ष्य किंतु प्रसङ्गात्मक एक तर्कं लक्ष्य इति
नाव्याप्तिरित्याशङ्क्यः इ-। ७७ "इष्टापादनेऽपि"ति । तर्कान्भावेऽपि
तर्कलक्ष्यं गतमित्यतिठयाप्यिरित्यर्थः । ननु व्यापकाभ्युपगमनं
प्रति तत्रेष्टापादनं स्याद्येन तु नाभ्युपगम्यते तं प्रति तदापादन
तर्क इति नातिठयाप्यिरिति शङ्कते-। ७९ "अनभ्युपगतेति" यत्र
व्याप्यस्याभ्युपगममात्रं न तु वस्तु"त्या व्याप्यत्वं तेनानभ्युप-
तठयापकं प्रति प्रसङ्गनं तत्रातिव्याप्तिः प्रशिष्टिलमूलतय-

तर्काभासत्वादिति परिहरति-। "तथा-भूतमपी"ति । ननु वास्तव्यं तथाप्यत्र प्रसज्जनप्रयोजकमुक्तं तथाच न प्रशिक्षित-
मूलंऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते । "तथाप्येने"ति । एवं सतीष्ट-
व्याप्यं प्रति तथाप्येनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रसज्जनं तर्क इति
लक्षणमुक्तं स्यात् तत्र विकल्पेन दोषमाह-। "किमिति"ति । यं
प्रत्यापादनं क्रियते तस्येष्टत्वमनिष्टत्वमवश्यं शक्यं तथाच येन
पक्षे धूमस्वरूपमिष्टवत् बहिस्वरूपं च नेष्यते तं प्रति व्याप्येन
धूमेन व्यापकस्य बह्वङ्गापादनं तर्कं किंवा येन धूमस्य तथाप्य-
त्वमिष्ट्येन पक्षस्तु बह्वङ्गापादनं नेष्यते तं प्रति तथाप्येन व्याप-
कापादनं इति विकल्पार्थः ॥

मू० "तथात्वाज्ञानेन वैपरीत्येनेष्टेनापिप्रसज्जने प्रस-
ज्जात् अन्यथा परैस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन स्वयमपि
परात्प्रति तथात्वेन व्युत्पादाद्यनुसङ्गत्वेन परमार्थ-
तस्तथाभूतेन प्रसज्जने त्रयप्रसज्जात् । न द्वितीयः । स्वय-
मपि तथेष्टानिष्टतायां सत्यां कृते तादृशि प्रसज्ज-
यत्राभयारित्यादिना दोषेण सत्प्रसज्जतयानिष्टेऽपि
गततयातिव्यापकत्वात् ॥

२० ॥ वास्तव्यं त्वं प्रसज्जनं प्रति प्रसज्जस्तर्कं स्यादित्य-
तिव्याप्तिमाह-। "तथात्वाज्ञानेन"ति । उभयामहुतथाप्येने प्रस-
ज्जमन्त्वादिति भावः । दोषान्तरमाह-। "वैपरीत्येने"ति । वादिना
तथाप्येनेष्टापादनंऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । आगादकेन वास्तव्यं तथा-
प्यनुक्तव्यापादनमस्त्विति भावः । यदव्याप्यतथाप्येनेष्टवैप-
रीत्येनेत्यर्थः । तथाच बह्वङ्गाप्येनेष्टेनाभ्युपगन्तारं प्रति धूमं तदा-
पादनं तर्कः स्यादित्यर्थः । ननु वस्तुमन्ताव्याप्तिश्चेत्तदा तथाप्येने
ष्टापादनं न तर्कं एवंति न तत्रातिव्याप्तिरित्यत आह- "अन्यथे-
ति । तथात्वेनेति । तथाप्येनेनेत्यर्थः । एवमपि । तथाच तथाप्येने-
स्तुमन्त्वमात्रं चेत्तदा तादृशतर्काप्रयोजकत्वं त्रय एवस्यास्तत्वेन तथा-
प्येनेष्टेन प्रात तदसाधने तर्काभासोऽन्यासेन भङ्गस्यैव दर्शना-
त् । भावः । न द्वितीय इति तथाप्येनेनेष्टेनातिव्यापकं प्रति

ठयापकप्रसङ्गनं तर्क इत्यपि नेत्यर्थः । यत्र तर्कप्रयोक्ता पक्षं
ठयाप्यवतया ठयापकाभाववतया चेच्छति तादृशमेव प्रतिवा-
दिनं प्रति तर्कं प्रयुक्ते प्रतिवादी च सत्प्रतिपक्षवतमेव प्रसङ्ग
प्रति प्रसङ्गतयोपपन्नस्यति तत्र पर्यप्रसङ्गे नत्प्रतिप्रसङ्गतया तर्का-
भासतां गतेति ठयाप्तिरित्यर्थः । संभवति हि यदि सदृश्यवहारवि-
षयः स्यात्सत्तासत्तावती स्यादित्यत्र प्रसङ्गे पुनरयमेव प्रतिप्र-
सङ्गः यद्यपि वास्तवी ठयाप्तिरिह नास्ति सत्तायामेव व्यभि-
चारात् तथापि तदा तथात्वेन द्वाभ्यामिदयमाद्यमस्येवेति
भावः । एतदेव स्वपत्नित्यादिना दर्शितम् ॥

मू० *स्वयं व्याप्यतयानिष्टे नेत्यपि विश्लेषणीयम् ?* इति
चेन्न, स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन स्वमात्रेष्टयापके वि-
षये प्रसङ्गस्याव्यापनात् *अथ स्वयमनिष्टयापके स्व-
यं व्याप्यतयेष्टेन यत्र भवति तत्रानभ्युपगतव्यापकं
परंप्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन व्यापकप्रसङ्गनं तर्कः,
“एवं सति हि स्वानिष्टयापके स्वयमिष्टव्याप्येन यत्र
प्रसङ्गस्तत्र गमनादतिव्याप्तिर्या या च स्वमात्रेष्ट-
व्यापके स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन प्रसङ्गस्याव्याप्तिस्ते
निरस्ते भवतः ?* इति चेन्न.

टी० ॥ ननु प्रसङ्गस्य तत्रावकाशो यत्र तर्कप्रयोक्ता व्याप्यत्वं
नेच्छति सत्तया तु प्रतिबन्धिभात्रस्य व्याप्यत्वेनेष्यमाणेऽपि प्रस-
ङ्गनं विवक्षितमिति नातिव्यप्तिरिति शङ्कते-। “स्वयमिति”
स्वयं सदृशव्याप्यत्वेनेष्टेन परानिष्टव्यापकस्य पक्षे यदापादनं
क्रियते तत्राठयाप्तिरिति परिहरति । “स्वयमपी”ति । पूर्वोक्तां
प्रति प्रसङ्गस्यनेऽतिव्याप्तिमधुनेका मव्यप्तिं च परिहरन् विशि-
ष्टव्यतिरेकेण लक्षणं शङ्कते “स्वयमनिष्टव्यापक” इति । स्वयम-
निष्टव्यापके यत्र मवनीत्यनेन नातिव्याप्तिः परिहृता सदृश्यवहा-
रविषयत्वेन व्याप्येन सत्तायां सत्तावत्त्वं सदृशव्यापकमापादितं
तत्स्वयमनिष्टव्यापके एवेति नत् प्रसङ्गात्तर्काभासोऽपि नाति
ठयाप्तिः स्वयं च व्याप्यत्वेनेष्टापादने या अठयाप्तिरुक्ता सा

स्वयमनिष्टव्याप्येन व्यापकस्य पक्षे परामभ्युपगममात्रेणेति न सापीत्यर्थः । ननु विशिष्टातिरेकेण लक्षणं प्रवर्तमानमनुगतं कीदृशं भवतीत्यत आह— ^d“एवमि”ति । मत्तायां सतावस्वस्य व्यापकस्य स्वानिष्टत्वादतिठयाप्तिर्या च प्रतिप्रसङ्गस्य भिन्ना सक्ते-
ऽव्याप्तिरुक्ता तदुभयं दूषणं न भवतीत्यर्थः ॥

सू० यद्यत्र सत्तयापि घटो ऽभविष्यत्तदाऽद्रस्यदित्या-
द्यव्यापना तत्र स्वयमनिष्टदर्शनरूपव्यापके स्वयं
व्याप्यतयेष्टेनैव हि दर्शनयोग्येन घटसत्त्वेनासौ
प्रसङ्गः * 'अथ तत्र सत्तयापि स्वयमिष्टेनेति निषेध्य-
कोटौ प्रवेश्य निषेधोऽभिधीयते एवं यत्र भवतीति
तदपि न, 'एवं भूते एव विपर्ययापर्यवसायिनि ग-
ततयातिव्यापकत्वान् विपर्ययपर्यवसायिनेत्यपि
प्रक्षेप्यम् ? *—इति चेन्न,

टी० ॥ अत्रापि लक्षणाव्याप्तिमाह “यद्यत्रे”ति । अयं हि
प्रसङ्गो न परमात्रानिष्टव्यापके कितु घटाभाभवति घटादर्शने
नस्य व्यापकस्य स्वानिष्टत्वात् व्याप्यस्य च स्वयमभ्युपगमा-
दित्यर्थः ननु घटसत्त्वस्य दर्शनापादकस्य व्याप्यत्वमात्रनिष्ठयते
न तु भूतत्वे तत्त्वप्रभिति तथाच विशिष्टव्यतिरेके स्वयं व्याप्य-
तयेष्टेन यत्र भवतीति या निषेध उक्तस्तत्र कोटौ प्रमियोनि-
तया पक्षे व्याप्यस्य मत्तानिवेशनायना तथा च स्वयमनिष्टव्या-
पके स्वयं व्याप्यतया सत्तया चेन्न यत्र भवतीति विशिष्टव्यति-
रेकः पर्यवस्यति तथाच प्रकृतंऽपि प्र-^hसङ्गसत्तया इष्टेन न भवत्ये-
वेति न। व्याप्तिरिति शङ्कते—। ^h“अथ तत्रे”ति । यद्याकाशं ज्ञयं
स्यादिति नैयायिक प्रति यत्रापाद्यते मांसासकेन तत्र मांसा-
सकेन तत्र मांसासकमते विपर्ययापर्यवसायिनि तर्कासाक्षे गत-
त्वादतिठयाप्तिरिति परिहरति—। “एवंभूते एवे”ति । अत्रभ्युप-
गतव्यापक नैयायिक प्रति तदभ्युपगतव्याप्यत्वेन अन्यत्वेन
व्यापकस्य प्रसङ्गनादित्यर्थः ॥

मू० केवलपरपक्षदूषणाय परमात्राभ्युपगम्यमानव्याप्य-
त्वेनैवं क्षमस्य परं प्रति व्यापकप्रसङ्गनस्याव्याप-
नात् तत्र "स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेन विपर्ययपर्यव-
सायित्वासंभवात् * 'स प्रसङ्ग एव न भवति विरो-
धमात्रं तत् ? *-इति चेन्न, 'अनिष्टं व्याप्त्यभ्युप-
गमबलेन परं प्रत्यापाद्यते इत्येवं भूतस्यार्थस्यो-
भयत्रापि तुल्यत्वेऽपि लक्षणकरणासामर्थ्याद्यदि वि-
पर्ययपर्यवसायिन्येव प्रसङ्गत्वं त्वया परिभाष्येत
तर्हि मया परबाधमात्रे एव प्रसङ्गताया विपर्ययप-
र्यवसायिनि तु तत्र विरोधतायाः परिभाषितं शक्य-
त्वान् । अन्यथाविरोधत्वमेवाभयोरपि स्यात् ॥

टी० ॥ केशनेति स्वप्नते विपर्ययापर्यवसायिनापि परमते
दूषणाय कृत्वा प्रसङ्गाय स तर्क एव दूषणक्षमत्वात् विपर्ययपर्य-
वसायिने न विशेषणत्तदसग्रहः स्यादित्यर्थः । ननु विपर्ययप-
र्यवसायिणोऽपि कथं न भवतीत्यत आह "स्वयं"मिति । नन्वेतादृ-
शस्तर्क एव न भवति दूषणक्षमतात्वस्य विरोधात्तदसंग्रहे-
ति- । "शङ्कते- । "प्रसङ्ग एव"ति । व्याप्याभ्युपगमबलेन परा-
निष्ठापादनमेवाभयसाधारण लक्षणमस्तु किं विपर्ययपर्यवसा-
यित्वविशेषणग्रहेण । अन्यथा त्वदभ्युपगत एव तर्क विरो-
धात्मा विपर्ययापर्यवसाय एव न तर्क इति परिभाषाविनिग-
मकतयापत्तिरिति परिहरति- । "अनिष्टमिति । तुल्यत्वेऽपी-
ति । अनिष्टप्रसङ्गत्वेन तुल्यत्वेऽप्युभयसाधारणलक्षणकरणासा-
मर्थ्यादिति । यद्वा द्वयमपीदं तर्कलक्षणाक्रान्तमेवास्तु परंतु
नत्किममाख्यसर्वहनठयाकुनितप्रश्नेन लक्षणकरणामासार्थाद्विपर्य-
यपर्यवसायित्वेन विशेषितं चेत्तदा वैपरीत्यमेव किं न स्यादि-
त्यर्थः । अन्यथेति । नत्परिभाषां नाद्वियसे तदा त्वत्परिभा-
षामप्यनादृत्य द्वयोर्विरोधत्वमेवास्थातुमुचितमित्यर्थः ॥

सू० ^a प्रत्यवस्थानवैचित्र्ये चेतत्र विरोधाद्विशेषः सात्रापि तुल्यैव । अत एव संभावनापि तर्कादन्यैवेति निरस्तम् । आरोपादपि व्याप्यता निमित्तव्यापकाभ्युपगमाविशेषात् ^b अत एव परप्रमितेनेति विशिष्य परानिष्टापादनमात्ररूपविपर्ययापर्यवसायितर्कना निरस्येति निरस्तम् । परमार्थतो व्याप्यभावेऽपि पराभ्युपगममादाय प्रसङ्गप्रवृत्तेरुपपत्तेः ॥

टी० ॥ ननु व्याप्यमभ्युपैषि व्यापक च नाभ्युपैषीति कथं व्याप्यता तत्रापि व्यापकाभ्युपगम आवश्यक इति विरोधापादनप्रकारात् यद्यपि निर्वहः स्यान्निर्धूमः स्यादित्यनिष्टप्रसङ्गप्रकारो भिन्न एवेति कथमन्योर्न भेद इत्यत आह-। “प्रत्यवस्थाने”ति । उभयोरपि प्रकारयोरुभयत्र संभवादयमपि विशेषेण न भेदक इत्यर्थः । अत एवेति । प्रसङ्गान्तर्कलक्षणस्य संभावनात्मकतर्काव्याप्तिरुक्ता तदनर्कत्वमभ्युपेत्य परिहृता येन तस्यापि नुत्तयन्यायतया तर्कत्वमेव व्यस्थाप्य देवो वाच्य इत्यर्थः । व्याप्यारोपाधीनव्यापकाभ्युपगमस्य तर्कत्वप्रयोजकस्य तत्रापि संभवादित्यर्थः । ननु परप्रमितेन परानिष्टापादनं तर्क इति लक्षणं न संभावनात्मकेन वा विपर्ययापर्यवसायिनीत्यत आह-। ^b “अत एवेति” । तर्कत्वेन निर्णयान्तयोरेव चाभ्याव्यापकत्वादित्यर्थः । यत्र न पारमार्थिकं व्याप्यत्वादि पराभ्युपगमेनापादनाविशेषात्तर्कत्वमिति तत्राप्यव्याप्तिरित्यर्थः ॥

सू० ^a कथं हि परेण व्याप्यतया अनुमता तं प्रति व्यापकानुमत्या नापत्तित्वं ^b नहि प्रसङ्गो वास्तवत्वं व्याप्येरेणत्वमेते किं नामाभ्युपगममात्रं ^c अनभ्युपगतौ वस्तुगत्या स्थितेनापि तेनापादनाप्रवृत्तेः । अत एव परस्य प्रमायेन व्याप्यानुमतिमुत्पाद्यप्यापादनं क्रियते * ^d वस्तुगत्या व्याप्यत्वं च ^e तथा-

त्वेनाभ्युपगतत्वं च द्वयमपि प्रसङ्गस्याङ्गम् ? *—
इति चेन्न, तथात्वेनाभ्युपगमस्यावश्यं प्रसङ्गाङ्गतय-
मन्तध्यस्य परानपेक्षस्यैव समर्थत्वे वास्तवव्या-
प्तत्वस्यापि प्रवेशने प्रमाणाभावात् तस्माद्यः प्रसङ्गः
स्वपक्षसिद्ध्यङ्गं तस्य विपर्ययापर्यवसायिता दोषा-
यैव स्यात् ॥

टी० ॥ ननु व्याप्तेरभावे प्रसङ्गमेव न जघनीत्यत
आह—। “कथं हः”ति । औचित्यावर्जितमेव तत्र व्यापकापाद
नमित्यर्थः । औचित्यमेव दर्शयति—। *b* “नही”ति । विनिगमक-
माह—। “अभ्युपगतावि”ति । तथाच विपर्ययापर्यवसा-
यापादानं नर्क एव तथाच तद्व्यावर्तनाय विपर्ययापर्यवसा-
येति यद्विशेषितं तदनुपादेयमेवेति भावः । अत एवेति । यत
एवाभ्युपगममात्रं व्याप्यस्य तत्र ननु वास्तवत्वमपि तेन त्वया
व्याप्यत्वेनाभ्युपगतोपसर्ग इत्येव प्रमाद्येन साध्यते न तु
व्याप्योपसर्ग इत्यपीत्यर्थः । विपर्ययापर्यवसायिन्यतिव्याप्तिवा-
रणाय पुनः शङ्कते—। *d* ‘वस्तुगत्ये’ति । यत्र वस्तुतो व्याप्ति-
सत्त्वे विपर्ययापर्यवसानमेवेत्यर्थः । अभ्युपगममात्रमेव तन्त्रमा-
पादनेन तु वस्तुगत्यापि व्याप्यत्वं नौरवादिति परिहरति—।
e “तथात्वेने”ति । नन्वेवं नर्कदोषत्वे विपर्ययापर्यवसानपरिग-
णनं किं नलकमिति प्रसङ्गद्वय विभज्योपसंहरति—। / ‘तस्मा’
दि”ति । स्वमाधनपरपक्षदोषापादानभेदे प्रसङ्गनामान्यस्थितौ
विपर्ययापर्यवसानमाद्ये दोषे न द्वितीयोऽपीत्यर्थः ॥

सू० प्रसङ्गस्य तस्य विपर्ययापर्यवसानदाह्यार्थं दण्ड-
तयोपत्यासात् सौगतानां स क्षणिकत्वव्याप्ति-
साधकविपर्ययान्यथा भावदण्डप्रसङ्गवत् ॥

टी० ॥ नन्वत्रापि किं विपर्ययापर्यवसानमेवैवकयेत्यन
आह—। “प्रसङ्गस्य”ति । आपाद्यस्य निर्धूनत्वादिनापाद-
कस्य निर्वह्निमत्वाद्वा प्रमाणं तदीयदाह्यार्थमेव हि तत्र प्र-
सङ्गस्य दर्शनीयत्वेन विपर्ययापर्यवसानमन्तरेण स्वपक्षसाधकत्वैव

प्रसङ्गस्य न घटेतेत्यर्थः । दृष्टव्येति । विपक्षबाधकतयेत्यर्थः ।
निश्चितसाध्यवतः पक्षस्यैव विपक्षत्वशङ्कां तर्का बाधते इत्य-
र्थः । सौगतानामिति । सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं लक्षिकत्वव्याप्य
त्वेन सौगतैरुपन्यस्तं तत्र तावत्सत्त्वमात्रं स्यात् क्षणिकत्वं
मास्तिवनि विपक्षवृत्तित्वात् शङ्काया यदि क्षणिकत्व न स्यादर्थ-
क्रियाकारित्वमपि न स्यादर्थक्रियाकारित्वं हि क्रमाक्रमभ्या-
व्याप्तं तस्य क्षणिकत्वादुच्यते । अतः सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वार्थं सत्त्व-
मपि उच्यते । नहि स्थितस्य क्रमकारित्वं सम्भवति तथा-
सति न कुर्यादेव करणे हि क्रमकारित्वं स्वाभाव्यमेव विरु-
द्धमेव नाप्यक्रमकारित्वं तथासत्युत्पत्त्यनन्तरमेव यावत्सत्त्वं का-
र्यं कुर्यादित्यादि सत्त्वक्षणिकत्वयोः । तथापिस्तत्साधका विपर्य-
यान्यथाभावाय (१) । विपर्ययशङ्कानिवारणाय दृष्टरूपो यः
प्रसङ्गस्तद्वदित्यर्थः ॥

सू० तामन्तरेण तस्य स्पक्षसाधनाक्षमत्वान्तस्य च व्य-
प्तित्वास्तवत्त्वमपि मन्तव्यम् । अन्यथा विपर्ययेपि
व्याप्त्यभावेन स्वपक्षसाधनाक्षमत्वादेव यस्तु प्रसङ्गः
परपक्षबाधनाङ्गं तत्र पराभ्युपगममात्रं प्रयोजकं ता-
वतैव परपक्षप्रतिक्षेपक्षमत्वेन वास्तवव्यप्तित्वविप-
र्ययपर्यवसानपर्यन्ताननुसारित्वादिति युक्तं प-
श्यामः । तथाच सति कथितलक्षणप्रसङ्गतिस्त-
दवस्थैव * 'अथ व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्याप-
कस्य प्रतीतिस्तर्कः ? *—इति चेन्न, 'इष्टार्थसंभा-
वनायामव्याप्तेः * 'तेन व्यापकस्य प्रतीतिः स ?
*—इति चेन्न, 'इष्टापादनेऽपि गतत्वात् * अप्र-
मितस्य तथेति चेन्न,

टी० ॥ तामिति विपर्ययपक्षव्याप्यत्वमित्यर्थः विपक्ष-
बाधकोपन्यासमन्तरेण सत्त्वमर्थसाधनस्य क्षणिकत्वसाधकत्व-

(१) विपक्षशङ्कानिवारणायेत्यर्थः ।

मेवानुपपन्नमिति भावः । कथितेति । विपर्ययपर्यवसायित्वेन
 तर्कलक्षणविशेषणे परपक्षबाधकतर्कठयाप्ते^(१)रसङ्गतिरित्यर्थः ।
 एतद्दोषपरिजिहीषया शङ्कते-। “अथेति । अभ्युपगमो ष्याप्ते
 सत्त्वे वा ऽसत्त्वे वा एवं च स्वपक्षसाधकपरपक्षबाधकतर्करूप-
 ग्रहः । प्रतिप्रसङ्गेतिठयाप्तौ सत्यानपि दोषान्तरमाह-। ^b “इष्टा-
 र्थे”ति । जलस्य सहकारिसंपत्तौ उद्भयोपशमस्य ष्यापकस्य
 पिपासोरिष्टस्यैव प्रतीतेस्तत्तर्कठयाप्तिरित्यर्थः । ननु व्यापके-
 निष्टत्वं विशेषणं न देयमेव येन संभावनायामठयाप्तिस्स्यादिति
 शङ्कते-। ^c “तेने”ति । ष्याप्याभ्युपगमेनेत्यर्थः । एवं सतीष्टा-
 पादने तर्काभासेति व्याप्तिरिति परिहृति-। ^d “इष्टे”ति । ननु
 अप्रमितस्य ष्यापकस्य व्याप्याभ्युपगमेन प्रतीतिस्तर्कः प्रकृते
 तद्दूषापकं प्रमितमेवान्यथेष्टापादानुपपत्तेरिति शङ्कते-।
 “अप्रमितस्ये”ति ॥

सू० “ प्रथमानुमानेऽपि गतत्वात् * ^b अनुमाने व्याप्यस्य
 (१) प्रमया तथा न त्वभ्युपगमेन ? *—इति चेन्न,
 ‘वस्तुगत्यां व्याप्यस्य प्रमयापि प्रतिवाद्यसिद्धस्य
 व्यापकानुमानासंभवेन तत्राप्यभ्युपगमपर्यन्तगन्त-
 व्यत्वादेव * “ नन्वेवमन्यतरासिद्धं व्याप्यं प्रसा-
 धवानुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नं ^c तदप्रसाधनेन्यत-
 रासिद्ध्या तत्प्रसाधने परस्याभ्युपगन्तुरपसिद्धा-
 न्तमनुद्गाढ्य वादिना प्रसाधितात् व्याप्यात् व्या-
 पकसाधने पर्यनुयोज्योपेक्षणादिति ॥

टी० ॥ प्रथमं यानुमितिरूपद्वये तत्राप्रमितस्यैव ष्याप-
 कस्य प्रतीतिरिति परिहरति “ प्रथमे”ति । नन्वनुमाने
 ष्याप्यप्रसाधीनठयापकप्रतीतिस्तर्कं तु तदभ्युपगमासाधीनंति

(१) लक्षणस्येति शेषः । तर्कठयाप्तेरसङ्गतिरिति वा पाठः ।

(२) अन्यदोषप्रमयान्यस्य तदनभ्युपगमनुवर्थापकानुमानासंभवे-
 नेत्यर्थः ।

विशेष इति शङ्कते ^६ "अनुमान" इति । तथेति । ठयापकप्रती-
तिरित्यर्थः । अन्यतरामिद्वोद्गाहनस्थले यावत्प्रतिपादितव्या-
प्यत्वाभ्युपगमो न कर्तव्यस्तावत्तस्मादनुमितिरपि नोत्पद्यत
इति तद्वच्चैत्र तत्राठयाप्तिरिति "वस्तुगत्ये"ति । नञ्चन्य-
तरामिद्वोद्गाह्यत्वस्य हेतोर्व्याप्यत्व प्रमाध्य परोभ्युपगमनमित-
थ इति न प्रवर्तनीयताक्षिपति ^७ "नन्वि"ति । कथमुच्छिन्नमि-
त्यत आह- । "तदिनि" । यदि ठयाप्यत्वेऽस्यान्यतरामि-
द्वुत्वं न परिहर्तव्यं तदा तेनैव निग्रहेण चादौ निगृह्येत
अर्थाभ्यतरामिद्वुत्वं परिहृतप्रतिवादिनस्तत्राभ्युपगमः कारयि-
तव्यस्तदनन्तर नादृशेन हेतुनानुमानं प्रवर्तनीयं तदा तदन-
भ्युपगममात्रेण प्रतिवादिनापमिद्वान्त उपपादित उपेक्षितः
स्यादिति पर्यनुयाज्यापेक्षणेन चादौ निगृह्येत तस्य चादिन
नभयतः पाशा रज्जुरित्याक्षेपार्थः ॥

सू० किं तत्र तथा न स्यात्किमत्राप्रस्तुतया तच्चिन्तया ।
अन्यतरामिद्वुत्वं तावद्व्याप्यस्याभ्युपगमं परेणा-
कारयित्वैव न ठयापकसाधनमुपेयं * "तस्याऽ-
प्रमा स ? *—इति चेन्न, मियोविरुद्धादौ तर्कभा-
वेऽपि गतत्वात् * आश्रयासिद्ध्यादिद्वयतिरेके
सति ? *—इति चेन्न, संदिग्धधूमदर्शनात् यद्यत्र
धूमस्तदाग्निमानिति संभावनायाः परमार्थतस्त-
यार्थावस्थानात् प्रमात्वं त्यक्तुमपारयन्त्या अठया-
पनात् * ^६ तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाण इत्यपि ?
*—इति चेन्न,

टी० ॥ किं तत्रेति नञ्चतु वादिन उभयथापि निग्रहः
परंतु तर्कसंग्रहणप्रवृत्तस्य ममाप्रस्तुतमेतत् कथामानंस्त्वयं तत्रा-
भ्युपगमकारयित्वैवानुमानं प्रवर्तनीयं तथाच तस्यानुमितौ व्या-
पकप्रतीतिरिति लक्षणमतिठयापकमेवेत्यर्थः । ननु व्याप्त्वा-
भ्युपगमेन ठयापकस्याप्रमा तर्क इति नानुमितावतिठया-

मिरिति शङ्कते—। “तस्ये”ति । ठयापकस्येत्यर्थः । मिथो
 बिरुद्धादावित्यादिपदाभ्यामिदृश्यादिपरिग्रहः गगनारविन्दं
 यदि विद्वत्त्वं स्यात्सुरभिष्यादित्यादिकमात्रयासिद्ध्यादिक
 तथाच यदीश्वरः कर्ता स्यात् सर्वज्ञः स्यादित्यादीश्वरासिद्धिद-
 शायामात्र यासिद्ध्यादीत्यादिपदेन मिथो बिरुद्धोपग्रहः नन्दि-
 ग्धेनि वास्तवे धूमे धूमत्ववाप्यत्वकोटिकमन्देहबलात्कृतायां
 बहिःसम्भानायां तर्कत्वेन व्यवस्थापितायामठयासिरित्यर्थः ।
 ननु तत्र बहिःप्रतीतिवस्तुगत्या प्रमात्वेऽपि सम्भावनाकाले
 प्रमात्वं न प्रतीयते इति न तत्राठयासिः^(१) ठयापकप्रतीतेन
 प्रतीयमाणप्रमात्वमुभयसाधारणमिति शङ्कते—। ^b “तत्काल-
 मि”ति ॥

सू० “बहुशोदत्तोतरत्वा ^b त्सर्वस्य चास्य पूर्वोक्तोभया-
 निष्टठयापकेष्टठयाप्योदाहरणे गतत्वेनातिठयापक-
 त्वात् तद्दृश्यवच्छेदार्थमारोपितस्य ठयाप्यस्याभ्यु-
 पगमेनेति करणे च सिद्धेन ठयाप्येन प्रसङ्गस्या-
 ठयापनात् तद्वया कार्यत्वात् यद्यदृष्टसृष्टमङ्कु-
 रादिमीमांसकः शंसति तदानीमविशेषेण कर्तृ कार्यमपि
 पर्यवस्येत् अस्य तदिति “अपि चात्माश्रयोन्यो-
 न्याश्रयश्चक्रकं ठयाघातोऽनवस्था प्रतिबन्दी वेत्या-
 पाद्यैर्भिद्यमाना षट्कर्तव्यते “स्वरूपं चैषां—

टी० ॥ तच्छब्दान्तभावेण लक्षणमननुगतनप्रतीयमासत्वं
 च वादिना प्रतिवादिना वेत्यादिविकल्पकबलितं वेत्या-
 ह—। “बहुश” इति यत्रोभयोरित्यादिना प्रसङ्गेन तर्काभिम-
 ताङ्कतेऽतिठयासिस्तदवस्थैव ठयाप्याभ्युपगमेनानिष्टठयापकप्र-
 तीतिस्तर्क इत्यादीनां लक्षणानामित्याह—। ^b “तस्ये”ति ।
 ननु नात्रठयापकप्रसङ्गो नारोपितेन ठयाप्येन किंतु वस्तुतोऽ

(१) ननु कथं तत्र ठयापकप्रतीतेरप्रतीयमाणप्रमात्वमित्यत
 आह—ठयापकेति ।

सतैव महि तत्तायां मह्यवहारप्रिययत्वं सुतान्तरापादनमवा-
स्तवनिर्ग नातिश्याप्तिरित्याशङ्कते-। “तदि” ति । यदि
कार्यत्वाद्ङ्कुराद्यदृष्टयोत्पद्ये तदा तत एव सकर्तृकमपि किं न
स्यादिति मीमांसकं प्रति नैयायिकेन कृतप्रसङ्गेऽव्याप्तिरित्यर्थः ।
इदानीमात्माश्रयादिरूपं तर्कं खण्डयितुमारभते-। “अपि चे”
ति । खण्डनसौकर्याय स्वरूपसमीपामादर्शयति-। “स्वरूपं
चे” ति ॥

मू० स्वस्याऽयवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः अन्योन्यस्या-
यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः “अन्तरितस्य
तदेव द्वयमात्माश्रयोन्वयाश्रयश्चक्रकं विरुद्धसमु-
च्चयो व्याघातः ॥

टी० ॥ स्वस्येति । स्वस्याऽयवहितस्यापेक्षणाभ्युपगमनि-
बन्धनमनिष्टापादनमात्माश्रय इत्यर्थः । स्वस्य स्वापेक्षणाभ्युप-
गमः परस्परश्रयचक्रकयोरपीति तद्वावर्तनाय अयवहितेति ।
यद्यपि स्वापेक्षित्वमप्रसिद्धं तथापि घटापेक्षित्वं पटेऽभ्युपगम्य-
मने भवत्यात्माश्रयो देश इति विशिष्टाप्रतीतावपि खण्डनः
प्रतीतिरस्त्येव यद्वा स्वापेक्षित्वं प्रमेयत्वाद्दी प्रसिद्धमन्यत्राभ्यु-
पगम्यमानं दोषायेति भावः । अन्योन्येति । अन्योन्यस्वाऽयव-
हितान्योन्यापेक्षित्वाभ्युपगमनिबन्धनमनिष्टापादनमन्योन्याश्रय
इत्यर्थः । अत्राऽयवहितपदं चक्रकव्यावर्तनाय आत्माश्रयव्याव-
वर्तनाय अन्योन्येति । अन्योन्यापेक्षित्वं दीर्घतद्गृह्यत्वात्
नादी प्रसिद्धं कथञ्चित् द्रष्टव्यम् । चक्रकस्वरूपमाह-। “अन्त-
रितस्ये” ति । अन्तरितस्य अयवहितस्य भाऽवात्माश्रयोन्वया-
श्रयो वा यस्तदेव चक्रकं तेन स्वस्य ह्यापेक्षणाभ्युपगमनिबन्धन-
मनिष्टापादनं चक्रकमित्यर्थः । विरुद्धेति । विरुद्धसमुच्चयाभ्युप-
गमनिबन्धनमनिष्टापादनं व्याघातः विरुद्धसमुच्चयाभ्युपगमस्तु
माता बन्ध्या ऽगीर्गोरयमपीत्याकारेण इत्यर्थः । अत्र हि ना-
न्तरि खण्डयात्वनान्तराभ्युपगमः सभवत्येव सिद्धत्वात् एवमभ्यु-

पगन्तुव्याद्यात आपाद्यते यदि मातुर्वन्ध्यात्वं गोशचाश्वत्व-
मभ्युपैषि तदा उपाघात इति ॥

सू० " उपपाद्योपपादकप्रवाहो ऽनवधिरनवस्था स्वा-
भ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी

ननु विरुद्ध समुच्चय एव क्वचिदपि प्रसिद्ध इति भावः ।

अनवस्थास्वरूपमाह— " उपपाद्ये"ति । भेदव्यवहार उप-
पाद्य उपपादकश्च तस्य भेदः । नहि भेदमन्तरेण तदूठवहारः
संभवति । एवं सत्तायां उठवहार उपपाद्यस्तद्गता च सत्ता उपपा-
दिकेति तथाचैतादृशउठवहाराभ्युपगमनिबन्धननिष्ठापादनमन-
वस्थेत्यर्थः । अत्र यदि तृतीयश्चतुर्थो वा भेदः प्रथमभेदमपेक्षत
वृत्त्यभ्युपेयेते तथापि प्रवाहाभ्युपगमेस्ति । नचानवस्थेत्यत
उक्त "ननवधिर"ति । प्रवाहस्यानादित्वात् कार्यकारणभावेऽव-
सिद्धाभ्युपगम्यते एकैकमेदबुद्ध्यावापाद्यमानायां भेदमात्रं प्रसिद्ध-
मेवेति भावः । आपत्तिप्रयोजकीभूतरूपवदापाद्यापादनमनवस्थे-
त्येके । तत्र यदि सामान्यं सामान्यवत्स्यात् द्रव्यादिभित्तयान्यतमं
स्यादित्यापादनमित्यं चानवस्थैवामास्येत्युच्यते । नहि द्रव्यादि-
त्रयान्यतमत्वेन सामान्यं व्यवतिष्ठत इत्युच्यते । "स्वाभ्युपगते"
ति । यदि पुरुषत्वाद्यं चौरस्तदा एवं त्वमपि चौरः स्या इत्यापा-
दनमानकः प्रतिबन्दी । यद्वा परापादितं दोषमभ्युपेत्य परस्मै
तदापादनेन यदनिष्ठापान तत्प्रतिबन्दी भवति हि त्वं चौर
इत्यभिदधानस्य प्रतिबन्दीति भावः ॥

सू० " तत्रात्माश्रयस्य सबन्धद्वारं भेदादाभासत्वं यथा
प्रमेयत्वस्यात्मनि वृत्तौ क्वचिन्नैवमपि यथानेक-
कालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकाल-
वृत्त्यात्मन प्रति कारणात्वेऽन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभे-
दात् यथाज्ञानेन संस्कारस्य तेन च ज्ञानस्याजनने
चक्रकस्वापि ॥

टी० ॥ तेषामाभासत्वानामात्मत्वे विवेचयति—। "तत्रे"
ति । घटादीनां घटादिविषयकप्रमाधीनं प्रमेयत्वस्य च

प्रमेयत्वगोचरप्रमाधीनं प्रमेयत्वं हि प्रमेयं द्वारं वा
 वाच्या घटादीं अरूपा च प्रमेयत्वे यद्यपि स्वगोचरप्रमाऽद्वार-
 रक्ते प्रमेयत्वे द्वारभेदो नास्ति तथापि तत्संभवात्
 स्वप्रकाशस्यैव तस्याभ्युपेतं तदुक्तं “प्रमासं प्रवक्तं वृत्ती
 न सिद्धाभिज्ञते यत्” इति । उक्तं च “प्रमेयं ठवकयस्त्वस्याः
 स्वे स्वे रूपे तथापि व्यञ्जहारं^(१) तनोत्येव विरोधं भजते न
 चे”ति । एव विशेषणत्वाविशेष्यत्वाभिधेयत्वधर्मित्वादावात्मा-
 श्रयस्याभासत्वमनाभासमात्माश्रयमाह—। ‘क्वचिदि’ति । नामा-
 कालस्थितस्यैकस्य घटस्य पवापरकालवृत्तितानादाय कार्य-
 कारणभावेऽभ्यागम्यमाने भवत्पैवान्माश्रयदोष इत्यर्थः । व्यक्ति-
 भेदादिति ज्ञानेन संस्कारद्वारा ज्ञानमेव जननीयमित्यभ्युपग-
 मेऽभ्यागम्याश्रयापादानमाभासो भवति अनुभवेन स्मृतिजननस्य
 प्रामाणिकत्वादित्यर्थं ॥

म० तस्मात् “यथाबीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बः तेन बीजं
 जन्यते इत्यत्र व्याघातस्यापाधिभेदात् यथा काल-
 भेदादिना जननाजननादौ अनवस्थायाः क्रियायै
 परस्परानन्त्यानपेक्षणात् यथा सामग्र्या कार्यजन-
 नाय स्वसामग्र्यनन्त्यानपेक्षणे तामेतामधोधाव-
 न्तीमनवस्थामाचरते क्वचिन्नैवमपि यथा स्वाश्रये
 भिन्न बुद्धिजनाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि भेद-
 भेदस्यानन्त्ये ॥

टी० ॥ तस्मादिति उपनिभेदादेवेत्यर्थः । बीजेनाङ्कुरस्तेन
 स्तम्बस्तेन मञ्जरी तेन पुनर्बीजमेवेति चक्रकदशाया व्यक्तभेदा-
 देवाभासत्व नहि तदेव बीजं तदुत्पाद्येन बीजेन जन्यते इति-
 भावः । व्याघाते आभासत्वमाह—। “यथे”ति । कुसूलस्य बी-
 जस्याजनकत्वं क्षप्रयति तस्य च जनकत्वमिति सभवेत्येवेत्यर्थः
 अजननमिह क्रियानुपधानामाश्रय । अनवस्थाभासमाह—। “अ-

(१) उपलब्धसकलपुस्तकेष्वपि विधेयैव परस्व दायनादवज्ञेय पाठो
 भूतः परन्वद्येत्पाठस्यावृत्तत्वेन चिन्तनीयत्वमिति ।

नवस्याया"इति । क्रियायै कार्यजननाय । नहि कार्यं स्वसाम-
ग्रधीनं सापि ज्ञानयो स्वसामाग्रधीनैवं कादाचित्कत्वादिति
प्रधाहाभ्युपगमोऽस्ति । किंचेदानीं नूनं कार्यं न तावत्सामग्र्यीप्र-
धाहाधीनमेव तथाच तदुत्पत्तिरेव न स्यात् ब्रूयते च कार्थोत्प-
त्तिरिति प्रमाजिकीयमनवस्था भवत्याभासा "तामेतामि"ति ।
आभासरूपानित्यर्थः । आचक्षते इति । अनवस्थासु स्वकार्यो-
पहितस्य स्वसामग्र्यादिकालस्याद्यःप्रदार्यत्वासङ्गावनशैलित्यर्थः ।
अनाभासरूपामनवस्थानाह—! "क्वचिदि"ति । भेदः स्वा-
ग्रये घटे स्वयमेव भेदबुद्धि जनयति स्वगतं भेदान्तरं नोप-
जोषतीति तावद्बहुस्तुगतिस्तत्र भेदस्थानन्त्ये आपाद्ये याऽन-
वस्था साऽनाभासेत्यर्थः ॥

सू० "प्राग्लोपादिदोषात् तामेतामूर्ध्वं धावन्तीमनवस्था-
माचक्षते प्रतिबन्धाविशेषात् यथा धूमानुमानेऽप्यु-
पाधिशङ्काप्रतिबन्धा तर्कानुकूलत्वादिति 'तदेषा-
मापादनानि तर्काभासाः कश्चमुक्तलक्षणणेन न सं-
ग्राह्याः 'सत्यपि व्याप्याय दोषे प्रसङ्गस्थानगतेन तेन
विशेषणेनाभासीभूतत्वात् * 'प्रसङ्गस्थाने तावता
विशेषणामभावेनापि लक्षणं विशेषणीयम् ?
*-इति चेत् ॥

टी० ॥ ननु ऊचमिय दोष इत्यत आह—। "प्राग्लो-
पे"ति । यदि भेदे भेदान्तरमङ्गीक्रियते तदा प्रथमभेदे लुप्त एव
स्यादित्यर्थः आदिपदाद्विनिगम्यत्वप्रमाणापगमयोस्त्वग्रहः ।
"तामेतामि"ति । अनाभासरूपानित्यर्थः "ऊर्ध्वमि"ति ।
भाविप्रवाहरूपानित्यर्थः । आभासमाह । "प्रनिबन्धे"ति ।
यद्यनुपलस्यमानोपाधिशङ्कास्मदनुमाननास्कन्देन तदा भवदनु-
मतं धूमानुमानमपि हि द्वितीयं भवत्याभास यतो यथा धूमठया-
सिप्रहेजुफुलः तर्को न तथा त्यदभिमतठयाप्रावित्यर्थः । यत्र
तु विशेषाभावस्तत्र प्रतिबन्दी दोष एवेति भावः । एवं व्युत्पा-

दिते तदाभ्युपगमनठ्याप्य प्रति ठ्यापकप्रमञ्जन तर्क इति लक्षणाभिनि ठ्यापकमित्याह- । "तदेवामि"ति । आत्माश्रयादीनामभावादिनाः शङ्काह- । "सत्यपी"ति । द्वारभेदादिना विशेषेण तेषामाभासत्वस्य त्वयापि अकठयत्वात् । अन्यथा प्रमेयत्वे प्रमेयत्वमनेन दोषेण न भवेदिति केवलाभ्यायत्व तस्य न स्यादित्यर्थः । ननु तर्काभासस्याकृतये द्वारभेदरहितत्वे सतीति विशेषणीयमिति शङ्कते "प्रमङ्गस्थान"इति ॥

मू० "न, अन्योन्याश्रयाभामत्वप्रयोज तस्य व्यक्तिभेदस्या- भावो नानवस्थायामेवमात्माश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य द्वारभेदस्याभावो नात्माश्रयान्तरादाविति व्यक्तम- ठ्यापकत्वापत्तेः 'अपि चापमिद्वान्तविरोधादिष्वपि तर्कनश्लेषं गच्छत्कथङ्कारं वारणीयं यत्रैव निग्रहे तर्कान्वरणासन्तर्भावः तत्रैवानयोरपीति पृथग्नि- ग्रहत्वानुपपत्तेः ॥

टी० ॥ तर्हि तर्कनश्लेषमध्यापक स्यादेकाभामत्वप्रयोज- कस्य द्वारभेदादेर अत्र मत्वन तदभाषवत्त्वस्य विशेषणस्य तत्रा- मत्वादित्याह- । "ने"ति । अनाभामान्योन्याश्रयादावठ्ठवाप्तिः स्यादित्यर्थः । इदं चरमनभ्युपगमनाभ्युपगच्छता सोमामकस्याप- सिद्धान्तापादनं विरोधापादनं वा तर्कनश्लेषान्तनया तर्क स्यादित्याह- । "अपि चे"ति । अनैकान्तिक चापमिद्वान्तस्यो- पन्यासमात्र न त्वापादनमिति चेत् । उक्तप्रकारेणापादनस्यापि सप्तवादनैकान्तिकापादनं च न मन्यति । अपसिद्धान्तस्व- भ्युपगमनन्त्र इति विश्रवात् अपमिद्वान्तस्य तर्कत्वं दोष माह- । "यत्रैव"ति । अन्योन्याश्रयादीनां ठ्याप्यत्वादिग्रह प्रति प्रतिबन्धकतया ठ्याप्यत्व निद्वुादिनियहेऽन्तर्भाव इति तद- पेक्षयापमिद्वान्तस्य पृथग्नग्रहत्वं भ्रष्टं । अस्ति हि भेदव्यव- हारविषयत्वात् घटेः भेदवानिति स्थापनाया भेदेऽपि भेदव्य-

बह्वारस्तेनैव भेदेन चेदात्माश्रयोऽन्योन्यापेक्षायामन्योन्याश्रयः
 उच्यते। न्योन्यापेक्षायां चक्रकमनन्तप्रवाहापेक्षायामनवस्थे-
 त्यापादनैर्भेदाभावमिति भेदे भेदव्यवहाराविषयत्वं गतमित्यनेन
 ठयाप्यत्वाभिद्धिर्नियमस्यानेन्तर्भावितमित्यर्थः ॥

सू० "आत्माश्रयादेश्च मूलठयात्तौ प्रमाणोपगमश्चेत्तर्हि
 प्रामाणिकत्वाद्ग दोषत्वं न चेन्मूलशैथिल्यमित्यु-
 भयतः पाशबन्धः कथं मोचनीयः * अथोच्यते ^१य-
 देतदाश्रयत्वमाश्रयित्वं च तद्भेदे द्रष्टुं तद्यदि विवा-
 दाध्यासिते त्वयोपेयते तदा भेदः स्यादित्याकारेणा-
 पादने नाक्तदोषापत्तिः ? *-इति 'मैवं, एकत्र द्वय-
 स्यापि द्रष्टृत्वात् * तदाश्रयत्वं तदाश्रितत्वं च मि-
 थो भेदनियतम् ? *-इति चेन्न, "तन्मिथःशब्दाभ्यां
 सारौक्यत्वात् * एतदाश्रयत्वादेतदाश्रितत्वाद्वा
 नैकत्वं स्यादित्यादिवचनभङ्ग्यापाद्यम् ? *-इति
 चेन्मैवं'यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तदैतन्न स्यादिति
 ह्यापाद्यम् । न चैतद्युक्तम् । धर्म्यापाद्ययोर्धर्माहत-
 त्वात् ॥

टी० ॥ दोषाल्लरमाह-। "आत्माश्रये"ति । यदि स्वस्य
 स्वापेक्षित्वं स्यात्तदात्माश्रयः स्यादित्यापादनप्रकारे नेह येन
 तस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पेऽवतरत् अपि तु यद्यय
 घट एतद्घटाश्रयः स्यादेतद्घटकारणं वा स्यादेतद्घटज्ञाप्यो वा
 स्यात्तदेतद् घटमिथः स्यादित्याद्यापादनप्रकारे कथमप्रामाणिक-
 त्वमित्याशङ्कत-। ^१यदेतदाश्रयत्वमिति । आश्रयत्वमाश्रि-
 तत्वं च रूपकपालाम्बां निरूपितं घटस्य स्ति नतु भेद इति
 परिहरति-। "मैवमि"ति एकनिरूपितमाश्रयत्वमाश्रितत्वञ्च
 भेदनियतमिति शङ्कते-। ^२नदे"ति । अश्राननुगममाह-।
 "तन्मिथः"इति । तच्छब्दस्य मिथः शब्दस्य च विशेषपरत्वा-

दितिभावः । क्षारीकणनापादकानुगमदोषदुष्टत्वम् । नन्वा-
पादकानुगमो न दोषः । यथा च घट एतदुदाहृतः स्यादेतदुद-
भिन्नः स्यादिति संभवापादनमिति शङ्कने । १० "एतदिति । तथा
सुन्यय न स्यादित्यापादनार्थस्तथा च धर्मापाद्योऽर्थाघात
इति परिहरति- । १० "यद्ये-दि"ति ॥

मू० "न च वाच्यमापाद्यस्य प्रमाणबाध्यतानुकूलैवेति
व्याघातादपि सा संभवति न दोषमावहतीति,
यत आपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यानादरे-
तिप्रसङ्गः स्यादती विपर्ययापर्यवसायित्वमेवं स्या-
देवं हि विपर्ययो वक्तव्यो यन्नाम भवति चैतदेत-
त्तस्मान्नैतदाश्रय इति न चैतदेतद् भवितं शङ्कोति
एतदित्युद्दिष्टे धर्मस्यैतत्त्वविधानासंबन्धुद्देश्यवि-
धेययोः प्रकारभेदस्याभावात् । न च प्रसङ्गमात्रमेत-
द्वाधायैवास्तु कृतमस्य विपर्ययपर्यवसानेनेति युक्तं,
स्वयमपि प्रसङ्गमूलस्य व्याप्तेरिष्टतया प्रसज्जित-
निषेधे तद्व्यतिरेकप्रामाण्यत्वस्यावश्यमन्तव्यत्वा-
पत्तेः ॥

टी० ॥ ननु कथाघातादेवापाद्यघातार्थो न दोषः किंतु
अनुगुण एवेत्याह- । "न च वाच्यमि"ति । अयमयं न स्यादिति
प्रसङ्गस्य विपर्ययो भवति नायमयमित्याकारेणावर्तनीयः स
च ननु शब्देषुपभावानुपयुक्त इति विपर्ययापर्यवसानं स्यादि-
त्यर्थः । तदुक्तम्- प्रथमावयवनेन "अतस्तन्मन्यसे तत्त्वक तत्तदपि
सन्त्यसे सामानाधिकरण्यात् हि रूपभेदमपेक्षत" इति । ननु तर्कद्वै-
विध्यं त्वयैवोक्तं तथाच परवाधाय यस्तकंस्तत्र किं विपर्यया-
पर्यवसायित्वेनेत्यत आह । १० "नचेति" विपर्ययापर्यवसाने मूल
श्रीचिह्नमावश्यकं यतोऽवयवघातेऽर्थनिरेककथाप्रिठयापकत्वा-
त्तदभावे सापि न स्यादिति भावः । व्यतिरेकप्रामाण्यत्वमेव
वा तदपर्यवसानम् ।

सू० "अतएवैतदन्यत्स्यादित्यपि न शक्यप्रसञ्जनमेतदन्यत्वस्यैतत्स्वरूपभेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायितया प्रसङ्गे व्याघातादेव विपर्ययेऽप्येतद्विशेषितान्यत्वविधाग्निना विशेषणविशेषणताप्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं न ह्यमते एतदन्यत्वस्यैतदन्यान्यत्वस्यैतत्त्व। देवान्यत्वावधेरात्मन उपलक्षणत्वे चान्यत्वमात्रमुपलक्ष्यमाणमन्यस्मादप्यन्यत्वमादाय पर्यवस्येत् स्वरूपत एव विलक्षणमन्यत्वविशेषभवधिरावत्प्रोपलक्षयतीति च न घटते यतोऽन्यत्वमात्रमेवावधिविशेषैरुपधीयमानं तदन्यत्वप्रत्ययव्यवहारोपपादकं भवदन्यत्व^(१)व्यक्तिभेदपर्यन्तगमनं प्रमाणस्य न सहते यदि चान्यत्वव्यक्तिभेदोऽपि^(२)स्यात्तथापि प्रसङ्गमूलभूता व्याप्तिः सामान्याकारपुरस्कारित्वादेतेनैवोपधीयमानानामन्यत्वव्यक्तीनात्मैक्यमादाय प्रवृत्ता तथैव प्रसङ्गे विपर्यये बोधनयन्ति स्यादेवोक्तदोषालंघनायेति एवं प्रकारताचाश्रयाश्रयिभाववत्प्रकारान्तराश्रयेष्वप्यात्माश्रयोदाहरणेष्विति दिश्यते अन्योन्याश्रयो यथाभेदेना^(३)वगताद्भेदज्ञानोपगमे सोऽपि त्वया कथं कारमुपन्यसनीयः न तावद्यद्येतद्बोधाधीनबोधाधीनबोधं स्यात्तदा न बुध्येतेति तथा सति व्याप्त्यसिद्धेः एतद्बोधाधीनबोधं यद्बोधाधीनबोधस्य तस्यैवाद्बुद्धचरत्वात्कयाचन व्याप-

टी० ॥ न च अगम्यं न स्यादिति न प्रसङ्गाकारो येन न

(१) व्यक्तिविशेषपर्यन्तपर्ययः । (२) स्यादिति—अवधिगोर्भेदपर्यवसानं इति शेषः । (३) धर्मप्रतियोग्यादित्य इति शेषः ।

विपर्ययः सामानाधिकरण्याभावात् पर्यवस्येत् अपि त्वेतदन्यः
 स्यादित्यापाद्यमित्याशङ्क्य- । “अतएवे”ति । एतदन्यत्वमे-
 तत्त्वं विनापीत्येनदप्यापादनं दवाहृतमिति भावः । तथापिमे-
 तदन्य इत्याकारेण वर्तमानेऽयं चाप्यनित्याकारपर्यवमित एव
 स्यादिति युक्तम एव दोषः स्यादित्याह । “विपर्ययोऽपी”ति ।
 स्वप्रकाशेति तत्रैव ज्ञानेन तज्ज्ञानग्रहे द्वारभेदो नास्ति स्वप्र-
 काशतावादिमते अन्यमते वेदवरज्ञानेन नदृग्रहोऽप्यथा तदसर्व-
 ज्ञत्वं पानः शङ्को वाचक इति शङ्कः स्यैव वाचकत्वं परिच्छिनत्ति॥

सू० व्यापकभेदकल्पनया व्यभिचाराप्रतीतचरत्वयोर्वारि-
 शोप्य (१) तथाभावशङ्काखण्डकदण्डदुर्लभत्वादेवम-
 न्योन्याश्रयान्तरेऽपि । चक्रकं च मध्ये परमन्तर्भा-
 व्यात्माश्रयान्योन्याश्रयावेव । वपरिणमत इति तद्दोषं
 नातिक्रामति । व्याघातस्तु यथासन्नास्तीत्यत्र तमपि
 कथं प्रयोक्ष्यसे यदि यद्ययं सन्नस्यात्तदानीमस्तु स्या-
 दिति तर्ह्यसन्नस्य दित्यभ्यापि सत् स्यादित्यस्मि-
 न्नेवार्थे पर्यवमानादभेदेन व्याप्यव्यापकभावस्यैवा-
 सिद्ध्यापत्तिः स्वभावविहङ्गोपजीविनी च विरुद्धा-
 न्तरे (२) तद्दृग्वातनिरासादेव निरस्तप्राये गौर्म-
 हिषः ततो न भवति अङ्गवाक्यनियता यतो
 महिषात्मतेति एष हि तथाविरोधो ऽन्यस्या तु
 यथा सत्तायामपि सत्तान्तरमित्यनयो सत्ताप्रवाहे
 दृष्यमाणे तत्र कथं प्रत्यवस्येयम् । न तावद्यदि सत्ता-
 यां सत्ता स्यात्तदा न विश्रान्तिः स्यादिति सत्तायां

(१) नद्या न भवतीति शङ्क्येव पूर्वेक्तस्य खण्डकोदण्डश्लो-
 दुर्लभत्वमित्यर्थः । (२) स्वभावविहङ्गोपजीवित्वान्निरासा-
 देवेत्यर्थः ।

सत्ताभ्युपगमस्य विश्रान्त्यभावेन "सह व्याप्ति (१)
 प्रमेयस्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वसन्निकर्षवत्त्वाभावप्र-
 त्तियोगित्वादीनामात्माश्रितत्वदर्शनात् कर्षमाश्रय-
 ता खण्डिकाव्याप्तिः सव्यभिचारान् स्यात् (२)
 द्वारव्यक्तिभेदस्यापि व्यभिचारिव्यतिरेकत्वात्स्व-
 प्रकाशवादिना स्वयमेव स्वज्ञानत्वस्य एवमभावे-
 प्यन्यमभावमस्वीकुर्वता स्वयमेव स्वाभावत्वस्य एवं
 तदेव ग्राह्यं ग्राहकं चात्मप्रतीतौ एवं तदेव ज्ञाप्यं
 ज्ञापितकारणं च शब्दो वाचक इत्यत्र एवं तदेव
 नाशयं नाशकं च प्रध्वंसिनि एवं तदेव संबन्धि
 संबन्धश्च स्वभावसंबन्धोपगम इत्यादि बहुलमुप-
 गमादात्माश्रयतदाभासविवेकाय किं नियामरुमुपेयं
 अन्योन्याश्रये चान्त्योपान्त्यशब्दयोरन्योन्यनाशक-
 तायां समव्याप्तिकयोश्चान्योन्यव्याप्यव्यापकतायां
 एककार्यकारिणां चान्योन्यसहकारितायां एवमन्य-
 स्मिन्नपि तत्र तत्र दर्शनात्कथं न व्याप्तिभङ्गः "
 कश्च विशेषो * यद्व्यतिरेको विशेषणमुपादीयेत
 तत्र तत्राविरोधान्नैवम् ?* इति चेन्न, अन्यत्र तथा-
 भावादशनस्य विरोधाभ्युपगमस्य व्याप्तिश्चात्तत्र
 तत्र तथात्वे प्रमाणसद्भावे एव विशेष इति चेत्तर्हि
 सर्वज्ञानभ्युपगममूलं तथान्वे प्रमाणाभाव एवोप-

(१) व्याप्तिखण्डिकवत्तां विहायान्यत्र दृष्टा-यद्वा व्याप्तिखण्डिका-
 षपि दोषत्व दुर्घटं तत्तद्व्याप्यपि चैवम् ॥

(२) यत्र द्वारव्यक्तिभेदो नास्ति तत्रात्मस्यो दोष इति द्वार-
 व्यक्तिभेदस्य यो व्यतिरेकस्योपि द्वारव्यक्तिभेदमन्तरा एवप्रकाशज्ञान-
 वाद्यादिपक्षे व्यभिचारत इत्याह—द्वारेति—

जीवो दूषणमिष्यता कृतमन्योन्याश्रयेण व्यभिचारि-
तदोषत्वेनेति ^६चक्रकेऽपि दुःखजन्मादिसूत्रोक्तादिवु
व्यभिचारदर्शनादव्याप्ति विशेषव्यतिरेकदर्शनदुः-
शक्यत्वं च ^७कार्यकारणभावस्य तज्जातीयत-
यानियतत्वेन व्यक्तिभेदस्य चक्रकानन्तर्भूतत्वात्
व्याघातेऽप्येकम्यैव जनकत्वाजनकत्वे तथा नच
कलाभेदादिर्विशेषो घटतत्प्रध्वमादौ कालभेदेऽपि
तादात्म्याव्याघातोपगमादेव सत्प्रतिपक्षजात्यो-
श्चको विशेषो व्याघाते येन पूर्वत्र बाध्यबाधकयो-
र्द्वयोरप्याभासत्त्वमुत्तरत्र तूत्तरस्य परं तथोपेयत
इति गुरवः ॥

टी० ॥ दूषणान्तरमभिधातं पृच्छति-। “कश्चे”ति । आ-
त्माश्रयादीनां द्वारादिभेदादाभासत्वं प्रमेयत्वादी प्रमेयत्वादेः
प्रामाणिकत्वेन चेदुक्तमेतद् नदा यत्रात्माश्रयादिदोषस्तत्र प्रमा-
णानिर्वचनस्यैव दोषत्वमिति किमात्माश्रयादित्यर्थः । ननु चक्रकं
न क्वाप्याभासं येन न दोषो न स्यादित्यत आह-। ^६“चक्रके-
पी”ति । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरापाये तद-
नन्तरापयादपवर्गं इत्यत्र दोषात्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्या च जन्म जन्मना
च पुनर्दोष एव जन्यत इत्यादिक्रमेण कथं न चक्रकम् ? । येन
विशेषण व्यक्त्यभेदादिना चक्रकं भवति न विशेष इह नास्तीति
व्यवस्थापनमशक्यमित्याह-। “विशेषेति”नन्वन्या दोषव्यक्तिः
कारणमन्यस्य कार्यमिति व्यक्तिभेदाच्चक्रकमिहाभासमित्यत आह-।
//“कार्यकारणभावस्ये”नि । कार्यकारणभावाप्रवृत्तज्जातीयत्वे-
नेति सक्वापि व्यक्तिभेदो न तन्त्रमित्यर्थः । “व्याघातेऽपि”ति ।
एकमेव बीजमङ्कुलजं तदजनकं चेति व्याघात एवेत्यर्थः ।
यदि तदा जनकत्वं तद जनकत्वं व्याहृतमित्युच्यते तदा का-
लभेदो व्याघातो न स्यादेव । दृश्यते च भिन्नकालयोरपि ।
प्रतियोगिध्वंसयोस्तादात्म्यं व्याहृतमित्याह । “नच काले”ति ।

ठयाघातसंबन्धनान्तरमाह "सत्प्रतिपक्षजात्योरिति । पूर्वत्रेति ।
 सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः । सत्प्रतिपक्षे हि द्वयोरपि हेतवारविशेषणैव
 बाध्यबाधकभावो जातौ तु जातिरेव बाध्या न तु तथा स्थाप-
 नाद्यहेतुरपि बाध्यत इत्यत्र किं विनियमकमिति व्याघातविशेषे
 कथय कथमिदं वैषम्यमिति गुरुपदिष्टोयं दोषो न तु मयोदिन
 इत्यर्थः ॥

सू० "यद्यपि प्रतिपक्षहेतुः साध्यान्तरसाधक इत्यस्ति
 तस्य जात्युत्तरवैधर्म्यं तथापि त्वद्धेतुरसाधकः सम्-
 बलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादित्यस्य दूषणत्वार्थमवश्या-
 पेक्षस्य द्वारात्मठयाघातकत्वात्साक्षाद्भावशयेप-
 स्थाप्यद्वारेण वा स्वठयाघातकतायामुपयुक्तवि-
 शेषाभावः ॥

टी० ॥ ननु सत्प्रतिपक्षहेतवोर्ध्यामिपुरस्कारात्साधकत्व
 जातेश्च तदपुरस्कारादसाधकत्वमित्येतदधीनमेव वैषम्यमि-
 त्याशङ्काह - "यद्यपी"ति । इदं वैषम्यमन्तस्त्र यस्मिन् प्रतिहे-
 तुप्रतिहतत्वात् यथा सत्प्रतिपक्षः परं ठयाः किं तथा स्वात्मा-
 नमपि ठयाहन्येतेति । स्वठयाघातकत्वस्य तुल्यत्वादित्यर्थः ।
 दूषणत्वार्थमिति । न नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति प्रयुक्त्येया
 नित्यत्वसाधर्म्यात्कृतकत्वादित्येया तथा नित्यत्वसाधर्म्य-
 किःस्पष्टत्वात् नित्य एव किं न स्यादित्येयं प्रत्यवस्थानप्रकारः,
 इदमसाधकं नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वादित्यत्रैव पर्यवस्य-
 ति । अस्य च साक्षादेव स्वात्मन ठयाहन्ति किं तर्हि तदुपन्या
 सानन्तरमसाधकतासाधनार्थं प्रतिहेतुप्रतिहनत्वं यदुच्यते तत्-
 त्परंपर्येति वैषम्यमित्याशङ्क्याह - । "साक्षाद्दे"ति । यद्यपि
 प्रतिहेतुप्रतिहतत्वे प्रतिहेतुप्रतिहतत्वं न सम्भवति नियमानपे-
 क्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वे च नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहनत्वं सम्-
 भवतीति स्वाध्याघातकत्वं स्फुटमेव तथापि प्रतिधर्मप्रतिहनत्वं
 स्वपरमाधारणमेवेति भावः ।

सू० नच तत्रास्तामेव व्याघातः साप्रतिपक्षता तु निर-
वर्धयेति शक्यं वक्तुं, यतः "शब्दादेर्नित्यत्वमेक-
स्मादनित्यत्व" चापरस्मादनुमानात्तथासति किं न
स्यात् * 'तयोर्विरोधग्राहिणः प्रमाणस्य बलात्'-
इति चेन्न, "यथा नित्यत्वमनित्यत्वमित्युभयमा-
स्तामित्याचक्ष्महे तथाविरुद्धं मविमद्धं चरितामि-
त्यपि ब्रुवतोऽस्मान्कथं निवारयिष्यसि स्यादप्येवं
यदि सत्प्रतिपक्षत्वमेव तत्र दोषो न स्यादिति
चेन्नर्हि मन्तव्यं प्रथमस्य हेतोः समानबलप्रतिपक्ष-
प्रतिहतत्वादसाधकत्वमित्युक्तमावर्तते ॥

टी० ॥ स्वव्याघातकत्वे मनि सत्प्रतिपक्षतास्तु नियमपुर-
स्मरा जात्युत्तरं च नियमानपेक्षत्वे सतीति तदमदुत्तरनित्या-
शङ्क्याह- "नचे"ति । उभयोरिति व्याप्तिपुरस्कारेण सत्प्रतिप-
पक्षताया नियमत्वादनियमत्वविरुद्धधर्माद्यपाम इत्याह-।^b"यत"
इति । ननु विरुद्धयोरध्यासे विरोध एवमयोर्न भवेत् विरोधि-
त्वात्साध्यास एकत्रेति शङ्कते-। "तयोरि"ति । सत्यं न्यत्र विरु-
द्धत्वं विरुद्धत्वांशे वा विरुद्धत्व नित्यत्वानित्यत्वयोरस्तु को
दोष इत्याह-। "न"ति । ननु सत्प्रतिपक्षताभ्यां नित्यत्वा नि-
त्यत्वा नित्यत्वयोरेकस्यापि न तत्र मिद्धिरन्तप्रतिपक्षितत्वस्य
संज्ञत्वादिति शङ्कते "स्यादप्येवमि"ति । प्रथमस्य समान-
बलप्रतिहेतुप्रतिहतत्वादसाधकत्वमिष द्वितीयस्यापि जात्युत्त-
रवत् स्वव्याघातकत्वभायात्तमिति परिहरति-।^f"तर्ही"ति ।

सू० "अनवस्थायां च यस्यां यस्यां सत्तायामपरोपरसत्ता
यायात्तस्यास्तस्याः प्रमाणेन सिद्धौ नानवस्थादोषः
स्यादसिद्धौ चाश्रयासिद्धविषयमापादनमिति यदि
चात्माश्रयादिषु सर्वत्र विषेपोऽयमभिधीयते प्रमा-
णसिद्धत्वान्तत्र तथोपेयत इति तर्ह्यापादनस्थाने

तथाभ्युपगमाय प्रमाणं नास्तीत्युक्तं भवति तथाच
तत्र प्रमाणप्रश्नस्यावसरो न प्रसङ्गस्येति अपरोऽपि
विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवन्मन्तुमुचिताः ।
तद्यथा अविनिगमः उत्सर्गः कल्पनागौरवलाघवे
चानौचित्यं चेति ॥

टी० ॥ द्वितीयसत्तायां तृतीया तत्रापि चतुर्थी आपाद्या
तत्राश्रयस्य द्वितीयसत्तादेः निह्नसिद्धिपराघातादनवस्था स्यात्-
मेव न पारयतीत्याह-। “अनवस्थायामि”ति । ननु यत्रात्मा
श्रयादीनाभासत्वं तत्र प्रमाणात्कत्वं यत्र च तथा न तत्रैव तेषा-
ननाभासत्वाद्दोषत्वमित्याशङ्क्याह-। ४“यदि चे”ति । आपाद-
नस्थान” इति । यत्रात्माश्रयादिदोषत्वेनापाद्यत तत्रेत्यर्थः ।
तर्कविज्ञानोऽन्यून इत्युपदर्शयन्नेव तर्कप्रतिरूपकत्वेनास्मिन्मा-
नामुत्सर्गादीनां खण्डनमभिधातुं स्वरूपमादर्शयति-। “अप-
रोऽपी”ति ॥

सू० विकल्पेनान्वयावगमयोग्ये एकस्मिन्नभ्युपगते तदेक-
देशान्वयनियमनिर्द्धारणाऽशक्यत्वमविनिगमः सत्प्र-
तिपक्षहेत्वोरिव निर्द्धारयितुमशक्यान्वययोः परस्पर-
प्रतिक्षेपएवपर्यवसानात् * नन्वन्यतरमादायापि
प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेनाविनिगमस्य दोषत्वमेवानु-
पपन्नं केवलं पंसस्तत्र यदि संशयः स्यात्स च किं
न स्यात् ? *-इति चेन्न, भावानवबोधात्प्रमाणास-
म्भवेन क्वचिदपि विशेषः कथमभ्युपगन्तुं शक्योप-
पगमादायवस्तुगत्याप्येकस्यान्वयः स्यात् * नन्वेवं
प्रमाणाभाव एव दोषः स्यान्नाविनिगम ? *-इति
चेन्न,

टी० ॥ “विकल्पेने”ति । भूतत्वमूर्तत्वयोर्जातित्वेनान्वय-
योग्यतायामुपपत्तौजातित्वे जातिवद्भूत इत्येकः रं च तिस्तत्र

विकल्पः किंभूतत्वं भूतत्वं वा जानिरतस्त्रैकतरस्य जातित्व
 प्रादक प्रमाणं विनिगमनाविरहः प्रतिबन्धातीत्यर्थः । ननु
 निर्द्धारणशक्यत्वमेव कथं स्यादेकस्य जातित्वसाधकमन्यस्य
 जातित्वं प्रतिबन्धातीत्यत्र विनिगमनाविरह एव तन्त्रमित्यर्थः ।
 भूतत्वमात्रस्यापि जातित्वाभ्युपगमे जातिमाङ्ग्योक्तिवर्तते
 एवेति भूतत्वस्य जातित्वं सेद्ध्युपहृत्येवापाततः ननु संशयमात्रं
 भवतीति शङ्कते-। “नन्वि”ति । अन्योन्यप्रतिबन्धादेकमात्रनि-
 यतं प्रमाणमेव न भवतीति परिहरति ^b“प्रमाणे”ति ॥

म० “तस्याऽविनिगमोन्नयत्वेनाविगमस्यैव प्रथमोत्पन्न-
 स्योपन्यासौचित्यात् * ^bनन्वेवमनुमाने व्यक्त्यवि-
 गमो दोषः स्यात् ? *—इति चेन्न, ‘तत्रानेकव्यक्ती-
 नामभ्युपगममिद्वयभावात्सामान्योपसंहारस्यैकामेव
 व्यक्तिमात्रेणु’ सामर्थ्यात् “अविनिगमस्य चाने-
 काभ्युपगमे सत्युपस्थानादिति बाहुल्यदूष्टमपेक्ष्य
 बाहुल्यदूष्टता दुर्बलस्योपगमार्हतोत्सर्गः । तद्यथा ।

टी० ॥ प्रमाणाभावेऽपि विनिगमनाविरहप्रयुक्त एवेति
 तस्यैवोपजीव्यत्वमित्याह- । “तस्ये”ति । ननु धमेन तार्णः
 पाणो वा अनुसोयतामिति विनिगमनाविरहादेक्यपि बाहुल्यत्र
 न विरुध्येदित शङ्कते-। ^b“नन्वि”ति । तासंत्वेन पाणंत्वेन
 वा बहुर्नानुसोयते किंतु बहुत्वेन न च न विनिगमनाविरह
 इति परिहरति । “तत्रे”ति । तत्र वैकल्पिकी दूयोपस्थितिरेव
 नास्तीत्यर्थः एतदेवाह । “अविनिगमस्ये”ति । “अनेकाभ्यु-
 पगमे” प्रतीतिः पर्व-नेककोटिकविकल्पे नतीत्यर्थः । तत्सगं-
 स्वरूपमाह । “बाहुल्ये”ति ॥

म० स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्द्धारक-
 प्रमाणानुपनिपाताविशेषोप विना बाधमप्रामाण्य-
 मभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात् न तु प्रामाण्यं यं तर्क-
 मेतमालम्ब्याहुः “तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता

बुद्धेः प्रमाणता अथान्यथात्वहेतुत्वदोषज्ञानादपो-
द्यत" इति । "द्रष्टव्ये। दाहरणञ्चैतदीश्वराभिसन्धौ
वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतेऽपि विप्रतिपत्तु-
मर्हति * ननु बलवदेककोटिकः संशय एवोत्सर्ग-
स्तत्कथं ततः स्यात् ? *-इति चेन्न,

टी० ॥ "स्वस्थस्ये" इति । सुप्रकायद्वयस्यमपि ज्ञानप्र-
माणं स्यादित्यभ्युपगमे ज्ञानानामोत्सर्गिकं प्रामाण्य "तस्माद्
बोधोत्सर्गकत्वेने" इति । बोधकप्रामाण्यस्योत्सर्गिकत्वेनेत्यर्थः । ननु
ज्ञानप्रामाण्यस्योत्सर्गिकं नियतमेवेत्यत उक्तम् "अर्थान्यथात्वे"-
त्यादि । अर्थान्यथात्वे विषयतावैधिकरण्यं तत्र हेतुश्चक्षुराद-
यस्तदुत्पत्तयस्तद्विषयस्य दोषस्य पिप्सादेर्ज्ञानादपोद्यते तयोत्पा-
दकत्वेन नायं संशयः क्वचिच्च साधाणस्यापि सम्भवात् इत्यर्थः ।
ओत्सर्गिकं च शब्दानामर्थपरत्वं क्वचिदित्यादिभिः । दैर्घ्याद्य-
इत्युदाहणम् । उदाहरणान्तरमिति प्रेत्याः । "द्रष्टव्ये" इति ।

मू० "उत्सर्गस्य सम्भावनायाः स्वार्थस्थित्यनुकूलतया-
वलम्बयत्वात्संशयत्वनेवभावान् "उत्सर्गस्यैककोटि-
निष्ठत्वात्संशयस्य कोटिद्वयावगाहित्वात् । एतेन
संशयस्यैवैका बलवती या कोटिः सैवोत्सर्गं इति
निरस्तम् । निर्णयोऽपि संशयस्यैव वस्तु नियतका-
रणजस्वरूपबलवती कोटिः स्यात् । * "स्यादप्येवं
यद्युत्सर्गवन्निर्णयेऽपि संशयस्यानुस्फुर्तिः स्यात् ?
*-इति चेन्न, । "उत्सर्गोऽाहरणे उत्सर्गमाद्रिय-
माणैः संशयोच्छेदानुमतेरेव बाधाभावं सहकारिण-
मपेक्ष्योत्सर्गणार्थेऽप्यभाव एव प्रमाणीभवनात् । त-
स्माद्यथाऽनसस्थादये बाधाद्दूषणात्वं त्यजन्तस्त-
दभावे दूषणानि भवन्ति तयोसर्गोऽपि तथैवेति ॥

टी० ॥ प्रायशो च नमिदं प्रमेव स्य देवमेकमभावनात्मक

संशयस्त्वयोत्पत्तौ वाच्यः संभावनायाश्च स्यादुत्सर्ग एव न लभः ।
 अन्यथा समकौटिक एव संशयः स्यादिति मूलमलीसावापकयो-
 र्भेदात् भेद इत्याह—। “उत्सर्गस्ये”ति । भेदकमूलमाह । “उत्स-
 र्गस्ये”ति—। ज्ञाने प्रामाण्य संभवतीत्युत्सर्गा ऽकारः, ज्ञान
 प्रमाणं न वेति संशयाकारस्तयोराकारकत एव भेद इत्यर्थः ।
 प्रशयस्यैकस्यां कोटामुत्सर्गपदप्रयोगं निरस्यति “एतेने”ति—।
 संप्रतीत्योपकीवकभावेन । विषयभेदेनेत्यर्थः । अनूत्सर्गकाले संश-
 यानुत्पत्त्या तस्य संशयकोटित्वं संजाठयति निर्णयकाले संशयो
 नास्त्येवेति कस्य कोटित्वनिर्णयः स्यादिति शङ्कते—। “स्याद-
 प्येव”मिति । येनोत्सर्गस्तकं इच्छते तस्य मत्काले कोटित्वं
 संभाव्यते निर्णयकालेऽपि संशयानुमतिर्ना स्तीति परिहरति—।
 “उत्सर्गे”ति । तर्को भवत्येवेत्याह—। “तस्मादि”ति ॥

मू० सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवं “दृष्ट-
 जातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं दुःखं न प्रमीयते स्वल्प-
 मपेक्ष्य च बह्विति अखिलजनानुभवसिद्धमेतत्,
 दर्शितं च विविच्येदमीश्वराभिसन्धौ तथा नैया-
 यिकादिकं प्रति क्षित्यादिषु प्रति कार्यं कर्तृणां
 भिन्नानामभ्युपगमापादके च सौगतं प्रति प्रत्येकं का-
 रणानां समर्थानामनेकसमानदेशकालानेकनीलादि-
 व्यक्त्युत्पादापादकं चेति दूषणानुकूलमिदं तद्व्य-
 तिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलं प्रामाणिका-
 व्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनीचित्यम् ।

टी० ॥ “सुगमासुगमयोरिति” । सुबोधकदुर्बोधकयो-

रित्यर्थः । तथाच दृष्टजातीयमल्पतसुबोध अदृष्टजातीयं च
 दुर्बोधं तत्र गौरवं प्रमाणप्रतिबन्धक लाघवं च प्रामाण्यसहकारि
 गौरवे लाघवे च विषयभेदा तद्विषयभेदा वा तद्विषयके
 ज्ञाने एव इदं गुरु इदं लघ्वित्योकारं प्रमाणस्वाभाव्यादिव
 लघुविषयपरिच्छेदकत्वं गुरुविषयाग्राहकत्वमित्याह—। “दृष्टे-

ति" । नैयायिकानामेकेश्वरसिद्धौ प्रमाणसहकारि सीगनानां न समर्थबोजसहस्यैकारुक्कुरजनकत्वे लाघवं सहकारि विपरीत-
निद्धौ च गौरवं दोष इत्यर्थः । अनौचित्यस्वरूपमाह—। ^b“प्रा-
भासिके”ति—। प्रामाणिकानां न व्यवहारो यच्च सर्वथाप्यसना-
चेयं तदनौचित्यमित्यर्थः ॥

मू० वैजात्यनामकं तस्य भेदाः प्रश्नवैजात्यादयः प्रश्न-
विषयमप्रमिषवतां प्रष्टुरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्नवैजा-
त्यम् । यथा अथस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छ-
सीति पृच्छसीति प्रमाणव्यवहारिणां सीगते अत
एषाभानौचित्यापरनामकं वैजात्यं परस्य दोषं मन-
सि कृत्वैके ब्रुवते । अत्र “सहृदयानां मूलकतैवोचि-
तेति । अपरे च न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः
कृष्णो वेति वैजात्यं विना प्रश्नः स्यादिति । यदि
चेदमनौचित्यं नाम दोषो नाभ्युपेयते तदानीमथ-
न्तिरेण प्रकृतमर्थं निरस्यार्थान्तरस्यार्थान्तरेण परि-
हारात् तत्परामालम्बितुकामः केन दोषेणार्थान्त-
रपरिहाराभासत्ववादिनि अर्थान्तरेणैव तत्परिहर-
णमनुचितमित्यतोऽन्येन जीयेत ^bअर्थान्तरनिग्रह-
तायां विप्रतिपत्तौपि प्रश्नपरम्परामालम्ब्य स्व-
भङ्गभयात् कथावसानमनिच्छन्तं कथं जयेत ॥

टी० ॥ उत्तरानर्हाभिधानमनौचित्यमिति सामान्यलक्ष-
णमित्यर्थः । धर्मिण उपस्थानं किं गौरः कृष्णो वेत्योदिवैजा-
त्यमनौचित्योद्गावने प्रकारमाह—। ^a“सहृदयानां मूलकतैवो-
ति । अन्यथैवं वाद्यप्रतिभयैव निगृह्येतेत्यर्थः । “तत्परम्परा-
क”र्थात्परम्पराम् । अर्थान्तरस्य निग्रहत्वे विमतस्तेन जेतुम-
शक्योऽनौचित्येनैव विजीयेतेत्यर्थः । अन्यथार्थान्तरभेदार्थान्तरं
वा एषं सत्त्वादिदं जीयेतेत्याद्यनौचित्यं च दोषाय भवेदि

त्यर्थः । अनौचित्यस्य भूतान्तरमाह— ७ “अर्थान्तरे”ति ।
 योऽप्यर्थान्तरं निग्रहं नेच्छति प्रश्नपरस्परामालम्बमानं वादिनं
 कथं विजयीत किं द्रव्यमिति प्रश्ने गुणवद्द्रव्यमित्युत्तरे को
 गुण इति पुनः प्रश्ने स्पर्शाश्रये गुण इत्युत्तरे स्पर्श एव क
 इति पृच्छन् वादी कथमनौचित्यमन्तरेण जेतव्यः ॥

मू० “ न चानवस्थया जयतीति वाच्यम् । यावदुत्तरमर्थ-
 न्तरेण परिहरणे प्रश्नान्तरेण वा द्वयोरप्यनवस्थासा-
 म्यात् ७ “दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुक्त्विलोकविलोचने ।
 काठ्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमादूत” ॥ ० ननु
 कथमत्र प्रामाणिकाठ्यवहार्यत्वमिति पृष्टेन यदि
 मकृत्वमालम्ब्य तथात्वं वादिनि न व्युत्पाद्यते व्यु-
 त्तदानीमप्रतिभा पतेत् । अथ तथात्वं त्पाद्यते ॥

टी० ॥ नच प्रश्नावस्थैत्र तत्रोद्भाव्येत्याह— ० “नचे”-
 ति— ० “नचेति— अनवस्थापादनेऽपि कानवस्थैति प्रश्नसं-
 नवात् तथा च प्रश्नेऽन्तरपरस्परायां द्वयोरनवस्था स्यादित्यर्थः ।
 अनौचित्यस्य प्रामाणिकाभ्युपगमेन प्रामाणिकत्वमाह—
 ७ “दोषनि”ति । अमुं दोषमनौचित्यारूपं दोषम् महिमनामा
 कश्चिदालङ्कारिकः स्वकृते व्यक्तिविवेकनामग्रये आदृत पुर-
 स्कृतत्वात् काठ्यमीमांसिषु काठ्यविशेषेषु प्राप्तमहिमा
 लक्ष्यमहत्त्वं इत्यर्थः । तथाच महिमा “अनौचित्यादूतं नान्यद्
 सभङ्गस्य कारणम् । प्रमिद्वीचित्यमूला द्विरसस्योपनिषत्परं”ति
 प्रामाणिकाठ्यवहार्यत्वमनौचित्यविशेषमालम्ब्य गच्छते । ० “न-
 च्चि”ति । तथात्वमिति । प्रामाणिकाठ्यवहार्यत्वमित्यर्थः ॥

मू० प्रश्नार्थादेः प्रमाणाविषयत्वमुपन्यस्य तदात्यन्ता-
 सद्द्रव्यवहार्यता स्वीकृतेव स्यादिति चेदत्र ब्रुवते
 मकृतेवात्र विजयायेति । नचाप्रतिभैवं प्रकथ्येत,
 “उत्तरस्याप्रतिपत्तिरुत्तरार्हस्येति तत्त्वज्ञानात् ” य-
 दि चायं नियमो वादिना दृष्यते पदभ्रान्त्यैव तेन

व्यवहर्तव्यम् अनुवादादन्यत्रेति तदा मध्यस्थो-
द्भाव्यत्वमस्य दोषस्योपन्यस्य दोषस्योपन्यस्यतां
‘मध्यस्थेन ह्यपभ्रंशभाषयापि यथा वादिप्रबोधनं
क्रियते तथा यद्यप्रमाणमवलम्ब्यापि क्रियेत तदा
को दोषस्तस्य स्यात्तत्र विषये तथैव तेन वादिबो-
धनस्य शक्यत्वात् ॥

टी ॥ “प्रश्नार्थादेरिति” । विधिनिषेधव्यवहारभाज-
नत्वेन किं घृष्टवर्गह्रियते न चेति प्रश्नार्थः । विधिनिषेधव्यव-
हाराभाजनत्वेन यदि व्यग्रह्रियते तदापि दोषो न व्यवह्रियते
चेत्तत्राद्युपयथा चोत्तरयितुरमद्वयवहार्यतास्वीकरणं व्याघान
इत्यर्थः । अप्रतिभालक्षणे उत्तरार्हं उत्तराप्रतिपत्तिरिति कृते
तस्योत्तरानर्हताया नाप्रतिभेत्याह—। “उत्तरस्ये”ति । गत्यन्त-
प्राह—। ^b“यदिवापमि”ति । मध्यस्थेन तत्रानौचित्यविषय-
विषयकमनौचित्यमुद्भावनीयमिति समुदायार्थः । “पदस्य-
न्त्यैवेति” अनौचित्येऽल्लेखवादिना भ्रान्त्या व्यवहारे नियम-
सङ्गस्यादिति भावः । नन्वेवं मध्यस्थ एव निगृह्यते इत्यत
आह—। “मध्यस्थेन ही”ति । अन्यथापभ्रंशाभिधाने निर-
र्थकनिघण्टेण मध्यस्थो निगृह्यतेत्यर्थः ॥

मू० “तस्मान्मध्यस्थं^(१)प्रत्यनुत्तरदानं स्वदोषपरिहा-
राय प्रतिवादिना वैजात्यलक्षणदर्शनं कार्यं मध्यस्थं
प्रति तस्याप्रमाणेनापि प्रतिबोधने निर्दोषत्वात् ।
• ^bननु वादिभ्यामेव वा वादिनि मध्यस्थेन वा तं
प्रति वादिना वात्यन्तासद्विषयव्यवहारोपगमे कथं
नासत्ख्यातिः स्वोक्ता स्या, ‘त्किन्नस्या द्विशिष्टरूपे
संबन्धांशे चाऽसत्ख्यातेरन्यथाख्यातेरन्यथाख्याति-
वादिभिरप्यभ्युपगमात् * ^dननु बन्ध्यासुताच्छयवि-

(१) प्रत्यनुत्तरदानमित्यपि पाठान्तरम् ।

षाणं भिन्नमित्यादिषु व्यवहरतः कथं विशेष्ये विशेष्येऽपि नासत्ख्यातिरुपगन्तव्या ?*-इति चेत् ॥

टी० ॥ ननु वादिभियोगसन्तरेण मध्यस्थोऽपि कश्चिदमुद्गावयेत्तत्रियोगस्य भिदधानस्यानोचित्यस्यापतितमिति तथा चात्रांत्यैव वक्तव्यमिति नियमो भक्त इत्यत आह-। “तस्मादि”ति । वादिनं प्रत्ययं नियमो ननु मध्यस्थमपि प्रतीत्यर्थः । नन्वेवमध्यसत्ख्यात्यापत्तिस्वीकारो दुर्भार इत्याशङ्कते । ^b“नन्वि”ति । वादिभ्यामेवासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यादित्यन्वयः । यद्वा वादिभ्यामेवेत्यत आरभ्येवासत्ख्यातिव्यवहारोपगम इत्यर्थः । इदृशीमसत्ख्यातिमभ्युपगच्छन्त्येवान्यथाख्यातिवादिनेऽपीत्याह-। “किं न स्यादिति” नन्वन्यथाख्यातिवादिभिर्वैजिपत्येऽप्यमुद्गावोऽभ्युपेयते स च विशेषणविशेष्यपरपीति शङ्कते-। “नन्विति । अत्राखण्डनमसन्मात्र भासते सासत्ख्यातिः क्रीकियते प्रकृते च विशेषणविशेष्ययोर्दसत्त्वेऽपि भेदः सन्नेव भासते इति नासत्ख्यातिरिति ॥

सू० “न, असत्ख्यात्यात्यभ्युपगमस्य सत्ख्यातित्वात्यागनियमोपगमविश्रान्तत्वात् असदपि सदुपरिलक्ष्मेव प्रतिभासते नतु केवलमसत् कयापि ख्यात्या समुल्लिख्यत इत्यन्यथाख्यातिवादिभिरिष्यमाणत्वात् वन्धगासुताच्छशविषाणं भिन्नमिति प्रतिपन्नापि भिन्नमित्यपभ्रंशः सामान्यतोऽन्यत्र दृष्ट एव प्रतीयते केवलं भेदस्य सदाश्रयः प्रतियोगि चेति यद्वस्तुतः तदसदाश्रयः प्रतियोगि च तस्यैत्यन्यथा कृत्वा प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातिरेवोपगता भवति यथा तु विशिष्टमत्यन्तासदेव तथाश्रयप्रतियोगिनी अत्यन्तासति एव किं न प्रतिभासेते तावतापि यथोक्ता-न्यथाख्यात्यानुल्लङ्घनादेव । न चैवमसत्ख्यातिवा-

दिनापि शक्यं वक्तुं केवलं सदेव प्रकाशत इत्यस्म-
त्पक्षाद्विपरीतं विशिष्टं संबन्धश्च क्वचिद्विशेषणा-
द्यप्यत्यन्तासद्भ्रान्त्योल्लिख्यत इत्येवंरूपा तावद-
सत्ख्यातिः परेणोपगतैव यदि तु सदापि प्रकाशते
किञ्चित्कत्किं नासत् प्रकाशते इति ॥

टी० ॥ परिहरति—। “नेति” । अन्यत्र सतोर्विशेषण-
विशेष्ययोर्वैशिष्ट्यमसद्भासते प्रकृते त्वसतोस्तयोर्भेदः सत्त्वे
भासत इति भानवैषम्यमित्यर्थः । “तावतापी”ति । अन्यथा-
ख्यातिरेवमभ्युपगता भवतीत्यर्थः । न चेत्यस्मिन् प्रकाशत इ-
त्यन्तं शङ्का किञ्चित्सद्भासने यथान्यथाख्यातिः तथाकिञ्चिद-
सद्भासने सत्ख्यातिरेव किं न स्यात् । तथाच स्वीकृता त्वयाप्य-
सत्ख्यातिरिति शङ्कार्थः ॥

म० “यतः परेण विकल्पः सर्वथा वस्त्वनुल्लेखी केवल-
मलीकमुल्लिखन्नसत्ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते यदि तु
यथोक्तमेव परोप्यभ्युपगच्छति तदानीमनुमान-
प्रामाणादिवदत्राप्यविप्रतिपत्तिरेवेति * ननु सर्व-
थैवासत्ख्यातिरपि भवतानुमन्तव्यैव । तथाहि-वं-
न्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैवेति वदतः शब्दादर्थं
प्रतिपादयतां^(१) किं तदणुमात्रमपि समुल्लेख्यं
तत्प्रतीतेः ? *—इति चेन्न, तत्रापि तादात्म्यस्य
सामान्यतऽन्यत्र प्रतीतस्यैवाऽसदुपहितस्य स्फुर-
णोपगमात्^b प्रकारभेदवैशिष्ट्येन भिन्नयोरेकत्वं हि
तादात्म्यं तच्चान्यत्रास्त्येव ॥

टी० ॥ परिहारमाह—। “यत”इति । विकल्पे सन्मात्र-
विषयः परेण ब्रूतेन स्वीक्रियते तेन न सादृश्यं सत्ख्यातौ
विप्रतिपत्तत्वादेव यदि विकल्पेऽपि सदुपरागस्त्वयेष्यते तदा

(१) किन्तदर्शमात्रमपि-इत्यपि ग्रन्थान्तरस्यः पाठः ।

धूमत्वादिजातीनां पारमार्थिकत्वाभ्युपगमे ठयासिप्रहसकत्वे
त्वयानुमानप्रमास्यविप्रतिपत्तिस्त्वयाज्या । न चासावसत्ख्या-
तिरित्यर्थः । सामान्यमलीकं, स्वलक्षणं च देशकालानुगतमिति
ठयासिप्रहो न संभवती(१)त्यनुमानप्रमास्येन वानुदयः स
त्वया त्यक्तृवेति भावः । यद्वा तत्प्रामास्यमङ्गीकरोति अक्ष-
त्ख्यातिं च तं प्रतीदमुक्तम “सुभात्रमपी”ति । स्वल्पपीत्यर्थः ।
अनु शशविषाणादीनन्योन्यतादात्म्यं कथं सदित्यत आह ।
१ प्रकारे”ति । प्रकारभेदवत्त्वेनेत्यर्थः ॥

मू० “ तर्कसंशयाभ्यामप्रमाभ्यां जननेऽपि तत्तत्प्रमावत्
मध्यस्थाद्यप्रमया तथा प्रश्नानौचित्यादिप्रमेत्पा-
दनाविरोधे बाधवत् भ्रमविषया ऽतथाभावेऽपि भ्र-
मस्याप्रमात्वपरमार्थिकतावत्प्रश्नविषयासत्यत्वेऽपि
प्रश्नानौचित्यसत्यतोपपत्तिरेव । एतेन ^b भ्रान्ति-
जाया धियः प्रमात्वं तथाप्यदृष्टृचरमित्यपि परा-
स्तप्रायमिति । एवमन्यत्रा-

टी० ॥ नञ्वनौचित्यविषयगोचरभ्रान्तिमता मध्यस्थेन
वादिन्यनौचित्यप्रमा कथमुत्पादनीया अनुत्पादने च कथमनौ-
चित्यमप्रमितं न भवेदित्यत आह-। “तर्कसंशयाभ्यामि”-
ति । नहि भ्रान्तेर्धौन्तिरेव जायते तर्कसंशयाभ्यां सदनुमिति-
जननात् । यद्वा तर्कसंशयविषयको विषयजन्यः माहात्कार
एव दृष्टान्तः शशशृङ्गं ऋजु वक्रं वा गगनारविन्दं सुरभि नवेति
प्रश्नविषयस्यासत्त्वेऽप्यनुचितमेतत् यदयं पृच्छतीति ज्ञानं प्रमे-
वेत्यर्थः । “बाधवदि”ति । बाधवतो भ्रमस्य विषयतथात्वाभावे
भ्रमत्वं प्रामाणिकानां तथानौचित्यज्ञानप्रमात्वमविकट्टमित्यर्थः ।
नञ्वन्यथारूपातिशयं ज्ञानं भवतु प्रमा प्रकृते स्ववत्ख्याति-
जन्यमिति जानौचित्यज्ञानं प्रमा स्यादित्यत आह । ^b दूते-
ने”ति । अक्षररूपातिशयशरूपातिशयत्वाद्युत्पादनेनेत्यर्थः ॥

(१) अनुमानाप्रामास्येवानुदय इति तु नाधीयाऽपाठः । अनुमान-
प्रामास्ये तवानुदयइत्यपि क्वचित्कः पाठस्येपि विचारणीय एव ।

मू० ^a प्येवविधोदाहरणे वाच्यं, ^b नच कश्चिदुक्तप्रकारमन्यथाख्यातिसमाधानं नानुमन्तुं शक्नोति, ^c अन्यथा कथमसत्ख्यातिवादिना मतमपि जानीयादज्ञात्वा च स्वपरमतवैचित्र्यं कथं वादे प्रवर्तते ^d एते सर्वेपि तर्काः प्रमाणविरोधे वा प्रमाणाभावे वा निष्पीडिताः प्रविशन्तो न बाधासिद्धिभ्यां भिद्यन्ते ^e पूर्वैरपिलोकसिद्धत्वाद् व्यवहृताः ^f केवलमस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्ताः ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते “विषवृत्तोऽपि संबन्धं स्वयं हेतुमसाम्प्रतमि”ति । येच परैस्तर्कदोषाः षट् स्वीक्रियन्ते आश्रयासिद्धिरनुकूलत्वं मूलशैथिल्यमिष्टापादनं विपर्ययापर्यवसानं मित्रो विरोधश्चेति शेषं तर्कस्य दोषविभागो नापपद्यते ॥

टी० ॥ ननु खण्ड्यासुते गगनारविन्दं तत्र च कूर्मरोमेत्यादौ चासत्ख्यातौ का गतिर्न ह्यत्र तादात्म्यं भेदे खान्यत्र गृहीतो भासते येनान्यथाख्यातिः स्यादित्यत आह— ^a “एवमि”ति । एवं सत्यपि विप्रतिपन्नं प्रत्याह— ^b “नच कश्चिदि”ति । नन्वेवमप्यनुपपन्नमेव तन्मते ज्ञानं चासत्ख्यातिपर्यवसन्नमेव स्यादित्यत आह— ^c “अन्यथे”ति । नन्वात्मश्रयादीनामुत्सर्गादीनां च पृथक्त्वे निग्रहस्थानाधिक्यं स्यादिति सिद्धान्तमनुरुध्याह— ^d “एते”इति । ननु बाधाऽमिदूच्योरेवेषामनुप्रवेशे त्वयैव किं पृथक् पृथङ् निरूप्यत इत्यत आह— ^e “पूर्वैरि”ति । ननुत्सर्गादीनां पूर्वैर्वैख्यमाशानामपि तत्पूर्वैर्नोक्तमित्यत आह— ^f “केवलमि”ति । “प्रबन्धेने”ति । खण्डनानन्तरोक्तेन तु खण्डिता एवेत्यर्थः । विशिष्टखण्डने हेतुमाह— “विषवृत्तोऽपि”ति । हेत्वाभावा एव तर्काभावा अपि ननु तर्काणां दोषविशेषान्निधानं युक्तमित्याह ॥ “ये च परैरी”ति ॥

म० " ठयाप्तिपक्षधर्मत्वयोः प्रतीतिमपेक्ष्य यथानुमानं जायते तथैव तर्कोऽपि ह्यान् परमनथोर्विशेषो यदनुमानं तयोः प्रमित्य। जायते तर्कस्त्ववास्तवाभ्यामपि ताभ्यां पराभ्युपगममात्रसिद्धाभ्यां भवति तेन विमृष्यमाणः तर्कः पराभ्युपगममात्रप्रसादसिद्धपरिकरो नाश्रयसिद्धिमपि तावद्वास्तवीमनुरोद्भुमधिकरोति ततः प्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्याश्रयाद्देदान्यो यावान् यथा च हेत्वाभासविभागः तद्देव च तर्काभासविभागोऽपि न्यायः ।
 ७ तस्मादाश्रयासिद्धिमूलशैथिल्येष्टापादनान्यसिद्धिरेकैव दोषोऽनुमानव—

टी० ॥ नन्वनुमानापेक्षया बीजवैषम्यमनीषामिति तद्वोषवैषम्येनापि भवितुमशक्यं तत्र आह— "व्याप्ती" ति । ठयाप्तिपक्षधर्मतयोरभ्युपगमो बीजमिति ठयाप्तिपक्षधर्मताश्रया एव दोषा इतोपि भवितुमर्हन्तीत्यर्थः । "प्रमित्यभ्युपगमसिद्धी" ति । अनुमाने प्रमितिरूपा सिद्धिस्तर्कं शाभ्युपगमरूपासिद्धिस्त्वत्कृतं यद्द्वैचित्र्यं तदाश्रयाद्देदादित्यर्थः । तथाचेयानेष भेदस्तर्कानुमानयोर्न त्वन्यो येन वैषम्यं स्यादित्यर्थः । तनूक्तास्तर्का दोषा हेत्वाभासेषु चेन्नान्तर्भवन्ति तदा तत एव तत्र भविष्यतीत्यत आह— "तस्मादि" ति । "असिद्धिरेकैवे" ति । स्वाश्रयासिद्धिः स्फुटैव मूलशैथिल्यं व्याप्यत्वासिद्धिरेव इष्टापादनं स्वाश्रयासिद्धिरेव निवृत्ताधनद्वारिकेत्यर्थः ॥

म० तत्राप्रमितत्वावलम्बिनीह त्वनभ्युपगमावलम्बिनीति विशेषः मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव "विपर्ययापर्यवसानं तु दोष एवापादनस्य न भवति यन्नाम विपर्ययापर्यवसानादापादनमात्मसाधनानुकूलं न भवति तदन्यदेव किमपि ७ बाधविरुद्धत्वव्यभिचा-

रास्त्वनुमानवत् तर्कपि दोषाः पृथग्वाच्याः 'बाध
उत्सर्गसम्भावनादेरन्यत्रानुकूलः तर्कस्य सप्तममपि
दोषं तर्कस्यापत्तिर्नास्ति न नामोपगच्छामः स चोभ
भ्यामभ्युपगतव्याप्येनानभ्युपगतव्यापकेन प्रागेव
दर्शित इत्यास्तां विस्तर इति ॥

टी० ॥ तत्रेति । हेतौ । इहेति । तर्क । विपर्ययापयंत्वमाधि-
तर्केण परसाधनदोषाभिधानस्यादर्शितत्वादित्याह-। a“विप-
र्यये” ति । तर्कदोषविभागे व्युत्पत्त्यमाह-। b“बाधे” ति ।
यद्यपि विरुद्धहेतौ तथापि यथानुमाने व्याप्यत्वाविद्धेः प्रस्ता-
वेन तयोः परिगणितं तथाप्रापि स्यादित्यर्थः । ननु बाधेन गुण
एव नतु दोष इत्यत आह-। “बाध” इति । उत्सर्गाप्यसम्भ-
वाक्ये च तर्कतत्रापि भवत्येवेत्सर्ग इत्यर्थः । पूर्वोपपादिततर्क-
दोषान्तरमाह-। d“दर्शित इती” ति । यत्रोभयोः समो दोष
इत्यादिस्पष्ट इत्यर्थः । एतदेव विविच्योह—“स चे” ति ॥

मू० एवं प्रकाराणि तत्तल्लक्षणेषु खण्डनान्युहनीयानि ।
तदेतासु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां के-
नापि प्रकारान्तरेणानीय तत्सदृशीमन्यां वा स्वय-
मूहित्वा परैर्विविच्यमानानि पदार्थान्तराण्यपि
बुद्धिमता बाधनीयानि । अत्र चास्माभिर्दूषयितुं
शङ्कितेभ्यः परपक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं को-
पि स्वयमूहति उक्तानां बाधकानां मध्ये क्वचि-
त्प्रज्ञया समाधानमभिदध्यात्तत्र खण्डनवादिनः
प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्तदा परेण प्रयुज्यमाने
वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डयितुं 'ख-
ण्डनान्तरमवतारणीयम् । एवं तत्रापि परेण प्रज्ञा-
शील्ये पुनस्तथैव शाखान्तरेषु संक्रमणीयमिति
प्रकारेण खण्डनमये चक्रे सम्यगवधेयम् ॥

टी० ॥ उक्तखण्डनमन्यत्रातिदिशति—। “एवं प्रकाराणी”
ति । ये पदार्थाः यानि च लक्षणानि खण्डितानि तेषां सिद्धा-
न्तिभिः प्रकारान्तरेणोपन्यासे कृते तत्खण्डने स्वयं समाधाने
वा कृते खाण्डनिकाय प्रकारमुपदिशति—। ^b“तदेतास्त्रि” ति ।
प्रज्ञाशेषः खाण्डनिकस्य सर्वथात्यन्तमवधेय इति यत्किञ्चित्सि-
द्धान्ती वदति—। “खण्डने” ति । तत्खण्डनमवतारणीय-
मित्यर्थः ॥

मू० “नच शाखान्तरसंक्रान्तावयान्तरं पतेत् अप्रकृत-
त्वाभावात् ^bन चैकनिर्णयारम्भे ऽन्यसंक्रान्तावनौ-
चित्यं स्यात्, शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यादौ
परेणोक्ते कृतकत्वादावविप्रतिपत्तव्यत्वापत्तेरन्यत-
रासिद्ध्याद्युच्छेदापातात् । येन हि तन्निर्वाह्यते तद-
निर्वचनीयतयापि निर्वाह्यानिर्वचनीयतैवेति तस्मा-
त् । “तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे ।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया ॥ “ग्र-
न्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,

टी० ॥ प्रकृतपदार्थखण्डनमुपक्रम्य यत्किञ्चित्खण्डना-
चरणेऽर्थान्तरं स्यादित्याशङ्क्याह—। “नचे” ति । प्रकृतपदार्थ-
खण्डनोपयोगितैव तदभिधानान्तरान्तरत्वमित्यर्थः । ननु मा-
भुदर्थान्तरत्वमनौचित्यं स्यादेव शाखान्तराश्रयश्च इत्यत आह—।
“नचे” ति । एवमनौचित्ये शब्दानित्यत्व विप्रतिपद्य तत्सो-
धने कृतकत्वे पुनर्विप्रतिपत्तावनौचित्यं भवेत् येनान्यतरा-
सिद्ध्यापभ्यासोऽपि न घटेतेत्यर्थः । अर्थान्तरत्वनिरासायोक्त-
मर्थं कारिकया सङ्कलयति—। “तत्तुल्ये”, ति । उक्तखण्डनतुल्यस्य
खण्डनान्तरस्योह उक्तस्यैव वा खण्डनस्य विषयान्तरे योज-
नम् । उभयथाऽपरिष्कृतौ यत्किञ्चित्पदमादाय खण्डनमुक्तं
खण्डनस्मरणं चेति प्रक्रिया त्रिविधा भ्रमतीत्यर्थः । क्वचित्
“घात्रमतिमत्क्रियेति पाठः” मतिमतामत्र त्रिधा क्रियेत्यर्थः ।

कठिनोक्तिदोषं समाधातुमाह—। ^d“ग्रन्थग्रन्थि” ति ।
अनिसन्धिपूर्वकमेव क्वचित्कठिचत्काठिन्यं न त्वकीशलकृत-
मित्यर्थः ॥

मू० “प्राज्ञमन्यामना हठेन पठितो मास्मिन् खलः खेलतु
अद्वाऽऽराद्धगुहः श्लथीकृतदूढग्रन्थिः समासादय,
त्वे तत्तकरघोर्मिमञ्जनसुखेष्ठासञ्जनं सञ्जनः, ॥
ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुजेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्त्रर्केषु यस्योक्तयः, श्री
श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥
इतिश्रीश्रीहर्षतानिर्वचनीयसर्वस्ये खण्डनखाद्ये
तुरीयः संकीर्णपरिच्छेदः । शुभमस्तु ॥

टी० ॥ ग्रन्थिन्यासे हेतुमाह—। “प्राज्ञमि”ति । (१)प्रसक्त-
तायां स्वयमेव पुरुषस्तदर्थं जानीयादित्यर्थ एवास्य ग्रन्थस्य न
स्यादिति भावः । अद्वया आराद्धः सेवितो गुरुर्येन तेन श्लथी-
कृतो दूढो ग्रन्थिर्यस्य स मञ्जन एव तर्करूपो रसस्तस्योभिषु
मञ्जनेन यत्सुखं तेषु आमञ्जनमासंगमासादयस्त्वित्यर्थं मद्गो-
रथीत्य खण्डनमयं तर्कप्रयोगेन विजयखण्डनमासादयतु सत्कृत
इति भावः । स्वीत्कर्षरूपापनेन ग्रन्थस्य श्लाघनीयतामाह—
^b“ताम्बूले”ति । “स्वस्नातुर्जयनाथस्य व्यरूपामारूपातवान्
यतः । प्रतिया भवनाद्योयं तामिहालितमुज्ज्वलाम् ॥ इति श्री
महामहोपाध्यायसन्मिश्रभवनाथात्मज महामहोपाध्यायस-
न्मिश्रशङ्कर विरचिताखण्डनखाद्यचतुर्थपरिच्छेदशाङ्करी टीका
(१)समाप्ता ॥ शुभमस्तु । परमेश्वराय नमः ॥

समाप्तोयं ग्रन्थः ॥

(१) प्रसक्ततायास्—ग्रन्थस्य सरसत्वे ।

(२) यत्रेति पदस्य समाप्त्यर्थकत्वं समाप्तेति पुनरुपादानमा-
त्रेणनमात्रम् । पूर्वीपन्थस्तदन्वार्थकत्वे तु समाप्तेति यथापस्थितमेव—

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल तः ३५.०२

लेखक: श्री गणेश

शीर्षक: अण्ड-त-वण्ड-पा-म-त-

खण्ड: क्रम संख्या 1662